

भूमिका

मंगलाचरण

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।
नामो ताहि जातें भये, अरहंतादि महान॥
जो विद्यादि सागर सुधी, गुरु हैं हितैषी।
शुद्धात्म में निरत, नित्य हितोपदेशी॥
वे पाप-ग्रीष्मऋतु में, जल हैं सयाने।
पूजँ उन्हें सतत केवलज्ञान पाने॥

रत्नत्रय आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज ने सूत्र दिया है—“सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्राणि मोक्षमार्गः”। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। इस रत्नत्रय को जो धारण करता है उसका कल्याण होता है, उसे अनन्तसुख स्वरूपी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

संसार विषम समस्या रूप है। यहाँ हर प्राणी दुःखी और संतप्त है। संसार के दुःखों से छूटने का एकमात्र उपाय रत्नत्रय धारण करना है। कल्याण का इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हम लोग कल्याण के अर्थ सही प्रयत्न तो करना नहीं चाहते और कल्याण की इच्छा करते हैं, सो यह कैसे हो सकता है? कल्याण तो कल्याण के मार्ग से ही होगा।

एक बार एक महात्मा जी ने अपने भक्त पर प्रसन्न होकर कहा कि बोल, तू क्या चाहता है? उसका लड़का नहीं था, अतः उसने लड़का ही माँगा।

महात्मा जी ने आशीर्वाद दे दिया। घर जाने पर उसने अपनी स्त्री से कहा कि आज सब काम बन गया है। महात्मा जी ने आशीर्वाद दे दिया कि तेरे लड़का हो जायेगा। अतः अब कोई पाप क्यों किया जाये? हम दोनों ब्रह्मचर्य से रहें। स्त्री ने पति की बात माल ली, पर ब्रह्मचारी के सन्तान कहाँ? वर्षों पर वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु सन्तान नहीं हुई। स्त्री ने कहा कि महात्मा जी ने तुम्हें ६ गोखा दिया है। वह व्यक्ति महात्मा जी के पास पहुँचा और बोला— दुनियाँ झूठ बोले सो तो ठीक है, पर आप भी झूठ बोलने लगे। आपको आशीर्वाद दिये 12 वर्ष हो गये, पर आज तक लड़का नहीं हुआ। ठगने के लिये मैं ही मिला। महात्मा जी ने कहा— तुमने लड़का पाने के लिए क्या किया? वह बोला— हम लोग तो आपके आशीर्वाद का भरोसा कर ब्रह्मचर्य से रहे। महात्मा जी ने हँसकर कहा— भाई! मैंने आशीर्वाद दिया था, सो सच दिया था, परन्तु ब्रह्मचारी के सन्तान कैसे होगी? तू ही बता। ऐसा ही हाल हम लोगों का है। सच्चा सुख तो मोक्ष में है, जो मोक्षमार्ग पर चलने से ही प्राप्त होगा। हम लोग मोक्ष तो चाहते हैं, पर मोक्षमार्ग पर चलना नहीं चाहते। बिना रत्नत्रय को धारण किये मोक्ष कैसे प्राप्त होगा?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र जीव के गुणों में सर्वोपरि हैं, इसलिये इन्हें रत्नत्रय कहते हैं। श्रेष्ठ का वाचक 'रत्न' शब्द है। श्रेष्ठ पुरुष को पुरुषरत्न, श्रेष्ठ गज को गजरत्न आदि कहते हैं। जीव के सम्यग्दर्शनादि तीन गुणों के द्वारा आत्मा का भवभ्रमण छूट जाता है और जीव अविनाशी, अनन्तसुखस्वरूपी मोक्ष को प्राप्त करता है। रत्नत्रय वह अमूल्य निधि है जिसकी तुलना संसार की समस्त सम्पदा से भी नहीं की जा सकती। रत्नत्रय को धारण कर लेने पर मोह, राग-द्वेष का विनाश हो जाता है और आत्मा में अतीन्द्रिय सहज-सुख का संचार होता है। 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है—

तैरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि।

दृग्बोधसंयमैः कर्मनिगडानि शरीरिणाम्॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से ही जीवों की नाना प्रकार

की बलवान कर्मरूपी बेड़ियाँ टूटती हैं। जब यह आत्मा रत्नत्रय को धारण कर समस्त कर्मों से छूट जाता है, तब अनन्तकाल के लिये अनन्तसुखी हो जाता है। परमार्थ से सुखी होने का उपाय यही है कि पर-संबंध को छोड़ा जाये और आत्मस्वभाव का विचार किया जाये। 'रत्नत्रय' ग्रंथ के इस प्रथम भाग में सम्यग्दर्शन का वर्णन किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन का अर्थ आत्मलब्धि है। आत्मस्वरूप का ठीक-ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। संसार का मूल मिथ्यादर्शन है और मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है। इस जगत में मिथ्यात्व के समान जीव का अहित करनेवाला तथा सम्यक्त्व के समान जीव का हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं, पर हमें दुःख क्यों है और वह कैसे दूर हो? इसकी उनको खबर नहीं है। इसलिये वे सुख के लिये झूठी कल्पना करते हैं कि रुपयों में से सुख ले लूँ, अच्छे शरीर में से सुख ले लूँ, विषयभोगों में से सुख ले लूँ। मिथ्यात्व के कारण यह जीव अपनी चैतन्यस्वरूपी आत्मा को नहीं जानता और परपदार्थों को अपना मानता है। परद्रव्यों को अपना मानना मिथ्यादर्शन कहलाता है। "परद्रव्यनतं भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है।" आचार्य श्री कहते हैं, 'यदि दुःख से बचना चाहते हो तो परद्रव्यों को अपना मानना छोड़ दो।' अज्ञानी संसारी जीव परवस्तुओं को अपनी मानते हैं, परन्तु जब वे उनकी इच्छा के अनुकूल नहीं परिणमतीं तो दुःखी होते हैं। जैसे बच्चे लोग व्यर्थ की बातों में दुःखी होते हैं।

एक बालक था। उसके सामने से हाथी निकला तो उसने अपने पिता से कहा कि पिताजी! मुझे हाथी ला दो। अब हाथी तो हजारों-लाखों रुपयों में मिलता है, कैसे ला दें? तो पिता ने महावत को दस-बीस रुपये देकर अपनी दुकान के सामने हाथी खड़ा करवा दिया और कहा— लो बेटा! हाथी आ गया। बालक बोला— पिताजी! इसे खरीद दो और अपने बाड़े में खड़ा करवा दो। पिता ने महावत को कुछ रुपये देकर हाथी को बाड़े में खड़ा करवा दिया और कहा— लो बेटा! हाथी खरीद दिया। बालक फिर बोला— पिता जी! अब इस हाथी को मेरी जेब में रख दो। भला बताओ हाथी को जेब में कौन रख सकेगा?

पिता ने कहा— यह सम्भव नहीं है, तो बालक रोता है, दुःखी होता है। भला बताओ बालक की उस हठ को कौन पूरी कर सकता है? उस हठ के ही कारण बालक दुःखी होता है। ठीक ऐसे ही संसारी प्राणियों ने परवस्तुओं के पीछे तेज हठ कर ली है। जिस प्रकार वह बच्चा हाथी को जेब में रखने के लिये मचल रहा है, उसी प्रकार यह जीव परपदार्थों को लेने के लिये मचलता है। अरे भैया! अनहोनी बात क्यों चाहते हो? परपदार्थों में अपनत्वबुद्धि रखकर उन्हें प्राप्त करने की इच्छा रखते हो और व्यर्थ में दुःखी होते हो। दुःख मिटेगा परद्रव्यों से भिन्न आत्मा की श्रद्धा कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से। सम्यग्दर्शन होने पर इसे ज्ञान हो जाता है कि यह सब दिखनेवाला बाह्य जगत प्रपंच है, मायाजाल है, धोखा है। फिर वह संसार में नहीं फँसता, बल्कि संसार में रहता हुआ भी जल में कमल की भांति भिन्न रहता है।

जाल में पक्षी उसी समय तक फँसते हैं, जब तक उन्हें यह पता नहीं चल जाता कि इन सुन्दर दानों के नीचे जाल बिछा हुआ है। इसी प्रकार इस संसारचक्र में व्यक्ति उसी समय तक फँसता है, जब तक कि उसे यह पता नहीं चलता कि इन सुन्दर आकर्षणों तथा प्रलोभनों के नीचे माया छिपी हुई है। जिस प्रकार यह जानकर कि यह तो जाल है, पक्षी उस पर फैले हुए दानों का लालच नहीं करते और उसमें फँस नहीं पाते, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब समझ जाता है कि यह बाह्य जगत केवल माया है, प्रपंच है, धोखा है, तो वह इसमें यत्र—तत्र फैले हुये प्रलोभनों का लालच नहीं करता और उसमें फँस नहीं पाता। मिथ्यात्व का फल संसार है और सम्यक्त्व का फल मोक्ष है। एकमात्र सम्यग्दर्शन ही ऐसा है जो इस संसार रूपी जेल से छुड़ा सकता है।

एक बार एक व्यक्ति ट्रेन से सफर कर रहा था। वह गया और एक सीट पर सो गया। थोड़ी देर बाद टी.सी. आया और जैसे ही उसे जगाया, वह घबराकर बैठ गया। चोर की दाड़ी में तिनका होता है। जो भी गलत काम करता है, पाप करता है, उसे हमेशा भय बना रहता है और जो धर्म करता है, वह हमेशा निर्भय रहता है, उसे कोई भय नहीं होता। जैसे ही टी.सी. ने उससे टिकिट माँगा, वह बोला—टिकिट तो नहीं है। टी.सी. ने पूछा—आप कहाँ से आ

रहे हो? वह व्यक्ति बोला जेल से। टी.सी. बोला— आप जेल क्यों गये थे? वह व्यक्ति बोला—मैं बिना टिकिट के ट्रेन में सफर कर रहा था, पकड़ा गया, इसलिये जेल की सजा हो गई थी। टी.सी. बोला—आप जैसे—तैसे जेल से बाहर आये और फिर बिना टिकिट यात्रा कर रहे हो, इसलिये फिर से जेल में जाना पड़ेगा।

हम लोग भी अनादिकाल से बिना टिकिट यात्रा कर रहे हैं, इसलिये इस संसाररूपी जेल में पड़े हैं और अभी भी यदि बिना टिकिट यात्रा करेंगे तो पुनः संसार की 84 लाख योनियों रूपी जेल में ही जाना पड़ेगा। वह कौन—सी टिकिट है जिसे खरीदने पर इस संसाररूपी जेल में नहीं जाना पड़ता। वह टिकिट है सम्यग्दर्शन रूपी टिकिट। आचार्यों ने लिखा है—जो मुहूर्त (48 मिनट) पर्यन्त भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके छोड़ देते हैं, वे भी इस संसार में अनन्तकाल पर्यन्त नहीं रहते। अर्थात् उनका अधिक—से—अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र ही संसार रहता है, इससे अधिक नहीं। और जो सम्यग्दर्शन से पतित नहीं होते, उनको संसार में अधिक—से—अधिक अव्रती को 15 भव एवं व्रती को 7 या 8 भवों को धारण करना पड़ता है। इतने भवों के पश्चात् उनके संसार का अन्त नियम से हो जाता है। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का प्रथम रत्न है। सम्यग्दर्शन को जब यह जीव प्राप्त हो जाता है, तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता, तब तक दुःखी बना रहता है। सम्यग्दर्शन होते ही इसे दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ और न ही ये शरीरादि परद्रव्य मेरे हैं। आज तक मैं भ्रम से शरीर को अपना मानकर व्यर्थ ही संसार में परिभ्रमण करता रहा। अपनी भूल का पता चल जाने से उसका जीवन परिवर्तित हो जाता है।

श्री 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र महाराज ने लिखा है—

न सम्यक्त्व समं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम्।।34।।

जीवों का तीनकाल और तीनलोक में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई कल्याण करने वाला नहीं है तथा मिथ्यात्व के समान तीनकाल और तीनलोक में

अन्य कोई अकल्याण करने वाला नहीं है। इस अत्यन्त कल्याणकारी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये व्यवहार धर्म की क्रियाओं से, नियम—संयम से अपने मन को पवित्र बनाओ और जड़ शरीर एवं द्रव्यकर्म व भावकर्म से भिन्न चैतन्यस्वरूपी आत्मा का चिंतन—मनन करो। जिनागम में सम्यग्दर्शन की महिमा सर्वत्र बतलाई गई है —

तीनलोक तिहुकाल मांहि नहिं, दर्शन सम सुखकारी। (छहठाला)

तीनलोक और तीनकाल में सम्यग्दर्शन के समान सुख प्रदान करने वाला अन्य कोई नहीं है।

हे भव्य जीवो! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत का पान करो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार है, सर्वकल्याण का बीज है और संसार—समुद्र से पार उतारने के लिये जहाज है। इसे एकमात्र भव्यजीव ही प्राप्त कर सकते हैं। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये यह कुल्हाड़ी के समान है। पवित्र तीर्थों में यही एक पवित्र तीर्थ है और मिथ्यात्व का आत्यंतिक नाशक है। (ज्ञानार्णव)

एक ओर सम्यग्दर्शन का लाभ प्राप्त हो और दूसरी ओर तीनलोक का राज्य प्राप्त हो, तो तीनलोक के राज्य की अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है, क्योंकि तीनलोक का राज्य तो मिलने पर सीमित काल में छूट जाता है, परन्तु सम्यग्दर्शन तो अक्षय सुख प्राप्त कराता है। (भगवती आराधना)

शुद्ध सम्यग्दर्शन के बिना संसार के दुःखों से पार उतरने का अन्य कोई उपाय नहीं है। (श्रावकधर्म प्रदीप)

चारों आराधनाओं में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) ही प्रधान आराधना है, क्योंकि अश्रद्धापूर्वक की गई क्रिया फलदायी नहीं होती। एक बार एक सज्जन के यहाँ पंगत थी, बहुत से लोग खाने पहुँच गये। सभी खाना खाने लगे, पर एक व्यक्ति थाली रखे बैठा है। किसी ने उससे पूछा—भैया! क्या चाहिये? चटनी, मिर्च, नमक क्या चाहिये? कुछ तो बोलो। वह भैया बोले—सबकुछ रखा है, पर वह नहीं है। 'क्या नहीं है?' भूख नहीं है। ऐसे ही सबकुछ है, देव—शास्त्र—गुरु का समागम मिल गया है, पर क्या नहीं है? श्रद्धा नहीं है। यदि श्रद्धा नहीं है, तो कुछ भी नहीं है।

चीन में कन्फूशियस नाम के एक दार्शनिक सन्त हुए हैं। वे श्रद्धा, निष्ठा का जनता को उपदेश देते थे। श्रद्धा, निष्ठा की चर्चाएँ उनसे किया करते थे। एक दिन कन्फूशियस ने पास बैठे एक व्यक्ति से पूछा—गृहस्थी में रहकर आपको कितनी चीजों की आवश्यकता है।

उसने कहा—कम से कम तीन चीजों की आवश्यकता अवश्य हुआ करती है— (1) धन—धान्य (2) परिवार पर कोई आपत्ति, आक्रमण हो जाये तो उसके किये शस्त्र और (3) निष्ठा, श्रद्धा (सम्यग्दर्शन)।

कन्फूशियस ने फिर पूछा कि इन तीनों चीजों में से अगर आपको कोई एक चीज छोड़नी पड़े, तो सबसे पहले आप किसे छोड़ेंगे? उसने कहा—शस्त्र छोड़ सकते हैं, उसके बिना भी काम चल सकता है। फिर कन्फूशियस ने पूछा—यदि शेष दोनों में भी अगर कोई एक चीज छोड़नी पड़े तब आप क्या छोड़ेंगे? उसने गौरव से कहा—अगर धन—धान्य भी छोड़ना पड़े तो उसे छोड़ सकते हैं, लेकिन श्रद्धा को प्राण निकलने पर भी नहीं छोड़ सकते।

तलवार टूट जाती है, परन्तु उसकी धार, उसका पानी नष्ट नहीं होता, वह बना रहता है। उसी प्रकार मनुष्य मर जाये, मगर उसकी श्रद्धा कभी खत्म नहीं होनी चाहिये।

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, एक चेतन और दूसरे अचेतन। चेतन पदार्थ वे हैं जिनमें जानने की शक्ति है अथवा जो अनुभव कर सकते हैं, सुख—दुःख का वेदन कर सकते हैं। इनके विपरीत अचेतन या जड़ पदार्थ वे हैं जिनमें जानने की, अनुभव करने की शक्ति नहीं है, जो सुख—दुःख का वेदन नहीं कर सकते। जाति की अपेक्षा यद्यपि सभी जीव चेतन जाति के हैं, मूलभूत गुणों की अपेक्षा यद्यपि सबमें समानता है, तथापि उस चेतना—शक्ति की अपेक्षा इन गुणों की अभिव्यक्ति सब में समान नहीं है— बस, यही इनमें पारस्परिक अन्तर है। मनुष्य में उस शक्ति की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत ज्यादा है। पशु—पक्षियों में उससे कम है; मक्खी, चींटी आदि में और कम है; पेड़—पौधों में उससे भी कम हैं, और सूक्ष्म जीवाणुओं (बैक्टीरिया, वायरस इत्यादि जो सब जगह पाये जाते हैं) में तो बहुत ही कम है — इतनी कम कि वे अपनी चेतना—शक्ति को महसूस

भी नहीं कर सकते।

एक ओर जीव की शक्तियाँ कम होते-होते जहाँ इस चरम सीमा तक कम हो सकती हैं, वहीं दूसरी ओर बढ़ते-बढ़ते वे मानव में—जब वह मानवता के चरम उत्कर्ष परमात्मा-अवस्था को प्राप्त करता है—परिपूर्णता के शिखर पर पहुँच सकती हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा होने की उत्कृष्ट संभावना विद्यमान है और सूक्ष्म जीवाणु आदि की तरह लगभग जड़वत रह जाने की निकृष्ट संभावना भी।

जीव की परमात्म-अवस्था की ओर उन्नति अथवा जीवाणु अवस्था की ओर अवनति, दोनों ही इसके स्वयं के पुरुषार्थ पर निर्भर करती है। यह उन्नति का मार्ग चुने या अवनति का, यह निर्णय इसकी अपनी स्वतंत्रता है। मनुष्य अवस्था वह खास पड़ाव है जहाँ से जीव को आत्मोन्नति पर निकल पड़ने की सुविधा है, हालाँकि सामान्यतः सभी संज्ञी (मन-सहित) पंचेन्द्रिय जीव इस यात्रा की शुरुआत कर सकते हैं।

यद्यपि जीव में परमात्मा होने की उत्कृष्ट संभावना निहित है, तथापि वर्तमान में तो हम पाते हैं कि जीव दुःखी हैं। विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। उसका प्रत्येक प्रयत्न सुख प्राप्ति के लिये ही होता है, परन्तु सुख के सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण उसके प्रयत्न भी सम्यक् नहीं होते, फलतः उसे दुःख के सिवाय कुछ भी प्राप्त नहीं होता। क्योंकि इसने मान रखा है कि विषय-सामग्री के अभाव से मैं दुःखी हूँ, अगर वह प्राप्त हो जाये तो सुखी हो जाऊँ। जैसे ड्रग पीने वाले को ड्रग नहीं मिलने पर वह अपने आपको दुःखी मानता है, ड्रग मिलती है तो वह अपने आपको सुखी मान लेता है, परन्तु क्या ड्रग मिलने पर अपने को सुखी मानने वाला सचमुच सुखी है? सुखी तो वह है जिसको ड्रग की जरूरत ही नहीं है। उसी प्रकार इस जीव का ड्रग है, स्त्री-पुत्रादि, धन-दौलत, परिग्रह और परिवार। उनके अभाव में यह अपने आपको दुःखी मानता है और उनके मिलने पर अपने को सुखी मानता है। वास्तव में सुखी वह है, जिसको इनकी जरूरत ही नहीं है।

वही जीव अपने आप में सुखी है, जो वासना की पूर्ति की चेष्टा नहीं

करता, परन्तु वासना के अभाव की चेष्टा करता है। यही सुख का सच्चा उपाय है। वासना की पूर्ति करने का उपाय संसारमार्ग है, जिसको वह मिथ्यात्व के कारण सुख मानता है। वासना का अभाव करने का उपाय आत्मिक सुख की प्राप्ति का उपाय है, जो वास्तविक सुख है।

मिथ्यात्व के कारण यह जीव इन्द्रियविषयों को सुख का कारण मानता है। संसारपरिभ्रमण का मूलकारण ये मिथ्यात्वादि उल्टे भाव ही हैं। इन उल्टे भावों को छोड़ने पर ही भवभ्रमण समाप्त होता है। सम्यग्दर्शन के बिना जीव का संसारपरिभ्रमण कभी नहीं मिटता। सम्यग्दर्शन का अर्थ आत्मा को अपनी अनन्तशक्ति की जो विस्मृति हो गयी है, उसकी स्मृति करना है। सुखस्वभावी आत्मा को जाने बिना सुख का अंश भी कहाँ से मिलेगा? यदि तुम्हें सुखी होना है तो सुख के भण्डार आत्मा को पहचानो और अपने स्वभाव में आकर उसमें सुख की खोज करो, तो तुम्हें उसमें भरा हुआ अपार खजाना मिलेगा। इसके बाहर कहीं भी सुख की एक बूंद भी नहीं है।

अफ्रीका में पानी की बहुत कमी रहती है। एक बार अफ्रीका से एक व्यक्ति भारत आया। वह एक होटल में रुक गया। वह बाथरूम में नहाने गया। ज्योंहि उसने नल खोला, तो वहाँ पानी—ही—पानी था। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा यह यंत्र तो बड़ा अच्छा है। नहाने के उपरान्त उसने साथ में ले जाने के लिये नल की टोंटी खोलनी चाही तो होटल के नौकर ने देख लिया। उसने नौकर को 100 रु. का नोट दिखाया तो नौकर चुप हो गया। वह समझ गया कि यह कोई बुद्ध व्यक्ति है। बाद में वह नौकर उसके कमरे में गया और बोला—आपको ऐसी टोंटियाँ और चाहिये? वह बोला कि क्या यहाँ ऐसी टोंटियाँ और मिल सकती हैं? नौकर बोला— हाँ, आपको कितनी चाहिये? उसने 2500 रु. में 25 टोंटियाँ खरीद लीं। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा कि अब हम अफ्रीका में पानी की समस्या को हल कर देंगे। वह टोंटियाँ लेकर अफ्रीका वापिस चला गया। वहाँ जाकर उसने टोंटी खोली तो उसमें से एक बूँद भी पानी नहीं आया। वह बड़ा दुःखी हुआ। उसे समझ में आ गया कि पानी टोंटी में नहीं, पानी तो टैंक में था।

इसी प्रकार हम भी इन इन्द्रिय-विषयों में सुख ढूँढ़ रहे हैं, पर इन इन्द्रियों में सुख नहीं है, सुख का टैंक तो आत्मा है। सुख-शान्ति तो हमारा स्वभाव है, पर हमने सुख को अपने आत्मस्वरूप में नहीं खोजा। जिन्होंने भी इसे आत्मा में खोजा, वे भगवान् बन गये। एक बार भी यदि हम सुख को अपने आत्मस्वरूप में खोजें तो अनन्तकाल के लिये सुखी हो सकते हैं। सम्यग्दर्शन होने पर इस जीव को आत्मा और आत्मिक सुख पर सच्ची श्रद्धा हो जाती है। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है—

“पर में सुख कहीं है नहीं, खुद ही सुख की खान।

निज नाभि में गंध है, मृग भटके बिन ज्ञान॥

अनादिकाल से यह जीव इस संसार में विषय-कषायों से लिप्त होकर भटक रहा है। जीव भी अनादिकाल से है और जीव के विषय-कषाय भी अनादिकाल से हैं। विषय-कषाय सहित जीव की इस अशुद्धि के नाश का उपाय भी अनादिकाल से ही चला आ रहा है। इस प्रकार जीव, विषय-कषाय और विषय-कषाय के नाश का उपाय ये तीनों ही अनादिकाल से हैं। विषय-कषायरूप से रहित होते हुये जीव की शुद्धि का उपाय ही धर्ममार्ग है और उसका शुद्ध हो जाना ही धर्म है। धर्म एक ही है, धर्म अनेक नहीं होते। वह धर्म है—रागादि का अभाव होकर आत्मा का शुद्ध होना। रागादि का यह अभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता से होता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मस्वभाव की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है, वैसा ही ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूप में लीनता प्राप्त कर लेना सम्यक्चारित्र है—इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।

आत्मा अपने अपराध से संसारी बना है और अपने ही प्रयत्न से मुक्त हो जाता है। जब यह आत्मा मोही, रागी, द्वेषी होता है, तब स्वयं संसारी हो जाता है तथा जब राग, द्वेष, मोह को त्याग देता है, तब स्वयं मुक्त हो जाता है। अतः, जिन्हें संसारबन्धन से छूटना है, उन्हें उचित है कि सम्यग्दर्शन को प्राप्त करें और राग, द्वेष, मोह को छोड़ें। सम्यग्दर्शन प्राप्ति के उपाय हैं—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा, सात तत्त्वों का श्रद्धान तथा स्व-पर भेदविज्ञान।

वास्तव में ज्ञाता—दृष्टा रहना ही आत्मा का स्वभाव है; पर इसके साथ जो मोह की पुट लग जाती है, वही समस्त दुःखों का मूल है। अन्य ज्ञानावरण आदि कर्मों के उदय से आत्मा का गुण रुक जाता है, परन्तु मोह का उदय उसे विपरीत परिणाम देता है।

आत्मा का गुण रुक जाय, इसमें हानि नहीं, पर मिथ्यारूप हो जाने में महती हानि है। इसलिये मिथ्यात्व ही संसारभ्रमण का मूलकारण है। एक व्यक्ति को पश्चिम की ओर जाना था। कुछ दूर चलने पर उसे दिशा भ्रान्ति हो गई। वह पूर्व को पश्चिम समझकर चलता जा रहा है। उसके चलने में बाधा नहीं आई, पर ज्यों—ज्यों चलता जाता है, त्यों—त्यों अपने लक्ष्य से दूर होता जाता है। दूसरे व्यक्ति को दिशाभ्रान्ति तो नहीं हुई, पर पैर में लकवा मार गया, इससे चलते नहीं बनता। वह अचल होकर एक स्थान पर बैठा रहता है, पर अपने लक्ष्य का बोध होने से वह उससे दूर तो नहीं हुआ। कालान्तर में ठीक होने से शीघ्र ठिकाने पर पहुँच जायेगा।

इस दुर्लभ मनुष्यभव में धर्म करने के लिये समय निकालना चाहिये। संसार के पापों और शरीरादि की चिन्ता में व्यर्थ समय नहीं गँवाना चाहिये। सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय अपनी आत्मा का सच्चा स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है। अपने स्वरूप को समझे बिना इस जीव ने अब तक कैसे—कैसे दुःख भोगे, इसका विचार करके इसी मनुष्यभव में आत्मा का स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

“Strike when the iron is hot.” जब तक लोहा गर्म है, तब तक उसे पीट लो, गढ़ लो— इस कहावत के अनुसार इसी मनुष्यभव में मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लो, अन्यथा थोड़े ही समय में त्रस पर्याय का काल पूरा हो जायेगा और पुनः अनन्त काल तक संसार में ही भटकना पड़ेगा।

एक बार एक बस्ती में एक साधु जी ठहरे हुए थे। वे प्रतिदिन भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ जाया करते थे। जिस रास्ते से वे गुजरते थे, उसी रास्ते में एक सेठ जी की दुकान पड़ती थी। सेठ जी उन साधु जी से रोज कहते कि साधु जी आज हमारे यहाँ भोजन कर लीजिए। साधु जी कहते कि किसी दिन

करेंगे। सेठ जी प्रतिदिन कहते और साधु जी वही उत्तर देते। एक दिन साधु जी के मन में आया कि आज सेठ जी के यहाँ से भोजन लेंगे। उन्होंने अपने साथ एक टिफिनकैरियर लिया। साधु जी सेठ की दुकान पर जाकर बोले—“बच्चा! आज हम भोजन तुम्हारे घर लेंगे। सेठ जी ने अपना धन्यभाग्य समझा। सेठ जी साधु जी को घर ले गये। साधु जी ने अपना टिफिनकैरियर भोजन परोसने के लिए दे दिया।

टिफिनकैरियर जब खोलकर देखा तब पाया कि उसके हर डिब्बे में कुछ-कुछ भरा है। किसी में मिट्टी, किसी में रेत, किसी में भूसा, किसी में पत्थर के टुकड़े। यह देखकर सब आश्चर्य करने लगे। साधुजी बोले—“क्या बात है? आप लोग इसी में भोजन परोस दो।” यह सुनकर सब लोग एक दूसरे की तरफ देखने लगे। साधु जी बोले—“अरे! इसी में भोजन परोस दो।” हिम्मत करके घर के लोग बोले—“साधु जी! भोजन अपवित्र हो जायेगा। खाने के योग्य नहीं रहेगा।” साधु जी कहने लगे— “भोजन मुझे करना है, तुम परोस दो”, पर किसी की हिम्मत भोजन परोसने की नहीं हुई। अन्त में साधु जी ने कहा—“आप लोग क्या चाहते हो?” घर वालों ने कहा, “साधु जी पहले डिब्बे को साफ करेंगे, उसके बाद भोजन परोसा जायेगा।” सबने ऐसा ही किया। साधु जी भोजन लेकर चले गये।

कुछ दिन बाद सेठ जी ने सोचा कि साधु जी ने भोजन तो घर से ले ही लिया, अब तो जान-पहचान हो गई है, अतः कुछ कृपादृष्टि की बात हो जाए। एक दिन सेठ जी साधु जी के पास गए और कहने लगे, साधु जी! हमारे ऊपर कुछ कृपादृष्टि कर दो। साधु जी बोले—“बच्चे! तुझे उस दिन की घटना याद है या नहीं, जिस दिन मैं भोजन लेने तुम्हारे घर गया था? तुम लोगों ने मेरे टिफिन में भोजन टिफिन साफ किये बिना नहीं परोसा था और कहा था कि बिना साफ किये भोजन अपवित्र हो जायेगा, खानेयोग्य नहीं रहेगा। उसी प्रकार तुम पहले अपने अन्दर से मिथ्यात्व रूपी कूड़े-करकट को दूर करो, तभी हम सम्यग्दर्शन आदि धर्म के अमृत की बात बतायेंगे।

अनादिकाल से सभी संसारी प्राणी मिथ्यात्व के वशीभूत होकर इस विकट संसार में दुःख उठा रहे हैं। दर्शनमोह को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके दो भेद हैं— एक नैसर्गिक (अग्रहीत) दूसरा अधिगमज (गृहीत)।

गृहीत मिथ्यात्व पर के उपदेश (कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र) से होता है। इसका वर्णन तीन मूढ़ता एवं षट् अनायतन नामक अध्याय में आगे किया गया है।

अग्रहीत मिथ्यात्व— जो परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय के वश से जीव—अजीवादि सात तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान होता है, वह अग्रहीत मिथ्यात्व कहलाता है। यहाँ सात तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान का वर्णन किया जा रहा है, जिसे अच्छे प्रकार से समझकर छोड़ देना चाहिए।

सात तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान

मैं कौन हूँ और मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी सच्ची पहचान जीव ने कभी नहीं की। अनादि से अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर जीव ने अपने को शरीररूप ही मान रखा है। आचार्य समझाते हैं कि कर्म और शरीर अजीव हैं। उसको ही जीव का स्वरूप समझना— यह तो सर्वज्ञ भगवान् के उपदेश से विपरीत मान्यता है, इसलिए मिथ्या है। अनन्त जीव सर्वज्ञ केवली भगवान् हुये, सीमंधर आदि 20 तीर्थंकर भगवान् आज भी विदेहक्षेत्र में विराज रहे हैं। उन सब भगवन्तों ने आत्मा को उपयोग स्वरूप देखा है, आत्मा को जड़रूप या राग—द्वेषरूप नहीं देखा।

चेतन को है उपयोग रूप, बिन मूर्त चिन्मूर्त अनूप।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान—दर्शन उपयोगमयी है। आत्मा के स्वभाव में दुःख नहीं है, आत्मा तो ज्ञानानन्द व शांति से भरा है। शरीर मूर्त है, आत्मा अमूर्त है। पर अज्ञानी जीव अपनी चैतन्यस्वरूपी आत्मा को नहीं पहचानता और इस जड़ शरीर को ही 'मैं' मान लेता है।

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।

ताको न जान विपरीत मान, करि करें देह में निज पिछान। छहढाला।।

उपयोगस्वरूप चैतन्यमयी जीव को छोड़कर शेष 5 द्रव्य (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) अजीव हैं। इनकी चाल अर्थात् स्वभाव जीव से भिन्न है। जैसे शक्कर मीठी है, वैसे जीव उपयोगमय है। उसकी चाल, उसकी दशा सबसे न्यारी है। उसका स्वभाव न्यारा है, जो अन्य किसी में नहीं है। ऐसे जीव

को न पहचानकर अज्ञानी देह को ही जीव मान लेते हैं और देह की अवस्थाओं को ही अपनी अवस्था मान लेते हैं।

मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।

मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥

छहठाला॥

मैं चैतन्यमयी उपयोगस्वरूप हूँ, यह भूलकर अज्ञानी जीव अपने को शरीररूप मानता है, अतः शरीरसंबंधी स्त्री—पुत्रादि पदार्थों को भी वह अपना मानता है। शरीर की अवस्था को लेकर, मैं बलवान या मैं दीन, ऐसा मानता है, धन, गृह, गाय, भैंस, पुत्र—पुत्रादि ये सब मेरे ही हैं। शरीर अच्छा हो तब मैं सुखी और शरीर रोगी हो तब मैं दुःखी, ऐसा मानता है, परन्तु शरीर की जाति तो जड़ है, आप तो चैतन्य जाति के हो। आपकी चैतन्य जाति स्वयं सुखस्वरूप है, परन्तु मिथ्यात्व के कारण अपनी चैतन्य जाति को भूलकर, देह की जाति को अपनी मानकर व्यर्थ दुःखी हो रहे हो। सुख तो आत्मा में ही है, देह में सुख नहीं है। देह, स्त्री, धन, बंगला, मोटर आदि में सुख मानना वह तो मिथ्या कल्पना है।

जिस प्रकार रेत में से तेल नहीं निकलता, पत्थर पर घास नहीं उगती, मरा हुआ पशु घास नहीं खाता, उसी प्रकार ये जड़ पदार्थ आत्मा के नहीं हो सकते। ये जड़ पदार्थ अचेतन हैं और आत्मा चेतन है। दोनों का स्वभाव भिन्न—भिन्न है। पर अपने चैतन्यस्वरूप को न जानने के कारण संसारी प्राणी स्त्री, पुत्र, मकान, दुकान आदि को अपने मानकर व्यर्थ दुःखी होते हैं और संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

वास्तव में जिन स्त्री—पुत्रादि को जीव अपना मानते हैं, वे अपने हैं ही नहीं। जहाँ यह पास में रहने वाला शरीर ही अपना नहीं है, तब दूर रहने वाले परद्रव्य अपने कैसे हो सकते हैं? यह अज्ञानी संसारी प्राणी देहबुद्धि से हो—हल्ला मचा कर मिथ्यात्व का सेवन करते हैं, किन्तु अपने स्वतत्त्व की सम्भाल नहीं करते। जड़ के संयोग से मैं राजा या रंक—ये दोनों मान्यता मिथ्या हैं। असंगी चैतन्य को भूलकर परसंग को अपना मानने से जीव दुःखी होता है।

शरीर हृष्ट—पुष्ट हो तो जीव मान लेता है कि मैं बलवान हूँ, परन्तु यह मिथ्या मान्यता है। शरीर के बलवान होने से आत्मा बलवान नहीं होती। अमूर्त आत्मा और मूर्तिक शरीर दोनों भिन्न—भिन्न हैं। बीस साल का युवक जो अपने दोनों हाथों से दो व्यक्तियों को ऊपर उठा लेता था, वही जब मरण के सम्मुख हुआ, तब उसमें कुछ बोलने की भी शक्ति न रही और दूसरे दो व्यक्तियों ने उसे उठाया। देह का बल आत्मा का कहाँ है ? और देह के निर्बल होने पर आत्मा कहाँ निर्बल हो जाता है ? हिन्दुस्तान का एक बड़ा पहलवान—जो दौड़ती मोटरगाड़ी को पकड़कर रोक देता था और अपने सीने पर हाथी को चलाता था, उसमें मृत्यु के समय अपने मुँह पर बैठी मक्खी को उड़ाने की भी ताकत नहीं रही। कहाँ गया उसका बल? वह बल आत्मा का था ही नहीं। आत्मा के गुण तो ज्ञान—दर्शन आदि हैं, जो कभी भी नष्ट नहीं हो सकते।

शरीर बलवान हो, सुन्दर हो या कुरूप हो, उन सबसे आत्मा भिन्न है। आत्मा का चेतनस्वरूप ही सुन्दर है। परन्तु अपने सुन्दर निजरूप को न देखकर अज्ञानी शरीर की सुन्दरता से अपनी शोभा मानते हैं और शरीर के कुरूप होने पर अपने को हीन समझते हैं। उसे आचार्य समझा रहे हैं। कुरूप शरीर केवलज्ञान प्राप्त करने में कोई विघ्न नहीं करता। सुन्दर रूप वाले जीव भी पाप करके नरक चले गये और कुरूप शरीर वाले भी अनेक जीव आत्मा का ध्यान करके मोक्ष चले गये। शरीरादि संयोगों को अपना मानना इस जीव की बहुत बड़ी भूल है।

यदि मनुष्य होकर जैन होकर, भी अजीव से भिन्न अपनी पहचान नहीं की और धन—सम्पत्ति जोड़ने में ही इस दुर्लभ पर्याय को समाप्त कर दिया, तो यह स्वयं के प्रति सबसे बड़ा अन्याय होगा। जो धन—पैसे का तीव्र मोह रखते हैं, वे मरकर उसी धन में साँप बनकर पैदा हो जाते हैं। आप कहते हो बंगला मेरा है, घर मेरा है, परन्तु वह तो मिट्टी का है, जबकि आपका घर तो चैतन्यमय है। चैतन्य धाम में आपका वास है, जड़ ईंटों के ढेर में आपका वास नहीं है। चैतन्यमय निजघर को भूलकर पर घर में पत्थर के मकान में, झोपड़े में जीव अपनेपन की बुद्धि करता है और मोह से संसार में रूलता है — बार—बार

देहरूपी घर बदलता रहता है।

आत्मविभूति तो जगत में सर्वोत्कृष्ट है, उसे भूलकर आप जड़ देह में क्यों मूर्छित हो गये? आप हो विज्ञानघन आनन्दमूर्ति भगवान्। अपने को भूलकर मृत कलेवर शरीर की अवस्था से अपने आपको सुखी—दुःखी मानते हो, यह आपकी महान भूल है।

पैसेवाला मैं अथवा गरीब मैं — यह भी बाह्य बुद्धि है। जब शरीर भी आपका नहीं, तब धन, पुत्र, मकान आदि आपके कैसे हो गये ? उनका तो क्षेत्र भी आपसे दूर है, तो वे आपके कहाँ हो गये ? पैसे के द्वारा आप धनवान या गरीब नहीं हो, तथापि आप तो चैतन्य लक्ष्मी का निधान हो, आनन्द का भण्डार हो। जिसकी विभूति के बल पर छहखण्ड की विभूति का मोह भी क्षण भर में छूट जाये, ऐसी अनन्त चैतन्य सम्पत्ति का भण्डार आप स्वयं हो, अतः अज्ञानता छोड़कर अपने चैतन्य स्वरूप को पहचानो।

आत्मा ही उपयोगस्वरूप, अरूपी, चैतन्यमूर्ति है। इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से समझ सकते हैं। एक मनुष्य था, वह बैल के समान स्वाँग धारण करके पूछता है — “मैं मनुष्य किस प्रकार होऊँगा ?” कोई ज्ञानी पुरुष उसे समझाता है—हे भाई! तू मनुष्य ही है, तू बैल नहीं है। तू अपनी भाषा, अपनी चेष्टा, अपना रूप, अपना खान—पान आदि से देख कि तू मनुष्य ही है।” उसी प्रकार उपयोगस्वरूप जीव पूछता है — “मैं उपयोगस्वरूप किस प्रकार होऊँगा?”

आचार्य उसे समझाते हैं, “हे आत्मन्! तुम उपयोगस्वरूप ही हो, अन्य रूप नहीं। अपने प्रश्न करने की योग्यता से और अपनी जानने की चेष्टा से तू देख कि तू उपयोगस्वरूप ही है। विपरीत स्वाँग अर्थात् रागादि करना छोड़ दे, तो स्वयमेव उपयोगस्वरूप हो जावेगा। अपने उपयोग को बाहर में मत खोजो, अन्तर में ही देखो।”

उपयोगस्वरूप आत्मा को जानने के लिये —

प्रथम तो सर्व लौकिक संग (परिग्रह) से परान्मुख हो जाओ और अपने विचार को चैतन्य आत्मा के सन्मुख करो। तीन प्रकार की कर्म—कंदरा रूप

गुफाओं में तुम्हारा चैतन्य प्रभु छिपा बैठा है। शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और राग-द्वेषादि भावकर्म— इन तीन गुफाओं को छोड़कर अन्दर जाते ही तुम्हारा प्रभु तुम्हें अपने में दिखेगा अर्थात् तुम अपने को ही प्रभुरूप अनुभव करोगे।

आचार्यों की यह बात सुनकर परिणति अपने प्रभु को खोजने के लिये खुशी एवं उत्साह से चली। प्रथम नोकर्म की गुफा में बैठकर परिणति ने देखा, परन्तु उसे कहीं भी चैतन्य प्रभु नहीं दिखा। जब वह निराश होकर वापिस जाने लगी, तो मुनिराज ने कहा कि तू निराश मत हो, तुम्हारा प्रभु यहीं है। यदि यहाँ तुम्हारा चैतन्य प्रभु विराजमान न होता, तो इस जड़ शरीर को पंचेन्द्रिय जीव क्यों कहते? इस देह (नोकर्म) की गुफा के अन्दर दो गुफायें और हैं। वहाँ जाकर खोज, वहाँ तुम्हारा प्रभु विराजमान है। वह तुझे जरूर मिलेगा, उससे मिलकर तुझे महा आनन्द होगा।

उपकारी मुनिराज के वचनों पर विश्वास करके धीरे-धीरे वह परिणति चैतन्य प्रभु को खोजने के लिये अन्दर चली गयी और दूसरी द्रव्यकर्म गुफा में घुसकर देखा तो वहाँ उसे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म दिखाई दिये, परन्तु चैतन्य प्रभु दिखाई नहीं दिया। तब उसने चेतना से पूछा— कहाँ है मेरा चैतन्य प्रभु?” तब चेतना कहती है कि तुम्हारे अन्दर यदि चैतन्य प्रभु विराजमान न होता तो इन पुद्गलों को ‘ज्ञानावरणादि’ नाम कहाँ से मिलता? अतः इस दूसरी गुफा के भी अन्दर और गहराई में तीसरी गुफा में जाकर खोजो।

चैतन्य प्रभु से मिलने के लिये परिणति तब तीसरी भावकर्म गुफा में गयी। यहाँ उसे चैतन्य प्रभु के कुछ-कुछ चिह्न समझ में आने लगे, पर इस तीसरी गुफा में भी उसे राग-द्वेषादि भावकर्म दिखाई दिये। तब उसने चेतना से पुनः पूछा— “इसमें मेरा चैतन्य प्रभु कहाँ है?” उस समय मुनिराज ने उसे चैतन्य आत्मा और राग-द्वेष के बीच भेदज्ञान करने के लिये कहा — जो यह राग-द्वेष दिखाई दे रहे हैं वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। तुम्हारा स्वरूप तो चैतन्यमय है। तुम्हारा चैतन्य प्रभु राग-द्वेष से पार चैतन्य गुफा में विराज रहा है।

उस परिणति ने राग—द्वेष से भिन्न होकर जब चैतन्य गुफा में देखा, तब तो वह आश्चर्यचकित रह गई, अहो! चैतन्य प्रकाश से जगमगाता, यह है मेरा चैतन्य प्रभु।

आचार्य समझा रहे हैं— हे भव्य जीवो! तुम भी अपने अन्दर अपने चैतन्य प्रभु को खोजो। यह जो राग—द्वेष—मोह का जाल दिखाई दे रहा है, वह उसी का प्रतिबिम्ब है, क्योंकि चैतन्य प्रभु के अस्तित्व के बिना राग—द्वेषादि भाव होना संभव नहीं हैं। राग—द्वेषादि को छोड़कर तीनों प्रकार के कर्मों से भिन्न उपयोगस्वरूप आत्म को जानने का प्रयास करो, जिसके मिलने पर तुझे अपार आनन्द होगा।

देखो, मनुष्यपर्याय तो संसार के संकटों से छूटने का उपाय बना लेने वाला समय है। कितना श्रेष्ठ जैनकुल प्राप्त हुआ है। यदि इस सुलझने के समय भी उलझन बढ़ाते रहे तो कभी संसारचक्र की उलझनों से छूट नहीं सकते। अतः व्यर्थ में समय बर्बाद मत करो और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, श्रावकधर्म व मुनिधर्म का पालन कर मोक्षमार्ग पर चलते हुये इस मनुष्यभव रूपी रत्न की जो असली कीमत मोक्ष है, उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

एक मनुष्य समुद्र के किनारे बैठा था। उसके हाथ में अचानक एक थैली आयी। उस थैली में रत्न भरे थे, जो उसे अन्धेरे में दिखाई नहीं दिये और वह रत्नों के साथ खेल—खेलने लगा। एक के बाद एक रत्न को समुद्र में फेकने लगा। वह जैसे ही आखरी रत्न फेकने वाला था, तभी किसी सज्जन पुरुष ने उसे आवाज दी — “अरे भाई! ठहर। रत्न फेक मत देना। तेरे हाथ में कोई साधारण पत्थर नहीं है, यह तो बहुत कीमती रत्न है।” जब थोड़ा प्रकाश हुआ और उजाले में वह मनुष्य उस सज्जन पर विश्वास करके हाथ की वस्तु को सामने लाकर देखता है, तो वह चकित रह जाता है। वह क्या देखता है कि जगमगाता हुआ महान रत्न उसके हाथ में है। तब वह विचार करने लगा — “अरे रे! मैं कितना मूर्ख हूँ। ऐसे रत्नों की तो पूरी थैली भरी थी और मैंने अज्ञानता से मूर्खता करके खेल—खेल में उन सब रत्नों को समुद्र में फेक दिया।”

इस प्रकार वह रोने लगा। तब उन सज्जन पुरुष ने उन्हें पुनः समझाया— भाई! तू रो मत। तेरे पास अभी भी एक रत्न बचा है, वह भी इतना कीमती है कि तू उसकी कीमत समझे और बराबर सदुपयोग करे तो पूरी जिन्दगी भर तुझे सुख और सम्पत्ति मिलती रहेगी। इस एक रत्न से भी तेरा कार्य हो जायेगा। इसलिये जो रत्न चले गये, उनका अफसोस छोड़कर अभी जो रत्न हाथ में है, उसका सदुपयोग कर लो। “जब जागो, तभी सबेरा।” उसके बाद उसने हाथ में बचे हुये उस एक रत्न का सदुपयोग किया और सुखी हुआ।

इसी प्रकार कोई भद्रपरिणामी आसन्न भव्य जीव इस भवसमुद्र के किनारे आया अर्थात् त्रस पर्याय को प्राप्त हुआ। वहाँ उसे त्रस पर्याय में सर्वोत्कृष्ट मनुष्यभव रूपी रत्न मिला, परन्तु वह जगत के क्षणिक विषय—कषाय के पोषण में ही अपने को रंजायमान करता हुआ उस मनुष्यभव रूपी रत्न को नष्ट करता रहा। इस प्रकार इस रत्न को नष्ट करते देखकर किसी ज्ञानी ने आवाज दी, अर्थात् भव्यजीव को देशना मिली कि अरे भाई! ठहर। यह रत्न है, इसे फेंक मत देना। यह मनुष्यपर्याय रूपी अमूल्य रत्न तो बहुत कम जीवों को ही मिलता है और बार—बार नहीं मिलता। यदि यह मनुष्यभव रूपी महारत्न हाथ से चला जायेगा तो फिर तुझे मोक्षमार्ग का अद्भुत अपूर्व अवसर कैसे मिलेगा ? तब वह जीव उस ज्ञानी पुरुष पर विश्वास करके, उसके बताये मार्ग पर चलकर इस मनुष्यभवरूपी रत्न की जो असली कीमत मोक्ष है, उसे पाकर सदा के लिये सुखी हो जाता है। यह संसार प्रसंग तो केवल झंझट है। जब तक यह झंझट है, तब तक निजरस का स्वाद नहीं आ सकता। निजानन्द को प्राप्त करने के लिये इन तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को छोड़कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो।

मोह के कारण यह संसारी प्राणी शरीर को अपना मानता है और संसार में परिभ्रमण करता हुआ चारों गतियों के दुःखों को सहन करता रहता है। जो अज्ञानी जीव हैं, मोही हैं, वे मानते हैं कि यह जो शरीर है, सो ही मैं हूँ। इस जरा—से अज्ञान के कारण समस्त मोही प्राणी बरबाद हो गये। जहाँ इस शरीर को माना कि यह मैं हूँ, तहाँ ही इसके सारे नटखट अटपट चलने लगे। इस शरीर में पाई जाने वाली इन्द्रियों में इसकी प्रीति जगी तो रिश्तेदारी शुरू हो

जाती है, बाहरी पदार्थों का समागम शुरू हो जाता है, उनमें इसका लगाव होने लगता है। यह मानने लगता है — “मैं सुखी-दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन ग्रह गोधन प्रभाव। मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, वेरूप सुभग मूरख प्रवीण।।” देखो, देखने में गलती जरासी ही लगती है, बल्कि यों लगता है कि मैं कोई गलती ही नहीं कर रहा हूँ। किसी से झूठ नहीं बोल रहा, किसी की हिंसा नहीं कर रहा, किसी की चीज नहीं चुरा रहा, कोई कुशील बगैरह नहीं कर रहा, मगर उस जरा-सी गलती का दण्ड क्या मिल रहा है कि कीट, पतंगा, पशु, पक्षी, पेड़-पौधे, नारकी आदि नाना कुयोनियों में जन्म-मरण के चक्कर लगाना पड़ रहे हैं। तो मोह से बढ़कर और क्या अपराध कहा जाये ? उतना बड़ा कोई अपराध नहीं जितना बड़ा मोह है। अतः परपदार्थ जो प्रयोजन में आ रहे हैं, उनके प्रति राग तो होता है, मगर उससे मोह तो मत करो। मोह से तो सदा बरबादी ही है। पुत्र है, सो मैं हूँ। अगर यह न रहा तो मेरे प्राण नहीं टिक सकते, मैं बरबाद हो जाऊँगा। यह स्थिति होती है मोह में।

मोह न हो तो भी राग रह सकता है। यहाँ एक दृष्टान्त ले लो— जैसे कोई सेठ बीमार हो गया तो उसे दवा कराने के लिये अच्छा कमरा चाहिये, अच्छा पलंग चाहिये, डाक्टर चाहिये, दवा चाहिये, सेवा करने वाले नौकर चाहिये। यदि इन बातों में कुछ कमी हुई तो सेठ झुंझलाता है, कदाचित् डाक्टर के आने में, दवा मिलने में कुछ देर हो जाये तो वह सेठ झुंझलाता है। कुछ ऐसा लगता है कि उस सेठ को डाक्टर, दवा, पलंग आदि से बड़ा मोह है, पर जरा बतलाओ उस सेठ को उनसे मोह है क्या? यदि मोह होता तो वह सदा यही श्रद्धा रखता कि ऐसी दवा, ऐसा डाक्टर, ऐसा नौकर, ऐसा पलंग, ऐसी सेवा, ऐसी पूछताछ मुझे जिन्दगी भर मिलती रहे। अरे! वह उन सबके प्रति बड़ा अनुराग दिखाता है, पर उसकी आन्तरिक भावना यही रहती है कि मैं कब ठीक हो जाऊँ, दो मील घूम लिया करूँ ? तो देखिये, उस सेठ को मोह तो नहीं है। पर दवा, डाक्टर आदि से राग जरूर है। तो राग और मोह में अन्तर है।

घर में रहकर राग तो रहेगा, पर मोह को दूर करके भी रहा जा सकता है। इस मोह के कारण अपने स्वरूप की सुध नहीं रहती। मोह करते हैं, पर को

अपनाते हैं तो भला बतलाओ इस मोह से लाभ मिलता है क्या ? कदाचित् घर गृहस्थी के बीच रहना पड़ता है तो रहो, उनमें राग करना पड़ता है तो करो, मगर मोह तो न रखो। आप गृहस्थी के बीच रहेंगे तो आपको दुकान या नौकरी भी करनी होगी, सब प्रकार के काम धन्धे भी करने होंगे, सब के साथ अनुराग भी करना होगा, तो ठीक है, करो, मगर मोह तो न रखो। जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही मानो।

मोह के कारण किसी का चित्त शरीर में है, किसी का चित्त स्त्री-पुत्र में है, किसी का चित्त घर में है, किसी का चित्त किसी ओर लगा है। यदि इन परपदार्थों से चित्त हटाकर अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा की ओर लगायें तो इसमें मेरा हित है और यदि ऐसा नहीं कर सके तो इसमें मेरा घात है। मुझे अपने आपको ही बचाना है, अपने को सुरक्षित करना है, भविष्य की यात्रा का मुझे ध्यान रखना है। मेरी भविष्य की यात्रा भली हो। यदि हम इन बाह्य वस्तुओं का ही ध्यान बनाये रहे, तो ऐसे ही समय गुजर जायेगा जैसा अभी तक गुजर गया। लोग भ्रमवश बाह्य वस्तुओं में बढ़-बढ़कर अपने में शूरता का अनुभव करते हैं, मगर यह केवल मेरे पर कलंक है। प्रभु की शान्त मुद्रा देखो जिसमें राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, विकल्प, विचार कुछ भी नहीं है। उन्हें कोई आकांक्षा नहीं है, मगर तीनलोक के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। मेरा भी स्वभाव ऐसा ही है जैसा प्रभु का। जैसा प्रभु ने किया, वैसा मैं भी कर सकता हूँ। और जैसे प्रभु हुये, वैसा मैं भी हो सकता हूँ। इस जीवन में केवल एक ही प्रोग्राम बनायें कि मुझे तो शुद्ध होना है, सिद्ध होना है।

स्वाध्याय तो इसी का नाम है कि जो वचन बोलें, जो वचन सुनें, जो वचन पढ़ें, वे अपने पर घटित होते रहें, अपने पर घटा-घटाकर सुनें, अपने पर घटा-घटाकर बोलें, अपने आपसे उसका सम्बन्ध लगावें, कि यह बात मेरे में घटती है या नहीं, यह सभी मेरे में हैं या नहीं, ऐसी शक्ति मुझमें है या नहीं, यह मेरा स्वरूप है या नहीं। देखो, दो ही काम करना हैं— अपने में होने वाली कषायों से तो हटना है और अपने वास्तविक स्वरूप में लगना है। विभाव से हटना और

स्वभाव में लगना। जितना हम अपने को अकेला अनुभव करेंगे, उतना ही धर्ममार्ग में हमारा कदम बढ़ता रहेगा और जितना पर को अपना सर्वस्व समझेंगे, उतनी ही आकुलता बढ़ेगी। हम सभी को एक ही काम करना है, पर को छोड़ना और स्व को ग्रहण करना। सभी लोग अपने बारे में कुछ-कुछ सोचते तो रहते हैं कि मैं अमुक चन्द हूँ, अमुक लाल हूँ, व्यापारी हूँ या अन्य-अन्य कुछ हूँ। यहाँ यह धर्म पद्धति कह रही है कि बजाय इन सबके सोचने के यह सोचें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। देखो, इतनी बात पकड़ सके तो धर्म मिल गया, जीवन सफल हो गया, मुक्ति का मार्ग पा लिया। जहाँ सैकड़ों काम कर रहे हो, तो जरा एक यह काम भी करके देख लो। मैं क्या हूँ? मैं ज्ञान मात्र हूँ। मग्न होते जाइये, अन्दर आते जाइये। सीधी-सी बात है — जो मेरा है वह मेरे से छूट नहीं सकता और जो मेरा नहीं है, वह मेरा साथ कभी निभा नहीं सकता। ज्ञानस्वरूप मेरा है, इसलिये उसका अनुभव करने पर अनाकुलता होती है और स्त्री, पुत्र, राग-द्वेष आदि मेरे नहीं हैं, इसलिये उनका आश्रय लेने से आकुलता होती है। अज्ञान के कारण यह जीव शरीर की उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति व शरीर के नाश को अपना नाश मानता है।

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।

रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिनही को सेवत गिनत चैन॥

छहढाला॥

इस छन्द में जीव की दो भूलें दिखाई हैं — एक तो देह में आत्मबुद्धि और दूसरी रागादि में सुख मानने रूप बुद्धि। वास्तव में यह आत्मा चैतन्य स्वरूपी अजर-अमर तत्त्व है। उसका न जन्म है, न मरण है। ऐसा अपने को न पहचानकर अज्ञानी जीव शरीर की उत्पत्ति होने से अपनी ही उत्पत्ति मानता है और शरीर का नाश होने पर अपना ही नाश मानता है, इस प्रकार अपने को देहरूप ही मानता है।

आत्मा का स्वभाव तो शांत, निराकुल, ज्ञानस्वरूप है और रागादि भाव प्रगट रूप से दुःखदायक हैं, आकुलतारूप हैं; तो भी जीव उसको सुखरूप

मानकर उनका सेवन करते हैं। जिसने आत्मा को देहरूप माना, उसने अपने को अजीव माना। शरीर और आत्मा को एक दूसरे में मिलाकर दोनों को एक मानता है, ऐसी जीव-अजीव की भूल जीव अनादिकाल से कर रहा है। जीव और अजीव दोनों अत्यन्त भिन्न होने पर भी वह उनको भिन्न नहीं जानता। देह तो संयोगी वस्तु है, उसका वियोग अवश्य होगा। हे जीव ! इस देह का संयोग होने के पहले तेरा अस्तित्व था और देह के वियोग के बाद भी तेरा अस्तित्व रहेगा। तू तो अजर-अमर जीवतत्त्व है। जन्म-मरण तो देह के संयोग-वियोग की अपेक्षा से हैं। जीव स्वयं अपने उपयोगस्वरूप से नित्य टिकनेवाला है। उसका न जन्म है, न मरण है। तुम नित्य हो, जबकि देह क्षणभंगुर। तुम चैतन्यस्वरूपी हो और देह जड़ है। इन दोनों में एकता कैसी? दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। तभी तो जीव के चले जाने पर देह को जला देते हैं। परन्तु अज्ञानी देह की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति और देह के नाश में अपना नाश मानता है। यह अजीव तत्त्व की भूल है। आचार्य समझाते हैं कि सुख-दुःख का अनुभव तो चैतन्य आत्मा को होता है, शरीर को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है। ज्ञान, शिक्षा की बात चैतन्य आत्मा में होती है, शरीरादि में नहीं होती है। मैं शरीर का नहीं, शरीर मेरा नहीं। मैं तो केवल एक ज्ञान मात्र चैतन्य स्वरूपी आत्मा हूँ।

जीवादि तत्त्वों का जैसा स्वरूप है, वैसा ही पहचानकर श्रद्धान करे, तभी जीव का मिथ्यात्व छूटता है और दुःख मिटता है। जैसे कोई जीव मोह से मुग्ध होकर मुर्दे को जीवित समझ ले या उसको जिलाना चाहे, तो इससे वह स्वयं दुःखी होगा। मुर्दा कभी जीवित नहीं होगा और न ही उसका दुःख मिटेगा। रामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के मृत शरीर को लेकर छः माह तक घूमते रहे, क्योंकि वे उसे मरा हुआ नहीं मानते थे। उन्होंने किन्ही महाराज से दुःख दूर होने का उपाय पूछा, तो महाराज ने कहा कि जब तक तुम इस मृत शरीर को मृत नहीं समझोगे, तब तक तुम्हारा दुःख दूर नहीं होगा। लक्ष्मण जी मर चुके हैं, ये अब जीवित नहीं होंगे। मृतक को मृतक ही जानना और उसको जिलाया नहीं जा सकता — ऐसा समझना ही दुःख दूर होने का उपाय है।

जो जीव मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा मानकर अन्यथा परिणमन कराना चाहे, वह स्वयं दुःखी होगा। उसकी मिथ्यामान्यता के अनुसार पदार्थ परिणमेगा नहीं और उसका दुःख मिटेगा नहीं।

किन्तु पदार्थ को यथार्थ जानना (स्व को स्व रूप और पर को पर रूप जानना) तथा वे पदार्थ मेरे परिणमाये अन्य रूप परिणमने वाले नहीं हैं — ऐसा मानना, यही दुःख दूर होने का उपाय है। इस प्रकार सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान व तदनुरूप सम्यक् आचरण ही दुःख मेटने का सच्चा उपाय है।

निज स्वरूप को जाने बिना अज्ञानी अपने को देहरूप ही समझता है। उसे स्वप्न में भी 'शरीर ही मैं हूँ' ऐसा लगता है। वह पर को अपना मानकर बन्दर की तरह दुःखी हो रहा है। एक बन्दर था, वह जिस वृक्ष पर बैठता था उस वृक्ष को वह अपना मान बैठा। जब हवा चली और उस वृक्ष के सूखे पत्ते गिरने लगे, तब वह बन्दर दुःखी होने लगा कि अरे! मेरे ये पत्ते बिखरे जाते हैं। वैसे ही मोही जीव अज्ञान से देहादिक संयोग को अपना मानते हैं और संयोग दूर होने पर दुःखी होते हैं कि अरे, मेरे ये सब चले जाते हैं। पर ये सब तेरे थे ही कहाँ? वस्तु है किसी दूसरे प्रकार की और मान लेना उसे भिन्न प्रकार की, तो दुःख होगा और यदि वस्तु जैसी है, उसे वैसी मान ले, तो सुख होगा। इसीलिये सम्यक्त्व सदा सुख देता है और मिथ्यात्व सदा आकुलताओं को पैदा करता है।

कुत्ता बड़ा स्वामीभक्त होता है। दो रोटी के टुकड़ों में ही 24 घंटे पहरा देता है। आज्ञाकारी होता है। यदि मालिक पर कोई उपद्रव आ जाये, तो तुरन्त मदद करने को तैयार रहता है। और एक शेर होता है, जिसे देखते ही लोग डर जाते हैं। किसी का तो हार्टफेल हो जाता है। कोई-कोई तो शेर से डरकर मर जाते हैं। इतना अहित करने वाला होता है शेर। अब आप बताओ कि जो भला है, उपकारी है, उसकी उपमा देना चाहिये। आप किसी की बड़ी तारीफ करें, 'इनका क्या कहना? ये तो बहुत उपकारी हैं, धर्मात्मा हैं। यह तो एक कुत्ते के समान हैं।' तो वे नाराज हो जायेंगे और यदि कह दिया जाये कि ये तो शेर के समान हैं (यानी दूसरों की जान लेते हैं) तो वे खुश हो जायेंगे। यदि आप किसी

को कुत्ते के समान कहें तो वह नाराज हो जाता है और यदि शेर के समान कहें तो वह खुश हो जाता है, ऐसा क्यों होता है। यह आध्यात्मिक मर्म बताने वाला अन्तर है। अगर कोई कुत्ते को लाठी मारता है तो कुत्ता उस लाठी को चबाने लगता है। वह समझता है कि मेरा दुश्मन यह लाठी है। मेरा अहित करने वाली यह लाठी है। यह हुई निमित्त दृष्टि अर्थात् निमित्त ही मेरा सब कुछ करने वाला है। जबकि शेर को कोई लाठी या तलवार से मारे तो शेर यह नहीं समझता कि मेरा दुश्मन लाठी और तलवार है, बल्कि वह यह जानता है कि मेरा दुश्मन यह व्यक्ति है और वह उस व्यक्ति पर ही हमला करता है। एक दृष्टि है कि मेरा दुश्मन लाठी है और दूसरी दृष्टि है कि मेरा दुश्मन व्यक्ति है। यही ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर है। ज्ञानी जानता है कि मेरा सुख तो मेरे अन्तर में है; धन वैभव परिवार में मेरा सुख नहीं है। जबकि अज्ञानी धन-वैभव, परिवार, कुटुम्ब आदि में ही सुख मानता है। अज्ञानी जीव ने अपनी प्रभुता को बरबाद कर दिया है। वह अपने असली स्वरूप को नहीं पहचानता, इसलिये शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश में अपना नाश मानता है। यह उसका भ्रम है। देखो मृत्यु के समय शरीर और आत्मा की भिन्नता स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है।

कोई बड़ा राजा तीव्र पाप करके मर जाय, उसका शरीर तो अभी यहाँ मखमल के मुलायम-मुलायम बिस्तर में पड़ा हो और आत्मा नरक में पहुँच जाये, तो वह जीव नरक के घोर कष्टों का वेदन करता है। यह शरीर उसका कहाँ था ? यदि शरीर उसका हो तो उसे नरक में भी सुखी होना चाहिये, क्योंकि शरीर तो अभी भी मखमल के मुलायम गद्दे में पड़ा है। पर ऐसा नहीं होता। यहाँ शरीर भले मखमल के गद्दों पर पड़ा हो, परन्तु वह आत्मा तो नरक में घोर कष्टों का ही वेदन करती है। कोई सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा चक्रवर्ती भी हो, 96 हजार रानियाँ हों, सोलह हजार देव उनकी सेवा करते हों, तो भी वे जानते हैं कि यह सब वैभव हमारा नहीं है, मैं तो इन सबसे भिन्न चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ। शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति तथा शरीर के नाश में अपना नाश मानना, यह अजीव तत्त्व की भूल है।

रागादिभाव प्रगट रूप से दुःखरूप होने पर भी अज्ञान से जीव उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन करता है, यह आस्रव तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। रागादि भावों से कर्मों का आस्रव—बंध होता है, जो संसारभ्रमण का कारण है।

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसम्पण्णो।

ऐसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

रागीजीव कर्मों का बन्ध करता है और वैराग्य से सम्पन्न जीव कर्मों से छूटता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है। अतः रागादि में सुख मानकर उनका सेवन मत करो। जितने भी राग—द्वेष, मोह आदि विकारी भाव हैं, वे दुःख देने वाले हैं, उन्हें सुख का कारण समझना आस्रव तत्त्व की भूल है। यहाँ तत्त्वों के सम्बन्ध में जो भूलें बताई जा रही हैं, उन्हें अच्छे प्रकार से समझकर छोड़ देना चाहिये। नहीं तो तत्त्वों को समझे बिना हम धर्म के मार्ग पर चलकर भी जहाँ के तहाँ ही रहेंगे।

जैसे गर्मी के दिनों में रात के समय समुद्र के किनारे खड़ी हुई एक नाव में कुछ व्यक्ति बैठ गये। नाव रस्सी के द्वारा एक खूँटे से बंधी थी। उसको खूँटे से खोला नहीं और उस पर बैठ गये। वे नाव को खे रहे हैं, ताकत लग रही है, परिश्रम लग रहा है, रात भर नाव चलाई, वे मन में सोच रहे थे कि अब चार मील पहुँच गये होंगे, अब 6 मील पहुँच गये होंगे, मैं नाव को अपने गाँव की ओर ले जा रहा हूँ, बड़े खुश हो रहे थे। पर जब सुबह हुई तो देखा कि नाव अपनी ही जगह पर खड़ी है। वे एक दूसरे को देखकर बोले—यार! भूल हो गई। बहुत परिश्रम किया, ताकत लगाई, पर नाव वहीं की वहीं रही। क्या गलती हो गई? रस्सी को खूँटे से नहीं खोला।

इसी प्रकार धर्म करते हुये 40—50—60 वर्ष हो गये, पर आज तक धर्म का फल जो शान्ति है, वह प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि मोह के खूँटे से उपयोग की रस्सी बंधी हुई है, उसे खोला नहीं।

यह जीव राग—द्वेष की वजह से दुःखी है, पर—पदार्थों की वजह से नहीं।

अपने चैतन्य स्वरूप को पहचाने बिना शरीर में अपनापना नहीं मिट सकता, शरीर में अपनापना मिटे बिना राग-द्वेष नहीं मिट सकते और राग-द्वेष मिटे बिना यह जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। इस जीव को एक ही रोग है, “राग और द्वेष” और दवा भी एक ही है कि शरीर और कर्मफल से भिन्न अपने को चैतन्यरूप अनुभव करना, जिससे राग-द्वेष का अभाव हो। लोक में भी देखा जाता है कि जिन लोगों को अथवा जिन चीजों को हम अपनी नहीं देखते-जानते हैं, उनके लाभ-हानि, जीवन-मरण को जानने पर भी हमें कोई सुख-दुःख नहीं होता। वहाँ चूँकि हमें अपनी चीज की पहचान है, अतः वे पर-रूप दिखाई देती हैं, अपनी नहीं। इसी प्रकार, यदि शरीरादि से भिन्न निज-आत्मा का ज्ञान हमें उसी ढंग का हो जाता तो शरीरादि भी पर-रूप दिखाई देने लगेंगे, तब उनमें भी सुख-दुःख, राग-द्वेष नहीं होगा।

राग-द्वेष का अभाव ही वास्तविक सुख है। रागादि स्पष्ट रूप से दुःख के ही कारण हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की अधिकता रहती है वह स्वयं भी दुःखी रहता है और दूसरे लोगों को भी अच्छा नहीं लगता। जिस किसी व्यक्ति में राग-द्वेष की कुछ कमी हो जाती है, उसे हम भला आदमी कहते हैं। वह गलत काम नहीं करता है और दूसरों के लिये भी उपयोगी सिद्ध होता है। जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की कमी और-भी ज्यादा हो जाती है, वह साधु कहलाता है। उसका जीवन फूल की तरह होता है, जो न केवल स्वयं सुगन्धित होता है, अपितु दूसरों को भी सुगन्धित कर देता है। और जिस आत्मा में राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है उसकी शान्ति, उसका आनन्द समस्त सीमायें तोड़कर अपरिमित-अनन्त हो जाता है; वह आत्मा अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, परमात्मा हो जाता है।

जब तक बर्तन को साफ नहीं किया जाये, तब तक उसमें भोजन नहीं परोसा जा सकता, नहीं-तो भोजन खराब हो जायेगा। उसी प्रकार जब तक मिथ्यात्व व मोह दूर नहीं होगा, तब तक धर्म का अमृत (सम्यग्दर्शन आदि रत्न) नहीं परोसा जा सकता। मोह के कारण यह जीव पर को अपना मानता है, पर आचार्य समझाते हुये कहते हैं-तन से जिसका ऐक्य नहीं, सुत-तिय मित्रों से हो

कैसे? चर्म दूर होने पर तन से रोम समूह रहें कैसे? यदि अपना कल्याण करना चाहते हो तो इस मोह से सजग और सावधान रहो, गाफिल न हो।

एक बार किसी के घर एक व्यक्ति पहुँचा। घर के मालिक ने उसकी खूब आव-भगत की। जब विश्राम करने का समय हुआ तब घर के मालिक ने उस व्यक्ति को एक सब सुख सुविधाओं से सम्पन्न बहुत बढ़िया कमरे में विश्राम करने के लिये कहा। जैसे ही वह व्यक्ति विश्राम करने के लिये पलंग पर लेटने लगा तो घर के मालिक ने कह दिया कि भइयाजी! और तो कोई असुविधा की बात नहीं है, बस, इतना ही है कि अभी आपके आने से पहले ही इस कमरे में एक सर्प घुसा था। अब आप सोचिये, उस बढ़िया कमरे में जिसकी अभी-अभी प्रशंसा की गई थी क्या वह व्यक्ति सुख की नींद ले सकेगा? उसे नींद तो तभी आयेगी जब सर्प उस कमरे से निकल जायेगा।

यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। हमारे अपने जीवन में भी दुःख के अनेक कारण विद्यमान हैं। जब तक दुःख के कारणभूत ये मोह, राग-द्वेष आदि विषय हमारे भीतर विद्यमान हैं, तब तक हम सुख की नींद कहाँ ले सकते हैं? इस संसार में दुःखों से बचने का उपाय यही है कि हम अपने भीतर जो दुःख के कारणभूत मोह, राग-द्वेष आदि परिणाम हैं उनको बाहर निकालने का प्रयास करें। दुःख के कारणभूत मोह, राग-द्वेष भाव जब तक मेरे भीतर विद्यमान हैं, मैं जागता रहूँ और हमेशा सजग व सावधान रहकर उन्हें निकालने का उपाय करता रहूँ। अज्ञान के कारण यह जीव रागादिक को अच्छा मानता है।

शुभ-अशुभ बंध के फल मंझार, रति अरति करै निज-पद विसार।

आतम-हित-हेतु विराग-ज्ञान, ते लखें आपकूँ कष्टदान।।छहढाला।।

अज्ञानी जीव अपना चेतनरूप जो निज पद है, उसे भूलकर शुभ अशुभ बन्ध के फल में राग-द्वेष करता है, यह बन्ध तत्त्व की भूल है। तथा वैराग्य और ज्ञान जो परम सुख को देने वाले हैं, उन्हें वह कष्टदायक समझता है, यह संवर तत्त्व की भूल है।

मिथ्यात्व के कारण यह जीव शुभ कर्मों के फल से प्राप्त इष्ट संयोग में

सुख मानता है और अशुभ कर्मों के फल से प्राप्त अनिष्ट संयोगों में दुःख मानता है। वास्तव में संसार में न कोई वस्तु इष्ट है न अनिष्ट। वस्तु तो वस्तुरूप है; अच्छा-बुरापना वस्तु में नहीं है, अपितु हमारे भीतर से आने वाला विकार है। जैसे कि पीलिया के रोगी को दूध पीला दिखाई देता है; वस्तुतः दूध पीला नहीं है, पीला दिखाई देना तो एक दृष्टिविकार है। इसी प्रकार, यदि वस्तु हमें अच्छी-बुरी लग रही है, तो यह हमारे भीतर का विकार है। अनुकूल में प्रीति व प्रतिकूल में अप्रीति से तुम संसार में फँस रहे हो। राग-द्वेष से भिन्न वीतराग परिणति जीव का स्वभाव है, उसी की प्राप्ति का पुरुषार्थ करो। जानो, देखो, बिगड़ो मत। अर्थात् पदार्थ के ज्ञाता-दृष्टा बनो, पर उसमें राग-द्वेष मत करो। 'इष्टोपदेश' ग्रंथ में आचार्य पूज्यपाद महाराज ने लिखा है —

वध्यते मुच्यते जीवः निर्ममः सममो क्रमात्।

तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥२६॥

परद्रव्य में 'यह मेरा है,' यह रागबुद्धि ही बन्ध के लिये कारण है तथा परद्रव्य में 'यह मेरा नहीं है' ऐसी विरागबुद्धि ही मुक्ति के लिये कारण है, इसलिये सर्व प्रयत्न करके वीतरागता का आश्रय करो। शुभ बन्ध के फल से प्राप्त सामग्री में राग तथा अशुभ बन्ध के फल से प्राप्त सामग्री में द्वेष मत करो।

राग-द्वेष के अभाव का उपाय धर्ममार्ग है। राग-द्वेष का अभाव जितने अंशों में हो, उतना धर्म है और इनका पूर्णतया अभाव हो जाना ही धर्म की पूर्णता है। राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूलाधार जीव की यह अनादिकालीन मिथ्या मान्यता है कि "मैं शरीर हूँ।" यह जीव निज में चैतन्य होते हुये भी, आप ही जाननेवाला होते हुये भी, स्वयं को चैतन्यरूप न जानकर शरीररूप जान रहा है। जब शरीर और स्वयं में एकपना देखता है तो शरीर से सम्बन्धित सभी चीजों में इसके अपनापना आ जाता है। शरीर के लिये अनुकूल सामग्री में राग होता है और प्रतिकूल सामग्री में द्वेष। दुःख के मौलिक कारण राग-द्वेष, शरीर में अर्थात् 'पर' में अपनापन मानने से पैदा होते हैं और निज आत्मा को निजरूप अनुभव करने से मिटते हैं।

जो अपनी आत्मा को शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न चैतन्यमय जानता है, उसे यह संसार नाटकवत् या स्वप्नवत् लगने लगता है। मान लीजिये कि कोई अभिनेता अभिनय करते हुये अपने असली रूप को भूल जाता है, नाटक या फिल्म में अपने पार्ट या रोल को ही वास्तविक मान लेता है और फलस्वरूप दुःखी-सुखी होने लगता है, तो फिर उसका वह दुःख कैसे दूर हो? उपाय बिल्कुल सीधा है। यदि उसे अपने निजरूप का—जिसे वह अभिनय के दौरान भुला बैठा है—फिर से अहसास करा दिया जाये, तो उसका रोल वास्तविक न रहकर केवल नाटकीय रह जायेगा और अभिनय करते हुये भी उसका भीतर से दुःखी-सुखी होना मिट जायेगा। यही सही उपाय है उसका दुःख दूर करने के लिये। रोल बदलना सही उपाय नहीं है, क्योंकि रोल तो गरीब का, अमीर का, निर्बल का, बलवान का मिलते ही रहेंगे। परन्तु यदि अपना खुद का अहसास बना रहे तो चाहे जैसा भी रोल हो, उसको अदा करते हुये भी दुःखी नहीं होगा।

बिल्कुल इसी प्रकार इस जीव की स्थिति है। यह जीव निरन्तर कर्म के अनुसार मनुष्य, देव, पशु, नारकी का रोल कर रहा है, अतः उस रोल को ही अपना स्वरूप मानता है और इष्ट पदार्थों में राग व अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करके नवीन कर्मों का संचय करता है। इन कर्मों के फलस्वरूप फिर नया रोल मिलता है। यदि अच्छे कर्मों का संचय किया तो धनवान का, राजा-महाराजा का, निरोगी-स्वस्थ-बुद्धिमान व्यक्ति का, इन्द्र-देवेन्द्र आदि का रोल मिल जाता है। यदि बुरे कर्मों का संचय किया तो गरीब-दरिद्र, रोगी-अपंग-कुरूप-मूर्ख व्यक्ति का, पुश-पक्षी आदि का रोल मिल जाता है। जो भी अच्छा-बुरा रोल मिलता है, वह इस जीव की इच्छा के अधीन नहीं मिलता है, अपितु इसके पूर्वकृत कर्मों के अधीन ही मिलता है। चूँकि यह जीव स्वयं के निजरूप को नहीं जानता, अतः उस कर्मकृत शरीर को मान लेता है कि 'यही मैं हूँ' और उसी के साथ समूचे परिवार में, समूची बाह्य सामग्री में भी अपनापन मान लेता है। तथा शरीर को इष्ट लगने वाले पदार्थों में राग और अनिष्ट लगने वाले पदार्थों में द्वेष करके पुनः नवीन कर्मों का संचय कर लेता है, जिसके फलस्वरूप पुनः शरीर आदि की प्राप्ति होती है। यह चक्कर बराबर चलता रहता है।

इस चक्कर को तोड़ने का उपाय इस जीव ने न तो कभी समझा और न कभी किया। इसने कभी भी यह चेष्टा नहीं की, कि मैं निजरूप को जानूँ। यदि यह स्वयं को जान ले तो फिर कैसा भी कर्मजनित पार्ट क्यों न करना पड़े, उसमें अहंकार—ममकार होगा ही नहीं। चाहे जैसी भी बाह्य अवस्था हो, वह इसको दुःखी नहीं बना सकती। जब पार्ट ही करना है, तो चाहे जिसका करना पड़े, क्या फर्क पड़ता है? फिर भिखारी का पार्ट इसको दुःखी नहीं कर सकता और धनिक का पार्ट इसके अहंकार का कारण नहीं बन सकता। इसलिये सुखी होने का, राग—द्वेष से रहित होने का उपाय अवस्थाओं में बदलाव लाना नहीं है अपितु अपने को जानना है, जिससे कि सभी प्रकार की अवस्थायें नाटक के रोल्स दिखने लगें। अपने को जानने के बाद भी संसार अवस्था तब तक चलती रहती है जब तक रत्नत्रय को धरण कर यह समस्त कर्मों को नष्ट नहीं कर देता।

जीव की कर्मजनित अवस्थाओं की तुलना जिस प्रकार नाटक में होने वाले विभिन्न रोल्स से की गई है, उसी प्रकार उनकी समानता स्वप्न से भी की जा सकती है। संसारी जीव की कर्मजनित, परिवर्तनशील और नाशवान अवस्थायें स्वप्न की भाँति ही अर्थहीन और क्षणस्थायी हैं। कोई व्यक्ति जब तक स्वप्न देखता रहता है, तभी तक वह स्वप्न उसके लिये वास्तविक रहता है। परन्तु जैसे ही वह जागता है, वह स्वप्न वास्तविकता से विहीन स्वप्न मात्र रह जाता है। स्वप्न में उसकी जो भी अवस्थायें हुई थीं, वे दुःख—सुख का कारण नहीं रह जातीं। इसी प्रकार यह जीव अपने चैतन्य स्वरूप को जान जाये तो संसार में समस्त कार्य स्वप्नवत् हो जाते हैं, अर्थहीन हो जाते हैं। इसलिये दुःख दूर करने का उपाय सुखद स्वप्न लेना नहीं बल्कि स्वप्न से जागना है। सुखी होने का उपाय सच्चा ज्ञान और वैराग्य है।

ज्ञान और वैराग्य जो आत्मा के लिये हितकारी हैं, उन्हें यह अज्ञानी जीव कष्ट देनेवाला मानता है। यह संवर तत्त्व की भूल है। ज्ञानी पुरुष संवर के साधनभूत परिणामों में रुचिवान होता है जबकि अज्ञानी जीव संवर के कारण ज्ञान और वैराग्य से दूर से ही डरता है।

एक श्रोता सभा में देर से आया तो पंडित जी ने पूछा—सेठ जी! तुम्हें देर क्यों हो गयी? सेठ जी बोले—पंडित जी! आज हम बड़े चक्कर में आ गये। वह मोड़ा है ना, 8—9 वर्ष का, ...। हाँ, हाँ, सो क्या? सो वह कहने लगा कि हम भी शास्त्रसभा में चलेंगे। उसे बहुत समझाया, आखिर उसे पिक्चर देखने भेजा, तब हम यहाँ आ पाये। तो सेठ जी उस बच्चे को भी ले आते, क्या हर्ज था? पंडित जी! आप बहुत भोले हो। हम तो हैं सुनने की सारी कला जानने वाले, कैसे सुना जाता है, किस कान से सुना जाता है, किस कान से निकाला जाता है, हम उस 9 वर्ष के मुन्ने को यहाँ शास्त्र सुनने लायें और आपकी कोई बात उसके घर कर जाये तो कहो वह घर को भी छोड़ दे, हम उससे भी हाथ धो बैठें। तो अज्ञानी जीवों को संवर की कारण ज्ञान—वैराग्य की बातें कष्ट देने वाली लगती हैं।

मनुष्य जन्म की सार्थकता ज्ञान और वैराग्य से ही है। अतः ज्ञान और वैराग्य में अपने मन को लगाओ। परम उपकारी वैराग्य को एक घड़ी के लिये भी मत भूलो, क्योंकि सारा जगत वैराग्य के बिना संसार के कीचड़ में फँसा है। संसार—सागर से पार उतारने वाला एकमात्र ज्ञान—वैराग्य ही है। अनादिकाल से संसार में भटकते—भटकते आज यह दुर्लभ मनुष्य जन्म और जैनशासन मिला है, तो अब अपना कर्तव्य है कि ज्ञान और वैराग्य को अत्यन्त कल्याणकारी समझकर उसे जीवन में धारण करें और समस्त इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर रत्नत्रय के मार्ग पर चलकर मोक्ष के निराकुल सुख को प्राप्त करें। यह अज्ञानी प्राणी मोक्ष में भी आकुलता ही मानता है।

रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।

इच्छाओं को रोकना तप कहलाता है। इस तप से कर्मों की निर्जरा होती है। किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादर्शन के प्रभाव से आत्मा की अनन्त ज्ञानादिरूप शक्ति को भूल अपनी इच्छाओं का निरोध नहीं करता और निरन्तर पाँचों इन्द्रियों के विषयों में रमा रहता है। यह निर्जरा तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। आचार्य कहते हैं— यदि सुखी होना है तो अपनी इच्छाओं का निरोध करो। परन्तु यह अज्ञानी प्राणी पाँचों इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा के कारण अपनी इच्छाओं

को घटाने के स्थान पर और बढ़ा लेता है, जिससे सदा दुःखी बना रहता है। अज्ञानी जीवों को दो तरह की बीमारी है— आँख की बीमारी और पेट की बीमारी। आँख की बीमारी क्या है?

इस दुनियाँ में एक अँधेरा, सबकी आँख में जो छाया।

जिसके कारण सूझ पड़े नहीं, कौन हूँ मैं कहाँ से आया।।

कौन दिशा को जाना मुझको, किसको देख मैं ललचाया।

स्व—पर भेदविज्ञान भूलकर, परद्रव्यों में भरमाया।।

और पेट की बीमारी क्या है?

इस दुनियाँ में एक कूप है, जिसका पार कोई नहीं पावै।

जिसको भरने कारण प्राणी, देश—दिगन्तर को जावै।।

दीन भये परघर में जाकर, सेवा कर—कर मर जावै।

धर्म—ध्यान चिन्तन परमात्मा का, जिसके कारण बिसरावै।।

एक कहानी है। एक वैद्य रहते थे। उनके पास एक रोगी पहुँचा। उसने वैद्य से कहा कि मेरी आँख में बड़ी पीड़ा हो रही है और पेट में भी पीड़ा हो रही है। वैद्य ने उसको लिटाकर उसका पेट देखा और आँख देखी। इतने में एक दूसरा रोगी आया। उसने भी कहा कि मेरी आँख में और पेट में बड़ी पीड़ा हो रही है। वैद्य ने विचार किया कि यह कैसी हवा चली है, सबको एक ही बीमारी। वैद्य ने दोनों रोगियों के लिये दवा लिख दी और कहा कि कम्पाउण्डर से दवा ले लो। कम्पाउण्डर ने दोनों को दवा की दो—दो पुड़ियाँ बनाकर दे दीं, एक आँख के लिये और एक पेट के लिये। वैद्य ने समझा दिया कि देखो, यह आँख में डालना और बार—बार पलक झपकाना, जिससे आँख से गरम—गरम पानी निकल जायगा। फिर सो जाना। इससे आँख ठीक हो जायगी। यह दूसरी पुड़िया पेट के लिये है। इसको एक पाव जल में डालकर आग पर रख देना। जब जल एक छटाक रह जाय, तब वह काढ़ा छानकर पी लेना। इससे पेट ठीक हो जायगा।

दोनों रोगी दवा लेकर चले गये। घर जाकर एक रोगी ने तो ठीक वैसा ही किया, जैसा वैद्य ने कहा था। आँख की दवा आँख में डाल दी और पेट की दवा पेट में। परन्तु दूसरे रोगी ने पुड़िया उलट दी। उसने पेट की दवा आँख में डाल दी और आँख की दवा पेट में डाल दी। आँख में थोड़ा-सा कचरा भी पड़ जाय तो पीड़ा होने लगती है, पर उसने पेट का चूर्ण आँख में डाल दिया। इससे आँख की पीड़ा बढ़ गयी। आँख की दवा ठण्डी होती है, वह पेट में चली गयी तो पेट की पीड़ा भी बढ़ गयी। अब वह वैद्य को गाली देने लगा कि तेरे बाप को मैंने मारा था क्या? वह तो अपनी मौत मरा था। फिर मेरे से किस दिन का बदला लिया है? दूसरे दिन वह दवाखाना खुलने से पहले ही वहाँ जा बैठा। वैद्यजी आये और दवाखाना खोलकर उससे पूछा— कहो, कैसे हो?

वह बोला—कैसे क्या हूँ।

वैद्य ने कहा—अरे, क्या हुआ?

वह बोला—हुआ क्या? जो तुमने किया, वही हुआ।

वैद्य ने कहा—हमने क्या किया?

वह बोला—ऐसी दवा दे दी कि मेरी आँख की पीड़ा भी बढ़ गयी और पेट की पीड़ा भी बढ़ गयी। साफ कह देते कि मैं दवा नहीं देता। मेरे पास ज्यादा रुपया तो हैं नहीं, इसलिये उल्टी दवा दे दी।

वैद्य ने कहा— भाई! पीड़ा कैसे बढ़ गयी? किसी आदमी को दवा जल्दी असर करती है, किसी को नहीं करती, यह तो अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार होता है, पर पीड़ा बढ़ने का तो कोई कारण ही नहीं है।

वह बोला—मैं तो भुक्तभोगी हूँ, मेरी पीड़ा तो बढ़ गयी।

इतने में दूसरा रोगी आया। वैद्य ने उससे पूछा— कहो, तुम कैसे हो? वह बोला—महाराज! बहुत आराम है। एक-दो दस्त लगे, पेट भी ठीक है और आँखें भी ठीक हैं। यह सुनते ही पहला रोगी बोला— देखो, यह पैसेवाला आदमी है, इसको तो बढ़िया दवा दे दी, मेरे को घटिया दे दी। वैद्य ने कहा—घटिया कैसे दे दी? जो दवा उसको दी, वही तुमको भी दी। तुम्हारी पुड़िया कैसी थी? रोगी

ने जेब से चूर्ण की पुड़िया निकालकर वैद्य के सामने पटक दी और बोला—यह है वह पुड़िया। वैद्य ने कहा—दूसरी पुड़िया? वह बोला— दूसरी तो मैं काढ़ा बनाकर पी गया। यह पुड़िया आँख में डाली थी, दवा ज्यादा थी, इसलिये बच गयी। वैद्य ने कहा कि इसको निकालो यहाँ से। उल्टी दवा तो यह खुद लेता है और कहता है कि तुमने मेरी पीड़ा बढ़ा दी।

इसी तरह सभी बहिरात्मा जीव रोगी हैं। उनकी आँख की बीमारी क्या है? वास्तविक बात सूझती नहीं है। परद्रव्यों से भिन्न आत्मस्वरूप को जानते नहीं और शरीरादि को ही 'मैं' मान लेते हैं। यह अज्ञानी प्राणी तप के माध्यम से अपनी इच्छाओं का निरोध नहीं करता, उल्टा परपदार्थों में अपनत्व बुद्धि रखकर उन्हें प्राप्त करने की इच्छा रखता है जिससे इसका संसार रोग (परिभ्रमण) और बढ़ जाता है।

आकुलता का मिट जाना ही सच्चा सुख या मोक्ष है। किन्तु मिथ्यादृष्टि मोक्ष के स्वरूप को आकुलता रहित नहीं मानता, उसे अति कठिन आकुलतामय मानता है। यह मोक्ष तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। इन सात तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान अग्रहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है। अतः इन सात तत्त्वों की भूल को समझकर उसे छोड़कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो।

एक बार एक युवक ट्रेन से सफर कर रहा था और अपने दोनों पैरों के घुटनों पर सिर रखकर रोये जा रहा था। ट्रेन में भीड़भाड़ नहीं थी। सामने एक वृद्धा बैठी थी। उस बूढ़ी अम्मा से युवक का रोना नहीं देखा गया उसने युवक से पूछा कि बेटे! तुझ पर क्या आ पड़ी है जो तू इतनी जोर-जोर से रोये जा रहा है? परन्तु युवक ने कोई जवाब नहीं दिया। अक्सर ऐसा होता है कि जब किसी पर कोई सहानुभूति व्यक्त करने जाता है तो उसका रोना और तेज हो जाता है। युवक और तेजी से रोने लगा। वृद्धा से रहा नहीं गया, वह अपने स्थान से उठी और उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरते हुये बोली — बेटे! तू मुझे अपनी माँ समझ। तेरे ऊपर क्या आपत्ति आ पड़ी है ? तू मुझे बता। मैं तुझे हर संभव मदद दूँगी। बुढ़िया के इस आत्मीय आग्रह को देखकर युवक ने अपनी

गर्दन उठाई, एक बार बुढ़िया को देखा और रोने लगा। अब तो बुढ़िया भी उसके साथ रोने लगी। बोली—तू क्यों रो रहा है ? तेरे रोने का क्या कारण है, बता। अबकी बार बहुत झकझोर कर उसने उठाया, तो युवक बोला—क्या बताऊँ अम्मा? मैं गलत गाड़ी में बैठ गया हूँ। उस अम्मा ने कहा—बेटा! गलत गाड़ी में बैठ गया है तो रोने से क्या होगा? अगले स्टेशन पर उतर जाना और गाड़ी बदल लेना। वह युवक बोला — अम्मा! ऐसा तो मैं बहुत देर से सोच रहा हूँ, पर आजकल रिजर्वेशन के बिना गाड़ी में जगह नहीं मिलती। अब मैं दूसरी गाड़ी में बैठूँ, यदि भीड़—भाड़ होगी, तो पता नहीं जगह मिले या न मिले। यह डिब्बा एकदम खाली है। इस डिब्बे को छोड़कर मैं दूसरी गाड़ी में कैसे बैठूँ ?

यही स्थिति हर व्यक्ति की है। वह मिथ्यात्व की, अज्ञान की गलत गाड़ी में बैठ गया है। रोना रोता है। आचार्य कहते हैं — गाड़ी बदल लो, रत्नत्रय की गाड़ी में बैठ जाओ। वह कहता है—‘महाराज! ये घर—परिवार का डिब्बा छूट जायेगा तो काम कैसे चलेगा?’ डिब्बे के व्यामोह में हम गाड़ी नहीं बदलना चाहते। जब तक हम गाड़ी नहीं बदलेंगे, सात तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को छोड़कर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक हमारी यात्रा सही कैसे होगी? यह जीव दीर्घकाल से लगातार मोहरूपी निद्रा में सो रहा है। अब तो उसे परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का श्रद्धान कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

प्रत्येक जीव सुख चाहते हैं। सुख प्राप्ति का केवल एक ही उपाय है, दूसरा नहीं। वह यह है कि मैं शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न चैतन्य स्वरूपी आत्मा हूँ। मैं सबसे निराला, एक जुदा पदार्थ हूँ। ऐसा अपने आप में विश्वास आ जाना, यह ही सुख का उपाय है। ये जितने भी रागादि भाव हैं, वे मेरे नहीं हैं। सुखी होने का मूल उपाय यही है कि राग को नष्ट कर दो। राग करके कष्ट दूर नहीं हो सकते। सबसे बड़ा विकट राग तो यही है कि अपने को नाना विकारों रूप मानना। परमार्थतः मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूँ। अपने आप को समस्त परद्रव्यों से भिन्न शुद्ध चैतन्य मात्र श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है और यही सुखी होने का एकमात्र उपाय है।

जब तक यह कुज्ञान था कि पर—पदार्थ से उसे सुख मिलेगा, तब तक

भोगों में प्रीति थी, किन्तु अब स्वयं यह जान लिया कि दूसरे पदार्थ से सुख नहीं मिलता, सुखस्वरूप हम ही तो हैं, जब यह ज्ञान वाले हुये, तब उनके भोग में प्रीति नहीं रहती। किसी धोखे वाली जगह में प्रीति तब तक होती है, जब तक विषय का सच्चा ज्ञान नहीं होता है। परिवार का आज्ञाकारी होना, सैकड़ों हजारों कोसों में यश और कीर्ति का फैलना, यह सब माया है और इसमें फँसे तो आत्मीय आनन्द से हाथ धोये। जैसे अन्य लोग कहा करते हैं कि किसी ने जब बड़ी तपस्या की तो इन्द्र को डर लगा कि कहीं उसका आसन न छुड़ा ले, तब कोई सुन्दर अप्सरा उसने भेजी कि वह रूप, हाव-भाव, नृत्य दिखाकर, नाना उपाय कर ऋषि को चिगा दे। अब देखो, ये सब राग के कृत्य अपने में बड़े अच्छे लगते हैं, परन्तु यह सब धोखा है। उस धोखे में गये तो बस, तप, श्रम उनका बाद में खत्म हो जायेगा।

इसी तरह आत्मा में उत्कृष्ट आनन्द भरा है, अनन्त आनन्द स्वभाव है। उस आनन्द स्वभावमय परमात्मतत्त्व को अपने स्वभाव के दर्शन द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। स्त्री-पुरुष भले ही उसे मिले तो क्या मिले, वे स्वयं दीन आत्मा हैं, उनसे हममें दुःख ही होता है। कुटुम्ब अच्छा मिला तो क्या मिला? तुम्हारी तो आत्मा ही साक्षात् भगवान् है। यह माया कुछ नहीं, केवल भूल है। अपने स्वभाव की उपासना में लगे और इन भोगों से दृष्टि हटाओ। यहाँ के पदार्थ तो यों ही मिले हैं और यों ही जावेंगे। एक कथानक है कि एक चोर ने किसी सेठ के यहाँ से घोड़ा चुरा लिया और बाजार में खड़ा कर दिया। ग्राहक बोलते हैं—बोलो, क्या दाम है इसका? उसने कहा— 600 रुपया है। तिगुना दाम बताया सो सब लौट गये। इस तरह दसों लौट गये। ग्यारहवीं बार दूसरा आया, उसने भी दाम पूछा, तो उससे भी कहा — 600 रुपया है। उसने समझ लिया कि इसने चोरी की है। ग्राहक बोला—इसमें ऐसी क्या बात है? चोर कहने लगा कि इसकी चाल बढ़िया है। ग्राहक चाल देखने के लिये घोड़े पर बैठ गया, मिट्टी का हुक्का उसको पकड़ा दिया। उससे कहा—जरा पकड़ो तो। और आप घोड़े पर जा बैठा। ग्राहक घोड़े को बहुत दूर ले गया और उड़ा ही ले गया। दूसरे लोग आये, कहा — भाई! तुम्हारा घोड़ा बिक गया? कितने में बिक गया? बोला—जितने में लाये

थे, उतने में बिक गया। पूछा — मुनाफा क्या मिला? कहा — तीन आने का यह मिट्टी का हुक्का।

इसी तरह ये सारे पदार्थ एक पैसे से लेकर खरबों रुपये तक हैं। ये सारे—के—सारे मुफ्त में ही मिले हैं। चीज तो न्यारी है। तो, भैया! यह सब जो पाया है, सो मुफ्त में ही मिला है और मुफ्त में ही जायेगा, हाथ कुछ नहीं रहेगा। क्या भाव बना कि यह मेरा है, परिवार मेरा है, ऐसा उन्होंने परिणाम बना लिया। परन्तु ज्ञानी पुरुष जानता है कि दुनियाँ में मिला मुफ्त में यह है और मिटेगा भी मुफ्त में यह। कोई साथ में नहीं रहेगा। परभाव मिटने को आये हैं और मिटने में ही जायेंगे। कुछ मुनाफा मिला कि नहीं मिला? कहते हैं कि मिलेगा क्या? पाप का हुक्का। जो—जो मिला है, वह नहीं रहेगा। किसी के पास नहीं रहेगा। अरबपति, खरबपति के पास नहीं रहेगा, पंडित के पास नहीं रहेगा, कुली के पास नहीं रहेगा, पहलवानों के पास नहीं रहेगा। पर जो पुण्य—पाप जिन्दगी में किया, वह साथ रहेगा। उसके अनुसार सुख—दुःख के साधन सब मिलेंगे।

भैया! जब अज्ञान था, तब भोगों के प्रति प्रेम था, ठीक है, पर अब तो ज्ञान है। तू तो एक चेतनामय पदार्थ है, उसे तो भूल गया और आगे की दुनियाँ में दृष्टि रखकर इस माया की दुनियाँ में लग रहा है और आनन्द के स्वप्नों को सत्य समझ रहा है। इसी से दुःख होते रहते हैं। अब तक तुमने कितने भव व्यतीत कर डाले ? अब केवल एक इस भव को ही भोगरहित व ज्ञानसहित बिताओ तो कोई हर्ज नहीं। यह एक भव जो अब पाया है, तो यह समझ लो कि इसको पाया ही नहीं है। पाया है तो अपने में गुप्त रहकर ही धर्मसाधना के लिये पाया समझो, तो मुक्ति का मार्ग मिल जायेगा, शान्ति और आनन्द का मार्ग मिल जायेगा, फिर तू सदा के लिये सुखी हो जायेगा। एक मोह को छोड़ दे तो सदा के लिये तेरे क्लेश मिट जायेंगे।

यह तेरा अपना चुनाव है कि चाहे स्वयं को तू शरीररूप देखे, चाहे चैतन्यरूप। शरीररूप देखने का फल तो चौरासी लाख योनियों में अनादिकाल से तू निरन्तर भोगता आ रहा है। जिन्होंने स्वयं को चैतन्यरूप देखा, वे

सम्यग्दृष्टि जीव परम आनन्द को प्राप्त हो गये। यदि तुझे भी वैसा आनन्द प्राप्त करना है, तो सात तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को छोड़कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करो।

अज्ञानता के कारण यह जीव स्वयं अपने आपको नहीं पहचानता और व्यर्थ में दुःखी होता है। दुःख का मूल कारण इसकी अज्ञानता है। यह शरीर से भिन्न चैतन्य आत्मा को नहीं जानता और इस जड़ शरीर को ही 'मैं' मान लेता है। जैसी अहंबुद्धि इसकी शरीर में है, वैसी तो आत्मा में होनी चाहिये। और जैसी परबुद्धि पहने हुए वस्त्र आदि में है, वैसी इस शरीर में होनी चाहिये। शरीर के स्तर पर इसे भेदविज्ञान भी है। अपने शरीर, स्त्री—पुत्रादि को ही अपना मानता है, किसी दूसरे के शरीरादि को नहीं।

दो भाई थे, उनके एक—एक लड़का था। दोनों साथ—साथ रहते थे। एक बार बड़े भैया बाजार से एक गन्ना खरीदकर लाये। उनका और छोटे भाई का लड़का गन्ना माँगने लगा। गन्ना एक ही था, अतः उन्होंने उसके दो टुकड़े कर लिये। जिस ओर छोटे भाई का लड़का था, उस हाथ में बड़ा टुकड़ा आया और जिस ओर स्वयं का लड़का था, उस हाथ में छोटा टुकड़ा आया तो उन्होंने हाथ घुमाकर छोटा टुकड़ा छोटे भाई के लड़के को दे दिया और बड़ा टुकड़ा अपने लड़के को दे दिया। पीछे से छोटा भाई आ रहा था, उसने यह भेदभाव देखा तो बोला—बड़े भैया! अब अपन अलग—अलग हो जायें, अब हम एकसाथ नहीं रह सकते। तो शरीर के स्तर पर इसे अपने—पराये का भेदज्ञान है। यही भेदज्ञान इसे आत्मा के स्तर पर होना चाहिये कि अनन्त गुणोंवाला यह आत्मा तो मैं हूँ और यह जड़ शरीर पर है, अन्य है, मेरे से भिन्न है।

आत्मा का कार्य मात्र ज्ञाता—दृष्टा रहना है, पर उसे न जानने के कारण ही यह कर्तृत्वबुद्धि रखता है। इसलिए चौबीसों घंटे कुछ—न—कुछ करने की उधेड़—बुन में लगा रहता है। कदाचित् कभी इच्छा और कर्म के वैसे ही उदय का संयोग बैठ जाता है तो यह कहता है कि मैंने किया। यह सोचता है कि सारा संसार मानो इसके चलाने से ही चल रहा है।

एक बार एक कुत्ता गाड़ी के नीचे चल रहा था। उसे रास्ते में उसका

साथी दूसरा कुत्ता मिला। वह बोला—तू गाड़ी के नीचे क्यों चल रहा है ? पहला कुत्ता बोला—तू देख नहीं रहा है, मैं गाड़ी को चला रहा हूँ? दूसरा कुत्ता हँसने लगा, बोला—अरे! गाड़ी तो बैल चला रहे हैं, तू नहीं चला रहा है। पहला कुत्ता बोला— नहीं, मैं इस गाड़ी को चला रहा हूँ। यदि मैं रुक जाऊँगा तो ये गाड़ी भी रुक जायेगी। वह कुत्ता रुक गया और उसी समय भाग्य से बैल भी रुक गये तो गाड़ी रुक गई। वह कुत्ता गर्व के साथ बोला—देख, कहा था कि मैं ही गाड़ी चला रहा हूँ।

इसी प्रकार यह संसारी प्राणी सोचता है कि मैं ही सारे संसार को चला रहा हूँ। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि इसके करने के अधीन कुछ भी नहीं है। यह कर्तृत्वबुद्धि ही दुःख का कारण है।

जो आत्मा को नहीं जानते, उनके भीतर मोह की गहलता अपना अड्डा जमाए रहती है, जिससे वे बेखबर होकर भवविपिन में भ्रमण करते हुए महान त्रास और कष्ट को पाते हैं। बड़े दुःख की बात है कि यह अज्ञानी आप ही मादक वस्तुओं का सेवन करता है और आप ही उनके असर से बावला हो जाता है। बार—बार यह दशा होती है, तो—भी मादक वस्तु लेने की आदत को नहीं छोड़ता है। पर यदि यह एक बार भी चित्त को कड़ा करके इस नशा लेने की आदत को छोड़ देवे, बहुत ही जोर—जुलम करके संकट सह करके भी इसको ग्रहण न करे, ऐसा यदि दस, बीस बार भी करे, तो इसकी आदत छूट जावे और तब फिर अपने स्वाभाविक चलन में चले और अपनी हानि न करे। संसारी प्राणी भी इसी तरह राग, द्वेष, मोह रूप गहलता में न पड़े, चित्त को जोर—जुलम से इष्ट में राग व अनिष्ट में द्वेष से बचावे और अपने शुद्ध ज्ञाता—दृष्टा स्वभाव में एक बार भी ठहरे, तो फिर इसको भले प्रकार निश्चय हो जावे कि मोह—मद्य की गहलता से रहित आत्मा का स्वभाव कितना सुन्दर व शान्त है। जो अपनी आत्मा को पहचान लेगा, वह फिर अपना बल लगाकर उस मोह की शराब पीने से बचेगा। इस प्रकार के पुनः—पुनः प्रयत्न में रहते हुए इसकी मोह को अपनाने की आदत छूटती जाती है और तब यह धीरे—धीरे स्वास्थ्य युक्त होता हुआ स्वाभाविक ज्ञान—दर्शन स्वरूप में लयता प्राप्त करता है।

अनादिकाल से यह जीव अपनी आत्मा को न पहचानने के कारण ही संसार में भटक रहा है। यह संसार असार है, इसमें रंचमात्र भी सुख नहीं है। प्रातः काल का समय था। एक छोटा-सा बालक अपने आँगन में खेल रहा था। उसने सूर्य से निकलती हुई किरणों को देखा। उसे वे किरणें बहुत अच्छी लगीं। उसकी इच्छा हुई कि इन किरणों को पकड़ लिया जाये। वह अन्दर गया और अपने स्कूल का बस्ता ले आया। उसने उसे सूर्य के सामने खोल दिया और झट से बंद कर लिया। वह बालक बहुत खुश था। वह सोच रहा था कि मैंने आज बहुत अच्छी वस्तु को इस बस्ते में कैद करके रख लिया है। वह घर के अन्दर पहुँचा और अपनी माँ से बोला—माँ! आज मैं ऐसी अद्भुत वस्तु को लाया हूँ जिसे तुमने आज तक नहीं देखा होगा। आप इस बस्ते को खोलकर देखें। आप उसे देखेंगी तो आश्चर्य में पड़ जायेंगी। माँ ने उसका बस्ता खोला। वह भी साथ में बैठा हुआ था। जैसे-ही उसने बस्ते को खोलकर देखा तो उसमें कुछ नहीं था। उस बच्चे की आँखों में आँसू आ गये। वह सोच में पड़ गया कि मैंने तो अपने हाथों से किरणों को इसमें भरा था। ये कैसे हो गया कि बस्ते में कुछ नहीं है? वह रोया और दुःखी-दुःखी हो गया।

यह कहानी सभी संसारी प्राणियों की है। आप भी जब प्रातः काल घर से निकलते हैं तो आपको लगता है कि हम कुछ एकत्रित करने के लिये निकले हैं और जैसे ही सूर्य अस्त होने को होता है तो आप अपना बैग बंद कर लेते हैं, अपना डिब्बा बंद कर लेते हैं कि हमने इसमें कुछ रख लिया है। लेकिन जैसे ही प्रातःकाल होता है, तो खाली नजर आता है। जितनी भी इच्छाएँ थीं, जितनी भी भावनायें थीं, जो-जो वस्तु संग्रह करने की इच्छायें थीं, वो सारी-की-सारी आप सोचते हैं कि मैंने पूरी कर लीं, अब सो जायें, अब कल मुझे कुछ नहीं करना है। लेकिन जैसे ही प्रातः काल होता है, आपका डिब्बा फिर खाली हो जाता है।

इच्छाओं को जितना-जितना पूरा करो, ये उतनी-उतनी ही बढ़ती जाती हैं। आज हजार रुपये की इच्छा है, कल दस हजार की हो जाती है। जब दस हजार मिल जाते हैं तो इच्छा एक लाख की हो जाती है। इस इच्छारूपी गर्त

को जितना भरो, वह उतना ही गहरा होता चला जाता है। इस धन—संपत्ति में, इन बाह्य पदार्थों में जरा भी सुख नहीं है। 'सब विधि संसार असारा, इसमें सुख नाहिं लगारा।' यह संसार सब प्रकार से असार है, इसमें लगार मात्र भी सुख नहीं है। अभी आपने इस संसार को पहचाना नहीं है। आप श्रीराम को भगवान् मानकर पूजते हो। इसी संसार ने आपको वनवास दिया था और आप इस संसार में सुख ढूँढ़ रहे हो, रमे हुये हो। जो संसार आपके भगवान् का नहीं हुआ, वह आपका कैसे हो सकता है? वो तो शक्तिशाली थे, सामर्थ्यवान् थे, इसलिये इन कष्टों से उबरकर मोक्ष के महासुख को प्राप्त हो गये, पर आपकी स्थिति क्या होगी? संसार की दयनीय दशा को देखकर कबीरदास जी ने लिखा है...

चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।

दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय॥

इन दो पाटों के बीच में कोई साबुत नहीं बचता। जब चक्की में अनाज गिरता है और दो पाटों के बीच में पहुँचता है, तो सारे—के—सारे दाने पिसते चले जाते हैं। पिताजी की बात सुनकर बेटा कमाल हँसा और बोला —

चलती चक्की देखकर, हाँसी आवे मोय।

कीली से जो लग गया, मार सके न कोय॥

जो दाने कीली के सहारे लग जाते हैं, वे दाने साबुत रह जाते हैं। उन्हें कोई नहीं पीस सकता।

ये संसार भी एक चक्की के समान है, जिसमें समस्त प्राणी पिस रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं। पर जो व्यक्ति धर्मरूपी कीली (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की कीली) से लग जाता है, वह संसार के कष्टों से बचकर मोक्षरूपी निराकुल सुख को प्राप्त कर लेता है। फिर वह अनन्तकाल तक अनन्तसुख का उपभोग करता है।

आज के बाद हमें एहसास होना चाहिए कि हमने बैग में जो भरा है, संसार की किरणें भरी हैं, इस संसार की तृष्णा भरी है। जिस दिन हम उस बस्ते को खोलकर देखेंगे तो उसमें कुछ भी नजर नहीं आयेगा, क्योंकि वह कल्पना मात्र

की वस्तुयें हैं, नश्वर हैं, नष्ट हो जानेवाली हैं। इसलिये वृद्धावस्था में प्रायः सभी व्यक्ति दुःखी हो जाते हैं।

ये संसार बहुत परिवर्तनशील है। जो आपको आज देख रहा है, दस साल बाद देखेगा तो पहचान भी नहीं पायेगा।

एक आठ/नौ साल का लड़का था। उसकी माँ एक तस्वीर देख रही थी। उस बालक ने वह तस्वीर पहले कभी नहीं देखी थी। उसने माँ से कहा—तुम क्या देख रहीं हो? माँ बोली—तस्वीर देख रही हूँ। बालक बोला—माँ! ये कौन हैं? कितने अच्छे, कितने खूबसूरत लग रहे हैं? कितने अच्छे बाल हैं इनके, कितने सुन्दर कपड़े पहने हैं? माँ! आज तक मैंने इतनी सुन्दर तस्वीर नहीं देखी। माँ ने कहा—बेटा! ये तुम्हारे पिताजी हैं। वह बालक बोला—मेरे पिताजी हैं? फिर ये जो पायजामा—कुर्ता पहने रहते हैं, जिनके सिर पर बाल नहीं हैं, गंजे हैं, ये कौन हैं? माँ ने कहा—वह भी तुम्हारे पिता हैं। बालक बोला—क्या मेरे दो पिता हैं? माँ बोली—नहीं, वो ही ये हैं। ये उनकी जवानी की तस्वीर है। जब वे युवा थे, उस समय की ये तस्वीर है, और आज जो तुम देख रहे हो, वह उनकी ढलती उम्र है। वे वृद्धावस्था की ओर जा रहे हैं, इसलिए उनका ये रूप है। स्वयं का बेटा स्वयं को न पहचान पाये, ये संसार का स्वरूप है। स्वयं का बेटा बीस साल पहले की तस्वीर देखकर नहीं पहचान पा रहा है और कह रहा है— ये मेरे पिता नहीं हैं। क्योंकि उसने बीस साल बाद आपकी तस्वीर देखी है, इसलिए बीस साल पहले की तस्वीर को नहीं पहचान रहा है। फिर भी हमारी समझ में कुछ नहीं आता। जब मर जायेंगे, तब फिर कौन पहचानेगा? इसलिए संसार की आसक्ति को छोड़कर धर्म की कीली से लग जाओ, जिससे मोक्ष का सच्चा निराकुल सुख प्राप्त हो सके।

यह संसार महाभयानक है। धर्म ही संसार में सार है। जो आत्मा को नरेन्द्र, सुरेन्द्र और मुनीन्द्र से वन्दनीय मुक्तिस्थान में धरता है, उसे धर्म कहते हैं। अथवा जो संसारी प्राणियों को धरता है यानी उनका उद्धार करता है, वह धर्म है। त्रिलोक में जितने उत्कृष्ट सुख हैं, वे धर्म के ही प्रसाद से प्राप्त होते हैं। धर्म से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। धर्म के बिना इस संसार में कोई किसी भी

प्रकार बन्धु व सहायक नहीं है। इसलिये एक धर्म का ही सेवन करो और अन्याय व अनीति से सदा दूर रहो।

भीष्म पितामह शर-शैय्या पर पड़े युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश दे रहे थे। इसी बीच द्रौपदी को हँसी आ गई। भीष्म ने पूछा—बेटी! तू इतनी सुशील है, फिर भी ऐसे असमय में बड़ों के समक्ष तुझे हँसी क्यों आई?

द्रौपदी बोली—पितामह! अपराध क्षमा करें। मेरे मन में यह विचार आया कि जब भरी सभा में मेरे वस्त्र खींचे जा रहे थे, तब आप भी वहाँ उपस्थित थे, उस समय आपका यह धर्म कहाँ चला गया था? यही सोचकर मुझे हँसी आ गई। पितामह बोले —बेटी! तुम्हारा सोचना ठीक ही है। उस समय दुर्योधन का अन्यायपूर्ण उपार्जित कुधान्य खाने से मेरी बुद्धि भी अशुद्ध हो गई थी। मेरा मन कुसंस्कारयुक्त हो गया था। इसी कारण से अन्याय के विरुद्ध न बोल सका। मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन/बुद्धि का निर्माण होता है। अन्यायोपार्जित, कुसंस्कारी, कुधान्य का सेवन न किया जाये, भले ही भूखा क्यों न मरना पड़े। क्योंकि मन/बुद्धि के विकृत हो जाने पर समस्त जीवन ही विकृत हो जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का प्रभाव हमारे मन पर भी पड़ता है।

महाभारत के युद्ध की घोषणा होने के बाद युद्धस्थल का चयन करना था। श्रीकृष्ण अर्जुन आदि को अपने साथ ले गये। चारों ओर भूमि का निरीक्षण करते रहे कि कौन-सा स्थान युद्ध के लिये उपयुक्त होगा?

एक जगह श्रीकृष्ण ने देखा कि गन्ने का एक खेत था। पति खेत में काम कर रहा था। उसकी पत्नी उसके लिये घर से कुछ जलपान लाई थी। पति जलपान करने लगा तो पत्नी खेत में पानी देने लगी। नाले में एक स्थान पर पानी का बहाव रुक नहीं रहा था। वह बड़ी बैचेन हुई। पानी रोकने के लिये उसे कोई वस्तु दिखाई नहीं दे रही थी। अन्त में उसने अपने ही छोटे बच्चे को लिटा दिया। पानी तो रुक गया, पर बच्चा मर गया। यह दृश्य देखकर श्रीकृष्ण वहीं रुक गये। श्रीकृष्ण ने कहा — अर्जुन! युद्ध के लिये सर्वश्रेष्ठ जगह इसके

अलावा और कोई भी नहीं हो सकती है। अर्जुन ने पूछा — क्यों? श्रीकृष्ण ने कहा — जहाँ माँ की ममता मर जाती है, वहाँ युद्ध हो सकता है।

द्रव्य, क्षेत्र आदि का हमारे मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। श्रावकों का यह परम कर्तव्य है कि सात तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को छोड़ दें और अपना आचरण श्रावकाचार के अनुरूप बनायें।

आचार्य समझा रहे हैं—यदि सुखी होना चाहते हो तो रत्नत्रय को धारण कर मोक्षमार्ग पर चलो। और यदि पूर्ण रत्नत्रय को धारण नहीं कर सकते हो तो सम्यग्दृष्टि बनकर घर में 'जल से भिन्न कमल' के समान रहो।

यदि कोई लड़की 10-15 बार ससुराल हो आई हो, पर जब अगली बार ससुराल जाती है तो यद्यपि पहले से ही ससुराल पत्र भेज देती है या फोन कर देती है कि अब घर में काफी काम होगा, मुझे लिवा ले जाओ, पर ससुराल जाते समय वह पहले की ही भाँति रोती है। बताओ उसे ससुराल जाने में दुःख होता है क्या? नहीं, वह तो झूठ-मूठ का रोती है। ससुराल जाने वाली बहुत-सी लड़कियाँ हँसी-खुशी से जाती हैं, मगर रोने का ढोंग करती हैं। भीतर से तो यह होता है कि श्रृंगार करना है, यह करना है, वह करना है, कुछ हँसी-खुशी होती है, मगर यह जानती हैं कि रोना चाहिये, सो बाहरी दिखावे में रोती रहती हैं। भला बताओ वह अंदर से तो प्रसन्न है और बाहर से रोती है, तो क्या उसका यह रोना, रोना कहा जायेगा?

इसी तरह दुकान पर मुनीम ग्राहक से बात करता है कि तुम पर मेरा इतना दाम गया, तुम्हारा मेरे पास इतना आया है। इस तरह मेरा भी कह रहा है, परन्तु श्रद्धा यह है कि मेरा कुछ भी नहीं है, है तो सब सेठ का। और भी देखो कि विवाह इत्यादि में पड़ोस की महिलायें गाना गाने के लिये आ जाती हैं, बड़ी खुशी से गाना गाती हैं—मेरा बन्ना सरदार, राम-सीता जैसी जोड़ी आदि। वे मेरा कहती जरूर हैं, मगर यदि दूल्हा की घोड़ी से गिरकर टांग टूट जाये, तो उनको कोई दर्द नहीं होता। और अगर दूल्हा की माँ को इसका पता चल जाये तो वह कितना दुःख करती है? उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहता। सो यदि

इन परपदार्थों को मान लिया कि ये मेरे हैं, तो दुःख होगा और यदि यह समझ में आ जाये कि ये मेरे नहीं हैं, तो दुःख नहीं होगा। तो ऐसा ही समझिये कि हम—आपको उन गाँव की स्त्रियों की भांति इस गृहस्थी के बीच काम करना पड़ रहा है, पर इन नटखटों में पड़ना मेरा कर्तव्य नहीं है। यदि हम अपने आपको सबसे भिन्न समझेंगे, तो शरीरादि में अपनापना, अहम् मर जायेगा और जिसका अहम् चला गया, उसका संसार ही चला जायेगा। संसार में जो रस है, वह अहम्पने का और मेरेपने का ही तो है। जिसका अहम्पना और मेरापना चला गया, उसके लिये संसार में कोई रस नहीं रहता।

सम्यग्दर्शन होने पर शरीर में अपनापना तो नहीं रहता, परन्तु शरीर में स्थित है। राग—द्वेष में अपनापना तो नहीं रहता, परन्तु राग—द्वेष भाव अभी भी हैं। जैसे—कुम्हार ने चाक से डंडा तो हटा लिया, परन्तु चाक अभी तक चल रहा है। अथवा पेड़ को तो काट डाला है, परन्तु पत्ते अभी हरे हैं। बच्चे का पालन तो हो रहा है, पहले माँ बनकर था, अब धाय की तरह है। घर में तो रह रहा है, परन्तु अब घर नहीं है, धर्मशाला है। व्यापार तो कर रहा है, किन्तु स्वामित्व अब नहीं रहा। सम्यग्दर्शन की अचिंत्य महिमा है। सम्यग्दर्शन होने पर रुचि संसार से हटकर मोक्ष की ओर हो जाती है। सम्यग्दृष्टि घर में रहकर या घर का त्याग कर श्रावक धर्म की साधना करता है और सदा भावना भाता है कि कब मुनि बनकर पूर्ण रत्नत्रय को धारण करूँ।

एक गाँव के बाहर किसी सन्यासी की कुटिया थी। गाँव के लोग उसके पास अपनी शंकाओं का समाधान करने आते थे। एक दिन एक जिज्ञासु व्यक्ति सन्यासी से पूछने लगा—क्या मोक्ष प्राप्ति के लिये घर को छोड़ना जरूरी है? सन्यासी ने कहा कि कोई जरूरी नहीं है। यदि घर छोड़ना जरूरी होता तो राजा जनक घर में रहते हुये भी विदेही कैसे कहे जाते? चक्रवर्ती सम्राट भरत ने भी घर में रहकर ही साधना की थी।

कुछ दिनों बाद एक दूसरा जिज्ञासु सन्यासी के चरणों में पहुँचा और पूछने लगा—महाराज! क्या मोक्ष की प्राप्ति के लिये घर—बार छोड़ना आवश्यक नहीं है? सन्यासी ने कहा कि बहुत आवश्यक है, बहुत जरूरी है। यदि घर का

परित्याग करना जरूरी नहीं होता, तो महावीर—जैसे राजकुमार घर छोड़कर साधुवृत्ति को क्यों ग्रहण करते? इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये गृहत्याग बहुत जरूरी है।

एक बार वे दोनों व्यक्ति कहीं मिल गये। संयोग ही कुछ ऐसा बना कि दोनों में चर्चा छिड़ गई उसी प्रश्न को लेकर। एक ने कहा—महाराज ने तो कहा है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिये घर छोड़ना जरूरी नहीं है, घर में रहकर भी साधना की जा सकती है। दूसरे ने कहा—तुम झूठ बोल रहे हो, क्योंकि मैंने भी तो उन्हीं सन्यासी से पूछा था, मुझसे तो उन्होंने कहा था कि मोक्ष पाने के लिये घर को छोड़ना जरूरी होता है।

दोनों का आपसी विवाद यहाँ तक बढ़ गया कि वे लड़ पड़े, हालांकि दोनों अपने—अपने विचारों की सीमा में सच थे। बहस तो खूब हुई, किन्तु समाधान नहीं मिला। आखिर दोनों सन्यासी के पास आये और बोले— महाराज! आपने तो हमें लड़वा दिया। हमारा प्रश्न तो एक ही था, किन्तु आपने उत्तर बिलकुल विपरीत दिये। आपने तो हमें भटका दिया। अब हमें उचित समाधान दीजिये।

सन्यासी ने कहा—पहले व्यक्ति की मनोवृत्ति (इच्छा) घर छोड़ने की नहीं थी, वह घर त्याग कर साधना नहीं करना चाहता था, इसलिये मैंने उससे कहा मोक्ष की साधना करने के लिये घर छोड़ना जरूरी नहीं है, तुम घर में रहकर भी साधना कर सकते हो। दूसरे व्यक्ति की मनोवृत्ति घर छोड़ने की थी, अतः मैंने उसे घर छोड़ना जरूरी बताया। जैसी तुम्हारी मनोवृत्ति थी, मैंने तुम्हें उसी ओर प्रेरित किया। मंजिल एक होती है, मार्ग अनेक होते हैं। इसलिये एक ही पक्ष को पकड़कर एकान्तवादी नहीं बनना चाहिये।

आचार्यों ने लिखा है—जो व्यवहार से विमुख होकर निश्चय मात्र को चाहते हैं, वे मूढ़ हैं, वे बिना बीज के वृक्ष को चाहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में लिखा है—

व्यवहार निश्चयौ नयः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलम् विकलं शिष्यः॥

जो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को अच्छी तरह समझकर किसी भी नय का पक्षपाती न होकर मध्यस्थ होता है, वही उपदेश प्राप्त करने के लिये योग्य है। हठग्राही, पक्षपाती उपदेश का पात्र नहीं है।

पंडित श्री दौलतराम जी ने लिखा है—

“सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चरण—शिवमग, सो द्विविध विचारो।

जो सत्यार्थ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।”

मोक्षमार्ग के स्वरूप का दो प्रकार से विचार करना चाहिये। जो वास्तविक मोक्षमार्ग है, वह ‘निश्चय’ मोक्षमार्ग कहलाता है और जो ‘निश्चय’ मोक्षमार्ग की प्राप्ति में कारणभूत है, वह ‘व्यवहार’ मोक्षमार्ग कहलाता है। जिनवाणी में कहीं निश्चय की अपेक्षा से कथन किया गया है और कहीं व्यवहार की अपेक्षा से। जहाँ जिस अपेक्षा से कथन किया गया हो, उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए।

पंडित बनारसीदास जी ने लिखा है—

जो बिन—ज्ञान क्रिया अवगाहै, जो बिन—क्रिया मोखपद चाहै।

जो बिन—मोख कहै मैं सुखिया, सो अजान मूढ़नि में मुखिया।।

मूर्खों के सरदार तीन प्रकार के होते हैं। एक वे जो बिना ज्ञान के क्रियायें करते हैं। दूसरे वे जो बिना ‘चारित्र के मोक्ष हो जायेगा’ ऐसा मानते हैं। तीसरे वे जो कहते हैं कि हम तो यहीं पर सुखी हैं, मोक्ष में जाने की क्या जरूरत है?

जो लोग यह कहते हैं कि मोक्ष के बिना भी सुख है, यानि स्वर्गों में सुख है, पैसों में सुख है, वे मूर्खों के सरदार हैं। जिनको समझ में आ गया है कि संसार में दुःख—ही—दुःख है, कहीं भी सुख नहीं है, उन्हें मोक्षमार्ग पर लगने के लिये कहा जा रहा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है। जो इस तन्त्रय को धारण करता है, उसका कल्याण होता है, उसे अनन्तसुख की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन की महिमा

‘धर्मामृत’ ग्रन्थ में आचार्य जयसेन महाराज ने सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा है— बिना सम्यग्दर्शन के मनुष्य की शोभा नहीं है। जिस प्रकार सेना हो, किन्तु सेनापति न हो, तो सेना शोभारहित होती है। शक्ति बिना शरीर की शोभा नहीं होती, जड़ बिना वृक्ष की शोभा नहीं होती, जल के बिना कुँए की शोभा नहीं होती, आँख के बिना मुख की शोभा नहीं होती, जिस प्रकार बिना धुरी के गाड़ी चलने में समर्थ नहीं होती, बिना तेल के जिस प्रकार दीपक प्रकाश नहीं देता, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत के मानवों की शोभा सम्यग्दर्शन के बिना नहीं है।

सम्यग्दर्शन नाव के समान है। उसका आश्रय छोड़कर जो जीव केवल चारित्र पालता है, वह मुक्त नहीं होता। जैसे नौका का आश्रय छोड़कर नदी को पार नहीं किया जा सकता।

इस जगत में सम्यक्त्व के समान और कोई गुण नहीं है। इसको प्राप्त करके मनुष्य संसार का विनाश करता है। सम्यग्दर्शन के बिना कदापि मुक्ति नहीं हो सकती। सम्यक्त्व—रहित जीव चारित्र के बल से नवग्रैवेयक तक जाता है, परन्तु वह भव—भ्रमण से पार नहीं हो पाता।

पाप के वशीभूत होकर जीव संसार में परिभ्रमण करते हुये स्व और पर का ज्ञान करने का अवसर प्राप्त न होने के कारण अभी तक निजात्म—सुख का उपाय ढूँढ़ रहे हैं, जो कि उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिये जो भव्य जीव चतुर्गतिक पाप से मुक्त होकर, सुख के आगर मोक्षरूपी वैभव को प्राप्त कर सदा सुखमय रहना चाहता है, ऐसे भव्य जीव को परम आदर के साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेना चाहिये। आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है—

**सद्दर्शन महारत्नं विश्वलोकैक भूषणम् ।
मुक्ति-पर्यन्त कल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ।।**

यह सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त लोक का आभूषण है और मोक्ष होने पर्यन्त आत्मा को कल्याण देने वाला चतुर है ।

**अत्यल्पमणि सूत्रज्ञैदृष्टि पूर्व यमादिकम् ।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेश प्राभार भेषजम् ।।**

‘कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ ग्रंथ में लिखा है—

सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है । अधिक क्या? सम्यक्त्व ही सब ऋद्धियों को करनेवाला है । सभी शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की महिमा गायी गई है—

वस्तुतः सम्यग्दर्शन वह पारसमणि है जिसके संसर्ग से लोहतुल्य भी ज्ञान और चारित्र स्वर्णवत् सम्यक्पने को प्राप्त हो जाते हैं ।

(पंचाध्यायी)

जिस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र हुआ करता है तथा प्राप्त हुआ मनुष्यजन्म भी अप्राप्त हुये के समान है, ऐसा सुख का स्थानभूत, मोक्षरूपी वृक्ष का अद्वितीय बीज तथा समस्त दोषों से रहित सम्यग्दर्शन जयवन्त हो ।

(पं.प.वि.)

समस्त उपायों से, जिस प्रकार भी बन सके वैसे, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये । इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है और इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता । यह स्वरूप की प्राप्ति का अद्वितीय कारण है, अतः इसे अंगीकार करने में किञ्चित् मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

(पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

सम्यग्दर्शन को जब यह जीव प्राप्त हो जाता है, तब परम सुखी हो जाता

है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता है, तब तक दुःखी बना रहता है।

(र.सा.)

वस्तुतः सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र, तप आदि यथेष्ट फलदायक नहीं होते। सम्यग्दर्शन तो रत्नत्रय का सार है, सुख का निधान है तथा मोक्ष प्राप्ति का प्रथम सोपान है। अपनी आत्मा का जैसा शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप है, वैसा माना जाये और उसी में रमण किया जाये, बस, यही मोक्ष का रास्ता है।

सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हुए 'जीवकाण्ड' एवं 'रत्नकरंड श्रावकाचार' (31-41 तक) में कहा है—

दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।

गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः॥

हेटिट मछप्पुढवीणं जे इसिवणभवण सव्वइत्थीणं।

पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणे णारयापुण्णे॥27॥ जी.का.

ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठता को प्राप्त होता है, इसलिये मोक्षमार्ग में उसे कर्णधार (खेबटिया) कहते हैं।

जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फल की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फल की प्राप्ति नहीं होती।

निर्मोही, मिथ्यात्व से रहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है, परन्तु मोहवान मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। मोही मुनि की अपेक्षा निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

सम्यग्दर्शन से शुद्ध पूर्वबद्धायुष्क मनुष्य व्रत रहित होने पर भी नरक और तिर्यचगति, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल, विकलांग, अल्पायु एवं दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता।

यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले किसी मनुष्य ने नरकायु का बंध कर लिया है, तो वह पहले नरक से नीचे नहीं जाता है। यदि तिर्यच या मनुष्यायु का

बंध कर लिया है, तो भोगभूमि का तिर्यच या मनुष्य होता है और यदि देवायु का बंध किया है, तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिक में उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शन के काल में यदि तिर्यच और मनुष्य के आयुबंध होता है तो नियम से देवायु का ही बंध होता है, नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बंध होता है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्रीपर्याय को प्राप्त नहीं होता। मनुष्य एवं तिर्यच गति में नपुंसक भी नहीं होता।

सम्यग्दर्शन से पवित्र मनुष्य ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभव से सहित उच्चकुलीन, महान् अर्थ से सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ अणिमा आदि आठ गुणों की पुष्टि से संतुष्ट तथा सातिशय शोभा से युक्त होते हुए देवांगनाओं के समूह में चिरकाल तक क्रीडा करते हैं।

सम्यग्दर्शन के द्वारा पदार्थों का ठीक-ठीक निश्चय करने वाले पुरुष अमरेंद्र, असुरेंद्र तथा मुनींद्रों के द्वारा स्तुत चरण होते हुए लोक के शरणभूत तीर्थंकर होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव अंत में उस मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जो जरा से रहित है, रोग से रहित है, जहाँ सुख और विद्या का वैभव चरम सीमा को प्राप्त है तथा जो कर्म-मल से रहित है। सम्यग्दर्शन की वास्तविक महिमा यह है कि वह अनंत संसार को काटकर अर्द्ध पुद्गल परावर्तन कर देता है अर्थात् अपरिमित संसार को परिमित कर देता है।

जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति रखने वाला सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य अपरिमित महिमा से युक्त इन्द्रसमूह की महिमा को, राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को नीचा करने वाले तीर्थंकर के धर्मचक्र को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है। श्री सोमदेव सूरि ने लिखा है —

चक्रिन् श्रीः संश्रयोत्कण्ठा नाकि श्री दर्शनोत्सुका।

तस्य दुरे न मुक्ति श्रीनिर्दोषं यस्य दर्शनम्॥

जिनका सम्यग्दर्शन आठ दोषों से विरहित है, चक्रवर्ती की लक्ष्मी उसका आश्रय लेने को उत्कण्ठित रहती है, स्वर्ग की लक्ष्मी उसके दर्शन के लिये उत्सुक होती है तथा मुक्तिलक्ष्मी भी उसके समीप रहती है।

एक जगह सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए कहा गया है— जितना एक पत्थर का गौरव है, उतना ही गौरव सम्यग्दर्शन रहित शम—ज्ञान—चारित्र—तप आदि का समझना चाहिए और जब से ज्ञान—चारित्र—तप सम्यग्दर्शन सहित हो जाते हैं तब एक बहुमूल्य रत्न की तरह आदर के पात्र हो जाते हैं, इस कारण हर प्रयत्न द्वारा स्वर्ग—मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए। पंडित श्री दौलतराम जी ने लिखा है—

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान—चरित्रा।

सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥

‘दौल’ समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।

यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै॥

यह सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। इसलिए, हे भव्यजीवो! जैसे भी बने इस सम्यग्दर्शन को अवश्य धारण करो। पं. दौलतराम जी कहते हैं कि यदि तुम समझदार हो तो सुनो, समझो और चेतो, व्यर्थ में समय खराब मत करो, क्योंकि यदि इस भव में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो दुबारा यह मनुष्य भव मिलना कठिन है।

यहाँ सम्यग्दर्शन के सोपानों का वर्णन किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन के सोपान

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की प्रथम आधारशिला है। वृक्ष में जड़ का, मकान में नींव का जो स्थान है, वही मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन का है। “सम्यग्दर्शन का अर्थ आत्मा को अपनी अनन्त शक्ति की जो विस्मृति हो गयी है, उसकी स्मृति करना है। जो असत्य है, संसार का कारण है, स्वभाव नहीं है, परन्तु अज्ञानता से उसे अपना समझ लिया है, उसे दूर करना एवं हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण करना है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के निम्न तीन सोपान हैं।—

प्रथम सोपान : देव, शास्त्र एवं गुरु का यथार्थ श्रद्धान।

द्वितीय सोपान : तत्त्वों का श्रद्धान।

तृतीय सोपान : स्व—पर की यथार्थ श्रद्धा।

इनमें पहला साधन है तो दूसरा साध्य है, दूसरा साधन है तो तीसरा साध्य है, तीसरा साधन है तो चौथा साध्य है। अर्थात् सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की यथार्थ श्रद्धा होगी, तब उनके बताये हुए सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा होगी। जब तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होगा, तब स्व—पर की श्रद्धा होगी।

सम्यग्दर्शन का प्रथम सोपान

सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का यथार्थ श्रद्धान्

सबसे पहले हमें सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का निर्णय करके उन पर यथार्थ श्रद्धा करना चाहिए।

देव का स्वरूप—

क्षुत्पिपासे भयद्वेषौ मोहरागौ स्मृतिर्जरा।
रुग्मृतौ स्वेदखेदौ च मदः स्वापो रतिर्जनिः॥
विषादविस्मयावेतौ दोषा आष्टादशेरिताः।
एभिर्मुक्तो भवेदाप्तो निरञ्जनपदाश्रितः॥

धर्मसंग्रह श्रा०

क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, मोह, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, स्वेद, खेद, निद्रा, मद, विस्मय (आश्चर्य), रति और चिन्ता ये 18 दोष सामान्य रूप से सब संसारी जीवों के होते हैं। आप्त अर्थात् अरहंत भगवान् इन समस्त दोषों से रहित होते हैं।

आप्त की मुख्य तीन पहिचान —

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथाह्याप्तता भवेत्॥५॥

सच्चा देव नियम से अठारह दोष रहित वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होना चाहिए। ऐसा न होने पर सच्चा देवत्व नहीं हो सकता।

वीतराग का लक्षण—

क्षुत्पिपासाजरातङ्क जन्मान्तकभयस्मयाः

न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः सःप्रकीर्त्यते ।।6।।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

जो भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, आश्चर्य, अरति, खेद, शोक, निद्रा, चिन्ता, स्वेद इन 18 दोषों से रहित होता है, उसे आप्त अर्थात् वीतराग देव कहते हैं।

सर्वज्ञ का लक्षण—

तज्जयति परं ज्योतिः, समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।

दर्पणतल इव सकला, प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।।1।।

(अमृतचन्द्र देव, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

जिसमें दर्पण के तल की तरह समस्त पदार्थों का समूह अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है, उस सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश की जय हो।

हितोपदेशी का लक्षण—

परमेष्ठी परंज्योति—विरागो विमलः कृति ।

सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः, सार्वःशास्तोपलाल्यते ।।7।।

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

जो इन्द्रादिक से पूज्य, परमपद में स्थित, अक्षय केवलज्ञान सहित, राग—द्वेषादि भावकर्म रहित, घातिया कर्म रूप द्रव्यकर्म रहित, कृतकृत्य, सत्यार्थ देव के प्रवाह की अपेक्षा आदि, अन्त, मध्य रहित, सर्व का ज्ञाता—दृष्टा और सब जीवों का हितकारक होता है। वह हितोपदेशी कहलाता है।

शास्त्र का स्वरूप—

परमागमस्य जीवं, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।2।।

(अमृतचन्द्र देव, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

यहाँ गुणों को नमस्कार किया है। जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति विधान का निषेध करने वाला, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तुस्वभाव का विरोध दूर करने

वाला, उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवभूत अनेकान्त को (स्याद्वाद को) मैं नमस्कार करता हूँ।

**आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य—मदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्व, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥**

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

जो वीतराग का कहा हुआ हो, इन्द्रादिक से खण्डन रहित, प्रत्यक्ष व परोक्ष आदि प्रमाणों से निर्बाध, तत्त्वों या वस्तुस्वरूप का उपदेशक, सबका हितकारी और मिथ्यात्व आदि कुमार्गों का नाशक हो, उसे सच्चा शास्त्र कहते हैं।

गुरु का स्वरूप

**विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥१०॥**

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की चाह की पराधीनता से रहित, आरम्भ रहित, परिग्रह रहित और ज्ञान, ध्यान तथा तप में लवलीन होता है, वह सच्चा गुरु कहलाता है।

देव—शास्त्र—गुरु की सच्ची श्रद्धा—भक्ति करना सम्यग्दर्शन का प्रधान कारण है। इनका निमित्त मिलने पर ही जीव मोक्षमार्ग का पथिक बनता है। कविवर ध्यानतराय जी ने लिखा है—

**प्रथम देव अरहंत, सुश्रुत सिद्धांत जू।
गुरु निर्ग्रन्थ महंत, मुक्तिपुर पंथ जू।
तीन रतन जगमाहिं, सो जे भवि ध्याइये।
तिनकी भक्ति प्रसाद परमपद पाइये ॥**

देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति करने से परम—पद की प्राप्ति होती है। प्रथमानुयोग में वर्णित जितनी भी कथायें हैं, वे उन आत्माओं की हैं, जो घोर मिथ्यात्व में पड़े थे। जिन्हें किन्ही मुनिराज के दर्शन हो गये, उन्होंने छोटा—सा ही संयम धारण कर लिया और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी। वे पापात्मा से

परमात्मा बन गये। ऐसे भी जीवों का वर्णन है जिन्हें केवल मुनिराज के दर्शन हुए मात्र से वे देवगति में जन्में और वहाँ कि आयु पूर्ण कर मनुष्य भव पाया, तब तीनों ही देव, शास्त्र, गुरु का निमित्त प्राप्त हो गया। ऐसे जीव कुछ ही भव में परम पद को प्राप्त हो गये। जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुये आचार्य समन्तभद्र महाराज ने लिखा है—

**देवेन्द्रचक्र महिमानं ममेयमानं,
राजेन्द्रचक्र भवनीन्द्र शिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतं सर्वलोकं,
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरूपैति भव्या॥**

जिनेन्द्रभक्ति में परायण भव्यजीव देवेन्द्रों के समूह के महत्त्व को, राजाओं से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को तथा तीनलोक को दास बनाने वाले धर्मचक्र का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकर पद को प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करता है।

भगवान् की भक्ति से पापों का क्षय व सातिशय पुण्य का संचय होता है। भगवान् की पूजा का मुख्य उद्देश्य परमात्मा के गुणों की प्राप्ति का होना है। भगवान् के जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए परमात्मा की पूजा—भक्ति करना हमारा परम कर्तव्य है। भगवान् की पूजा—भक्ति करने से हमारे भव—भव से बंधे हुये पापकर्म क्षण भर में नाश को प्राप्त हो जाते हैं और हमारे हृदय में शान्ति, ज्ञान, विरक्ति एवं सुख का संचार होता है। भगवान् की शान्त मुखमुद्रा का दर्शन आत्मा के शुद्धीकरण में निमित्त—कारण है।

भगवान् का ध्यान, भगवान् के अलौकिक चारित्र का स्मरण हमको अपनी आत्मा की याद दिलाता है। हमें यह मालूम पड़ता है कि मैं कौन हूँ और मेरी आत्मशक्ति क्या है? जो लोग भगवान् की पूजा—भक्ति नहीं करते, वे अपने आत्मीय गुणों से परान्मुख और अपने आत्मलाभ से वंचित रहते हैं। अरहन्त प्रभु के पूज्य गुणों के स्मरण से हमारा चित्त पवित्र होता है, हमारी पाप परिणति छूटती है। भगवान् की भक्तिरूपी चाबी से ही मोक्षमार्ग का ताला खुलता है। जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति की अचिन्त्य महिमा है। 'समाधिभक्ति' में कहा है—

एकापि समर्थेयं जिनभक्ति दुर्गतिं निवारयितुम् ।

पुण्यानि च पूरयितुं, दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥४॥

जिनेन्द्र प्रभु की एक अकेली भक्ति दुर्गति का निवारण करने में समर्थ, पुण्य से पूरित करने वाली तथा मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने वाली है।

जो कर्म बिना फल दिये निर्जरित नहीं होते, ऐसे निधत्ति और निकाचित रूप बंधे हुए कर्म भी जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति के प्रसाद से नष्ट हो जाते हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला ग्रन्थ में कहा है “जिणबिम्बदंसणेण निधत्ति णिकाचितकम्मखय दंसणादो” अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करने से अनेक जन्मों के संचित निधत्ति और निकाचित कर्म भी क्षय हो जाते हैं। पंचपरमेष्ठी की भक्ति से ही मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। ‘आप्त परीक्षा’ में आचार्य समन्तभद्र महाराज ने लिखा है—

“श्रेयो मार्गस्य संसिद्धि प्रासादात्परमेष्ठिनः ।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज कहते हैं कि भक्ति तो गंगा के समान है, जिसमें कोई डूब जाये तो उसका तन—मन और सारा जीवन पवित्र हो जाता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये सबसे पहले पाप भाव छोड़कर अपना जीवन धार्मिक बना लेना चाहिये। यहीं से मोक्षमार्ग शुरू होता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वादश अनुप्रेक्षा में (21वीं गाथा में) कहते हैं— “जो जीव पापबुद्धि से पुत्र, स्त्री आदि के लिये धन कमाता है और दया, दान नहीं करता, वह संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है।” रयणसार ग्रंथ के अनुसार तो एक जिनभक्ति ही संसार—सागर से पार करने में सहायक है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने ‘रयणसार’ ग्रंथ में लिखा है—

पूयफलेण तिलोक्के सुरपुज्जो हवदि सुद्धमणो ।

दाणफलेण विलाए, सारसुहं भुंजदे णियदं ॥ 14 ॥

अर्थात् शुद्ध मन वाला श्रावक पूजा के फल से तीनों लोकों में देवों से पूज्य होता है और दान के फल से तीनों लोकों में निश्चय से सारभूत सुख को भोगता है।

अपना यह आत्मा कर्मों की मार अनादिकाल से सहन करता आ रहा है। अब अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त इस मनुष्यपर्याय में अपने-आपको पहचान लो कि मैं कौन हूँ? धर्म का मार्ग ही सारी दुनियाँ में सत्य का मार्ग है। अतः इस पर चलने का पुरुषार्थ करो। बिना सम्यग्दर्शन के कभी मोक्ष नहीं होता।

एक व्यक्ति ने यह संकल्प ले लिया कि मैं तब तक पानी में कदम नहीं रखूँगा जब तक कि तैरना नहीं सीख लूँ। अब बताओ— जब वह पानी में कदम ही नहीं रखेगा, फिर तैरना कैसे सीखेगा? यही दशा आज के संसारी प्राणी की है। वह धर्म करता नहीं, परन्तु पाप से छुटकारा चाहता है। यदि तैरना सीखना है, तो पानी में उतरना ही पड़ेगा। आत्मोन्नति में अग्रसर होने के लिए अरहंत भगवान् ही हमारे आदर्श हैं।

‘योगसार’ ग्रंथ में आचार्य योगीन्दु देव ने लिखा है—

जिण सुमिरहु जिण चिंतहु, जिण ज्ञायहु सुमणेण।

सो ज्ञायंतहं परम पउ, लब्भई एक्क—खणेण॥

शुद्ध मन से जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण करो और जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करो। उनका ध्यान करने से एक क्षण भर में परमपद प्राप्त हो जाता है। भगवान् की भक्ति किसी लौकिक वाँछा से नहीं करना चाहिये। भगवान् की भक्ति करते समय उनके ही समान वीतराग बनने की भावना भाना चाहिये।

धर्म तो अन्तरात्मा की अनुभूति का विषय है। यह अनुभूति कब होगी? जब राग—द्वेष छोड़ेंगे, तब ही ‘आत्मधर्म’ यानी वास्तविक धर्म प्रकट होगा। राग—द्वेष को छोड़ना यही सच्चा धर्म है, यही भगवान् की सच्ची भक्ति है। राग—द्वेष का त्याग किये बिना परमात्म पद नहीं मिल सकता।

यह आत्मा अनन्त शक्ति का धारक होकर भी अपनी शक्ति को भूल रहा है। अपनी शक्ति को भूलने के कारण ही यह संसार में भटक रहा है। अपनी शक्ति को न पहचानकर कर्मजनित दुःखों को भोग रहा है और संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःखी हो रहा है। अगर यह अपनी शक्ति को पहचानकर रत्नत्रय धर्म का पालन करे, तो सर्व कर्मों के बंधन तोड़कर स्वतंत्र एवं सुखी हो जावे।

जो भगवान् के स्वरूप को समझ जायेगा, वह अपनी आत्मा के स्वरूप को समझ जायेगा। और जो आत्मा के स्वरूप को समझ जायेगा, वह संसार के संकटों से पार हो जायेगा। हम शरण मानें तो केवल भगवान् की आराधना को शरण मानें। बाह्य में जो प्रवृत्ति कर रहा हूँ, वह तो विकार है, अपराध है, यह कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। इतनी बात ध्यान में रहे। विवेक की बात तो भगवान् की भक्ति और आत्मा का चिंतन है, बाकी तो सब अपराध है। कोई अपराध बड़ा होता है, तो कोई छोटा। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में आचार्य महाराज ने लिखा है—

अग्नी वि य होदि हिमं, होदि भुयंगो वि उत्तमं रयणं।

जीवस्य सुधम्मादो, देवा वि य किंकरा होंति॥432॥

उत्तम धर्म के प्रभाव से अग्नि भी शीतल हो जाती है, महाविषधर सर्प भी रत्नों की माला हो जाता है और देव भी दास हो जाते हैं। अतः जिनदेव की महिमा अपूर्व है। सम्पूर्ण दुःखों के नाश का कारण जिनाराधना है। निधत्ति और निकाचित—जैसे कर्मों के बंधन को शिथिल करने वाली जिनभक्ति ही है।

अहो! अरहन्त—भक्ति की महिमा अनुपम है। जिनभक्ति के प्रभाव से मेंढक—जैसा (क्षुद्र) जीव भी स्वर्ग को प्राप्त हुआ, महान सतियों के शील की रक्षा हुई। सीता, द्रोपदी, सोमा, मैनासुन्दरी आदि ने जिनभक्ति के प्रभाव से अपने धर्म में दृढ़ रहकर अपनी पर्याय को धन्य किया।

भगवान् की ध्यानावस्था का चिन्तन हमको अपनी आत्मा की याद दिलाता है, अपनी भूली हुई निधि की स्मृति कराता है। जैसे कोई व्यक्ति कुएं पर अपनी टॉविल भूल आया हो और लौटते समय रास्ते में कोई दूसरा व्यक्ति अपने कंधे पर टॉविल डाले हुये आ रहा हो, तो उसे देखकर उसे अपनी भूली हुई टॉविल की याद आ जाती है। उसी प्रकार भगवान् की शान्त मुद्रा के दर्शन से हमें मालूम पड़ता है कि मैं कौन हूँ और मेरी आत्मशक्ति क्या है?

जब कोई भक्त गद्गद् होकर भक्तिपूर्वक प्रभु की ओर अपनी दृष्टि रखता है, प्रभु के गुणों में चित्त देता है, तो उसके अन्दर भी वीतरागता आना प्रारम्भ हो जाती है। भगवान् का वीतराग स्वरूप मेरे अन्तरंग की वीतरागता को

प्रकट करने में कारण है। वीतरागता तो मेरे भीतर प्रकट होगी, मेरे पुरुषार्थ से होगी, पर भगवान् का आलम्बन लिये बिना भी नहीं होगी।

शुभ कर्म से अनुकूल संयोग तथा अशुभ कर्म से प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते हैं। जब अशुभ कर्म उदय में आते हैं तो वे अच्छे-अच्छे महापुरुषों तक की बुद्धि को भ्रष्ट कर देते हैं। देखिये, अशुभ कर्मों की ताकत के आगे बड़े-बड़े मोक्षगामी जीव जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि को भी पिछले किये हुये कर्मों का फल भोगना पड़ा। अतः अशुभ कर्मों को न आने देने के लिए सदैव अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन अवश्य करना चाहिये और इन धार्मिक क्रियाओं को माध्यम बनाकर शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान की भावना को पुष्ट करना चाहिए, जिससे उपयोग पर्याय का आश्रय छोड़कर ज्ञानस्वभाव के सम्मुख हो और ज्ञान अपने को अपने रूप अनुभव करे। जो व्यक्ति अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन नहीं करते, उन्हें अन्त में पछताना पड़ता है।

एक मनुष्य वन में प्रवेश करता है लकड़ी पाने के लिए। लकड़ी एकत्र कर थकावट दूर करने हेतु वह एक वृक्ष की शीतल छाया में जा बैठा। वहाँ उसको एक चिन्तामणि रत्न हाथ आया। उसने विचार किया कि वह पत्थर बहुत सुन्दर है, उसे घर ले चलेंगे। वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस लकड़हारे के मन में आया कि आज तो यहीं कोई ठण्डा जल पिला दे। बस, देर ही क्या थी? विचार आते ही निर्मल जल आ गया। उसे पीकर बड़ी प्रसन्नता हुई और विचारने लगा कि आज तो कई प्रकार के सुन्दर व्यंजन भी मुझे यहीं प्राप्त हो जाएँ। विचार करते ही कई देवांगनाएँ अनेक प्रकार के मिष्ठ तथा नमकीनादि खाद्य पदार्थों के द्वारा सजाए गये थाल लेकर उसके समीप आ कहने लगीं कि भोजन कीजिए। सुनते ही वह आनन्दित हो गया, उसका मन प्रफुल्लित हो गया और वह जीमने लगा। देवांगनाएँ हवा करती जाती हैं, उसी बीच एक काग वहाँ पर आता है और बोलना शुरू कर देता है अपनी कटु वाणी में। भोजन करते हुए उस पुरुष ने उस काग को उड़ाने के लिए उसी छोटे-से पत्थर को फेंक दिया। काग ने समझा कि कुछ खाद्य पदार्थ होगा, ऐसा जान उसे ले उड़ा।

उसी समय देवांगनायें आदि सभी माया लोप हो गई और वह मूर्ख अकेला

ही वहाँ बैठा रह गया। मालूम होने पर कि यह सब पत्थर की करामात थी, तो उसे अपनी मूर्खता पर पछताना पड़ा।

हम लोग भी इस चिन्तामणि रत्न के समान मानव-शरीर को विषय-भोगों में नष्ट कर देंगे, सुखा देंगे, तो हमें दुर्गति में जाकर पछताना होगा इस नरजन्म के लिए। जिस प्रकार समुद्र से अत्यन्त कठिनता से प्राप्त किया मोती हाथ से छूट जाने के बाद फिर से हाथ आना दुर्लभ है, ठीक उसी प्रकार यह नर-तन छूटने के बाद इसका पाना भी अत्यन्त दुर्लभ है।

धर्म की प्राप्ति पापमय परिणामों से नहीं होती है, अतः पात्रता प्रकट करने के लिए प्रथमतः पुण्यकार्यों (जिनेन्द्र भगवान् की पूजन, व्रतादि) को अवश्य करना चाहिये। आचार्य अकलंकदेव ने अरहन्त भगवान् की भक्ति को मुक्ति का सोपान माना है तथा सम्यक्त्व के साथ किये गये प्रशस्त अध्यवसायों को 'कर्म-ईंधन को जलाने वाली अग्नि' कहा है। धार्मिक कार्यों की प्रेरणा का उद्देश्य प्रशस्त भावों में जीव को नियत कर उसे सम्यक्त्व का पात्र बनाना है। क्योंकि शुभभाव में आये बिना धर्म की पात्रता ही नहीं बनती है। अतः 'अशुभस्य बंचनार्थम्.....' की नीति के अनुसार यहाँ जीव को व्रतादि शुभ कार्यों को करने की प्रेरणा दी जा रही है।

सर्वप्रथम सभी को व्रतों के माध्यम से अपनी अशुभ प्रवृत्ति को रोकना चाहिये। व्रतों को धारण करना शुभोपयोग है और उसका फल स्वर्गादिक है। व्रतों को धारण न करना अशुभोपयोग है और उसका फल नरकादि है। इष्टोपदेश ग्रंथ में आचार्य पूज्यपाद महाराज ने लिखा है— जब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक संसार में रहते हुये नरकादि गति में कालयापन करने की अपेक्षा स्वर्गादिक में कालयापन करना श्रेष्ठ है। अशुभोपयोग में कषायों की तीव्रता रहती है, जबकि शुभोपयोग में कषायों की मंदता रहती है। अतः सामान्य ग्रहस्थ को जो अशुभोपयोग में आसक्त है या उसे छोड़ नहीं सकते, उन्हें अशुभोपयोग को छोड़कर व्रत आदि धार्मिक क्रियाओं को करना चाहिये। अपना किया हुआ शुभ-अशुभ कर्म स्वयं जीव को ही भोगना पड़ता है।

एक घटना है। किसी गाँव में एक सज्जन रहते थे। घर के सामने एक

सुनार का घर था। सुनार के पास सोना आता रहता था और वह गढ़कर देता रहता था। ऐसे वह पैसे कमाता था। एक दिन उसके पास अधिक सोना जमा हो गया। रात्रि में पहरा लगाने वाले सिपाही को इस बात का पता लग गया। उसने सुनार को मार दिया और जिस बक्से में सोना रखा था उसे लेकर भागने लगा। उसी समय सामने रहनेवाले सज्जन लघुशङ्का के लिये उठकर बाहर आये। उन्होंने पहरेदार को पकड़ लिया कि तू इस बक्से को कैसे ले जा रहा है? तो पहरेदार ने कहा— 'तू चुप रह, हल्ला मत कर। इसमें से कुछ तू ले-ले और कुछ मैं ले लूँ।' सज्जन बोले—'मैं कैसे ले लूँ? मैं चोर थोड़े ही हूँ!' पहरेदार ने कहा— 'देख, तू समझ जा, मेरी बात मान ले, नहीं तो दुःख पायेगा।' पर वे सज्जन माने नहीं। तब पहरेदार ने बक्सा नीचे रख दिया और उस सज्जन को पकड़कर जोर से सीटी बजा दी। सीटी सुनते ही और जगह पहरा लगानेवाले सिपाही दौड़कर वहाँ आ गये। उसने सबसे कहा कि 'यह इस घर से बक्सा लेकर आया है और मैंने इसको पकड़ लिया है।' तब सिपाहियों ने घर में घुसकर देखा कि सुनार मरा पड़ा है। उन्होंने उस सज्जन को पकड़ लिया और राजकीय आदमियों के हवाले कर दिया। जज के सामने बहस हुई तो उस सज्जन ने कहा कि 'मैंने नहीं मारा है, उस पहरेदार सिपाही ने मारा है।' सब सिपाही आपस में मिले हुए थे, उन्होंने कहा कि 'नहीं, इसी ने मारा है, हमने खुद रात्रि में इसे पकड़ा है,' इत्यादि।

मुकदमा चला। चलते-चलते अन्त में उस सज्जन के लिये फाँसी का हुक्म हुआ। फाँसी का हुक्म होते ही उस सज्जन के मुख से निकला—'देखो, सरासर अन्याय हो रहा है। भगवान् के दरबार में कोई न्याय नहीं। मैंने मारा नहीं, मुझे दण्ड हो और जिसने मारा है, वह बेदाग छूट जाय, जुर्माना भी नहीं; यह अन्याय है।' जज पर उसके वचनों का असर पड़ा कि वास्तव में यह सच बोल रहा है, उसकी किसी तरह से जाँच होनी चाहिये। ऐसा विचार करके उस जज ने एक षड्यंत्र रचा।

सुबह होते ही एक आदमी रोता-चिल्लाता हुआ आया और बोला— 'हमारे भाई की हत्या हो गयी, सरकार! इसकी जाँच होनी चाहिये।' तब जज ने उसी

सिपाही को और कैदी सज्जन को मरे व्यक्ति की लाश उठाकर लाने के लिये भेजा। दोनों उस आदमी के साथ वहाँ गये, जहाँ लाश पड़ी थी। खाट पर लाश के ऊपर कपड़ा बिछा था। खून बिखरा पड़ा था। दोनों ने उस खाट को उठाया और उठाकर ले चले। साथ का दूसरा आदमी खबर देने के बहाने दौड़कर आगे चला गया। तब चलते-चलते सिपाही ने कैदी से कहा— ‘देख, उस दिन तू मेरी बात मान लेता तो सोना मिल जाता और फाँसी भी नहीं होती। अब देख लिया सच्चाई का फल?’ कैदी ने कहा—‘मैंने तो अपना काम सच्चाई का ही किया था, फाँसी हो गयी तो हो गयी। हत्या की तूने और दण्ड भोगना पड़ा मेरे को। भगवान् के यहाँ न्याय नहीं है।’

खाट पर झूठमूठ मरे हुए के समान पड़ा हुआ आदमी उन दोनों की बातें सुन रहा था। जब जज के सामने खाट रखी गयी तो खूनभरे कपड़े को हटाकर वह उठ खड़ा हुआ और उसने सारी बात जज को बता दी कि रास्ते में सिपाही यह बोला और कैदी यह बोला। यह सुनकर जज को बड़ा आश्चर्य हुआ। सिपाही भी हक्का-बक्का रह गया। सिपाही को पकड़कर कैद कर लिया गया। परन्तु जज के मन में सन्तोष नहीं हुआ। उसने कैदी को एकान्त में बुलाकर कहा कि ‘इस मामले में तो मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ, पर सच-सच बताओ कि इस जन्म में तुमने कोई हत्या की है क्या?’ वह बोला— बहुत पहले की घटना है। एक दुष्ट था, जो छिपकर मेरे घर मेरी स्त्री के पास आया करता था। मैंने अपनी स्त्री को तथा उसको अलग-अलग खूब समझाया, पर वह माना नहीं। एक रात वह घर पर था और अचानक मैं आ गया। मेरे को गुस्सा आया हुआ था। मैंने तलवार से उसका गला काट दिया और घर के पीछे जो नदी है, उसमें फेंक दिया। इस घटना का किसी को पता नहीं लगा। यह सुनकर जज बोला— ‘तुम्हारे को इस समय फाँसी होगी ही; मैंने भी सोचा कि मैंने किसी से घूस (रिश्वत) नहीं खाई, कभी बेईमानी नहीं की, फिर मेरे हाथ से इसके लिये फाँसी का हुक्म लिखा कैसे गया? अब सन्तोष हुआ। उसी पाप का फल तुम्हें यह भोगना पड़ेगा। सिपाही को अलग फाँसी होगी।’ सभी को शुभाशुभ कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है, चाहे इस जन्म में भोगना पड़े या जन्मान्तर में।

अतः कभी भी पाप के कार्य नहीं करना चाहिये। एक आचार्य ने लिखा है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवः।

फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

मनुष्य पुण्य के फल को तो चाहता है, परन्तु पुण्य करना नहीं चाहता। पाप का फल नहीं चाहता, लेकिन रात-दिन पाप में लगा रहता है। पर ध्यान रखना, पाप के बीज बोकर कोई भी पुण्य की फसल नहीं काट सकता।

एक बार पुण्य और पाप दोनों एक दूसरे से मिले। दोनों में एक दूसरे से श्रेष्ठता की चर्चा चल पड़ी। पुण्य और पाप दोनों अपने आप को दूसरे से श्रेष्ठ कह रहे थे। बात विवाद में बदल गई। पुण्य ने पाप से कहा—“तुम इतने नीचे हो कि लोग तुम्हारा नाम लेना भी अच्छा नहीं मानते, फिर भी तुम अपने आप को मुझसे महान कहते हो? देखा, जगत में मेरी कितनी प्रतिष्ठा है। सारी दुनियाँ मुझे चाहती है।” पाप ने कहा—“दुनियाँ भले ही तुम्हें चाहती है, पर साथ मेरा देती है।” चाहते पुण्य को हैं, पर करते हैं पाप। यह तो “पुण्य की चाह और पाप की राह” वाली बात है। तीनों लोकों में सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। परन्तु सुख के कारणभूत धार्मिक कार्यों से विमुख रहते हुये दुःख के कारणभूत पापों में ही लगे रहते हैं।

पर ध्यान रखना, आचार्यों का कहना है, “नायुक्तं क्षीयते कर्म” आपने अगर कोई पाप किया है तो वह बिना भोगे नष्ट नहीं होता। कहावत है—“पाप और पारा कभी पचता नहीं। आदिनाथ भगवान् के जीव ने कभी पूर्व पर्याय में किसी बैल के मुँह में कुछ देर के लिये मुसिका बांधी थी जिससे ऐसा अंतराय बंध गया कि छः महिने तक उन्हें आहार उपलब्ध नहीं हो सका।

सीता जी ने कभी पूर्व पर्याय में किसी निर्दोष निर्ग्रन्थ मुनिराज पर लांछन लगाया था, उसका परिणाम यह निकला कि सीता जी को स्वयं भी निर्दोष होने पर लांछित होना पड़ा।

श्रीपाल चरित्र को देखें। श्रीपाल राजा के जीव ने अपने पूर्व भव में श्रीकण्ठ राजा की पर्याय में जितने प्रकार के पाप-पुण्य किए, वह सभी सिनेमा की रील की तरह, चलचित्र की तरह उनके जीवन में झलकने लगे—

1. 700 वीरों सहित श्रीपाल राजा पूर्वभव श्रीकण्ठ ने मुनिराज को कोढ़ी कहा था, जिससे उन्हें 700 वीरों सहित कृष्ट रोग हुआ।
2. समुद्र में मुनिराज को गिराने से धवल सेठ द्वारा इन्हें समुद्र में गिराया गया।
3. समुद्र से मुनिराज को निकाल लेने के कारण श्रीपाल राजा भी समुद्र से पार हो गया।
4. मुनिराज को 'नंगे-निर्लज्ज' अपशब्द कहने से हंस द्वीप में भांडों द्वारा अपवादित किया गया।
5. पूर्व भव में मुनि महाराज को "मारो-मारो" कहकर तलवार निकाली, परन्तु फिर मन परिवर्तन हो गया और तलवार अन्दर रख ली, इसलिए गुणमाला के पिता के द्वारा फांसी की सजा सुनाई गई, परन्तु मुनि पर उपसर्ग न करने के कारण फांसी की सजा से मुक्त हो गया।

पिछले भवों में किये हुए कर्मों के फलस्वरूप अंजना सती को पति का वियोग बाईस वर्ष तक सहना पड़ा और घोर विपत्ति में जा अनेक दुःखों का सामना करना पड़ा।

मछली को जीवनदान देने के कारण मृगसेन के भी प्राणों की रक्षा होती है। अवन्ति देश के शिरिष गाँव में मृगसेन नाम का एक धीवर रहता था। एक बार जब वह शिप्रा नदी में मछलियाँ पकड़ने जा रहा था, तो रास्ते में उसे एक मुनिराज के दर्शन हुए। उन मुनिराज के पास बड़े-2 राजा-महाराजा व्रत देने के लिए कह रहे थे। वह भी व्रत देने के लिये कहता है। उस समय मुनिराज अवधिज्ञान से इसका भवितव्य जानकर इसे यह नियम देते हैं कि आज तुम्हारे जाल में जो सबसे पहले मछली आयेगी तुम उसे जीवनदान दे देना। और णमोकार मंत्र सिखाते हैं। जब यह नदी में जाल डालता है तो एक बहुत बड़ी मछली इसके जाल में फँस जाती है, लेकिन अपने व्रत के अनुसार यह उस मछली के कान में कपड़े का टुकड़ा बांधकर छोड़ देता है। दूसरी बार जब जाल डालता है तब फिर से यही मछली इसके जाल में आ जाती है। इस प्रकार पांच बार वह उस मछली को जीवनदान देता है। इसी पुण्योदय के कारण अगले भव

में बचपन से यौवन तक पांच बार इसके प्राणों की रक्षा हो जाती है और जिस मछली को जीवनदान दिया था वही मछली अगले भव में अंनगसेना बनकर इसको मृत्यु से बचाती है।

वज्रजंघ राजा और श्रीमती रानी ने चारणऋद्धिधारी दमधर मुनिराज और सागरसेन मुनिराज को आहार दिया था। इस समय (1) मतिवर मंत्री (2) आनन्द पुरोहित (3) धनमित्र सेठ (4) अकम्पन सेनापति तथा (1) सिंह (2) शूकर (3) बन्दर (4) नेवला भी आहारदान देखकर हर्षित हो रहे थे और आहारदान की अनुमोदना कर रहे थे।

जब वज्रजंघ राजा ने मुनिराज से पूछा— हे नाथ! मतिवर मंत्री, आनन्द पुरोहित, धनमित्र सेठ और अकम्पन सेनापति यह चारों जीव मुझे भाई की तरह अत्यन्त प्रिय लगते हैं। कृपा करके इसका कारण बताइये? तब मुनिराज बताते हैं— मतिवर मंत्री का जीव आगे भव में आपका पुत्र भरत चक्रवर्ती होगा, अकम्पन सेनापति बाहुबली कामदेव होगा, आनन्द पुरोहित वृषभसेन नामक पुत्र होकर गणधर होगा, धनमित्र सेठ अनंतवीर्य नामक पुत्र होकर आपका ही गणधर होगा।

सिंह आदि चारों जीव भी भविष्य में आपके पुत्र होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। आहारदान की अनुमोदना करके इन चारों तिर्यच प्राणियों ने भी भोगभूमि की आयु बांधी थी। अब यहाँ से आठवें भव में वज्रजंघ राजा ऋषभनाथ तीर्थकर होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे, तब यह चारों जीव भी उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करेंगे। मोक्ष तक के सातों भव में यह सब जीव साथ-साथ ही रहेंगे। पूर्व भव में किये पुण्य एवं पाप कर्मों का फल सभी को भोगना पड़ता है।

राजा यशोधर अपनी रानी अमृतामति के दुश्चरित्र से खेदखिन्न होकर जिनदीक्षा धारण करना चाहता था, लेकिन माता चंद्रमति आज्ञा नहीं देंगी, मना करेंगी, इसलिए माता से कहता है— माँ! रात्रि में मैंने दुःस्वप्न देखा है, इसलिए मैं जिनदीक्षा लेकर अपना कल्याण करूँगा। माँ कहती है— बेटा! उसके लिए जिनदीक्षा धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं। अपनी कुल-देवी को मुर्गे की बलि देने से सब संकट दूर होंगे। यशोधर राजा मना कर देते हैं कि

प्राणिहिंसा महापाप है। तब माँ आटे के मुर्गे की बलि के लिए कहती है, उस समय यशोधर राजा मौन हो जाते हैं। इस प्रकार चंद्रमती माता और यशोधर राजा के द्वारा आटे के मुर्गे की बलि दी जाती है। इस कारण यशोधर राजा और माता चंद्रमती को छह भव तक बली चढ़ना पड़ता है। क्षुल्लक अभयरुचि और क्षुल्लिका अभयमति की पर्याय में भी उन्हें कैसी आपत्ति आ जाती है, इसका विस्तार 'यशोधर चरित्र' में पढ़ें।

अपने पूर्व-उपार्जित कर्मों के द्वारा जीव संसार में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दुःख उठा रहा है। जब कभी पुण्य उदय से वीतराग देव-शास्त्र-गुरु का समागम प्राप्त होता है तब यह जीव विचार करता है कि अहो! अनादिकाल से इस शरीर को अपना मानकर मैं संसार में दुःखों का ही पात्र बनता रहा हूँ। जन्म के समय मैं इसे साथ लाया नहीं था और मरण के समय भी यह यहीं पड़ा रह जायेगा। अतः ऐसा लगता है कि मैं इस-रूप नहीं हूँ। यह जड़ मुझसे कोई पृथक् ही पदार्थ है, जबकि मैं चेतनजाति का हूँ। जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करने से इसे स्व-पर का भेदज्ञान हो जाता है।

अशुभोपयोग तो संसार में ही भ्रमाने वाला है। इससे कभी भी जीव संसार का अन्त नहीं कर सकता है, परन्तु अशुभ को छोड़कर शुभ प्रवृत्ति करना व्यवहार चारित्र कहलाता है। आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी "द्रव्य संग्रह" में लिखते हैं—

असुहादो विणिविती, सुहे पविती य जाण चारित्तं।

वद समिदि गुत्ति रूवं, ववहारणया दु जिण भणियं।।

अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति व शुभक्रियामय प्रवृत्ति, जो कि व्रत-समिति-गुप्ति स्वरूप है, वही व्यवहार चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र प्रभु ने कहा है और यही व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र को प्राप्त करानेवाला है। अतः व्यवहार चारित्र साधनेयोग्य है। फिर भी ज्ञानी पुण्यार्जन करते हुये यानी शुभक्रियामय प्रवृत्ति करते हुये भी पुण्य के फल में रंजायमान नहीं होते। अशुभ (पाप) क्रियामय आचरण से कभी भी किसी आत्मा ने आज तक न मोक्ष प्राप्त किया है, न ही कोई कर रहा है और न ही कोई भविष्य में कभी कर पायेगा। अतः पापक्रिया को छोड़ते हुये

शुभाचरण रूप प्रवृत्ति करो और सदा सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयास करो।

मोही गृहस्थ आर्त—रौद्रध्यान की महामारी से पीड़ित हो मूर्छित होता हुआ परिग्रह के संग्रह, संरक्षण और संवर्द्धन में निरंतर लगा रहता है। वह आहार, भय, मैथुन, परिग्रहसंज्ञा—स्वरूप ज्वर से जर्जरित हो रहा है। वह स्वद्रव्य में कैसे रत हो सकता है? वह अज्ञान के कारण स्व अर्थात् आत्मा को नहीं किन्तु धन को स्वद्रव्य समझे हुये है। इसी से वह दुःखाग्नि से सदा दग्ध होता रहता है।

‘दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।’

यह सूक्ति बताती है कि श्रमण का ‘स्व’ आत्मद्रव्य है, तो मोही गृहस्थ का ‘स्व’ धन—धान्यादि बन गया है। वह मूढ़ गृहस्थ जानते हुए भी कैसी बड़ी भूल करता है, इसे ‘इष्टोपदेश’ ग्रंथ में इन शब्दों में कहा गया है।

वपुर्गृहं धनं दाराः, पुत्रा मित्राणि शत्रवः।

सर्वथान्य—स्वभावानि, मूढःस्वानि प्रपद्यते॥

शरीर, धन, स्त्री, पुत्र तथा शत्रु सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले हैं, किन्तु मूढ़ जीव उनको अपना समझा करते हैं।

परिग्रह की मूर्च्छा से मूर्छित गृहस्थ के हृदय में सम्यग्दर्शन—रसायन को पहुँचाने के लिए आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने गृहस्थ के लिए पारिपालनीय सम्यग्दर्शन का यह स्वरूप ‘मोक्ष पाहुड’ में कहा है—

हिंसारहिए धम्मे, अट्ठारह दोष वज्जिये देवे।

णिग्गंथे पव्वयणे सददहणं होई सम्मतं॥

हिंसारहित धर्म में, अष्टादस दोष रहित जिनेन्द्रदेव में, निर्ग्रन्थ गुरु की वाणी में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

‘मोक्ष पाहुड’ में श्रमणों को लक्ष्य करके सम्यग्दर्शन का स्वरूप ‘स्वद्रव्य’ आत्मस्वरूप में रत रहना अर्थात् निजस्वरूप में निमग्नता कहा है।

सददव्वरओ समणो , सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।

सम्मत परिणओ उण खवेइदुट्ठट्ठ कम्माइ॥24॥

‘जयधवला’ की टीका में जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति को संवर और निर्जरा

का कारण बताते हुये लिखा है।

‘अरहंत णमोकारो संपहि बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकार ओत्ति।’

अरहंत भगवान् के नमस्कार द्वारा वर्तमान में होने वाले पुण्यबंध की अपेक्षा असंख्यात गुणश्रेणी रूप कर्मों का क्षय होता है।

जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन से आत्मा की रुचि उत्पन्न होती है। ‘षट्खण्डागम’ सूत्र में मनुष्य के प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के तीन कारण कहे हैं— जाति स्मरण, धर्मश्रवण तथा जिनप्रतिमा का दर्शन। इनके द्वारा प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

मणुस्सा मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहिं पढमसम्मत्त मुप्पादेति? तीहि कारणेहिं पढम सम्मत्त मुप्पादेति, केई जाईस्संरा, केई सोउण, केईं जिणबिंब दट्ठूण।।29-30।।

(जीवट्ठाण चूलिका)

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने ‘शील पाहुड़’ में लिखा है— ‘अरहंते सुहमत्ती’ सम्मत्त।।40।। अरहंत देव में पपित्र भक्ति सम्यक्त्व है।

जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा के दर्शन करते समय विचार करना चाहिये कि जिस प्रकार से प्रभु अपने आपमें लीन हैं, वैसे ही यदि मैं भी शरीरादि से भिन्न अपने स्वभाव में लीन हो जाऊँ, तो इसी प्रकार के अनन्तसुख को प्राप्त कर सकता हूँ एवं संसार के दुःखों से और जन्म-मरण से रहित हो सकता हूँ। जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा के दर्शन करने से अपना भूला हुआ स्वभाव याद आ जाता है। भगवान् की मूर्ति दर्पण की तरह है, जिसको देखने से हमारे मन की, आत्मा की कालिमा दिखाई देने लगती है, जिसे देखते ही हम उसे साफ करने का पुरुषार्थ करने लगते हैं। भगवान् की स्तुति/गुणानुवाद करने से उनके जैसे गुण प्राप्त करने की रुचि पैदा हो जाती है। उनका गुण वीतरागता है। उसकी प्राप्ति की भावना और रुचि जीव की संसार-रुचि को घटाने वाली है। भगवान् की मूर्ति तो शब्दों का उच्चारण किये बिना साक्षात् मोक्षमार्ग का उपदेश दे रही है कि अगर आनन्द प्राप्त करना है तो मेरी तरह शरीरादि से भिन्न निजस्वभाव को जानो, उसमें रुचि जाग्रत करो और उसी में लीन हो जाओ, तो

तुम राग—द्वेष से रहित होकर परमानन्दमय हो जाओगे।

भगवान् के दर्शन करना सम्यग्दर्शन का कारण माना जाता है। साधक जब भगवान् का गुणानुवाद करते हैं अथवा दर्शन करते हैं, तब उनके परिणामों में विशुद्धता आती है। उससे पाप प्रकृतियाँ बदल कर पुण्यरूप हो जाती हैं। अतः पाप का फल न मिलकर पुण्य का फल मिलता है अथवा यदि पाप तीव्र हो तो कम होकर उदय में आता है। फिर भी, साधक का दृष्टिकोण तो वीतरागता की प्राप्ति का, रागद्वेष के नाश का अथवा भेद—विज्ञान का ही रहना चाहिये, पुण्यबन्ध तो स्वतः ही हो जाता है। जैसे किसान अनाज के लिए खेती करता है, घास—फूस तो साथ में अपने आप हो जाता है। लेकिन यदि वह घास—फूस के लिये खेती करे, तब उसके अनाज तो होगा ही नहीं, घास—फूस होना भी कठिन है। वैसे ही वीतरागता और भेदविज्ञान के लिये जो भगवान् के दर्शनादि करेगा, उसके मोक्षमार्ग के साथ पुण्यबन्ध तो हो ही जायेगा। भगवान् का दर्शन पूजन तो वीतरागता का ही साधन है। अतः दर्शन—स्तुति, पूजा—भक्ति करने वाले व्यक्ति की दृष्टि आत्मतत्त्व की शुद्धता की तरफ ही रहना चाहिये। अगर भगवान् के दर्शन, पूजन आदि भेदविज्ञान की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं तो वे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के कारण माने जाते हैं। आत्मदर्शन के लिये जिनदर्शन जरूरी है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'प्रवचनसार' ग्रंथ में लिखा है—

जो जाणादि अरहंतं, द्रव्यत गुणत पज्जयतेहिं।

सो जाणादि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्य लयं।।

जो अरहंत भगवान् को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से यथार्थ जानता है, वह अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है और उसका दर्शनमोह नियम से क्षय को प्राप्त होता है। अतएव अर्हन्त भगवान् की भक्ति सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए प्रधान करण है। जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का चिंतन करने से जीव को अपनी आत्मा के गुणों का भान होता है और भेदविज्ञान होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। गृहस्थ का उपयोग चंचल होता है, उसे स्थिर करने के लिए वह अष्ट द्रव्यों का आलम्बन लेकर भगवान् की पूजा करता है और भावना भाता है कि हे भगवन्। आपने वीतरागता प्राप्त की, किन्तु मैं कषायों में पड़ा हूँ। मैं

वीतरागता की प्राप्ति का उपाय करूँ, क्रोध—मान—माया—लोभ आदि समस्त कषायों का नाश करूँ।

अष्ट द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य एक—एक विकार के अभाव का प्रतीक है। जैसे जल यद्यपि लौकिक मलिनता का नाश करने वाला है, तथापि वह आत्मिक मलिनता को दूर नहीं कर सकता, परन्तु हे प्रभो! आपके चरणों की भक्ति से तो जन्म—जरा—मरण रूपी अनादिकालीन मलिनता का भी नाश हो जाता है, अतः इसको छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ। जिस प्रकार चंदन लौकिक शीतलता का कारण है, वैसे ही आपकी शरण आत्मताप का हरण करने वाली है, अतः इस चंदन को छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ, जिससे मेरे संसार—ताप का नाश हो सके। आज तक मैं इस अक्षत चावल को ही अक्षत समझता था, परन्तु अक्षयपद तो आपने प्राप्त किया है, अतः अक्षयपद की प्राप्ति के लिये इस 'अक्षत' को छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ। लोग समझते हैं कि पुष्प से काम की दाह शांत होती है, परन्तु काम की दाह तो आपने अपने स्वभाव में ठहरकर शांत की है, अतः इसको छोड़कर कामदाह को शांत करने के लिए आपकी शरण लेता हूँ।

आज तक मैंने भूख की ज्वाला को शांत करने के लिए बहुत प्रकार के नैवेद्य—मिष्ठान खाए हैं, परन्तु फिर भी भूख की ज्वाला शांत नहीं हुई। अब आपके सामने आने पर मालूम हुआ कि भूख की ज्वाला तो आपने स्वयं में ठहर कर शांत की है, अतः इसको छोड़कर आपकी शरण लेता हूँ। अभी तक यही समझा था कि दीपक से अंधकार दूर होता है, परन्तु मोहरूपी अंधकार को तो आपने दूर किया है, अतः इसको छोड़कर मोह नाश के लिये आपकी शरण लेता हूँ। मैं धूप को अग्नि में डालकर समझता था कि इससे कर्म नष्ट होते हैं, परन्तु जैसे अग्नि धूप को जलाती है, वैसे ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा आपने कर्मों को जला दिया, अतः धूप को छोड़कर कर्म नाश के लिये आपकी शरण लेता हूँ। आज तक मैंने इन फलों को ही वास्तविक फल समझा था, किन्तु वास्तविक मोक्षफल की प्राप्ति तो आपको हुई है, अतः इस फल को छोड़कर मैं भी मोक्षफल की प्राप्ति चाहता हूँ, इसलिए आपकी शरण लेता हूँ। इस प्रकार अष्ट द्रव्यों से पूजा करके श्रावक बाहरी चीजें छोड़ता है और अंतरंग की साधना का भाव

करता है। अंत में आठों द्रव्यों का इकट्ठा अर्ध चढ़ाकर अभेद—अखंड की भावना करता हूँ जो कि साक्षात् मोक्ष का उपाय है। ऐसे अनेक व्यक्ति हो गये हैं जिन्होंने जिनेन्द्र भगवान् की अष्ट द्रव्य से पूजा करके उत्तम फल को प्राप्त किया।

ब्रह्मपुरी नगरी का राजा महासेन बुद्धिमान् तथा जिनभक्त था। उसका जाह्नव नामक पुरोहित था। उसकी भार्या ने जल से पूजन कर उत्तम फल को प्राप्त किया।

रत्नसंचय नगर का राजा रत्नशेखर था, यह मुनिभक्त था। इसने मार्ग में सुगन्ध से पूजा की थी तथा उसके फलस्वरूप देवपद प्राप्त किया था।

श्रीपुर नगर का राजा श्रीधर अक्षत से पूजा करने में दक्ष था। उसने धान्य की बाल सहित तोता को देखकर अक्षत से भगवान् की पूजा करने का भाव किया था, इसके फलस्वरूप वह अक्षत के भाव से क्रम से मोक्ष को प्राप्त हुआ था।

मथुरा का राजा श्रीधर्मपाल था, उसकी सर्वगुणसम्पन्न एक पुत्री थी। उस पुत्री को किसी ने पुष्प के बहाने सर्प लाकर दिया था, वह सर्प पुष्पमाला हो गयी। उस पुष्प से उसने भगवान् की पूजा की। उसके फल से वह स्वर्ग को गई।

लाट देश के भृगुकच्छ नगर में हालिक नामक पुरुष ने मुनिराज के द्वारा बतलायी हुई चरु से पूजा की थी और उसके फलस्वरूप देव पद प्राप्त किया था।

मेघ नाम के नगर में रुद्रदत्त की एक पतिव्रता पुत्री थी। उसने दीप से पूजा की थी। उसके फल से वह इस समय स्वर्ग में है, वहाँ से आकर मोक्ष प्राप्त करेगी।

पोदनपुर नामक नगर में कमलापति नाम का एक राजा था, जो शत्रुरूपी हाथियों को नष्ट करने के लिये सिंह के समान था। उसने धूप से पूजा की थी, उसके पुण्य से वह स्वर्ग को प्राप्त हुआ था।

मगध देश के कांचन नगर में श्रीपाल नामक एक विनयी राजा था उसने वन में प्रतिमा का निर्माण कराकर फलों से उसकी पूजा की थी। उसके पुण्य से वह स्वर्ग को प्राप्त हुआ था। अतएव महान् भव्यजीवों को श्रीमान् जिनेन्द्रदेव के चरण—कमल—युगल की अत्यन्त हर्षपूर्वक पूजा करनी चाहिए। यह पूजा दोनों लोकों में सुख देने वाली है।

जो सम्यक्त्वरूप वृक्ष को सींचने के लिए मेघमाला है, भव्यजीवों को ज्ञान प्रदान कराने वाली मानों सरस्वती है, सत्पुरुषों को स्वर्गादि की सम्पदा प्राप्त कराने के लिए दूती है और मोक्षरूपी महल की सुखदायक सोपानपंक्ति है, ऐसी यह हर्षपूर्वक की गई जिनपूजा समस्त जीवों को सदा श्रेष्ठ सुख प्रदान करने वाली है।

राग—द्वेष के चक्र में फँसे हुए जीवों की निवृत्ति का उपाय प्रारम्भ में राग—द्वेष से रहित भगवान् की पूजा—भक्ति करना है। भगवान् का आलम्बन लिये बिना आज तक तीनलोक में किसी का कल्याण न हुआ और न होगा। तभी तो आचार्यों ने कहा है— हे भव्य जीवो! भगवान् की भक्ति से अपने को जोड़ लो, फिर भगवान् की अलौकिक शक्ति स्वतः ही प्रकट हो जायेगी। जिनदर्शन से ही निजदर्शन होना संभव है। जो व्यक्ति भगवान् की पूजा—भक्ति नहीं करता, उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होना असंभव है। भगवान् के दर्शन कर अपने शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त करने से बढ़कर दुनियाँ में अन्य कोई सम्पदा नहीं है। बाकी जिसे सम्पदा मानते हैं तो जब तक जीवित हैं तब तक बहुत कलंक में लगे हैं और जब मरण हो जायेगा तो सब यहीं पड़ा रह जायेगा और आत्मा को अकेले ही जाना पड़ेगा।

हम यहाँ—वहाँ के लोगों का अनुरंजन छोड़कर, मोह—ममता को त्यागकर, प्रभु में, पंचपरमेष्ठी में अपनी भक्ति को बढ़ायें और अपना जीवन सफल करें। जैसे एक बालक पिता की अंगुली पकड़कर चलना सीखता है, उसी प्रकार एक गृहस्थ देव—शास्त्र—गुरु रूपी पिता की अंगुली पकड़कर चलेगा, तभी उसे मोक्षमार्ग मिल सकता है।

सम्यग्दर्शन का कारण बताते हुए पंडित श्री दौलतराम जी ने 'छहढाला' में लिखा है—

देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।

येहु मान समकित को कारण, अष्ट-अंग-जुत धारो॥

जिनेन्द्र भगवान्, परिग्रह रहित गुरु और दयामय धर्म सम्यग्दर्शन के कारण हैं। भगवान् की ऐसी भक्ति करो कि स्वयं भगवान् बन जाओ, जिस प्रकार सुगंधित पुष्प के योग से तेल भी शुद्ध हो जाता है। इस आत्मा में सिद्ध बनने तक की शक्ति है, जिसे हम देव-शास्त्र-गुरु का आलम्बन लेकर प्रकट कर सकते हैं।

सम्यग्दर्शन के बिना मुक्ति होने वाली नहीं है। वीतराग जिनेन्द्र भगवान्, जिनवाणी व निर्ग्रन्थ गुरु इन्हीं के माध्यम से सम्यग्दर्शन होने वाला है और किसी से होनेवाला नहीं है। धर्म के स्वरूप की व्युत्पत्ति बताते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि "सम" उपसर्गपूर्वक "अच धातु" से 'सम्यक्' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है हितकारी। अर्थात् जिसमें आत्महित निहित हो, वही 'सम्यक्' है तथा ऐसे सम्यक् श्रद्धान को 'सम्यग्दर्शन' कहा गया है।

एक बार भगवान् महावीर स्वामी से शिष्य ने पूछा—हे भगवन्! संसार से पार होने का सरल उपाय क्या है? "संसार-विच्छित्तेः कारणं किम्"? तब भगवान् ने कहा कि आप रोज स्वाध्याय करो, वीतराग वाणी को सुनो-पढ़ो, इसी से आप मोक्षमार्ग में प्रवेश कर सकते हैं। यदि आप शास्त्र नहीं पढ़ सकते हैं, तो पंचपरमेष्ठी-वाचक 'णमोकार मंत्र' जपो। 'रयणसार' ग्रंथ की पाँचवीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने सम्यग्दृष्टि का स्वरूप बताते हुये लिखा है—

भव-वसण-मल-विवज्जिद संसार-सरीर-भोग-णिविण्णो।

अट्ठ-गुणंग-समग्गो, दंसणसुद्धो हु पंचगुरु-भत्तो॥५॥

निर्दोष सम्यग्दर्शन का धारक निश्चय ही सप्त भय, सप्त व्यसन और पच्चीस दोषों से रहित, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त, अष्टांग (निःशंकितादि)

गुणों से युक्त और पंचपरमेष्ठी का भक्त होता है।

यदि हमने अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन नहीं किया और विषय-कषाय में ही फँसे रहे, तो अनन्तकाल तक दुःखों के सागर इस जन्म-मरणरूप संसार में ही भटकना पड़ेगा। 'रयणसार' ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने अशुभ और शुभ भावों के कारणों को बताते हुये लिखा है—

**हिंसादीसु कोहादिसु, मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु।
मच्छरिदेसु मदेसु दुरहिणिवेसेसु असुह-लेस्सेसु॥58॥
विकहादिसु रुद्धटज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु।
सल्लेसु गारवेसु य, जो वट्ठदि असुहभावोसो॥59॥**

हिंसादि पापों, क्रोधादि कषायों, मिथ्याज्ञान, पक्षपात, मात्सर्य, मदों, दुरभिनिवेशों, अशुभ लेश्याओं, विकथाओं, आर्त्त-रौद्र ध्यानों, ईर्ष्या, असंयमों, शल्यों और मानबढ़ाई में जो वर्तन होता है, वह अशुभ भाव है।

**दव्वत्थिकाय छप्पण, तच्च-पयत्थेसु सत्त-णवगेसु।
बंधण-मोक्खे तक्कारणरूवे वारसणुवेक्खे॥60॥
रयणत्तसयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयादि सद्धम्मे।
इच्चेव माइगे जो, वृट्ठदि सो होदि सुहभावो॥61॥**

छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, बंध और मोक्ष, उसके (मोक्ष के) कारणस्वरूप बारह अनुप्रेक्षायें, रत्नत्रय स्वरूप, आयुकर्म, दया आदि सद्धर्म इत्यादि में जो वर्तन होता है, वह शुभभाव होता है। इन शुभाशुभ परिणामों का फल बताते हुये आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने 'रयणसार' ग्रंथ लिखा है।

**असुहादो णिरयाऊ, सुहभावादो दु सग्ग-सुहमाओ।
दुह-सुहभावं जाणदु, जं ते रुच्चेद वं कुज्जा॥57॥**

अशुभ भावों से नरकायु और शुभ भावों से स्वर्गायु मिलती है, अतः दुःख-सुख भावों को जानो और तुम्हें जो अच्छा लगे, उसे करो। आचार्य-भगवन्तों ने लिखा है कि 'अरहंते सुह भक्ति सम्मत्तं।' मोक्षमार्ग की शुरुआत अरहंत भगवान् के प्रति शुभ अनुराग से ही होगी। अरहंत भगवान् ही वस्तुस्वरूप का

प्रतिपादन करते हैं, जिसके अभ्यास से राग—द्वेष और मोहभाव नष्ट होता है, अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप में रुचि जाग्रत होती है। विषयानुराग रूप अशुभोपयोग में ले जाने से रोकने वाला और राग—द्वेष से रहित निरुपराग रूप शुद्धोपयोग पाने की ललक पैदा करने वाला अरहंत—भगवान् के प्रति जो शुभ राग है, धर्मानुराग है, वही तीर्थकर—प्रकृति के अर्जन में सहायक है।

रावण का पहले दशानन नाम था। दशानन का अर्थ दसमुख वाला था, ऐसा मत ले लेना। वास्तव में वह विद्याधर था। जन्म के उपरान्त उसके गले में जो रत्नों की माला पहनायी गई थी, उसमें जो दस रत्न थे, उन सभी में रावण का चेहरा दिखाई देता था, सो बचपन में ऐसा दशानन नाम रख दिया गया। एक बार दशानन जब यात्रा के लिये अपने विमान से जा रहा था, तो कैलाश पर्वत पर उसका विमान आकाश में ही रुक गया, आगे नहीं बढ़ सका। उसने विमान को नीचे उतारा तो पर्वत की एक शिला पर बालि मुनिराज तपस्या करते हुए दिखे। बालि मुनिराज को देखकर रावण के मन में प्रतिशोध का भाव जग गया। रावण को एक बार पहले बालि के पराक्रम के सामने झुकना पड़ा था। अब रावण ने बदला लेने की सोची और विद्या के माध्यम से पर्वत को उखाड़कर फेंकने की तैयारी करने हेतु पर्वत के भीतर घुस गया। मुनिराज के मन में कैलाश पर्वत पर बने जिनालयों की रक्षा का भाव आया, सो धीरे-से पर्वत को स्थिर करने के लिये अपने पैर के अंगूठे से दबा दिया। रावण मुश्किल में पड़ गया। तपस्या की सामर्थ्य के आगे विद्या का जोर नहीं चलता। पर्वत सहित रावण नीचे दबने लगा और जोर से रोने—चिल्लाने लगा। तभी संस्कृत की व्युत्पत्ति के अनुसार “रोने वाला यानी रावण” ऐसा उसका नाम पड़ गया। मन्दोदरी ने मुनिराज से क्षमा माँगी, तब रावण बच पाया। बाहर आते ही रावण ने बालि मुनिराज से क्षमा माँगी और अरहंत भगवान् की भक्ति में लीन हो गया। इतना लीन हो गया कि वीणा का तार टूटने पर विद्या के माध्यम से अपने हाथ की नश को ही तार के स्थान पर बांधकर भक्ति करता रहा। कहते हैं कि इसी अर्हद्—भक्ति के फलस्वरूप उसे आगामी समय में तीर्थकर पद की प्राप्ति होगी।

जो विषय—कषाय में रत रहता है, वह धर्म्यध्यान का पात्र नहीं बन पाता।

अतः विषय—कषायों को छोड़कर संयम को धारण करो। श्री सहजानन्द वर्णी जी ने 'सहजानन्द गीता' में लिखा है—

संयमेन नरा धीरो गंभीरः शल्यनिर्गतः।

संयमः स्वस्थितिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम्॥5-39॥

संयम से मनुष्य धीर होता है। संयम से मनुष्य गम्भीर होता है, निःशल्य होता है और सुखी होता है। आत्मा में भली प्रकार से स्थित हो जाने को संयम कहते हैं, इसका नाम संयम है और इस संयम के लायक हम बने रहें, ऐसी प्रवृत्ति करने का नाम भी संयम है। शुद्ध भोजन—पानी ग्रहण करना, विषयों का त्याग करना, अनशन, ऊनोदर आदि तप करना, परिग्रह का त्याग करना, ये सब संयम होते हैं। इन सभी प्रवृत्तियों में रहने वाले लोग अपने अन्तरंग संयम का पालन कर सकने की योग्यता रख सकते हैं। जो विषयासक्त हैं, कषायों में लीन हैं, व्यसनी हैं, अन्तःसन्त इधर—उधर बोला करते हैं, ऐसे जन क्या आत्मा में स्थिर होने का प्रयत्न कर सकते हैं? नहीं कर सकते। अतः हम संयम से रहें और अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन करें, जिससे विभाव भावों से हटकर हम अपने शुद्धचारित्र के पालन कर सकने के पात्र रह सकें।

भगवान् के दर्शन करते समय भगवान् की मुद्रा को निरखकर यही भाव आना चाहिए कि हे प्रभु! आपने संसार को असार जानकर सबसे वैराग्य लेकर अपने में अपने को पूजा था, जिसके फल में आप समता के पुंज, अनन्तानन्द निधान बन गये हैं। ऐसी ही शक्ति प्रभु! मुझमें है, क्योंकि द्रव्य से आत्मा वही एक—समान है। मैं भी आपके—जैसी समता को प्राप्त कर सकूँ, ऐसी भावना प्रभु के दर्शन करके भाना चाहिये। यह जीव शांति का समुद्र है। इसमें दुःख और अशान्ति स्वभाव से नहीं है। पर अपने स्वरूप को भूलकर बाहर से सुख की आशा लगाये है, इसलिये सब आनन्द खत्म हो गया है और भिखारी बनकर जगह—जगह भागता फिरता है।

साम्यं विशुद्ध विज्ञानं साम्यं रागविवर्जितम्।

साम्यं स्वास्थ्यं सुखागारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥6-43॥

समता ही जीव की सम्पत्ति है। जिस मनुष्य के हृदय में समता नहीं है,

उसके पास बाहर में चाहे कितने ही आडम्बर हों, वैभव हों, फिर भी शांति नहीं हो सकती है। समता की बड़ी महिमा है, ऋषिगण जिसके सामने झुकते हैं, राजा—महाराजा भी झुकते हैं। यह समता बड़े—बड़े मुनियों द्वारा पूज्य है। समता परिणाम बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पदा है। प्रभु से यही माँगो कि मेरे में मोह न जगे, सदा समता परिणाम बना रहे।

श्रद्धावृत्तं श्रुतं ज्ञानं सत्यं साम्यं भवेद्यद।

तदैव स्वसुखं स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥6-55॥

यह श्रद्धा, यह चारित्र, यह आगम का अभ्यास, यह ज्ञान हमारा तब सत्य माना जायेगा जब मेरे में समता परिणाम जगे। बड़े परिश्रम से तो कोई भोजन बनावे और भोजन बनाकर मूर्खता से, पागलपन से या किसी से लड़—झगड़कर बाद में कूड़े में फेंक दे, तो आप उसके भोजन बनाने के पुरुषार्थ को क्या सच्चा काम कहेंगे? क्या आप बेवकूफी न कहेंगे? इसी प्रकार जितनी श्रद्धा है, चारित्र है, ज्ञान है, भगवान् की पूजा—भक्ति है, ये सब इसलिये किये जाते हैं कि मेरे में समता पैदा हो। यदि धर्म के ये कार्य करके भी चित्त में समता परिणाम न लाना चाहते हो तो उसे विवेक नहीं कहा जायेगा।

भगवान् की पूजा—भक्ति की उपलब्धि यही है कि हमारे और भगवान् के बीच जो अन्तर है, दूरी है या भिन्नता है, वह घटती चली जाये। भगवान् वीतराग हैं और हम निरन्तर राग—द्वेष में लगे हुये हैं। यही उनके और हमारे बीच फर्क है। हम भक्ति के माध्यम से उनसे जुड़ें, उनसे निकटता बनायें, उनका सामीप्य प्राप्त करें, तो ही भक्ति सार्थक होगी। भगवान् से जुड़ना यानी वीतराता से जुड़ना, अपने वीतराग स्वरूप की ओर रुझान होना है। भगवान् को प्राप्त करना यानी उनके जैसे बनना। उनके जैसी वीतरागता अपने भीतर प्रकट करना है।

एक बार अरद्धा सेठ ने अपनी आठ रानियों से पूछा कि तुम्हें सम्यक्त्व कैसे उत्पन्न हुआ? जरा अपनी कहानी तो बतलाओ। बड़ी सेठानी ने सम्यक्त्व की कहानी कही। सबने कहा—सच है, मगर छोटी सेठानी ने कहा कि झूठ है। सब सेठानियों ने सम्यक्त्व की कहानी कही, तो सब ने कहा— सच है, पर छोटी

सेठानी ने कहा कि झूठ है। इन सब बातों को राजा मकान के पीछे खड़ा सुन रहा था। पहले राजा लोग प्रजा का सुख-दुःख जानने को रात में गश्त लगाया करते थे। जब राजा ने यह सब सुना तो सोचा कि सुबह होने दो, सुबह छोटी सेठानी को बुलाऊँगा और पूछूँगा कि इन सब कथाओं को तूने झूठ क्यों कहा? कुछ कथाएँ राजा पर भी गुजरी हुई थीं। जब सुबह हुई, तो राजा ने बड़े सम्मान से छोटी सेठानी को बुलाया और पूछा कि रात्रि में जो सम्यग्दर्शन की कहानियाँ हो रही थीं, सो तू उन्हें झूठ क्यों कहती थी? राजा ने कहा कि वे सच तो थीं। तो छोटी सेठानी ने मुख से तो कुछ उत्तर नहीं दिया और सब गहने, आभूषण और कपड़े आदि उतार कर केवल एक साड़ी पहनकर वहाँ से जंगल के लिए चल दी और कहा कि महाराज! वे सेठानियाँ केवल बातें कर रही थीं, व्यवहार में तो नहीं ला रही थीं, वे तो केवल बातें-ही-बातें थीं। यदि समता परिणाम उत्पन्न होता है तब तो समस्त क्रियायें ठीक हैं, अन्यथा केवल बातें-ही-बातें हैं, वे सारी क्रियायें असत्य हैं।

धर्म का काम तो अपने आपकी आत्मा ही में लीन होने के लिये होता है। सो समता परिणाम जगे, तब तो हमारी पूजा-भक्ति आदि सभी क्रियायें सत्य हैं। जब तक अपने आपका आत्मतत्त्व अपने उपयोग में दृढ़ता से स्थित न हो जाये, तब तक जन्म-मरण का संसार नहीं छूटता। यदि संसार से मुक्त होना चाहते हो तो भगवान् के स्वरूप को अनुभव में लो। हम भगवान् की भक्ति क्यों करते हैं? क्योंकि हमें जो करना चाहिए वह मार्ग उनसे मिलता है। जब-जब ज्ञान में प्रभु का स्वरूप आता रहेगा, तब-तब इस जीव के कर्मकलंक ध्वस्त होंगे और मुक्ति के मार्ग का अनुभव होगा। मोक्ष का जो आनन्द है, वह आत्मा के शुद्ध स्वभाव का ही आनन्द है। भगवान् अपने स्वभाव में लीन हैं, उनको देखकर हम भी अपने स्वभाव को याद कर सकते हैं, उनके जैसा होने की भावनाएँ/रुचि को मजबूत करके उनके बताये हुये मार्ग पर चल कर निज परमात्मा बनने का उपाय कर सकते हैं।

देखो, जगत् में रूलते-रूलते चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते-करते आज आपने यह मनुष्यभव व जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा बताया गया जिनधर्म

प्राप्त किया है। अतः अब तो मिथ्यात्व/मोह को छोड़ो। यह मोहजाल बड़ा विकट बंधन है। मोह में अपने आपकी गलती अपने को मालूम नहीं होती। ऐसी परिस्थिति को मोह कहते हैं। गलती करते हुये यदि यह ध्यान रह सके कि यह गलती है, तो वहाँ मोह नहीं है, गलती जरूर है। मोह बड़ी गलती कहलाती है, अन्य गलतियाँ कम गलती कहलाती हैं। हम भगवान् की भक्ति का आनन्द तभी पा सकते हैं, जब मैं भगवान् के स्वरूप को अपने आपमें बसाऊँ। जहाँ इतना व्यामोह है कि धन, वैभव, परिवार आदि अनेक चीज अपने आपमें बसाये हुये हैं, वहाँ भगवान् की भक्ति नहीं हो सकती। यहीं तो देख लो, कोई मनुष्य अपने मित्र के शत्रु से भी प्रेम करता हो, तो मित्र के द्वारा क्या आदर पा सकता है? नहीं। भगवान् का शत्रु कौन है? विषय-कषाय या विषय-कषायों का शत्रु कौन है? भगवान्। तो भगवान् के दुश्मन विषय-कषाय हैं। यदि भगवान् के शत्रु विषय-कषायों में हमारी रुचि हो, तो क्या भगवान् की भक्ति बन सकती है? नहीं बन सकती है। अतः हम भगवान् की भक्ति करते समय अपने चित्त से समस्त बाह्य पदार्थों को हटा दें, केवल भगवान् का ही अनुभव बनायें, तो हमारी भगवान् की भक्ति सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में कारण बनेगी। जो जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति नहीं करता, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। कहा भी है—

**केचिद्वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः,
केचिद्वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः।
ब्रूमोनयं निखिलशास्त्र विशेषविज्ञाः,
परमात्मनः स्मरणहीनजनो जघन्यः॥**

कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि जिसके पास धन नहीं है अर्थात् जो दरिद्र है, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि जिसने मानवीय जीवन सदृश उच्च पद प्राप्त करके सद्विद्या, सदाचार आदि मानवोचित गुण प्राप्त नहीं किये, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। सभी शास्त्रों के विद्वान् यह कहते हैं कि जिसका हृदय भगवान् की भक्ति से शून्य है, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। 'नीतिवाक्यामृत' में लिखा है—

“देवान् गुरुन् धर्मं चोपाचरन् न व्याकुलमतिः स्यात्।”

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थकर भगवान् की सेवा—पूजा करने वाला तथा निर्ग्रन्थ, सम्यग्ज्ञान और आत्मध्यान में लीन, ऐसे साधुओं की उपासना करने वाला तथा भगवान् तीर्थकर के कहे हुये दयामयी धर्म की भक्ति करने वाला प्राणी कभी दुःखी नहीं हो सकता।

इस बात को “चक्की के कीले के पास के दाने” इस लौकिक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। गेहूँ आदि अन्न पीसने वाली चक्की में जितने गेहूँ के दाने डालते जाते हैं, उनमें चक्की के कीले के पास के दाने नहीं पिसते, और—सब पिस जाते हैं। उसी प्रकार हे भव्य प्राणियो! यह संसार रूपी महा भयानक चक्की है। इसके जन्म—मरण रूपी दो पाट हैं। प्रायः इसमें पड़कर सभी जीव पिस जाते हैं, दुःखी होते हैं, किन्तु जो धर्मात्मा पुरुष सच्चे देव, शास्त्र और गुरु रूपी कीले का आश्रय ले लेता है, वह कभी इस भयानक संसार रूपी चक्की में नहीं पिसता। क्योंकि उसे स्वर्गादिक की प्राप्ति होकर परंपरा से मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार पारस पत्थर के संयोग से लोहा स्वर्ण हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् रूपी पारसमणि के संयोग से यह प्राणी भी विशद् ज्ञानी और तेजस्वी हो जाता है। श्री मानतुंगाचार्य ने भक्तामर स्तोत्र में लिखा है—

नात्यद्भुतं भुवन—भूषण भूतनाथ,

भतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।

तुल्याः भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,

भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥१०॥

हे संसार के भूषण! आपके पवित्र गुणों से आपकी स्तुति और पूजन करने वाले मनुष्य आपके समान हो जाते हैं—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि दुनियाँ में वे स्वामी मान्य नहीं हैं जो अपने अधीन सेवकों को धन द्वारा अपने समान नहीं बनाते।

भगवान् वीतारागी होने से कुछ देते नहीं हैं, लेकिन उनके आलम्बन के बिना कुछ मिलता भी नहीं है। जब तक हम भगवान् के सच्चे स्वरूप को नहीं

जानेंगे, तब तक अपने आत्मस्वरूप को भी नहीं जान सकते। भगवान् की भक्ति के बिना मोक्षमार्ग संभव नहीं है। मोक्ष की तरफ यदि जाना है, तो पहले भगवान् की भक्ति अनिवार्य है। अपना यह जीवात्मा कर्मों की मार अनादिकाल से सहन करता आ रहा है। अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त इस मनुष्य पर्याय में अपने—आपको पहचान लो कि मैं कौन हूँ? धर्म का मार्ग ही सारी दुनियाँ में एक सत्य का मार्ग है। अतः इस पर चलने का पुरुषार्थ करो।

एक व्यक्ति ने यह संकल्प लिया कि मैं तब तक पानी में कदम नहीं रखूँगा जब तक कि तैरना नहीं सीख लूँ। अब बताओ— जब वह पानी में कदम ही नहीं रखेगा, फिर तैरना कैसे सीखेगा? यही दशा आज के संसारी प्राणी की है। वह धर्म करता नहीं, परन्तु पाप से छुटकारा चाहता है। यदि तैरना सीखना है, तो पानी में उतरना ही पड़ेगा। धर्म की चाह है, तो भगवान् की भक्ति का आलम्बन लेना ही पड़ेगा। आत्मोन्नति में अग्रसर होने के लिये अरहंत भगवान् ही हमारे आदर्श हैं। 'योगसार' ग्रंथ में आचार्य योगीन्दु देव ने लिखा है—

जिण सुमिरहु जिण चिंतहु, जिण ज्ञायहु सुमणेण।

सो ज्ञायंतहँ परम पउ, लब्धई एक्क — खणेण॥

शुद्ध मन से भगवान् का स्मरण करो और जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करो। उनका ध्यान करने से एक क्षण भर में परमपद प्राप्त हो जाता है।

धर्म तो अन्तरात्मा की अनुभूति का विषय है। यह अनुभूति कब होगी? जब रग—द्वेष छोड़ेंगे, तब ही 'आत्मधर्म' यानी वास्तविक धर्म प्रकट होगा। राग—द्वेष का त्याग किये बिना परमात्मपद नहीं मिल सकता।

यह आत्मा अनन्तशक्ति का धारक होकर भी अपनी शक्ति को भूल रहा है। अपनी शक्ति को भूलने के कारण ही यह संसार में भटक रहा है। अपनी शक्ति को न पहचानकर कर्मजनित दुःखों को भोग रहा है और संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःखी हो रहा है। अगर यह अपनी शक्ति को पहचानकर रत्नत्रय धर्म का पालन करे, तो सर्व कर्मों के बंधन तोड़कर स्वतंत्र एवं सुखी हो जावे।

जो भगवान् के स्वरूप को समझ जायेगा, वह अपनी आत्मा के स्वरूप को समझ जायेगा और जो आत्मा के स्वरूप को समझ जायेगा, वह संसार के संकटों से पार हो जायेगा। जैसा भगवान् का स्वरूप प्रकट हुआ है, वैसा मेरा भी स्वरूप प्रकट हो, इस भावना से भगवान् के स्वरूप को निरखकर बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ भगवान् की पूजा आदि करना चाहिये। समझे बिना केवल देखा-देखी या कुल-परम्परा से पूजा आदि क्रियायें करने से फायदा नहीं उठाया जा सकता। इसे एक दृष्टांत के माध्यम से समझ सकते हैं—

कुछ मुसाफिर लोग किसी शहर से कपड़ा खरीद कर अपने गाँव जा रहे थे। रास्ते में शाम हो गई। ठंडी के दिन थे, सो वे एक वृक्ष के नीचे ठहर गये। ठंड अधिक लगी तो उन्होंने एक उपाय किया। आसपास की बाड़ की पतली लकड़ियाँ बीनकर इकट्ठी कीं और चकमक से आग लगाकर फूँका और खूब रातभर अच्छी तरह से तापकर रात बिता दी और प्रातः काल अपने गाँव चले गये। अब दूसरी रात आयी तो उस पेड़ पर रहने वाले बंदरों ने सोचा कि हम लोग ठंड में यों ही ठिठुर रहे हैं, देखो वे लोग भी तो हमारी ही तरह के हाथ-पैर वाले थे, जिन्होंने पिछली रात को अपनी ठंड मिटाई थी। अपन लोग भी वैसा ही करें। सो सभी बंदर आसपास की बाड़ की छोटी पतली लकड़ियाँ बीन लाये और उन्हें एक जगह इकट्ठा करके तापने बैठ गये। फिर भी ठंड नहीं मिटी, तो उनमें से एक बन्दर बोला कि अभी इसमें लाल-लाल चीज तो डाली ही नहीं गई, ठंड कैसे मिटे? अब क्या था, आस-पास उड़ रहे पटबीजना जो कि लाल रंग के थे, सभी बंदरों ने उन्हें पकड़-पकड़ कर खूब उन लकड़ियों में झोंका। अब लकड़ियों के चारों तरफ सभी बन्दर तापने बैठ गये, तब भी ठंडी न मिटी, तो एक बंदर बोला कि अभी ठंडी कैसे मिटे? उन लोगों ने तो मुख से फूँका था, अभी अपन लोगों ने इसे मुख से फूँका तो है ही नहीं। सो उन्होंने मुख से खूब फूँका, फिर भी ठंडी न मिटी। तो फिर एक बंदर बोला कि उन लोगों ने उकड़ूँ बैठकर हाथ फैलाकर अपनी ठंडी मिटाई थी, उस तरह से हाथ फैलाकर अभी अपन लोग बैठे नहीं तो ठंड कैसे मिटे? सो वे सब उस तरह से हाथ फैलाकर बैठ गये, पर ठंड न मिटा सके। यों उन बन्दरों ने प्रयत्न तो सारे

कर लिये, पर टंड न मिट सकी। उसका कारण यही था कि टंड मिटाने का जो मूल निमित्त अग्नि थी, उसका उन्हें ज्ञान नहीं था।

इसी प्रकार जो भगवान् के वीतराग स्वरूप को समझे बिना केवल देखा-देखी पूजा करते हैं, वे रोग-द्वेष आदि विकारी भावों को दूर नहीं कर सकते। राग-द्वेष, मोह आदि की प्रवृत्ति तभी तक जीव में रहती है, जब तक वह अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि से वंचित रहता है। भगवान् की भक्ति से, उनका चिंतन-मनन करने से आत्मस्वरूप अपने आप ज्ञात हो जाता है। जिस प्रकार एक जलते हुये दीपक से अनेक बुझे हुये दीपकों के जलाया जा सकता है, उसी प्रकार भगवान् के स्वरूप को पहचान कर अपनी आत्मा का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् की आत्मा शुद्ध चिद्रूप है, अतः उनके स्मरण, मनन व ध्यान से अपने शुद्ध चिद्रूप स्वभाव की प्राप्ति होती है। अपने विकारों से उत्पन्न होने वाली अशांति को रोकने तथा आत्मिक शांति को विकसित करने के लिये भगवान् का स्मरण ही एकमात्र साधन है। इस आत्मा में सिद्ध बनने तक की शक्ति है। हम अपने स्वरूप को भूल गये हैं। यह स्मृति प्राप्त करने के लिये जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा की पूजा-भक्ति करना अनिवार्य है। इस काल में भगवान् की मूर्ति ही आत्मकल्याण के लिये सच्चा सहारा है। यह संसार-समुद्र से पार करने के लिये नौका के सदृश है, वीतराग भावों को उत्पन्न करने में निमित्त-कारण है। कहा भी है—

आप्तस्यासन्निधानेऽप पुण्याया कृति पूजनम्।

ताज्ञर्य मुद्रा न किं कुर्यात् विषसामर्थ्यसूदनम्॥१॥(यशस्तिलक)

तीर्थकर भगवान् के न होने पर भी उनकी प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की भक्ति, पूजन से महान् सातिशय पुण्यबंध होता है। जैसे गरुड़ के न होने पर भी उसकी मूर्ति मात्र से क्या सर्प का विष नहीं उतरता? अवश्य उतरता है।

संसार में बाह्य निमित्त के अनुकूल प्राणियों के भाव होते हैं। दृष्टान्त है कि यदि कोई मनुष्य वेश्या की फोटो देखता है तो उसके हृदय में काम वासना जाग्रत हो जाती है। यदि कोई पुरुष किसी वीर पुरुष की फोटो देखता है तो उसमें वीर रस का संचार होता ही है। यदि साधु महात्माओं की फोटो देखता है,

तो उसके हृदय में वैराग्य भावों का संचार होता है। उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् की प्रतिमा के दर्शन—पूजन से आत्मा में वीतराग भावों का संचार हुए बिना नहीं रहता। तीर्थंकर भगवान् की प्रतिमा के देखने से आत्मा में ये भाव होते हैं कि धन्य है इनका आदर्श त्याग, धन्य है इनकी आत्मिक शक्ति, जिसके द्वारा अनादिकालीन वैभाविक परिणति को नाश कर आत्मा स्वाभाविक अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप शक्ति को प्राप्त कर जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हुई हैं। वीतराग प्रभु की मूर्ति न होती, तो फिर हमारी आत्मा में ये आदर्श भाव भी पैदा नहीं हो सकते। तब मोक्ष के उपाय को नहीं सोच सकते और सांसारिक विषय—कषाय रूपी कीचड़ से किसी प्रकार नहीं निकल सकते।

भक्त भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा इनकी आत्मा की विशुद्ध वीतरागता की उपासना करते हैं कि हे प्रभो! आपने राज्यलक्ष्मी को तृण के समान नगण्य समझते हुये त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की, जिसमें लेश मात्र भी आरंभ—परिग्रह नहीं था। आपने ध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मरूपी ईंधन को भस्म किया, जिससे आपकी आत्मा में अनन्तचतुष्टय उत्पन्न हो गया तथा जनसाधारण में पाये जाने वाले क्षुधा, तृषा, भय, राग, द्वेष, चिन्ता आदि अठारह दोषों से रहित होकर वीतरागता की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए। आपकी आत्मा में अनन्त गुण हैं, जिन्हें बृहस्पति भी निरूपण करने में समर्थ नहीं हैं, तब हम सरीखे अल्पज्ञानी उनका निरूपण किस प्रकार कर सकते हैं? फिर भी भक्तिवश हम आपकी स्तुति कर रहे हैं। आपने केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर महान् धर्मतीर्थ का निरूपण किया, जिसकी छत्रछाया में रह कर संसार के प्राणी जन्म—मरण से छुटकारा पाकर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा को परस्परा से मोक्ष का कारण बताया है।

“पूयाफलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।”

जो पुरुष शुद्ध हृदय होकर भगवान् की पूजन करता है, वह तीनलोक में देवादिक से पूजनीय तीर्थंकर होता है। यह पूजा का फल बतलाया है। तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के फल से श्रावक स्वर्गलोक में जाकर

सागरोंपर्यन्त सुख भोगकर मनुष्यपर्याय धारण करके मोक्ष के अविनाशी परम सौख्य को प्राप्त कर सकता है। पूजा का महात्म्य बताते हुए 'धर्म संग्रह' ग्रंथ में लिखा है—

मानिनो मानविनिर्मुक्ता, मोहिनो मोहवर्जिताः।
रोगिणो निरुजो जाता, वैरिणो मित्रतांश्रिताः॥४३॥
चक्षुष्मन्तोऽभवन्नंधा, बधिराः श्रुतिधारणः।
मूकाः पटुत्वमापन्नाः, पंगवः शीघ्रगामिनः॥४४॥
निर्धनाः सधना लोके, जडा पाण्डित्यमाश्रिताः।
इत्यन्येऽपि च सम्पन्ना, मानस्तंभादिदर्शनात्॥४५॥

भगवान् के समवसरण के मानस्तंभ के दर्शन मात्र से अभिमानियों के मान दूर हो गये, जो मोह में फँसे थे उनका मोह दूर हो गया, वैरी भी मित्र बन गये, अन्धों को दिखाई देने लगा, बधिर पुरुषों को शब्द सुनाई पड़ने लगे, जो गूँगे थे वे भी बोलने लगे, जो पंगु थे वे भी शीघ्रगामी हो गये अर्थात् परो से चलने लगे, निर्धन धनवान् हो गये और मूर्ख भी पंडित हो गये। तात्पर्य यह है कि भगवान् के समवसरण के मानस्तंभ के दर्शन मात्र से जब असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं और पुण्य लाभ होता है, तो भगवान् के दर्शन करने से तथा पूजन करने से कितना पुण्यास्रव होगा तथा पाप का नाश होगा, स्वयं विचार कर लेना चाहिए।

आचार्यों ने लिखा है— जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति भवदुःख का नाश करने वाली तथा पापों को नष्ट करने वाली है।

**“अनन्तानन्त संसार संतति छेद कारणम्,
जिनराज पदाम्भोज स्मरणं शरणं मम्।”**

अनन्तान्त संसार की परम्परा का छेद करने वाले जिनेन्द्रदेव हैं, उनके चरणकमल ही एकमात्र मेरे लिये शरण हैं। जो अपने आपको प्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है, उसके संकट ऐसे ही छँट जाते हैं, जैसे सूर्य के उदित होने पर अंधकार छँट जाता है। सेठ धनंजय प्रभु की आराधना में तल्लीन थे, उनके पुत्र को सर्प ने काट लिया, पर वे पुत्र मोह से पृथक् प्रभु की भक्ति में ही

तल्लीन रहे, जिसका परिणाम यह निकला कि पुत्र निर्विष होकर खड़ा हो गया। इसलिये तो कहा है—

**“विघ्नौघा प्रलयं यान्ति, शाकिनी भूत पन्नगाः।
विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरैः॥”**

जिनेन्द्र भगवान् के स्मरण, स्तवन करने से विघ्न, प्रलय, डाकिनी—शौकिनी, भूत—प्रेत सभी पलायन कर जाते हैं। विष निर्विषता में परिवर्तित हो जाता है। झांसी जिला के जखौरा गाँव के एक अब्दुल रज्जाक नामक मुसलमान ने लिखा है— मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि जो भी णमोकार मंत्र पर श्रद्धा रखेगा, वह समस्त संकटों से बच जायेगा क्योंकि ये बातें मेरे ऊपर गुजर चुकी हैं।

उसने लिखा है— मैं रात्रि में णमोकार मंत्र पढ़कर सोता हूँ। एक बार टंडी के दिनों में मैं सो रहा था। मुझे रात्रि में चार बार स्वप्न आया कि उठ, सर्प है। मैं चारों बार उठा, उजाला किया और फिर से सो गया। जब सुबह उठा तो देखा रजाई के सहारे एक बड़ा सर्प नीचे उतरकर चला गया। मैं चार बार उठा, पर जिधर सर्प था उधर से एक बार भी नहीं उठा। यह णमोकार मंत्र का ही प्रभाव है।

मेरे मम्मी—पापा झांसी में रहते हैं। जब मेरी समाजवालों को पता चला कि मैं जैनधर्म को मानने लगा हूँ तो उन्होंने मुझे झांसी बुलाकर एक मीटिंग की। मैंने उनके सभी प्रश्नों के उत्तर दिये। मुसलमान कट्टरपंथी होते हैं। किसी ने कहा ऐसे व्यक्ति को तो जान से मार देना चाहिए, पर धर्म परिवर्तन नहीं करने देना चाहिए।

उसने लिखा है— मैं अपने मम्मी—पापा के यहाँ अलग कमरे में रहता हूँ और उनके हाथ का बनाया हुआ भोजन भी नहीं करता। उस दिन मैं दोपहर में अपने कमरे में सामायिक कर रहा था तो देखा कि एक बहुत बड़ा काला सर्प मेरे कमरे में चारों तरफ घूम रहा है। जब मैं सामायिक करके उठा तो वह सर्प चुपचाप बाहर चला गया। मैंने दरवाजे पर देखा तो वहाँ एक बर्तन रखा था, जिसे देखकर मैं समझ गया कि यह सर्प मुझे मारने के लिये लाया गया था। उस सर्प ने जो व्यक्ति सर्प लाया था उसके ही इकलौते बेटे को काट लिया।

वह दौड़ा हुआ मेरे पास आया और बोला—मैं दूसरे को मारने के लिये सर्प लाया था पर उसने मेरे ही बेटे को काट लिया। मैं जब तक वहाँ गया, तब तक वह लड़का मर चुका था। 10 दिन बाद वह व्यक्ति भी मर गया। यह णमोकर मंत्र की ही महिमा है कि साक्षात् काल भी प्रेम का व्यवहार करके चला गया। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु सभी को सच्ची श्रद्धा—भक्ति से जिनेन्द्र भगवान् कि उपासना, आराधना, स्मरण, भक्ति—पूजा, ध्यान आदि करके आत्मा का कल्याण अवश्य करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये दूसरा कार्य है वीतरागी गुरुओं की उपासना करना। मोक्षमार्ग में गुरु ही हमारे सच्चे पथप्रदर्शक हैं। उस विद्यमान शक्ति को कैसे प्रगट करें, इस बात की शिक्षा गुरु ही देते हैं। गुरु आचरण के शिखर होते हैं, वही हमारे जीवन का उद्घाटन करते हैं। गुरु का अर्थ होता है 'गु' गूढ़तम 'र' रहस्यों 'उ' उद्घाटित करने वाला। जो हमारे जीवन में गूढ़तम रहस्यों को उद्घाटित करने वाले हैं, वही गुरु हैं। इसलिये कहा है—

“गुरुर्विधाता गुरुदेव दाता।

गुरुः स्वबन्धुर्गुणरत्न सिन्धुः॥

गुरुर्विनेता गुरु देव तातो।

गुरुर्विमोक्षो हत कर्म पक्षः॥

अर्थात् गुरु ही विधाता हैं, गुरु ही दाता हैं, गुरु ही स्वकीय बन्धु हैं, गुरु ही गुणरूपी रत्नों के सागर हैं, गुरु ही शिक्षक हैं, गुरु ही पिता हैं और कर्मसमूह को नष्ट करने वाले गुरु ही मोक्ष हैं। ऐसे गुरु को नमस्कार हो; क्योंकि सद्गुरु हमें भटकती हुई भीड़, अज्ञान व अंध विश्वास से बाहर निकालते हैं।

गुरु महाराज की शरण में बैठने से, उनकी शान्त मुद्रा देखने से, उनसे धर्मोपदेश सुनने से बुद्धि पर भारी असर पड़ता है। गुरु वास्तव में अज्ञानरूपी अंधाकार को मेटने के लिये ज्ञानरूपी अंजन की सलाई चला देते हैं, जिससे अंतरंग ज्ञान की आँख खुल जाती है। जैसे पुस्तकों के होने पर भी स्कूल और कालेजों में मास्टर और प्रोफेसरों की जरूरत पड़ती है, उनके बिना पुस्तकों का मर्म समझ में नहीं आता, इसी तरह शास्त्रों के रहते हुये भी गुरु की आवश्यकता

होती है। गुरु, तत्त्व का स्वरूप ऐसा समझाते हैं जो शीघ्र समझ में आ जाता है। गुरु तारणतरण होते हैं। आप स्वयं भवसागर से तरते हैं और शिष्यों को भी पार लगाते हैं। यदि गुरु साक्षात् न हों तो नित्यप्रति उनके गुणों का स्मरण करके उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये।

आचार्य पद्मनन्दि महाराज ने लिखा है— जो गुरुओं की उपासना करते हैं, वे पुण्यवान् महात्मा पुरुष हैं—

**मानुष्यं प्राप्य पुण्यात् प्रशममुपगतं रोगवद् भोगजालं ।
मत्वा गत्वा वनान्तं दृशि विदिचरणे ये स्थितिः संगमुक्ताः ॥
कः स्तोता वाक्पथातिक्रमण पटुगणैराश्रितानां मुनीनां ।
स्तोतच्यास्ते महद्भिर्भुवि य इह तदडिद्य द्वये भक्तिभाजः ॥७१॥**

पुण्ययोग से मनुष्यभव को पाकर शमत्व को प्राप्त होकर और भोगों को रोग तुल्य जानकर तथा वन में जाकर समस्त परिग्रह से रहित होकर, जो यतीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में स्थिर होते हैं, जो कि वचनागोचर गुणों कर सहित हैं, उन मुनिराजों की जो स्तुति करते हैं, वे धार्मिक पुण्यवान् महात्मा पुरुष हैं।

**ये गुरुं नैवमन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते ।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१९॥**

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका)

जो गुरुओं को नहीं मानते तथा उनकी सेवा-वन्दना नहीं करते, उनको सूर्य के होने पर भी अन्धकार ही है। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य व्यापारादि गृहकार्य में अनुरक्त तथा पंचेन्द्रिय के विषयों में लीन रहते हैं, गुरुओं की भक्ति, स्तुति आदि नहीं करते, वे लोग सम्यग्ज्ञान प्रकाश को प्राप्त नहीं कर सकते।

गुरुओं की संगति से जैसे-जैसे ज्ञान वृद्धिगत होता है, वैसे ही हमारा चारित्र भी वृद्धिगत होता है। चारित्ररूप सम्पदाएँ उनको ही प्राप्त होती हैं, जो कि गुरुजनों के आश्रम में रहकर उनकी सेवा किया करते हैं। गुरुओं की संगति से आत्मस्वरूप में अवस्थान होता है और उससे पूर्वोपार्जित कर्मों का विनाश होता है। गुरु की महिमा अपार है। गुरुकृपा के बिना कुछ भी संभव नहीं है।

**दुर्लभो विषय त्यागः, दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दर्लभा सहजावस्थां, सद्गुरोः करुणां बिना॥**

गुरु की विनय के बिना तत्त्वदृष्टि प्राप्त होनी संभव नहीं है और न ही उनकी शरणागति के बिना सहजावस्था ही संभव है। गुरु एक-एक पंक्ति में सुख का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। उनकी एक-एक बात सारभूत है। लोक में ऐसा कोई उत्कृष्ट स्थान नहीं तथा वह कोई उत्कृष्ट हित नहीं, जिसको कि योगीजनों के चरण-कमलों का आश्रय लेने वाले महापुरुष प्राप्त न कर सकें।

मोक्षमार्ग में गुरु का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि सिद्ध भगवान् तो बोलते नहीं हैं। साक्षात् अरहन्त भगवान् जो बोलते हैं, उनका इस समय अभाव है। यहाँ पर स्थापना-निक्षेप से जो अरहन्त भगवान् हैं, वे बोलते नहीं हैं। अतः मोक्षमार्ग में गुरु ही सहायक सिद्ध होते हैं। मार्ग पर चलते समय यदि कोई बोलने वाला साथी मिल जाता है, तो मार्ग तय करना सरल हो जाता है। निर्ग्रन्थ गुरुमहाराज हमारे मोक्षमार्ग में बोलनेवाले साथी हैं। इनके साथ चलने से हमारा मोक्षमार्ग सरल हो जाता है। गुरु की महिमा अचिन्त्य है—

**गुरु गोविन्द दोउ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय॥**

गुरु की महिमा अपरंपार है। गुरु शिष्य को भगवान् बना देते हैं। गुरु स्वयं तो सत्यपथ पर चलते ही हैं, साथ ही दूसरों को भी चलाते हैं। इसलिये गुरु का महत्व अनुपम है। जो भी सच्चे वीतरागी गुरुओं की पूजा-भक्ति करता है, उनके बताये हुये मार्ग पर चलता है, वह एक दिन कर्मों की श्रृंखला को तोड़कर अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है। गुरुओं की परम्परा से आज भी हमें जिनवाणी सुनने को मिल रही है। भगवान् महावीर स्वामी जब मोक्ष पधारे थे, उस समय चतुर्थकाल का तीन वर्ष साढ़े आठ माह समय शेष था।

**वाससयं तहकालो परिगलि ओ वडढमाणतित्थेसु।
एसो भवियं जाणहु भरहे सुदकेवली णत्थि॥७२॥(श्रुत स्कन्ध)**

कार्तिक वदि १४ के दिन बीते बाद/उपरान्त रात्रि में जब अन्तर्मुहूर्त रात्रि

शेष रही, तब अमावस होने वाली थी, उसी समय भगवान् महावीर निर्वाण पधारे थे। उसी दिन संध्या के समय गौतम गणधर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। अतः देवों ने आकर उनके ज्ञान कल्याणक की पूजा की एवं उत्सव किया था। उसी दिन से दीपावली त्यौहार मानाया जा रहा है। केवली गौतम गणधर ने 12 वर्ष तक धर्म की देशना दी। तदुपरान्त उनको निर्वाण की प्राप्ति हुई थी।

गौतम गणधर के निर्वाण गमन पश्चात् सुधर्माचार्य को केवलज्ञान प्रकट हुआ और केवलज्ञान पश्चात् उन्होंने 12 वर्ष पर्यन्त धर्म की देशना दी, तदुपरान्त निर्वाण पद प्राप्त किया।

सुधर्माचार्य के पश्चात् जम्बू स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और उन्होंने 38 वर्ष पर्यन्त धर्मोपदेश रूपी अमृत की वर्षा से भव्य प्राणियों को संतुष्ट किया। श्री महावीर भगवान् के मोक्ष जाने के पश्चात् भी 62 वर्ष तक केवली विराजमान रहे।

आगे श्रुतकेवलियों का समय आया जिसमें 1. विष्णुनन्दी 2. नन्दिमित्र 3. अपराजित 4. गोवर्धन और 5. भद्रबाहु इस प्रकार पाँच श्रुतकेवली हुए। इनका समय भी 100 वर्ष तक चलता रहा। इनके बाद 123 वर्ष में 5 मुनिराज ग्यारह—ग्यारह अंगधारी हुये। आगे जो क्षीण अंगधारी मुनि हुये उनके द्वारा धर्मोपदेश होता रहा। इनके बाद 183 वर्ष में 11 मुनिराज दश—दश पूर्व के पाठी हुये। श्री अर्हद्वलि एक अंग के धारी थे। उनके बाद श्रीमाघनन्दी क्षीण एक अंग के धारी हुये।

जिस समय माघनन्दि मुनिराज का देहावसान हुआ था, उस समय भगवान् महावीर स्वामी को मोक्ष पधारे 582 वर्ष व्यतीत हो चुके थे। 582 वर्षों में उक्त प्रकार से ज्ञान के धारी आचार्य हुए।

आचार्य माघनन्दी मुनिराज के जीवन की घटना है। आचार्यश्री एक समय गोचरी के लिये जा रहे थे। मार्ग में एक कुंभकार की पुत्री बड़ी भारी वर्षा की संभावना से आँवा में रखे हुए बर्तनों के गल जाने की आशंका से रो रही थी। मुनिराज ने उसके हृदय की बात को समझ कर आँवे की परिक्रमा दे दी। परिक्रमा में वह कन्या भी पीछे—पीछे रही। कुछ देर बाद बड़ी जोर से वर्षा हुई,

किन्तु उस आँवे पर एक बूंद भी पानी न आया। इसके बाद उस कन्या का पिता आया। उसने पूछा कि इतनी वर्षा होने पर भी इस आँवे पर पानी नहीं पड़ा, क्या कारण है? इस प्रकार आश्चर्य में पड़े हुये अपने पिता को उस कन्या ने मुनिराज ने जो उसकी परिक्रमा दी थी वह वृत्तान्त कह सुनाया। कुंभकार अपनी कन्या को लेकर इन चमत्कारी मुनिराज के पास गया और कहने लगा—महाराज! आपने मेरी कन्या को साथ लेकर उस आँवे की परिक्रमा दी है, अतः यह कन्या आपसे विवाहित हो गई। अब मैं इसको अन्य को कैसे दे सकता हूँ? आपको इसको अपने पास रखना होगा। पूर्वभव के कर्मों के सम्बन्ध से मुनिराज ने उसके साथ फिर विवाह कर लिया और कुंभकार के घर पर ही रहकर बर्तन बनाने लगे। पीछी और कमंडलु को निम्ब के पेड़ पर रख दिया तथा मुनिवेष को त्याग दिया।

कुछ दिन पश्चात् मालव देश में कोई विवाद हुआ, उस सभा में उसका निर्णय न हो सका। इसका निश्चय माघनन्दी आचार्य के द्वारा ही हो सकेगा, ऐसा निश्चय करके वे अन्वेषण करते-करते कुंभकार के घर पर आये और माघनन्दी से, जो उस समय बर्तन बना रहे थे, आकर पूछा कि मुनि माघनन्दी कहाँ मिलेंगे? उन्होंने “मुनि” इस विशेषण से युक्त अपना माघनन्दी नाम सुना, तो तुरन्त बोध हो गया और कहा कि वह मैं ही हूँ। ऐसा कहकर उनकी शंका का समाधान किया और विचारा—अहो! मैं अब भी मुनि कहलाता हूँ और मेरी यह दशा है। उन्होंने उसी समय कुंभकार की लड़की से विदा लेकर पिच्छि कमंडलु ले लिया और पुनः मुनिदीक्षा धारण कर ली तथा यह प्रायश्चित्त लिया कि जब तक—पाँच व्यक्ति जैनधर्म से दीक्षित न हों, तब तक भोजन नहीं करेंगे। अतः वे प्रतिदिन 5 व्यक्तियों को जैनधर्म की दीक्षा देकर भोजन करते थे। उन्होंने इस प्रतिज्ञा का यावज्जीवन निर्वाह किया।

भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् लगभग 634 वर्ष व्यतीत होने पर विक्रम संवत् 84 में श्री धरसेन नाम के आचार्य हुये। आप उज्जैन नगरी के पास चन्द्र गुफा में विराजमान थे। वहाँ पर आपको रात्रि में ऐसा स्वप्न आया कि तुम्हारी आयु थोड़ी रह गई है तथा श्रुत का विच्छेद होनेवाला है। आपको

क्षीण अंग का ज्ञान था। स्वप्न के परिणाम स्वरूप अपनी आयु के साथ श्रुत का विच्छेद जानकर आपने दक्षिण देश से वेणाट तटपुर नामक स्थान से मुनिसंघ में से दो मुनियों के पहुँचने पर उनकी परीक्षा हेतु उनको दो मंत्र सिद्ध करने के लिये दिये। मंत्रों को सिद्ध करने पर एक मुनिराज को कानी और दूसरे मुनिराज को दाँत बाहर निकली देवी दिखाई दी। तब उन्होंने विचार किया कि देवियाँ तो कुरूप होती नहीं। इसलिये मंत्रों में कुछ कमी है। उन्होंने मंत्रों को ठीक किया और आचार्य धरसेन महाराज को सुनाया। इस प्रकार धरसेन आचार्य को विश्वास हो गया कि शिष्य ज्ञानी हैं तो उन्हें शिक्षा देना प्रारंभ की। दोनों मुनिराजों ने शिक्षा प्राप्त करके श्रुत को लिपिबद्ध करना शुरू किया, जो ज्येष्ठ सुदी पंचमी को पूर्ण हुआ। तभी से श्रुतपंचमी पर्व मनाया जाने लगा। श्रुत का नाम 'षट् खण्डागम' रखा गया, जिसको प्रथम श्रुतस्कन्ध कहा गया। आचार्य भद्रबाहु के शिष्य गुप्तिगुप्त, गुप्तिगुप्त के शिष्य माघनन्दि, माघनन्दि के शिष्य जिनचन्द्र आचार्य और आचार्य जिनचन्द्र के शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी हुए, जिन्होंने 80 से अधिक ग्रंथों की रचना की। उनके बाद आज तक आचार्यपरम्परा से ग्रंथों की रचना हो रही है, जो जीवों के कल्याण में निमित्त बनते हैं।

गुरुमहाराज द्वारा दी गई शिक्षा संसार से पार लगानेवाली होती है। उनके द्वारा कही गई बात का प्रभाव भी पड़ता है। क्योंकि आचरण के द्वारा दी गई शिक्षा प्रभावशाली होती है। गुरुमहाराज अपने व्रतों का निर्दोष पालन करते हैं, रत्नत्रय की आराधना करते हैं, इसलिये उनके निर्मल आचरण से सभी को सहज रूप में ज्ञान मिलता रहता है। गुरु की ऐसी महिमा होती है कि उनकी अनुपस्थिति में भी कोई शिष्य उनका स्मरण करके श्रद्धा और विनय भाव से सम्यग्ज्ञान की साधना कर लेता है। एकलव्य ने गुरु द्रोणाचार्य की अनुपस्थिति में भी धनुर्विद्या सीख ली थी। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा-भक्ति सम्यग्दर्शन का प्रधान कारण है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये तीसरा कार्य है जिनवाणी का स्वाध्याय करना। जिनवाणी का स्वाध्याय करने से विषय-भोगों से उदासीनता आती है, धर्म में अनुराग बढ़ता है, संसार से भय और शरीर से वैराग्य होता है, तत्त्वज्ञान

जाग्रत होता है, कषायें मन्द होती हैं और मन की एकाग्रता होती है। मन मदोन्मत्त हाथी के समान है। उसको रोकने के लिये स्वाध्याय रूपी जंजीर ही एक उपाय है। जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है, उसी का चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। चित्त की एकाग्रता से ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान से कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

‘नीतिवाक्यामृत’ में लिखा है—

अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत्॥१॥

अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्धः॥२॥

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणां॥३॥

किं नामान्धः पश्येत्॥४॥

जिस प्रकार बिना प्रकाश के अंधेरे में रखे हुये पदार्थों का भी पूरा ज्ञान नेत्रों द्वारा नहीं होता, उसी प्रकार बिना शास्त्रों के अनुभव पढ़े कुछ भी सत्य कर्तव्य का ज्ञान नहीं होता।

ज्ञान—नेत्र का उद्घाटन शास्त्र—स्वाध्याय से ही होता है, बिना शास्त्र ज्ञान के चक्षु होने पर भी मनुष्यों को नीतिकारों ने अन्धा बताया है। 2।

जो पदार्थ चक्षु द्वारा प्रतीत नहीं होता, उसे प्रकाश करने के लिये शास्त्र ही समर्थ है। यह शास्त्रज्ञान मनुष्यों का तीसरा नेत्र है। क्योंकि शास्त्रज्ञान के बिना अन्धे पुरुष को क्या प्रतीत हो सकता है। स्वाध्याय का महत्व बताते हुये ‘सागार धर्मामृत’ में लिखा है—

विनेयवद्विनेतृणापि स्वाध्यायशालया॥

“बिना विमर्शशून्यधीर्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि”।

स्वाध्याय करने से यथावद्वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है। मानसिक व्यापार अशुभ प्रवृत्ति से हटकर शुभ प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट होता है। अर्थात् मन वश में हो जाता है। आत्मा में से राग—द्वेष दूर होकर आत्मा विशुद्ध हो जाता है। स्वाध्याय करने से क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायों से आत्मा पराङ्मुख होता है। मोक्ष के मार्ग (सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र्य) में प्रवृत्त होता है। स्वाध्याय से मैत्री बढ़ती है। ‘मूलाचार’ ग्रंथ के पंचाचाराधिकार में लिखा है—

जेण तच्चं विबुज्जेज्ज जेण चित्तं णिसज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्जेज्ज तं णाणं जिणसासणे ।।70।।
जेण रागाविरज्जेज्ज जेण सेरासुरज्जदि ।
जेण मित्त प्रभावेज्ज तं णाणजिणसासणे ।।71।।

स्वाध्याय करने से तर्कशक्ति, बुद्धि की प्रकर्षता, परमागम की स्थिति इन्द्रियादिक दमन, कषायों पर विजय, उत्तम तप की वृद्धि, संवेग, धर्म, धर्म के फल में अनुराग, वस्तु का यथार्थ ज्ञान एवं निर्णय, दर्शन की शुद्धि, व्रतादि में अविचारों का अभाव, परवादियों के पराभव का कौशल और जैनधर्म की प्रभावना करने की शक्ति आदि सद्गुणों का विकाश होता है।

जिनवाणी का स्वाध्याय करने से ही आत्मज्ञान होता है। शास्त्र स्वाध्याय के माध्यम से हमें अपने चैतन्य रत्न को निकाल लेना चाहिये। जो इन इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है, वे मेरा स्वरूप नहीं है। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— हमारा स्वरूप क्या है? “अवर्णोऽहं” मेरा कोई वर्ण नहीं, “अस्पर्शोऽहं” मुझे छुआ नहीं जा सकता। यह मेरा स्वरूप है। पर मोह के अंधकार में यह अज्ञानी प्राणी इस पुद्गल शरीर को ही ‘मैं’ मान लेता है।

मोह—वहिनमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रिम् ।

छेत्तु रागदुकोद्धन समत्वभवम्ब्यताम् ।।

मोह अग्नि के समान है। अग्नि का संताप तो देह पर अल्पकालीन असर डालता है, किन्तु मोहजनित संताप आत्मा को तपाता हुआ चिरकाल पर्यन्त भवभ्रमण कराता है। जब मोहनीय कर्म का उदय आता है, तो कई सद्गुणों को भस्म कर देता है। इसके ताप से समस्त संसार पीड़ित है, किन्तु फिर भी इसकी मोहनी शक्ति से जीव अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाते।

जिनवाणी का स्वाध्याय एक चाबी की तरह है, जिससे मोहरूपी ताले को खोला जा सकता है। हमें भेदविज्ञान की कला में पारंगत होना चाहिए। भावश्रुत की उपलब्धि के लिये हमारा अथक प्रयास चलना चाहिए। स्वाध्याय वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा की अनुभूति, समुन्नति होती है, उसका विकास किया जा सकता है। जिनवाणी का स्वाध्याय करने पर इस शरीर के भीतर छुपा हुआ जो

परमात्म तत्त्व है, उसका बोध प्राप्त हो जाता है और मोह नष्ट हो जाता है। मोह विलीन हुआ, समझो दुःख विलीन हुआ। सूर्य के उदित होने पर क्या कभी अंधकार शेष रह सकता है?

एक दिन श्रीमद् राजचन्द्र जी अपनी दुकान पर बैठे थे। इतने में एक सज्जन आये, उनके हाथ में एक ग्रंथ था। उन्होंने उसे राजचन्द्र जी को दे दिया। राजचन्द्र जी उसे खोलकर पढ़ने लगे। आधा घण्टे बाद अत्यंत उल्लास में भरकर खुशी से उछलते हुए बोले— 'धन्य है इस महाग्रंथ को, इसमें तो धर्म के प्राण, आत्मा की सच्ची सुख—शान्ति की बात, आत्मा को पराधीनता से छुड़ाने की चर्चा एवं आत्म—स्वतंत्रता की घोषणा की गई है। अहो! यह ग्रंथ तो अमृत रस का सागर, रत्नों का खजाना, कामधेनु और आत्मा का कल्पवृक्ष है। आज तो तुमने मुझे अमृत रत्न दिया है।' (वह ग्रंथ 'समयसार' था) इतना कहकर राजचन्द्र जी पेटी में से मुट्ठी भर—भर कर हीरे—जवाहरात ग्रंथ लानेवाले को देने लगे। ग्रंथ लाने वाले तथा अन्य आसपास के व्यक्ति भी भौंचक्के होकर देखते रह गये। श्रीमद् राजचन्द्रजी शतावधानी बहुश्रुत विद्वान् थे। इनको महात्मा गाँधीजी ने अपना गुरु स्वीकार किया था।

जिनवाणी का स्वाध्याय करके धर्म और अध्यात्म को समझने का प्रयास करो, जिससे विषयभोगों के कंकर—पत्थरों को छोड़ा जा सके। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— जीवन क्या चीज है? जीवन तो ऐसा है कि जैसे किसी के हाथ में कुछ देर काँच का सामान रहा, फिर क्षणभर में गिरकर टूट गया। जन्म हुआ और मरण का समय आ गया। 60—70 बरस पलभर में बीत जाते हैं। जो यह जानता है, वह समय का सदुपयोग कर लेता है।

संसार में अज्ञान ही दुःख का कारण है और एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही सुख की खान है। शास्त्रों का स्वाध्याय करना बड़ा पवित्र एवं श्रेयस्कर कार्य है। ज्ञानाभ्यास के समय तन न तो किसी राग में फँसता है, न किसी द्वेष, क्षोभ, लोभ में अटकता है। बहती सरिता में उसे पार होने के लिये हमें मनुष्य देह का सहारा मिला है, इसे पाकर व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। यह आत्मा अनादि से यत्रतत्र भटक रहा है, चारों गतियों के दुःख भोग रहा है, अपने परिणाम विकल कर रहा

है। इसे अब ऐसा अवसर पाकर खो न देना चाहिए। अब हमने बुद्धि और विवेक पाया है, अतः जिनवाणी का स्वाध्याय कर निज अत्मस्वरूप को पहचान कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। अगर ऐसी अवस्था में हमने सम्यग्दर्शन न पाया, तो समझो कि कुछ न पाया। रत्नत्रय को प्राप्त करने में ही इस नरभव की सफलता है। अगर हमने यह सब न पाया, तो समझो कि हमने चिन्तामणि पाकर कौवे को उड़ाने के लिये फेक दिया और अमृत से भरे घड़े को पादप्रक्षालन के काम में ले लिया।

श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज ने 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' ग्रंथ में लिखा है— सम्यग्ज्ञानी अपने स्वभाव से ही सर्व रागादि भावों से भिन्न अपने को अनुभव करता है, इसलिये कर्मों के मध्य पड़े रहने पर भी कर्मबन्ध से नहीं बंधता है। यह आत्मज्ञान की महिमा है।

श्री अमितगति स्वामी 'तत्त्वभावना' में लिखते हैं— जो कोई परमार्थस्वरूप को बताने वाली, उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन को देने वाली, मोक्षरूपी लक्ष्मी की दूती के समान अनुपम जिनवाणी को पढ़ते हैं, सुनते व उस पर रुचि करते हैं, ऐसे सज्जन इन कषायों के दोषों से मलिन लोक में दुर्लभ हैं—कठिनता से मिलते हैं और जो इस जिनवाणी के अनुसार आचरण करने की उत्तम बुद्धि करते हैं, उनकी बात क्या कही जावे? वे तो महान दुर्लभ हैं। ऐसी परोपकारिणी जिनवाणी को समझकर उसके अनुसार यथाशक्ति चलना हमारा कर्तव्य है। जिनवाणी की महिमा को प्रदर्शित करने वाला दृष्टांत है—

एक ग्राम में एक ग्वाला एक सेठ जी की गायें चराने जंगल में जाया करता था। एक दिन उस ग्वाले ने देखा कि जंगल में आग लगी हुई है, सारे वृक्ष धू-धू करके जल रहे थे और बीच में एक वृक्ष बचा हुआ था। उसे उत्सुकता हुई कि यह वृक्ष कैसे बच गया। उसने करीब जाकर देखा कि वृक्ष के कोटर में एक ग्रंथ रखा है। उसने सोचा कि इस ग्रंथ के कारण ही यह वृक्ष बच गया है, अवश्य ही यह कोई महत्वपूर्ण ग्रंथ है। वह उसे उठा लाया। एक दिन उस ग्राम में एक मुनिराज आहारचर्या के लिए आए। आहार के बाद उस ग्वाले ने वह ग्रंथ उन मुनिराज को भेंट कर दिया, जिससे अर्जित पुण्य के प्रभाव से वह

गवाला उसी सेठ के घर पुत्र रूप में जन्म लेकर बचपन में ही दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर लेता है और शास्त्रों का पारगामी मुनि बन जाता है।

इस आत्मा को आवश्यक है कि ज्ञानामृत का पान करे, जिससे अज्ञानजन्य संताप शान्त हो जाये। जितना भी जीव को संताप है, वह सब अज्ञान का फल है। सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से राग, द्वेष, मोह मिटता है, समताभाव जाग्रत होता है, आत्मा में रमण करने का उत्साह बढ़ता है, स्वानुभव जागृत होता है, यह जीवन परम आनन्दमय हो जाता है।

जिसके हृदय में जिनभक्ति रूप प्रभाकर प्रकाशमान होता है, वह सम्पूर्ण जिनवाणी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखता है। वह सभी आर्ष ग्रंथों पर पूर्ण श्रद्धा रखता है। चारों अनुयोग, आप्त की वाणी होने से समान रूप से सम्यग्दृष्टि के द्वारा पूज्य तथा वन्दनीय होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने 'अष्टपाहुड़' ग्रंथ में लिखा है—

जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुहविरेयण अमिदभूयं।

जन—मरण—वाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।17।।

यह जिनवचनरूपी औषधि विषयसुख को दूर करनेवाली है, अमृतरूप है, जरा और मरण की व्याधि को हरनेवाली है तथा सब दुःखों का क्षय करनेवाली है।।17।।

जिनवाणी दीपक के समान है, जिसके प्रकाश में हम अपनी खोई हुई आत्म—निधि को ढूँढ़ सकते हैं। जिनवाणी हमें प्रकाश देती है, हमें ज्ञान देती है, जिसके सहारे हम भीतर झाँकें, अपने आत्मस्वरूप को पहचानें तो हमारा खोया हुआ आत्मसुख प्राप्त हो सकता है। जैसे नदी में घाट बनाये जाते हैं, जहाँ से नदी को आसानी से पार किया जा सकता है, ऐसे—ही जिनवाणी संसार—सागर से पार करानेवाली है। सब जीवों का उद्धार करानेवाली और सब जीवों को दुःख से बचानेवाली है।

जिनवाणी की अनेक विशेषताएँ हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने शीतलनाथ भगवान् की स्तुति करते हुये लिखा है —

न शीतलाश्चंदन चंद्ररश्मयो, न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।

यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः, शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्॥

हे भगवान्! संसार में चंदन को शीतल माना है, चाँदनी को शीतल माना है, पर वास्तव में ये शीतलता देनेवाले नहीं हैं। इनसे आत्मा को शीतलता नहीं मिलती। ये तो शरीर मात्र को क्षणिक शीतलता देनेवाले पदार्थ हैं। संसार में एकमात्र आपकी निर्दोष पवित्र वाणी है, जो हम सब दुःख से संतप्त जीवों को शाश्वत शीतलता देनेवाली है। जिनवाणी ही हमें वास्तविक शान्ति और शीतलता देनेवाली है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— “पीयूष है विषय—सौख्य विरेचना है, पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है। भाई! जरा—जनम—रोग निवारती है, संजीवनी सुखकरी जिनभारती है।” जिनवाणी तो अमृत स्वरूप है, जिसका सेवन करने से यानी जिसका अभ्यास करने से अनादिकाल से चली आ रही संसार की वेदना मिट जाती है। भौतिक—सुखों से विरक्ति हो जाती है और जनम—मरण व बुढ़ापे से सदा के लिए छुटकारा हो जाता है, शाश्वत—सुख की प्राप्ति हो जाती है।

जिनवाणी के प्रति अनुराग रखने से, उसका सही—सही अभ्यास करने से हमारा जीवन सहज व सरल बनता है। जिनवाणी हमें खोटेमार्ग पर जाने से बचा लेती है। वह हमारा सही मार्गदर्शन करती है। हम अपनी अज्ञानता और आसक्ति के कारण संसार में भटक गये हैं— इस बात का अहसास जिनवाणी के अभ्यास से ही होता है। अपने स्वभाव और अपनी अनन्त—शक्ति का अनुभव हम तभी कर सकते हैं जब अपने जीवन को जिनवाणी के अनुरूप बनायें। किसी व्यक्ति को एक नक्शा मिला जिसमें किसी स्थल पर गड़े एक खजाने का विवरण है, उसने उस नक्शे का अच्छी तरह अध्ययन करके नक्शे को समझ लिया। परन्तु इतना काम करने मात्र से उसे धन की प्राप्ति नहीं हो सकेगी, धन की प्राप्ति तो उसे तभी होगी जब वह नक्शे के द्वारा इंगित किये गये स्थल पर पहुँचकर खोदना शुरू करे और तब तक खोदता चला जाये जब तक कि वह गड़े हुए धन तक न पहुँच जाये। इसी प्रकार हमें भी जिनवाणी रूपी नक्शे

के द्वारा तत्त्व की खोज करनी है और तब तक खोजते चले जाना है जब तक कि उस निज-तत्त्व की प्राप्ति न हो जाये।

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का प्रथम सोपान है। आचार्य मनुष्यपर्याय की दुर्लभता बताते हुये लिखते हैं—

आयुषः क्षण एकोपिऽनलभ्यः स्वर्गा कोटिभिः।

च चेन्निरर्थको नितिः को नु हानिस्ततोऽधिकाः॥

आयु का एक क्षण भी करोड़ों स्वर्णमुद्राओं से खरीदकर रोका जाय तो नहीं रुक सकता। अर्थात् आयुकर्म समाप्त हो जाने पर एक पल का समय नहीं मिल सकता। ऐसे अनमोल समय को हम व्यर्थ खोते जा रहे हैं, इससे बढ़कर हम लोगों की कोई दूसरी हानि नहीं हो सकती। अतः सम्यग्दर्शन के इन सोपानों पर क्रमशः आगे बढ़ते हुये सम्यग्दर्शन को प्राप्त करो।

-----00-----

सम्यग्दर्शन का द्वितीय सोपान तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान

आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के पहले अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् तत्त्वों के अर्थ का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

जिवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। 'छहढाला' में पंडित दौलतरामजी ने लिखा है —

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बंध रु संवर जानो।

निर्जर मोक्ष कहे जिन तिन को, ज्यों—का—त्यों सरधानो।

है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो।

तिनको सुन सामान्य विशेषै, दृढ़ प्रतीति उर आनो।।

जिनेन्द्र भगवान् ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व जैसे कहे हैं, उसी प्रकार श्रद्धा करना, सो वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सामान्य से और विशेष से उन सात तत्त्वों का स्वरूप कहेंगे, उनको सुनकर अन्तर में उसकी दृढ़ प्रतीति करना चाहिए।

अपने आत्मस्वरूप के जानने के लिये सात तत्त्वों का ज्ञान करना अनिवार्य है। जैनदर्शन में सात तत्त्वों का उतना ही महत्व है, जितना ज्ञान के लिये किसी भी भाषा की वर्णमाला का। ये जैनधर्म के क, ख, ग हैं। इनको ठीक—ठीक जाने बिना आत्मा की कर्म की बीमारी नहीं मिट सकती और सच्चा

सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

जीव तत्त्व — जो चेतना सहित होता है, उसे जीव कहते हैं। जीव तीन प्रकार के होते हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर और आत्मा को एक ही मानते हैं, वे तत्त्वों को नहीं जानने वाले अज्ञानी बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि जीव हैं। जो आत्मा के स्वरूप को जानते हैं, वे आत्मज्ञानी अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि जीव हैं। जो जीव व्यक्ति से पूर्ण सर्वज्ञ, वीतराग व शुद्ध हो गये हैं, वे परमात्मा हैं।

एक ही आत्मा में ये तीनों अवस्थायें हो सकती हैं। जब तक आत्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, तब तक बहिरात्मा है। जब मिथ्यात्व व अज्ञान को मेटकर वह सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी होता है, तब अन्तरात्मा है। जब सारे कर्मबन्धनों का नाश कर शुद्ध हो जाता है, तब परमात्मा है।

बहिरात्मपना अर्थात् मिथ्यादृष्टि व अज्ञानपना सब तरह से त्यागने योग्य है, क्योंकि उस दशा में प्राणी अपने स्वरूप को व सच्चे सुख को न जानकर इन्द्रियों की इच्छाओं के वश पड़ा हुआ रात-दिन उन्हीं की प्राप्ति के यत्न में मग्न रहता है तथा इन्द्रियविषयों के पदार्थों के संग्रह में बड़ा भारी शोक करता है। यह बहिरात्मा जीव पंचेन्द्रिय के विषयों में लिप्त होकर क्षणभंगुर सुख को ही शाश्वत सुख मानकर आनन्द मानता है। जो देह के पोषण में लगा हुआ है, वह बहिरात्मा है। जिसे आत्मा के प्रति आस्था नहीं है और बाहर-ही-बाहर भटक रहा है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव है। उसकी आत्मा परिग्रह में अटकी रहती है।

एक बार एक किसान ने अपने पशुओं के लिये खेत में भूसा इकट्ठा किया और एक बड़ा-सा गट्ठा बनाकर सिर पर रखकर अपने घर की ओर चल पड़ा। रास्ते में एक नदी पड़ती थी। वह बरसाती नदी थी, जिसका पाट काफी लम्बा-चौड़ा था। किसान नदी में से जा रहा था, इतने में नदी में तेजी से पानी आ गया। बीच में पहुँचते-पहुँचते उसके सीने तक पानी आ गया, लेकिन फिर भी किसान ने हिम्मत नहीं हारी। आखिर यहाँ तक नौबत आई कि उसे गठरी सहित पानी में तैरना पड़ा। पर इसी बीच पानी के तेज प्रवाह के

कारण गठरी खुल गई और भूसा नदी में तैरने लगा। फिर भी किसान ने हिम्मत नहीं हारी। वह दौड़-दौड़ कर भूसा इकट्ठा करने लगा तथा कहने लगा कि बाढ़ चाहे जैसी हो, मैं भूसे को नहीं बिखरने दूँगा। किसान अपने जीवन की परवाह किये बिना भूसे को इकट्ठा करने में लगा रहा, पर उसे असफलता ही हाथ आई। अज्ञान के कारण यह मोही बहिरात्मा जीव परपदार्थों की आसक्ति के कारण व्यर्थ ही संसार में भटक रहा है। अतः अब स्व-पर का विवेक प्राप्त करके मिथ्यात्व को छोड़कर अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि बनना चाहिये।

मिथ्यात्व संसार का मूल है। मिथ्यात्व वह कहलाता है कि जो बात जैसी नहीं है, उसको उस प्रकार मानें। यह शरीर अपना नहीं है, पर इसे मानें कि यह मैं हूँ, तो मिथ्यात्व है। परिजन, परिवार मैं नहीं हूँ, लेकिन यह बहिरात्मा जीव मोह के कारण उन्हें अपना मानता है और दिन-रात उन्हीं की चिन्ता में लगा रहता है। यह मोह ही संसारभ्रमण का कारण है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने एक घटना सुनाई थी, यह घटना सन् 1975 की है। महाराष्ट्र के पूना शहर में एक बार बाढ़ आ गई। पानी कहाँ तक फैलेगा, कहा नहीं जा सकता। सभी को सावधान कर दिया गया व अपनी सुरक्षा स्वयं करने की सूचना भिजवा दी गई। लोग अपनी-अपनी सुरक्षा में लग गये, किन्तु एक परिवार इस बाढ़ की चपेट में आ गया। समाचार मिलने के उपरान्त भी वह सचेत नहीं हुआ।

जो लोग सूचना मिलते ही घर छोड़कर चले गये थे, वे पार हो गये और जिसने समाचार सुनकर भी अनसुना कर दिया था, वह चिंतित हो गया। वह पत्नी से कहता है कि अब हम इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चलें तो ठीक रहेगा, क्योंकि पानी ज्यादा बढ़ रहा है। पत्नी कहती है कि ठीक है, मैं बच्चों को लेकर जाती हूँ, आप भी शीघ्रता करिये।

पत्नि बड़े साहस के साथ दोनों बच्चों को साथ लेकर पार हो जाती है और वह व्यक्ति सोचता है कि क्या करूँ, क्या-क्या सामान बाँध लूँ? कहाँ-कहाँ क्या-क्या रखा है, वह उसे खोजने में लग जाता है और पानी की मात्रा बढ़ती जाती है। वह सोचता है कि मैं अपना यह सब सामान छोड़कर कैसे जाऊँ? वह

जान रहा है, देख रहा है, कि पानी बढ़ रहा है, पर जानता हुआ भी अंधा बना हुआ है।

जानबूझकर अंध बने हैं, आँखन बाँधी पाटी।

जिया! जग धोखे की है टाटी।।

संसारी प्राणी की यही दशा है। काल के गाल में जाकर भी सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहता है। वह व्यक्ति धन—सामग्री को लेकर जैसे ही आगे बढ़ता है, नदी के प्रवाह में बहने लगता है। देखते—देखते नदी के प्रवाह में उसका मरण हो जाता है। लेकिन मरणोपरान्त भी उसके हाथ से पोटली नहीं छूटती, जिसमें उसने सामान एकत्रित किया था। दूसरे दिन शव के साथ पोटली भी मिलती है तो सभी लोग दंग रह जाते हैं। यह तीव्र मोह का परिणाम है।

मोह को जीतना मानवता का दिव्य अनुष्ठान है। इसके सामने महान योद्धा भी अपना सिर टेक देते हैं। विश्व का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो मोह की चपेट में न आया हो, लेकिन इसके रहस्य को जानकर, इस मोह की माया को जानकर जो व्यक्ति इसके ऊपर प्रहार करता है, वह अन्तरात्मा इस संसाररूपी बाढ़ से पार हो जाता है। यह घटना उस समय लोगों ने अखबारों में पढ़ी की पत्नि और बच्चे सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये, लेकिन मोह के कारण वह व्यक्ति बह गया।

प्रत्येक प्राणी जानता है कि मोह हमारा बहुत बड़ा शत्रु है, लेकिन मोह से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। वह दूसरे को उपदेश दे देता है लेकिन खुद सचेत नहीं होता। यही तो खूबी है इस मोह की। इस घटना को पढ़कर लगता है कि बढ़िया तो यही है कि बाढ़ आने से पूर्व वहाँ से दूर चले जायें। क्योंकि जब बाढ़ आयेगी तो प्रवाह इतना तीव्र रहेगा कि इससे हम बच नहीं सकेंगे। जानते हुये भी वहीं रहे आना, इसे आप क्या कहेंगे? यह मोह से प्रभावित होना है, यह स्वयं की असावधानी है। जान—बूझकर अन्ध बननेवाली बात है।

जो व्यक्ति मोह के बारे में जानते हुये भी उससे बचने का प्रयास नहीं करता, वह संसारसागर में डूबता है और जो व्यक्ति मोह से बचने का निरन्तर प्रयास करता है, वह पार हो जाता है। जिसने भी मोह को छोड़कर रत्नत्रय

धर्म को धारण किया, उससे बढ़कर महान व्यक्ति इस संसार में दूसरा नहीं है। दुःखों की जड़ यह मोह ही है। यदि अपना कल्याण करना चाहते हो तो शरीर को अपने से पृथक् जानकर उसके प्रति मोह/ममता घटाना चाहिये और चेतन आत्मा के प्रति निरन्तर प्रीति बढ़ाना चाहिये। आचार्य समझा रहे हैं— यदि मोह को क्षीण करना चाहते हो तो पर-पदार्थों से भिन्न आत्मतत्त्व को पहचान लो।

बहिरात्मपने को हेय जानकर छोड़ देना चाहिये और शरीर व आत्मा के भेद को समझकर अन्तरात्मा बनना चाहिये। जो समस्त कर्मों से भिन्न आत्मा के स्वरूप को पहचान लेता है, उसे कभी भी शरीर व कर्म में आत्मपने की भ्रांति नहीं होती। ऐसा अन्तरात्मा ही भेदज्ञानी महात्मा कहलाता है। वह अपनी आत्मा का अनुभव किया करता है। वास्तव में स्वानुभव ही वह मंत्र है जिस मंत्र के प्रभाव से राग-द्वेषादि सर्पों का विष उतर जाता है।

तत्त्वों को जानने व श्रद्धान करने से ही हमें अपनी आत्मा के सच्चे हित का ज्ञान हो सकता है और हम अपनी आत्मा को पवित्र कर सकते हैं। जैसे मैले कपड़े को उस समय तक शुद्ध नहीं किया जा सकता जब तक हमें यह ज्ञान न हो कि यह कपड़ा किस कारण से मैला है व इस मैल को धोने के लिये किस मसाले की जरूरत है। उसी तरह यह अशुद्ध आत्मा उस समय तक शुद्ध नहीं किया जा सकता जब तक हमें यह ज्ञान

न हो कि यह आत्मा किस कारण से अशुद्ध है व इसे किस प्रकार से शुद्ध किया जा सकता है। इसी प्रयोजनभूत बात को समझने के लिए भगवान् ने ये जीवादि सात तत्त्व बताये हैं। जीव मुक्त व संसारी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जिन्होंने आठों कर्मों को नष्ट कर दिया है, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं। जो जीव कर्मों सहित हैं, उन्हें संसारी जीव कहते हैं।

अजीव तत्त्व —

जो ज्ञान-दर्शन चेतना से रहित हो, वह अजीव तत्त्व कहलाता है। जीवद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) अजीव हैं, इनमें चेतना नहीं होती।

आस्रव तत्त्व —

राग—द्वेष आदि भावों के कारण पुद्गल कर्मों का खिंचकर आत्मा की ओर आना आस्रव कहलाता है।

जैसे किसी नाव में छेद हो जाने पर पानी आने लगता है, वैसे ही कर्म आत्मा की ओर आते हैं। अथवा जिस प्रकार गरम लोहा पानी को खींच लेता है, उसी प्रकार जीव अपने योग और भावों के द्वारा कर्मों को अपनी ओर खींच लेता है। वही आस्रव है।

बन्ध तत्त्व —

राग—द्वेष के निमित्त से आये हुये शुभ और अशुभ पुद्गल कर्मों का आत्मा के साथ दूध और पानी के समान मिलकर एकमेक हो जाना 'बन्ध' कहलाता है।

जैसे नाव में छेद द्वारा पानी आकर इकट्ठा हो जाता है, वैसे ही कर्म आकर आत्मा के साथ बंध जाते हैं।

आस्रव व बन्ध के 57 कारण हैं :-

मिथ्यातत्त्व, 12 अविरति, 25 कषाय और 15 योग। मुक्ति प्राप्त करने के लिये इन आस्रव व बन्ध के कारणों से बचना अनिवार्य है।

संवर तत्त्व —

आस्रव का रुकना अर्थात् आते हुये कर्मों का रुकना 'संवर' कहलाता है। जैसे जिस छेद से नाव में पानी आ रहा है, उस छेद में डाट लगाकर पानी का आना बन्द कर दिया जाता है, वैसे ही कषायों के शमन से और इन्द्रिय व मन और पर नियंत्रण रखने से कर्मों का आना रुक जाता है, इसे संवर तत्त्व कहते हैं।

संवर के 57 कारण हैं —

3 गुप्ति, 5 समिति, 10 धर्म, 12 अनुप्रेक्षा, 22 परीषह जय और 5 चारित्र। ये 57 संवर के उपाय हैं।

निर्जरा तत्त्व —

आत्मा के साथ बंधे हुये कर्मों का एकदेश (थोड़ा भाग) क्षय हो जाना 'निर्जरा' कहलाती है।

जैसे नाव में छिद्र के द्वारा आकर जो पानी भर जाता है, वह थोड़ा-थोड़ा करके बाहर निकाल दिया जाये, वैसे ही आत्मा के साथ बंधे हुये कर्मों को तपश्चरण द्वारा या स्थिति की पूर्णता द्वारा आत्मा से जुदा कर दिया जाता है, वह 'निर्जरा' कहलाती है। जो निर्जरा तपश्चरण द्वारा की जाती है, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। जो निर्जरा कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर होती है, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं।

मोक्ष तत्त्व —

ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का क्षय होकर आत्मा का पूर्णतः शुद्ध हो जाना 'मोक्ष' कहलाता है। जैसे नाव में आये पानी को निकालकर नाव को साफ कर दिया जाता है, उसी प्रकार संवरपूर्वक निर्जरा होते-होते जब सब कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है और केवल आत्मा का शुद्ध स्वरूप रह जाता है, तब वह आत्मा ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से तीनलोक के ऊपर सिद्धशिला पर जाकर विराजमान हो जाता है, इसी का नाम मोक्ष है। वे सिद्ध भगवान् अनन्त गुणों सहित व जन्म-मरण आदि समस्त दोषों से रहित होते हैं।

इन 7 तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। तत्त्वों को जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष नहीं हो सकता, नींव के बिना मकान नहीं बन सकता, एक अंक के बिना शून्य का कोई महत्व नहीं होता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।

जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जाने बिना स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं हो सकता कि स्व क्या है, पर क्या है। अनादिकाल से इस विकट भव-वन में क्यों भटक रहे हैं, राग-द्वेष क्यों होते हैं, अभी तक सम्यक्त्व की प्राप्ति क्यों नहीं हुई, पर को अपना हम क्यों मानते रहे? इन सभी का ज्ञान इन सात तत्त्वों का अभ्यास करने पर होता है। जिस प्रकार गाय-भैंस दिनभर चारा खाती हैं, एवं रात-भर चबाती हैं (जुगाली करती हैं), ठीक उसी प्रकार इन तत्त्वों का मनन-चिंतन कर उसे अमृततुल्य समझकर पान करना चाहिए।

एक बार की बात है, रात्रि में एक दिन अरविन्द कुमार के मन में बैठे-बैठे विचार आया कि ससुराल बहुत दिनों से नहीं गये, कल वहाँ जाऊँगा। वहाँ

अच्छा—अच्छा खाने को मिलेगा। वह घर में अपनी पत्नी से कहकर चला गया एवं ससुराल में जा पहुँचा। सास ने सामने जमाई को आते देखा तो बाह्य में दिखावटी आनन्द मनाने लगी एवं मन में विचार करने लगी कि आज कोई ऐसी चाल चली जाये, जिससे जमाई के लिये खीर, जलेबी वगैरह न बनानी पड़ें। लोभी सास अपने जमाई के पास आकर अपनी बेटी का समाचार पूछने लगी और कहने लगी—जमाई साहब! आप इतने कमजोर क्यों हो गये? क्या कोई पेट में दर्द वगैरह है? आप उदास भी दिख रहे हो। आप बिलकुल किसी बात की चिन्ता मत करो। मैं आपके लिए बिलकुल हल्का भोजन बनाऊँगी।

कुछ ही समय में सास ने खिचड़ी बनाकर जमाई को भोजन करने के लिए बिठा दिया। जमाई सोचते हैं— अरे! यहाँ तो केवल खिचड़ी मिल गई और इसमें घी भी नहीं। सास ने कहा— जमाई साहब! आप भोजन धीरे—धीरे क्यों कर रहे हैं? क्या खिचड़ी गर्म है? अरविन्द कुमार ने कहा कि नहीं, मेरी माँ जब भी खिचड़ी बनाती है तो उसमें घी भी डालती है। सास ने उसी समय पास में रखे हुये घी के बर्तन को थाली में उल्टा कर दिया, परन्तु घी की एक बूँद भी नहीं गिरी, क्योंकि घी जमा हुआ था। जमाई की बुद्धि तेज थी। उन्होंने सास से पीने के लिए पानी माँगा। वह जब तक पानी लेने अन्दर गई, उसने घी का बर्तन जलती हुई आग के ऊपर गर्म करके रख दिया। और फिर से धीमे—धीमे भोजन करना शुरू कर दिया तो वह कहने लगी कि घी और दूँ क्या? जमाई ने हाँ भर दी। उसने जैसे—ही घी का बर्तन उल्टा किया, उसी समय सारा घी थाली में गिर गया। सास के मन में बड़ा धक्का लगा कि अब क्या करना चाहिये? सास जमाई से कहने लगी कि हमारे यहाँ की रीति है कि सास जमाई के साथ बैठकर भोजन करती है। उसने कहा— 'कोई बात नहीं, बैठ जाइये।' सास कहने लगी कि लालाजी! आपकी माँ मेरी बेटी को गाली देती है, लड़ती है तो आप अपनी माँ को समझाते नहीं? ऐसा कहते हुये सब घी अपनी ओर कर लेती है। लालाजी ने कहा कि आपकी बेटी को घर की बात बाहर नहीं बताना चाहिये, घर की बातें घर में ही इस तरह पी जाना चाहिये— थाली उठाई और सब घी को पी लिया। सास देखती रह गई।

इसी प्रकार इन तत्त्वों का अभ्यास करने से जो आत्मज्ञान रूपी अमृत प्राप्त हो, उसे इसी प्रकार पी जाना चाहिए।

आचार्य समझा रहे हैं कि तत्त्वज्ञान के अभाव में ही संसारी प्राणी अपनी आत्मा को भूलकर मोहरूपी निद्रा में सो रहे हैं। अतः तत्त्वज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्मा को पहचानो, उसी में रुचि करो, रत हो जाओ, तो तुम्हें स्वयं ही महान अनुपम स्वाभाविक सुख प्राप्त होगा। यह आत्मा अचिंत्य शक्ति वाला है। यदि इस आत्मरहस्य की बात को अभी नहीं समझोगे, तो और कब समझोगे? कुछ ही समय बाद आत्मा तो इस शरीर से विदा लेकर नये शरीर में चला जायेगा। यदि असंज्ञी पर्याय पाई, तब तो गये—बीते ही हो गये, फिर क्या है? कोई पूछने वाला ही नहीं। यही मनुष्य पर्याय श्रेष्ठ पर्याय है, अतः अभी इन तत्त्वों का अच्छे प्रकार से अभ्यास कर, पर से भिन्न अपनी आत्मा को पहचान कर, उसी में रमण करो। यदि सुख चाहते हो तो ऐसा करो, यदि नहीं चाहते हो तो जैसा चाहो वैसा करो। हम लोग भगवान् को तो मानते हैं, पर भगवान् की बात को नहीं मानते। कोई अपने पिताजी को मानता हो, पर उनकी बात को न मानता हो, तो उसे क्या मिलेगा? कुछ भी नहीं। इसी प्रकार यदि हम भगवान् के द्वारा बताये गये इन तत्त्वों को नहीं जानेंगे, नहीं मानेंगे, तो इस संसाररूपी दलदल में ही फँसे रहेंगे। अतः अब तो संसार में भटकना छोड़कर तत्त्वों का अभ्यास करने में अपने मन को लगाओ। जरा विचार करो, यदि हमने अपनी आत्मा को जाने बिना ही अपने इस भव को समाप्त कर दिया, तो परभव में मेरा क्या होगा?

एक नगर में एक वृद्ध जौहरी रहता था। वह रत्नों की परीक्षा करने में बहुत होशियार था। एक बार एक परदेशी जौहरी एक मूल्यवान रत्न लेकर आया और वहाँ के राजा से कहा कि आप अपने यहाँ के जौहरियों से इसका मूल्यांकन कराइये। राजा ने जौहरियों को बुलाकर आदेश दिया, किन्तु कोई भी उस रत्न का मूल्यांकन न कर सका। अन्त में जब राजा ने उस वृद्ध जौहरी को बुलवाया, तब उस वृद्ध जौहरी ने रत्न का बिलकुल सही—सही मूल्यांकन कर दिया। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और मंत्री जी को उन्हें इनाम देने के लिए कहा।

मंत्री जी बोले— हम कल इनाम की घोषणा करेंगे।

रात्रि में मंत्री ने उस जौहरी को बुलाकर पूछा कि जौहरी जी! आप इन रत्नों की परीक्षा करना तो सीखे, किन्तु इस देह से भिन्न चैतन्य रत्न को कभी पहचाना कि नहीं?

जौहरी बोला— नहीं, मुझे चैतन्य रत्न की परीक्षा करना नहीं आता। मंत्री बोला— “अरे जौहरी! तुम अस्सी वर्ष के हो गये हो, तुम्हारी मृत्यु का समय निकट आ गया है और इस मनुष्यभव में अभी तक तुमने अपने चैतन्य रत्न को पहचानने के लिए कुछ नहीं किया। इन जड़ रत्नों की तो परख की, किन्तु चैतन्य रत्न की परख नहीं की, तो यह अमूल्य मनुष्यभव पूरा होने पर आपकी आत्मा का डेरा कहाँ होगा? ऐसी सीख देकर उस समय जौहरी को विदा कर दिया और दूसरे दिन दरबार में आने को कहा।

दूसरे दिन दरबार लगा है, राजा और मंत्री बैठे हैं, जौहरी भी आया है। राजा ने मंत्री को आज्ञा दी कि अब इन जौहरी जी को इनाम की घोषणा करो।

मंत्री ने खड़े होकर कहा कि, महाराज! इन जौहरी जी को मैं सात जूते मारने के इनाम की घोषणा करता हूँ। मंत्री की बात सुनकर राजा सहित सारी सभा आश्चर्यचकित हो गई। उसी समय जौहरी स्वयं खड़ा हुआ और बोला— महाराज! जो कुछ मंत्री जी कह रहे हैं, वही सच है। अरे! मुझे तो सात नहीं, चौदह जूते मारे जाना चाहिए। जौहरी की बात सुनकर सबको विशेष आश्चर्य हुआ। अंत में जौहरी ने स्पष्टीकरण किया कि हे राजन्! मंत्री जी के कथनानुसार मैं जूतों के ही योग्य हूँ, क्योंकि मैंने अपना जीवन आत्मज्ञान के बिना यों ही गँवा दिया। मैंने इन जड़ रत्नों को परखने में अपना अब तक का सारा जीवन बिता दिया, किन्तु अपने चैतन्य रत्न की कभी परख नहीं की। यह भव पूरा होने पर मेरा क्या होगा? इसका मैंने कभी विचार ही नहीं किया। मंत्री जी ने मेरे लिये सात जूतों के इनाम की घोषणा करके मुझे आत्महित कि लिए जाग्रत किया है, इसलिये वे मेरे गुरु के समान हैं। हम लोगों ने भी शरीर आदि की चिन्ता तो की, पर मेरी आत्मा का कल्याण कैसे हो, इसका विचार कभी नहीं किया।

जिसे अपने आत्मकल्याण की लगन हो, उसे इन सात तत्त्वों का अभ्यास

करके इन जड़पदार्थों की आसक्ति को छोड़ देना चाहिए। आचार्यों ने अनेक दृष्टान्त देकर इन तत्त्वों को समझाने का प्रयास किया है।

जिस प्रकार किसी मकान में कोई मनुष्य रहता है। पुरुष को समझो जीव। उस घर को समझो अजीव। उसी प्रकार इस कमरूपी शरीर में आत्मा जीव है और शरीर अजीव है। अब इस मनुष्य के मकान में एक घण्टी लगी है, वह उस घण्टी को बजाकर मेहमानों को बुलाता है। घण्टी बजी, मेहमान आने शुरू हो गये, एकदम आते जा रहे हैं, क्योंकि घण्टी बार-बार बजाई जा रही है। मेहमान आने से क्यों हटें, जब उनको बुलाया जा रहा है? उस मनुष्य के यहाँ तो मेहमान आ रहे हैं, लेकिन आत्मा में क्या आ रहे हैं? कर्म आ रहे हैं। राग-द्वेष तो हुए मन के द्वार, निमंत्रण वचन हुए घण्टी तथा काय हुई कमरा, इन तीनों के द्वारा ही तो मेहमान आते हैं अर्थात् आस्रव होता है। उस मनुष्य को कुछ होश आया, अरे! ये तो जम कर बैठते जा रहे हैं— यह हुआ बन्ध तत्त्व। उसने विवेक से सोचकर मन-वचन-कायरूपी दरवाजे बन्द कर दिये, यह हुआ संवर तत्त्व। मेहमान आने बन्द हो गये। अब वह सोचता है कि बाहर से मेहमान आना बन्द हो गये, लेकिन अभी अन्दर काफी मेहमान जमे बैठे हैं। अब उसने उनको कठोर वचन बोलना शुरू कर दिया, जिससे वे मेहमान उठ-उठकर जाने लगे, यह हुई निर्जरा। जब सब मेहमान चले गये, तब उसे जहाँ जाना था वहाँ चला गया, यह हुआ मोक्ष तत्त्व। इन तत्त्वों को समझकर इन पर श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। आगे इन तत्त्वों का विशेष वर्णन किया जा रहा है।

जीव तत्त्व

सात तत्त्वों में 'जीव तत्त्व' सबसे प्रधान तत्त्व है। चेतना इसका मुख्य लक्षण है। समस्त सुख-दुःख की प्रतीति इस चेतना से ही होती है। इसी चेतना के आधार पर समस्त जड़द्रव्यों से इसकी अलग पहचान होती है। इसीलिये चेतना को इसका लक्षण कहा गया है। 'चेतना लक्षणो जीवः।' जीव की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि—जिनमें द्रव्यप्राण या भावप्राण हैं, उसे जीवतत्त्व कहते हैं। जिसमें एक भी प्राण नहीं होता, वह अजीव कहलाता है।

ज्ञान और दर्शन या जानने और देखने की शक्ति ये दो भावप्राण हैं तथा 5 इन्द्रियाँ, 3 बल (मनोबल, वचनबल, कायबल) आयु और स्वासोच्छ्वास ये 10 द्रव्यप्राण हैं। प्राणों के आधार पर जीने के कारण जीव को 'प्राणी' भी कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने 'भावप्राभृत' में कहा है—

कत्ताभोइ अमुत्तो सरीरमित्तो आणाइणिहणो य।

दंसणणाणुवओगो णिद्धिट्ठो जिणवरिंदेहिं॥

श्री जिनेन्द्रदेव ने जीव को कर्ता, भोक्ता, अमूर्त, शरीर—प्रमाण, नित्य तथा दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग का धारक कहा है। जीव के प्रकारों का वर्णन करते हुये पंडित श्री दौतलराम जी ने लिखा है—

बहिरातम अन्तर आतम, परमातम जीव त्रिधा है।

देह जीव को एक गिनै, बहिरातम तत्त्व मुधा है॥

उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के, अन्तर आतम ज्ञानी।

द्विविध संग बिन शुध उपयोगी, मुनि उत्तम निज ध्यानी॥ 4॥

(छहढाला)

जीव तीन प्रकार के होते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, वे तत्त्वों को नहीं जानने वाले अज्ञानी बहिरात्मा

हैं। ऐसे जीव अनादिकाल से जन्म—मरण के दुःख सहन करते हुये संसार—सागर में गोता खा रहे हैं।

जो आत्मा के स्वरूप को जानते हैं, वे आत्मज्ञानी अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव हैं। अन्तरात्मा के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम एवं जघन्य। तीनों प्रकार के अन्तरात्मा अनन्त संसार से विमुख, जन्म—मरण के दुःख से भयभीत तथा संसार, शरीर, भोगों से विरक्त रहकर निरन्तर यथार्थ वस्तु स्वरूप को प्राप्त करने की भावना में तन्मय रहते हैं, यानि मोक्षमार्ग पर बढ़ते रहते हैं। जो समस्त अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित शुद्धोपयोगी आत्मध्यानी मुनिराज हैं, वे उत्तम अन्तरात्मा हैं। वे अतीन्द्रिय आत्मिक सुख का पान करते हैं। जो जीव व्यक्ति से पूर्ण सर्वज्ञ, वीतराग व शुद्ध हो गये हैं, वे परमात्मा हैं।

बहिरात्मा जीव कुटुम्ब—परिवार, मकान, दुकान आदि को ही अपना सबकुछ समझते हैं, जिसके फलस्वरूप संसार की चारों गतियों में ही दुःख उठाते हुये भटकते रहते हैं। उन्होंने तो संसार में बहुत समय तक रुकने की रजिस्ट्री करवा ली है। बहिरात्मपना सब तरह से त्यागने योग्य है, क्योंकि उस दशा में प्राणी अपने स्वरूप को व सच्चे सुख को न जानकर इन्द्रियों की इच्छाओं के वश में पड़ा हुआ रात—दिन उन्हीं की तृप्ति के यत्न में मग्न रहता है तथा इन्द्रिय विषयों के पदार्थों के संग्रह करने में बड़ी भारी तृष्णा रखता है और उन पदार्थों के संयोग में भारी हर्ष तथा उनके वियोग में भारी शोक करता है। वह रोगादि दुःख होने व मरण होने पर बहुत क्लेशित होता है। स्त्री, पुत्रादि के मोह में पड़कर उनके लिये न्याय व अन्याय किसी भी बात का विचार न करके पैसे लाता है। उद्यम तो बहुत करता है, पर मरते समय तक भी आशा को पूरी नहीं कर पाता, किन्तु बड़ी—चढ़ी आशा को लिये हुये आर्त व रौद्र ध्यान से मरण कर पशु आदि छोटी योनियों में पहुँच जाता है। उसका वर्तमान जीवन भी दुःखी व भविष्य का जीवन भी दुःखी होता है।

बहिरात्मा व्यक्ति धन को ही सबकुछ समझता है। वह धन कमाने में ही अपनी इस दुर्लभ पर्याय को समाप्त कर देता है। पर ध्यान रखना, दुःख से छूटने और सुख प्राप्त करने का उपाय धन नहीं, धर्म है। जिस धन को कमाने

के लिए हमने दिन-रात एक किये हैं, उस सम्पत्ति का जीवन में धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

नानक जी एक गाँव में ठहरे हुये थे। वहाँ के एक बहुत बड़े सम्पत्तिशाली व्यक्ति ने उनसे जाकर कहा कि मेरे पास अटूट सम्पदा है, मुझे उसका सदुपयोग करना है, आप कोई उचित मार्ग बतायें। मैं आप पर बहुत विश्वास करता हूँ। आप मुझे जीवन में सेवा का अवसर अवश्य ही दें, जिससे मैं समय और सम्पत्ति का सदुपयोग कर सकूँ। नानकजी ने सेठ की ओर देखा और तत्क्षण कहा "तुम तो दरिद्र दिखते हो, तुम्हारे पास सम्पत्ति कहाँ है?" सेठ ने कहा—"आप मुझे जानते नहीं हैं। यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपको अपनी सम्पत्ति का हिसाब दिखाऊँ। आपको मेरे बराबर इस क्षेत्र में कोई धनाढ्य नहीं मिलेगा। आपको गलतफहमी हो गई है या फिर मेरे सम्बन्ध में आपको किसी ने गलत बता दिया है। आप आज्ञा दें, तो मैं आपको अपनी सम्पत्ति दिखाऊँ? आप जो कहेंगे मैं उसे करके अवश्य दिखाऊँगा।

नानकजी ने उसे एक छोटी-सी सुई दी और कहा कि इसे मरने के बाद मुझे वापिस कर देना। अपनी सारी सम्पदा का प्रयोग करना और यह सुई मरने के बाद अवश्य लौटा देना। वह नानकजी की बात सुनकर हैरान हो गया, किन्तु सब लोगों के सामने उसने कुछ नहीं कहा। वह रात भर बिस्तर पर पड़ा-पड़ा सोचता रहा। शायद कोई अपूर्व रास्ता निकल जाये कि मृत्यु के उपरान्त सुई को साथ में ले जाऊँ। लेकिन कोई भी उपाय दिमाग में नहीं आया। सुबह वह अपने मित्रों से मिला, उसने पूछा-क्या कोई ऐसा रास्ता हो सकता है कि मृत्यु के बाद सुई को साथ में ले जा सकूँ? मित्रों ने कहा-यह तो बिल्कुल असंभव है। आप इस जगत की जरा-सी सम्पत्ति को समस्त शक्ति लगाकर भी मृत्यु के बाद साथ ले जाने में असमर्थ हैं। अरे! जब आप अपने शरीर को ही साथ नहीं ले जा सकते, तो फिर यह सुई मृत्यु के बाद कैसे आपके साथ चली जायेगी?

काफी सोचने विचारने के बाद सेठ नानकजी के पास पहुँच गया और नानकजी को सुई वापिस करते हुये बोला-कृपा करके मुझे क्षमा कर दो तथा इस सुई को वापिस ले लो, मेरी सारी सम्पत्ति भी ले लो, क्योंकि मृत्यु के बाद

मैं इसे ले जाने में असमर्थ हूँ।

तब नानकजी ने कहा—एक सुई मृत्यु के बाद ले जाने में असमर्थ हो, तो फिर तुम्हारे पास क्या है जो मृत्यु के बाद उस पार ले जाया जा सके? और ऐसा तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, जिससे अपने आपको धनवान समझो। सम्पत्तिशाली वे ही हैं, जिनके पास मृत्यु के उस पार ले जाने वाली सम्पदा है, वे ही धनी हैं। वह सम्पदा है धर्म। अगर धनी बनना चाहते हो तो धर्म को जीवन में धारण करो। सर्व प्रकार के प्रयत्न से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मा बनो।

यदि सुखी होना चाहते हो तो परिग्रह से आसक्ति घटाकर जीवन में धर्म को धारण करो। जिस प्रकार रस ले—लेकर इन बाह्य पदार्थों से मोह बढ़ाया है, उसी प्रकार रस ले—लेकर इनसे मोह करना छोड़ दो। ये बाह्य परिग्रह तो दुःख के ही कारण हैं। जैसे—जैसे परिग्रह से परिणाम भिन्न होने लगते हैं, परिग्रह में आसक्ति कम होने लगती है, वैसे—वैसे ही दुःख भी कम होने लगता है। जो निर्मोही होते हैं, वे ही वास्तव में सुखी हैं और भविष्य में अनन्तसुख के धारी बनेंगे।

एक बार एक नगर का राजा मर गया। मंत्रियों ने सोचा कि अब किसे राजा बनाया जाय? सभी ने मिलकर तय किया कि सुबह के समय अपना राजफाटक खुलेगा तो जो व्यक्ति फाटक पर बैठा मिलेगा उसे ही राजा बनायेंगे। सुबह फाटक खुला तो वहाँ मिले एक साधु महाराज। वे लोग उस साधु का हाथ पकड़कर ले गये और बोले कि तुम्हें राजा बनना है। साधुजी बोले कि नहीं—नहीं, मुझे नहीं बनना राजा। मंत्री बोले—तुम्हें राजा बनना ही पड़ेगा। उतारो यह लंगोटी और ये राज्याभूषण पहनो। साधु जी के मना करने पर जब वे नहीं माने तो साधु जी बोले—आप लोग हमें राजा बनाते हो तो हम राजा बन जायेंगे, पर हमसे कोई बात न पूछना, सब कामकाज आप लोग ही चलाना। हाँ—हाँ, यह तो मंत्रियों का काम है, आपसे पूछने की क्या जरूरत है? हम लोग सब काम चला लेंगे। उस साधु ने अपनी लंगोटी एक छोटे से संदूक में रख दी और राजवस्त्र पहन लिये। दो—चार वर्ष तो अच्छे से गुजर गये। एक बार

किसी शत्रु ने चढ़ाई कर दी। मंत्री दौड़कर राजा के पास आये—राजन्! अब क्या करना चाहिये? शत्रु एकदम चढ़ आये हैं। अब हम लोग क्या करें? साधुजी बोले—अच्छा, हमारी पेटी उठा दो। साधुजी ने सब राज्याभूषण उतारकर लंगोटी पहन ली, फिर कहा—हमें तो यह करना चाहिये और तुम्हें जो करना हो सो करो। ऐसा कहकर चल दिये।

आचार्य समझा रहे हैं—आत्मा मोह के दुःख से मर रहा है, तो सर्व पदार्थों के मोह को छोड़ दो और अपनी रक्षा करो। बहिरात्मा प्राणी मोह के कारण अपने स्वभाव को भूलकर परपदार्थों में ममत्व करके, उनका संग्रह करके व्यर्थ ही महान दुःखी हो रहे हैं। अपने में यह भावना भाओ कि जगत में मेरा कुछ भी नहीं है। जिनको जगत में रिश्तेदार, नातेदार मानते हो, वे भी तुमसे भिन्न हैं। बस, उनसे अपने को जुदा समझो। धन है, वह भी प्रत्यक्ष भिन्न है। उसको भी भिन्न समझो। शरीर से भी अपने आपको जुदा समझो। इसके बाद द्रव्यकर्म, भावकर्म से भी अपने को जुदा समझो। अपने आपसे अपने आप को दुःख नहीं होता, परन्तु पर पदार्थों से मोह होने के कारण ही दुःख होता है।

यह जीव चेतना लक्षण से युक्त है। परन्तु यह अपने स्वरूप को न जानने के कारण बहिरात्मा बना मनुष्य, तिर्यच आदि चार गतियों में घूमता फिरता है। सुख का मूल कारण अपना अपनेरूप अनुभव है। जब जीव अपने को शरीररूप अनुभव करते हैं तो अनेक प्रकार की आकुलताएँ उन्हें घेर लेती हैं, नाना प्रकार के विकल्प घेर लेते हैं। इसके विपरीत, जब जीव अपने को अपनेरूप, चैतन्यरूप अनुभव करते हैं, तो कोई आकुलता नहीं रहती।

इस जीव के लिये दो मुख्य बातें जानना आवश्यक हैं। एक तो यह कि इसका समस्त दुःख राग—द्वेष के कारण है, पर—पदार्थों से नहीं। दूसरी यह कि अपने चैतन्य को पहचाने बिना शरीर में अपनापना नहीं मिट सकता, शरीर में अपनापना मिटे बिना रागद्वेष नहीं मिट सकता, और औषधि भी एक ही है—शरीर और कर्मफल से भिन्न अपने को चैतन्यरूप अनुभव करना। लोक में भी देखा जाता है कि दूसरे लोगों के लाभ—हानि, जीवन—मरण को जानने पर भी हमें कोई सुख—दुःख नहीं होता। इसी प्रकार यदि शरीरादि से भिन्न निज—आत्मा

का ज्ञान हो जाता है तो शरीरादि भी पररूप दिखाई देंगे, तब शरीर से संबंधित अन्य पदार्थ—स्त्री—पुत्रादि अथवा धन—सम्पत्ति आदि तो अपने आप ही पर दिखाई पड़ेंगे। अतः उनके संयोग—वियोग में हर्ष—विषाद भी नहीं होगा।

इस प्रकार राग—द्वेष का अभाव ही वास्तविक सुख है। राग—द्वेष का अभाव करने के लिये निज चैतन्य स्वरूपी आत्मा को पहचानना जरूरी है। परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन कर्णधार है। जैसे बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि नहीं हो सकती, वैसे ही ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन होने पर यह जीव अन्तरात्मा कहलाता है। अन्तरात्मा का सुख—दुःख, भला—बुरा 'पर' से नहीं, अपितु अपने से ही है। चेतना के बाहर उसका अपना कुछ नहीं है। उसके शरीर है, परन्तु उनको कर्मजनित, विकारी भाव जानकर उनके नाश का उपाय करता है। पहले जब बहिरात्मा था तब समझता था कि इनके होने में मेरा कोई दोष नहीं है, ये तो कर्म के फल हैं, अथवा किसी दूसरे के कराये हैं। परन्तु अब समझता है कि ये मेरे पुरुषार्थ की कमी से हो रहे हैं और पुरुषार्थ बढ़ाकर मैं इनका नाश कर सकता हूँ। बाह्य सामग्री का संयोग—वियोग पुण्य—पाप के उदय के अनुसार हो रहा है, उसमें मैं जितना जुड़ूँगा, उतना ही राग होगा। ये संयोगादि मेरे सुख—दुःख के कारण नहीं हैं, बल्कि मेरा उनमें जुड़ना ही मेरे सुख—दुःख का कारण है। वह उनके नाश के लिये बार—बार अपने स्वभाव का अवलम्बन लेता है, स्वयं को चैतन्यरूप अनुभव करने की चेष्टा करता है। जितना स्वयं को चैतन्यरूप देखता है, उतना शरीरादि के प्रति राग कम होता जाता है। फलतः कषाय के साधनों से हटता है।

तीव्र कषाय और उसके बाह्य आधारों को छोड़ते हुये, मंद कषाय में रहकर उसको भी मिटाने की चेष्टा करता है। वीतरागी सर्वज्ञ देव, उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र और उसी मार्ग पर चल रहे गुरु को माध्यम बनाकर निज स्वभाव की पुष्टि की भावना रखकर प्रतिदिन देवदर्शनादि करता है। उसे सम्पूर्ण मोक्षमार्ग

का ज्ञान व श्रद्धान हो जाता है। वह जानता है कि जब किसी जीव को मोक्ष होगा तो इसे पहले सच्चे देव—शास्त्र—गुरु की और सात तत्त्वों की श्रद्धा होगी, फिर स्व—पर भेदविज्ञान और आत्मानुभवन होगा। फिर उसके क्रम से श्रावक के व्रतों का धारण और आत्मानुभवन के द्वारा संयम की प्रतिपक्षी कषाय का अभाव होगा, फिर वह मुनिव्रत धारण कर अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करेगा, तदनंतर आत्मध्यान की गहनता के द्वारा कर्मों का अभाव करता हुआ, गुणस्थानों में आये कषाय के अन्तिम सूक्ष्मतम अंश का भी नाश करके बारहवें गुणस्थान में आत्मध्यान की ओर भी अधिक गहनता द्वारा दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय और अन्तराय, इन घातिया कर्मों का भी निर्मूलन करके तेरहवें गुणस्थान में अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख को प्राप्त कर केवली भगवान् बन जाता है। केवली भगवान् चौदहवें (आयोगकेवली) गुणस्थान में अन्तिम शुक्लध्यान द्वारा समस्त अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर सिद्ध भगवान् बन जाते हैं। समस्त बाधाओं से रहित, आठ कर्मों से रहित, अनन्तदर्शन—सुख—वीर्य आदि अनन्त गुणों से सहित, शरीर से रहित, अमूर्तिक, पुरुषाकार, जन्म—मरण—रहित, अवचिल रूप से विराजमान रहते हैं। उनका संसार में पुनः आवागमन नहीं होता। वह अन्तरात्मा जानता है कि इसी मार्ग से या इन्हीं उपाय से मोक्ष की प्राप्ति होगी। अतः वह जघन्य से मध्यम और मध्यम से उत्तम अन्तरात्मा बनता हुआ मोक्ष प्राप्ति के लिये इन्हीं उपायों को करता है।

मोहवश, भ्रमवश, अज्ञानवश बहिरात्मा जीव अपने पास अमृत होते हुये भी उसका पता न पाकर दुःखी हैं और संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। अतः शरीर से भिन्न आत्मा को पहचान कर बहिरात्मपना छोड़कर अन्तरात्मा बनना चाहिये। अन्तरात्मा एवं परमात्मा का वर्णन करते हुये छहढाला ग्रंथ में पंडित दौलतराम जी ने लिखा है—

**मध्यम अन्तर आतम हैं जे, देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत—समदृष्टि, तीनों शिव—मगचारी॥
सकल निकल परमातम द्वैविध, तिनमें घाति निवारी।
श्री अरहन्त सकल परमातम, लोकालोक निहारी॥**

ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्ममल, वर्जित सिद्ध महन्ता ।

ते हैं निकल अमल परमात्म, भोगें शर्म अनन्ता ।।

देशव्रती श्रावक एवं छटवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज मध्यम अन्तरात्मा हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा हैं। द्विविध परिग्रह से रहित निजस्वरूप के ध्यान में लीन सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज उत्तम अन्तरात्मा हैं। चौथे से बारहवें गुणस्थान तक के ये सभी अन्तरात्मा—जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं और मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं। परमात्मा के दो रूप हैं—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। श्री अरहन्त भगवान् सकल परमात्मा हैं। उन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है और वे लोक और अलोक को जानते हैं अर्थात् केवलज्ञानी हैं। शरीर सहित, चार घातिया कर्म रहित, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य से अलंकृत, सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी अरहन्त भगवान् को सकल परमात्मा कहते हैं तथा आठ कर्मों से रहित, लोक के अग्र भाग में विराजमान शाश्वत निजानन्द का पान करने वाले सिद्ध भगवान् को निकल परमात्मा कहते हैं।

जो अन्तर में देह से भिन्न आत्मस्वरूप को पहचानता है, वह अन्तरात्मा है। अन्तरात्मा संसार, शरीर व भोगों से विरक्त रहता है। आगम में इस बात का समाधान भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देकर किया गया है —

किसी व्यक्ति ने प्रश्न किया कि भरत जी घर में रहकर वैरागी कैसे रह सकते हैं, उनकी 96 हजार रानियाँ हैं, वे छः खण्ड के अधिपति हैं? भरत जी ने तेल से भरा एक कटोरा उसके हाथ में दिया और आज्ञा दी कि सारे नगर में घूमकर आओ, पर यदि तेल की एक बूंद गिरी तो तुम्हारे पीछे चलने वाला सिपाही तत्क्षण तलवार से तुम्हारा सिर उड़ा देगा।

आज्ञा का पालन हुआ। लौट आने पर उस व्यक्ति से पूछा गया कि उसने नगर में क्या देखा? क्या बताता बेचारा। तेल और अपना सिर या तलवार के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं दिया था उसे, नगर में क्या देखता? बस, अन्तरात्मा ज्ञानीजीव को भोग आदि भोगते समय रस कैसे आवे? उसे तो दिखाई देता है अपना लक्ष्य, आत्मा की शुद्ध अवस्था को प्राप्त करना।

आगम का दूसरा दृष्टान्त है अर्जुन का। कौवे के नेत्र को बाँधने को धनुष पर बाण चढ़ाये अर्जुन खड़ा है। गुरु पूछते हैं कि क्या दिखाई दे रहा है? जवाब मिला कि कौवे का एक नेत्र और वह भी उस समय जबकि वह पुतली में आता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। वहाँ उस कौवे का इतना बड़ा शरीर विद्यमान होते हुये भी उसे दिखाई कैसे देता? उसके लक्ष्य में तो था केवल एक नेत्र। इसी प्रकार अन्तरात्मा जीव संसार में रहता हुआ भी उससे बैरागी रहता है और अपने परम लक्ष्य (आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था अर्थात् मोक्ष) की ओर बढ़ता चला जाता है।

वह अपने पूर्व जीवन पर पश्चाताप करता है कि मैंने अपना इतना अमूल्य मनुष्य जीवन व्यर्थ में खो दिया, मानों रत्न को कौड़ियों के मोल गँवाया, ईंधन के लिये चन्दन को जलाया और पैर धोने के लिए अमृत को काम में लिया।

आज तक मैं मोह—नींद में सो रहा था। अपने भीतर जो सुख और ज्ञान का भंडार है, उसके पते से तो मैं बेखबर था और सुख की इच्छा से परपदार्थों की तृष्णा में जल रहा था। जैसे सोया हुआ मनुष्य अपनी गफलत से चोरों द्वारा लूटा जाता है, वैसे ही मैं इन इन्द्रिय—विषयों की चाह—रूप चोरों से लूटा गया। अब जब मैं जागा तो मैंने अच्छी तरह पहचाना कि मैं तो पुद्गलादि परद्रव्यों से भिन्न, राग—द्वेषादि विकारों से रहित परमानन्दमय आत्मा हूँ। सर्वगुणों का धाम यह आत्मा सर्वद्रव्यों में उत्तम द्रव्य व सर्वतत्त्वों में उत्तम तत्त्व है।

प्रत्येक जीव को अपनी आत्मा का स्वभाव शुद्ध—बुद्ध, आनन्दमयी और सिद्ध भगवान् के समान ही देखना चाहिये और अपनी अवस्थाओं को कर्मजनित मानना चाहिये; क्योंकि आत्मा का स्वरूप पुद्गल के साथ एक क्षेत्रावगाह होने पर भी जीव जब उसको पुद्गल से भिन्न मानने लगता है, तब वह बहिरात्मा से अन्तरात्मा हो जाता है।

हम और आप सब प्रभु की तरह पवित्र हैं, उन्हीं के समान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य से भरपूर हैं; पर हमें स्वयं अपना परिचय नहीं है; यह सब मोह का नशा है, इसलिये चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करना पड़ रहा है। मोह के नशे के कारण ये संसारी प्राणी स्त्री, पुत्र,

कुटुम्बियों को अपना मान लेते हैं, जबकि आचार्य उन्हें समझाते हैं कि कुटुम्बियों का सम्बन्ध एक वृक्ष पर बसेरा करनेवाले पक्षियों के समान है। 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है —

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे-नगे।

स्वस्वकार्यं वशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे-प्रगे॥

अनेक दिशाओं के विभिन्न स्थानों से कई पक्षी आकर रात्रि को एक वृक्ष पर मिलकर बसेरा कर लेते हैं और सबेरा होते-होते वे पक्षी अपने-अपने कार्यवश अनेक दिशाओं के भिन्न-भिन्न स्थानों को चले जाते हैं।

इसी तरह एक कुटुम्ब में भी भिन्न-भिन्न गतियों से भिन्न-भिन्न जीव आकर एकसाथ रहते हैं और जब भी जिसकी आयु पूरी होती है, तब ही वह उस कुटुम्ब को छोड़कर दूसरी गति में अपने कर्मों के अनुसार चला जाता है। जैसे वे पक्षी थोड़ी देर के लिये यद्यपि एकसाथ ठहरते हुये भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, वैसे एक कुटुम्ब में भी सब जीव अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता, कर्म, आचरण और स्वभाव वाले होते हैं। ज्ञानी अन्तरात्मा जीव बाहर में उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता हुआ भी अपने को उनसे भिन्न ही समझता है।

जो कोई जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से भिन्न (रहित) आत्मा के स्वरूप को पहचानता है, उसको कभी भी शरीर व कर्मों में आत्मपने की भ्रान्ति नहीं होती। ऐसा अन्तरात्मा ही भेदज्ञानी महात्मा कहलाता है। वह अपने स्वभाव का और स्वभाव में रहनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द का प्रेमी हो जाता है। वह अपनी आत्मा का अनुभव किया करता है। वास्तव में स्वानुभव ही वह मंत्र है जिस मंत्र के प्रभाव से राग-द्वेषादि सर्पों का विष उतर जाता है। वह विचार करता है कि यथार्थ में मेरी आत्मा का स्वभाव कर्म-कलंक रहित, राग-द्वेष-मोह रहित, ज्ञानमयी, आनन्दमयी, अनन्तसुख से भरपूर, सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध है। अन्तरात्मा जीव को संसार, शरीर व भोगों से सच्चा वैराग्य होता है। वह जानता है कि संसार की कोई भी अवस्था मेरे लिये हितकारी नहीं है।

अन्तरात्मा को संसार, शरीर व भोगों से सच्चा वैराग्य होता है। वह जानता है कि सुख तो चेतन आत्मा का गुण है, वह जड़-सम्पदा में नहीं होता। आचार्य

समझा रहे हैं—हे जीव! तू बाह्य संपदा से सुख की भीख क्यों मांगता है? संसार की सबसे सुंदर वस्तु तो तुम्हारी आत्मा है, जिसका ज्ञान होने पर यह बाह्य संपदा जीर्ण तृण के समान असार लगने लगती है।

दो मित्र थे। दोनों राजमहल में रहने वाले वैभवशाली राजपुत्र थे। एक बार की बात है कि दोनों मित्रों के मिलन को बहुत समय बीत गया। एक मित्र ने सोचा—चलो अपने मित्र से मिलने चलें। वह मिलने के लिये चल देता है। चलते-चलते वन में उसे एक मुनिराज मिले। मुनिराज को देखते ही वह पहचान गया और आश्चर्य से बोला।

“अरे मित्र! तुम यहाँ? मैं तो तुमसे मिलने तुम्हारे नगर जा रहा था, लेकिन तुम यहाँ इस रूप में कैसे?”

साधु ने कहा—मित्र! वह वैभव आदि सब छोड़कर मैं साधु बन गया हूँ।

उसने पूछा—अरे मित्र! इतना सुन्दर राज्य, सुन्दर स्त्रियाँ, बाग—बगीचा आदि वैभव को तुम किस प्रकार छोड़ सके? वे सब सुन्दर पदार्थ तुम्हें कैसे असार लगने लगे?

साधु बोला—सुनो, मित्र! वे सब वस्तुयें सुन्दर जरूर हैं, फिर भी ये सब सुन्दर वस्तुयें जिसके सामने सर्वथा असुन्दर भासित होने लगीं—ऐसी दूसरी ही कोई परम सुन्दर वस्तु के दर्शन मैंने अपने अंदर में किये हैं। अतः उस परम सुन्दर वस्तु के सामने अन्य सभी वस्तुओं को असुन्दर और असारभूत समझकर छोड़ दिया।

तब मित्र ने पुनः पूछा—हे स्वामी! वह सुन्दर वस्तु क्या है, जिसकी सुन्दरता पर मुग्ध होने से उसकी सुन्दरता के सामने तुम्हें सारा जगत असुन्दर लगने लगा?

साधु ने मित्र की पात्रता देखकर बड़े ही उल्लास के साथ बताया—हे मित्र! सहज सुख तो आत्मा का स्वभाव है। सहज सुख अपने आत्मा का अमिट, अटूट, अनन्त भंडार है। अनन्तकाल तक भी इसका भोग किया जावे तो भी यह परमाणु मात्र भी कम नहीं होता। जैसे—का—तैसा बना रहता है। संसारी मोही प्राणी की दृष्टि कभी भी अपनी आत्मा पर नहीं रुकती। वह आत्मा को नहीं

पहचानता, इसलिए स्वयं सहजसुख का सागर होते हुए भी सुख को न पाकर सदा दुःखी बना रहता है।

जैसे कस्तूरी मृग की नाभि में होती है, वह उसकी सुगंध का अनुभव करता है, परन्तु उस कस्तूरी को अपनी नाभि में न देखकर बाहर ही बाहर ढूँढ़ता रहता है और दुःखी होता रहता है।

जो भी इस दुःखमय संसार से पार होना चाहे और सदा सुखमय जीवन बिताना चाहे उसको उचित है कि वह चैतन्यस्वरूप आत्मा को पहचान कर जौहरी बने। इन्द्रियसुख रूपी काँचखण्ड को रत्न समझकर अपने को न ठगावे। आत्मिक सुख अपने ही पास है। उसे प्राप्त करने के लिए उपयोग स्वरूपी चैतन्य आत्मा को पहचानने का प्रयास करे।

अपने साधु मित्र की बात सुनकर वह गद्-गद् होकर बोला— अहो मित्र! तुमने हमारे चैतन्य स्वरूप को बताकर मुझ पर परम उपकार किया है। और उसने भी अपने आत्मिक सुख को प्राप्त करने के लिये अपने मित्र के पास ही मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली।

जो अपने चैतन्य स्वभाव को नहीं जानते और परपदार्थों में यह मानते हैं कि "यह मैं हूँ" और 'यह मेरा है' वे जीव बहिरात्मा हैं। पर में अहम्बुद्धि होना मोक्षमार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। मैं संन्यासी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ—यह सब 'मैं'का ही खड़ा किया हुआ भवन है। पंडित को लगता है कि 'मैं कुछ हूँ।' त्यागी को लगता है कि 'मैं कुछ हूँ।' साधु को लगता है कि 'मैं कुछ हूँ।' अहंकार एवं बहिरात्मपने से मुक्ति का उपाय है 'मेरेपन' से मुक्ति। अधर्म 'मैं' को भरता है, जबकि धर्म 'मैं' से रहित करता है। वही व्यक्ति बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनता है जिसका मैं छिन गया। यह तभी हो सकता है, जब यह जीव अपने चैतन्य-स्वभाव को अपने-रूप देखे, अनुभव करे। तब पर्याय के स्तर पर होने वाली सभी अवस्थाएँ इसे अपने से भिन्न दिखाई देंगी।

अनादिकाल से संसार में रहनेवाला यह बहिरात्मा जीव, जो भी संयोग इसे मिलते हैं उसमें अपनी अज्ञानता के कारण अपनेपने की बुद्धि करके और उन्हीं में अहंभाव करके दुःखी हो रहा है। अधिक क्या कहूँ, इस शरीर पर ही इसका

सबकुछ केन्द्रित है, उसकी उत्पत्ति से यह अपनी उत्पत्ति मानता है। कर्मोदय से इसे अनेक प्रकार के संयोगों की प्राप्ति होती है। फिर उन संयोगों में जो यह अपनापन मानता है, उससे पुनः नये कार्मों का बंध हो जाता है।

यदि किसी ने रस्सी को साँप समझ लिया, तब रस्सी तो साँप नहीं हो जाती, परन्तु अपनी मान्यता विपरीत होने से वह व्यक्ति भयभीत अवश्य हो जाता है। उसका भय तब तक नहीं मिट सकता जब तक कि वह व्यक्ति रस्सी को रस्सी नहीं समझ लेता। इसी प्रकार इस बहिरात्मा जीव ने 'पर' को अपना मान रखा है। उसका बहिरात्मपना 'पर' में अपनापन छोड़े बिना किसी अन्य उपाय से नहीं मिट सकता। अतः पर में अपनापन छोड़ने के लिये अपने चैतन्य स्वरूप को जानने का प्रयास करो। जब यह जीव अपने को चेतन—रूप देखता है, तब विकारों का अभाव होने लगता है और शरीररूप देखता है तो विकार बढ़ने लगते हैं। हे जीव! दोनों संभावनाएँ आपके पास हैं—चाहे स्वयं को चेतनरूप देखो, चाहे शरीर रूप। चेतनरूप देखोगे तो परमात्मपने के नजदीक हो जाओगे, शरीररूप देखोगे तो उससे दूर होते जाओगे।

चक्रवर्ती पद छोड़ना भी जिसके सामने सरल लगता है, ऐसा चैतन्य हीरा प्रत्येक प्राणी के पास है। पर चैतन्य हीरा की कीमत तो ज्ञानीजीव ही समझ सकते हैं। जिनकुमार और लक्ष्मीकुमार दो मित्र थे। जिनकुमार की माँ ने उसे धर्म के अच्छे संस्कार दिये थे। वह गरीब था। उसके पास धन—वैभव नहीं था। घर भी छोटा था। फिर भी उसके घर में धर्म के उत्तम संस्कारों से उसका जीवन सुखी था।

दूसरे मित्र लक्ष्मी कुमार के घर में हीरे—जवाहरात की बहुलता थी, लेकिन सुख नहीं था; क्योंकि उस घर में धर्म के संस्कार बिलकुल नहीं थे। बाह्य वैभव के मोह से वह दुःखी था।

जिस दिन लक्ष्मीकुमार का जन्मदिन था, उस दिन जिनकुमार का भी जन्मदिन था। दोनों मित्रों ने मिलकर बहुत आनन्द मनाया। जन्मदिन की खुशी में लक्ष्मीकुमार के पिता धनजी सेठ ने उसे कई प्रकार की मिठाइयाँ खिलाई, कीमती वस्त्र पहनाये और एक सुंदर अँगूठी पहनाई, जिसके बीच में एक सुन्दर

हीरा जगमगा रहा था।

उसी समय उसके घर के पास में ही जिनकुमार का जन्मदिन मनाया जा रहा था, लेकिन उसके पास अच्छे वस्त्र नहीं थे और मिठाई भी नहीं थी। वहाँ तो उसकी प्रिय माता अपने लाड़ले को प्रेमपूर्वक आशीषपूर्वक धर्म का मधुर रस पिला रही थी।

वह अपने बेटे से कहती है—बेटा! बाजू के महल में जैसे ठाट—बाट से तुम्हारे मित्र का जन्मदिन मनाया जा रहा है, वैसा ठाट—बाट तुम्हारे जन्मदिन पर इस झोपड़े में नहीं है। परन्तु इससे तू ऐसा मत मानना की हम गरीब हैं। बेटा! तू सचमुच गरीब नहीं है, तेरे पास तो अपार संपत्ति है।

जिनकुमार ने आश्चर्य से कहा—वाह! यहाँ खाने के लिये भी मुश्किल से मिलता है, फिर भी तुम कहती हो कि हम गरीब नहीं हैं।

माता ने कहा— बेटा! तू जानता है कि तू कौन है?

पुत्र ने कहा — मैं जिनकुमार हूँ।

माता ने कहा—यह तो तेरा नाम है। लेकिन तेरे में क्या है, तुझे उसकी खबर है?

वह तो पाठशाला में पढ़ा था और माता ने भी उसे धर्म के संस्कार दिये थे।

वह बोला—आपने ही बताया था कि मैं जीव हूँ, मेरे में जान है, मैं चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ। माता ने कहा—धन्य है बेटा! तुम्हारे धर्म के संस्कार देखकर मैं गौरव का अनुभव करती हूँ। बाहर के धन से भले ही हम गरीब हों, लेकिन अन्दर के धन से हम गरीब नहीं हैं। तेरा चैतन्य हीरा तू प्राप्त कर सुखी हो, यही मेरी तुम्हारे जन्मदिन पर भेंट है।

वाह! मेरी माता ने मुझे चैतन्य हीरा बताया है। ऐसा विचार कर वह बहुत खुश हुआ।

उसी समय उसका मित्र लक्ष्मीकुमार वहाँ मिठाई लेकर आया। दोनों मित्र आनन्दपूर्वक एक दूसरे से मिले। लक्ष्मीकुमार ने हीरा माता के चरण स्पर्श किए और माता ने उसे आशीर्वाद दिया।

लक्ष्मीकुमार ने कहा—माताजी! हमारे यहाँ से आपके लिए मिठाई भेजी है।

माताजी ने मिठाई लेकर दोनों बालकों के मुँह में खिलाई और पूछा— बेटा! तुम्हारे पिताजी ने आज तुम्हें क्या भेंट दी?

लक्ष्मीकुमार ने कहा—“माँ! पिताजी ने मुझे एक सुन्दर अँगूठी दी है। उसमें कीमती हीरा जड़ा है।” तब उसने जिनकुमार से पूछा— “तुम्हारी माँ ने तुम्हें क्या भेंट दी?”

जिनकुमार ने कहा—“भाई! हमारे पास ऐसे हीरे—जवाहरात तो नहीं हैं, परन्तु आज हमारी माता ने मुझे मेरा चैतन्य हीरा बताया है।”

इस प्रकार दोनों घंटों बातचीत करते रहे। जब रात्रि होने लगी तब लक्ष्मीकुमार अपने घर चला गया।

जिनकुमार के घर में कोई रात्रिभोजन तो करता नहीं था, इसलिए वह तो रात्रि में माताजी के पास धर्मकथा सुनने बैठ गया।

यहाँ लक्ष्मीकुमार के घर भोजन की तैयारी चल रही थी। बहुत मेहमान उपस्थित थे। भोजन के पहले जब लक्ष्मीकुमार हाथ धो रहा था तभी उसके पिताजी की नजर उसके हाथ पर पड़ी और हाथ की अँगूठी में हीरा न देखकर उन्होंने तुरन्त पूछा—बेटा! तुम्हारी अँगूठी में से हीरा कहाँ गया?

तब लक्ष्मीकुमार ने अपनी अँगूठी की तरफ देखा और हीरा न देखकर वह डर गया। अरे! अँगूठी में तो हीरा नहीं है। बापू हीरा कहाँ गया, इसका मुझे ख्याल नहीं है।

उसकी बात सुनकर पिता जी बहुत क्रोधित हुए और जिस पुत्र के जन्मदिन का आनन्द मना रहे थे, उसी पर क्रोध करने लगे। वह डर गया और रोने लगा।

अरे! धिक्कार है ऐसे संसार को, जहाँ हर्ष—शोक की छाया बदलती रहती है। हीरे को खोजने की पूछताछ चालू हुई। लक्ष्मीकुमार ने बताया कि वह तो आज अपने मित्र जिनकुमार के घर के अलावा दूसरी जगह गया ही नहीं था।

लक्ष्मीकुमार के पिता ने सोचा जिनकुमार बहुत गरीब है, इसलिए उसकी माता ने अवश्य ही लक्ष्मीकुमार की अँगूठी में से हीरा निकाल लिया होगा और अपने पुत्र जिनकुमार को दे दिया होगा। ऐसा विचार कर उसने अपने पुत्र से कहा—जाओ, तुम्हारे मित्र जिनकुमार को बुलाकर लाओ।

लक्ष्मीकुमार जिनकुमार के घर गया और बोला—जिनकुमार! मेरे पिताजी ने तुम्हें अभी बुलाया है, इसलिए मेरे साथ चलो।

दोनों मित्र जा रहे थे। रास्ते में जिनकुमार ने कहा—मित्र! तू घबराया हुआ—सा क्यों दिख रहा है ?

लक्ष्मीकुमार ने कहा—भाई! क्या कहूँ? मेरा हीरा गुम हो गया है, इसलिए उन्होंने तुम्हें बुलाया है।

वहाँ पहुँचने पर धनजी सेठ ने पूछा—बोलो, हीरा तम्हें मिला है?

निर्दोष जिनकुमार के मन में तो सुबह से उसकी माता की बतलाई, चैतन्य हीरे की बात घूम रही थी, अतः उसी धुन में उसने कहा—हाँ, पिताजी! मेरी माता ने आज ही मुझे एक अद्भुत हीरा बतलाया है।

जवाहरात का हीरा तो उसने देखा नहीं था, उसके मन में तो चैतन्य हीरा घूम रहा था, लेकिन धनजी सेठ के मन में अँगूठी का हीरा घूम रहा था, चैतन्य हीरे की बात तो उन्होंने सुनी ही नहीं थी, इसलिए उन्होंने तुरन्त कहा —

भाई जिनकुमार! वह हीरा तो लक्ष्मीकुमार का है, उसे दे दो।

जिनकुमार ने कहा— बापू जी! वह तो हमारा हीरा है, आपके लक्ष्मीकुमार का हीरा तो मेरे पास नहीं है, परन्तु आप लक्ष्मीकुमार को मेरे घर भेज दीजिये तो मेरी माता उसे भी उसका हीरा बता देंगी।

जिनकुमार की बात सुनकर लक्ष्मीकुमार को लगा कि शायद जिन कुमार ने मेरा हीरा चुराया है और उसके द्वारा निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा।

वह जिनकुमार के साथ गया और पूछा—“जिनकुमार! मेरा हीरा कहाँ है? मुझे बताओ।

जिनकुमार ने कहा— भाई! तुम्हारा हीरा हमारे पास नहीं है, तुम्हारे पास ही है और मैं तुम्हें वह बताऊँगा।

लक्ष्मीकुमार आश्चर्य से कहने लगा — अरे ! क्या मेरा हीरा मेरे ही पास है? जल्दी बताओ, कहाँ है? इस अँगूठी में तो वह है नहीं।

जिनकुमार ने कहा— भाई! वह हीरा अँगूठी में नहीं रहता, अँगूठी तो जड़ है, तुम्हारा चैतन्य हीरा तुम्हारे अन्दर है।

लक्ष्मीकुमार ने कहा—उसे किस प्रकार देखें ?

जिनकुमार ने कहा—आँखें बन्द करके अन्दर देखो।

लक्ष्मीकुमार बोला—अन्दर तो अन्धेरा दिखता है ।

जिनकुमार ने कहा — “भाई! उस अन्धकार को भी जो जानने वाला है, वही चैतन्य आत्मा है, वही असली चैतन्य हीरा है। तुम्हारा हीरा खोया नहीं है, वह तेरे में ही है। अनन्त गुणों के तेज से तुम्हारा चैतन्यहीरा चमक रहा है।”

हमारा चैतन्य हीरा हमारे में ही है, यह जानकर लक्ष्मीकुमार बड़ा आनन्दित हुआ और खुशी—खुशी घर जाकर पिताजी से कहा—“पिताजी! मुझे मेरे असली हीरे का पता चल गया।

जिनकुमार के पास से तुझे हीरा मिला, इसलिये अवश्य ही उसकी माता ने वह चुराया होगा, ऐसा विचार कर सेठ ने क्रोधित होकर डाँटने— फटकारने के लिए जिनकुमार की माँ हीराबाई को बुलवाया।

परन्तु यह क्या? वे आवें, इसके पहले ही लक्ष्मीकुमार की माँ हाथ में जगमगाते पत्थर को लेकर आ गई और कहने लगीं—“यह अँगूठी का हीरा मिल गया, इसलिये क्रोध न करो। अँगूठी में से निकल गया होगा। अभी घर की सफाई करते समय मिला है।”

घर में ही हीरा मिलने से सभी खुश हुये। उसी समय हीराबाई वहाँ आ पहुँची, तब सेठ जी दयनीय होकर बोले —

हे माँ! मुझे माफ कर दो। हमारा हीरा घर में ही था, परन्तु भूल से हमने तुम्हारे ऊपर आरोप लगाया।

हीराबाई ने गम्भीरता से कहा—“भाई! आज खुशी का दिन है, इसलिए दुःख छोड़ो और जड़ हीरे का मोह छोड़कर अपने ही अन्दर विराजमान चैतन्यस्वरूपी आत्मा को पहचानने का प्रयास करो। चैतन्य का महान सुख प्रत्येक आत्मा में भरा है, जिसे न जानने के कारण ही सभी जीव परपदार्थों में सुख ढूँढ़ते हैं और दुःखी होते हैं।”

आचार्य समझा रहे हैं कि शरीर की गिनती तो कई बार हो चुकी, जो परपदार्थ हैं उनकी गिनती भी कई बार हो चुकी, लेकिन अपनी गिनती करना

अपने चैतन्य स्वरूप को पहचानना अभी बाकी है। मैं कौन हूँ, यह खोज करना भी आवश्यक है। जिसने अपने आपका अनुभव कर लिया, वह पर के प्रति निर्मोही बनता चला जायेगा और एक दिन भगवान् महावीर स्वामी के समान मुक्ति को प्राप्त कर लेगा।

आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर अज्ञानतावश पर-पदार्थों में राग-द्वेष करता है और व्यर्थ में संसार की 84लाख योनियों में भटकता हुआ दुःख उठाता है।

देह से भिन्न चेतनारूप अपना अस्तित्व है, उसे न देखकर 'देह ही मैं हूँ', ऐसा मानकर जो वर्तता है, वह बहिरात्मा है। आप कौन और पर कौन? इसका भी जिसे विवेक नहीं, वह अज्ञानी बहिरात्मा है। वह आत्मा के सच्चे सुख को नहीं पहचानता और इन्द्रियों की इच्छाओं के वश में पड़ा हुआ रात-दिन आर्त्तध्यान करके पशु आदि छोटी योनियों में पहुँच जाता है। उसका वर्तमान जीवन भी दुःखी व भविष्य का जीवन भी दुःखी होता है, इसलिये यहाँ कहा जा रहा है कि बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मपने को ग्रहण करो। क्योंकि अन्तरात्मा आत्मा का सच्चा स्वरूप जानता है। वह आत्मा को आत्मारूप, शरीर व राग-द्वेषादि भावों से भिन्न, शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा जानता है और उसी में सच्चे सुख व शान्ति को पहचानता है।

'समयसार' ग्रंथ में कहा है कि ज्ञानी अन्तरात्मा अपनी ज्ञानचेतना के अतिरिक्त अन्य किसी भाव को किंचित् भी अपना नहीं मानते। सदैव अपने को ज्ञानचेतना रूप ही देखते हैं, अनुभव करते हैं। जीव स्वयं भेदज्ञान करके जब अन्तरात्मा हो, तभी वह ऐसे अन्तरात्मा की पहचान कर सकता है। आत्मा को जानने वाले अन्तरात्मा की रीति संसारी प्राणियों को अटपटी लगती है। पं. दौलतराम जी ने एक भजन में लिखा है—“चिन्मूरत दृग्धारी की, मोहि रीति लगत है अटापटी। बाहर नारकीकृत दुःख भोगै, अन्तर सुखरस गटागटी। रमत अनेक सुरनि संग, पै तिस परनति तैं नित हटाहटी।।”

कोई जीव नरक में सम्यग्दृष्टि हो, उसे बाहर में तो नारकियों के द्वारा घोर दुःख दिया जाता है, पर उसी समय वह अन्तर में आत्मा के आनन्द का पान

करता है। और कोई जीव स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि हो, वह बाह्य में तो अनेक देवियों के साथ क्रीड़ा कर रहा हो, पर अन्तरंग में सदा उनसे हटना अर्थात् दूर ही रहना चाहता है, उसमें वह आनन्द नहीं मानता। ज्ञान-वैराग्य की शक्ति से उसके कर्म घटते ही रहते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि संयम धारण नहीं कर पा रहा, पर उसके अन्तरंग में संयम धारण करने की भावना सदा रहती है। सम्यग्दृष्टि जीवों की दशा अचिंत्य अटपटी होती है।

सम्यग्दर्शन संसार के दुःखरूपी अंधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है। इस बहिरात्मा जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्व के वश होकर अपने स्वरूप की और परद्रव्यों के स्वरूप की पहचान नहीं की, इसीलिए आज तक संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अतः अब तो अपने स्वरूप को पहचानकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो। अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं एक ज्ञायकभाव, अविनाशी, अखण्ड, देहादि समस्त पर द्रव्यों से भिन्न चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ। देह, जाति, कुल, रूप, नाम इत्यादि मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। पंडित दौलतराम जी ने लिखा है—

बहिरात्मता हेय जान तजि, अन्तर आत्म हूँ।

परमात्म को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजै॥

बहिरात्मपना मिथ्यात्वयुक्त होने से हेय अर्थात् छोड़ने योग्य है, इसलिये आत्महितैषी प्राणियों को उसे छोड़कर, अन्तरात्मा बनकर, सदा परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि उससे नित्य आनन्द (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनों का स्वरूप अच्छी तरह जानने से अन्तर में हेय—उपादेय का विवेक जाग्रत हो जाता है। इन तीन भेदों को जाननेवाला जीव बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा होकर, परमात्मा को ध्याता है।

चाहे धर्मात्मा हो या अधर्मात्मा, जब तक यह जीव बहिरात्मा रहता है, पर से भिन्न निज आत्मा को नहीं पहचानता, तब तक संसार में ही भ्रमण करता हुआ दुःख उठाता रहता है।

एक समय की बात है कि नारद जी घूमते हुये स्वर्ग में पहुँच गये। वहाँ पर

सुख—ही—सुख के आनन्द हो रहे थे। नारद जी कहने लगे—तुम लोग यहाँ पर मध्यलोक के मनुष्यों को क्यों नहीं आने देते? स्वर्ग का इन्द्र बोला—इस बार आप अवश्य अपने साथ किसी मनुष्य को लायें। नारद जी ने मध्यलोक में आकर एक वृद्ध व्यक्ति से कहा कि तुम यहाँ पर बहुत परेशान हो, चलो तुम्हें स्वर्ग के सुखों में छोड़ आऊँ। वृद्ध का शरीर काँपा करता था। वह बोला कि यहाँ पर तो मेरे नाती—पोते आदि सबकुछ हैं, उन्हें छोड़कर कहाँ जाऊँगा? मैं तो जैसा भी हूँ, यहीं ठीक हूँ। तब नारदजी एक धार्मिक व्यक्ति के पास पहुँचे कि भाई, चलो तुम्हें स्वर्ग में छोड़ आऊँ। तब वह बोला कि आप ठीक कह रहे हैं, लेकिन पहले मेरी शादी हो जाये, तब फिर चलूँगा। कुछ दिनों बाद जब उसकी शादी हो गई तब नारद जी फिर पहुँचे। भाई, चलो अब छोड़ आऊँ। तो वह बोला कि लड़का तो हो जाने दो। लड़का भी हो गया। नारद जी फिर उसके पास पहुँचे कि अब चलो, तो वह बोला कि इस छोटे से लड़के को छोड़कर कहाँ जाऊँ? पहले इसकी शादी हो जाये, तब चलूँगा। वे उसकी शादी हो जाने के बाद फिर पहुँचे, तब वह बोला कि नाती का मुख तो देख लूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मात्मा पुरुष भी जब तक बहिरात्मा रहता है, तब तक संसार में इतना फँसा रहता है कि परसंबंध के मोह को छोड़ना नहीं चाहता।

मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है। इस कर्म के कारण जीव मोहग्रस्त होकर संसार में भटकता रहता है। यह मोह ही संसार का मूल है, इसलिये मोहनीय कर्म को कर्मों का राजा कहा जाता है। समस्त दुःखों की प्राप्ति मोहनीय कर्म से ही होती है। यह आत्मा के सही स्वरूप को नहीं पहचानने देता और परपदार्थों में ममत्वबुद्धि करवाता है। मोह की तुलना मदिरापान से की गई है। जैसे मदिरा पीने से मनुष्य परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नहीं रहता, वह हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है, वैसे ही मोह के उदय के कारण यह बहिरात्मा जीव तत्त्व—अतत्त्व का भेदज्ञान नहीं कर पाता और मकान—दुकान, परिवार आदि के मोह में ही फँसा रहता है।

यह जीव जब स्वयं को पर्याय रूप अथवा शरीरादि और रागादि—रूप

अनुभव करता है तो इसके राग बढ़ता है। जब यह स्वयं को द्रव्यस्वभाव—रूप अनुभव करने लगता है तो इसके रागादि में कमी होने लगती है और आत्मा क्रमशः रागादि से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। साथ ही शरीरादि की उत्पत्ति के कारणभूत कर्मों का भी अभाव हो जाता है।

यदि कोई व्यक्ति नाटक में अभिनय कर रहा है तो वहाँ पर जो अभिनय है वह 'पर्याय' है और जो अभिनय करने वाला व्यक्ति है वह 'स्वभाव' है। स्वांग करते हुए भी 'वह कौन है?' इसका उसे ज्ञान है। 'पर्याय' में लाभ—हानि, यश—अपयश, जीवन—मरण होते हुए भी उसे कोई सुख—दुःख नहीं होता, क्योंकि उसने अपने को 'स्वभाव' में स्थापित कर रखा है। इसी प्रकार, आत्मा का चेतनपना तो 'स्वभाव' है और क्रोधादि अवस्थाएं 'पर्याय' हैं।

यदि कोई व्यक्ति अभिनय करते हुए अपने असली रूप को भूल जाता है, स्वांग को ही वास्तविकता मान लेता है और फलस्वरूप दुःखी—सुखी होने लगता है, तो फिर उसका वह दुःख कैसे दूर हो? उपाय बिल्कुल सीधा है। यदि उसे अपने निजस्वरूप का, जिसे वह अभिनय के दौरान बिल्कुल भूल गया है, फिर से अहसास करा दिया जाये तो अभिनय, अभिनय ही रह जायेगा, इसका दुःखी—सुखी होना मिट जायेगा। उसके दुःख को दूर करने का यही सही उपाय है। स्वांग को बदलना सही उपाय नहीं है। क्योंकि स्वांग तो उसे नाना प्रकार के मिलते ही रहेंगे। यदि अपना अहसास बना रहे तो चाहे जैसा भी स्वांग हो, उसको करते हुए भी अभिनेता दुःखी नहीं होगा। इसी प्रकार इस जीव ने अपने चैतन्य स्वरूप को न पहचान कर, कर्मजनित अभिनय को ही वास्तविक मान लिया है, इसलिये दुःखी हो रहा है। दुःख से बचने का मात्र एक ही उपाय है कि यह अपने असली स्वरूप को पहचान ले। तब स्वांग में असलियत का भ्रम मिटकर वह मात्र नाटक रह जायेगा। फिर इसे चाहे जैसा भी स्वांग करना पड़े यह उसमें दुःखी नहीं होगा।

जीव की इसी विडम्बना को देखकर आचार्यों ने कहा है कि तू यदि कर्मकृत स्वांग में असलियत मानेगा तो तेरे राग—द्वेष अवश्य होगा, जिससे पुनः कर्मबंध होगा। दूसरी ओर, यदि तू स्वयं को पहचानकर कर्मजनित स्वांग को

मात्र स्वांग समझ लेगा, तब फिर न तो उसके कारण तू दुःखी—सुखी होगा और न ही तुझको नये—नये स्वांग भरने पड़ेंगे। इस प्रकार अंत में जब पूर्वसंचित कर्मों के द्वारा रचा हुआ तेरा अंतिम स्वांग भी समाप्त हो जायेगा, तब फिर तू इन कर्मजनित स्वांगों से सर्ववाधारहित—जैसा तू वस्तुतः है, वैसा ही रह जायेगा।

संसार जीव की कर्मजनित, परिवर्तनशील और नाशवान् अवस्थाएं स्वप्न की भांति ही अर्थहीन और क्षणस्थायी हैं। कोई व्यक्ति जब स्वप्न देखता रहता है, तभी तक स्वप्न उसके लिए वास्तविक लगता है। परन्तु जैसे ही वह जागता है, वैसे ही स्वप्न वास्तविकता से विहीन स्वप्न मात्र रह जाता है। स्वप्न में उसकी जो भी अवस्थाएँ हुई थीं, वे सुख—दुःख का कारण नहीं रह जातीं। इसी प्रकार यह जीव अपने चैतन्य—स्वभाव में तो सो रहा है और संसार के कार्यों में जाग रहा है। यदि यह अपने चैतन्य—स्वभाव में जाग जाये, तो संसार के समस्त कार्य स्वप्नवत् हो जाते हैं, अर्थहीन हो जाते हैं।

आचार्य समझा रहे हैं कि ये मकान—दुकान तेरे कुछ भी नहीं हैं। इनका मोह छोड़कर अपने आत्मस्वरूप को पहचानकर अन्तरात्मा बनो। इनके मोह के कारण तुझे संसार में रुलना पड़ेगा। संसारी प्राणी सपनों की दुनियाँ में मस्त हो रहा है। यह संसार स्वप्न से ज्यादा कुछ नहीं है। 'जगत मिथ्या है', इसका क्या अर्थ है? केवल इतना—सा अर्थ है कि जगत स्वप्न से ज्यादा कुछ नहीं है। स्वप्न दो प्रकार के होते हैं :—

1. बन्द आँख का सपना
2. खुली आँख का सपना।

व्यक्ति रात में सोता है, सपनों में खो जाता है, यह बन्द आँख का सपना है, जो व्यक्ति कभी—कभी देखता है। यह सपना घड़ी भर का, घंटे भर का होता है, ज्यादा हुआ तो रात भर का होता है। लेकिन खुली आँख का सपना जीवन भर का होता है। अभी जो आप देख रहे हैं, ये मकान, दुकान, बीबी—बच्चे, नौकर ये सब क्या है? खुली आँख का सपना है। जब तक आपकी आँखें खुली हैं, तब तक सही—सलामत है। आँख लगी, नेत्र मुँदे, कि सब बिखर जायेगा। दूध का दूध, पानी का पानी हो जायेगा। खुली आँख का सपना देखते—देखते पूरी

जिन्दगी निकल जाती है, लेकिन आश्चर्य है, संसारी प्राणी यह नहीं जान पाता कि यह सपना है, भ्रम है, सत्य नहीं है। और यह जान पाना संभव भी नहीं है कि यह स्वप्न है। क्योंकि स्वप्न की एक विशेषता होती है कि स्वप्न में असत्य भी सत्य मालूम होता है। महावीर स्वामी कहते हैं, सारे ऋषि मुनि कहते हैं कि भाई! यह सपने से ज्यादा कुछ नहीं है। इसे सत्य मत मान लेना। यह मृग-मरीचिका मात्र है। आचार्य डाँट कर भी समझाते हैं कि यह समागम आपके पिताजी का नहीं हुआ, पिताजी के पिताजी का नहीं हुआ, तो आपका कैसे हो सकता है? लेकिन अभी तो स्वप्न चल रहा है। मगर जिस क्षण नींद लगेगी, आँखें बन्द होंगी, तब मालूम पड़ जायेगा कि यह सब सपना था, धोखा था।

एक सम्राट था। बड़ा भारी राज्य था उसके पास। वह पूरी पृथ्वी का चक्रवर्ती था। उसका इकलौता बेटा अचानक बीमार पड़ जाता है। डॉक्टर-वैद्यों ने सम्राट से माफी माँग ली। वे बोले 'महाराज! हम रोगों का उपचार कर सकते हैं, मृत्यु का नहीं। राजकुमार के बचने की कोई उम्मीद नहीं। कब दीपक से ज्योति बिदा ले ले, कुछ भी निश्चित नहीं।' डॉक्टरों ने हाथ जोड़ लिये। सम्राट रात भर पुत्र के सिरहाने बैठा रहा। सुबह का वक्त था, ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी, सम्राट को हल्की-सी झपकी लग गई। झपकी लगते ही सम्राट स्वप्न में खो गया और सामने पड़े मरणासन्न बेटे को भूल गया।

वह स्वप्न में देखता है कि वह स्वर्गलोक का इन्द्र बन गया है, उसकी अप्सराओं जैसी कई रूपसी रानियाँ हैं, होनहार दस बेटे हैं, स्वर्ण के महल हैं, जीवन में आनन्द बरस रहा है। सम्राट सपनों में खोया हुआ है। तभी सामने लेटे हुये पुत्र ने श्वास तोड़ दी। रानी छाती पीट-पीटकर रोने लगी। रानी की रोने की आवाज सुनकर सम्राट की नींद खुल गई, उसका स्वप्न टूट गया। जब आँख खुली तो सामने मृत पुत्र को पाया। रानी रो रही है, पुत्र-वियोग में पागल हुई जा रही है। लेकिन सम्राट की आँखों में आँसू तक नहीं आये, बल्कि होंठों पर मन्द-मन्द मुस्कान दिख रही थी। रानी ने सम्राट को मुस्कराते देखा तो बोली-पागल हो गये क्या? बेटा सामने मरा पड़ा है और आप हँस रहे हैं, आपको आज क्या हो गया है?

सम्राट बोला—मैं सोच नहीं पा रहा हूँ कि मैं किस बेटे के लिये रोऊँ? उन दस बेटों के लिये रोऊँ, जो अभी सपने में थे और तुम्हारे रोने से वे सब समाप्त हो गये या इस बेटे के लिये रोऊँ, जो सामने पड़ा है। मुझे हँसी इसलिये आ गई कि मैं सोच रहा हूँ कि कहीं दोनों ही तो सपने नहीं हैं? अभी तक तो जो नींद में देख रहा था, उसे सत्य मान रहा था, पर आँख खुली तो पता चला कि वह तो कोरा सपना था। और अब आँख खुली तो जो देख रहा हूँ, कहीं यह भी तो सपना नहीं है? क्योंकि यह सब भी छूट जाने वाला है। आचार्य यही समझा रहे हैं कि यह भी सपना है। विशेषता केवल इतनी—सी है कि यह खुली आँख का सपना है। जब तक आँख खुली है तब तक है, आँख मुँदी, मृत्यु हुई कि सपना समाप्त।

जो अपना मानों सो सपना, निंदिया नसत नसावै।

महल अटारी हाट—हवेली, कुछ भी संग न जावै॥

बहिरात्मा जीव परपदार्थों में ममत्वबुद्धि रखता है, इसलिये उसे बेहोशी का नशा—जाल छाया रहता है। पर जैसे ही परपदार्थों से अपनत्व—बुद्धि दूर होती है, उसको आनन्द की लहर आने लगती है।

संसार में अनन्त जीव हैं। वे सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। पर हमें दुःख क्यों है और वह कैसे दूर हो? इसकी उनको खबर नहीं है। इसलिये सुख के लिये वे झूठी कल्पना करते हैं कि रूपयों में से सुख ले लूँ, अच्छे शरीर में से या महल में से सुख ले लूँ, विषय—भोगों में से सुख ले लूँ। ऐसी धारणा वाले जीवों की दशा उस शराबी के समान है जो नशे के कारण कहीं रास्ते में पड़ा रहता है, फिर भी अपने को सुखी मानता है। उसी प्रकार अज्ञान के कारण यह जीव शरीर, स्त्री, पुत्र, धन—वैभव आदि परद्रव्यों को अपना मानता हुआ उसमें राग करके खुश होता है। उसको वेदन तो राग की आकुलता का होता है, किन्तु अज्ञान के कारण ऐसा मानता है कि मैं सुख का अनुभव कर रहा हूँ।

इस जीव ने अनादिकाल से मोहरूपी महामद को पी रखा है, इसलिये अपनी आत्मा को भूलकर व्यर्थ ही संसार में दुःखी हो रहा है। श्रीमद् राजचन्द्र

जी ने कहा है कि “निज स्वरूप समझे बिना, पाया दुःख अनन्त।” जीव अपनी भूल से ही दुःखी है। भूल इतनी कि स्वयं अपने को ही भूल गया और पर को अपना माना। यह कोई छोटी-सी भूल नहीं है, परन्तु सबसे बड़ी भूल है। अपनी ऐसी महान भूल के कारण बेभान होकर जीव चार गतियों में घूम रहा है। किन्तु ऐसा नहीं कि किसी दूसरे ने उसको दुःखी किया या कर्मों ने उसको रुलाया। सीधी-सादी यह बात है कि जीव अज्ञान के कारण स्वयं निज-स्वरूप को भूल कर अपनी ही भूल से रुला व दुःखी हुआ। जब भेदविज्ञान को प्राप्त करके वह अपनी भूल मेटे, तब उसका दुःख मिटे। अन्य किसी दूसरे उपाय से दुःख मिट नहीं सकता।

शरीर से भिन्न आत्मा को जानने पर ही मोह दूर होता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यह मोह ही संसार का कारण है। इसलिये ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे पाप-का-बाप यह मोह आत्मा से निकल जाये। यही दुनियाँ को नाच नचाता है। श्री गणेश प्रसाद वर्णी जी ने लिखा है— मोह दूर हो जाये तो आज संसार से छुट्टी मिल जाये। पर हो तब न। उपाय तो विषय-भोगों में सुख-शान्ति खोजने के बना रखे हैं। शान्ति को अपने चेतन-घनस्वरूप आत्मा में खोजो, विषय-भोगों में नहीं। विषय-भोग तो अशान्ति को और भी बढ़ानेवाले हैं।

एक बार एक जिज्ञासु ने गुरु से जाकर कहा कि प्रभु! शान्ति दे दीजिये। गुरु ने कहा—इतनी छोटी-सी वस्तु देते हुये मैं क्या अच्छा लगूँगा? जाओ, सामने नदी में एक मगरमच्छ रहता है, उससे जाकर कहना, वह देगा तुम्हें शान्ति। वह नदी पर गया, मगर को आवाज लगाई और गुरु का आदेश कह सुनाया। मगर बोला—शान्ति तो अवश्य दूँगा, परन्तु मुझे प्यास लगी है, पहले पानी पिला दो, बाद में दूँगा। वह व्यक्ति सुनकर हँस पड़ा और एकाएक उसके मुँह से निकल पड़ा—“जल में मीन प्यासी, मुझे सुन-सुन आवे हाँसी।” मगर बोला—जाओ, यही उपदेश है शान्ति की खोज का। शान्ति तो आत्मा का स्वभाव है। शान्तिसागर में रहते हुये भी शान्ति की खोज करता फिरता है, बड़े आश्चर्य की बात है। अनादिकाल से यह आत्मा मोह के जाल में उलझा हुआ जिस किसी

वस्तु को इंद्रियों व मन के द्वारा ग्रहण करता है, उसी में राग या द्वेष कर लेता है। निराकुलता, चिन्ता रहितता और शांतता को चाहता हुआ भी आकुलता चिन्ता और अशांति के उत्पन्न करने वाले भावों में पड़ जाता है, इसी से अधिक अशांत हो जाता है। इसके ऊपर जगत को नचाने वाले मोह ने ऐसी भुलाने वाली मोहनी धूल डाल दी है, जिससे यह स्वयं से बेखबर हो रहा है।

मोह महाविष पी रहा, जो है शत्रु समान।

इसको चेतन त्याग दे, तब होगा कल्याण॥

मोहरूप तेज शराब को पीकर जीव अपने शान्त स्वभाव को भूल रहा है। मोह इतना बड़ा शत्रु है कि विष तो एक भव में ही प्राण हरता है, लेकिन मोहरूपी विष भव—भव में दुःख देता है। मोहनीय कर्म ऐसा ही होता है जैसा फौज का कमाण्डर। जैसे ही फौज का कमाण्डर मारा जाय तो फौज ठहर नहीं सकती, उसी प्रकार अगर मोहकर्म को जीत लिया जाए तो शेष कर्म ठहर नहीं सकते। इसलिये, भाई! पहले तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करके मोह को खत्म करो। मोह का अर्थ संसार है, संसार का अर्थ विकारी पर्याय है। जितने भी संसारी ठाट—बाट हैं, मोह के कारण दिखाई देते हैं। मोह ही जीव का प्रबल शत्रु है।

मोहनीय कर्म ने आदिनाथ भगवान् को 83 लाख पूर्व तक घर में रोके रखा। जब नीलांजना के निधन को देखकर मोह दूर हुआ, तब वैराग्य प्रगट हो गया। नृत्य करते—करते नीलांजना का मृत्युक्षण आ गया और आदिनाथ भगवान् को नीलांजना के नृत्य ने संसार का स्वरूप दर्शा दिया। नीलांजना—जैसी दिव्य काया भी एक क्षण में छाया में विलीन हो गई। धिक्कार है इस क्षणभंगुर जीवन को, धिक्कार है बर्फ के समान पिघलते यौवन को, धिक्कार है इन्द्रधनुष के समान मिटते सौंदर्य को। मोह दूर होते ही उन्होंने 83 लाख पूर्व तक भोगे दिव्य भोगों को एक क्षण में त्याग दिया। संसार की जड़ 'मोह' है। मोह से सुकौशल मुनि की माँ आर्त्तध्यान से मरकर व्याघ्री बनी और अपने ही पुत्र सुकौशल मुनि को खाया।

किंवदन्ती है—सूरदास नाम के कवि सात भाई थे। एक समय की बात है कि सूरदास के छह भाई युद्ध के लिये चल दिये। सूरदास का अपने भाईयों से

अत्यंत स्नेह था। सूरदास जी उनके जाते ही तड़पने लगे। कुछ दिनों बाद खबर आयी कि दो भाई युद्ध में मारे गए। अब क्या था, सूरदास रोते-रोते अन्धे बन गए और सदा के लिये अपने आप को एक घनिष्ट दुःख में डाल दिया। क्या वे भाई रोने से वापिस आ गये? नहीं आये।

तुलसीदास जी को अपनी पत्नी रत्नावली से इतना मोह था कि एक बार उनकी पत्नी बिना पूछे अपने पीहर चली गई तो तुलसीदास जी उनके मोह में तड़प गए। तीसरे दिन ही उनके पीछे-पीछे अपनी ससुराल पहुँच गए। उनको देख रत्नावली बहुत लज्जित हुई और उन्होंने कहा कि जितना मोह तुम्हें मेरे इस हड्डी तथा माँस से बने शरीर से है, इतना मोह यदि अन्तरात्मा से हो जाये, प्रभु से हो जाये, तो यह भवभ्रमण का चक्कर ही छूट जाये। जब पत्नी से मोह दूर हो गया, तो जंगल में जाकर भगवद् भक्ति की और रामचरित मानस की रचना की।

जिनका मोह दूर हो जाता है, उन्हें इस नश्वर संसार को छोड़ने में देर नहीं लगती। प्रद्युम्न कुमार को वैराग्य हो गया। वे श्रीकृष्ण व बलदेव से दीक्षा लेने की आज्ञा लेने राजमहल में पहुँचे। तब श्रीकृष्ण व बलदेव कहते हैं—‘अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है? अभी तो हम बड़े-बूढ़े लोग घर में बैठे हैं। कुछ दिन बाद दीक्षा ले लेना।’ तब प्रद्युम्न कुमार कहते हैं कि आप लोग तो संसार के थम्ब हो, अतः राज्य करो। मैं तो वन में जाता हूँ। वे पत्नी के पास जाकर कहते हैं—मेरे भाव दीक्षा लेने के हो रहे हैं, मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। तब वह महान स्त्री कहती है कि जब तुम्हें संसार और भोगों से वैराग्य हो गया है तो मुझसे पूछने क्यों आये? क्या स्त्री से पूछ-पूछ कर दीक्षा ली जाती है? अब आप जाओ अथवा मत जाओ, मैं तो आर्यिका माता बनकर तपस्या करूँगी और वह प्रद्युम्न कुमार से पहले घर से निकल जाती है।

ब्रह्मगुलाल बहुरूपिया बनकर खेल दिखाता था। एक बार हँसी-खेल में उसने मुनिवेश धारण कर लिया, लेकिन बाद में उसके मित्र मथुरामल ने और माता-पिता ने बहुत कहा कि यह तो तुम खेल ही कर रहे थे, अब कपड़े पहन लो। ब्रह्मगुलाल कहता है कि ये मुनि-वेश त्यागा नहीं जाता। यह तो सबसे

आखिरी वेश है। अब तो हम कर्मों से लड़ेंगे। कुटुम्बवालों ने उन्हें बहुत रोका, मुनिव्रत के भय दिखाये, पर वे नहीं रुके। आखिर मथुरामल ने भी क्षुल्लक के व्रत ले लिये। जो निर्मोही होता है, वह घर में जल से भिन्न कमल की भाँति रहता है और सुख—दुःख सभी परिस्थितियों में समताभाव रखता है।

एक बार देवों में चर्चा हुई कि मध्यलोक में एक राजा बिल्कुल निर्मोही है, उसका कुटुम्ब भी निर्मोही है। एक देव परीक्षा लेने के लिए आया और उस देव ने योगी का रूप धारण कर लिया। राजा का लड़का उस समय वन में घूमने गया था, उसी समय देव उस कुँवर का मृतक शरीर लेकर महल में आया। दरवाजे पर उसकी दासी मिली और उससे कहा कि राजकुँवर को शेर ने खा लिया है, मैं तुम्हें खबर करने आया हूँ।

तब दासी कहती है कि इतने क्यों घबरा रहे हो? हे योगी! तूने कपड़े ही रंगे हैं, मर्म नहीं जानते, योगी निर्मोही होते हैं। तब देव ने सोचा कि यह तो दासी है, यह तो नौकरी करती है, ये भला क्यों रोयेगी? वह माता के पास जाकर बोला—“माता तेरे बेटे को शेर ने खा लिया है।” माता कहती है— “हे योगी! तुम किसलिये चिंतित हो रहे हो? इस संसार में तो जन्म—मरण होते ही रहते हैं। तब देव ने सोचा कि यह माता बड़ी कठोर है, गम नहीं खाती। तब वह राजकुमार की पत्नी के पास गया और वहाँ जाकर कुँवर के मुर्दे का रूप पत्नी को दिखाता है और कहता है कि तेरे पति को सिंह ने खा लिया है। तब वह कहती है—“हे योगी! तेरी बुद्धि कहाँ चली गई है? तेरे हृदय में मिथ्यात्व का अंधेरा छा गया है। इस संसार में कोई किसी का नहीं है, यह जगत झूठा है, योगी! तूने इतनी उम्र वैसे ही गँवा दी। देव शर्मिन्दा होकर राजसभा में आया और बोला—राजा साहब! तुम्हारा एक ही लड़का है, उसे सिंह ने खा लिया है। राजा योगी से कहता है—‘तुम इतना क्यों घबरा रहे हो? जो होनी थी, हो गयी। कर्मों की माया है। जो जन्मा है, वह नियम से मरेगा भी।’ तब देव ने अपना असली रूप बनाया और कहने लगा—“हे राजन्! आप धन्य हैं, इन्द्रसभा में आपकी जैसी प्रशंसा सुनी थी, उससे भी अधिक पायी। वह देव राजा को नमस्कार कर चला गया।

आचार्य समझा रहे हैं—अरे! जिन बाह्य पदार्थों के पीछे इतना हैरान हो रहे

हो, वे अन्त में छूट जानेवाले हैं। अतः इन 'परपदार्थों' का मोह छोड़ कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। मनुस्मृति में एक श्लोक है, जिसका अर्थ है—जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है, वह कर्मों से नहीं बंधता और जो सम्यग्दर्शन से रहित है, वह संसार में ही रूलता है।

क्या है वह सम्यग्दर्शन? नाम तो सुना है, मगर सम्यक्त्व है क्या चीज? आत्मा की जब निर्विकल्परूप अनुभूति बने, तब वास्तव में सम्यक्त्व का परिचय होता है। हम व आपको जरा ऊधम छोड़ना है, ढंग से बनना है, सब काम बन जायेगा। सम्यक्त्व होते ही बहुत काल से दुःखी होता चला आया यह आत्मा प्रसन्न हो जायेगा।

सम्यग्दर्शन का अचिन्त्य महात्म्य है। सम्यग्दर्शन के कारण ही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ, जल में कमलवत् संसार में (घर में) रहता हुआ भी इससे भिन्न रहता है। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने एक उदाहरण दिया है — पुत्र की मृत्यु के एक महीने पश्चात् ही अपनी कन्या का विवाह करनेवाला कोई व्यक्ति बाहर में सबकुछ रावरंग करता हुआ, मिठाई बनवाता हुआ, बाजे बजवाता हुआ भी अन्दर से रोने के सिवाय कुछ नहीं कर पाता। वह हँस-हँसकर अतिथियों का सत्कार करता अवश्य है; पर अन्दर से नहीं, बाहर से। उसका अन्तःकरण तो यह सबकुछ करता हुआ भी अपने पुत्र के शोक से विह्वल, केवल रो ही रहा है। यह सब खेल-तमाशा मानो उसका गला घोंट रहा हो, उसे ऐसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी व्यापार आदि करता अवश्य है, भोग आदि भी भोगता अवश्य है, पर अन्दर से नहीं, केवल बाहर से। अन्दर से तो इन सब कार्यों को करता हुआ वह रोता मात्र है, मानो यह सबकुछ आडम्बर उसके आन्तरिक जीवन का गला घोंट रहा हो। लोक को वह सबकुछ करता हुआ अवश्य दिखता है, पर वास्तव में वह स्वयं कुछ भी नहीं कर पाता। इसी को अरुचिपूर्वक करना कहते हैं। 'घर में रहते हुये भी वैरागी' इसी का नाम है।

यहाँ आचार्य समझा रहे हैं—हे भाई ! तुझे कल्याण चाहिये, सुख-शान्ति चाहिये, तो परपदार्थों की ओर न देख। देख अपनी ओर, अपनी प्रभुता की ओर। तू तो स्वयं शांति का भण्डार है। इस शरीर को अपना मानकर निष्प्रयोजन

इसकी सेवा में जुटे रहना, धनादिक व कुटुम्बादिक परपदार्थों की सेवा में जुटे रहना ही तो वह बन्धन है, जो स्वयं मैंने अपने सिर लिया हुआ है। सेवक बने रहना मेरी अपनी भूल है और मजा तो यह है कि इस भूल में भी मैं आनन्द मानता हूँ। परपदार्थों में उपयोग को भटकाते बहुत समय व्यतीत हो गया है, अब तो अपनी अन्तरात्मा को देखो। ये पर-भाव, पर दशायें सब ही स्वप्न हैं।

संसार की धन-सम्पत्ति किसी के साथ नहीं गई। यहाँ किसी का कुछ नहीं है। 'परमात्म प्रकाश' की टीका में पं. दौलतराम जी ने लिखा है—

विषय—सुखानि द्वे दिवस के, पुनः दुःखानां परिपाटी।

भ्रान्त जीव या बाह्य त्वं, आत्मनः स्कन्धे कुठारम्॥

विषयों के सुख दो दिन के हैं, फिर बाद में ये विषय दुःख की परिपाटी हैं, निगोदादि दुर्गतियों में ले जानेवाले हैं। ऐसा जानकर, हे भोले जीव! तू अपने कन्धे पर आप ही कुल्हाड़ी मत चला।

भैया! सुखी होने के लिये परपदार्थों से प्रेम नहीं करना चाहिये, नहीं तो उनके वियोग में फिर दुःख होता है। बम्बई में एक स्त्रीप्रेमी सेठ था। स्त्री की खूब सेवा करता था। जब स्त्री मंदिर जाये तब वह उसके ऊपर छतरी लगाकर चलता था। स्त्री ने सेठ को बहुत समझाया कि इतना प्रेम नहीं करना चाहिये, नहीं तो मेरे मरने पर तुम पागल हो जाओगे। ऐसा ही हुआ। जब वह मरी तो सेठ पागल हो गया।

यह इस जीव की सबसे बड़ी भूल है जो वह परपदार्थों को अपना मानता है और उनकी सेवा में जुटा रहता है। इस जीव ने धन-सम्पत्ति तो अनेक बार प्राप्त की, पर आत्मज्ञान आज तक प्राप्त नहीं किया। आत्मा में लीन रहने वाले दिगम्बर मुनिराज उत्तम अन्तरात्मा हैं। वे ही सदा सुखी रहते हैं।

एक दिगम्बर मुनिराज एकान्त निर्जन वन में एक पेड़ के नीचे ध्यानस्थ बैठे थे। उनके मुखमण्डल से अपूर्व आभा निकल रही थी। चेहरे का तेज चारों ओर फैल रहा था। वहाँ से एक राजा शिकार खेलने जा रहा था। लेकिन राजा काफी चिंतित और परेशान था। उसके अन्तरंग की चिन्ता चेहरे पर स्पष्ट रूप से झलक रही थी। राज्य की चिन्ताओं से वह इतना अधिक घिर गया था कि उसने

आत्महत्या करने का विचार तक कर लिया था। इसी बीच उसकी दृष्टि उन साधु महाराज पर पड़ गई जो एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। उनके चेहरे की आभा देखकर राजा हैरान हो गया कि इन नग्न साधु के पास कुछ भी नहीं है, लेकिन ये कितने आनन्दमय दिख रहे हैं। उसने अपने साथी से कहा कि मैं इस अनोखे भिखारी से मिलना चाहता हूँ। राजा रथ से उतरकर साधु के पास गया और उसने साधु महाराज से कहा कि मैं बाहर में आपके पास कुछ भी नहीं देख रहा हूँ, लेकिन आपकी प्रसन्न मुखाकृति को देखकर ऐसा लगता है कि मेरे पास कुछ भी नहीं है। भौतिक दृष्टि से सबकुछ होने पर भी मैं मरने की सोचता हूँ। ऐसा कहकर राजा रोने लगा और उसने कहा कि क्या कोई रास्ता संभव है जिससे मैं आप—जैसी शान्ति और आनन्द को प्राप्त कर सकूँ?

मुनि महाराज ने मुस्कराते हुये सहज ही मधुर शब्दों में कहा— हे राजन्! बहुत ही सीधा व सरल उपाय है। कहीं भी भटकने की जरूरत नहीं है, मात्र अपनी आँखों को खोलकर देखने की जरूरत है। यदि एक बार आत्मा से मिलने की प्यास का जन्म हो जाये, तो परिवर्तन हो सकता है। किन्तु, हे राजन्! तुम बड़े ही भाग्यशाली हो जो तुम्हें दिखाई पड़ गया कि तुम खाली हो, क्योंकि बहुत कम आत्माओं को अपने खालीपन का अहसास हो पाता है, उनके भीतर एक क्रान्ति—सी पैदा हो जाती है। आपके पास बाहर क्या है, इसका कुछ मूल्य नहीं। आपके भीतर क्या है, इसका भी मूल्य नहीं है। आपके भीतर के ज्ञान का मूल्य है। यदि यह सम्पत्ति नहीं है, तो उसे प्राप्त करने की आकांक्षा पैदा होना चाहिए। जिनके भीतर अन्दर के जगत को देखने की आकांक्षा पैदा नहीं होती, वे संसार में सबसे बड़े दरिद्र हैं। वे दुःख में ही अपने जीवन को समाप्त कर देते हैं। उनके जीवन में किसी प्रकार की उपलब्धि नहीं हो पाती। उनका जीवन किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचता। वे व्यर्थ जीते हैं और व्यर्थ ही समाप्त हो जाते हैं।

बहिरात्मदृष्टि छोड़कर अपने आपको पहचानने का प्रयास करो। विचार करो कि जो अपना नहीं है, उससे परिचय जोड़ रखा है; किन्तु जो अपना है, उससे बेखबर हैं। जिन्हें एक दिन छोड़ना ही है, उसे हम अपना मान रहे हैं।

यही तो अज्ञानता की मोहदशा हमारे विकास में बाधक है। जो मेरा था नहीं, मेरा है नहीं, मेरा होगा नहीं, फिर उसके पीछे अपने परिणाम क्यों खराब कर रहे हो? यदि अपने को पहचानना है तो परवस्तुओं पर अपनी नीयत मत बिगाड़ो और चिन्तन करो कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाना है? ध्यान रखना—सम्यग्दृष्टि वही है, जो अपने परिणामों के प्रति सचेत है। जो भी भव्य प्राणी इस रहस्य को समझ गया, वह एक दिन निश्चित ही इस सांसारिक जीवन में रहकर भी कीचड़ में कमल की तरह अपने को बचा लेगा।

श्री सुधासागर जी महाराज ने लिखा है — कि जो दिख रहा है, चखने में, स्पर्श करने में, सूँघने में आ रहा है, पाँचों इन्द्रियों के विषय आ रहे हैं, वह मैं नहीं हूँ। बस, यही सम्यक् दृष्टि है। मैं सोता हूँ, फिर जागता कौन है? यही तो भेदविज्ञान है। जो मौलिक (ओरीजनल) तुम्हारा है, उसे समझने के लिए ब्रह्ममुहूर्त में अपने अन्तर की गहराई में उतरने का अभ्यास करो, फिर आत्मा का अनुभव इस नर-तन की पवित्रता को सार्थक कर देगा।

यदि अपने को पहचानना है तो पहले जो वस्तु मेरी थी नहीं, जो मेरी है नहीं, मेरी होगी नहीं, उस पर दृष्टि मत डालो। पर-वस्तुओं को अपना मत मानो, फिर आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाएगा। अपने मन को नियंत्रित करो और रावण की बदनियत को खत्म करो। जन्म लेने के बाद जो संबंध जोड़ लिए, उन अनर्थकारी वस्तुओं को निकालने का पुरुषार्थ करो। जब स्वयं का राग द्वेष, मोह-माया से बंधन कम होगा, फिर मैं कौन हूँ और मेरा वास्तविक ध्येय क्या है, यह रहस्य आत्मा को उद्घाटित कर देगा।

जब वाल्मीकि को सत्य का ज्ञान हुआ, तब वे डाकू से साधु हो गए। इसी तरह यदि मानव अपने जीवन के रहस्य को समझ लेगा, फिर संसार की इस भटकन से अपने को मुक्त कर लेगा। अज्ञान दशा का अपना पर्दा हटाओ और आत्मबोध का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। जो वास्तव में मेरा है, उसे पहचानो और जो संसार से एक दिन छोड़ना है, उनसे अपनी मोही दशा कम करते जाओ, जिससे अपनी मूल आत्मा बाहरी पदार्थों के वजन से हल्की हो सके। उसका प्रकाश अपने जीवन के अंधकार को मिटा सके और अपना चिन्तन

आत्मा का पर्याय बन सके कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाना है?

शरीर और आत्मा के भेद को समझनेवाला अन्तरात्मा ही एक दिन अपनी आत्मा को पवित्र करके परमात्मा बन जाता है। अपनी आत्मा का शरीर से ठीक उसी प्रकार का संबंध है जैसे उड़द से छिलके का। एक मुनिराज थे, वे णमोकार मंत्र का शुद्ध उच्चारण भी नहीं जानते थे। गुरु महाराज उन्हें पढ़ाते-पढ़ाते थक गए, परन्तु मुनिराज फिर भी बुद्धि से मंद होने के कारण कुछ सीख नहीं पाए। एक दिन जब वे आहार करने को निकले, तब उन्होंने एक महिला को उड़द के छिलकों को फटकते देखा। वे वहीं खड़े हो गए और पूछ बैठे कि इन छिलकों को फेक क्यों रही हो? जब उन्हें पता लगा कि अब छिलके कोई काम के नहीं रहे, तभी उन्हें अनुभव हुआ, ज्ञान की लब्धि प्राप्त हो गई कि यह शरीर भी तो अपनी आत्मा से उड़द के छिलके के समान भिन्न है। इसे भी एक दिन नष्ट किया जाएगा। बस, उसी दिन से उन्हें जब यह अनुभूति हुई, तब वे आत्मा के प्रकाश को पाने में ऐसे जुटे कि एक दिन केवलज्ञान तक को प्राप्त करने में सफल हो गये।

जब यह जीव अन्तरात्मा बन जाता है, जब सच्ची श्रद्धा होती है, तब पाषाण में भी भगवान् दिखने लगते हैं। धर्म की नींव श्रद्धा, समर्पण व आस्था पर खड़ी है? जहाँ सच्ची श्रद्धा और समर्पण होता है, तब मिट्टी और पाषाण की प्रतिमा में भी भगवान् आ जाते हैं। यही तो श्रद्धा और समर्पण का चमत्कार है। एक बार अपने हृदय के मंदिर में प्रभु को विराजमान करने का पुरुषार्थ तो करो। अपनी शक्ति को छुपाओ नहीं, बल्कि उसको प्रकट करो। ध्यान रखना— जब दान, साधना, पूजन, नियम, देव-दर्शन, सत्-संगति, स्वाध्याय आदि करने की शक्ति अपने में मौजूद है, तब उसको छुपाओ मत, बल्कि उसे प्रकट करो, फिर श्रद्धा व समर्पण जीवन को बदल देगा। फिर पाषाण में भी साक्षात् भगवान् के दर्शन मिल जाएँगे।

एकलव्य में गुरु के प्रति इतना समर्पण था कि अपने गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी से बनाई मूर्ति से ही उसने वह शब्दभेदी बाण चलाने की दुर्लभ कला सीख ली जो कि साक्षात् गुरु की मौजूदगी में अर्जुन नहीं सीख पाया। एकलव्य

में अपने गुरु के प्रति इतनी प्रगाढ़ आस्था व दृढ़ श्रद्धा थी कि एक दिन गुरु अपने इस शिष्य के समक्ष स्वयं उपस्थित हुए और जब उन्होंने गुरुदक्षिणा में जैसे ही एकलव्य से अपने दाँये हाथ का अँगूठा माँगा, उसी क्षण एकलव्य ने अपना अँगूठा काट कर गुरु के चरणों में रख दिया। अपने इस दृढ़संकल्पी भक्त की श्रद्धा व विश्वास पर स्वयं द्रोणाचार्य को आँसू बहाने पड़े, क्योंकि उन्होंने एकलव्य से उसकी सारी जिन्दगी का ज्ञान जो छीन लिया था। महाभारत में द्रोणाचार्य की इस गुरु दक्षिणा की हालांकि निन्दा हुई है, परन्तु एकलव्य ने तो संसार को यह दिखा दिया कि गुरु के प्रति कोई शंका नहीं। उन्होंने जो माँगा, उसने वह तुरन्त दे दिया। तभी तो एकलव्य की गुरुभक्ति एक प्रेरक व ऐतिहासिक मिसाल बन गई।

गुरु द्रोणाचार्य स्वयं उस वक्त अचम्भित हो गए जब उन्होंने देखा कि एकलव्य ने मात्र उनकी मिट्टी की प्रतिमा से ही निर्देशन पाकर अद्भुत धनुर्विद्या अर्जित कर ली। एकलव्य की शब्दभेदी बाण की कुशलता पर अर्जुन तक अपने गुरु आचार्य के प्रति शंकित होकर यह आरोप लगा बैठे कि आपने छल व कपट से एकलव्य को यह विद्या सिखाई होगी। परन्तु जब मौके पर जाकर स्वयं गुरु द्रोणाचार्य व अर्जुन ने एकलव्य की कुटिया में गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति को देखा, तब उनकी आँखें फटी रह गईं। यही तो चमत्कार था। गुरु द्रोणाचार्य को स्वयं ही अर्जुन से कहना पड़ा कि एकलव्य अचेतन में भी चेतन को पा गया और तुम साक्षात् गुरु के होते भी नहीं पा सके। एकलव्य अपनी श्रद्धा के बलबूते पर गुरु से भी ऊँचा दर्जा पा गया। यही तो विशेषता है श्रद्धा और समर्पण में। जो अर्जुन साक्षात् गुरु से नहीं पा सका, वह एकलव्य मिट्टी की मूर्ति में ही पा गया।

जब जीवन में सहजता व सरलता होगी, तभी श्रद्धा प्रकट हो सकेगी। जिसकी जैसी दृष्टि होती है, उसके परिणाम भी वैसे ही होने लगते हैं। जब महर्षि वाल्मीकि 'रामायण' में अशोक वाटिका का वृत्तांत लिख रहे थे कि वहाँ सफेद फूल व हरे पत्तों की छटा बिखरी हुई थी, तभी हनुमान ने कहा—वहाँ तो सारे फूल व पत्ते लाल—ही—लाल थे। जब हनुमान व वाल्मीकि के बीच लाल व

सफेद को लेकर वाद—विवाद चलता रहा, तब आखिर सीता माता को आकर यह कहना पड़ा कि दोनों की ही बात सत्य है। माँ सीता ने कहा कि जब हनुमान ने अशोक वाटिका देखी थी, तब वे क्रोध से भरे, आँखें लाल किए हुए थे, तभी तो उन्हें सफेद फूल भी लाल नजर आए और महर्षि वाल्मीकि ने शांत स्वभाव से अशोक वाटिका का रूप निहारा था, तब उन्हें फूल सफेद ही नजर आए होंगे। यही तो दृष्टि है। जिसकी जैसे दृष्टि, उसके वैसे ही परिणाम। परन्तु ध्यान रखना, जब मन की दृष्टि में श्रद्धा व समर्पण होगा, तब पाषाण में भी भगवान् दिखाई दे जाएँगे।

यदि हम घर नहीं छोड़ सकते तो घर में जल से भिन्न कमल के समान रहें। 'गृहस्थी निभायें, परन्तु निर्मोही बनकर'। सुखी बनना है तो जैन साधु की तरह निर्मोही बनकर जीना सीखो। गृहस्थी भले ही मत छोड़ो, परन्तु गृहस्थ में निर्मोही बनकर जीना सीख लो। जैन साधु जैसे शरीर को नहीं छोड़ता, परन्तु शरीर से कभी राग अथवा मोह नहीं रखता। उसी तरह गृहस्थ भी गृहस्थी में रहते हुए यदि निर्लिप्त व निर्मोही बन जाए, तो फिर सम्यग्दर्शन असंभव नहीं है। फिर एक दिन वह गृहस्थी में रहते हुए मुनि की तरह निर्मोही बनकर अपनी आत्मा को मोक्षमार्ग में आगे ले चलेगा। यही तो इस जीवन का मुख्य ध्येय है, जिसे समझो और आगे बढ़ो, कल्याण हो जाएगा।

यदि गृहस्थी नहीं छोड़ सकते तो चलो कोई बात नहीं, लेकिन भेदविज्ञानी तो बनो। शरीर से अपने रागी—मोही परिणामों में अब तो कमी लाओ। शरीर की गुलामी और शरीर की पूजा में कब तक अपने जीवन को व्यर्थ खोते रहोगे? वासनाओं का दास तो पता नहीं यह शरीर किन—किन भवों में कितनी अनन्त बार बन चुका। अब तो अपने राग—द्वेष, मोह—माया को कम करके अन्तरात्मा बनो और शक्ति अनुसार व्रत—नियमों का पालन करो। अविरत—सम्यग्दृष्टि जघन्य—अन्तरात्मा कहलाता है और जब वह अणुव्रत और महाव्रतों को धारण कर लेता है तो मध्यम और उत्तम अन्तरात्मा बन जाता है। सभी को कम—से—कम अणुव्रतों का पालन तो अवश्य ही करना चाहिये। अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह—परिमाण अणुव्रत ये पाँच सूत्र महावीर

भगवान् ने अपने श्रावकों को दिये हैं। पर इस पंचमकाल के श्रावक कुछ ज्यादा ही होशियार हो गये हैं। उन्होंने सोचा ये अणुव्रत भगवान् महावीर स्वामी ने दिये हैं तो लेना तो पड़ेंगे, नहीं तो फिर जैन लिखना बंद करना पड़ेगा। इसलिये ले लिये, पर उसमें अपनी चतुराई का प्रयोग किया। इसमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर लिया। जहाँ अहिंसाणुव्रत था वहाँ का 'अ' निकाल लिया। क्या कर लिया? हिंसाणुव्रत। ठीक है, अब काम चल जायेगा और हिंसा के काम करने लगे, और इस 'अ' का क्या करें? इसे सत्य के आगे जोड़ दें। हमने कुछ नहीं किया, उसी का उसी को दे दिया। सत्य के आगे 'अ' जोड़ दिया तो वह बन गया असत्याणुव्रत, सो असत्य बोलना शुरू कर दिया। उसके बाद आया अचौर्याणुव्रत। उससे भी 'अ' निकाला तो वह बन गया चौर्याणुव्रत, छोटी-छोटी चोरी करने लगे। बड़ी-बड़ी नहीं करेंगे, बेइमानी करने लग गये। अब इस 'अ' को कहाँ ले जायें? सो इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत में जोड़ दिया और वह बन गया अब्रह्मचर्याणुव्रत। वहीं का वहीं फिट कर दिया और विषयभोगों को भोगने में लीन हो गये। इसी प्रकार अपरिग्रह के 'अ' को निकालकर कर लिया परिग्रह, सो दिन-रात परिग्रह जोड़ने में लगे हैं। न घर के लिये समय है और न ही धर्म के लिये समय है।

इन अणुव्रतों की हमने दुर्दशा कर दी है। एक का 'अ' निकालकर दूसरे में जोड़ता गया और अपनी चतुराई में भूल रहा है, अपनी चतुराई में भटक रहा है। अपनी चतुराई को बहुत बड़ी चतुराई समझ रहा है। पर ध्यान रखना, यह चतुराई नहीं है, ये बहुत बड़ी मूर्खता है, यह महा अज्ञानता है। इसका फल जब हमारे उदय में आयेगा तो रोना पड़ेगा।

सीता के जीव प्रतीन्द्र ने नरक में जाकर जब रावण और लक्ष्मण के जीव को संबोधा और उनकी तरफ देखा तो दोनों दुःख के आँसू रो रहे थे। आप स्वयं विचार कर देखो कि हम कितना इन व्रतों का पालन कर रहे हैं। हम भगवान् को तो मानते हैं, पर उनकी बात नहीं मानते।

जब जीवों को स्व-पर की अर्थात् आत्मा 'अपना है और आत्मा से भिन्न जो भी पदार्थ है वे अपने नहीं हैं', ऐसी श्रद्धा होती है, तब उसका जीवन सुधर जाता है। अगर हमको भी अपना जीवन सुधारना है तो हमें जिनवाणी की बात

मानना चाहिये। शक्ति अनुसार अणुव्रतों का पालन करना चाहिये और अज्ञानता छोड़कर भेदविज्ञानी बनना चाहिये। 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है —

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः।

बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम्॥

जो बहिरात्मा है, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा का देह के साथ संयोजन करता (जोड़ता) है अर्थात् एक समझता है। और जो ज्ञानी (अन्तरात्मा) है, वह देह से देही (चैतन्यस्वरूपी आत्मा) को पृथक् ही देखता है। यही ज्ञानी और अज्ञानी में भेद है। यह जीव अनादिकाल से अज्ञानी बना हुआ है। अब तो मोहनींद से जागकर स्वयं को पहचानने का प्रयास करो।

जिन्दगी के तीन आयाम हैं—बचपन, जवानी और बुढ़ापा। अक्सर होता ये है कि व्यक्ति अन्त समय तक भी जाग नहीं पाता। बचपन, यौवन और बुढ़ापा व्यर्थ ही खोकर इस दुनियाँ से चला जाता है। जो बचपन में जाग जाते हैं, वो संसार के स्वरूप को सुनकर जागते हैं; जो जवानी में जागते हैं, वे देखकर जागते हैं और जो बुढ़ापे में जागते हैं, वे भोगकर जागते हैं। जो लोग बचपन में जाग गये, वे बड़भागी हैं। वे शादी ही नहीं करते और महावीर भगवान् के समान बचपन में ही, जवानी में ही सन्यास ले लेते हैं।

गृहस्थी के जाल में फँसने से पहले जो जवानी में ही जाग गये, वे बड़े सौभाग्यशाली हैं। और जो बुढ़ापे में जाग गये, वे भी सौभाग्यशाली हैं। बुढ़ापे में अपने आप को न संभाला तो इस गलतफहमी में मत रहना कि मरघट में संभल जाऊँगा। बुढ़ापा जिंदगी का अंतिम पड़ाव है। अंतिम पड़ाव में भी संभल गये तो जीवन पाना सार्थक हो जायेगा।

एक सम्राट था। उसके सौ पुत्र थे। सम्राट बूढ़ा हो गया। पहले के जमाने में बुढ़ापा देखकर लोगों को परलोक की चिंता हो जाती थी। वह सोचने लगता था कि बुढ़ापे का अर्थ है मौत का पैगाम। जन्म के बाद बचपन आता है, बचपन के बाद जवानी आती है और जवानी के बाद बुढ़ापा आता है। लेकिन बुढ़ापे के बाद कुछ आता नहीं है। बुढ़ापे के बाद तो जाता—ही—जाता है। सम्राट चिंतित

था कि मेरे बाल सफेद हो गये, इसका अर्थ है कि मुझे चलना है, अब मेरा दुनियाँ में रहने का ज्यादा समय नहीं है, सफेद बाल सूचना देते हैं कि मौत ने अपना वारंट भेज दिया है, वह कभी भी आकर तुम्हें अरेस्ट कर सकती है। मौत तुम्हें कभी भी गिरफ्तार कर सकती है। मौत गिरफ्तार करे, उससे पहले आदमी को संसार की और पापों की रफ्तार कम कर देनी चाहिये।

सम्राट ने सोचा कि मौत आये उससे पहले मुझे मोक्ष के रास्ते पर बढ़ जाना चाहिये। संसार की झंझटों से हाथ जोड़कर अपनी इच्छाओं से पीछा छुड़ा करके अब प्रभु भजन में अपनी जिन्दगी लगाना चाहिये।

सम्राट ने सोचा कि मैं अपना राज्य किसे सौंपूँ। उसे एक युक्ति सूझी। उसने अपने सौ पुत्रों को भोजन के लिये अपने महल में आमंत्रित किया। सभी राजकुमार बड़े प्रसन्न हुये कि आज पिताजी के महल में भोजन करना है, अतः वे सभी बड़े आनन्द और उत्साह के साथ राजमहल में पहुँचे। बड़ा ही स्वादिष्ट भोजन बना हुआ था, इसलिये भोजन की खुशबू चारों ओर फैल रही थी।

सभी राजकुमार भोजन करने बैठ गये। जैसे ही वे भोजन करने के लिये पहला ग्रास तोड़ते हैं, सम्राट ने सैनिकों को इशारा किया, कि एक सैकंड भी नहीं लगा, पलक झपकते ही हजारों शिकारी कुत्ते राजकुमारों पर झपट पड़े जिनकी दाढ़ी बड़ी विकराल, नाखून बड़े-बड़े शेर की तरह खूंखार जो क्षण भर में आदमी को चीर-फाड़ डालें, ऐसे कुत्ते राजकुमारों पर आक्रमण करने लगे। कुत्तों को देखकर सारे राजकुमार थाली छोड़कर भागने लगे, बचाओ-बचाओ कहकर चिल्लाने लगे और राजमहल से बाहर निकल आये।

शाम को सम्राट ने अपने सौ पुत्रों को दरबार में बुलाया और पूछा-आप सबने भोजन कर लिया? सारे भाइयों ने मिलकर खाया, बड़ा आनन्द आया होगा? राजकुमारों ने कहा-पिता जी! आप भी अच्छा मजाक कर लेते हैं। आप कह रहे हैं कि बड़े आनन्द से भोजन किया होगा। वहाँ तो प्राणों के लाले पड़ गये, मौत सामने खड़ी थी और हम वहाँ भोजन करते? सम्राट ने पूछा-क्या हुआ? राजकुमारों ने कहा-पिताजी! आज आपने भोजन पर बुलाकर हमारा अपमान किया, हमारी बेइज्जती की। यदि हमें मालूम होता तो हम कभी आपका

आमंत्रण स्वीकार नहीं करते। हम भोजन का पहला ग्रास तोड़ ही रहे थे कि सैनिकों ने हमारे ऊपर बड़े खूँखार और शिकारी कुत्ते छोड़ दिये, इससे ज्यादा और हमारा अपमान क्या हो सकता है?

सम्राट ने कहा— मैं बहुत दुःखी हूँ कि मेरे सौ पुत्रों में से एक भी ऐसा न निकला जिसे मैं अपना राज्यभार सौंपकर आत्मकल्याण करने हेतु चला जाऊँ। एक भी ऐसा पुत्र नहीं है, जो मेरे नाम को रोशन कर सके। सम्राट की आँखों में आँसू भर आये। सारे राजकुमार सिर झुकाकर जाने लगे, लेकिन सबसे छोटा राजकुमार पिता के पास गया और पिता के आँसू पोंछकर कहने लगा—पिताजी! निराश नहीं होइये। आपके सौ बेटों में मैं ही एक ऐसा बेटा हूँ जिसने आज भरपेट भोजन किया है। जितने आनन्द और उत्साह से आज मैंने खाया है, ऐसा आनन्द मुझे आज तक नहीं मिला।

पिता ने पूछा— बेटे! तूने इतने कुत्तों के बीच भरपेट भोजन कैसे किया? उस बेटे ने कहा—पिताजी! बात बहुत छोटी है, लेकिन बहुत बड़ी भी है। जैसे ही मेरे ऊपर सौ कुत्ते झपटे, मैं उन्हें एक स्थान पर टुकड़े डालता रहा। कुत्ते अपना भोजन करते रहे और मैं अपना भोजन करता रहा। जो दूसरों को खिलाता है, वो कभी भूखा नहीं रहता और जो दूसरों को सताता है, वह कभी सुखी नहीं रह सकता।

सम्राट प्रसन्न हो गया। उसे लगा कि यह मेरा बेटा धर्मात्मा है, यह प्रजा का पालन अच्छे प्रकार से कर सकता है। उस छोटे बेटे का नाम था श्रेणिक, जो मगध की राजगद्दी पर बैठा।

इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं वे ही मोक्ष महल में प्रवेश करने के अधिकारी हैं। वे जानते हैं—मैं एकाकी, अनादि, अविकारी, निर्द्वन्द्व, निरामय, निष्कलंक, वीतराग, शुद्ध चैतन्यमय, अविनाशी, परम उत्कृष्ट, निराकार, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि गुणों से युक्त आत्मा हूँ। सम्यग्दर्शन की महिमा वचन के अगोचर है जिसके कारण यह आत्मा, अशुद्ध होता हुआ भी, शुद्ध ज्ञानज्योति को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता है और पुनः—पुनः देखकर अपने आत्मबल को बढ़ाता है।

जिस स्वरूप साधन में मुनिराज लवलीन होते हुए साध्य की सिद्धि करते हैं, उस साधन में किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। वहाँ तो अतीन्द्रिय आनन्द है कि जिसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता तथा जिस आनन्द के अनुभव में किसी प्रकार पराधीनता नहीं है, न उसमें कोई शरीरिक और मानसिक बाधाएँ ही हैं। यदि बाधक कर्मों का आवरण न हो, तो वह आनन्द ऐसा झलक उठता है कि किसी तरह मिट नहीं सकता। इसी से अमिट आनन्द शुद्ध परमात्मा में सदैव रहता है।

अन्तरात्मा जीव को आत्मा और आत्मा से भिन्न परद्रव्यों का ज्ञान हो जाता है अर्थात् मैं शरीरादि से भिन्न चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ। ये शरीरादि मेरे नहीं हैं, न ही मैं इनका हूँ। तब उसे परद्रव्यों से भिन्न निज आत्मा की रुचि पैदा हो जाती है और संसार, शरीर व भोगों से अरुचि पैदा हो जाती है और वह हमेशा आत्मसन्मुख रहने का पुरुषार्थ किया करता है। जब तक इस जीव को अपने आत्मस्वरूप का बोध नहीं होता, तब तक ही वह संसार में सुख ढूँढ़ता हुआ बहिरात्मा बनकर भ्रमण करता रहता है।

एक राजधानी में एक फकीर भीख माँगता था। वह एक ही जगह बैठकर 30 वर्ष से भीख माँग रहा था। एक दिन वह मर गया। उसके चारों तरफ की जमीन गन्दी हो गई थी, इसलिये उसे जब लोग लेकर जाने लगे तो जहाँ वह बैठता था वहाँ चारों तरफ जमीन खोदी गयी। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। हजारों आदमी वहाँ इकट्ठे हो गये। वहाँ जमीन के नीचे धन गड़ा हुआ था। बहुत खजाने भरे हुये थे। उस भिखारी ने सब जगह हाथ फैलाया, परन्तु अपने नीचे खोदकर नहीं देखा। लोग कहने लगे, भिखारी पागल था।

इसी प्रकार हम भी धन के पीछे दौड़ लगा रहे हैं और उससे सुख की इच्छा कर रहे हैं, लेकिन उसमें सुख था ही कब? जहाँ देखो वहाँ, जैसे रेस में घोड़े दौड़ते हैं और हम सोचते हैं कि मेरा घोड़ा पीछे न रह जाये, वैसे धन के, मान के प्यासे 24 घण्टे दौड़ रहे हैं कि मैं सबसे आगे निकल जाऊँ, परन्तु अपने अन्दर झाँक कर देखो कि तीनलोक का नाथ अपना चैतन्य प्रभु अपने में ही विराजमान है। कहीं बाहर खोजने की जरूरत नहीं है। अनन्त काल बाहर में,

मन्दिर में, तीर्थों पर, सब जगह खोजा, परन्तु अपने अन्दर में झाँककर देख लो तो कहीं खोजना नहीं पड़ता, क्योंकि जहाँ था, वहाँ हमने खोजा ही नहीं। कबीरदास जी ने लिखा है —

ज्यों तिल माहिं तेल है, ज्यों चकमक में आग।

तेरा स्वामी तुझमें, जाग सके तो जाग।।

अपने आपको पहचान कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो अन्यथा चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करो, क्रियायें करो, पर मोक्षमार्ग नहीं बन पायेगा।

एक बार एक व्यक्ति की बूढ़ी माँ बीमार हो गयी। उसके एक बगीचा था, जिसकी वह देखरेख किया करती थी। वह बगीचा बहुत सुन्दर था। वह अपने बगीचे के लिये बड़ी चिंतित थी। उसकी यह हालत देखकर उसका बड़ा लड़का बोला—माँ! आपके बगीचे की देख-रेख मैं अच्छी तरह किया करूँगा। तुम बेफिक्र रहो। दूसरे दिन से वह एक-एक पत्ते की मिट्टी झाड़ने लगा, एक-एक फूल को कपड़े से पोंछने लगा। परन्तु सभी पेड़-पौधे मुरझाने लगे, पन्द्रह दिन में उसकी माँ की सारी बगिया उजड़ गई। पन्द्रह दिन बाद उसकी माँ बीमारी से ठीक होकर आई, उसने अपने लड़के से पूछा कि यह क्या हुआ?

उसने कहा कि मैंने तो एक-एक फूल पर पानी छिड़का, एक-एक पौधे को गले लगाकर प्रेम किया, परन्तु फिर भी सब सूख गये। उसकी माँ हँसने लगी और कहा कि फूलों के प्राण उनकी जड़ में होते हैं, जो दिखाई नहीं देते। पानी फूलों को नहीं देना पड़ता है, जड़ों को देना पड़ता है। फिक्र पत्तों की नहीं, जड़ों की करनी पड़ती है। इसी प्रकार से हम लोग केवल क्रियाओं पर जोर देते हैं, परन्तु उसकी जड़ का पता नहीं है। यदि सम्यग्दर्शनरूपी जड़ को श्रद्धा रूपी पानी देंगे तो हमारी सभी क्रियायें सम्यक् होंगी और मोक्षमार्ग बनेगा। हमें अज्ञानता छोड़कर भेद विज्ञानी बनाना चाहिये। यह जीव अज्ञान के कारण ही दुःखी है और उससे छुटकारे का उपाय सच्चा ज्ञान है।

एक सेठ की हवेली में रंग-रोगन का कार्य चल रहा था। सायंकाल थोड़ा-लाल रंग बच गया। उसे लोटे में रखकर मिस्त्री ने सेठ की लड़की को दे दिया कि इसको सुरक्षित स्थान पर रख दो, सुबह हम ले लेंगे। लड़की ने वह लोटा

ले जाकर सेठ जी के पलंग के नीचे रख दिया। सेठ जी व्यापार से देर से आये और पलंग पर सो गये। सुबह उठे और अंधेरे में पानी का लोटा समझकर रंग के लोटे को लेकर शौच करने चले गये। शौच के बाद जब उठने लगे तो हाथों पर लाल रंग लगा देखकर खून समझ लिया और चिल्लाने लगे तथा असहाय होकर गिर पड़े। चार आदमियों ने सेठ जी को उठाकर चारपाई पर लिटाया, वैद्य बुला लिये। इतने में कारीगरों ने आकर लड़की से रंग मांगा, तब वहाँ वह लोटा नहीं मिला। लड़की ने कहा—पिताजी आपने रंग का लोटा इस्तेमाल कर लिया। आपको कुछ नहीं हुआ है। वह खून नहीं था, रंग था। इतना सुनते ही सेठ जी उठकर खड़े हो गये और बोले—बेटी ! जल्दी मेरा टिफिन लाकर दो मुझे व्यापार पर जाना है, देर हो रही है।

बस, यही दशा इस मोही संसारी प्राणी की हो रही है। यह मिथ्या भ्रान्ति में पड़कर व्यर्थ में दुःखी हो रहा है। अतः यदि सुखी होना चाहते हो तो बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मा बनकर सदा परमात्मा का ध्यान करो।

पंडित दौलतराम जी ने लिखा है कि बहिरात्मपना अत्यन्त हेय है, क्योंकि जीव अनादिकाल से जन्म, मरण आदि के दुःख बहिरात्मपने के कारण ही पाते आ रहे हैं। शरीर एवं विकारी भावों को अपना स्वरूप समझकर आज तक वचनातीत असहनीय दुःख उठाते आ रहे हैं। अतः बहिरात्मपने को सदैव के लिये छोड़कर पर की ओर से निज दृष्टि मोड़कर अन्तरात्मा बनो और अत्यन्त सुखकारी परमात्मा का अहर्निश ध्यान करते हुये निमग्न रहो, जिससे निजानन्द की उपलब्धि निज में होगी। जो भी अन्तरात्मा बनकर परमात्मा के गुणों का स्मरण करता है, वह भव—समुद्र का किनारा निरख लेता है और परमानन्दमय अमृत का पान करता हुआ एक दिन मोक्ष के अनन्तसुख को प्राप्त कर लेता है।

अजीव तत्त्व

पंडित श्री दौलतराम जी ने छहढाला ग्रंथ में अजीव तत्त्व का वर्णन करते हुये लिखा है—

चेतनता बिन सो अजीव हैं, पंच भेद ताके हैं,
पुद्गल पंच वरन रस गंध दो, फरस वसू जाके हैं।
जिय पुद्गल को चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनुरूपी,
तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जिन बिन मूर्ति निरूपी॥ 7॥
सकल द्रव्य को वास जास में, सो आकाश पिछानो,
नियत वर्तना निशि—दिन सो, व्यवहार काल परिमानो।

अजीव तत्त्व वह है जो चेतना से रहित है। इसके 5 भेद हैं — पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हो उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं। वर्ण 5, रस 5, गंध 2 और स्पर्श 8 होते हैं।

धर्मद्रव्य अमूर्तिक है, वह जीव और पुद्गल को चलने में सहायक होता है। अधर्म द्रव्य भी अमूर्तिक है, वह जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। आकाश द्रव्य वह है जिसमें सब द्रव्यों का निवास है। काल द्रव्य दो प्रकार का है, निश्चय काल और व्यवहार काल। जो सब द्रव्यों के परिणमन या परिवर्तन में सहायक है, वह निश्चय काल है। जो रात—दिन, घड़ी—घंटा आदि रूप में जाना या कहा जाता है, वह व्यवहार काल है।

1. **पुद्गल द्रव्य** — अजीव द्रव्य दो प्रकार के होते हैं, एक मूर्तिक और दूसरे अमूर्तिक। जो इन्द्रियों से जाना—देखा जा सके, वह मूर्तिक है, जैसे ईंट, जल, पत्थर, वायु आदि सर्व दृष्ट—जगत मूर्तिक है। जो इन्द्रियों से जाना न जा

सके, वह अमूर्तिक है, जैसे आकाश। मूर्तिक जड़ पदार्थों को आगम भाषा में पुद्गल कहते हैं।

पुद्गल पुद्+गल इन दो शब्दों से बना है। पुद् का अर्थ है पूर्ण होना या मिलना और गल का अर्थ है गलना या बिछुड़ना। जो पूर्ण भी हो सकता हो और गल भी सकता हो अर्थात् जो मिल भी सकता हो और बिछुड़ भी सकता हो, उसे पुद्गल कहते हैं। क्योंकि सर्व ही दृष्ट पदार्थ मिल-मिलकर बिछुड़ते हैं और बिछुड़कर मिलते हैं, जुड़-जुड़कर टूटते हैं और टूट-टूटकर जुड़ते हैं, इसलिये सभी पदार्थ जो इन्द्रियों से देखने-जानने में आते हैं वे सब पुद्गल हैं।

यह पुद्गल नाम का पदार्थ बड़ा विचित्र है। जगत के इस विचित्र तथा विस्तृत नाटक में यही मुख्य पात्र है। सर्वत्र इसका ही फैलाव दिखाई देता है। क्या पृथ्वी में, क्या जल में, क्या वायु में, क्या अग्नि में, क्या पाताल में, क्या आकाश में, क्या कीड़े से लेकर मनुष्य पर्यन्त जीवों के शरीरों में, क्या खाने-पीने के पदार्थों में, क्या महल-मकान में, क्या धन में, क्या वस्त्र में सर्वत्र यही नृत्य कर रहा है। ये जितने भी पुद्गल हैं, वे सब जीव के ही शरीर हैं। जितना भी यह जगत है, वह सब इन पुद्गल स्कन्धों का ही खेल है। उत्पन्न हो-होकर विनष्ट होता है, इसलिये यह सब असत् है, मिथ्या है, माया है, प्रपंच है। जीव इस प्रपंच को देखते हैं और इसमें ही लुभा जाते हैं। इसमें फँसकर अपने-पराये का तथा हिताहित का विवेक खो बैठते हैं। इसकी प्राप्ति में हँसते हैं तथा इसकी हानि में रोते हैं। इस प्रकार बराबर हर्ष-विषाद करते हुये व्याकुल बने रहते हैं और चौरासी लाख योनियों में बराबर जन्मते-मरते हुए दुःखी रहते हैं। इस भूल-भुलैया में फँसकर वे यह भी नहीं जान पाते कि वे वास्तव में चेतन हैं, शरीर जड़ है और बाहर में इन दृष्ट पदार्थों से उनका कोई नाता नहीं है। गुरुओं के इस प्रकार के वचन भी उन्हें भाते नहीं हैं। यदि वह यह जान जाये कि यह सब तमाशा पुद्गल पदार्थ का है, जो जीवों को धोखे में डालने के लिए है, तो वह यहाँ से दृष्टि हटाकर अपने चेतन स्वरूप पर लक्ष्य ले जाये और सदा तृप्त तथा आनन्द निमग्न रहे। यही पुद्गल द्रव्य को जानने का प्रयोजन है।

यह जीव चेतन और पुद्गल के भेद को नहीं समझता, इसलिये पुद्गल

द्रव्य में आसक्त होकर अपने अमूल्य जीवन को समाप्त कर देता है। वह भूल जाता है कि समय बीत रहा है और प्रतिपल हम मृत्यु के निकट पहुँच रहे हैं।

वनवास काल में पांचों पांडव द्रौपदी के साथ जंगल में भटक रहे थे। एक समय जब वे भयानक जंगल से गुजर रहे थे, द्रौपदी को बड़ी जोर से प्यास लगी। तब धर्मराज ने छोटे भाई नकुल से कहा कि तुम जाओ और कहीं से भी तूणीर पात्र में पानी ले आओ। नकुल तुरन्त ही बड़े भाई की आज्ञा मानकर चला। इधर-उधर तलाशने पर उसे एक सुन्दर सरोवर दिखाई दिया जिसका पानी अत्यंत निर्मल था। यह देख नकुल का मन प्रसन्नता से भर गया। वह ज्यों ही पानी पीने को उद्यत हुआ त्यों ही उसे आकाशवाणी सुनाई दी—हे माद्रीपुत्र नकुल! पहले मेरे प्रश्न का जवाब दो, फिर पानी पीने का साहस करना। तब नकुल ने कहा—कहिए—प्रश्न क्या है? तब यक्ष ने कहा कि मेरा प्रश्न है—को मोदते? अर्थात् प्रसन्न कौन है? प्रश्न सुनकर नकुल ने उसकी उपेक्षा की और पानी पीने ज्यों ही झुका कि वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

उधर बहुत देर हो जाने पर भी नकुल को न आते देखकर युधिष्ठिर ने सहदेव को नकुल की खोज करने के लिए भेजा। तब वह खोजने उसी सरोवर के पास पहुँचा। भाई को मूर्च्छित देखकर घबराया। आसपास देखा, पर उसे कुछ भी समझ नहीं आया। इतने में उसे आकाशवाणी सुनाई दी—हे माद्री पुत्र सहदेव! पहले तुम मेरे प्रश्न का जवाब दो, फिर पानी पीने की इच्छा करना। तुम्हारे भाई ने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया तो वह बेहोश होकर गिर पड़ा है। तब यक्ष ने प्रश्न पूछा—किमाश्चर्यम् अर्थात् आश्चर्य क्या है? परन्तु सहदेव ने भी उपेक्षा करके जल पीना चाहा तो उसका भी वही हाल हुआ। तब भीम आया और उससे भी कहा गया कि प्रश्न का जवाब पहले दो फिर पानी पीना। यक्ष ने तीसरा प्रश्न पूछा—का वार्ता अर्थात् समाचार क्या है? उसने भी उत्तर नहीं दिया तो उसकी भी वही गति हुई। अर्जुन को युधिष्ठिर ने भेजा और वह भी जब सरोवर पर पहुँचा तो आकाशवाणी हुई, उससे यक्ष ने पूछा—का पथः अर्थात् कौन —से पथ का अनुसरण करें? अर्जुन ने भी उत्तर नहीं दिया तो वह भी मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। चारों भाई मूर्च्छित होकर सरोवर के किनारे पड़े हुए

हैं।

अंत में सबकी तलाश करने धर्मराज चले। सरोवर के पास जब चारों भाइयों को मूर्च्छित पाया, तो सोच में पड़ गये। इतने में यक्ष प्रकट हुआ और बोला—इन्होंने मेरे प्रश्न के उत्तर नहीं दिये तो मैंने इनको मूर्च्छित किया है। आप भी पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दें, तब पानी पी सकते हैं। तब यक्ष ने चारों प्रश्न क्रमशः दोहराए। धर्मराज ने भी चारों प्रश्नों के उत्तर क्रमशः दिए। पहला प्रश्न था कि प्रसन्न कौन है? धर्मराज ने कहा कि प्रसन्न वही है, जो किसी का कर्जदार नहीं है। दूसरा प्रश्न था कि आश्चर्य क्या है? धर्मराज ने कहा कि प्रतिदिन अनेक प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं, यह बात प्रत्यक्ष में जानकर भी जो शेष बचे हुए लोग हैं वे सदैव यहाँ रहने की इच्छा करते हैं। भला इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है?

तीसरा प्रश्न था कि समाचार क्या है? धर्मराज ने कहा कि समय बीत रहा है और प्रतिपल हम मृत्यु के निकट पहुँच रहे हैं, बस यही समाचार है। अंतिम प्रश्न था कि किस पथ का अनुसरण करना चाहिये। धर्मराज ने कहा कि पथ वही है, जिस पथ पर महापुरुष चल रहे हैं। क्योंकि अनेक पथ व्यक्ति को भ्रमित कर सकते हैं।

युधिष्ठिर से चारों प्रश्नों के युक्ति—युक्त उत्तर मिलने पर यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ और बोला—हे धर्मराज! मैं तुम्हारे द्वारा दिये गये प्रश्नों के उत्तर से बहुत ही संतुष्ट हुआ हूँ। अतः इन चार भाइयों में से जिस किसी एक को तू चाहे उसी को मैं जिन्दा कर सकता हूँ। कुछ पल सोचकर धर्मराज ने कहा कि मैं माद्रीपुत्र नकुल को जीवित देखना चाहता हूँ। यह सुनकर यक्ष आश्चर्य में पड़ गया और बोला—महाबली भीम और युद्ध परायण अर्जुन को छोड़कर अपने सौतेले भाई को ही जीवित रखना क्यों चाहते हो? तब धर्मराज ने कहा कि मैं पांडुपुत्र माता कुंती के पुत्रों में से हूँ, तो माता माद्री के पुत्र के रूप में भी एक जीवित चाहिए। यह सुनते ही यक्ष परम प्रसन्न हो गया और चारों भाइयों को जीवित कर दिया। सबने पानी पिया और द्रोपदी के लिए पानी लेकर अपने गंतव्य स्थान को चले गये।

यह जगत जीव, पुद्गल आदि छः द्रव्यों को समुदाय है। इस जगत में भ्रमण करने वाला आत्मा अनन्तवार चक्कर लगाकर बार-बार उन्हीं स्थानों की स्पर्श करता है और सुख व शान्ति को ढूँढ़ते हुए भी उसका अनुभव नहीं कर पाता, क्योंकि वह जिन पुद्गललादि परद्रव्यों में आसक्त हो जाता है, वह दुःख और अशान्ति का मार्ग है; यह आत्मा इस संसार में अज्ञान के कारण अपने आपको भूलकर इस तरह बेखबर हो रहा है कि यह सब जगत् की वस्तुओं को अपनाना चाहता है। इसकी भूल इतनी गहरी है कि जो शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदि चेतन-अचेतन पदार्थ बिल्कुल 'पर' हैं, उनको अपना मानकर उनसे प्रेम करता है। इसने अनादिकाल से जिससे प्रेम किया, उसी ने ही ठगा, उसने ही भव-भव भ्रमण कराया। इन पुद्गलादि परद्रव्यों की आसक्ति के कारण मैंने जो-जो संताप सहे, वे अकथनीय हैं। जैसे रज्जू को सर्प जान कोई भय से भागा-भागा फिरे, ऐसे ही मैं फिरा और वृथा ही क्लेशित हो दुःख सहा। अपना आनन्द अपने पास, अपना प्रभु अपने पास होते हुए भी उसे न जाना और इस पुद्गल को अपना मानकर अहंकार व ममकार करता रहा और 84 लाख योनियों में भटकता हुआ दुःख उठाता रहा। आत्मा भले ही इस नौकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म से निर्मित घर में रह रहा है, अनादिकाल से रहता चला आया है, पर यह सभी परद्रव्यों, परद्रव्यों के भाव तथा परद्रव्यों के निमित्त से होने वाले भावों से पृथक् है। अतः इन पुद्गलादि परद्रव्यों का अभिमान छोड़कर अपनी आत्मा को जानने का प्रयास करो।

एक सेठ जी थे, वे बड़े अभिमानी थे। उन्होंने दस बारह खंड के भवन का निर्माण कराया। एक बार एक साधु जी उनके यहाँ आये। अतिथि की तरह उनका स्वागत हुआ और भोजन के उपरान्त सेठ जी बड़े चाव से उन्हें साथ लेकर पूरा भवन दिखाने लगे और अंत में दरवाजा आया तो सभी बाहर निकल आये। साधुजी के मुख से अचानक निकल गया कि एक दिन सभी दरवाजे के बाहर निकाल दिये जाते हैं, तुम भी निकाल दिये जाओगे। सेठ जी हतप्रभ खड़े रह गये। साधुजी चले गये। सेठ जी अकेले खड़े-खड़े सोचते रहे कि क्या मुझे भी एक दिन बाहर निकल जाना होगा? स्वर्ण की नगरी लंका नहीं रही, रावण

नहीं रहा, अयोध्या का वैभव नहीं रहा। कृष्ण जी नारायण थे, लेकिन उनका भी अवसान हुआ और वह भी जंगल में। जब सभी की मृत्यु निश्चित है, तो बुद्धिमानी इसी में है कि जाने से पहले इस पुद्गल की आसक्ति को छोड़ दें जिससे यह जन्म-मरण का चक्कर ही समाप्त हो जाये।

आकाश द्रव्य –

आकाश द्रव्य वह है जिसमें सब द्रव्यों का निवास है। इसके लोकाकाश व अलोकाकाश दो भेद हैं। जितने आकाश में शेष 5 द्रव्य रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं तथा लोकाकाश के बाहर सब ओर जो अनन्त आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में एकमात्र आकाश द्रव्य है, शेष पाँच द्रव्य नहीं हैं।

यह जो अपने चारों ओर दायें-बायें, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सर्वत्र जहाँ तक भी दृष्टि जाती है, जो खाली जगह दिखाई देती है, वही आकाश है। अंग्रेजी में इसे स्पेस कहते हैं। आकाश पदार्थ बिल्कुल अमूर्तिक है। जो कुछ भी इन्द्रियों से दिखाई देता है या किसी भी प्रकार जाना जाता है, वह सब पुद्गल है। केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है, शेष पाँचों द्रव्य अमूर्तिक हैं, वे इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। आकाश के जितने क्षेत्र में शेष 5 द्रव्य रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। शेष आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

आप यदि विश्व को संकुचित दृष्टि से न देखकर व्यापक दृष्टि से देखने लगें तो आपको घर, नगर, देश, पृथ्वी आदि भी परमाणुवत् लगने लगेंगे। सकल लोक के समान इन सबका कोई मूल्य नहीं रह जायेगा। आपकी सब वासनाएँ तथा कामनाएँ स्वतः शान्त हो जायेंगी।

एक गाँव में चार मित्र रहते थे। उनमें प्रगाढ़ मित्रता थी। वे सुख-दुःख में एक दूसरे का साथ पूर्णतया निभाते थे। समय का चक्र ऐसा बदला कि उन चारों मित्रों का व्यापार बिल्कुल ठप्प हो गया। तब उन्होंने आपस में सोच-विचार कर निर्णय लिया कि अब हमें अपना भाग्य आजमाने के लिये किसी दूसरे देश में जाना चाहिये। अतः एक दिन शुभ मुहूर्त देखकर चारों मित्र अपने गाँव से चल पड़े। यात्रा करते-करते उन्होंने जंगल और पहाड़ियों को पार किया। एक

बार जब वे किसी पहाड़ी पर से गुजर रहे थे तब उन्हें अचानक एक लोहे की खदान दिखाई दी। चारों ने एकसाथ कहा— चलो, मित्रो! हम लोहा ही ले चलते हैं, इसी से हम अपने भाग्य को आजमायेंगे। अतः वे जितना—जितना उठा सकते थे उन्होंने उतना—उतना बड़ा गट्ठर बांध लिया और आगे चले। लोहे का भार अधिक होने पर भी वे चारों खूब प्रसन्न थे।

इस प्रकार निरन्तर पहाड़ियों की यात्रा करते—करते वे आगे बढ़ रहे थे। एक दिन उन्हें चाँदी की एक खदान मिल गई। चाँदी की खदान को देखकर वे मन—ही—मन अपने भाग्य को सराहने लगे। कुछ सोच—विचार कर वे एक दूसरे से कहने लगे कि हमें इस लोहे के भार को छोड़कर चाँदी का गट्ठर बाँध लेना चाहिये। उन चारों में एक मित्र को यह बात नहीं जँची। वह आग्रह बुद्धिवाला था। उसने तुरन्त कहा—मित्रो! तुम तीनों यह क्या सोच रहे हो? जरा सोचो तो सही कि जिस लोहे को हमने खान में से इतने श्रम से निकाला और इतने लम्बे समय से ढोते आ रहे हैं, उसे आज कैसे छोड़ सकते हैं? इस चाँदी को देखकर हम अपनी मेहनत को बेकार क्यों करें?

यह सुनकर तीनों मित्रों को हँसी आ गई। उन्होंने उसे बहुत समझाया, परन्तु वह जिद्दी था। अंत तक उसने यह बात नहीं मानी। तीनों मित्रों ने शीघ्र ही लोहे के गट्ठर को छोड़कर चाँदी का भार ले लिया और आगे की यात्रा पर चल पड़े।

पहाड़ियों की ऊबड़—खाबड़ यात्रा करते—करते एक महीना बीतने लगा। एक दिन उन्हें सोने की खदान दिखाई दी। तीनों मित्रों ने सोच— समझकर चाँदी का भार छोड़ा और सोने का गट्ठर बाँध लिया। तीनों ने उस आग्रही मित्र के सामने देखा, परन्तु उसने अपना मुँह फेर लिया। चारों आगे की यात्रा पर चल पड़े।

कुछ महीनों की पहाड़ी यात्रा के बाद उन्हें हीरे की एक खान मिली। तुरन्त ही तीनों ने सोना फेका और हीरों का गट्ठर बाँध लिया। एक बार फिर से तीनों ने मिलकर उस आग्रही मित्र को बड़े प्यार से समझाया, परन्तु वह अपने लोहे के गट्ठर को छोड़ने के लिये तैयार ही नहीं था, क्योंकि वह किसी भी कीमत पर

अपने परिश्रम को निरर्थक नहीं करना चाहता था।

इस प्रकार यात्रा का एक वर्ष पूरा हो चुका था। अब उनकी यात्रा अपने गाँव की ओर होने लगी। रास्ते में चलते हुये तीनों मित्रों ने फिर से उसे समझाने की भरपूर कोशिश की—मित्र! अब भी मान जा, फिर पश्चाताप करने से कुछ नहीं होगा। अभी तो समय है, हम फिर से अपने गाँव की ओर लौट रहे हैं। चाहे तो तू सोना भर ले या चाँदी भर ले, परन्तु यह लोहा यहीं छोड़ दे। परन्तु वह टस—से—मस नहीं हुआ।

आखिर अपने गाँव पहुँचकर चारों ने व्यापार किया। तीनों मित्र तो अत्यधिक प्रसन्न थे। वे हीरे के बहुत बड़े व्यापारी बन गये। धन और प्रतिष्ठा ने उनके जीवन में चार—चाँद लगा दिये। परन्तु वह आग्रही मित्र बहुत परेशान हुआ, क्योंकि लोहा बेचने पर उसे बहुत थोड़ा ही लाभ हुआ। एक वर्ष की यात्रा का श्रम करने पर भी उसे विशेष लाभ नहीं हुआ, तब वह बड़ा दुःखी हुआ। अपने विचारों की दुराग्रहता के कारण ही वह दुःखी हो रहा था। समय पर उसने अपने विचारों में परिवर्तन नहीं किया और मिले हुये सारे स्वर्णिम अवसरों को खो दिया।

प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने जीवन में समय पर अपनी सूझबूझ से अपने विचारों में परिवर्तन कर ले तो जीवन की ऊँचाई को छू सकता है।

जीवन में आग्रह ही दुःख का कारण है। सत्य बात को समझकर उचित परिवर्तन करने से जीवन विकासशील हो सकता है। परद्रव्यों को अपना मानने की अनादिकालीन कुटेव को छोड़कर शरीरादि से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करना ही वह कुँजी है जिसके द्वारा आत्मा के रत्नत्रय भंडार के कपाट खुलते हैं। आत्मश्रद्धा कर्मशत्रुओं को भगाने के लिये एक अमोघ मंत्र है, मोह—विष को मारने के लिये एक जुड़ीबूटी है। वह मानव ही क्या, जिसने परमानन्ददायक आत्म—खजाने के दर्शन न किये और उसका लाभ न लिया, क्योंकि जो कुछ वास्तविक आनन्द है, वह वहीं है, उसी में है, उसी की सत्ता में है। मुनिराज जब समस्त संकल्प—विकल्पों से रहित हो अपने आप में एक निज आत्मा के दर्शन करते हैं, तब उनको विदित होता है कि जिन शुद्ध—बुद्ध परमात्मा का नाम जगत्विख्यात

है, वह स्वयं मैं ही हूँ। मेरा स्वरूप वीतराग है, मेरी आत्मा आनंदमय है, मेरा भाव शुद्धोपयोग है। आँखों से दिखने वाले ये समस्त पदार्थ पुद्गल हैं, अतः जड़ हैं; इनको अपना मानने की पुरानी कुटेव को छोड़ो और इनसे भिन्न अपनी चैतन्य आत्मा को पहचानो।

धर्म और अधर्म द्रव्य —

धर्मद्रव्य जीव तथा पुद्गल को गमन करने में सहायक होता है तथा अधर्म द्रव्य इन दोनों को ठहरने में सहायक होता है। धर्म तथा अधर्म द्रव्य जीव तथा पुद्गल को मात्र सहायक ही होते हैं, अपना कोई स्वतंत्र कार्य नहीं करते।

इनकी सहायता का अर्थ यह न समझना कि ये जीव तथा पुद्गल को जबरदस्ती चलाते या ठहराते हैं। स्वतंत्रता से जीव तथा पुद्गल जब स्वयं चलना या ठहरना चाहें तो ये द्रव्य सहायक मात्र होते हैं। अर्थात् ये उन्हें जबरदस्ती न चलाते हैं, न ठहराते हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि यदि ये न हों तो वे पदार्थ चल या ठहर नहीं सकते। जैसे कि मछली पानी में चलती है, वहाँ पानी उसे जबरदस्ती चलाता हो ऐसा नहीं है। मछली स्वतंत्रता से स्वयं ही चलती है, परन्तु यदि जल न हो तो चलना चाहकर भी वह चल नहीं सकती। इसी प्रकार गर्मी के दिनों में धूप में चलता हुआ पथिक वृक्ष के नीचे विश्राम करने ठहर जाता है। वहाँ वृक्ष उसे जबरदस्ती नहीं ठहराता, पथिक स्वतंत्र रूप से स्वयं ठहरता है। यहाँ जीव तथा पुद्गल के लिये धर्म द्रव्य को ऐसा समझो जैसे मछली को पानी और अधर्म द्रव्य को ऐसा समझो जैसे कि पथिक को वृक्ष।

धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्यों का आकार जीव द्रव्य की भांति लोकाकाश जितना है। अतः इनके प्रदेशों की संख्या लोकाकाश के समान असंख्यात है। इन द्रव्यों के सीमित आकार के कारण ही जीव तथा पुद्गल लोक की सीमा का उल्लंघन करके अलोक में नहीं जा सकते। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि शरीर से मुक्त हो जाने पर आत्मा सदा ऊपर-ऊपर को चढ़ता ही चला जाता है और कभी भी ठहरता नहीं है। अनन्तों आत्मायें जो आज तक मुक्त हो चुकीं हैं वे अब तक भी बराबर ऊपर को ही चलीं जा रही हैं उनके इस चलने का अंत कभी न आयेगा। क्योंकि आकाश का कहीं भी अंत नहीं है। परन्तु उनकी यह धारणा

मिथ्या है। लोकाकाश के शिखर पर जहाँ कि धर्म द्रव्य की सीमा आ जाती है, उनका चलना रुक जाता है और इस प्रकार सभी मुक्त आत्मायें लोक के शिखर पर स्थित हैं।

विज्ञान भी मानती है कि खाली आकाश में जहाँ वायु नहीं है, वहाँ से सूर्य की किरणें अथवा रेडियो की विद्युत तरंगें अथवा चुम्बकीय शक्तियाँ कैसे गुजर जाती हैं। वे मानते हैं कि वहाँ भी एक अदृष्ट पदार्थ है, जिसका नाम उन्होंने 'ईथर' रखा। यही धर्म द्रव्य है।

इन छह द्रव्यों के समुदाय को 'संसार' कहते हैं। यह संसार तो स्वार्थ का है। जब तक स्वार्थ रहता है, तब तक लोग पूछते हैं। स्वार्थ निकल जाने पर कोई नहीं पूछता। अतः इस संसार के स्वरूप को समझकर इससे मोह छोड़कर अपना कल्याण करना चाहिये।

अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। हम जैसे बीज बोयेंगे, वैसी की फसल काटेंगे। सुख देने पर सुख मिलेगा और दुःख देने पर दुःख मिलेगा।

एक सन्यासी जी सत्य का उपदेश देते हुये जनकल्याण करने में संलग्न रहते थे। उनके जीवन का उद्देश्य था कि सभी में धर्म संस्कारों का सिंचन करना और उन्हें दुनियाँ का सत्य बताना। जब भी वे भिक्षा लेने के लिये जाते थे तो उस द्वार पर अलख जगाते हुये कहते थे—करेगा, सो भरेगा। बाबा रोटी खायेगा।

उनके इस सूत्र में अनूठा सत्य छिपा हुआ था। जब कोई उनसे इसका अर्थ पूछता तो वे बताते थे— इस जगत का परम नियम है कि जो हम देते हैं, वही हमें मिलता है। जो हम देंगे, वह अनेक गुना होकर हमें मिलेगा। जो नहीं देंगे, वह कभी नहीं मिलेगा। तुम दूसरों के लिये जो सोचते हो, वही तुम्हें मिलने वाला है। सुख देने पर सुख मिलेगा और दुःख देने पर दुःख मिलेगा। शान्ति दो, तो शान्ति मिलेगी और कष्ट दो, तो कष्ट मिलेगा। अर्थात् जैसा करेंगे, वैसा पायेंगे। जो भी व्यक्ति इस सूत्र को अपने जीवन में उतारता है, उसका जीवन स्वर्ग बन जाता है।

सन्यासी का यह अद्भुत सूत्र एक बहिन को रास नहीं आया। उस बहिन ने मन—ही—मन सोचा कि सन्यासी का यह सूत्र मैं झूठा साबित करके रहूँगी, क्योंकि संसार में देखा तो यह जाता है कि अपराध कोई करता है पर सजा किसी और को मिलती है। भूल डाक्टर करता है पर मरीज मर जाता है। यहाँ तक कि अपने ही शरीर को देखेंगे तो पायेंगे कि भूल तो जीभ करती है, पर दुःखता पेट है। देखने में आँखें भूल करती हैं, पर काँटा पैर में चुभता है। इसलिये सन्यासी का यह सूत्र सर्वथा झूठा है। ऐसे झूठे और अधार्मिक लोग पृथ्वी पर भार हैं, अतः ऐसे दुष्ट लोगों को मारने में भी पाप नहीं लगेगा।

कुछ सोच—विचार कर उसने दूसरे दिन चार जहरीले लड्डू बनाये और सन्यासी की प्रतीक्षा करती रही। द्वार पर सन्यासी के अलख जगाते ही वह तुरन्त दौड़कर आई और चारों लड्डू सन्यासी के पात्र में डाल दिये। सहज भाव से वे भिक्षा लेकर अपनी कुटिया में पहुँचे। सन्ध्या का समय हो रहा था, विशेष भूख नहीं होने से उन्होंने सोचा कि कल खा लूँगा। फिर भगवान की पूजा—भक्ति में लीन हो गये और पूजा—पाठ पूरा करके सो गये।

अर्ध रात्रि के समय किसी ने कुटिया के द्वार खटखटाये। सन्यासी ने द्वार खोला, देखा तो एक बीस वर्ष का नौजवान खड़ा है। उस नौजवान ने कहा—बाबाजी! मैं इस कुटिया में रात्रिवास करना चाहता हूँ। मुझे शहर से आते—आते देरी हो गई है, क्योंकि जो गाड़ी छह बजे पहुँचनी थी वह बारह बजे पहुँची है। स्टेशन पर कोई साधन नहीं मिलने से मैं नजदीक में आपकी कुटिया देखकर यहाँ चला आया हूँ। यहाँ से दो किलोमीटर की दूरी पर मेरा गाँव है। सुबह उठकर अपने गाँव पहुँच जाऊँगा। बाबा जी ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। नौजवान ने कहा—बाबा जी! मैं सुबह से भूखा हूँ आपके पास कुछ हो तो मुझ पर कृपा करें।

सन्यासी ने बड़ी प्रसन्नता से वह चारों लड्डू उसे दे दिये। उसने भी खुशी से खाये और सो गया। वह नौजवान सो क्या गया, वह सदा के लिये ही सो गया।

सुबह हुई तो सन्यासी ने उसे जगाने का प्रयत्न किया। किन्तु मरा हुआ

व्यक्ति कैसे उठेगा। उसके शरीर के नीलेपन को देखकर वह स्तब्ध रह गया। सारे शहर में खबर फैल गई। सारे लोग इकट्ठे हो गये। खोजबीन के दौरान पता चला कि किसी बहिन ने सन्यासी को भिक्षा में जहरीले लड्डू दिये थे जिसे खाकर इस नौजवान की मृत्यु हुई है।

समाचार सुनकर वह बहिन भी देखने के लिये सन्यासी की कुटिया पर पहुँची। यह देखकर वह चकित हो गई कि नौजवान और कोई नहीं उसका ही इकलौता पुत्र था। वह फूट-फूटकर रोने लगी, लोग बड़े हैरान हुये। वह रोते-रोते जोर-जोर से बोलने लगी 'मैं अभागिन। मेरी करनी किसे कहूँ? मेरी करनी ने ही मेरे पुत्र को मारा है। मेरी इच्छा सन्यासी को मारने की थी और मर गया मेरा इकलौता बेटा। मेरी करनी ने ही मुझे डुबोया है। सन्यासी का यह सूत्र शतप्रतिशत सही है — करेगा, सो भरेगा। मैंने इस सत्य को नहीं मानकर अपने बेटे को अपने ही हाथ गँवाया है, परन्तु आज मैं इस सत्य को मान रही हूँ।' बहिन की बात सुनकर सभी स्तब्ध रह गये।

जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है 'कर्मवाद', जो कहता है कि किसी का बुरा सोचना नहीं और किसी का बुरा करना नहीं। दूसरों के लिये बुरा सोचने वाला और बुरा करने वाला स्वयं ही गड्ढे में गिरता है। कोई जबरदस्ती किसी से पाप नहीं करवाता। यह स्वयं की जिम्मेवारी है कि मैं चाहूँ तो पाप करके दुर्गति के गड्ढे में गिरूँ और चाहूँ तो धर्म करके अपना आत्मकल्याण करूँ। जगत में यदि कोई सार वस्तु है, तो एक मैं हूँ। मेरे सिवाय अन्य समस्त 'पर' हैं। मुनिराज जब आत्मस्वरूप में लीन होते हैं, तब उनका हृदय आनन्दसागर में निमग्न हो जाता है, उन्हें परम शांति और समता का लाभ होता है। अतः आचार्यों का कहना है कि जड़ की आसक्ति को छोड़कर चैतन्य आत्मा को जानने का प्रयास करो।

5. काल द्रव्य —

विचित्र है जगत की लीला। सबकुछ परिवर्तनशील है यहाँ। जो आज है, वह कल नहीं। एक नाटक मात्र है, माया है, प्रपंच है, आभास है, मिथ्या है, असत् है। मोहीजीव इसमें उलझते हैं और ज्ञानीजीव इसे देखते ही नहीं। इस

परिवर्तन में निमित्तकारण कालद्रव्य ही है। काल भयंकर नहीं, प्रत्युत सुन्दर है, क्योंकि यदि यह अखिल सृष्टि परिवर्तनशील न होती अर्थात् स्तब्ध होती, तो सुन्दर भी न होती। परिवर्तन ही इसका सौन्दर्य है और यह काल का ही अनुग्रह है। ज्ञानी जीव इससे भय नहीं खाते। वे इसके भय से मुक्त हैं, क्योंकि वे जग-प्रपंच को पहले से ही असत् अर्थात् न हुए के बराबर जानकर उसमें फँसते नहीं हैं।

पदार्थों की पर्यायों में होनेवाला परिवर्तन ही कालद्रव्य का लक्षण है। जिस प्रकार धर्म व अधर्म द्रव्य जबरदस्ती पदार्थों को गमन आदि नहीं कराते, बल्कि स्वयं स्वतंत्र रूप से गमनादि करते हुआओं को सहायक मात्र होते हैं, इसी प्रकार कालद्रव्य भी जबरदस्ती परिवर्तन कराता हो, सो बात नहीं है। स्वतः स्वतंत्र रूप से परिवर्तन करने वालों को वह सहायक मात्र होता है।

कालद्रव्य परमाणु के आकार का अर्थात् एकप्रदेशी होता है। एकप्रदेशी का अर्थ यह नहीं कि यह पदार्थ संख्या में भी एक ही है। इसका केवल इतना ही अर्थ समझना कि कालद्रव्य अणुरूप है, इसलिये इसे कदाचित् कालाणु भी कहते हैं। जिस प्रकार लोक में परमाणु अनेक हैं, उसी प्रकार कालाणु भी अनेक हैं। अंतर केवल इतना है कि परमाणु तो अनन्तानन्त हैं, परन्तु कालाणु असंख्यात मात्र हैं। इन विचित्र कालाणुओं को लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर एक-एक करके रखा हुआ माना जाता है। अतः जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही कालाणु हैं।

परमाणु तथा कालाणु में इतना अन्तर और है कि परमाणु तो मूर्तिक है अर्थात् रूप, रस, गन्ध व स्पर्श को रखने वाला है, परन्तु कालाणु अमूर्तिक है। परमाणु एक आकाशप्रदेश पर अनेकों रहते हैं, परन्तु कालाणु एक प्रदेश पर नियम से एक ही रहता है। परमाणु गमनागमन कर सकते हैं, परन्तु कालाणु नियम से गमनागमन नहीं करते। परमाणु तो अपने स्थान बदल लेते हैं, परन्तु कालाणु अपना स्थान नहीं बदलते। परमाणु तो परस्पर में मिल-जुलकर बड़े व छोटे स्कन्धों का निर्माण कर लेते हैं, परन्तु कालाणुओं में परस्पर मिलने की शक्ति नहीं है, क्योंकि इनमें स्निग्ध तथा रूक्ष गुण नहीं पाये जाते, जिनके

कारण वे परस्पर में मिल—जुल सकें। कालाणु को निश्चय काल कहते हैं, जो एक सत्ताभूत पदार्थ है और घड़ी, घण्टा, पल, दिन, रात, ऋतु, वर्ष आदि का जो व्यवहार चलता है उसे व्यवहार काल कहते हैं।

समय तीव्र गति से व्यतीत होता जा रहा है, अतः संसार के स्वरूप को अच्छे प्रकार से समझकर उससे मुक्त होने का प्रयास करो। यह संसार तो स्वार्थ का है। स्वार्थ के कारण व्यक्ति कुछ भी करने को तैयार हो जाता है।

बादशाह अकबर के नवरत्नों में बीरबल सबसे अधिक बुद्धिमान था। उसकी अद्वितीय बुद्धिमत्ता के कारण सम्राट अकबर बीरबल का बहुत आदर किया करते थे, परन्तु कुछ दरबारी ऐसे भी थे जो बीरबल से ईर्ष्या की अग्नि में प्रतिपल जलते रहते थे। वे उस अवसर की प्रतीक्षा में थे कि कुछ ऐसा प्रसंग आये जिससे वे बीरबल को अपमानित कर सकें। एक दिन बेगम का भाई उदास होकर अपनी बहन के पास आया। बेगम ने पूछा, भैया! क्या बात है, आज तुम उदास दिखाई दे रहे हो? वह बोला— बहना! क्या बताऊँ, बड़े खेद की बात है। मैं बादशाह अकबर की बेगम मलिका का भाई हूँ, परन्तु इस दरबार में मेरा बिल्कुल भी आदर—सत्कार नहीं किया जाता। रानी ने सहानुभूतिपूर्ण स्वर में पूछा—भाई! बादशाह अकबर की सभा में ऐसा क्यों होता है? वह बोला—बादशाह अकबर को सही पहचान नहीं है। तुम भलीभाँति जानती हो कि मैं बीरबल से अधिक बुद्धिमान हूँ, इसलिए राजदरबार में जो सम्मान बीरबल को दिया जाता है वह वास्तव में मुझे मिलना चाहिए।

भाई की दर्दपूर्ण बात सुनकर मलिका भी बड़ी दुःखी हुई और उसने सांत्वना देते हुए कहा—भैया! तू फिक्र मत कर। मैं तुझे वचन देती हूँ कि बादशाह से विचार—विमर्श करके तुझे बीरबल का सम्मानीय स्थान अवश्य दिलवा दूँगी।

एक दिन बेगम मलिका ने मौका देखकर बादशाह अकबर को उलाहना देते हुए कहा कि आपने अकारण ही बीरबल को सिर पर चढ़ा रखा है जबकि उससे भी अधिक बुद्धिमान लोग आपके दरबार में मौजूद हैं। आगे अपनी बात पर आते हुए उसने कहा—मेरा भाई भी तो बहुत बुद्धिमान है। अतः मैं चाहती हूँ कि

बीरबल का जो आदरणीय स्थान है, वह मेरे भाई को मिलना चाहिए।

इतना सुनते ही बादशाह अकबर बेगम की बात को भी समझ गये तथा उसके भाई के इशारे को भी जान गये। परन्तु अपने भावों को छिपाते हुए उन्होंने कहा—‘कल दरबार में इस विषय पर अवश्य विचार किया जायेगा।’ यह सुनकर मलिका बड़ी आश्वस्त हुई और शीघ्र ही अपने भाई को खुशखबरी देने पहुँच गई कि अब तेरा काम बहुत जल्दी बनने वाला है।

संयोग की बात थी कि दूसरे दिन बीरबल अपनी अस्वस्थता के कारण राजसभा में उपस्थित न हो सका। बेगम का भाई जब दरबार में पहुँचा तो बादशाह अकबर ने मुस्कुराते हुए कहा—मैं आज तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हें बीरबल का सम्माननीय पद देना चाहता हूँ। शर्त सिर्फ इतनी है कि तुम्हें मेरे एक प्रश्न का उत्तर देना होगा।

बेगम मलिका के भाई ने बड़ी डींग हाँकते हुए कहा—‘जहाँपनाह! आप मेरे से कोई भी प्रश्न पूछ सकते हैं।’ बादशाह अकबर ने पूछा कि संसार में सबसे प्यारी वस्तु कौन—सी है? प्रश्न सुनते ही बेगम के भाई के हाथों से मानों तोते उड़ गये और वह नीची दृष्टि डालकर अपना सिर खुजलाने लगा। बादशाह तो भली—भाँति उसकी योग्यता को जानता ही था, फिर भी उन्होंने उसे सोचने के लिए एक अवसर दे दिया।

वह राजसभा से उठकर सीधा अपनी बहन मलिका के पास पहुँचा। वह तो बधाई देने के लिए कब से भाई की प्रतीक्षा कर रही थी। उसको देखते ही हर्षपूर्ण स्वर में उसने कहा—लो भैया! अब तो मानोगे कि बहन ने तुम्हारा काम कर दिया। यह सुनते ही वह खीझकर बोला—तुमने मेरा काम कर दिया या मुझे मुसीबत में डाल दिया? दरबार की सारी बात बताकर उसने कहा कि यदि मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाया तो मेरी वर्तमान की नौकरी भी चली जायेगी। यह सुनकर मलिका भी चिंतित हो गई। कुछ सोच—विचार कर उसने कहा—भैया! तुम ऐसा करो कि मुझसे चार घंटे के बाद मिलना, मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर अवश्य खोज लाऊँगी।

कुछ देर बाद मलिका ने एक नौकरानी का वेष धारण किया और राजमहल

के पिछले रास्ते से बीरबल के घर पहुँच गई। बीरबल ने बेगम मलिका को इस वेष में देखा तो मन—ही—मन बड़ा हैरान हुआ।

बेगम ने बड़े मीठे स्वर में कहा—कल रात मेरे और बादशाह के बीच विवाद हो गया। मैंने उस विवाद में यह कहा कि स्त्रियाँ भी बुद्धिमान होती हैं। इस बात पर उन्होंने कहा कि यदि ऐसा है तो मैं तुम्हारी परीक्षा लेना चाहता हूँ। उन्होंने मुझे से एक प्रश्न पूछा कि संसार में सबसे प्यारी वस्तु कौन—सी है? मुझे विश्वास है कि आपकी बुद्धि के खजाने में इस प्रश्न का उत्तर अवश्य होगा।

बीरबल ने कहा—संसार में सबसे प्यारी वस्तु स्वार्थ है। बेगम उत्तर पाकर खुश हो गई और राजमहल की ओर चल पड़ी। वह मन—ही—मन सोच रही थी कि आज तो मैंने बुद्धिमान बीरबल को भी मूर्ख बना दिया।

दूसरे दिन बेगम का भाई दरबार में पहुँचा और अपनी सफाई पेश करते हुए बोला—जहाँपनाह! कल दरबार से बाहर निकलते ही मुझे प्रश्न का उत्तर मिल गया था कि संसार में सबसे प्यारी वस्तु स्वार्थ है। अकबर ने पूछा कि वह कैसे? बादशाह का यह प्रश्न सुनते ही उसका सिर चकराने लगा और उसे दिन में तारे नजर आने लगे। अकबर ने उसे सोचने के लिए फिर एक दिन का अवसर दे दिया। इस घटना की चर्चा बीरबल तक भी पहुँच गई जो अस्वस्थता के कारण उस दिन भी दरबार में उपस्थित नहीं हो सका था।

बेगम मलिका ने अपने भाई की समस्या सुलझाने के लिए नौकरानी का वेष धारण किया और बीरबल के घर पहुँच गई। भोलेपन का अभिनय करते हुए उसने अपने प्रश्न का उत्तर पूछा। तब बीरबल ने कहा कि इस 'कैसे' का उत्तर तो मुझे भी ज्ञात नहीं है। मलिका के बार—बार आग्रह करने पर बीरबल ने कहा कि यदि हुक्का पीते हुए मैं बगीचे की सैर करूँ तो शायद मुझे उत्तर मिल सकता है।

यह सुनकर बेगम ने कहा कि आप अवश्य ही बगीचे में सैर कर आयें तब तक मैं आपकी प्रतीक्षा करती रहूँगी। बीरबल ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि हमारे सारे नौकर छुट्टी पर हैं, अतः हुक्का उठानेवाला कोई सेवक उपस्थित नहीं है। बेगम ने मन—ही—मन सोचा कि मैं तो दासी के कपड़ों में आई हूँ, घूँघट भी

निकाल लूँगी तो पहचानेगा भी कौन? थोड़े समय की ही तो बात है। अतः उसने कहा—मैं स्वयं हुक्का उठाकर आपकी पीछे—पीछे बगीचे में चलती हूँ।

बीरबल बगीचे की ओर चल पड़ा और उसके पीछे—पीछे बेगम सिर पर हुक्का उठाये चलने लगी। पसीने से उसका हाल—बेहाल हो रहा था। बगीचे में पहुँचकर बेगम ने घूँघट उठा लिया। सामने से बादशाह अकबर आ रहे थे। वे बेगम को इस स्थिति में देख आग—बबूला हो गए। दूसरे ही क्षण बीरबल ने कहा—हे महाबली! ये आपके ही प्रश्न का उत्तर है, स्वार्थ की बदौलत ही आज बेगम का ये हाल है। बादशाह अकबर को जब सत्य का पता लगा तब बेगम मलिका का सिर लज्जा एवं अपराध बोध से झुक गया।

बहिरात्मा जीव परद्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा को नहीं पहचानता और इस स्वार्थी संसार में ही सुख ढूँढ़ता रहता है तथा अपनी दुर्लभ मनुष्य पर्याय को व्यर्थ में ही समाप्त कर देता है।

यह विश्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों से बना है। यह अनादि अनिधन है। ये द्रव्य किसी के द्वारा बनाये गये नहीं हैं। इनका संचालन किसी शक्ति या पदार्थ से नहीं होता, अपितु प्रत्येक द्रव्य अपने उत्पाद—व्यय—घ्नौव्य लक्षण वाले स्वभाव से स्वयं अपना परिणमन करते हैं। यह सारी लोकव्यवस्था इन छहों द्रव्यों के ही आश्रित है।

किनहू न करै न धरै को, षट्द्रव्यमयी न हरै को।

सो लोक माहिं बिन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता।।

इस षट्द्रव्यमयी लोक का कोई कर्ता—धर्ता नहीं। इसमें समता के अभाव में यह जीव सदैव भ्रमण करता हुआ दुःख ही सहन कर रहा है।

अपने ज्ञान, ध्यान के लिये इन छः द्रव्यों का परिज्ञान करना आवश्यक है। इन सब परपदार्थों में हमारा जो मोह, राग, द्वेष लगा हुआ है वह अहितरूप है, दुःखरूप है। यह संसारप्रसंग केवल झंझट है। जब तक यह झंझट है, तब तक निजरस का स्वाद न आयेगा। 'दोय काम नहिं होय सयाने, विषय भोग अरु मोक्ष में जाने।' राग भी रहे, तृष्णा भी रहे, बाहरी पदार्थों को देखकर खुश भी होते रहें,

उन्हें अपनाते भी रहें और मुक्ति का स्वाद भी ले लें, ऐसा नहीं हो सकता। एक ओर का मार्ग निश्चित करें कि कौन-सा मार्ग प्रिय है? अगर मुक्ति का मार्ग प्रिय है तो राग, द्वेष, मोह छोड़ना होगा। इन सारे बंधनों को छोड़कर रत्नत्रय को धारण कर एक निज आत्मस्वरूप को अपनाना होगा, तभी आत्मा का कल्याण होगा।

आस्रव तत्त्व

मन, वचन और काय की हलन—चलनरूप क्रिया को आस्रव कहते हैं। उसके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग ये पाँच भेद हैं। राग—द्वेष आदि भावों के कारण पुद्गल कर्मों का खिंचकर आत्मा की ओर आना 'आस्रव' कहलाता है।

जैसे किसी नाव में छेद हो जाने पर पानी आने लगता है, वैसे ही आत्मा के शुभ—अशुभ भाव होने पर पुद्गल कर्म खिंचकर आत्मा की ओर आते हैं। अथवा जिस प्रकार गरम लोहा पानी को खींच लेता है, उसी प्रकार जीव अपने योग और भावों द्वारा कर्मों को अपनी ओर खींच लेता है, वही आस्रव है।

आस्रव के 57 कारण हैं—5 मिथ्यात्व, 12 अविरति, 25 कषाय और 15 योग।

सात तत्त्व या आत्मस्वरूप का मिथ्या श्रद्धान होना मिथ्यादर्शन कहलाता है।

मिथ्यात्व के 5 भेद हैं —

1. **एकान्त** — द्रव्यों में अनेक स्वभाव हैं, उनमें से 'एक ही स्वभाव है' ऐसी हठ पकड़ना।
2. **विपरीत** — जिसमें धर्म नहीं हो सकता, उसको धर्म मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है।
3. **विनय** — सुतत्त्व व कुतत्त्व को समान मानकर दोनों का एकसमान आदर करना।
4. **संशय** — सुतत्त्व व कुतत्त्व में संशय रखना।
5. **अज्ञान** — तत्त्वों को जानने की चेष्टा न करके देखा—देखी किसी भी तत्त्व

को मान लेना।

पाँचों इन्द्रियों और मन को वश में नहीं रखना तथा छह काय के जीवों की दया न पालना, ये 12 अविरति के भेद हैं।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय मिलकर 25 कषाय होती हैं।

योग के 15 भेद हैं —

सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्र काययोग और कर्मण योग।

धर्म्यध्यान में, आत्मानुभवन में आलस्य करने को 'प्रमाद' कहते हैं। प्रमाद के 80 भेद हैं —

चार विकथा (भोजन कथा, स्त्री कथा, राज कथा, चोर कथा) चार कषाय, 5 इन्द्रिय, 1 स्नेह, 1 निद्रा ये प्रमाद के 80 भेद हैं। हर एक प्रमाद भाव में एक विकथा, एक कषाय, एक इन्द्रिय, एक स्नेह व एक निद्रा के उदय का संबंध होता है। इसलिये प्रमाद के 80 भेद हो जाते हैं।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थ में श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरि ने आस्रव तत्त्व का वर्णन करते हुये लिखा है —

मन, वचन और काय की जो क्रिया है, वह योग कहलाती है। जो योग है, वही आस्रव है। शुभ और अशुभ के भेद से योग के दो भेद हैं। शुभ योग पुण्यकर्म का आस्रव कराता है और अशुभ योग पापकर्म का आस्रव कराता है। जिस प्रकार तालाब में पानी लाने वाला द्वार पानी आने का कारण होने से मनुष्यों के द्वारा आस्रव कहा जाता है, उसी प्रकार आत्मा की यह योगरूप प्राणाली भी कर्मास्रव का हेतु होने से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा आस्रव कही जाती

है।

आस्रव दो प्रकार का होता है, 1. सांप्रायिक 2. ईर्यापथ। कषाय सहित जीव के आस्रव को सांप्रायिक आस्रव कहते हैं और कषायरहित जीव के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार गीले चमड़े पर धूल (उड़कर) जमकर बैठती है, उसी प्रकार कषायसहित जीव के कर्म जमकर बैठते हैं अर्थात् उनका स्थिति और अनुभाग बंध अधिक होता है और सूखी दीवाल पर फेंका हुआ ढेला जिस प्रकार दीवाल का स्पर्श कर तत्काल उससे अलग हो जाता है, उसी प्रकार कषायरहित जीव के कर्म आत्मा के साथ संबंध करते ही एक समय के भीतर अलग हो जाते हैं, उनमें स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं पड़ता।

हमारे शुभ भावों से शुभ कर्मों का आस्रव तथा अशुभ भावों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। अतः सदा अशुभ भावों से बचना चाहिये। एक राजा ने अपने बेटे को राज्य सौंपकर दीक्षा धारण कर ली। वह उग्र तपस्या करता रहा। एक दिन लड़के के राज्य पर किसी राजा ने चढ़ाई कर दी। उसी नगर के दो राजकुमार राजा से बने मुनि के दर्शन के लिए जा रहे थे। उन्होंने मुनि को देखकर कहा कि आप मुनि बन गये और आपके बेटे के राज्य पर किसी राजा ने आक्रमण कर दिया है। यह सुनकर मुनि को क्रोध आ गया कि यदि मैं घर पर होता तो देखता वह कैसे चढ़ाई करता ? मेरे सामने कौन लड़ सकता था? अब क्या करूँ? ऐसे भाव मुनि के बन जाने से भृकुटी तन गई, क्रोध से हाथ-पाँव काँपने लगे। इतने में राजग्रही के राजा श्रेणिक आ जाते हैं और देखते हैं कि मुनिराज तो तपस्वी हैं, लेकिन क्रोध क्यों आ रहा है? इस बात का विकल्प बन जाता है, तभी समवसरण में जाकर गौतम गणधर से मुनि के बारे में पूछते हैं। भगवान् की वाणी खिरती है कि यदि ये मुनि इसी भाव में मरण कर गये तो नरक जाएँगे। उन्हें जाकर संबोधो और खोटे भाव से हटाकर वीतराग भावों में लाओ। तभी राजा श्रेणिक जाकर मुनि महाराज को संबोधित करते हैं कि हे स्वामी! यह संसार असार है। इसमें कोई कभी न किसी का हुआ, न होगा। आपका वेश भी महान है। आप व्यर्थ ही लड़के के मोह में फँस रहे हैं। लड़का तो लड़का है। यह शरीर भी कभी किसी का न हुआ, ऐसा सुनकर

महाराज के भाव वीतरागता में आ गये। पुनः राजा श्रेणिक समवसरण में पहुँच जाते हैं। वहाँ पूछने पर उन्हें पता चलता है कि इस समय मुनिराज के भाव स्वर्ग व मोक्ष प्राप्ति के हो गये हैं।

आचार्य समझा रहे हैं कि इन कर्मों के आने के दरवाजों को बंद करो, तभी संसार का बंधन छूटेगा। यदि आस्रव को नहीं रोका, तो संसार परिभ्रमण से छूट नहीं पाओगे। पंडित टोडरमलजी ने लिखा है कि विश्वास पैदा करने के लिये वैद्य रोगी की नाड़ी देखकर कहता है कि तुझे पेट में दर्द होता है, नींद अच्छी नहीं आती, रात को बुखार हो जाता है? वह पूछता जाता है और मरीज हाँ-हाँ करता जाता है। वास्वत में तकलीफ तो रोगी को है, उसे बतानी चाहिये, किन्तु वैद्य विश्वास पैदा करने के लिये ऐसा करता है। रोगी सोचता है कि वैद्य ने जब बिना बताये, मात्र नाड़ी देखकर मेरी तकलीफ पहचान ली है, तब इसका इलाज भी सही होगा। फिर वह वैद्य करुणाभाव से कहता है कि तुम्हें यह तकलीफ इसलिये हुई कि तुमने अनाप-शनाप खाना खाया है, माँस, मंदिरा का सेवन किया है, दिन-रात भखा है, खाने-पीने का ध्यान नहीं रखा है, बदपरहेजी की है। तब वह सोचता है कि यह वैद्य कितना जानकार है। इसने तो बिना बताये ही सबकुछ जान लिया। इस प्रकार वैद्य के प्रति विश्वास हो जाने से मरीज उसके बताये परहेज पालता है, दवा लेता है और भी जो कुछ वैद्य आदेश देता है, उसका पालन करता है।

इसी प्रकार यहाँ संसारी जीव को आचार्य बता रहे हैं कि ये मिथ्यात्वादि आस्रव के कारण हैं, दुःख के हेतु हैं, अतः इनसे बचना चाहिये। इनको छोड़े बिना संसार के दुःखों का अंत नहीं हो सकता।

एक दिन एक मरीज एक वैद्य के पास आया और रो-रोकर कहने लगा कि मेरे पेट में भयंकर पीड़ा है। वैद्य जी ने उससे पूछा कि गुड़ खाया था? उसने कहा कि नहीं। वैद्य जी ने फिर पूछा — नहीं खाया? उसने कहा — हाँ साहब! नहीं खाया। उन्होंने फिर पूछा — नहीं खाया? उसने फिर बताया कि नहीं खाया। तो नाराज होते हुये वैद्य जी बोले कि मेरे सामने से हट जा। वैद्य जी ने उसे बहुत डाँटा और बोले कि मैंने तुझसे पहले कह दिया था कि अब तुम

जिंदगी में कभी भी तेल और गुड़ मत खाना। तुमने गारंटी से गुड़ और तेल खाया है। बिना उसके यह तकलीफ हो ही नहीं सकती। तब उसने हाथ जोड़कर कहा—साहब! न मैंने गुड़ खाया, न मैंने तेल खाया, मैंने तो गुलगुले खाये थे। गुलगुले आटे में गुड़ डालकर तेल में पकाये जाते हैं।

वैद्य जी ने उसे दबा दी और कहा कि अब भविष्य में गुड़ नहीं गुलगुले भी नहीं, किसी भी रूप में ये गुड़ और तेल तेरे खाने में नहीं आना चाहिये।

ऐसे ही यहाँ पर आचार्य कह रहे हैं कि हमने तेरी तकलीफ बताई, यह भी बताया कि यह तुझे क्यों हुई है। तूने अनादि से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन आस्रव के कारणों का सेवन किया है, इसलिये यह तकलीफ हुई है।

बोल, तूने इनका सेवन किया है या नहीं किया है? नहीं, साहब! सिर कट जाये, लेकिन किसी भी कुदेवादिक के सामने मेरा माथा नहीं झुके। भैया! इनके बिना यह तकलीफ हो ही नहीं सकती। चार गति और चौरासी लाख योनियों का परिभ्रमण इन आस्रव के कारणों के बिना हो ही नहीं सकता है।

श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने लिखा है कि जिस प्रकार रस ले—लेकर कर्मों का आस्रव व बन्ध किया है, उसी प्रकार रस ले—लेकर इन्हें तोड़ने से काम चलेगा। उन्होंने आस्रव को अपराध बताया है। वास्तव में मेरा सारा जीवन ही अपराधमय है। चौबीस घंटे मैं करता ही क्या हूँ अपराध के अतिरिक्त? अपराध करने वाला स्वयं मैं हूँ। मैं उससे भलीभाँति परिचित हूँ। उसे बंद करने का मुझे पूरा अधिकार है और यदि मैं स्वयं अपराध न करूँ तो कोई शक्ति जबरदस्ती मुझे अपराध करने के लिये बाध्य नहीं कर सकती। कर्मों का दास बना आज का जगत अपने को कर्मण शरीर के अधीन मानता हुआ कहता है कि मुझे तो अपराध वह करा रहा है। जब तक वह रास्ता न देगा मैं क्या कर सकता हूँ? उसका उदय होगा तो मुझे अपराध करना ही पड़ेगा। मैं क्या करूँ? मैं स्वयं तो अपराध करना चाहता नहीं, पर यह मेरा पीछा छोड़ता ही नहीं। इस प्रकार अपना दोष दूसरों के गले मढ़ता है और स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रत्यन

करता है। अपने अपराध को स्वीकार करने तक का साहस जिसमें नहीं है, वह व्यक्ति कभी यह नहीं विचारता कि क्या इस प्रकार तुझे शान्ति मिलनी संभव है? नहीं, अब विपरीत बुद्धि को छोड़कर अपने अपराध को स्वीकार करो और इन आस्रव के कारणों को छोड़कर संवर तथा निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों को नष्ट कर दो। आचार्यों ने करुणा करके हमें संसार के दुःखों से छूटने का उपाय बताया है, पर हमने उसकी उपेक्षा कर दी।

एक बार एक यात्री ट्रेन से सफर कर रह था। उसके पेट में भयंकर दर्द हुआ और वह तड़फने लगा, तब सामने बैठे यात्री ने अपनी जेब से एक पुड़िया निकाली और कहा—भैया! यदि यह दवाई खाओगे तो तुम्हारा दर्द ठीक हो सकता है। तब उसने कहा कि—तुम—जैसे बहुत देखे हैं। मैं सारे हिन्दुस्तान का चक्कर काट चुका हूँ, अनेक बड़े—बड़े डाक्टरों को दिखाया है, परन्तु कोई भी मेरा पेटदर्द ठीक नहीं कर पाया और तुम.....।

इसने कहा—भैया! इसमें क्या तकलीफ है? मैं तुमसे पैसा तो माँग नहीं रहा हूँ। मुफ्त की पुड़िया है, खाकर देख लो। ठीक हो जायेगा तो अच्छा है, नहीं हुआ तो न सही। ऐसा कहते हुये उसने वह पुड़िया उसके हाथ में जबरदस्ती रख दी। उसने अरुचिपूर्वक ले तो ली, लेकिन धीरे—से वहीं छोड़ दी, वह नीचे गिर गई। बहुत देर तक वह पुड़िया वहीं नीचे पड़ी रही। जिसने पुड़िया दी थी, वह ट्रेन से अगले स्टेशन पर उतर गया।

उसके बाद जब उसे बहुत दर्द हुआ और कोई इलाज नहीं दिखा, तो उसके मन में आया कि इस पुड़िया को खाकर देखूँ। तब उसने वह पुड़िया खायी और सचमुच पाँच मिनट में दर्द ऐसा गायब हुआ कि जैसे गधे के सिर से सींग गायब हो गया हो। अब वह आदमी सामने नहीं है, उससे पूछाँ भी नहीं था कि वह कौन से गाँव का है और क्या नाम है? न मालूम पुड़िया में क्या था, कैसी दवाई थी? कुछ पता नहीं।

अब उसको उस दवाई पर पक्की श्रद्धा हो गई, क्योंकि अब वह उसका अनुभव कर चुका है, अतः अब उस देने वाले की तलाश करता है। समाचार

पत्रों में और टी.वी. पर विज्ञापन देता है। सब तरह से उसकी खोज करता है, क्योंकि उसे यह पता नहीं है कि उस पुढ़िया में क्या था, उस दवा का नाम क्या था ?

अब दवा के साथ—साथ उस व्यक्ति पर भी अटूट विश्वास हो गया है और अब उसे ढूँढ़ रहा है।

इसी प्रकार ज्ञानीजनों ने करुणा करके सीख दी और हमने उपेक्षा से उड़ा दी। वह सीख वहीं पर पड़ी रही। दो चार बातें कान में पड़ गई थीं, जब भयंकर पीड़ा हुई और कोई रास्ता नहीं दिखा, तब वह रास्ता अपनाया और थोड़ी शान्ति प्राप्त हुई। तो अब उन ज्ञानीजनों की तलाश करते हैं।

जब तक इस जीव को परपदार्थों से भिन्न आत्मा की सच्ची श्रद्धा नहीं होती, तब तक मोह—मदिरा के नशे में अपने को भूला हुआ यह पर पदार्थों स्त्री, शरीर, धन, परिवार, बाग—बगीचे आदि में 'ये मेरे थे, मैं इनका स्वामी हूँ, अथवा भविष्य में मैं इनका स्वामी होऊँगा' इस प्रकार भूत, वर्तमान व भविष्य के संकल्प—विकल्पों के झूले में झूलता रहता है और कर्मों का आस्रव व बंध करता रहता है।

आचार्य इस प्रकार दुःख व्यक्त करते हुये कहते हैं—'हे समस्त जगत यानि जगत के प्राणी! अनादिकाल से चले आये अपने मोह को अब तो छोड़ो और आत्मानन्द के रस को चखो।' उन्हें ऐसा लगता है कि किसी प्रकार यह जीव एक बार उसका अनुभव तो करे। यदि एक बार भी कर लेगा, तो फिर कभी छोड़ेगा नहीं।

अरे बन्धु ! किसी भी प्रकार से रचपचकर कुतूहल मात्र से भी तत्त्व को जानने की इच्छा करके एक मुहूर्त मात्र के लिये ही सही, शरीर का पड़ोसी बन जा। अपनी आत्मा को देखकर उसका तद्रूप में अनुभव कर। ऐसा करने से शरीर के साथ जो तेरे एकपने का मोहभाव है, उसे तू शीघ्र ही छोड़ देगा।

ऐ मेरे बन्धु ! जरा थोड़ी देर के लिये तो मेरी बात मान ले। साल या दो साल को नहीं, 5—10 मिनट को ही मान ले। तुम्हें विश्वास न हो तो केवल

कौतूहलवश होकर मान ले। यदि तुझे हमारी बात सत्य न जँचे, तो छोड़ देना। एक बार मान तो ले। क्या मान ले ? यह मान ले कि शरीर तू नहीं है, शरीर तेरा नहीं है, वह तेरा पड़ोसी ही है।

यदि तू ऐसा मानकर चलेगा तो तुम्हें तत्काल अपने ज्ञानानन्द—विलासी आत्मा का बोध हो जायेगा। यदि एक बार भी सत्य का दर्शन हो गया, तो तेरा उद्धार हो जायेगा।

मन, वचन, काय की चेष्टा का नाम योग है। जब तक अशुभ 'योग' रहेगा, तब तक अशुभ कर्मप्रकृतियों का आस्रव होगा और जब शुभ योग होगा तो शुभ कर्मप्रकृतियों का आस्रव होगा। लेकिन योग जब तक रहेगा, तब तक वह आस्रव करायेगा ही।

व्रत से पुण्यकर्म का और अव्रत से पापकर्म का आस्रव होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से निवृत्ति होने को जिनेन्द्र भगवान 'व्रत' कहते हैं। पापों से एकदेश निवृत्ति को 'अणुव्रत' तथा सर्वदेश निवृत्ति होने को 'महाव्रत' कहते हैं।

हिंसादि पापों के कारण इस लोक में अनेक प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं तथा ये परलोक में पापबन्ध के हेतु हैं। ये हिंसादि स्वयं दुःखरूप हैं, दुःखों के कारण हैं और दुःखों के कारणों के कारण हैं, इसलिये दुःख ही हैं। अतः इनको छोड़कर व्रतों को धारण करना चाहिये।

पापक्रियायें अशुभ आस्रव का कारण हैं और पुण्यक्रियायें शुभ आस्रव का कारण हैं। ज्ञानी जीव का लक्ष्य निर्विकल्प शान्ति (शुद्धोपयोग) की प्राप्ति का होता है, अतः वह चाहता है कि अशुभ व शुभ कोई क्रिया न करना पड़े तो अच्छा है, पर वर्तमान की इस अल्प स्थिति में वह अधिक समय तक स्वभाव में स्थिर नहीं रह पाता, इसलिये अशुभ राग से बचने के लिये वह भोगाभिलाष से निरपेक्ष, केवल शान्ति की अभिलाषा रखकर, शुभ क्रियाओं को करता है। उसकी ये क्रियायें पुण्यानुबन्धी पुण्य कहलाती हैं।

इस संसारी प्राणी का मन बड़ा चंचल होता है। वह कभी शान्त नहीं

बैठता। मन वह राक्षस है जो हर समय तुझसे काम माँगता है। इसे काम में लगा दो तो लगा दो, नहीं—तो वह स्वयं आपको अपने काम में लगा लेगा।

हातमताई पिक्चर में मन्त्रों द्वारा अपने कार्य की सिद्धि के अर्थ वश किया एक राक्षस अपने स्वामी से कहता है कि काम दे, नहीं तो तुझे खा जाऊँगा। यह काम बताया, वह काम बताया, आखिर कब तक? इतने काम थे ही कहाँ कि एक समय के लिए भी खाली न रहने पावे वह ? विचारा कि यह तो अच्छी बला मोल ले ली। अच्छाई के लिये सिद्ध किया था इसे परन्तु गले ही पड़ गया। वह अब छोड़े से भी तो नहीं छूटता। विचारकर एक उपाय सूझा। ठीक है, आओ काम बताता हूँ। एक जीना बनाओ, उस पर चढ़ो और उतरो। वह टूट जाये तो फिर बनाओ, फिर चढ़ो और उतरो। बराबर इसी तरह से करते रहो जब तक कि मैं तुम्हें न बुलाऊँ। अब तो सब राक्षसपना हवा हो गया। वह खाली न रहने पाया और स्वामी भय से मुक्त हो गया।

इसी प्रकार तू भगवान आत्मा, मन तेरा सेवक, परन्तु एक ऐसा सेवक जो हर समय काम माँगता है, एक क्षण को भी खाली नहीं रह सकता। कार्य न दे तो विकल्पजाल में उलझाकर ऐसा धक्का दे तुझे कि धरातल पर आकर तड़फने लगे। भाई! इस राक्षस को किसी—न—किसी काम में उलझाये रखना श्रेय है, भले ही वह कार्य निष्प्रयोजन क्यों न हो। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने 'शान्तिपथ प्रदर्शन' ग्रन्थ में ऐसी चार प्रकार की क्रियाओं का वर्णन किया है जिनमें मन को उलझाया जा सकता है —

1. भोगाभिलाष सहित तथा भोगों में रमणता रूप अशुभ क्रिया अर्थात् पापानुबन्धी पाप क्रिया।
 2. भोगाभिलाष सहित शुभ क्रिया अर्थात् पापानुबन्धी पुण्य रूप क्रिया।
 3. भोगाभिलाष से निरपेक्ष, केवल शान्ति की अभिलाषा सहित, शुभ क्रिया अर्थात् पुण्यानुबन्धी पुण्य रूप क्रिया।
 4. साक्षात् शान्ति के वेदन के साथ तन्मयता रूप शुद्ध क्रिया।
- अब विचारना यह है कि मन को कौन—सी क्रिया में जुटाना अधिक

श्रेयस्कर है। पहली पापक्रिया और चौथी शुद्धक्रिया में पापक्रिया तो अत्यन्त हेय है तथा शुद्ध क्रिया अत्यन्त उपादेय है। अब विचारना तो दूसरी व तीसरी क्रिया के संबंध में है कि उन्हें हेय माने या उपादेय? दूसरी क्रिया अशान्ति के कारण यद्यपि हेय है, पर पहली की अपेक्षा मन्द अशान्ति होने के कारण कथंचित् उपादेय भी है। तीसरी क्रिया यद्यपि क्रियारूप न होकर भावरूप है, शान्ति का अंश रहने के कारण उपादेय है, परन्तु चौथी क्रिया की अपेक्षा अशान्ति का अंश रहने के कारण हेय है।

अर्थात् ज्ञानधारा में रंगीं सर्व क्रियायें उपादेय हैं और कर्मधारा में रंगीं सर्व क्रियायें हेय हैं। आंशिक ज्ञानधारा में रंगीं क्रियायें प्रथम भूमिका में अभ्यास करने के अर्थ प्रयोजनवान हैं। अब हमें छॉटना है कि कौन-सी क्रिया करें।

जिसमें चारों प्रकार की क्रिया करने की शक्ति न हो, वह कितनी में से छॉट करेगा? उतनी में ही से तो करेगा जितनी कि वह कर सकता है। ज्ञानीजीव जिन्होंने कुछ भी शान्ति का वेदन कर लिया है वे तो चारों क्रियायें कर सकते हैं और इसलिये उन्हें तो चारों में से छॉट करनी है, परन्तु वे व्यक्ति जिन्होंने कुछ भी शान्ति का परिचय प्राप्त नहीं किया है, वे केवल पहली दो क्रियायें ही कर सकते हैं। अगली दो उनके पास हैं ही नहीं, क्या करें? यद्यपि अभिप्राय में से भोगाभिलाष जाती रही है, परन्तु शान्ति के वेदन से रहित होने के कारण इनका समावेश तीसरी क्रिया में नहीं किया जा सकता। इसलिये उन्हें केवल पहली दो क्रियाओं में से छॉट करनी है।

विषय स्पष्ट हो गया। ज्ञानी व्यक्ति तो चौथी क्रिया करने का ही भरसक प्रयत्न करेगा, परन्तु अल्प भूमिका में शक्ति की हीनतावश वहाँ अधिक समय न टिका रह सके तो शेष समय तीसरी क्रिया में बिताने का प्रयत्न करेगा, दूसरी क्रिया उससे होगी ही नहीं, क्योंकि शुभ क्रियाओं में उसकी प्रवृत्ति तीसरी कोटि में चली जायेगी। गृहस्थ दशा में, करने का अभिप्राय न होते हुये भी, पूर्व संस्कारवश, यदि कदाचित् पहली क्रिया हुई भी, तो उसके प्रति अपना बहुत अधिक निन्दन करेगा। परन्तु अज्ञानी जीव अभिप्राय बदल जाने पर और शान्ति की जिज्ञासा जागृत हो जाने पर दूसरी क्रिया को करने का तथा तीसरी क्रिया

की कोटि में प्रवेश पाने का भी भरसक प्रयत्न करेगा। पहली क्रिया करने का स्वयं प्रयत्न नहीं करेगा, परन्तु यदि संस्कार वश हो ही गई तो उसके लिये अपनी निन्दा करेगा।

प्रथम क्रिया के सोपान को छोड़कर द्वितीय क्रिया के सोपान पर, उस पर पाँव जमने के उपरान्त उसे छोड़ तृतीय सोपान पर और इसमें भी अभ्यस्त हो जाने पर चतुर्थ सोपान पर चढ़ते जाना ही साधना का क्रम है।

भगवान् में दोष जरा भी नहीं होता और गुण पूरे विकसित हो जाते हैं। यह वैभव मेरे स्वभाव में भी पड़ा हुआ है। यह वैभव प्रकट हो जाये तो हम सच्चे वैभववान् हैं। निर्दोषता और गुणविकास यदि नहीं बनता है, तो इन पौद्गलिक ढेरों के समागम से क्या तत्त्व निकलेगा? इस अनादि— अनन्त काल के सामने ये 10—20—50 वर्ष क्या गिनती रखते हैं जिनमें हम विषय—भोगों का आराम चाह रहे हैं? यह समय भी झट निकल जायेगा और जो पाप भोगने पड़ेंगे वह काल निकट आ जायेगा। तो ऐसा जानकर निर्णय करें कि राग—द्वेष भाव, आस्रव भाव, कषाय भाव, ये सब हेय हैं और अपने आपका जो सहज ज्ञानज्योति स्वरूप है, वह मेरा उपादेय भाव है। अतः आस्रव—भावों को छोड़कर स्वभाव की ओर आने का प्रयास करो। व्यक्ति जैसे शुभ—अशुभ कर्म करता है, उसी के अनुसार उसे फल की प्राप्ति होती है। सुख हो या दुःख, जिम्मेदार स्वयं हो।

प्राक् पदवी में व्यवहारनय का उपदेश प्रयोजनवान है —

समयसार की 'सप्तभंगी' टीका में श्री सहजानन्द वर्णी जी ने लिखा है कि यदि तुम वास्तव में आत्मकल्याण करना चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो। अपने—अपने समय में दोनों ही नय कार्यकारी हैं।

लोक में सोने के सोलह ताव प्रसिद्ध हैं। उनमें पन्द्रह ताव तक तो परसंयोग की कालिमा रहती है, अतः तब तक उसे अशुद्ध कहते हैं और फिर ताव देते—देते जब अन्तिम ताव से उतरे, तब सोलहवान् शुद्ध स्वर्ण कहलाता है। जिन जीवों को सोलहवान् वाले सोने का ज्ञान, श्रद्धान तथा उसकी प्राप्ति हुई है, उनको पन्द्रहवान् तक का सोना कुछ प्रयोजनवान् नहीं है। और जिनको

सोलहवान वाले शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति जब तक नहीं हुई, तब तक पन्द्रहवान् तक का भी प्रयोजनीय है। उसी तरह यह जीव पदार्थ पुद्गल के संयोग से अशुद्ध अनेक रूप हो रहा है। सो जिनको सब परद्रव्यों से भिन्न एक ज्ञायक मात्र आत्मतत्त्व का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण रूप प्राप्ति हो गई है, उनको तो अशुद्ध नय कुछ प्रयोजनीय नहीं है और जब तक शुद्ध भाव की प्राप्ति नहीं हुई, तब तक जितना अशुद्धनय का कथन है, उतना यथा पदवी प्रयोजनवान् है। अतः जिनवचनों का सुनना, धारण करना तथा जिनवचन के कहने वाले श्री जिनगुरु की भक्ति, जिनबिंब का दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है। और जिसके श्रद्धान और ज्ञान तो हुआ, पर साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई, तब तक परद्रव्य का आलंबन छोड़नेरूप अणुव्रत और महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठी के ध्यान रूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करने वालों की संगति करना और विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहार मार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना तथा अन्य को प्रवृत्त करना आदि सब व्यवहारनय का उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान् है।

राग—द्वेष मोह, विषय—कषाय ये सब आत्मा के विकार हैं, आस्रव के कारण हैं और कर्मबन्ध कराके आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले हैं। अनादिकाल से यह जीव इन राग—द्वेष, मोह, विषय—कषाय से मलिन हो रहा है, सो व्यवहार साधन के बिना उज्ज्वल नहीं हो सकता। जब मिथ्यात्व, अव्रत, कषायादिक की क्षीणता से देव—शास्त्र—गुरु की श्रद्धा करे, तत्त्वों का जानपना होवे, तब वह अध्यात्म का अधिकारी हो सकता है। जैसे मलिन कपड़ा धोने से रंगने योग्य होता है, बिना धोये उस पर रंग नहीं चढ़ता, इसलिये व्यवहार रत्नत्रय को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है। 'जो सत्यार्थ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।' निश्चय रत्नत्रय अर्थात् आत्मा का श्रद्धान, आत्मा का ज्ञान व आत्मा में लीन रहना मोक्ष का साक्षात् कारण है और व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का कारण है।

हम केवल जाननहार रहें, यही धर्म पालन है। व्यवहार धर्म में पूजा आदि जितने भी काम करने पड़ते हैं, हम यदि उल्टा न चलते होते तो उनकी कोई आवश्यकता न थी। परिग्रह और आरम्भ में रहकर कोई केवल जाननहार रहा

आये, यह तो संभव नहीं है। परिग्रह और आरम्भ को तजकर इस वीतराग धर्म की उपासना की जाती है, इसी के मायने है साधु होना। जो इतना ऊँचा काम नहीं कर सकता, वह परिग्रह और आरम्भ की वासना तजने के लिये व्यवहार धर्म की क्रियायें करता है। प्रथम अवस्था में चित्त को स्थिर करने के लिये विषय—कषायरूप खोटे अशुभ भावों को रोकने के लिये शुभोपयोग प्रयोजनवान् है। बाद में चित्त के स्थिर होने पर साक्षात् मुक्ति का कारण जो निज शुद्धात्मतत्त्व है, वही ध्यावने योग्य है।

जिन ज्ञानियों ने आत्मतत्त्व को समझ लिया है, उन्हें अपनी शान्ति के अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं रुचती। ज्ञानी शुभ क्रियाओं को करते हुये भी वीतरागता का ही लक्ष्य रखता है। जो व्यक्ति इन क्रियाओं को करते हुये भी आत्मा में चित्त नहीं लगाता, वह ऐसे जानना कि जैसे किसी ने कण रहित बहुत भूसे का ढेर इकट्ठा कर लिया हो। उसकी वे क्रियायें वीतरागता की कारण भी नहीं हैं।

व्यवहारनय से देखो तो आत्मा बँधा हुआ दिखता है, निश्चय दृष्टि से देखो तो यह किसी से बँधा हुआ नहीं है। एक नय से बँधा हुआ और एक नय से सदा अबंध—छूटा हुआ है। ऐसे ये अपने दोनों पक्ष अनादिकाल से धारण किये हुये हैं। एक नय कर्मसहित और एक नय कर्मरहित कहता है। जो जिस नय से जैसा कहा है, वैसा है। जो बंधा हुआ तथा खुला हुआ दोनों ही बातों को मानता है और दोनों का अभिप्राय समझता है, वही सम्यग्ज्ञानी जीव का स्वरूप जानता है।

जो नयवाद के झगड़े से रहित हैं, असत्य, खेद, चिन्ता, आकुलता आदि को हृदय से हटा देते हैं और हमेशा शांतभाव रखते हैं, गुण—गुणी के भेद विकल्प भी नहीं करते, वे वीतरागी मुनिराज संसार में आत्मा का ध्यान करके पूर्ण ज्ञानामृत का स्वाद लेते हैं।

आस्रव तत्त्व को न जानने के कारण यह जीव राग—द्वेष करके कर्मों का आस्रव करता रहता है और कर्मरूपी चोर इसे चारों ओर से लूटते रहते हैं। “कर्म

चोर चहुँ ओर, सर्वस्व लूटें सुध नहीं।”

एक किसान बहुत धनी था। उसे सारी संपत्ति विरासत में मिली थी। उसकी एक गौशाला भी थी, जिसमें अच्छी संख्या में गाय-भैंसें थीं। उसकी जमीन भी खूब उपजाऊ थी, पर किसान बहुत आलसी व लापरवाह था, अतः उसके नौकर उसकी लापरवाही का नाजायज फायदा उठाते थे। रिश्तेदार/कुटुम्बीजन भी धन हड़पने के लिये उसके घर डटे रहते थे।

एक बार किसान का जिगरी दोस्त उससे मिलने आया। वह घर की अराजकता देखकर दंग रह गया। उससे किसान की लापरवाही से घर की बरबादी होती नहीं देखी गई। उसने किसान को विविध प्रकार से समझाने का प्रयास किया, परन्तु किसान पर उसकी बातों का कोई असर नहीं हुआ। क्योंकि किसान आलसी भी था एवं अपने रिश्तेदार और पारिवारिकजनों पर बहुत विश्वास किया करता था।

किसान का मित्र उसका शुभचिंतक था, अतः उसने कुछ उपाय सोचा और कहा—मित्र! चलो मैं तुम्हें एक ऐसे महात्मा के पास ले चलता हूँ जो जीवन को समृद्ध बनाने के बड़े-बड़े रहस्यों को जानता है। किसान ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—मित्र! वे कौन-से रहस्य होते हैं? मित्र बोला—‘वे आजीवन स्वस्थ और अमीर बनाने का उपाय बताते हैं।’ यह सुनकर किसान के मन में भी जिज्ञासा जागृत हुई। किसान ने कहा—मैं महात्मा के पास तो जा नहीं सकता, अतः तुम जाकर उपाय पूछ आना और मुझे बता देना। मित्र ने कहा—आज से ठीक एक सप्ताह बाद मैं वापिस आऊँगा और तुम्हें वह उपाय अवश्य बताऊँगा।

एक सप्ताह पूरा होते ही मित्र किसान के घर पर पहुँच गया। किसान ने कहा—मित्र! स्वागत है आपका। क्या महात्मा से मिलकर आ रहे हो? उसने कहा—जी हाँ। महात्मा ने मुझे स्वास्थ्य और अमीरी का जो राज बताया है, वह मैं तुम्हें बताने आया हूँ। महात्मा ने कहा है कि प्रातः सूर्योदय से पूर्व एक सफेद हंस इस धरती पर आता है जो किसी के देखने से पहले ही गायब हो जाता है। इस हंस को जो छिपकर देख लेता है, वह आजीवन स्वस्थ तथा धनी बना रहता

है।

यह सुनते ही किसान को बड़ी जिज्ञासा हुई। उसने मित्र से पूंजी पूछा, तब मित्र ने बताया कि हंस का कोई निश्चित स्थान नहीं है। वह कहीं पर भी दिखाई पड़ सकता है। इसके लिये तुम्हें जल्दी उठकर प्रतिदिन अपने सारे घर का, खेत एवं गौशाला इत्यादि का चक्कर लगाना पड़ेगा। कभी-न-कभी सौभाग्य से तुम्हें उस हंस के दर्शन अवश्य ही हो जायेंगे।

दूसरे दिन किसान सूर्योदय से पूर्व ही उठा और हंस को खोजने खलिहान में गया तो उसने देखा कि सबेरे-सबेरे उसका चाचा चुपके से बोरे में अनाज भर रहा है। किसान को देखकर वह बहुत लज्जित हुआ और क्षमा माँगने लगा।

उसके बाद जब वह गौशाला में गया तो वहाँ भी अपने ही परिजनो को दूध चुराते देखा तो किसान ने उन्हें खूब फटकारा। वे भी शर्मिन्दा हुए। जब गौशाला में भी हंस के दर्शन नहीं हुए, तब वह सफेद हंस की खोज में खेत में गया। वहाँ जानवर चर रहे थे और नौकर आराम से सो रहे थे। यह देखकर किसान बहुत क्रोधित हुआ और उसने नौकरों को खूब डाँटा और वह घर लौट आया।

इस तरह किसान प्रतिदिन हंस की खोज में सभी जगह जाता रहा। परिणाम यह हुआ कि हर जगह पर नौकर किसान के भय से अपने-अपने काम में लगे रहते थे कि कहीं मालिक ना आ जाये। दूसरा परिणाम यह निकला कि रिश्तेदारों ने चोरी करना बंद कर दी। तीसरा परिणाम यह हुआ कि घूमने-फिरने से किसान का स्वास्थ्य भी ठीक रहने लगा। इस प्रकार धन की वृद्धि भी हुई, परन्तु सफेद हंस कहीं नहीं दिखा।

इस प्रकार छः महीने तक भी जब सफेद हंस के दर्शन नहीं हुए तो वह परेशान होकर मित्र के पास गया। मित्र ने कहा-कहो, कैसे आना हुआ? वह बोला-मुझे कोई दूसरा उपाय बताओ, क्योंकि इतने दिन हो गये हैं, पर सफेद हंस के दर्शन तो नहीं हुए।

मित्र ने हँसकर कहा—तुम्हें हंस के दर्शन हो तो गये, परन्तु तुम उस हंस को पहचान नहीं पाये। मित्र ने आगे बताया कि परिश्रम ही वह सफेद हंस है जो कि तुम कुछ महीनों से कर रहे हो। परिश्रम के पंख सदा उज्ज्वल होते हैं। जो इस हंस को पृथ्वी पर पहचान लेता है, वह हमेशा स्वस्थ व अमीर बना रहता है। उसे कोई लूट नहीं पाता।

इसी प्रकार जो ज्ञानी आस्रव तत्त्व को समझकर इन पदार्थों में राग—द्वेष—मोह करना छोड़ देते हैं, सदा सावधान रहते हैं, उन्हें फिर कर्म रूपी चोर लूट नहीं पाते। अज्ञानी व्यक्ति तो व्यर्थ में आर्त्तध्यान करके कर्मों का आस्रव करते रहते हैं।

एक मुसाफिर कहीं जा रहा था। रास्ते में उसके साथ एक दुर्घटना हो जाती है। थोड़ी—बहुत चोट अवश्य लगती है, किन्तु वह बच जाता है। घर वापस आता है, सब हाल अपनी पत्नी को बताता है। कहता है—आज मैं बच गया, गाड़ी से एक्सीडेंट हो गया था। चोट लगी है, मरते—मरते बचा हूँ। पत्नी यह सुन रोने लगती है, विलाप करने लगती है मानो वह वास्तव में मर ही गया हो। सोचती है कि अगर यह मर जाता तो मेरी क्या दशा होती? यह सोच और जोर—जोर से रोने लगती है। रोने की आवाज सुन आसपास की औरतें भी इकट्ठी होकर आ जाती हैं और पूछती हैं कि क्या हो गया है? पत्नी कहती है कि कुछ मत पूछो, आज तो बहुत बुरा हो गया। यह सुन सब औरतें रोने लगती हैं। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि दुर्घटना हुई बात को बार—बार याद करके विलाप करने से कोई लाभ नहीं होता, किन्तु अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। यह विलाप आस्रव का कारण है, आर्त्तध्यान है। अतः खोटे भावों से बचो।

कर्मों के आस्रव के 108 द्वार हैं। मन—वचन—काय का कृत—कारित—अनुमोदना से गुणा करो, फिर जो गुणनफल आये, उसका समरम्भ—समारम्भ—आरम्भ से गुणा करो और अब जो गुणनफल आये उसका चार कषायों—क्रोध—मान—माया—लोभ से गुणा कर दो। यानि $3 \times 3 = 9$, $9 \times 3 = 27$, $27 \times 4 = 108$ ये कर्मास्रव के 108 द्वार हैं। इन्हें बन्द करने के लिये हम लोग प्रतिदिन णमोकार मंत्र की माला

फेरते हैं। उस माला में भी 108 दाने होते हैं, जो आस्रव के इन द्वारों को बन्द करने के लिये प्रतीक हैं तथा ऊपर तीन दाने सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रतीक हैं।

आस्रव भाव अर्थात् परपदार्थों में राग—द्वेष आदि परिणाम ही जीव के अज्ञानजनित भाव हैं। ज्ञानीजीव इन भावों से बचता है। जो सम्यग्दृष्टि भेदज्ञानी हैं, वे अपने ज्ञानभाव और रागादि अज्ञानभाव में भेद करके, ज्ञानभाव को स्वीकार करते हैं, तद्रूप ही परिणत होते हैं। रागादि अज्ञान भावरूप परिणत नहीं होते।

मोहरूप संकल्प तथा राग—द्वेष रूप विकल्प ये सब जीव के अज्ञान भाव हैं। यह जीव अपनी इस भूल के कारण ही कर्मों का आस्रव—बन्ध करता है। यदि वह अपने स्वरूप का सही बोध कर ले और किसी भी पदार्थ में राग—द्वेष भाव न करे तो, अज्ञानचेतना रहित, ज्ञानचेतना सहित वह ज्ञानी है। वास्तव में भावास्रव ही आस्रव है, क्योंकि वह जीव का परिणाम है। जब जीव अपने परिणाम सुधारकर ज्ञानरूप परिणमन करता है, तब वह अबन्धदशा को प्राप्त होता है, नवीन कर्मबन्ध का अभाव करता है तथा पुरातन बद्ध कर्म उदयावस्था को प्राप्त होकर स्वयं झर जाते हैं। आचार्य समझा रहे हैं—इन कर्मों के आने के दरवाजों को रोको, तभी संसार बन्धन छूटेगा। यदि कर्मों के आस्रव को नहीं रोका, तो संसार परिभ्रमण से नहीं छूट पाओगे। जीव को दुःख के मूलकारण ये मिथ्यात्वादि आस्रव ही हैं, अतः आस्रव के कारणों को अच्छे प्रकार से समझकर छोड़ देना चाहिये।

बन्ध तत्त्व

मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि के निमित्त से आये हुये शुभ और अशुभ पुद्गल कर्मों का आत्मा के साथ दूध और पानी के समान मिलकर एक-मेक हो जाना 'बन्ध' कहलाता है। जैसे नाव में छेद के द्वारा पानी आकर इकट्ठा हो जाता है, वैसे ही कर्म आकर आत्मा के साथ बंध जाते हैं।

आस्रव और बन्ध यद्यपि साथ-साथ एक ही समय में होता है, तो भी इनमें कार्य-कारण का भेद है। आस्रव कारण है और बन्ध कार्य है। इसीलिये 5 मिथ्यात्व, 12 अविरति, 25 कषाय और 15 योग जो आस्रव के कारण हैं, वही बन्ध के भी कारण हैं। इनका वर्णन आस्रव तत्त्व में किया गया है। कर्मों का बन्ध दुःख का कारण है, अतः इन बन्धन के कारणों से बचना चाहिए। बन्ध हमेशा दो के बीच ही होता है। यह बन्ध तत्त्व ऐसा स्क्रू का कार्य कर रहा है कि जीव और पुद्गल (कर्म) अलग-अलग नहीं हो पाते। दोनों के बीच एक ऐसा बंध हो जाता है, ऐसा संबंध हो जाता है कि एक निश्चित काल के लिये न तो पुद्गल पृथक् हो सकता है और न ही आत्मा पृथक् हो सकती है। दोनों के बीच एकक्षेत्रावगाह संबंध हो जाता है अर्थात् छूट नहीं सकते वे किसी अलौकिक रसायन के बिना।

“इसका कोई न कर्त्ता-हर्ता, अमिट अनादि है।

जीव और पुद्गल नाचे, यामें कर्म उपाधि है।”

बन्ध के चार भेद होते हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।

ज्ञानावरणादि कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं। अस्तित्व के तारतम्य को स्थितिबंध कहते हैं। फलशक्ति की हीनाधिकता को अनुभागबंध कहते हैं तथा कर्मों के प्रदेशों की हीनाधिकता को प्रदेशबंध कहते हैं। इन चार प्रकार के बंधों में प्रकृति और प्रदेशबंध योग के निमित्त से होते हैं और स्थिति

तथा अनुभागबंध कषाय के निमित्त से होते हैं। यहाँ मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद को कषाय के अन्तर्गत लिया गया है। प्रारम्भ से लेकर दशवें गुणस्थान तक चारों बंध होते हैं। उसके बाद ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में कोई बंध नहीं होता।

जो आत्मा के असली स्वभाव को प्रगट नहीं होने देता, उसे कर्म कहते हैं। जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकट न होने दे, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। जो आत्मा के दर्शनगुण को प्रकट न होने दे, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं। जो सुख—दुःख का कारण हो, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थों में अहंकार तथा ममकार करे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जिसके उदय से जीव नरकादि योनियों में परतंत्र हो, उसे आयुर्कर्म कहते हैं। जिसके उदय से शरीरादि की रचना हो, वह नामकर्म है। जिसके उदय से उच्च—नीच कुल में जन्म हो, उसे गोत्रकर्म कहते हैं और जिसके द्वारा दान, लाभ आदि में बाधा प्राप्त हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

कर्मों की एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं। ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तेरान्नवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच, इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबंध —

वेदनीय, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा—कोड़ी सागर, मोहनीय की सत्तर कोड़ा—कौड़ी सागर, नाम और गोत्र की बीस कोड़ा—कोड़ी सागर तथा आयु की तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध —

वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त तथा शेष समस्त कर्मों की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है।

अनुभागबन्ध का लक्षण —

कर्मों का जो विपाक है, उसे अनुभाग कहते हैं। जिस कर्म का जैसा नाम

है, उसका वैसा ही अनुभाग होता है।

ऊपर कर्मों की स्थिति बतलाई गई है। स्थिति बंध के अनुरूप आबाधा भी उसी समय पड़ती है। आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की आबाधा का सामान्य नियम यह है कि एक कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति पर सौ वर्ष की आबाधा पड़ती है।

एक बार कर्म का बन्ध हो जाने पर भी उनमें बाद में तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं।

1. संक्रमण — पाप कर्मों का पुण्यकर्मों में और पुण्यकर्मों का पाप कर्मों में बदलना।

2. उत्कर्षण — कर्मों की स्थिति व अनुभाग को बढ़ा देना।

3. अपकर्षण — कर्मों की स्थिति व अनुभाग को घटा देना।

यदि कोई पाप कर चुका है और वह उसका प्रतिक्रमण (पश्चाताप) बड़े ही शुद्ध भाव से करता है, तो पापकर्म पुण्यकर्म में बदल सकता है, उसकी स्थिति व अनुभाग कम हो सकता है। परिणामों के द्वारा पिछले पाप व पुण्य कर्म में परिवर्तन हो जाता है, इसलिये हमें सदा अच्छे निमित्तों को मिलाना चाहिये।

संसार अवस्था में जो इन्द्रियजन्य ज्ञान, इन्द्रियजन्य सुख होता है, वह पराधीन होने से दुःखरूप ही है। इन्द्रियों की पराधीनता मिट जाने पर मुक्तावस्था में ही स्वाधीन स्वाभाविक अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है, जो कभी नष्ट नहीं होता। यह आत्मा अनादिकाल से आठ कर्मों के बंधन में पड़ी दुःख उठा रही है। बंधन सदा दुःखदाई होता है। अतः इस बंधन से मुक्त होने के लिये रत्नत्रय को धारण कर मोक्षमार्ग पर चलना चाहिये।

एक भारतीय तोता था। एक विदेशी सौदागर उसे खरीद कर अपने देश ले गया था। वह सोने के पिंजरे में कैद था। उसकी सेवा में दो-चार सेवक लगे हुये थे। एक दिन सौदागर भारत आने लगा तो उसने तोता से कहा कि मैं भारत की यात्रा पर जा रहा हूँ, तुम्हें अपने साथियों से, अपने मित्रों से, अपने संबंधियों से कुछ कहना हो, समाचार देना हो, कोई संदेशा देना हो तो कहो। उसने कहा—क्या वास्तव में मेरा संदेशा लेकर जाओगे? उसने कहा कि, जरूर।

संदेशा लेकर जाऊँगा और वहाँ सुनाऊँगा। तोते ने कहा—भारतीय जंगल में चले जाना और वृक्षों पर बैठे हुये मेरे साथियों से कहना, मैं यहाँ पर कारागृह में हूँ। मैं यहाँ पर परतंत्र हूँ। मेरे पास पंख हैं, लेकिन मेरे पास उनका उपयोग नहीं है, मेरे पंख बेकार हुये जा रहे हैं। यद्यपि पिंजड़ा सोने का है, पर सारा सुख पराधीन है। पराधीन सुख भी दुःख ही होता है। तुम लोग अपनी स्वतंत्रता किसी भी कीमत पर मत बेचना।' सौदागर ने समाचार सुना और भारत के लिये रवाना हो गया। भारत आते ही उसने पहला काम संदेशा पहुँचाने का किया। भारतीय जंगल में गया। एक वृक्ष पर बहुत से तोते बैठे हुये थे। वह वृक्ष के नीचे गया और उसने कहा कि मैं परदेश से आया हूँ तथा तुम्हारे बंदी जातिभाई का एक खास जरूरी संदेशा लाया हूँ। वृक्ष के सभी तोते सावधान हो गये। उसने संदेशा सुनाया। संदेशा सुनते ही सभी तोते बैचेन हुए, पंख फड़फड़ाये और वृक्ष के नीचे गिर गये, मूर्च्छित हो गये। सौदागर को लगा कि यह बड़ा अशुभ समाचार था, मैंने व्यर्थ सुनाया। वह उदास होकर लौट आया। उसके मन में एक ही ख्याल था कि मेरे कारण अनेक तोते मरण को प्राप्त हो गये। वह अपने देश लौटा और उसने तोतों के मूर्च्छित होने का समाचार अपने तोते को जाकर सुनाया कि तुम्हारा संदेशा सुनते ही अनेक तोतों ने पंख फड़फड़ाये और मूर्च्छित हो गये। तुम्हें ऐसा अशुभ समाचार नहीं पहुँचाना था। उसके तोते ने अपने भाइयों के मूर्च्छित होने का जैसे ही समाचार सुना, वह भी तड़फा, पंख फड़फड़ाये और पिंजड़े में ही मूर्च्छित हो गिर पड़ा। सौदागर काफी दुःखित हुआ, उसे काफी अफसोस हुआ कि यहाँ का संदेशा वहाँ सुनाया, वहाँ के तोते मूर्च्छित हो गये थे और वहाँ का समाचार यहाँ पर सुनाया तो मेरा तोता मर गया। उसने पिंजड़ा खोला, तोते को बाहर निकाला और सोच में डूब गया। तोते ने पंख फड़फड़ाये और उड़ गया, सौदागर देखता रह गया। बंधन में, पराधीनता में कभी भी सुख नहीं होता। प्रत्येक संसारी आत्मा बंधन में बंधी है और मुक्त होना चाहती है। जो बंधन में होगा, वही तो मुक्त हो सकेगा। सोचना होगा कि ये बंधन किसने डाले हैं, कब डाले हैं, किन कारणों से डाले हैं? आत्मा कर्मबंधन में कब से पड़ी है? अनादिकाल से आत्मा कर्म बंधन में पड़ी है और ये

बंधन स्वयं हमने हँसकर स्वीकार किये हैं।

महाराज जी से एक युवक ने आकर पूछा कि स्वतंत्रता का उपाय क्या है, मोक्ष का उपाय क्या है ? महाराज ने उससे पूछा कि तुम्हें बाँधा किसने है? वह युवक एक क्षण को रुका, फिर बोला, कि बाँधा तो स्वयं के मोह ने है। तब उन्होंने पूछा कि फिर उपाय क्यों पूछते हो? बस, मोह को छोड़ दो तो बंधनमुक्त हो जाओगे। मोह का अभाव ही तो मोक्ष है। जो बंधन तुमने ईर्ष्यावश, रागवश, मोहवश, द्वेषवश स्वयं पर डाल लिये हैं, अब उनके प्रति जागो। जो मिथ्या संस्कार हैं, उन्हें बदलने की फिक्र करो। सम्यक् आचारण के पीछे दौड़ो। जो आत्मा वर्तमान में बंधन में हैं, उसकी चिन्ता करो। उसके बंधनमुक्त होने का उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को अपनाना, उसमय अपना जीवन बनाना।

कर्म किसी को नहीं छोड़ते। कर्मों का फल सभी को भोगना पड़ता है। अतः अब तो कर्मों की कठपुतली मत बनो। कर्मों के अधीन होकर तो पता नहीं यह आत्मा कितने अनन्त भवों से दर-दर भटक रही है।

सूर्यवंशी अयोध्या के क्षत्रिय राजा दशरथ के पराक्रमी पुत्र राम को दूसरे दिन प्रातः शुभ मुहूर्त में राज्याभिषेक होकर राज अधिकार मिलना था। इस राज उत्सव की समस्त तैयारियाँ हो चुकी थीं। समस्त राज परिवार तथा अयोध्या की समस्त जनता रामचन्द्र के राजा बनने के लिये प्रसन्न थी, क्योंकि राम सर्वगुण सम्पन्न ज्येष्ठ राजपुत्र थे। दशरथ राजभार से मुक्त होकर आत्मसाधना में लगना चाहते थे। सारा अयोध्या नगर हर्ष में विभोर हो रहा था, किन्तु अशुभ कर्म के उदय से सुबह होते ही उन्हें 14 वर्ष के लिये वन में जाना पड़ा।

महान पराक्रमी, तद्भव मोक्षगामी हनुमान की माता, राजा महेन्द्र की पुत्री अंजना ने विवाह के पश्चात अपने नवयौवन की बेला में कुछ एक दिन, मास या वर्षों का ही नहीं अपितु 22 वर्ष का दीर्घकालीन पतिवियोग का असह्य दुःख सहन किया। सदाचारी, स्वस्थ, बुद्धिमान, सुन्दर तरुण पति के रहते हुए भी निरपराधिनी सती सुन्दरी अंजना अनाथिनी—सी दीन—दुःखिनी बनी रही। 22 वर्ष तक राजभवन के एकान्त कक्ष में रात दिन आँसू बहाती रही, एक दिन भी

बेचारी को पतिसुख प्राप्त नहीं हुआ। सौभाग्य से जब एक दिन उसके सुयोग्य, पराक्रमी पति पवनंजयकुमार को सुमति जागी और रात्रि के अंधकार में ही चोर की तरह गुप्त रूप से युद्धक्षेत्र के मार्गस्थ पड़ाव मानसरोवर से अपनी चिरवियोगिनी प्रिया अंजना से मिलने आया, कुछ घण्टों अंजना को पतिसंयोग का सुख भी मिला, तो अपने पति के प्रसंग से रहे हुए गर्भ को उसकी कर्कशा सास ने अन्य किसी पुरुष के साथ व्यभिचार का फल समझा और उस सुकोमल निरपराधिनी राजकुमारी पुत्रवधु को तिरस्कार के साथ घर से बाहर निकाल दिया।

ससुराल की ठुकराई अंजना अपने पीहर गई, किन्तु दुर्देव ने उसका पीछा वहाँ भी न छोड़ा। उसकी दयनीय दशा पर स्नेहमयी सगी माता तथा पिता को दया न आई और उन्होंने भी निर्दय रुष्टता प्रगट करते हुए उस सुपुत्री को कुलकलंकनी समझकर आश्रय न दिया। तब बेचारी सर्वथा अनाथिनी होकर निर्जन वन में चली गई। जनशून्य वन में शरीर की छाया की तरह उसकी बालसखी बसन्तमाला ने उसका साथ दिया। अंजना भी ये पर्वत—जैसे दीर्घ, भारी, कठोर दुःख अपने गर्भ की रक्षा के लिये सहती चली गई।

सौभाग्य से उसे वहाँ अवधिज्ञानी मुनिराज मिल गये। उन्होंने उसे सान्त्वना दी कि पुत्री! तेरे दुर्देव की अन्धकारमयी रात्रि समाप्त होने वाली है, सौभाग्य का प्रभात शीघ्र होगा। महान पराक्रमी, महान भाग्यशाली पुत्र का मुख तू शीघ्र देखेगी और तेरा पति भी तुझको मिलेगा। धैर्य रख, णमोकार मंत्र को जपती रह। निर्जन पर्वत की गुफा में हनुमान का जन्म हुआ।

रावण के अजेयगढ़ लंका को तोड़ने वाले वीर, भाग्यशाली राजपुत्र हनुमान का जन्म उस निर्जन गुफा में हुआ जहाँ न उसका कुछ स्वागत—सत्कार हुआ, न मांगलिक गीत गाये, न कुछ उत्सव हुआ। प्रसविनी माता ने ही अधीरता और मानसिक पीड़ा के आँसू बहा कर शोक भरे हर्ष से अपने होनहार पुत्र का मुख चूमा, जिसने कि गर्भ में आते ही अपनी उस माता को हृदयदाहिनी विकट विपत्तियों में डाल दिया था। इसी को तो नीतिकार कवि ने कहा है —

सा सा सम्पद्यते बुद्धिः, सा मतिः सा च भावना।

सहायास्तादृशाः सन्ति, यादृशी भवितव्यता।।

जैसी कर्म की होनहार घटना होनी होती है, स्त्री-पुरुषों की बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है, उनकी मति और भावना वैसी ही बन जाती है और सहायक भी उसी भवितव्यता के अनुसार मिलते चले जाते हैं। कर्म किसी को नहीं छोड़ते। अंजना ने पूर्वभव में केवल 22 पल के लिये जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति को छिपा दिया था, जिससे उसे 22 वर्ष तक पति का वियोग सहन करना पड़ा।

गोवर्द्धन पर्वत को उठाने वाले महान तेजस्वी, नारायण पद के धारक, महान बली कृष्ण का जन्म बंदीघर में हुआ, जहाँ पर उनका रंचमात्र भी हर्ष न मनाया जा सका, बल्कि गुप्त रूप से उन्हें वहाँ से स्थानान्तरित किया गया। उनका लालन-पालन राजपुत्र की तरह न हुआ। नन्द ग्वाले के घर ग्वाल पुत्र की तरह वे गुप्त रूप से पाले-पोषे गये तथा अपने मरण के कुछ क्षणों पहले उन्होंने अपने नेत्रों से द्वारिका का दाह देखा। उन्होंने अपने बड़े भाई बलभद्र के साथ द्वारिका को अग्नि से बचाने का महान यत्न किया, किन्तु असफल रहे। यहाँ तक असफल रहे कि उस अग्नि से अपने माता-पिता का उद्धार भी न कर सके। महाभारत के महायुद्ध में अपने महान पराक्रम तथा रणनीति कुशलता से पांडवों को विजय दिलाने वाले, कोटिशिला को उठाने वाले नारायण अपने माता-पिता को उस अग्निकाण्ड से न बचा सके।

बहुत थके-मांदे, महान दुःखी जब दोनों भाई अपने प्राण बचा कर वन में पहुँचे, तो दुर्देव ने वहाँ भी पीछा न छोड़ा, अपना अंतिम बार कर ही दिया। कृष्ण को बहुत प्यास लगी। उनके लिये कमल के पत्ते में जल भर कर बलभद्र कृष्ण के पास भी न पहुँचने पाये कि उनके ही सौतेले भाई जरतकुमार ने दुपट्टा ओढ़कर प्यासे सोते हुए कृष्ण को हिरण समझकर बाण से घायल कर दिया। उस बाण के घाव की चिकित्सा करने वाला भी वहाँ कोई न था और इस प्रकार बलभद्र की अनुपस्थिति में महान पराक्रमी पुरुष नारायण कृष्ण के प्राणपखेरू उड़ गये। उस समय उन की मृत्यु पर शोक करने वाला भी कोई व्यक्ति न था।

इसी को कहते हैं —

**कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।**

यानि उपार्जन किया हुआ शुभ या अशुभ कर्म चिरकाल बीत जाने पर भी व्यर्थ नहीं जाता। उसका शुभ या अशुभ फल संसारी जीव को अवश्य भोगना पड़ता है।

कर्मों की ऐसी विचित्र लीला केवल प्राचीन कथाओं में ही नहीं मिलती है, बल्कि यह तो संसार में सदा सब के साथ हुआ करती है। जिस तरह नाटकघर में कर्णधार (नाटकघर के स्वामी) के संकेत पर अभिनेता और अभिनेत्रियाँ अनेक प्रकार के अभिनय दिखाने के लिये विविध स्वांग बनाकर अनेक लीलाएँ दिखाती हैं। जो अभिनेता कुछ समय पहले राजा बनकर नाटक दिखलाता है, वही व्यक्ति थोड़ी देर पीछे कर्णधार की आज्ञा से रंक बन जाता है और रंक का अभिनय सबको दिखलाता है। इसी तरह संसार की इस विशाल रंगभूमि में ये अनन्त संसारी प्राणी कर्म के संकेत पर कठपुतलियों की तरह अनेक तरह के रूप बनाकर नाटक दिखा रहे हैं।

जब तक कर्म की चाबुक संसारी जीव पर पड़ती रहेगी, तब तक इस जीव को कर्म के इशारे पर नाचना ही पड़ेगा।

यह दैव—दुर्दैव, सौभाग्य—दुर्भाग्य क्या बला है? इस प्रश्न का समाधान जिनवाणी में बहुत विस्तार के साथ किया गया है।

जैसे अनादिकालीन किसी सुवर्ण खान में सोना पत्थर के साथ मिला हुआ चला आ रहा है, तदनुसार संसारी जीव भी अनादिकाल से कर्मबन्धन से बँधा हुआ चला आ रहा है। अपनी योगक्रिया से प्रत्येक संसारी जीव प्रतिसमय नवीन कर्मबंध करता रहता है और प्रतिसमय पुराना कर्म अपना शुभ—अशुभ फल जीव को देकर जीव से पृथक् होता रहता है। इस बंध तथा सविपाक निर्जरा का क्रम सदा चलता रहता है। अतः यद्यपि अनादिकाल का कोई भी कर्म किसी जीव के साथ बंधा हुआ नहीं है, परन्तु अनादिकाल से लेकर अब तक एक भी समय कभी ऐसा नहीं आया जबकि कोई भी संसारी क्षणभर भी कर्मशून्य पूर्ण शुद्ध रहा हो।

कर्म बंधते समय जीव के जैसे विचार, वचन या शरीर की क्रिया होती है, उसी के अनुकूल उनमें शुभ-अशुभ प्रकृति की छाप लग जाती है तथा उस समय जैसे तीव्र या मंद कषाय भाव होते हैं, उसी तरह का तीव्र या मंद रस और स्थिति उनमें अंकित हो जाती है। जब उन कर्मों का उदय होता है, तब वे अपनी प्रकृति और रस के अनुसार जीव को फल देते हैं।

जैसे हम भोजन को मुख में रखकर दाँतों से चबाकर निगल जाते हैं वह भोजन पेट में पहुँचकर हमारी जठराग्नि की शक्ति अनुसार तथा अपनी प्रकृति के अनुसार रस, खून, मांस, हड्डी, चर्बी, वीर्य आदि धातु उपधातु बन जाता है, इसी तरह योगों द्वारा ग्रहण की गई कार्माण वर्गणायें कषाय की सहायता से जीव के लिये विविध सुख-दुःखरूप परिणत हो जाती हैं। पण्डित श्री दौलतराम जी ने लिखा है—

ये ही आत्म को दुःख कारण, तातैं इनको तजिये।

जीव प्रदेश बँधे विध सौं, सो बन्धन कबहुँ न सजिये॥

ये मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दुःख के कारण हैं, इसलिये इन मिथ्यात्वादि को छोड़ देना चाहिये। इन्हीं भावों के कारण जीव (आत्मा) के

के प्रदेशों और कर्म के परमाणुओं का परस्पर एकमेक हो जाना (मिल जाना) बन्ध कहलाता है। इन आस्रव-बन्ध के कारण ही जीव चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है। अतः वह बन्ध कभी नहीं करना चाहिये।

मनुष्य के सामने शराब और शर्बत दोनों पदार्थ रखे हुए हैं, मनुष्य अपनी इच्छानुसार दोनों में से किसी को भी पी सकता है। पीने से पहले उसको स्वतंत्रता है, किन्तु पी लेने के बाद उसकी इच्छा कुछ परिवर्तन नहीं कर सकती। अतः शराब यदि पी ली है, तो मनुष्य को न चाहते हुए भी नशा अवश्य आवेगा, शराब का असर उसे भुगतना होगा। इसी तरह कर्म बांधने से पहले जीव स्वतंत्र रहता है कि आगामी कर्मबंध कैसा भी करे। अच्छे विचार, वचन और कार्यों से शुभ कर्म (सौभाग्य) भी बना सकता है और अशुभ विचार, वचन, कार्यों द्वारा अपने भविष्य के लिये दुर्देव (अभाग्य) भी बन सकता है। दुर्देव बना लेने के बाद उसकी स्वतंत्रता उस कर्म के विषय में नहीं रहने पाती। उसका तो

दुःखदायक अशुभफल भोगना ही पड़ता है। अतः यह सौभाग्य—दुर्भाग्य पहले समय में बोया हुआ अच्छा बुरा बीज ही है। पुराने कर्मों के उदय में यह जीव राग—द्वेष करता है और पुनः नवीन कर्मों का बंध कर लेता है। आचार्य समझाते हैं कि कर्म सभी जड़ हैं। इनके इशारे पर चलना मत सीखो। पुण्य के उदय में खुशी मत मनाओ और पाप के उदय में रोना नहीं। बस, यही तो कर्मों पर अपनी विजय है।

संसारचक्र में पड़ा हुआ यह जीव कभी ऊपर जाता है, कभी नीचे जाता है, कभी रोता है कभी हँसता है, कभी दीन—हीन दरिद्र अपने आप को अनुभव करता है, कभी अपने आप को धनकुबेर समझ बैठता है। कभी बलवान दिखाई देता है, कभी बलहीन। कभी बड़ा प्रतिभाशाली विद्वान होता है, तो कभी मूर्ख पागल भी बन जाता है। कभी बहुत सुन्दर शरीर पाता है, कभी ऐसा कुरूप असुंदर शरीरधारी बन जाता है कि जिसको देखना भी कोई पसंद नहीं करता। इस तरह नाटक में अभिनय करने वाले अभिनेताओं के समान संसारीजीव विविध प्रकार के रूप धारण किया करता है।

यह सारे खेल संसारीजीव अपनी इच्छा से नहीं करता, क्योंकि ऐसे मूर्खों की संख्या तो नगण्य हो सकती है जो कि अपने आप को दुःख के कीचड़ में पटकना चाहें। संसारी जीव की दुःखदायक तथा सुखदायक परिस्थिति कर्म के उदय से हुआ करती है। अपने पूर्वसंचित शुभ कर्म से संसारीजीव को कुछ समय तक, जब तक कि शुभ कर्म का उदय बना रहता है, संसारिक सुख मिलता रहता है। जब अशुभ कर्म उदय में आता है, तो जीव को अनचाहा अनिष्ट दुःख मिलता है। यह सबकुछ होता कर्म के अनुसार है। शुभ कर्म के उदय को सौभाग्य कहते हैं और अशुभ कर्म के उदय को दुर्भाग्य कहते हैं।

दुर्भाग्य के उदय से दुःख में पड़े हुए जीव के कभी—कभी अचानक ऐसा शुभ कर्म उदय में आ जाता है कि जिसे चमत्कार ही कहा जा सकता है।

एक मनुष्य को कोढ़ का रोग था, उस रोग से उसका शरीर क्षतविक्षत हो गया था। जगह—जगह पीप बहती थी, इससे वह बहुत दुःखी था। एक बार वह एक अनुभवी वैद्य के पास गया, वैद्य ने उसका कोढ़ देखकर एक प्रयोग (नुस्खा)

लिख दिया। उस पर्चे की औषधि लेने जब वह कम्पाउण्डर के पास गया तो उसने नुस्खे को देखकर कह दिया कि तेरे रोग की औषधि मेरे पास नहीं है। वह निराश होकर चला गया।

वर्षा के दिनों एक दिन वह कोढ़ी नगर के बाहर जा रहा था। उसने देखा कि काले सांप ने मिट्टी के टूटे हुए एक ठीकरे में बरसात के भरे हुए पानी को पिया है। पानी पीकर सांप जब चला गया, तब उसने देखा कि ठीकरे में बचा हुआ पानी सर्प के विष से हरा हो गया है। कोढ़ी ने विचार किया कि यदि इस विषैले पानी को मैं पी जाऊँ तो आराम से मेरी मृत्यु हो जायेगी और इस कोढ़ की भयानक वेदना से मुझे सदा के लिये छुटकारा मिल जायेगा। ऐसा विचार करके मृत्यु का आलिंगन करने के विचार से उसने वह जहरीला पानी पी लिया।

पानी पीकर वह उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था जबकि सांप का विष उसको अचेत करके मृत्यु की सुखमयी गोद में बिठा दे, परन्तु हुआ इससे बिलकुल विपरीत। उस विषमय पानी को पीने के थोड़े समय पीछे ही उसका कोढ़ सूखने लगा और एक दिन में ही उसका सारा कोढ़ अच्छा हो गया। वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उस वैद्य के पास पहुँचा कि मेरे जिस कोढ़ को आपने असाध्य बतलाया था, वह बिलकुल अच्छा हो गया। तब वैद्य ने उसके लिये लिखा हुआ अपना नुस्खा निकलवाकर उसे दिखाया, उस नुस्खे में वही सांप का पिया हुआ अवशिष्ट पुराने मिट्टी के बर्तन में भरा हुआ जल लिखा था।

यह भाग्य का ही चमत्कार है।

एक मनुष्य नपुंसक था, धोखे से उसका विवाह भी हो गया था। विवाह हो जाने पर अपनी नपुंसकता के कारण वह स्वयं दुःखी था और उसकी सती स्त्री भी महादुःखी थी। एक दिन वह बाजार से होकर जा रहा था, कि अपनी दुकान पर बैठे हुए एक अनुभवी वैद्य ने उसके शरीर के लक्षण देखकर दूसरे मनुष्य से कहा कि देखो यह नामर्द (नपुंसक) है।

वैद्य की बात उस नपुंसक के कान में पड़ गई, इससे वह बहुत लज्जित हुआ कि मेरी गुप्त बात दूसरे लोगों को भी मालूम हो गई है। उसने आत्महत्या करने के लिए घर जाकर विष मंगाकर खा लिया। विष खाते ही उसके शरीर में

अपूर्व परिवर्तन होना प्रारंभ हो गया। विष खा लेने के कारण अपनी मृत्यु निकट समझकर अपने मित्रों से अन्तिम विदा लेने के लिये बाजार में से जा रहा था कि मार्ग में उस वैद्य की दुकान फिर पड़ी। वैद्य ने फिर उसको देखा और देखते ही दुकान पर बैठे हुए अपने साथी से कहा कि यह मनुष्य अब मर्द बन गया है, इसकी नपुंसकता दूर हो गई है। वैद्य की बात सुनकर उस साथी को भी आश्चर्य हुआ और उस नपुंसक को भी। नपुंसक ने सोचा कि वैद्य ने यह बात ऊँटपटाँग कही है। इसको पता नहीं कि मैंने विष खा लिया है, मैं अब मृत्यु के मुख में जाने वाला हूँ।

वह अपने समस्त मित्रों से मिलकर घर आया। कई घंटे बीत जाने पर भी उसको अपने शरीर में विष का प्रभाव कुछ भी अनुभव नहीं हुआ, बल्कि इसके विपरीत उसे शरीर में स्फूर्ति अनुभव हुई, उसे वैद्य की दूसरी बात चित्त में घूमने लगी। रात्रि हुई, अपनी स्त्री के साथ एक शैया पर सोया। उसी समय अपनी पत्नी का शरीर छूते ही उसका काम-पौरुष जागृत हो गया। इससे उसको तथा उसकी स्त्री को बहुत हर्ष हुआ। तब उसने वैद्य की दोनों समय की बातें और अपने विष खाने की बात उसे (स्त्री को) कह सुनाई। दोनों बहुत प्रसन्न हुए।

कुछ दिनों बाद उसकी स्त्री को गर्भाधान हुआ और नौ मास पीछे सुंदर पुत्र उत्पन्न हुआ। उन दोनों के हर्ष का पारावार न था। तदनन्तर उसके 2-3 सन्तान और भी हुई। इस तरह वह विष भी उसके लिये वरदान सिद्ध हो गया, उसका जीवन भर का असह्य दुर्भाग्य सदा के लिये सौभाग्य में परिवर्तित हो गया।

व्यवहार में संसारी प्राणी लक्ष्मी, पुत्र स्त्री के समागम, रोग, विपत्ति, अपयश, चिन्ता, व्याकुलता आदि के उपशम हो जाने को सौभाग्य समझते हैं, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से सौभाग्य इन बातों को नहीं माना जाता, क्योंकि इस सामग्री के समागम में जीव कर्मों का बंध करता रहता है। संसार के मोह-मायाजाल में फँसा हुआ आत्मा का अहित किया करता है। उससे आत्मा का अभ्युदय नहीं होता।

श्री समन्तभद्राचार्य ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में कहा है —

न सम्यक्त्व समं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।

तीनोंकाल तथा तीनोंलोक (जगत) में सम्यग्दर्शन के समान इस जीव का कल्याण करने वाला और—कोई नहीं है तथा मिथ्यात्व के समान इस जीव का अहितकारी और—कोई पदार्थ नहीं है।

श्री समन्तभद्राचार्य का कथन अक्षरशः सत्य है, क्योंकि आत्मा की सत्य श्रद्धा न होने के कारण आत्मा का संसारभ्रमण छूटने नहीं पाता, जन्म, जरा, मरण आधि—व्याधि लगी रहती है, इनकी परम्परा छूटने नहीं पाती। आत्मा का अहित भी यही है। सम्यक्त्व होते ही आत्मा को अनुपम आनन्द, शान्ति, संतोष प्राप्त होता है। सम्यक्त्वी जीव के अनेक कर्मों की निर्जरा और संवर होना प्रारंभ हो जाता है। इस तरह कर्मभार हल्का होते—होते वह एक दिन संसारसागर से पार होकर अजर—अमर, वीतराग, पूर्ण सुखी, पूर्ण ज्ञानी, अनन्तशक्ति सम्पन्न, पूर्ण स्वतंत्र बन जाता है। अतः आत्मा के अभ्युदय का मूल सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन जीव को कभी—कभी अचानक प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्राप्त हो जाता है।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान हो जाने पर भी समवसरण में असंख्य सुर, नर, पशु श्रोताओं के उपस्थित रहने पर भी जब 66 दिन तक दिव्यध्वनि प्रगट न हुई, तब सौधर्म इन्द्र ने इसका कारण अवधिज्ञान से विचारा। अवधिज्ञान द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि समवसरण में भगवान् के बीजपद रूप दिव्य उपदेश को अवधारण करने में समर्थ विद्वान् श्रोता यहाँ पर कोई नहीं है। अतः गणधर बननेयोग्य विद्वान् जब तक समवसरण में न होगा, तब तक भगवान् का दिव्य उपदेश प्रारंभ न होगा।

तब इन्द्र ने गणधर पद के योग्य उस समय के महान् विद्वान् इन्द्रभूति गौतम को अवधिज्ञान से जाना। इन्द्रभूति गौतम को अपनी विद्वत्ता का बहुत अभिमान था। वह वेद—वेदांग, न्याय, साहित्य, व्याकरण, छन्द आदि विषयों का पारंगत पंडित था। इन्द्र ने उस इन्द्रभूति गौतम को भगवान् महावीर के समीप लाने के लिये एक युक्ति का प्रयोग किया। उसने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप

बनाया और वह इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँचा। गौतम के पास पहुँचकर उसने गौतम से कहा कि मेरे गुरु भगवान् महावीर हैं, वे सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा हैं। उन्होंने मुझको एक श्लोक सिखाया है, उसका अर्थ मुझको विस्मरण हो गया है, सो कृपा करके आप बतला दीजिये। आप इस समय के बड़े भारी विद्वान् हैं आपके सिवाय इस श्लोक का अर्थ और कोई न बता सकेगा। इन्द्र ने वह श्लोक गौतम को सुनाया

त्रैकाल्यं, द्रव्यषट्कं, नवपदसहितं, जीवषट्कायलेश्याः,

पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिर्गतिज्ञान चारित्र भेदाः।

इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः

प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्ध दृष्टिः॥

वृद्ध ब्राह्मण रूपधारक इन्द्र के मुख से यह श्लोक सुनकर विद्वान् इन्द्रभूति गौतम असमंजस में पड़ गया। वह विचारने लगा कि श्लोक में बतलाये गये छह द्रव्य, नौ पदार्थ, षट्काय जीव, पांच अस्तिकाय, व्रत, समिति आदि कौन-से हैं ? उनके क्या नाम हैं ? उनका क्या स्वरूप है? अभी तक मैंने इन बातों को किसी भी शास्त्र में नहीं पढ़ा। बिना जाने इसको क्या बताऊँ? यदि इससे अपने हृदय की सत्य बात कह डालूँ तो जगत में मेरा उपहास होगा कि गौतम इतना बड़ा विद्वान् होकर एक साधारण श्लोक का भी अर्थ न बतला सका।

इस द्विविधा की दशा में मुझे क्या करना चाहिये ? ऐसा विचारते ही उसको यह युक्ति सूझी कि चलकर इसके गुरु से ही बता क्यों न कर लूँ? साधारण व्यक्ति की अपेक्षा, जिसको जनता सर्वज्ञ समझती है, उसी से बाद-विवाद करना ठीक रहेगा, उसमें मेरा कुछ उपहास तो न होगा। ऐसा विचार करके गौतम ने उस वृद्ध ब्राह्मण से कहा कि इस श्लोक का अर्थ तुझे क्या बताऊँ। जिसने तुझे यह श्लोक सिखाया है, उसको बताऊँगा।

इन्द्र भी यही चाहता था कि किसी तरह गौतम एक बार समवसरण में पहुँच जावे। अतः स्वयं गौतम के मुख से अपने हृदय की बात सुनकर इन्द्र को बहुत प्रसन्नता हुई। वह अपना मनोरथ सफल हुआ जान करके इन्द्र के साथ समवसरण की ओर चल पड़ा। समीप पहुँच जाने पर जब उसने विशाल

मानस्तम्भ को देखा तो उसका ज्ञानमद स्वयं शान्त हो गया।

समवसरण में प्रवेश करते ही भगवान् महावीर का दर्शन करते ही वह उनका भक्त साधु बन गया। उसी समय उसको मनःपर्यय ज्ञान हो गया। यह महान परिवर्तन होते कुछ देर न लगी। तत्काल भगवान् महावीर का दिव्य उपदेश प्रारंभ हुआ और बीजपद रूप गूढ़ उपदेश को श्री इन्द्रभूति गौतम ने अपने हृदय पर अंकित कर लिया और उपस्थित जनता को सरल वाणी में अंग, पूर्व आदि को विभिन्न-विभिन्न रूप में समझाया। इस तरह वह भगवान् महावीर के प्रथम गणधर बने।

जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ और कुछ दिनों बाद उन्होंने संसार कारागार से मुक्ति प्राप्त की।

इस तरह जो इन्द्रभूति गौतम अपने ज्ञान के अभिमान में भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने के विचार से भगवान् महावीर के पास आया, भगवान् महावीर के निकट आते ही उसकी दुर्भावना सद्भावना/सत् श्रद्धा के रूप में परिणत हो गई और उसने तत्काल वह अचिन्त्य लाभ प्राप्त किया जो कि उसे अनेक जन्मों के गहन परिश्रम से भी प्राप्त न होता। इसे कहते हैं आध्यात्मिक सौभाग्य।

दर्पण के सामने खड़े होकर मुख की आकृति जैसी की जावे, दर्पण में उसी प्रकार का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। मुख पर यदि घाव का चिह्न या कुष्ठ का दाग अथवा कोई मसा आदि होगा, तो वह दर्पण में स्पष्ट दिखेगा। जो मनुष्य दर्पण में अपना सौन्दर्य देखना चाहे, उसे अपना सौन्दर्य बनाकर ही दर्पण देखना चाहिये।

एक मूर्ख मनुष्य आँख में काजल लगाते समय काजल की एक रेखा अपने गाल पर भी लगा बैठा, जिससे उसके नेत्रों में काजल के कारण जहाँ कुछ सुन्दरता आई, वहीं गाल पर काजल का धब्बा लग जाने पर मुखमण्डल पर असुन्दरता भी आ गई। दैवयोग से उस मूर्ख को उसके बाद एक बड़ा दर्पण दिखाई दिया, उसमें उसे अपने गाल की कालिमा भी दिखाई दी। उसने समझा कि यह कालिमा उसके मुख पर नहीं है शीशे में है, अतः वह शीशे को

रगड़-रगड़ कर साफ करने लगा। परिश्रम करते-करते उसे पसीना आ गया, परन्तु मुख का वह काला दाग दर्पण में ज्यों-का-त्यों दीखता रहा।

उस समय एक बुद्धिमान व्यक्ति ने उसका अभिप्राय समझ उसका हाथ पकड़कर उसके मुख के उस दाग वाले भाग पर रक्खा और कहा कि इसको रगड़। गाल के रगड़ने से जब वह दाग मिट गया, तब उसने कहा कि अब तू दर्पण में अपना मुख देख। उस समय जब मूर्ख ने अपना मुख दर्पण में देखा, तो उसे अपना मुख स्वच्छ दिखाई दिया।

संसारी जीव की भी यही दशा है। वह जैसे कृत्य करता है, उसकी आत्मा पर उसी प्रकार का कर्म का धब्बा तत्काल लग जाया करता है। कुकृत्य का, बुरा कर्म का धब्बा भी उस पर लगता है और सुकृत्य का सुन्दर कर्म (शुभ कर्म) का धब्बा भी उसकी आत्मा पर लगता है। जब उन सुकर्मी का फलकाल आता है, तब उसे शुभ फल मिलता है, जिसे पाकर यह बहुत प्रसन्न होता है, चारों ओर इसे सुख-ही-सुख नजर आता है, यह समझ भी नहीं पाता कि संसार में कोई दुःखी भी है। और जब दुर्भाग्य से कुकर्म का कड़वा फल इसके सामने आता है, तब यह दुःखी होता है, रोता है, व्याकुल होता है, छटपटाता है, सारा संसार इसको दुःखमय नजर आता है।

एक वृद्ध मनुष्य एक स्थान पर आम का एक पौधा लगा रहा था, उधर से होकर घोड़े पर सवार राजा निकला। राजा ने उस वृद्ध को आम का पौधा लगाते हुए देखकर पूछा कि बुढ़े। यह क्या कर रहा है?

बुढ़े ने उत्तर दिया कि राजन्। आम का पौधा लगा रहा हूँ, जिससे आम का फलदार तथा छायादार ऊँचा वृक्ष उत्पन्न होगा। राजा ने पूछा कि क्या तुझे आशा है कि यह पौधा जब फल देने योग्य वृक्ष बनेगा तब तक तू जीवित रहेगा?

बूढ़े ने नम्रता के साथ उत्तर दिया कि महाराज। मैं तो इस वृक्ष के मधुर फलों को न खा सकूँगा, किन्तु मेरे पुत्र-पौत्र तथा आगामी पीढ़ी के अन्य मनुष्य तो इसके फल अवश्य खायेंगे।

राजा उस बूढ़े की शुभ भावना से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसको 50

रुपये पारितोषिक में प्रदान किये। बूढ़े के नेत्रों में हर्ष के आँसू आ गये और गद्गद् स्वर में बोला कि महाराज ! मुझे आम का बीज बोते ही उसके 50 रुपये के मीठे फल मिल गये।

इसी तरह यदि कोई मनुष्य बबूल का बीजारोपण करे तो कालान्तर में उसको काँटेदार बबूल का पेड़ मिलता है, जिसकी न तो घनी छाया होती है, न जिस पर खानेयोग्य मीठे फल लगते हैं। हाँ, लम्बे नुकीले काँटे उस पर अवश्य लगते हैं, जो कि शरीर में कहीं भी चुभ जाने पर बहुत दुःख देते हैं।

बबूल का बीज बो कर किसी को आम नहीं मिला करते।

ठीक इसी प्रकार जो जीव पापमार्ग से बचकर सुमार्ग पर चलता है, किसी अन्य प्राणी को कोई कष्ट नहीं देता, असत्य बोलकर किसी को धोखा नहीं देता, किसी के साथ विश्वासघात नहीं करता, किसी को कठोर वचन नहीं कहता, गाली-गलौज नहीं करता, हित-मित-प्रिय वचन बोलता है, किसी की कोई वस्तु नहीं चुराता, डाका नहीं डालता, अपनी विवाहित नारी के सिवाय अन्य सब नारियों को माता-बहिन-पुत्री की दृष्टि से देखता है, अपनी आवश्यकता के अनुसार न्याय-नीति से धन-संचय करता है। अनीति, बेईमानी, छल बल से अन्य व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाकर धन उपार्जन नहीं करता, न्याय से उपार्जित धन द्वारा दूसरों का उपकार करता है, कभी अभिमान नहीं करता, क्रोधकषाय को उग्र नहीं होने देता, इन्द्रियों का दास नहीं बनता, विषयभोगों की कीचड़ में नहीं सना रहता, वह मनुष्य अपने शुभ कृत्यों के कारण शुभ कर्मों का बीज बोता है, अतः जब उसके वे शुभ कर्मों के बीज वृक्ष बनकर फल देते हैं तो उसे सुखदायक मीठे फल यानि सांसारिक सुख मिलते हैं।

तथा जो व्यक्ति अपने स्वार्थसाधन के लिये अथवा मनोरंजन के लिये या द्वेषभावना से अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाते हैं, शिकार खेलते हैं, मांस खाते हैं, दीन-दरिद्रियों को दुःख देते हैं, दूसरों को विपत्ति में पड़ा हुआ देखकर हर्षित होते हैं, सदा मुख से दुर्वचन बोलते रहते हैं, झूठ बोलना, विश्वासघात करना, मीठी बातों में फँसाकर दूसरों को हानि पहुँचाना, सदा अभिमान भरे कटुक कठोर वचन बोलना, चोरी करना, डाका डालना, परस्त्री अपहरण करना,

सतीत्व भंग करना, बलात्कार करना, व्यभिचार में लगे रहना, शराब पीना, अन्याय, अनीति, अत्याचार, बेईमानी से धनसंचय करना, पापकार्यों में द्रव्य लगाना आदि कुकृत्य करने से पापकर्म का बीज बोया जाता है, जब वह पापवृक्ष फल देने लगता है, तब अनेक तरह के क्लेश, दुःख, संताप, विपत्तियाँ जीव को मिलती हैं।

शुभ कर्म के उदय होने पर सुख—सम्पत्ति का लाभ होता है। उसका स्वागत सब कोई करता है। परन्तु पापकर्म का उदय होने पर जब अनेक तरह का दुःख प्राप्त हुआ करता है, तब उसका स्वागत कोई नहीं करता। उस समय अपने परिणाम दुःखी, क्लेशित करके भविष्य के लिये और पाप—बन्ध कर लेता है। मनुष्य यदि शुभ कर्म के उदय की तरह अशुभ कर्म के उदय का भी धैर्य, शान्ति संतोष के साथ स्वागत करे और उसे अपने ही बोये हुए बीज का फल समझे, उसको आता देख दुःख/क्लेश न करे, अपने परिणामों को नीचा न गिरने दे, तो वह दुःखदायक अवसर भी उसको वरदान सिद्ध हो सकता है।

एक राजा का एक बुद्धिमान मंत्री था। वह अपने राजा को विपत्ति के समय बड़ी युक्ति और शुभ सम्मति देकर धैर्य देता था, सन्मार्ग की ओर प्रेरणा देकर उसे उत्साहित किया करता था। एक दिन तलवार की तीक्ष्ण धार की परीक्षा करते समय राजा के बाएं हाथ की एक अंगुली कट गई। उसको देखकर राजा को बहुत दुःख हुआ कि मेरा हाथ बदसूरत हो गया। मैं हीन—अंग बन गया। मंत्री ने राजा को धैर्य देते हुए नम्रता के साथ कहा कि राजन्! इस उंगली कटने में भी कोई भलाई छुपी हुई है। जो होता है, सो अच्छे के लिए होता है। राजा को मंत्री की बात बहुत बुरी लगी कि मैं तो हीनांग हो गया और यह मंत्री अच्छा कह रहा है कि जो होता है वह सब अच्छे के लिए होता है।

एक दिन राजा अपने मंत्री को साथ लेकर जंगल में घूमने—फिरने गया। घोड़ों पर सैर करते हुए वे अपने राज्य की सीमा से बाहर एक घने वन में जा पहुँचे। वहाँ पर राजा को प्यास लगी, मंत्री ने एक कुँए पर जाकर रस्सी द्वारा कुँए से पानी खींचकर राजा को पिलाया। तदन्तर अपने लिए पानी भरने लगा। उस समय राजा को दुर्मति आई और उसने पिछली बात का बदला लेने के लिये

मंत्री को धक्का देकर कुँए में गिरा दिया। कुँए में गिरते हुए मंत्री ने कहा कि राजन्। इसमें भी कुछ भलाई होगी, जो होता है सो अच्छे के लिये होता है। कुँए में पानी थोड़ा था, अतः मंत्री उसमें खड़ा रहा।

उस वन में घूमते-फिरते भीलों का एक झुण्ड आया और उस राजा को पकड़कर अपनी देवी के सामने उसकी बलि देने के लिये ले गया। राजा को अपनी मृत्यु निकट आते देखकर बहुत दुःख हुआ।

भीलों ने देवी के मंदिर पर पहुँचकर राजा के शरीर के वस्त्र-आभूषण उतार कर बलि देने से पहले उसे स्नान कराया। स्नान कराने के बाद भीलों के पुरोहित ने जब राजा के शरीर के अंगोपांगों का निरीक्षण किया, तब उसने राजा के बाँए हाथ में एक उंगली कम देखकर भीलों से कहा कि यह पुरुष हीनांग है, अतः यह देवी को बलि देनेयोग्य नहीं है। दूसरा कोई संपूर्ण अंगोपांग वाला मनुष्य पकड़कर लावो।

हीनांग होने के कारण राजा मृत्यु के मुख में जाने से बच गया, तब उसे अपने मंत्री की बात सत्य प्रमाणित हुई। उसने मंत्री का आभार माना। वह वहाँ से छूट कर उस कुँए पर आया और उसने अनेक उपाय करके मंत्री को कुँए से बाहर निकाल कर अपना समाचार कह सुनाया और अपने अपराध की क्षमा माँगी। तदनन्तर मंत्री से पूछा कि कुँए में गिरते समय तुमने यह क्यों कहा कि जो कुछ होता है वह अच्छे के लिये होता है ?

मंत्री ने उत्तर दिया कि राजन्! आप अभी तक इसका रहस्य नहीं समझे? यदि आप मुझे कुँए में न गिराते तो भील मुझे भी आपके साथ पकड़ ले जाते। तब आप तो हीनांग होने के कारण देवी पर चढ़ाए जाने से छूट ही जाते, जैसे-कि अभी छूट गये हैं, परन्तु मैं तो किसी भी तरह न छूट पाता, क्योंकि मेरे शरीर में सब अंग पूरे हैं। इस कारण आपके द्वारा मुझे कुँए में गिराया जाना भी मेरे लिये वरदान बन गया।

वैसे तो मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थिति पर कभी संतुष्ट नहीं होता, किन्तु यदि कभी अशुभ कर्म के उदय से संकट भी आ जावे तो उसको भी अपने ही कृत्य का फल समझकर उस संकट का भी धीरता और साहस के साथ स्वागत

करें, उस विपत्ति से विचलित होकर अपने सदाचार का पतन न होने दें, बल्कि उस समय और भी अधिक दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य में तत्पर रहें। और मोक्षमार्ग पर सतत बढ़ते रहें। समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाने पर जीव की शुद्ध अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

आचार्य श्री ने मोक्ष तत्त्व का वर्णन करते हुये लिखा है – मुक्ति का अर्थ है दोषों से अपनी आत्मा को मुक्त बनाना। मुमुक्षु जीव सामायिक, प्रतिक्रमण आदि के माध्यम से अपनी आत्मा को सतत निर्दोष बनाने का प्रयास करता रहता है। निराकुलता जितनी—जितनी जीवन में आये, आकुलता जितनी—जितनी घटती जाये, उतना ही मोक्ष हुआ समझो।

जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया, उसे अंदर से ऐसी छटा—पटी लगी रहती है कि कब चारित्र धारण करूँ। मुक्ति का मार्ग है छोड़ने के भाव। जो छोड़ देगा, त्याग करेगा, उसे प्राप्त होगी निराकुल दशा। और इसी को कहते हैं वास्तविक मोक्ष। वास्तविक मोक्ष अर्थात् निराकुलता जितनी—जितनी जीवन में आये, आकुलता जितनी—जितनी घटती जाये, उतना—उतना मोक्ष हुआ समझो।

जितने—जितने भाग में हम राग—द्वेष आदि आकुलता के परिणामों को समाप्त करेंगे, उतने—उतने भाग में निर्जरा भी बढ़ेगी और जितने—जितने भाग में निर्जरा बढ़ेगी, उतनी—उतनी निराकुलदशा का लाभ होगा। आकुलता को छोड़ने का नाम ही है मुक्ति। इसलिये सभी को बार—बार एक—एक समय में निर्जरा को क्रमशः बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये। निर्जरा के बढ़ने से मुक्ति भी पास आती जायेगी। जो व्यक्ति समय रहते अपनी आत्मा को पवित्र बना लेता है वह सदा के लिये मुक्ति के अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध साहित्य में एक कथानक आता है। प्राचीन समय में एक ऐसा सम्राट था जिसके राज्य की सीमाओं पर भयंकर जंगल थे। चारों ओर हिंसक वन्य पशुओं की चीत्कारों और दहाड़ों से आसपास के क्षेत्र आंतकित रहते थे। उस साम्राज्य की एक विचित्र प्रथा थी कि जो भी सम्राट बनता था उसके शासन की अवधि पाँच वर्ष की होती थी। शासन अवधि की समाप्ति पर बड़े धूमधाम और

समारोह के साथ उस सम्राट को राज्य की सीमा पर स्थित उस भयंकर जंगल में छोड़ दिया जाता था जहाँ सिर्फ मौत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता था। इसी परम्परा की श्रृंखला में एक सम्राट को जब राजगद्दी पर बिठाया गया, तब नगरवासियों ने बड़े धूमधाम से जय-जयकारों के साथ नगर में उत्सव मनाया। परन्तु सम्राट के चेहरे पर बड़ी उदासीनता थी। समय धीमे-धीमे अपनी गति से बीत रहा था, परन्तु सम्राट की उदासीनता कम नहीं हो रही थी।

सम्राट प्रतिदिन महल के कंगूरों पर से उस जंगल को देखता और भीरत-ही-भीतर काँप उठता था। ऐसी भयभीत अवस्था में उसका मस्तिष्क साम्राज्य की व्यवस्था में लग नहीं पाता था। पाँच वर्ष समाप्त होते ही आने वाली उस मौत की भयंकर स्थिति को सोच-सोचकर वह प्रतिपल घबराता था।

एक दिन सम्राट के किसी अनुभवी मंत्री ने उसकी व्यथा का कारण पूछा, तब सम्राट ने कहा — मंत्रीवर! मैं अपने आने वाले समय को देखकर व्यथित हूँ। पाँच साल के पश्चात् मेरी जो भयानक स्थिति होगी उसे सोचकर मैं अत्यन्त परेशान हूँ। पाँच साल के बाद जंगली जानवरों का भक्ष्य बन जाना पड़ेगा, ऐसी कल्पनाओं से मैं भीतर-ही-भीतर काँपता हूँ। अनुभवी मंत्री ने अपने सुदीर्घ अनुभव से उन्हें धैर्य देते हुए कहा कि राजन! पाँच वर्ष तक तो आप अखंड साम्राज्य के मालिक हैं, अतः इस मालिकियत का उपयोग कीजिए। अपने अधिकारों का प्रयोग करने में आप स्वतंत्र हैं।

अनुभवी मंत्री ने सम्राट की समस्या का समाधान देते हुए कहा— महाराज! पाँच वर्ष की लम्बी अवधि आपके पास है। इन पाँच वर्षों में आप उन समस्त जंगलों को कटवाकर साफ करवा दीजिए। वहाँ पर नया साम्राज्य स्थापित करवा दीजिए। वहाँ अपने लिये भव्य महल एवं जनता के लिये सुविधाजनक आवास भी तैयार करवा लीजिए। उस जंगल को अभी से शहर के रूप में आबाद कर दो, ताकि भविष्य का खतरा स्वयमेव टल जायेगा जब हिंसक पशुओं के आतंक व गर्जनाओं की जगह नगर जनों के मधुर स्वागत, प्रचुर धन और ऐश्वर्य के साथ आपका राज्याभिषेक होगा।

सम्राट को यह सुझाव जँच गया। तुरन्त ही उन्होंने अपने मुख्यमंत्री को

आदेश दिया। थोड़े ही दिनों में कार्य सम्पन्न हो गया। अब सम्राट प्रसन्नचित्त होकर रहने लगा, क्योंकि चिंता का निवारण कर लिया था।

यह कहानी हमारे जीवन की कहानी है। यदि भविष्य को उज्ज्वल बनाना हो तो वर्तमान को सार्थक एवं सुव्यवस्थित करना होगा। वर्तमान की शक्ति का सही उपयोग ही भविष्य को उज्ज्वल बनाता है। ज्ञानियों ने भी यही संदेश दिया है कि समय को जाननेवाला ही ज्ञानी है। समय के रहते हुए जिसने समय को पहचान लिया, वही व्यक्ति अवसर का लाभ उठा सकता है। जो मनुष्य जीवन रहते हुए करने योग्य कार्य कर लेता है, वही बुद्धिमान है।

यदि वास्तव में आत्मकल्याण करना चाहते हो तो आस्रव-बन्ध के कारणों इन रागादिक भावों से बचो। श्री गणेश प्रसाद वर्णी जी ने लिखा है — शान्ति के बाधक कारण रागादिक भावों को हेय समझने से शान्ति नहीं मिल सकती! शान्ति तो तभी मिलेगी, जब उन बाधक कारणों को हटाया जायेगा।

संसार के मूलकारण मोह, राग, द्वेष ही हैं। राग-द्वेष करने से नवीन कर्मों का आस्रव-बन्ध होता है। आचार्य पुष्पदन्तसागरजी महाराज ने बन्धतत्त्व का वर्णन करते हुये लिखा है —

बन्ध तत्त्व है कह रहा, सुन ओ चेतन अन्ध।

राग-द्वेषमय भाव से, होता विधि का बन्ध॥

विषय भोग को त्यागकर, करो वीर का संग।

ज्ञान-ध्यान में रत रहो, चढ़े न विधि का रंग॥

एक युवा सम्राट था। वह काफी समय से बीमार था। किसी डॉक्टर ने राजा को सलाह दी, बीमारी का उपचार बताया कि आप यदि आम न खाएँ, तो स्वस्थ हो सकते हैं। डाक्टर ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि, आप आम खाना ही मत। आम खाना तो बहुत दूर है, आम के वृक्ष के पास से भी मत निकलना। यदि आपने आम को खा लिया, तो आप अपना मरण निश्चित समझो। जीवन तो सबको प्यारा होता है, भला जान बूझकर मरना कौन चाहेगा? आदमी सौ साल का होने के बाद भी और जीने की तमन्ना रखता है। भले ही वह कितना ही बीमार क्यों न हो, फिर भी जीने की तमन्ना तो बनी ही रहती है। राजा तो अभी

जवान था। उसके भी अपने अरमान थे, बहुत से राज्यों पर आक्रमण करना था। अपनी विजय— पताकायें फहराना थीं। उसने डाक्टर की बात को स्वीकार कर लिया। चूंकि प्रजा का भी राजा से बहुत आग्रह था कि आप हमारे स्वामी हैं, आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते, आपके अभाव में हम कुछ भी न कर सकेंगे। हम भगवान से आपके चिरायु होने की कामना करते हैं। आप आम न खाएँ। राजा को सबका प्रेमपूर्ण आग्रह स्वीकार करना पड़ा। प्रेम ही तो एक ऐसी शक्ति है जो अचिन्त्य कार्य करवा देती है।

एक दिवस राजा और मंत्री घूमने निकले। एक उद्यान में जाकर दोनों बैठ गये। उद्यान में आम के वृक्षों की बहुलता थी। वायु बह रही थी। मंत्री को शंका हुई, कहीं राजा का मन इन पीले—पीले मद—मस्त आमों की ओर आकर्षित न हो जाये। इसलिए मंत्री ने राजा से कहा, चलो अन्य कहीं किसी वृक्ष तले आराम करते हैं। ये आम का वृक्ष है। डाक्टर ने आम के वृक्ष के नीचे बैठने से मना किया है आपको। राजा ने कहा—डाक्टर तो यूँ ही कहते हैं। हम आम खा थोड़े रहे हैं। मात्र पेड़ के नीचे बैठे हैं। राजा से ज्यादा कुछ तो कहा नहीं जा सकता मंत्री चुप हो गया।

राजा ने ऊपर की ओर देखा, पीले—पीले गदराये बदन वाले आम हवा संग धीरे—धीरे बात कर लटक रहे हैं। राजा के मन में उनके प्रति आकर्षण बढ़ा और रसना—इन्द्रिय द्रवित हो गयी। आम की खुशबू नासा—इन्द्रिय से टकरायी तो एक आह भरकर उसने कहा, आह! कितनी मधुर गंध है। जब गन्ध इतनी मीठी है, तो पता नहीं आम कितना मीठा होगा। लेकिन भीतर से मन कह रहा था कि आम खाओगे तो मर जाओगे। तब दूसरा मन कहता है कि एक आम खाने से कुछ नहीं होता। राजा वहाँ से उठने को तैयार हुआ कि सामने एक आम आकर गिर पड़ा। यह तो एक निमन्त्रण था। राजा स्वयं को न रोक सका और उसे हाथ में उठा लिया। मंत्री ने तुरन्त हाथ जोड़कर कहा, हुजूर! सचेत, खतरा—डेन्जर, उसे वहीं छोड़ दो। यह मौत का आमन्त्रण है, इसे स्वीकार मत करो। आपको आम खाने की मनाही है और आप आम छू रहे हैं। राजा ने कहा कि मैं खा थोड़े रहा हूँ। मैं तो मात्र देख रहा हूँ। देखने मात्र से कुछ नहीं होता। मैं आम खाऊँ,

तब रोकना। सुगन्ध ने आकर्षित किया। यौवनी मदभरे आम ने मोहित किया, पीले रंग ने राजा को लुभाया। धीरे से राजा ने हाथ उठाया और आम नासा इन्द्रिय से लगा दिया और सूँघते सूँघते मन नहीं माना तो चूसना प्रारम्भ कर दिया। उसका रस लेने लगे। मंत्री ने मना किया तो राजा ने कहा— एक आम खाने से क्या होता है। डाक्टर तो हमेशा ऐसा ही कहते रहते हैं। मना करते—करते भी राजा ने आम का सेवन कर लिया। आम को खा लिया। एक—एक करके अनेक आम राजा के पेट में पहुँच गये। अग्नि में ईंधन डालो, वह तृप्त नहीं होती, मनुष्य का मन भी ऐसा ही है। आखिर राजा बीमार हुआ और कुछ समय उपरान्त मरण को प्राप्त हुआ।

राजा के मन में पहले भाव पैदा हुआ। यह आस्रव तत्त्व का समर्थन हो गया, भावास्रव हो गया। उसके बाद उसे हाथ में लिया, उसका स्पर्श किया तो द्रव्यास्रव हो गया और उसे सूँघा तथा उसका सेवन किया, यह बन्ध हो गया। पहले भावास्रव होता है, बाद में द्रव्यास्रव, उसके बाद में बन्ध होता है। जब तक राजा ने आम नहीं देखा था, हाथों में नहीं आया था, तब तक खाने का कोई भाव नहीं था। जैसे ही आम आया, तो मन कहता है कि मात्र एक ही आम है। खा लो, क्या फर्क पड़ता है। यही सिद्धांत कर्मबन्धन में भी लागू होता है। जो पहले पूर्वकृत कर्म उदय में आते हैं और उनके उदय में राग—द्वेष—मोह उत्पन्न होता है तो निश्चित रूप से कर्म का बन्ध होता है अर्थात् पुद्गल वर्गणा का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह परम अवगाढ सम्बन्ध हो जाता है। बन्ध की यह परम्परा अनादिकालीन है। प्रत्येक समय कर्म उदय में आ रहे हैं, जा रहे हैं और बन्ध को प्राप्त हो रहे हैं। बन्ध के सम्बन्ध में कुन्दकुन्द आचार्य ने एक बात अच्छी कही है —

अज्झव सिदेण बन्धो, सत्ते मोरहिंमा व मोरहिं।

एसो बंध समासो, जीवाणणिच्छयणयस्य।।

यह जीव किसी जीव को मारे या न मारे, लेकिन उसके मारने के भाव मात्र से ही बन्ध हो जाता है। वस्तु आपको उपलब्ध हो या नहीं, लेकिन उसके प्रति जो राग भाव है, वह नियम से बन्ध में कारण है। यह जीव जिस समय

विषयानुराग में प्रवृत्त होता है, मात्र मन में राग करता है, तो उसी समय बन्ध को उपलब्ध हो जाता है। वस्तु की प्राप्ति के पूर्व जो राग किया, उससे तो बन्ध हो गया, यदि वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो उसके भोगने में जो आसक्ति का भाव है, उससे अब निरन्तर बन्ध चलता रहेगा, क्योंकि वस्तु का भोग निरन्तर चालू है। कभी वस्तु की अनुपलब्धि में जीव मात्र राग करके रह जाता है, उसके बाद विस्मृत हो जाता है। तो मात्र उसी समय बन्ध होता है। लेकिन वस्तु की प्राप्ति के बाद तो निरन्तर बन्ध होता रहता है। इसलिये तो आगम में बहिरंग वस्तु के त्याग पर विशेष बल दिया गया है। प्रवचनसार के चारित्र अधिकार की गाथा 231 में लिखा है—जो राग से, बन्ध से बचना चाहता है, उसे भौतिक वस्तु का, बहिरंग परिग्रह का त्याग करना अनिवार्य है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' ग्रन्थ में कहा है —

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।

ण य वत्थुदो दु बन्धो, अज्झवसाणेण बन्धोत्थि॥

जीव के रागादिरूप भाव बाह्य वस्तु के निमित्त को लेकर होते हैं, वही भाव ही बन्ध का कारण है, किन्तु वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। जीव का और परिग्रह का निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि ज्ञेय पदार्थ नहीं होते, तो जीव के अन्दर विकार भी पैदा नहीं होते। जिन पदार्थों को, जिस परिग्रह को बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया है, उसे बुद्धिपूर्वक ही छोड़ना होगा। अपने आप नहीं छूटेगा। पदार्थों में राग—द्वेष करने से कर्मों का बन्ध होता रहता है।

महिलाओं को रंगीन वस्त्रों से बहुत स्नेह होता है, प्रेम होता है, लगाव होता है। 'यह साड़ी अच्छी है', राग का समर्थन हो गया। यह पहनने में बिल्कुल ही नहीं खिलती, मैं इसे पहनती भी नहीं हूँ, इसलिए नौकरानी को दिये देती हूँ, यह हुआ द्वेष का संवर्धन और यह साड़ी बहुत अच्छी है, संभाल कर पेटी में रख ली, स्वयं के पहनने को भी बाहर नहीं निकाली, मात्र कभी—कभी पेटी खोलकर साड़ी को देख लिया और पुनः पेटी में रख दिया, तो यह हुआ मोह का संवर्धन। राग, द्वेष और मोह इन तीनों के कारण जीव कर्म—वर्गणा को आमंत्रित करता है और स्वयं बन्धन में बंध जाता है। कर्म आमंत्रित कैसे होते हैं, यूँ समझने की

कोशिश करें।

आप अपने घर के द्वार पर खड़े हैं, किसी से कुछ नहीं कहते। आप किसी मित्र को देखकर मुस्करा देते हैं। तो उसकी चाल जरा धीमी हो जाती है। वह सोचता है कि आप उसे बुला रहे हैं। वह पास में आता नहीं है, लेकिन धीरे-धीरे चलते हुए, बार-बार पलटकर आपको देखने लगता है। एक मिनिट को रुक भी जाता है, लेकिन आपको मौन देखकर पुनः चलने लगता है। आप आवाज लगाकर, हाथ हिलाकर कहते हैं, भाई साहब! आइये। तब वह व्यक्ति अपनी दिशा को बदल देता है और आपके पास आकर खड़ा हो जाता है। आप कहते हैं कि चाय पीकर जाइये और घर में ले जाकर उसका स्वागत-सत्कार प्रारम्भ कर देते हैं। मित्र की ओर मुस्कराना यानि योग का स्पंदित होना, आस्रव तत्त्व का समर्थन करना है। एक मिनिट मित्र का रुकना, चला जाना, ईर्यापथ आस्रव है तथा हाथ के इशारे से उसे बुलाना और चाय पिलाना है स्थिति और अनुभाग बन्ध। आप जब भी यहाँ से गुजरें, अवश्य मिलकर जायें। यह मोह का समर्थन है। अब आप उससे बंध गये। सड़क पर खड़े होकर मुस्कराते नहीं तो वह मेहमान आता नहीं। आत्मा राग करता नहीं, तो बन्ध को प्राप्त नहीं होता। आप एकान्त में कितना मुस्करायें, आपके पास कोई नहीं आयेगा। किसी व्यक्ति को देखकर मुस्कुराये तो संबंध स्थापित हो जायेगा। मुस्कराने का अर्थ है कि मुझे आपसे राग है, प्रेम है, स्नेह है। लेकिन इतना अवश्य याद रखना, यह रागादि परिणाम कर्मोदय में ही होते हैं, कर्माभाव में रागादि भाव का होना त्रैकाल में भी संभव नहीं है। कर्मोदय में नियम से कर्म का बन्ध हो, ऐसा भी नियम नहीं है। भावमोह का अभाव होने पर कर्मोदय में बन्ध नहीं होता, जो कि निर्विकल्प समाधि में सम्भव है। परम पूज्य गुरुवर विद्यासागर जी महाराज का एक काव्य है, जो आत्मा की स्वतंत्रता और कर्म की परतन्त्रता का दिग्दर्शन करता है —

तूने किया विगत में कुछ पुण्य-पाप,
जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बन्ध तब लों, जब लों न राग,

चिन्ता नहीं उदय की, बन वीतराग ।।

संसारी प्राणी ने विगत समय में राग—द्वेष के कारण से कर्म का बन्ध किया है। वह कर्म पुण्य और पाप रूप से आत्मा के साथ बंधा हुआ है। जो बंधा है, भीतर संचित है, एकत्रित है, वही बाहर आ रहा है। लेकिन पुनः आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त हो, ऐसा नियामक नहीं है। 'होगा न बन्ध तब लों,' बन्ध तब तक नहीं होगा। कब तक? 'जब लों न राग,' जब तक राग—द्वेष—मोह नहीं करेगा तब तक। कर्म जाते—जाते अपनी सन्तान छोड़कर जायें, ऐसा नियम नहीं है। जो वीतराग मुद्रा अपना लेता है, कर्मोदय में समता रखता है, राग—द्वेष नहीं करता है, उससे परे हो जाता है, निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, तो कर्म का बन्ध नहीं होता। वह सन्तान रूप में अपनी छाया छोड़कर नहीं जाता। जिस समय अपने स्वभाव से च्युत हो, विस्मृत हो पर की ओर देखता है, उनसे राग—द्वेष—मोह करता है, तो उसी समय नियम से बन्ध को प्राप्त हो जाता है।

जब कोई आपका प्रेम से स्वागत करता है, तो आपका मन रुकने का हो जाता है। कर्मबन्ध के कारण में भी ऐसा समझना चाहिए। आत्मा जब अन्तरंग भावों से कर्म को आमंत्रित करती है, तो वो काफी समय के लिए सम्बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। कर्म का बन्ध किस प्रकार होता है, एक और उदाहरण के माध्यम से समझने की कोशिश करें।

होली का समय है। एक बेटा अपनी माँ से कह रहा है। माँ! मैं कल रंग खेलने नहीं जाऊँगा। माँ पूछती है—बेटा! रंग खेलने क्यों नहीं जायेगा? मित्र लोग बहुत रंग लगा देते हैं। उससे काफी तकलीफ होती है। चमड़ी जलने लगती है। इसलिए हम तो रंग खेलने नहीं जायेंगे। माँ ने कहा—अच्छा, मत जाना, लेकिन तुझे भी एक काम करना पड़ेगा कि जब दोस्त घर पर आयें तो तुम छुप जाना, बाहर खिड़की से भूलकर भी मत झाँकना, मौन रहना। यदि तू इतना काम कर लेगा, तो बाकी काम मैं कर लूँगी। दोस्त आयेंगे तो उन्हें बहाने बनाकर लौटा दूँगी। दूसरे दिन उसके मित्र घर पर आ गये। द्वार बन्द थे, उन्होंने आवाज लगाई—सुभाष गाँधी है क्या? माँ ने भीतर से ही आवाज लगाकर पूछा, कौन आया है? आंटी! मैं बाबू भाई आया हूँ। "अरे बेटा! सुभाष तो अभी

थोड़ी देर पहले ही चला गया है। शैलेश आया था। उसके साथ ही गया है।” दोस्त कहते हैं कि हम तो उसके ही घर से आ रहे हैं। उसके साथ तो नहीं था। माँ कहती है कि शशिकान्त, श्रीकान्त सभी उनके साथ थे, तुमने ध्यान नहीं दिया होगा। हँसमुख भाई कहते हैं कि शायद सुभाष भीतर होगा। आप भीतर जाकर देखिए तो सही। माँ कहती है कि क्या मैं झूठ बोल रही हूँ? भगवान् की कसम, वो घर से अभी-अभी गया है। (लोग अपने को बचाने के लिए भगवान् को बीच में डाल देते हैं। भगवान् ही तो एक विश्वास के योग्य बचा है।)

सभी दोस्त उदास हो वापस जाने लगे। जाते-जाते कहने लगे कि सुभाष आये तो बता देना कि हम लोग आये थे। भीतर से सुभाष का मन दोस्त की ओर था। ऊपर से शरीर भीतर था और मन बाहर था। बेटा मन-ही-मन सोच रहा था कि कौन-कौन आये हैं। किसको कितना रंग लगा है। मन मित्रों में ही खोया था। जब मित्र वापिस जाने लगे तो उसने धीरे से खिड़की में से यूँ करके झाँका। इधर बेटे का झाँकना हुआ और उधर से मित्रों का पिचकारी चलाना हुआ। रंग खिड़की को पार करता हुआ सुभाष के ऊपर पड़ जाता है। अब सभी दोस्त घर में घुस जाते हैं और सुभाष को पकड़ कर बाहर ले जाते हैं और उसे रंग से रंग देते हैं। सुभाष का असली चेहरा गायब हो जाता है। खिड़की से झाँकना आस्रव को आमंत्रण देना है और दोस्तों के साथ रंग खेलना, गले मिलना बन्ध हो गया। जरा से परिचय से रंग की पिचकारी चल गयी और रंग की दो चार बून्दें पड़ने से रंग खेलने का भाव हो गया। और भाव पैदा हो गया तो फँस गये दोस्तों में। फँसे तो रंग-रूप ही बदल गया।

राजा भी मात्र पेड़ के नीचे बैठा था। सुभाष खिड़की के पास बैठा था। आम की गन्ध ने राजा को आकर्षित कर दिया था और दोस्तों की आवाज ने सुभाष को आकर्षित किया। राजा ने एक आम खाया और बाद में खाता ही गया। पके आम का लोभ नहीं रोक सका और अन्त में आम विजयी व राजा पराजित हो गया। इसी प्रकार की घटना हमारे जीवन में घटती है। जीवन में राग-द्वेष प्रतिदिन बढ़ता ही चला जाता है। उसकी श्रृंखला को तोड़ने का ख्याल भी नहीं आता है।

‘शान्तिपथ प्रदर्शन’ ग्रंथ में जिनेन्द्र वर्णी जी ने लिखा है —

इस शरीर को अपना मानकर निष्प्रयोजन इसकी सेवा में जुटे रहना, धनादिक व कुटुम्बादिक परपदार्थों की सेवा में जुटे रहना ही तो वह बन्धन है, जो स्वयं मैंने अपने सर लिया हुआ है। यदि मैं इन पर पदार्थों की सेवा स्वयं स्वीकार न करूँ, तो कोई शक्ति नहीं कि जबरदस्ती मुझे इनकी सेवा करने को बाध्य कर सके। इन परपदार्थों की मैं स्वयं सेवा करता हूँ और पीछे पुकार करता हूँ, कि हाय—हाय इन कर्मों ने मुझे पकड़ा, कोई छुड़ाओ, कोई छुड़ाओ।

कोई वृक्ष को दोनों हाथों से पकड़ ले और आते—जाते पथिकों से यह पुकार करे कि भाई! मेरी सहायता करो, देखो इस वृक्ष ने मुझे पकड़ा है, इससे मुझे छुड़ाओ, तो कितनी मूर्खता होगी।

देखो बन्दर की मूर्खता, शिकारी के द्वारा पृथ्वी में गाड़ी चनों से भरी हंडिया में चनों के लालच वश हाथ डाले स्वयं, चनों की मुट्ठी भरे स्वयं और बन्द मुट्ठी हंडिया के मुँह से न निकल सके तो पुकार करे, हाय—हाय हंडिया ने मुझे पकड़ा, कोई छुड़ाओ, कोई छुड़ाओ।

इसी प्रकार तोते का दृष्टांत है। वह स्वयं नलकी के ऊपर बैठता है और नलकी के घूम जाने पर गिरने के डर से उसे दृढ़ता से पकड़ लेता है। परन्तु विचार करता है कि नलकी ने मुझे पकड़ लिया है। पर फड़फड़ाता है उड़ने के लिये, परन्तु पाँव न छोड़े तो कैसे उड़े? नलकी ने मुझे पकड़ा, कोई छुड़ाओ। बस, यही दशा तो मेरी है। स्वयं दासता स्वीकार करके कहता है कि हाय! इस दासता से मुझे छुड़ाओ। कितनी हँसी की बात है?

इन सबकी मूर्खता पर आज मैं हँस रहा हूँ, पर खेद है कि अपनी मूर्खता मुझे दिखाई नहीं देती। शरीर, धन व कुटुम्बादिक की सेवा में स्वयं स्वीकार करके कोस रहा हूँ इन जड़ कर्मों को। हाय इन कर्मों ने मुझे पकड़ा है। देखो, निष्कारण तंग कर रहे हैं। अपनी शान्ति को सेवा—चाकरी में खोजने जाता हूँ। बस, इस कल्पना ने ही तो मुझे पकड़ा है। यही वे बन्धन हैं जो महात्माओं ने तोड़ दिये हैं। यदि मैं भी तोड़ दूँ, तो वैसा ही हो जाऊँ।

यदि आज इस दासता को छोड़कर मैं नये—नये अपराध करना बन्द कर दूँ

तो ये जड़कर्म स्वयं भाग जायेंगे मुझे छोड़कर। जिस प्रकार रस लेकर कर्मों का आस्रव व बन्ध किया है, उसी प्रकार रस ले-लेकर इन्हें तोड़ने से काम चलेगा। स्वतंत्र रूप से मैंने ही इनका निर्माण किया है और स्वतंत्र रूप से मैं ही इन्हें ललकारूँ, उनसे युद्ध करूँ, गृहस्थ में रहकर भी अपनी शक्ति को न छिपाकर (इच्छा निरोध) संवर व निर्जरा के द्वारा इन्हें काट सकता हूँ। आचार्य कहते हैं कि यदि मुक्ति चाहिये, तो कर्मों को कोसना छोड़कर संयम व तपश्चरण धारण कर संवर व निर्जरा तत्त्वों में रस ले-लेकर समस्त कर्मों को नष्ट कर दो।

संवर-तत्व

संसार के निर्माता आस्रव और बन्ध हैं तथा मोक्ष के निर्माता संवर और निर्जरा हैं। जिन भावों से कर्म बंधते हैं, उनके विरोधी भावों से कर्म रुकते हैं। आस्रव का विरोधी संवर है। मिथ्यात्व के द्वारा आते हुये कर्मों को रोकने के लिये सम्यग्दर्शन का लाभ करना चाहिये। अविरति के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग इन पांच व्रतों का पालन करना चाहिये। प्रमाद को रोकने के लिये चार विकथा को त्यागकर धार्मिक कार्यों में दत्तचित्त रहना चाहिये। कषायों को हटाने के लिये आत्मानुभव व शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्व विचार, क्षमा भाव, मार्दव भाव, आर्जव भाव, संतोष भाव आदि का अभ्यास करना चाहिये। योगों को जीतने के लिये मन, वचन, काय को स्थिर करके आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये। ज्ञानी को सदा जाग्रत और पुरुषार्थी रहना चाहिये। जैसे साहूकार अपने घर में चोरों का प्रवेश नहीं चाहता है, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है, उसी तरह ज्ञानी को अपनी आत्मा की रक्षा बन्धकारक भावों से करते रहना चाहिये व जिन-जिन अशुभ भावों की टेव पड़ गई हो, उनको नियम या प्रतिज्ञा के द्वारा दूर करना चाहिये।

दिन में सोने की, अनछना पानी पीने की, रात्रि भोजन करने की, वृथा बकवास करने की, गाली सहित बोलने की, असत्य भाषण की, पर को ठगने की आदि जो-जो भूल से भरे अशुभ भाव अपने में होते हों, उनको त्याग करते चले जायें तो उनके त्याग करने से जो पाप का बन्ध होता वह रुक जाता है। प्रतिज्ञा व नियम करना अशुभ भावों से बचने का बड़ा भारी उपाय है। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने लिखा है —

संवर कहते हैं प्रत्येक क्षण होने वाले नये-नये अपराध को रोक देना।

अर्थात् जिस प्रकार भी इन्द्रिय विषय भोगों सम्बन्धी अथवा ख्याति-प्रतिष्ठा आदि सम्बन्धी बहिर्मुखी वृत्ति रोकी जा सके, उसे रोकना कर्तव्य है। वास्तव में पदार्थों को जानना अपराध नहीं है। जानने मात्र से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। राग-द्वेष होते हैं इष्टानिष्ट बद्धि से। देखिये आप अपने बरामदे में खड़े सड़क की ओर देख रहे हैं। अनेक पशु-पक्षी व व्यक्ति सड़क पर से गुजरते आपने देखे। कुछ परिचित थे और कुछ अपरिचित भी। कुछ देर पश्चात उसी सड़क पर देखा अपने पुत्र को आते हुये। तुरन्त यह सोचकर कि कुछ कार्य से मेरे पास ही आ रहा है, एका-एक बोल उठे-क्यों? क्या काम है? इतनी जल्दी कैसे लौट आये आज? पुत्र को देखकर यह विकल्प क्यों? कारण यही कि अन्य व्यक्तियों में थी माध्यस्थता और पुत्र में थी इष्टता। इसी प्रकार आप इन्हीं आँखों से देखते हो अस्पताल में पड़े बुरी तरह कराहते हुये अनेक रोगियों को और इन्हीं नेत्रों से देखते हो अपने रोगी पुत्र को। परन्तु जिस व्याकुलता तथा वेदना का भाव पुत्र को देखकर आप में जाग्रत होता है, वह अन्य रोगियों को देखकर क्यों नहीं होता? कारण यही कि पुत्र में है इष्टता और अन्य में है माध्यस्थता।

अब हमें यह देखना है कि ऐसी कौन-सी क्रियायें सम्भव हैं, जिनमें इष्टता-अनिष्टता को पूर्णरूप से या आंशिक रूप से अवकाश न हो। ऐसी संवररूप क्रियाएँ तीन भागों में विभाजित की गई हैं – एक ग्रहस्थ के योग्य, दूसरी श्रावक के योग्य और तीसरी साधु के योग्य।

ग्रहस्थ के योग्य क्रियाओं में 6 प्रधान हैं—

देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान।

श्रावक के योग्य क्रियाओं में इन छः के अतिरिक्त सम्मिलित हैं— अणुव्रत, देशव्रत तथा सामायिक। साधु के योग्य क्रियाओं में प्रधान हैं—महाव्रत, गुप्ति, समिति, दशधर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, तप और ध्यान।

यद्यपि आज तक इन क्रियाओं में से आप कुछ क्रियायें पहले से करते आ रहे हैं, जैसे कि देव पूजा, स्वाध्याय आदि, तदपि अंतरंग अभिप्राय ठीक न होने से उनका वह फल नहीं हुआ जो कि होना चाहिए था अर्थात् शांति। उसका कारण यह है कि या तो वे क्रियायें मिथ्या अभिप्राय पूर्वक की जा रही हैं या

केवल कुलपरम्परा से, बिना समझे की जा रही हैं। सच्चे अभिप्रायपूर्वक अर्थात् भोगाभिलाष से निरपेक्ष केवल शांति की अभिलाषा सहित इन क्रियाओं को करने वाला तीनकाल में भी कभी दुखी रह नहीं सकता, ऐसा दावे के साथ कहा जा सकता है। अतः प्रत्येक क्रिया की परीक्षा अपने अभिप्राय से करते हुये चलना चाहिये। अभिप्राय पर ही जोर है, वही मुख्य है। क्रिया की इतनी महत्ता नहीं जितनी अभिप्राय की है। अतः अभिप्राय को पढ़ने का अभ्यास करना चाहिये, तभी ये क्रियायें सच्ची कहला सकती हैं।

एक उदाहरण है। किसी साधु को स्वर्ण बनाने की रासायनिक विद्या आती थी। एक ग्रहस्थ को पता चल गया। विद्या लेने की धुन को लिये वह उस साधु की सेवा करने लगा। दो वर्ष बीत गये, बहुत सेवा की, साधु ने प्रसन्न होकर उसे विद्या दे दी अर्थात् वह कापी जिसमें वह उपाय लिखा था, उसे दे दी। प्रसन्नचित्त ग्रहस्थ घर लौटा, भट्ठी बनाई, सारा सामान जुटाया और जिस प्रकार कापी में लिखा था, करने लगा। बड़ी सावधानी बरती कि कहीं गलती न हो जाये, प्रत्येक क्रिया को पढ़कर किया, पर स्वर्ण न बना। फलतः श्रद्धा जाती रही। सोचने लगा कि दो वर्ष व्यर्थ ही खो दिये, साधु ने यों ही झूठमूठ अपनी ख्याति फैलाने के लिये ढोंग रचा था, सोना आदि बनाना उसे आता ही न था। कापी में भी यों ही काल्पनिक बातें मेरे मन बहलाने को लिख दीं। क्रोध में भर गया वह, पर क्रोध उतारे किस पर? साधु न सही, उसकी कापी तो है। लगा उसे जूतों से पीटने। सहसा वही साधु उस मार्ग से आ निकला। गृहस्थ की मूर्खता को देखकर सबकुछ समझ गया। बोला—इतना क्रोध करता है? भूल स्वयं करे और क्रोध उतारे कापी पर? इस बेचारी ने क्या लिया है तेरा? चल मेरे साथ, देखता हूँ कैसे नहीं बनता सोना? भट्ठी के पास दोनों आये, सामान जुटाया, प्रक्रिया चालू हुई। सब ठीक था, परन्तु नीबू पड़ने का अवसर आया तो लगा चाकू लेकर नीबू काटने। साधु बीच में ही बोला—क्या करता है? नीबू काटता हूँ। कहाँ लिखा है इसमें नीबू काटना? काटना न सही, नीबू का रस तो लिखा है। बिना काटे रस कैसे निकले? साधु ने ग्रहस्थ से नीबू छीन लिया और दोनों हथेलियों के बीच साबुत का साबुत नीबू रख कर जोर से दबा दिया। रस

निचुड़ गया। बोला कि ऐसे निकलता है रस। यह न सोचा बुद्धि लगाकर कि चाकू से लोहे का अंश जाकर सारे फल का विनाश कर देगा। सोना बन गया और ग्रहस्थ लज्जित हुआ अपनी भूल पर। परन्तु अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत। विद्या को साधु अपने साथ ही ले गया।

सर्व क्रिया ठीक होते हुये भी कोई ऐसी भूल जो दृष्टि में नहीं आती सर्व फल का विनाश कर डालती है और यथाकथित फल न मिलने पर बजाये अपनी भूल खोजने के प्राणी का विश्वास उस क्रिया पर से ही उठ जाता है और इस प्रकार बजाए हित के अपना अहित कर बैठता है। अतः हमें पहले से ही अपने अभिप्राय को पढ़ते रहना चाहिये ताकि सूक्ष्म—से—सूक्ष्म भूल का भी सुधार किया जा सके और क्रिया से वही फल प्राप्त किया जा सके जो कि उससे होना चाहिये। प्रत्येक क्रिया में भाव की महत्ता है। हमें पूजन करते समय पता ही नहीं रहता कि हम बोल क्या रहे हैं और उसका भाव क्या है। हम आदिनाथ भगवान की पूजा करते हैं, उसकी जयमाला में आता है —

आदीश्वर महाराज हो, म्हारी दीनतणी सुन वीनती।

चारों गति के मांहे, मैं दुःख पायो सो सुनो॥

ऊट बलद भैंसा भयो, जापै लदियो भार अपार हो।

नहिं चालयो जटै गिर परयो, पापी दे सोटन की मार हो॥

म्हारी दीनतणी सुन वीनती।

क्या कह रहे हैं? ऊँट हुआ, बैल हुआ और भैंसा हुआ। इन तीनों को गाड़ी में जोता जाता है। बैलों की बैलगाड़ी में, ऊँटों को ऊँटगाड़ी में और भैंसों को भैंसागाड़ी में। उन पर उनकी शक्ति से ज्यादा भार लाद दिया जाता है। जब वे चल नहीं पाते हैं और गिर पड़ते हैं, तब पापी लोग उन्हें डंडों से मारते हैं। उन्हें दंडा मार—मार कर उठाया जाता है।

पूजन चल रही है, सभी पूजन की लय में मस्त हैं। तभी बीच में ही एक व्यक्ति बोल उठता है—आज के आनन्द की जय। अरे भाई! सोटन की मार पड़ रही है, आँखों में से आँसुओं की धारा बह रही है, तो आनन्द कहाँ से आ रहा है? उसे पता नहीं कि मुँह से क्या बोल रहा है। वह तो लय में मस्त है। पर

ध्यान रखना, भावपूर्ण क्रिया ही फलदायी होती है।

आचार्य पुष्पदन्त सागर जी महाराज ने लिखा है —

काम क्रोध अरु लोभ का बंद करो व्यापार।

संवर का आदर करो, कर संयम से प्यार ।।

जिनमुद्रा को धार लो, यही तत्त्व का सार।

आत्म-ध्यान में लीन हो, पाओ निज का सार।।

कहीं किसी नगर में मेले का आयोजन था। काफी लोग उस ओर जा रहे थे। आबालवृद्ध सभी भागे जा रहे थे। सब में उत्साह था, उमंग थी। भले ही धर्म के प्रति न हो, लेकिन भौतिकता के प्रति तो है ही। एक व्यक्ति अचानक कुँए में गिर पड़ा है और वह चिल्ला रहा है— मुझे बचाओ, मुझे कुँए से बाहर निकालो, मैं डूब रहा हूँ। वह किसी भी प्रकार से कुँए में लटका हुआ था। कुँए की दीवारों में छोटे-छोटे पेड़ उग आये थे, उन्हें पकड़ कर वह लटका हुआ था। शहर के बीच में कुँआ था। हो-हल्ला और शोर-गुल बहुत था। मेले की भीड़ थी। सबको अपनी-अपनी पड़ी थी। ऐसे में कौन किसकी सुनता है। सबका अपना-अपना स्वार्थ है। उसकी आवाज किसी ने नहीं सुनी। एक बौद्ध भिक्षु वहाँ से गुजर रहा था, उसके कानों में आवाज पड़ी। उसने जाकर कुँए में झांका, नीचे देखा कि एक आदमी पेड़ पकड़े लटक रहा है, साथ ही तड़प रहा है। वह चिल्लाया, “मुझे बाहर निकालो, मैं मरा जा रहा हूँ। शीघ्र कोई उपाय करो। अब मेरे हाथ छूटे जा रहे हैं।” उस बौद्ध भिक्षु ने कहा—क्यों परेशान हो व्यर्थ में निकलने के लिए? बुद्ध ने कहा है कि संसार दुःखमय है। यहाँ दुःख—ही—दुःख है। सांसारिक जीवन दुःखमय है, बाहर निकल कर क्या करोगे? क्यों मुझे परेशान करते हो और तुम भी परेशान होते हो। बाहर आओगे तो परेशानी में फँस जाओगे। पुलिस परेशान करेगी। व्यर्थ में लोग सवाल करेंगे कि क्यों गिर गये, कैसे गिर गये, क्या तुम्हें इतना बड़ा कुँआ दिखाई नहीं पड़ा? इसके पहले भी बहुत से लोग गिर चुके हैं। वो भी बाहर नहीं निकले हैं और तुम क्यों व्यर्थ में निकलने का प्रयास करते हो? अब फालतू में चिल्लाना मत। इतना उपदेश देकर भिक्षु वहाँ से चला गया।

इसके बाद एक सिद्धांतशास्त्री वहाँ से गुजरा। उसने भी उसकी आवाज सुनी। वह भी कुँए के पास गया। जाकर नीचे झाँका और अपना उपदेश प्रारम्भ कर दिया कि तुम्हारे पाप का उदय है। तुमने भी पिछले जन्म में किसी को कुँए में डाला होगा, उसका ही फल तुम्हें मिला है। अपना फल तो तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। फल भोगकर कर्म से मुक्त हो जाओगे। प्रकृति ने मौका दिया है। व्यर्थ बाहर निकलने की कोशिश मत करो। यही तो अच्छा स्थान है। इससे अच्छा स्थान और कहाँ होगा? अकेले में भोग लो। बाहर आओगे तो लोग देखकर तुम्हारी हंसी उड़ायेगें। व्यर्थ में क्यों अपने को बदनाम करते हो। समता भाव से भोग लो तो छुटकारा मिल जायेगा। उसने कहा—क्या तुमने कर्म सिद्धांत को पढ़ा नहीं है ? शायद उस सिद्धान्तशास्त्री ने शास्त्र की दो—तीन गाथायें भी उसे सुनाई हों। सिद्धान्तशास्त्री उपदेश देकर चला गया, लेकिन उसे बचाया नहीं।

उस सिद्धांतशास्त्री ने बात गलत नहीं कही थी। जो शास्त्रों में लिखा है और उसने पढ़ा है, वही तो कहा। जितना जानता था, उतना ही कहा था। मरता हुआ आदमी उसे दिखाई न पड़ा, सिद्धांत दिखाई पड़ा। आदमी डूब रहा था, उसे वह दिखाई न पड़ा, कर्म का फल उसे दिखाई पड़ रहा है। वह भी उपदेश देकर चला गया।

एक नियतिवादी वहाँ से गुजरा। उसने भी उसकी आवाज सुनी और कुँए के पास गया। कुँए में नीचे झाँका और झाँकते ही कहा—कोई किसी का क्या कर सकता है ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का तो कुछ कर ही नहीं सकता। जिसका जो होना है, वह तो होकर ही रहेगा। आत्मा तो कभी मरती नहीं है, अजर—अमर है और शरीर तो क्षणभंगुर है, उसे तो कभी—न— कभी छूटना ही है। कल छूटे या आज छूटे, इससे क्या फर्क पड़ता है। जैसी तुम्हारी नियति है, वही तो हो रहा है। उस नियतवादी को भी मरता आदमी, तड़पता व्यक्ति, बिलखती आत्मा, दुःखी मनुष्य, पीड़ित मानव दिखाई न पड़ा, नियतिवाद दिखाई पड़ा। वह बेचारा कुँए में तड़पता रहा।

कुछ समयोपरान्त वहीं से एक समाज सुधारक का निकलना हुआ। उसने भी आवाज सुनी और दौड़ा—दौड़ा कुँए के पास गया। उसने अपना दुःख प्रगट

किया और उससे कहा कि भारत के संविधान में लिखा है कि प्रत्येक कुएं पर पाट होना चाहिये, दीवार होना चाहिये, ताकि कोई गिर न पड़े। इस कुएं पर दीवाल नहीं है, इसलिये तुम गिर गये हो। हम तो, पता नहीं कितने दिनों से सरकार से माँग कर रहे हैं कि नगर के कुँओं पर दीवाल बनवा दो, लेकिन सरकार सुनती ही कहाँ है? अब सरकार की आँखें खुलेंगी। तुम चिन्ता मत करो, मैं अभी जाकर आंदोलन करूँगा। हजारों लोगों को लेकर जाऊँगा और कुँओं पर दीवार बनवाऊँगा, ताकि कोई गिर न सके।

डूबते हुए आदमी ने कहा, 'हड़ताल बाद में करना, पहले मुझे तो बचाओ, अन्यथा मैं मर जाऊँगा।' उस व्यक्ति ने कहा— एक आदमी के मरने—जीने से फर्क नहीं पड़ता। यह तो सबकी जिन्दगी का सवाल है। कल भी यह घटना घट सकती है। तुम अपने—आपको धन्य समझो। तुम शहीद हो। डूबते हुए व्यक्ति ने कहा — पहले मुझे निकाल लो। मैं मरने वाला हूँ, डाल टूटने वाली है, बाद में मैं तुम्हारे साथ चलूँगा। उसने कहा तुम कैसी उल्टी—उल्टी बात करते हो? तुम्हीं तो मेरे आन्दोलन के प्रत्यक्ष प्रमाण हो। अगर तुम्हें निकाल लूँगा तो मेरे पास प्रमाण कुछ न बचेगा अतः ऐसे ही लटके रहो। तुम्हारे मरने से कम—से—कम कुँओं का उद्धार तो हो जायेगा। मात्र तुम्हारे जीवन का सवाल नहीं, समस्त मनुष्यों के जीवन का सवाल है। और वह उपदेश देकर लोगों को एकत्र करने चला गया।

वह आदमी डूबता रहा, चिल्लाता रहा, लेकिन किसी ने भी उसे नहीं बचाया। उस समाज सुधारक ने हजारों लोग एकत्र कर लिए और संविधान का पन्ना खोलकर दिखाता रहा और उस कुँए के आदमी की ओर उसने कोई ध्यान नहीं दिया।

एक जैन श्रावक वहाँ से गुजरा। उसने भी उसकी आवाज सुनी। कुँए पर जाकर देखते ही जल्दी से अपने झोले से रस्सी निकाली। झोले में वह रस्सी रखे हुए था और अपने कपड़े उतारे और कुँए में कूद पड़ा और उस डूबते हुए व्यक्ति को बाहर निकाल लाया।

उस डूबते हुए आदमी ने कहा कि तुम ही एक ऐसे आदमी मिले जिसने

मुझे बचाया है। मैं जीवनपर्यन्त तुम्हारा दास रहूँगा। परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि पृथ्वी पर ऐसे ही महान लोग जन्म लेते रहें। आपने बहुत बड़ा उपकार किया है। मुझ जैसे अभागे को अभयदान दिया है। आपने मुझे मरने से बचा लिया है।

अन्तिम व्यक्ति व्यवहारी था। प्रथम व्यक्ति बौद्ध का अनुयायी था, दूसरा व्यक्ति सिद्धांतशास्त्री था, तीसरा व्यक्ति नियतवादी था, चौथा व्यक्ति नेता था। नेता हमेशा मन के रथ पर सवार रहते हैं। उन्हें दूसरों के दुःख से कोई मतलब नहीं होता है। उनका समग्र जीवन मान-सम्मान की धूल एकत्र करते हुए गुजर जाता है। सिद्धांतों के रटने से परमात्मा नहीं मिलता। जीवन का सत्य सिद्धान्त रटने से उजागर नहीं होता। उसे उजागर करने वाला तत्त्व है 'आचरण'। अगर आप जल गये हैं, जलन बहुत हो रही है, तो मात्र औषधि का नाम लेने से नहीं, पान करने से ठीक होता है। सिद्धान्त हर जगह हर समय काम नहीं आते। आचरण ही काम आता है।

अब आप स्वयं सोचिये कि उन सब में कौन-सा व्यक्ति श्रेष्ठ है? नियतिवादी तो क्रमबद्ध पर्याय पर छोड़कर चला गया, सिद्धांतवादी कर्म पर छोड़कर चला गया, समाज सुधारक नेता हड़ताल के चक्कर में चला गया और बौद्ध का अनुयायी संसार को दुःखमय बताकर पलायन कर गया। इन चारों से मरते हुए, डूबते हुए व्यक्ति की रक्षा नहीं हो सकी। साधारण सा आचरणवान एक श्रावक अभयदान दे रहा है। आचरण ही जीवन को महान बनाता है। याद रखो! जीवन रूपान्तरित होता है पाप के संवर से और संवर होता है सम्यक् आचरण से।

भगवान् महावीर कहते हैं — जो सम्यक् संवर का आदर करेगा, वह निश्चित आचरण को अपनायेगा और सम्यक् आचरण ही आदमी को आदमी से जोड़ता है। सम्यक् आचरण वही कर सकेगा जो संसार, शरीर भोगों से उदासीन होगा। इन तीनों से उदासीन होने वाला ही भावसंवर को उपलब्ध होता है। संवर प्रदर्शन से, दिग्दर्शन से नहीं, आत्मदर्शन से उपलब्ध होता है।

कर्मी का संवर करने के लिये सर्वप्रथम पाप का नाश करें, चारित्र का

पालन करें। कर्म भी आते रहें और संवर भी करते रहें, तो साधना समीचीन नहीं है। पानी भी गिरता रहे और पानी में खड़े होकर शरीर पोंछते रहें, कपड़े सुखाते रहें, तो न शरीर सूखेगा और न ही कपड़े सूखेंगे और मेहनत भी व्यर्थ चली जायेगी। संवर का अर्थ कर्मास्रव को रोकना है। अतः अपनी प्रत्येक क्रिया को यत्नाचारपूर्वक करें तथा अपनी शक्ति अनुसार व्रतों का पालन करें। व्रत जीवन को अनुशासित करते हैं और पापबन्ध से मुक्त कराते हैं। अतः संवर को प्राप्त करने के लिये व्रतों का पालन करें। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है —

अनादिकालीन राग—द्वेष और मोह के माध्यम से जो कर्मों का आस्रव रूपी प्रवाह अविरल रूपेण आ रहा है उसको आत्म पुरुषार्थ के बल पर रोक देना संवर कहलाता है। “आस्रव निरोधः संवरः।” कर्मों के आने के द्वारों को बन्द करने के लिए आचार्य उमास्वामी महाराज ने एक सूत्र दिया है—“स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः।”

जो व्यक्ति मोक्षमार्ग पर चलता है, चलना चाहता है, उसके लिये सर्व प्रथम संवर तत्त्व अपेक्षित है और संवर तत्त्व को निष्पन्न करने के लिये जो समर्थ हैं, वे ये हैं — गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र। ये माला है। इन्हीं मणियों के माध्यम से संवर होगा, और कोई भी शक्ति विश्व में नहीं है जो कर्मों का संवर कर सके।

“संवर कारणात् आत्मनः गोपनं गुप्तिः।”

संसार के कारणों से आत्मा की जो सुरक्षा कर देती है, उसका नाम है गुप्ति। जब गुप्ति के माध्यम से कर्मों का आना रुक जाता है, तब योग ठीक—ठीक काम कर सकता है। कर्मों का आना बना रहे और हम अपने गुणों का विकास करना चाहें तो तीनकाल में नहीं हो सकता। तीन गुप्तियाँ होती हैं और गुप्ति के अलावा संवर का और कोई उत्तम साधन नहीं है।

गुप्ति की प्राप्ति समिति के माध्यम से होती है और समिति को समीचीन बनाना चाहे तो दशलक्षण धर्म के बिना नहीं बन सकती और दशलक्षण धर्म का यदि हम सही—सही पालन करना चाहें, उत्तमता प्राप्त करना चाहें, तो बारह

भावनाओं का चिन्तन करेंगे तभी दशलक्षण धर्म उत्तम बन सकते हैं। बारह भावनाओं का चिन्तन करने के लिए योग्य परीषह कैसे सहन करें, तो हमारे आचार्य कहते हैं कि बिना चारित्र लिये बाईस परीषह सहन करना सही कोटि में नहीं आयेगा।

अर्थात् गुप्ति को समीचीन बनाने के लिये समिति, समिति को समीचीन बनाने के लिये धर्म और धर्म को सुरक्षित रखने के लिये अनुप्रेक्षा और अनुप्रेक्षा को समीचीन बनाने के लिये बाईस परीषह और बाईस परीषह बिना चारित्र को धारण किये नहीं हो सकते। आस्रव और बन्ध जो हो रहे हैं, वह हमारी कमजोरी है। उस ओर हम देखते हैं तो पुनः पुनः नया आस्रव और बन्ध होता चला जाता है और यदि हम उस ओर नहीं देखेंगे तथा अपने संवर रूपी पुरुषार्थ में लगे रहेंगे, तो कर्म उदय में आकर यूँ ही चले जायेंगे। अतः यदि हम संवर तत्त्व को ठीक-ठीक अपनाना चाहते हैं तो हमें उसके लिये "सगुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषह जय चारित्रैः" "रूपी हार पहनना चाहिये।

गुप्ति

जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा होती है, उसे गुप्ति कहते हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' जी में लिखा है—'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।'

मनवचनकाय इन तीन योगों का सम्यक् प्रकार निग्रह करना गुप्ति कहलाता है। सम्यक् का अर्थ यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक है। अतः गुप्ति सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है। अज्ञानी को गुप्ति नहीं होती। जिस जीव के गुप्ति होती है, उस जीव के विषय—सुख की अभिलाषा नहीं होती। यदि जीव के आकुलता रूप परिणाम हों तो उसके गुप्ति नहीं होती। आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज ने लिखा है —

पाप क्रियाओं से आत्मा को बचाना गुप्ति है। ये तीन हैं— मनो गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति।

मनो गुप्ति—मन को वश में करके धर्म ध्यान में लगाना तथा राग—द्वेष से अप्रभावित रखना मनोगुप्ति है।

वचन गुप्ति—मौन रहना या शास्त्रोक्त वचन कहना तथा असत्य वाणी का निरोध करना वचन गुप्ति है।

काय गुप्ति—एकासन से बैठना, ध्यान स्वाध्याय में काय को लगाना तथा शरीर को वश में रखकर हिंसादि क्रियाओं से दूर रहना काय गुप्ति है।

सम्यक् प्रकार निरोध मन, वच, काय आतम ध्यावते।

तिन सुथिर मुद्रा देख मृग गण, उपलखाज खुजावते॥

मन, वचन और काय को एकाग्र करके आत्मा का चिन्तन—मनन करना, ध्यान है। इस ध्यान की अवस्था में हिरण आदि जंगल के पशु उन्हें पत्थर का खम्भा समझकर खाज खुजाने लगते हैं, फिर भी मुनिराज ध्यान से विचलित नहीं होते। इसी को तीन गुप्ति विजय कहा जाता है।

**कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिनमाहिं त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते॥**

जितने कर्मों की निर्जरा अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मों तक तप करने से करता है। उतने कर्मों की निर्जरा त्रिगुप्ति के धारी मुनिराज क्षण भर में सहज में ही कर लेते हैं।

एक बार की बात है — राजा श्रेणिक ने जैन मुनियों की परीक्षा के लिये गुप्त रीति से राजमंदिर में एक गड्ढे में हड्डी, चर्म आदि भरवा दिये और रानी से कहा कि आप इस पवित्र स्थान पर मुनियों को आहार देना। रानी चेलना ने राजा के अभिप्राय को जान लिया और धर्म का अपमान न होने पावे, इसलिये आहार के लिये आये मुनिराजों को नमस्कार करके कहा — हे मनोगुप्ति आदि त्रिगुप्ति वाले पुरुषोत्तम मुनिराजो! आप आहारार्थ राजमंदिर में तिष्ठें। इतना सुनते ही तीन मुनिराज दो उंगलियों को उठाकर वापस चले गये। केवल गुणसागर मुनिराज अवधिज्ञानी थे, वे त्रिगुप्ति के धारक थे, अतः आ गये। वे भोजनालय तक गये, किन्तु अवधिज्ञान के बल से उन्हें शीघ्र ही अपवित्रता का ज्ञान हो गया और वे मौन छोड़कर स्पष्ट बात बताकर बिना आहार किये वन में चले गये।

बाद में राजा श्रेणिक ने वापिस गये मुनिराजों से विनम्र हो उंगली उठाने के बारे में पूछा। प्रथम धर्मघोष मुनिराज बोले—राजन्। मैं एक समय कौशांबी नगरी के मंत्री गरुडबेग के घर पर आहार कर रहा था। उनकी पत्नी के हाथ से अकस्मात् एक ग्रास नीचे गिर गया। उस समय मेरी दृष्टि नीचे गई, गरुडदत्ता के पैर का अँगूठा देख कर मेरे मन में अचानक मेरी पत्नी लक्ष्मीमती के अँगूठे की याद आ गई। उस समय से आज तक मुझे मनोगुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है।

द्वितीय जिनपाल मुनिराज से प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि — राजा वसुपाल की वसुकांता कन्या के लिये चंड प्रद्योतन का वसुपाल के साथ युद्ध हो रहा था। वसुपाल धर्मात्मा था। उसके हारने का प्रसंग देखकर एक मनुष्य ने कहा कि दर्शनार्थ आये हुये राजा को आप अभयदान दे दीजिये, परन्तु मैंने

अपना कर्तव्य न समझ मौन रखा, किन्तु उस समय वनरक्षिका देवी ने दिव्यवाणी से अभयदान सूचक आशीर्वाद दे दिया। राजा ने तथा सबने मेरा आशीर्वाद ही समझा। कालान्तर में इसका स्पष्टीकरण भी हो गया, फिर भी उसी कारण से मुझे आज तक वचन गुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है।

तृतीय मणिमाली मुनिराज से प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि मैं उज्जयिनी के श्मशान में मुर्दे के आसन से ध्यान में लीन था। तभी एक मंत्रवादी बेताली दो अन्य मुर्दों को मेरे समीप खींच लाया और मुझे मृतक समझ तीनों के सिर का चूल्हा बनाकर उसमें अग्नि जलाई और एक मृतक कपाल रखकर खीर पकाने लगा। अग्नि की ज्वाला से यद्यपि मैं नरकादि दुःखों का स्मरण करने लगा तथा आत्मा को शरीर से भिन्न चिंतवने करने लगा, किन्तु मेरा मस्तक हिलने से वह खीर गिर गई और अग्नि शांत हो गई। मंत्रवादी ने समझा कि कोई भूत आ गया है, इसलिए डरकर भाग गया। प्रातः गाँव से जिनदत्त सेठ आकर मुझे ले गये और तुंगारी के यहाँ से लक्षपाक तेल लाकर अनेक औषधियों से मेरा उपचार किया। तब से मुझ में अभी तक कायगुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है।

यह सुनकर राजा श्रेणिक गद्गद् हो गया और बोला—हे भगवान्! मैंने बहुत बड़ा अनर्थ किया जो ऐसे वितरागी मुनिराजों की परीक्षा लेने गया। जो मुनि त्रिगुप्ति के पालक होते हैं, वे नियम से अवधिज्ञानी होते हैं। तीनों में से यदि एक भी गुप्ति नहीं है तो अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इनमें से एक भी ज्ञान प्रगट नहीं हो सकता।

जो मुनिराज पूर्णतया मन, वचन, काय के व्यापारों का निरोध कर क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होते हैं, वे समस्त घातिया कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञानी अरहन्त परमात्मा बन जाते हैं और बाद में चार अघातिया कर्मों का भी क्षय कर अशरीरी सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

सभी को इन तीन गुप्तियों की प्राप्ति की भावना भानी चाहिये तथा सदा अपने मन, वचन व काय को अशुभ से बचाकर धर्मध्यान में लगाये रखना चाहिये।

समिति

मुनिराज त्रस और स्थावर जीवों को बचाने के लिए नवकोटि आरम्भ के त्यागी होते हैं। धर्म निवृत्ति रूप में आचरण ही कर्म बन्धन का विनाश करता है तो भी मुनिराजों को कुछ प्रवृत्ति रूप चलना—फिरना, खाना स्वाध्याय करना, उपदेश देना, पुस्तकादि धरना—उठाना इत्यादि कार्य करना पड़ता है। इनके लिए प्रमादरहित यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना आवश्यक हो जाती है। इसी को समिति कहते हैं। इस प्रकार जब मुनिराज निवृत्तिरूप महाव्रत में नहीं ठहर सकते, तब भली प्रकार देखकर विचारपूर्वक मन, वचन काय से यथायोग्य श्रुतानुकूल प्रवृत्ति करते हैं। ये समितियाँ निम्न पाँच प्रकार की होती हैं।

इरिया—भासा—एसण—णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।

पदिठावणिया य तहा उच्चरादीण पंचविहा।।

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, प्रतिष्ठापन समिति इन पाँच समितियों में ही संसारी जीवों का सम्पूर्ण व्यवहार गर्भित हो जाता है।

1. **ईर्या समिति** — ईर्या का अर्थ गमन होता है। चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्ध मार्ग में चलना। चलने में षट्काय जीवों की विराधना नहीं करना, ईर्या समिति है।

2. **भाषा समिति** — हित, मित और प्रिय वचन बोलना। भाषा समिति ही मुनि को लोक में पूज्य बनाती है। सत्य वचन का आवश्यकतानुसार उच्चारण करना ही भाषा समिति है। कर्कश, गर्वयुक्त, निष्ठुर, उपहास एवं व्यर्थ भाषण नहीं करना चाहिए। इसमें वह शक्ति है, जिससे कर्म बन्धन ढीले हो जाते हैं। कषायरहित वचनों में एक प्रकार का आकर्षण हुआ करता है, इसलिए वचन बोलने में साधुओं को सदा सावधान रहना चाहिए।

3. एषणा समिति — श्रावक के घर विधिपूर्वक दिन में एक बार निर्दोष आहार लेना एषणा समिति है। 46 दोष तथा 32 अन्तराय रहित शुद्ध प्रासुक भोजन धर्मसाधन में सहायक होता है।

4. आदाननिक्षेपण समिति — सावधानीपूर्वक निर्जन्तुक स्थान को देखकर वस्तु को रखना, देना तथा उठाना, शास्त्र, पिच्छ, कमण्डलु इत्यादि को पहले अच्छी तरह देखना, फिर बड़ी सावधानी से पिच्छ से परिमार्जन करके उठाना एवं रखना आदाननिक्षेपण समिति है।

5. प्रतिष्ठापन समिति — जीवरहित, जनसंचाररहित, हरित काय व त्रस जीव आदि रहित तथा बिल व छेदों से रहित, जहाँ लोक— निन्दा न करें, कोई विरोध न करे, ऐसे स्थान पर मल—मूत्रादि क्षेपण करना, प्रतिष्ठापन समिति है।

समिति पालन की महिमा — जैसे रणभूमि में दृढ़ कवच धारण करने वाला पुरुष बाणों की वर्षा में भी बाणों से नहीं भेदा जाता, उसी प्रकार समिति धारक साधु षट्कायिक जीवों से व्याप्त लोक में प्रवृत्ति करता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता।

ये पाँचों समितियाँ कर्मविनाश की कारण हैं, इसलिये इन्हें साधना पथ का मूल माना गया है।

श्री सुधासागर जी महाराज ने लिखा है—समितियों का पालन करने वाले मुनिराज दूसरे जीवों की पीड़ा को सुन लेते हैं। हमें यह मनुष्य पर्याय कितनी मेहनत से मिली है ? एकेन्द्रिय पर्याय को छोड़कर कितनी मुश्किल से पंचेन्द्रिय पर्याय में आये हैं? पंचेन्द्रिय पर्याय तक आने की कहानी कितनी दर्दनाक है। एकेन्द्रिय में अनन्त भव व्यतीत कर तुम दो इन्द्रिय बन गये। किसी नाली के कीड़े बन गये, किसी ने फिनाइल डाली तो तड़प—तड़प कर मर गये। किसी ने चाँदी धोकर तेजाब नाली में गिरा दी, तो तुम्हारा शरीर जल गया और तुम तड़प—तड़प कर मर गए। वहाँ से जैसे—तैसे दौड़ लगाई। वहाँ से भोगों के प्रति मंद कषाय हुई, तो तीन इन्द्रिय बन गये। फिर खटमल बन गये, किसी ने खाट में मिट्टी का तेल डाला तो किसी ने लोहे के पलंग में करंट लगा दिया, सभी

मारे गये। चींटी बन गये, सड़क पर जा रहे थे, गाड़ियाँ ऊपर से निकल गईं। कितनी वेदना होती है? भैया! जब कोई गाड़ी तुम्हारे ऊपर से निकल जाये तो उस समय तुम्हें कितनी वेदना होगी? सोचना कभी। और चींटी के ऊपर से गाड़ी निकलती है तो उसे भी उतनी ही वेदना होती है, क्योंकि वह भी आत्मा है, वह भी दुःखी होती है। फर्क इतना है कि तुम चिल्ला पड़ते हो और वह जोर से चिल्ला नहीं पाती। आपकी गाड़ी कितनी चींटियों को रेंदते हुई चली जाती है? उनकी आवाज तुम सुन नहीं पाते और उनकी आवाज हम मुनि लोग सुन पाते हैं तो कुछ कर नहीं पाते। हम लोगों को उनकी आवाज सुनाई देती है, इसलिये हम मुनियों को कहा है कि ईर्या समिति का पालन करो। मुनिराज एकेन्द्रिय पेड़ों की भी आवाज सुनते हैं। उनकी भी करुण आवाज को सुनते हैं। इसलिये घास के ऊपर पैर नहीं रखते और तुम इसलिए घास पर तो पैर पसार कर सो जाते हो। यह नहीं सोचते कि मेरे 60 कि.ग्रा. वजन से इस एकेन्द्रिय जीव की क्या दशा हो रही होगी?

तुम्हारी अँगुली पर किसी का पैर पड़ जाये तो चिल्ला पड़ते हो, गालियाँ देते हो और कहते हो, 'अंधा है क्या? दिखता नहीं? मेरी अँगुली दबा दी' और घास पर तुम घण्टों खड़े रहते हो? तुम्हें एक बार भनक भी नहीं लगती कि मेरी 60 किलो की काया से इस जीव की क्या दशा हो रही होगी? वह मेरे वजन से तड़प रहा होगा। घास की आवाज तुम्हारे कानों में कहाँ आती है? साधु सुन लेता है और इसलिये एकेन्द्रिय को भी बचाता है।

भगवान् महावीर के सम्बन्ध में एक उदाहरण है कि उनकी माता, जब वे छोटे थे, महावीर की अँगुली पकड़ कर बगीचे में घूम रहीं थीं। उसी समय माँ ने घास पर पैर रख दिया तो महावीर चीख उठे कि माँ! देखो तुम्हारा पैर मेरी पीठ पर पड़ गया। माँ ने कहा कि यह तू क्या कह रहा है, तू चीख क्यों रहा है? तब महावीर ने कहा कि माँ! तूने मेरी पीठ पर पैर रखा। मैं पीठ पर पैर रखूँगी? कभी संभव नहीं। माँ! अभी भी रखे हो पैर। कहाँ रखे हूँ? मेरा पैर तो घास पर है। पैर घास पर और दर्द पीठ पर, यह विरोधाभास नहीं है क्या? बालक महावीर घास की तरफ इशारा करके कहते हैं—देखो न। यह आपके पैर

मेरी पीठ पर हैं। कितना विरोधाभास, घास में पीठ का अहसास। हाथ दिखा रहा है सामने और कह रहा है कि पैर मेरी पीठ पर है, किन्तु हाथ तो घास की तरफ और कह रहे हैं कि माँ! अभी भी पीठ पर पैर रखे हो। मुझे बहुत तकलीफ हो रही है। माँ कहती है कि मैं तो घास पर पैर रखे हूँ। तेरी पीठ पर कहाँ खड़ी हूँ? माँ! बस, इतना ही तो अंतर है। मुझे सारी दुनियाँ की आत्मायें अपनी आत्मा जैसी दिखती हैं। सारी दुनियाँ दुःखमय होती है, तो मैं भी दुःखी हो जाता हूँ और जब सारी दुनियाँ सुखमय होती है, तो मैं भी सुखी हो जाता हूँ।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले जीव की ऐसी ही दशा होती है। वह सारी दुनियाँ का दुःख अपनी आत्मा का दुःख मान लेता है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध तप से नहीं होता है, किसी और कारण से नहीं होता। घोर तप कर लें तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होगा। घोर उपसर्ग सहन कर लें तो भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होगा। तीर्थंकर प्रकृति का बंध उसे होता है जो दुनियाँ के प्रत्येक प्राणी की आत्मा के प्रति आत्मीय परिणाम जगाता है। अपाय विचय, विपाक विचय धर्म्यध्यान में तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। शुक्ल ध्यान में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपातीत ध्यान में भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता। आर्त, रौद्र ध्यान में तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध संभव ही नहीं। धर्म्यध्यान में भी अपाय विचय, विपाक विचय, दो ही धर्म्यध्यान विशेष रूप से तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण हैं। ये दो धर्म्यध्यान जब सम्यग्दृष्टि के तीव्रता पर पहुँच जाते हैं, तो उस जीव को तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है। षट्काय के जीवों की रक्षा करने के लिये मुनिराज सदा इन पाँच समितियों का पालन करते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र जी ने लिखा है — पैर रखते ही पाप लगता है और आँख उठाते ही जहर चढ़ता है अर्थात् कहीं भी देखता हूँ तो राग—द्वेष रूपी जहर चढ़ने लगता है। अतः त्रस जीवों की रक्षा के लिए तथा राग—द्वेष से बचने के लिये इन समितियों का पालन करना अनिवार्य है। सभी को सदा ऐसी भावना भानी चाहिए कि मेरे मन से, वचन से व काय से किसी भी जीव की विराधना न हो और मेरी प्रत्येक क्रिया यत्नाचार पूर्वक हो।

परीषह जय

धर्म मार्ग में स्थिर रहने के लिए तथा कर्मबन्ध के विनाश के लिए समस्त प्रतिकूल विचारों और परिस्थितियों को समतापूर्वक सहन करते रहकर चलना परीषह जय है। कहा है — “मार्गाच्यवननिर्जरार्थ परिषोढव्याः परिषहाः”

परीषह शब्द “परि” और ‘षह’ इन दोनों शब्दों के सम्मेलन से बना है। ‘परि’ अर्थात् सब ओर से, सह अर्थात् सहन करना अर्थात् आन्तरिक सद् संवेदनाओं से तथा बाह्य संयोगों—वियोगों से उत्पन्न सभी प्रकार के कष्टों तथा दुःखों को समतापूर्वक सहन करना ही परीषह जय है। परीषह 22 प्रकार के होते हैं :—

1. क्षुधा 2. तृषा 3. शीत 4. उष्ण 5. दंशमशक 6. नग्नता 7. अरति 8. स्त्री 9. चर्या (चलने की) 10. निषद्या (बैठने की) 11. शय्या 12. आक्रोश (गाली आदि) 13. वध 14. याचना (माँगने के अवसर पर भी न माँगना) 15. अलाभ (भोजन में अंतराय आने पर संतोष) 16. रोग 17. तृण स्पर्श 18. मल 19. सत्कार—पुरस्कार (आदर—निरादर) 20. प्रज्ञा (ज्ञान का मद न करना) 21. अज्ञान (अज्ञान पर खेद न करना) 22. अदर्शन (श्रद्धा न बिगाड़ना)

बाईस परीषहों को सहन करना संवर का कारण है। समतापूर्वक परीषहों को सहन करने से कर्मों का आस्रव रुकता है।

दिगम्बर मुनिराज बाईस परीषहों को जीतने वाले होते हैं, अटूट समता के धारक होते हैं और शान्ति के पुजारी होते हैं। समताधारियों के अनेक दृष्टान्त शास्त्रों में हमें मिलते हैं। जैसे— गजकुमार मुनि के सिर पर अंगीठी जलाई गयी, पाण्डवों के शरीर पर लोहे को तपा—तपा कर दुर्योधन के भांजे ने गहने पहनाये, सुकमाल मुनि को स्यालिनी और उसके बच्चों ने खाया तथा पाँच सौ मुनियों को दण्डक राजा ने घानी में पिलवा डाला। इन सभी ने ऐसे अवसरों पर अटूट

समता को धारण किया और परीषह व उपसर्ग विजयी बने तथा कल्याण को प्राप्त हुए।

दण्डक नाम की एक नगरी थी, जिसका राजा दंडक था। यहाँ की रानी और राजा स्वयं वीतराग धर्म के बहुत विरोधी थे। प्रतिदिन वीतराग साधु की निन्दा किया करते थे। एक बार यह दंडक राजा जंगल में घूमने के लिए चल दिया। वहीं जंगल में एक वीतरागी साधु ध्यान में मग्न बैठे थे। अतः इन्हें देखते ही राजा की दुर्भावना प्रबल हो उठी। राजा साधु के गले में सांप डालता है और तमाशा देखने को बैठ जाता है। एक दूसरा व्यक्ति जो वीतराग साधु का भक्त था, आता है और सांप को गले से अलग कर देता है। कुछ समय बाद मुनि महाराज का ध्यान टूटता है, तो सामने बैठे दोनों को आशीर्वाद देते हैं। दंडक राजा विचार करता है कि ये साधु तो महान होते हैं, इन्होंने पूजक और निन्दक दोनों को समान आशीर्वाद दिया और वह प्रभावित हो निर्णय लेता है कि आज से मैं दिगम्बर वीतरागी सन्तों की पूजा करूँगा, विरोध नहीं करूँगा। इस प्रकार श्रद्धान लेकर वह अपने महल में आकर रानी से कहता है कि आज से तुम भी वीतरागी साधुओं की पूजा किया करो। रानी तो सरागी साधुओं को मानती थी, अतः राजा को वीतरागी साधुओं का भक्त बना देखकर विचारने लगी कि क्या उपाय किया जाये जिससे राजा का इनके प्रति श्रद्धान नष्ट हो जाये। अतः वह एक सरागी साधु को बुलाकर लाने का निर्णय लेती है। दोनों योजना बना लेते हैं कि राजा के सामने सरागी साधु दिगम्बर मुनि का वेश धारण कर रानी से विकारयुक्त बातचीत करेगा। ऐसा ही वे जब राजा के सामने करते हैं तो राजा दंडक बहुत दुःखित होता हुआ उसे महल से बाहर निकलवा देता है और पुनः वीतरागी साधुओं का विरोधी हो जाता है। वह अपनी रानी की मायाचारी से पूर्णतः अनभिज्ञ रहता है।

एक दिन इसी दंडक नगरी में 500 मुनियों का संघ विहार करता हुआ आता है। राजा विचार करने लगता है कि एक जैन साधु मेरी रानी को भ्रष्ट करने पर तुला था, ये 500 साधु तो सारा नगर बिगाड़ देंगे। अतः बिना सोचे-समझे आदेश देता है कि सब साधुओं को घानी में पेल दिया जावे। आदेश

पाते ही सभी 500 साधुओं को घानी में पेल दिया गया। सभी दिगम्बर वीतरागी सन्त अटूट समता को धारण कर अपनी आत्म साधना में लीन हो जाते हैं और स्वर्ग आदि चले जाते हैं।

कुछ दिनों के बाद एक मुनिराज विहार करते हुए इसी नगरी की ओर आते हैं। नगर से बाहर लोगों ने बताया कि इस नगर में 500 मुनि घानी में पले जा चुके हैं, अतः इस दंडक नगरी में प्रवेश न करें, आपके साथ भी यही किया जावेगा। मुनिराज ने यह सुनकर समता छोड़ दी, क्रोध आ गया, बायें हाथ से बिलाव के आकार का अग्निमय पुतला निकलता है और सम्पूर्ण दंडक नगर को राजा-रानी सहित भस्म कर डालता है। लौटकर यह पुतला मुनिराज को भी भस्म कर देता है। राजा-रानी और मुनिराज सभी नरक चले जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समता धारण करने से ही कल्याण है और कषायों के कारण अधोगति में घूमना पड़ता है।

वर्तमान युग में महान तपस्वी सन्त चारित्र चक्रवर्ती परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज हुए हैं। उनके जीवन में समता कूट-कूट कर भरी थी, यह निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है —

आचार्य श्री शान्तिसागर जी (दक्षिण) अपराहन में किसी एक जिन- मंदिर में सामायिक करने की तैयारी कर रहे थे। मंदिर का पुजारी अपना काम समाप्त कर दीपक जलाकर, मंदिर के द्वार बन्द कर, अपने घर चला गया। मुनिराज ध्यान में बैठ जाते हैं। पुजारी घर पर जाकर अन्य कार्यों से निवृत्त होकर सो जाता है।

इधर जिन-मंदिर में जब पुजारी ने दीपक जलाया तो दीपक से कुछ घी फर्श पर गिर जाता है। इस घी पर लाखों चींटियाँ आ जाती हैं और वहाँ ध्यानस्थ मुनिराज के गुप्तांग पर चिपट जाती हैं। महाराज सामायिक में उतर चुके थे। अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा में समाहित हो, मग्न थे। शरीर अर्थात् 'पर' वस्तु को 'पर' जान रहे थे, अपनी आत्मा को, स्व को स्व अनुभव कर रहे थे।

इधर पुजारी को घर पर स्वप्न आता है, कोई कह रहा है कि "जाओ मंदिर में महाराज पर चींटियों का आक्रमण हो चुका है, उसे दूर करो। पुजारी की नींद

खुलती है, वह तुरन्त मंदिर आता है। मंदिर खोलता है तो देखता क्या है कि, गुप्तांग से रुधिर बह रहा है, महाराज निश्चल ध्यान में मग्न हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि महासमता के धारी मुनिराज आचार्य शान्तिसागर महाराज सामायिक से च्युत नहीं हुए, जो यह सिद्ध करता है कि आज के इस आधुनिक काल में भी वीतरागी दिगम्बर संत, समता के धारी मुनिराज पाये जाते हैं, जो क्षुधादि 22 परीषहों को समतापूर्वक जीतते हैं।

नग्न रहना भी एक परीषह है, जिसे साधारण मनुष्य सहन नहीं कर सकता। नग्न रहना सरल नहीं है। यह बाईस परीषहों में विशेष परीषह माना जाता है। कहा भी गया है कि —

अन्तर विषय—वासना बरतै, बाहर लोक—लाज भय भारी।

यातैं परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहिं सकै दीन संसारी॥

ऐसी दुर्द्धर नग्न परीषह जीतैं, साधु शीलव्रत धारी।

निर्विकार बालकवत् निर्भय, तिनके चरणों धोक हमारी॥

ऐसे शीलव्रत को धारण करने वाले मुनिराज ही दिगम्बर होते हैं। ऐसे शीलवान मुनि का व्यक्तित्व चमत्कारपूर्ण हो जाया करता है। ऐसे चमत्कारिक मुनि वर्तमान युग में आचार्य शान्तिसागर महाराज (छाणी) हुए हैं, इनके जीवन से संबंधित एक चमत्कारपूर्ण घटना निम्न दृष्टांत में दृष्टव्य है — मध्यप्रदेश में बड़वानी के निकट आचार्य शान्तिसागर महाराज का मंगल विहार हो रहा था। वहाँ पर कुछ विरोधी तत्त्वों ने दिगम्बर मुनिराज का विरोध किया। परिणामस्वरूप विहार को रोक दिया गया। ऐसी परिस्थितियों में आचार्यश्री सड़क पर ही पद्मासन लगाकर ध्यानमग्न हो गये। कुछ अनुयाइयों ने आचार्यश्री को घेरे में ले रखा था, किन्तु विरोधियों की अपेक्षा अनुयायी अपर्याप्त थे।

असामाजिक तत्त्व अब एक नई चाल चलते हुए एक ट्रक को भीड़ में भेजते हैं, और इनका नेता आदेश देता है कि — ये ऐसे नहीं मानेंगे, ट्रक को मुनिराज पर चढ़ा दिया जावे। ट्रक आता है तेजी से, मुनिराज की ओर बढ़ता है, किन्तु यह देख सभी आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि जैसे ही ट्रक मुनिराज के निकट आया तो ट्रक का पहिया निकल जाता है और ट्रक पलट जाता है और इस

प्रकार ट्रक मुनिराज को छू भी नहीं पाता। यह चमत्कार की घटना जंगल में आग की तरह चारों ओर फैल जाती है। सभी विरोधी सहम जाते हैं। विरोधियों का नेता आता है और मुनिराज के चरणों में नतमस्तक हो जाता है। क्षमा माँगता है, पश्चाताप करता है। मुनिराज ध्यान से बाहर आते हैं, सभी को क्षमा प्रदान करते हैं और अपना मंगल आशीर्वाद देते हैं। सभी विरोधी भव्यता से मंगल विहार कराते हैं।

इस प्रकार आज भी दिगम्बर मुनिराजों में सम्यक् तपस्या के बल पर चमत्कारिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे असामाजिक तत्त्व बहुत प्रभावित होकर अपने अवगुणों को सहज ही दूर कर लेते हैं। यह दृष्टान्त यह भी सिद्ध करता है कि वीतरागी दिगम्बर सन्त सदैव शत्रु — मित्र में कोई भेद नहीं करते। सभी को समान दृष्टि से देखते हैं और समतापूर्वक 22 परीषदों को सहन करते हैं।

ऐसे अनेक मुनिराज हुये, जिन्होंने इन परीषदों पर विजय प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त कर लिया।

धर्मघोष मुनिराज ने तृषा परीषद पर विजय प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। धर्ममूर्ति, परम तपस्वी धर्मघोष मुनिराज एक माह के उपवास के बाद चम्पापुरी नगरी में पारणा के अर्थ गये थे। पारण करके तपोवन की ओर लौटते हुए रास्ता भूल गये, जिससे चलने में अधिक परिश्रम हुआ और उन्हें तृषा वेदना उत्पन्न हो गई। वे गंगा किनारे आकर एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठ गये। उन्हें प्यास से व्याकुल देख गंगादेवी पवित्र जल से भरा हुआ लोटा लाकर बोली—योगिराज! मैं ठण्डा जल लाई हूँ, आप इसे पीकर अपनी प्यास शांत कीजिए। मुनिराज ने जल तो ग्रहण नहीं किया और प्राणहरण करनेवाली तृषा वेदना के मात्र ज्ञाता—दृष्टा बनते हुए ध्यानारूढ़ हो गये। यह देख देवी चकित हुई और विदेहक्षेत्र में जाकर प्रश्न किया कि जब मुनिराज प्यासे हैं तब जल ग्रहण क्यों नहीं करते ? वहाँ गणधर देव ने उत्तर दिया कि दिगम्बर साधु न तो असमय में भोजन—पान ग्रहण करते हैं और न देवों द्वारा दिया हुआ आहार आदि ही ग्रहण करते हैं। यह सुनकर देवी बहुत प्रभावित हुई और उसने

मुनिराज को शान्ति प्राप्त कराने हेतु उनके चारों ओर सुगन्धित और ठण्डे जल की वर्षा प्रारम्भ कर दी। यहाँ मुनिराज ने आत्मोत्थ अनुपम सुख के रसास्वादन द्वारा कर्मोत्पन्न तृषावेदना पर विजय प्राप्त की और चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

श्री दत्त मुनिराज ने शीत परीषह पर विजय प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त किया। इलावर्धन नगरी के राजा का नाम जितशत्रु था। उनकी इला नाम की रानी थी, जिससे श्रीदत्त नाम के पुत्र ने जन्म लिया। श्रीदत्त कुमार का विवाह अयोध्या के राजा अंशुमान की पुत्री अंशुमती से हुआ था। अंशुमती ने एक तोता पाल रखा था। चौपड़ आदि खेलते हुए जब राजा विजयी होता तब तो तोता एक रेखा खींचता और जब रानी जीतती थी तब तोता चालाकी से दो रेखाएँ खींच देता था। उसकी यह शरारत राजा ने दो चार बार तो सहन कर ली, आखिर उसे गुस्सा आ गया और उसने तोते की गर्दन मरोड़ दी। तोता मरकर व्यन्तर देव हुआ। श्रीदत्त राजा को एक दिन बादल की टुकड़ी को छिन्न—भिन्न होते देखकर वैराग्य हो गया और उन्होंने संसार परिभ्रमण का अन्त करने वाली जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। अनेक प्रकार के कठोर तपश्चरण करते हुए और अनेक देशों में विहार करते हुए श्रीदत्त मुनिराज इलावर्धन नगरी में आए और नगर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान से खड़े हो गये। ठंड कड़ाके की पड़ रही थी। उसी समय शुकचर व्यन्तर देव ने पूर्व बैर के कारण मुनिराज पर घोर उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया। वैसे ही ठंड का समय था और देव ने शरीर को छिन्न—भिन्न कर देने वाली खूब ठंडी हवा चलाई, पानी बरसाया तथा खूब ओले गिराये। पर मुनिराज ने अपने धैर्यरूपी गर्भगृह में बैठ कर तथा समतारूपी कपाट बंद करके संयमादि गुण—रत्नों को उस जल के प्रवाह में नहीं बहने दिया, उसके फलस्वरूप वे उसी समय केवलज्ञान को प्राप्त करते हुए मोक्ष पधारे।

वृषभसेन मुनिराज ने उष्ण परीषह पर विजय प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उज्जैन के राजा प्रद्योत एक दिन हाथी पर बैठकर हाथी पकड़ने के लिये जंगल की ओर जा रहे थे। रास्ते में हाथी उन्मत्त हो उठा और इन्हें भगाकर बहुत दूर ले गया। राजा प्रद्योत एक वृक्ष की डाल पकड़कर ज्यों—त्यों

बचे। प्यास से व्याकुल चलते हुए ये खेट ग्राम के कुँए पर पहुँचे। उसी समय जल भरने के निमित्त आई हुई जिनपाल की पुत्री जिनदत्ता ने उन्हें जल पिलाया और पिता से जाकर सब समाचार कह दिये। ये कोई महापुरुष हैं, ऐसा विचार कर जिनपाल उन्हें आदर—सत्कारपूर्वक अपने घर ले गया और जिनदत्ता के साथ उनकी शादी कर दी। जिनदत्ता को पटरानी के पद पर नियुक्त कर राजा सुख से रहने लगा। समय पाकर उन दोनों के वृषभसेन नाम का पुत्र हुआ। वृषभसेन जब आठ वर्ष के थे तब राजा प्रद्योत पुत्र को राज्यभार देकर दीक्षा लेना चाहते थे।

पुत्र ने दीक्षा लेने का कारण पूछा तो पिता ने कहा—बेटा! राज्य का भोग भोगते हुए सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती। उसके लिये तपश्चरण आवश्यक है। सच्चे सुख की बात सुनकर बहुत समझाये जाने पर भी पुत्र ने इन्द्रियसुखों के कारणभूत राज्य को ग्रहण नहीं किया और पिता के साथ ही उसने भी जिनदीक्षा धारण कर ली।

वृषभसेन मुनिराज तपस्या करते हुए अकेले ही अनेक देशों में घूमते हुए कौशाम्बी नगर में आये और छोटी—सी पहाड़ी पर ठहर गये। गर्मी का समय था, धूप तेज पड़ रही थी। मुनिराज एक पवित्र शिला पर बैठ कर ध्यान करते थे। कड़ी धूप में इस प्रकार की योग साधना तथा आत्मतेज से उनके शरीर का सौन्दर्य इतना दैदीप्यमान हो उठा कि लोगों के हृदयों में उनकी श्रद्धा अति दृढ़ होती गई और जैनधर्म का प्रभाव वृद्धिगत होने लगा एक दिन मुनिराज जब शहर में आहारचर्या को गये थे, तब जैनधर्म के प्रभाव को सहन न कर सकने वाले बौद्ध बुद्धदास ने उस शिला को अग्नि से संतप्त करके लाल कर दिया। महाराजश्री जब आहार से लौटे तब उस शिला को अग्नि से तप्त देखा, किन्तु अपनी प्रतिज्ञानुसार वे उसी शिला पर बैठ गये। उस समय उन्होंने अपने भौतिक शरीर से मोह का परित्याग कर चारों आराधनाओं की शरण ली और भेदविज्ञान के बल से आठों कर्मों को नाश कर निर्वाण लाभ किया।

अभयघोष मुनिराज ने वध परीषद पर विजय प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त किया। काकन्दीपुर में राजा अभयघोष राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम

अभयमती था। इन दोनों में अत्यन्त प्रीति थी। एक दिन राजा अभयघोष घूमने जा रहे थे। रास्ते में इन्हें एक मल्लाह मिला, जो जीवित कछुए के चारों पैर बांध कर लकड़ी में लटकाये हुये जा रहा था। राजा ने अज्ञानतावश तलवार से उसके चारों पैर काट दिये। कछुआ तडफड़ाकर मर गया और अकाम निर्जरा के फल से उसी राजा का चण्डवेग नाम का पुत्र हुआ।

एक दिन चन्द्रग्रहण देखकर राजा को वैराग्य हो गया। उसने पुत्र को राज्यभार सौंपकर दीक्षा धारण कर ली। वे कई वर्षों तक गुरु के समीप रहे। इसके बाद संसार—समुद्र से पार करने वाले और जन्म, जरा, मृत्यु को नष्ट करने वाले अपने गुरुमहाराज से आज्ञा लेकर और उन्हें नमस्कार करके धर्मोपदेशार्थ अकेले ही विहार कर गये। इसके कितने ही वर्षों बाद वे घूमते—घूमते काकन्दीपुर आये और वीरासन से स्थित होकर तपस्या करने लगे। इसी समय कछुआचर उनका पुत्र चण्डवेग वहाँ से आ निकला और पूर्वभव (कछुआ की पर्याय) की कषाय के संस्कारवश तीव्र क्रोध से अन्धे होते हुए उस चण्डवेग ने उनके हाथ—पैर काट डाले और तीव्र कष्ट दिया। इस भयंकर उपसर्ग के आ जाने पर भी अभयघोष मुनिराज मेरु सदृश निश्चल रहे और शुक्लध्यान के बल से अक्षयानन्त मोक्ष—लाभ किया।

विद्युच्चर मुनिराज ने डंसमसक परीषह पर विजय प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। मिथिलापुर के राजा वामरथ के राज्य में यम दण्ड नाम का कोतवाल और विद्युच्चर नाम का चोर था। विद्युच्चर चोरियाँ बहुत करता था, पर अपनी चालाकी के कारण पकड़ा नहीं जाता था। वह दिन को कुष्ठी का रूप धारण कर किसी शून्य मंदिर में गरीब बनकर रहता था और रात्रि में दिव्य मनुष्य का रूप धारण कर चोरी करता था। एक दिन उसने अपने दिव्य रूप से राजा को मोहित कर उनके देखते—देखते हार चुरा लिया। राजा ने कोतवाल को बुलाकर सात दिन के भीतर चोर को पकड़ लाने की आज्ञा दी। छह दिन व्यतीत हो जाने पर भी चोर नहीं पकड़ा गया, सातवें दिन देवी के सुनसान मंदिर में एक कोढ़ी को पड़ा हुआ देखकर कोतवाल को उस पर सन्देह हुआ और उसने उसे बहुत अधिक मार लगाई, परन्तु कोढ़ी ने अपने को चोर स्वीकार

नहीं किया। तब राजा ने कहा — अच्छा, मैं तेरा सर्व अपराध क्षमा करता हूँ, तू यथार्थ बात बतला दे। अभय की बात सुनते ही कोढ़ी रूप धारी विद्युच्चर बोला—महाराज ! मैं आंभीर प्रान्त के अन्तर्गत बेनातट शहर के राजा जितशत्रु और रानी जयावती का विद्युच्चर नाम का पुत्र हूँ और यह यमदण्ड उसी राजा के यमपाश कोतवाल का पुत्र है। मैंने बचपन में विनोद के लिये चौर्यशास्त्र का अध्ययन किया था और अपने मित्र यमदण्ड से कहा था कि जहाँ आप कोतवाली करेंगे, वहीं मैं चोरी करूँगा। हम दोनों के पिता अपना अपना कार्यभार हम लोगों को सौंपकर दीक्षित हो गये। मेरे भय से यम दण्ड यहाँ भाग आया और अपनी बचपन की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के उद्देश्य से मैंने भी यहाँ आकर चोरी का कार्य प्रारम्भ कर दिया। विद्युच्चर की बात सुनकर राजा वामरथ बड़ा प्रसन्न हुआ। विद्युच्चर अपने मित्र यमदण्ड को लेकर अपने नगर चला गया, किन्तु उसे इस घटना से वैराग्य हो गया और उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

संघसहित विहार करते हुए विद्युच्चर मुनिराज ताम्रलिप्तपुरी की ओर आये। संघसहित नगर में प्रवेश करने को ही थे कि वहाँ की चामुण्डा देवी ने कहा — योगिराज ! अभी मेरी पूजा विधि हो रही है, अतः आप भीतर मत जाइये। इस प्रकार रोके जाने पर भी महाराजश्री अपने शिष्यों के आग्रह से भीतर चले गये और परकोटे के पास की पवित्र भूमि देखकर बैठ गये तथा ध्यानारूढ़ हो गये। अपनी अवज्ञा जानकर देवी को क्रोध आ गया और उसने कबूतरों के आकार के खून पीने वाले डाँस मच्छरों की सृष्टि करके मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया। मुनिराज ने यह उपसर्ग बड़ी शान्ति से सहन किया और अपने मन को चारों आराधनाओं में रमाते हुए मोक्ष नगर के स्वामी बने।

चिलाती मुनिराज ने भी दंश मसक परीषह पर विजय प्राप्त कर सवार्थ सिद्धि की प्राप्ति की। राजगृह नगरी में राजा उपश्रेणिक राज्य करते थे। एक दिन वे घोड़े पर बैठकर घूमने गये। घोड़ा दुष्ट था, सो उसने उन्हें एक भयानक वन में जा छोड़ा। उस वन का मालिक यमदण्ड नाम का भील था। उसके एक तिलकवति नाम की सुन्दर कन्या थी। राजा ने उसकी माँग की। इसका पुत्र ही

राज्य का अधिकार होगा, इस शर्त के साथ भील ने कन्या का विवाह राजा से कर दिया। राजा अपने वचनानुसार राज्य का भार उसे सौंपकर दीक्षित हो गये। राजा बनते ही चिलातपुत्र प्रजा पर नाना प्रकार के अन्याय करने लगा। जब कुमार श्रेणिक ने यह बात सुनी, तब उन्होंने अपने पौरुष से चिलातपुत्र को राज्य से बहिष्कृत करके पिता का राज्य संभाला अर्थात् वे मगध के सम्राट बन गये। चिलातपुत्र मगध से निकलकर किसी वन में जाकर बस गया और आस-पास के ग्रामों से जबरदस्ती कर वसूलकर उसका मालिक बन बैठा। उसका भर्तृमित्र नाम का एक मित्र था। भर्तृमित्र ने अपने मामा रुद्रदत्त से उसकी कन्या सुभद्रा चिलातपुत्र के लिए माँगी। रुद्रदत्त ने उसे स्वीकार नहीं किया। तब चिलातपुत्र ने विवाह-स्नान करती हुई सुभद्रा का हरण कर लिया। जब यह बात श्रेणिक ने सुनी, तब वह सेना लेकर उसके पीछे दौड़ा। श्रेणिक से अपनी रक्षा न होते देख चिलातपुत्र ने उस कन्या को निर्दयतापूर्वक मार डाला और आप अपनी जान बचाकर वैभार पर्वत पर से भागा जा रहा था कि उसे वहाँ मुनियों का संघ दिखाई दिया। चिलातपुत्र संघाचार्य मुनिदत्त के पास आ पहुँचा और उसने उनसे दीक्षा की याचना की। तेरी आयु आठ दिन की अवशेष रही है, ऐसा कहकर आचार्य ने उसे दीक्षा दे दी। दीक्षा लेकर चिलात मुनिराज प्रायोपगमन सन्यास लेकर आत्मध्यान में लीन हो गये। सेनासहित पीछा करने वाले श्रेणिक ने जब उन्हें इस अवस्था में देखा, तब वे बहुत आश्चर्यान्वित हुए और मुनिराज को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके राजगृह लौट आये। चिलातपुत्र ने जिस कन्या को मारा था, वह मर कर व्यन्तर देवी हुई और 'इसने मुझे निर्दयतापूर्वक मारा था', इस बैर का बदला लेने हेतु वह चील का रूप ले चिलात मुनि के सिर पर बैठ गई। उसने उनकी दोनों आँखें निकाल लीं और सारे शरीर को छिन्न-भिन्न कर दिया, जिससे उनके घावों में बड़े-बड़े कीड़े पड़ गये। इस प्रकार आठ दिन तक वह देवी उन्हें अनिर्वचनीय वेदना पहुँचाती रही, किन्तु मन, इन्द्रियों और कषायों को वश में करने वाले मुनिराज अपने ध्यान से किंचित् भी विचलित न हुए तथा उन्होंने समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति की।

धन्य मुनिराज ने वध परीषह पर विजय प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त कर

लिया। पूर्वविदेहक्षेत्र की प्रसिद्ध राजधानी वीतशोकपुर का राजा अशोक अत्यन्त लोभी था। वह धान्य की दौंय करते समय बैलों के मुख बँधवा दिया करता था जिससे वे अनाज न खा सकें और रसोईगृह में रसोई करने वाली स्त्रियों के स्तन बँधवा देता था ताकि उनके बच्चे दूध न पी पावें।

एक समय राजा अशोक के मुख में भयंकर रोग हो गया। उसने उस रोग की औषधि बनवाई। वह उसे पीने ही वाला था कि इतने में उसी रोग से पीड़ित एक मुनिराज आहार के लिए इसी ओर आ निकले। राजा ने पथ्य सहित वह औषधि मुनिराज को पिला दी, जिससे उनका बारह वर्ष पुराना रोग ठीक हो गया। उस पुण्य के फल से राजा अमलकण्ठपुर के राजा निष्ठसेन और रानी नन्दमती के धन्य नाम का पुत्र हुआ और समय पाकर उसने राज्यसिंहासन को सुशोभित किया। एक समय धन्य राजा भगवान् नेमिनाथ के समवसरण में धर्मोपदेश सुनने के लिये गये थे, वहाँ उन्हें वैराग्य हो गया। वे वहीं दीक्षित हो गये। पूर्वभव में जो पशुओं और बच्चों के भोजन में अन्तराय डाला था, उस पापोदय से प्रतिदिन गोचरी को जाते हुए भी उन्हें लगातार नौ माह तक आहार का लाभ नहीं हुआ। अन्तिम दिन वे सौरीपुर के निकट यमुना के किनारे ध्यानस्थ हो गये। उस दिन वहाँ का राजा वन में शिकार खेलने आया, पर दिन भर में उसे कुछ भी हाथ न लगा। नगर को लौटते हुए राजा की दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उन्हें देखते ही उसका क्रोध उबल पड़ा कि इसने ही आज अपशकुन किया है। प्रतिशोध की भावना से राजा ने मुनिराज के शरीर को तीक्ष्ण बाणों से बींध डाला। सैकड़ों बाणों के एकसाथ प्रहार से मुनिराज का शरीर चलनी के सदृश जर्जरित हो गया और सारे शरीर से रक्त की धाराएँ फूट पड़ीं। मुनिराज ने उपसर्ग प्रारम्भ होते ही प्रायोपगमन सन्यास ग्रहण कर लिया और चारों आराधनाओं में संलग्न होते हुए अन्तःकृत केवली होकर मोक्ष पधारे।

इस प्रकार अनेक मुनिराजों ने घोर उपसर्ग व परीषहों को समता भाव पूर्वक सहन कर अपनी आत्मा का कल्याण किया और अनन्त काल के लिये अनन्तसुख स्वरूपी मुक्ति को प्राप्त किया। सभी को इन परीषहों को समताभावपूर्वक सहन करना चाहिये।

पाँच प्रकार का चारित्र

सामायिकछेदोपस्थापना परिहार विशुद्धिसूक्ष्म— साम्पराय यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थ—(1) सामायिक (2) छेदोपस्थापना (3) परिहारविशुद्धि (4) सूक्ष्मसाम्पराय और (5) यथाख्यात—यह 5 प्रकार का चारित्र है।

(1) **सामायिक** — समस्त सावध योग का त्याग करना सामायिक चारित्र है। यह छटे से नौवें गुणस्थान तक होता है।

(2) **छेदोपस्थापना**—सामायिक चारित्र से डिगने पर प्रायश्चित के द्वारा सावध व्यापार में लगे हुये दोषों को छोड़कर पुनः संयम धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है।

(3) **परिहार विशुद्धि**— जिस चारित्र में प्राणीहिंसा की पूर्ण निवृत्ति होने से विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है, उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं। यह छटवें सातवें गुणस्थान में होता है।

विशेष— जिसने अपने जन्म से 30 वर्ष की अवस्था तक सुखपूर्वक बिताया हो और फिर जिनदीक्षा लेकर 8 वर्ष तक तीर्थकर के निकट प्रत्याख्यान नाम के नौवें पूर्व को पढ़ा हो, और (तीनों संध्याकालों को छोड़कर) दो कोस विहार करने का जिसके नियम हो, लेकिन रात्रिगमन नहीं करता, उन दुर्धर चर्या के पालन करने वाले मुनिराज को परिहार विशुद्धि चारित्र होता है। इस चारित्र के धारण करने वाले मुनिराज के शरीर से जीवों का घात नहीं होता।

(4) **सूक्ष्म साम्पराय**— अत्यन्त सूक्ष्म कषाय के होने से सूक्ष्म साम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में जो चारित्र होता है, उसे सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते हैं।

(5) **यथाख्यात**— समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से ग्यारहवें गुणस्थान में या क्षय से 12—13—14 वें गुणस्थान में जैसा आत्मा का निर्विकार स्वभाव है वैसा ही स्वभाव की प्रगटता हो जाना, यथाख्यात चारित्र है।

दस धर्म का वर्णन रत्नत्रय ग्रंथ के द्वितीय भाग में एवं बारह भावनाओं का वर्णन तृतीय भाग में किया गया है।

निर्जरा तत्त्व

कर्मों के आंशिक झड़ने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो भेद हैं— द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। कर्म परमाणुओं का आत्मा से झड़कर अलग हो जाना 'द्रव्य निर्जरा' है तथा आत्मा के जिन विशुद्ध भावों के कारण कम परमाणु आत्मा से पृथक् होते हैं 'वह 'भाव निर्जरा' है। आचार्य कुन्दकुन्द देव 'वारस अणुवेकरवा' में कहते हैं।

बंधपदेसगलणं णिज्जरणं इदि जिणेहिं पण्णत्रं।

जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे॥

कर्म बंध को प्राप्त पुद्गल वर्गणारूप प्रदेशों का गलन निर्जरा है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा हैं। जिन परिणामों से संवर होता है, उन्हीं से निर्जरा होती है ऐसा जानों।

सा पुण दुविहा नेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।

चदुगदियाणं पदमा वयजुत्ताणं हवे विदिया॥

निर्जरा दो प्रकार की होती है। एक तो कर्मों का अपनी स्थिति पूर्ण होने के पश्चात् झड़ना, दूसरा स्थिति पूर्ण होने से पहले ही तपश्चरण द्वारा कर्मों को नष्ट करना। इनमें से पहली निर्जरा चारों गतियों में सर्व ही जीवों के होती हैं। पहली निर्जरा को सविपाक और दूसरा निर्जरा को अविपाक कहते हैं।

सविपाक निर्जरा:—

जब कर्म बंधते हैं, उसके पीछे कुछ समय उनके पकने में लगता हैं। उस पकने के काल को आबाधा काल कहते हैं। एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति के लिए सौ वर्ष का आबाधा काल है। आबाधा काल के समाप्त होने के पीछे जितनी स्थिति जिस कर्म में शेष रहती है, उतनी स्थिति के समयों में समस्त

कर्मवर्गणाएँ बँट जाती हैं। बँटवारा इस तरह होता है कि पहले अधिक संख्या होती है, फिर क्रमशः कम होती जाती है, अंत में सबसे कम कर्मवर्गणाएँ रह जाती हैं। इस तरह से कर्मवर्गणाएँ समय-समय पर कम होती रहती हैं, इसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। यदि बाहरी अनुकूलता होती है, तो फल प्रगट कर ये वर्गणाएँ झड़ जाती हैं। यदि अनुकूलता नहीं होती तो बिना फल दिये ही झड़ जाती हैं। यह निर्जरा सभी संसारी प्राणियों के पायी जाती है।

अविपाक निर्जरा :-

तपश्चरण द्वारा कर्मों को उनके विपाक समय से या नियत पतन समय से पहले ही दूर कर दिया जाता है, इसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। इस निर्जरा के लिए बारह प्रकार के तप का अभ्यास आवश्यक है। बहिरंग और अन्तरंग तप के रूप में तप के अधोलिखित 12 प्रकार हैं।

1. **अनशन**— खाद्य, स्वाद्य, लेह, पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग कर दिन-रात धर्म्यध्यान में समय व्यतीत करना।
2. **अवमौदर्य**— भरपेट भोजन न करके यथासंभव कम भोजन करना।
3. **वृत्तिपरिसंख्यान**— भिक्षा के लिए जाते समय इस प्रकार की कोई कड़ी प्रतिज्ञा करना कि अमुक प्रकार आहार मिलेगा, अमुक मोहल्ले में मिलेगा या अमुक रीति से मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नहीं। यदि योग्य भिक्षा विधि न मिले तो वापस वन में जाकर समताभाव के साथ उपवास करना। इस तप के करने में आशा तृष्णा का नाश होता है।
4. **रसपरित्याग**— दूध, दही, घी, मीठा, लवण (नमक), तेल इन छः रसों में से एक या अधिक का त्याग कर देना। इन्द्रिय दमन, आलस्य परिहार (छोड़ना) तथा स्वाध्याय में आनन्द प्राप्ति के अर्थ यह तप जरूरी है।
5. **विविक्त शय्यासन**— जीवों के रक्षार्थ प्रासुक क्षेत्र में ब्रह्मचर्य पालन तथा स्वाध्याय, ध्यानाध्ययनादिक क्रियाओं का निर्विहन करने के लिए पर्वत गुफा, वसतिका, श्मशान भूमि, खण्डहर आदि एकान्त स्थानों में सोने या बैठने का नाम विविक्त श्याशन है।
6. **कायक्लेश**— शरीर का सुखियापना मिटाने के लिए कठिन स्थानों में बैठ

कर या खड़े होकर ध्यान लगाना। जैसे कभी धूप में आतापन योग धारण करना और कभी शीत में नदी किनारे ध्यान करना।

7. **प्रायश्चित्त**— अपने व्रतों में कोई अतिचार होने पर उसका दण्ड लेकर स्वयं को शुद्ध करना।
8. **विनय**— सम्यक् दर्शन—ज्ञान—चारित्र तथा तप इन चारों का और इनके धारण करने वालों का आदर करना।
9. **वैयावृत्य**— पूज्यपुरुषों की भक्तिपूर्वक सेवा, चाकरी तथा टहल करना।
10. **स्वाध्याय**— शास्त्रों का पढ़ना, विचारना, मनन करना, कण्ठस्थ करना और धर्मोपदेश देना।
11. **व्युत्सर्ग**— शरीर से, सांसारिक भोगों तथा परपदार्थों से विशेष ममत्व का त्यागना।
12. **ध्यान**— समस्त चिन्ताओं का निरोध करके धर्म या आत्म चिंतन में एकाग्र होने का नाम ध्यान है।

हम बारह व्रतों का पालन करते हुए जितने अंशों में वीतराग भाव होंगे उतने अंशों में कर्मों की निर्जरा होगी। वीतराग भावों की प्रबलता से कभी-कभी अनेक जन्मों के बांधे हुए पापकर्म क्षणमात्र में क्षय हो जाते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यग्रंथाराज समयसार'जी में कहते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विराग सम्पत्तो।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

रागी जीव कर्मों को बांधता है, वीतरागी जीव कर्मों से छूट जाता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र प्रभु ने कहा है, इसलिए शुभ व अशुभ कर्मों से राग द्वेष मत करो।

जो समसोक्खणिलीणो, बारबारं सरेइ अप्पाणं।

इन्द्रियकसायविजई, सस्स हवेणिज्जरां परम॥

जो मुनि साम्यरूप सुख में लीन होकर बार-बार आत्मा का स्मरण करता है तथा इन्द्रिय और कषायों को जीतता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है। गुणश्रेणी निर्जरा को बताते हुए स्वामी कार्तिकेय महाराज 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' की गाथा 106, 107, 108 में लिखते हैं

प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणाम युक्त मिथ्यादृष्टि से असंयत सम्यग्दृष्टि के कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, उससे देशव्रति श्रावक की असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, उससे महाव्रती मुनियों के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है उससे उपशम श्रेणी वाले तीन गुणस्थानों में असंख्यात गुणी होती है, उससे उपशांत मोह (ग्यारहवें) गुणस्थान वाले के असंख्यात गुणी होती है, उससे क्षपक श्रेणी वाले तीन गुणस्थानों में असंख्यात गुणी होती है, उससे क्षीणमोह (बारहवें) गुणस्थान में असंख्यात गुणी होती है, उससे सयोग केवली के असंख्यात गुणी होती है, उससे अयोगकेवली के संख्यात गुणी होती है। ये ऊपर-ऊपर असंख्यात गुणाकार हैं, उसलिये इनको गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र महाराज 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में कहते हैं—

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।

सद्यः प्रक्षीयते कर्मशुद्ध्यत्यङ्गी सर्ववत् ॥

यद्यपि कर्म अनादिकाल से जीव के साथ लगे हुए हैं, तथापि वे ध्यानरूपी अग्नि से स्पर्श होने पर तत्काल ही आत्मा से विलग हो जाते हैं। उनके आत्मा से विलग हो जाने से जैसे अग्नि के ताप से सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी तप से कर्म को आत्मा से विलग करके शुद्ध (मुक्त) हो जाता है।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने सूत्र दिया है— “तपसः निर्जरा च ।” तप के द्वारा संवर और निर्जरा दोनों होते हैं। 12 प्रकार के तपों का वर्णन उत्तम तप धर्म के अन्तर्गत किया गया है। मुनिराज इन तपों के माध्यम से अनेक जन्मों में बंध कर्मों को आत्मा से विलग भर में नष्ट कर देते हैं।

आचार्य शांतिसागर महाराज ने एक दिन विधि ले ली, कि किसी सेठ के द्वार पर माणिक्य बिखरे मिलेंगे तब आहार करूँगा। ओहो! माणिक्यों को पेटी के अन्दर पेटी और डिब्बी के अन्दर डिब्बी और मखमल के अन्दर ताले में रखा जाता है। किन्तु वे सड़क पर मिलना चाहिए। अब कल्पना करो, मिलेंगे कब? लेकिन चिन्ता नहीं करो। विधि है तो मिलन होता ही है।

एक दिन हो गया, वे मुनिराज निकल गये, आहार नहीं हुये। श्रावकों में

हलचल मच गयी कि आचार्य महाराज के आहार नहीं हुए हैं। दो दिन निकल गए। बच्चे-बच्चे कह रहे हैं—महाराज! विधि क्या है? महाराज क्या बतायें? विधि नहीं है, सो विधि कैसे बताई जा सकती है? तीन दिन निकल गये। अब तो लोगों को तड़फड़ाहट हो गई। जब पड़गाहन का समय आया, सड़क पर भीड़ नजर आई, पर मुनिराज चक्कर लगाकर मंदिर में बैठ गये। सातवाँ दिन था। लोग तड़प रहे थे कि प्रभु! अब क्या होगा, कि ये मुनिराज सात दिन से घूम रहे हैं। धरती के देवता, चलते-फिरते सिद्ध परमेश्वर मेरे द्वार से निकल रहे हैं, पर मैं उनके हाथ पर ग्रास नहीं रख पा रहा हूँ। सात दिन से विधि मिली नहीं। आज विधि क्या कह रही है? सेठ जी कहते हैं सेठानी से— इतने दिन हो गये, बिल्कुल विवेक नहीं लगा रही हो, महाराज की विधि बना लो। उधर महाराज जी धीरे से निकल गये। सेठानी मणियों का हार पहने थी। जब महाराज मुड़ने लगे, तब सेठानी ने यह लोटा उठाया, वह लोटा उठाया और यूँ ही एकदम से हार को झटका लगा, जिससे हार के मोती जमीन पर बिखर गये और मुनिराज आकर खड़े हो गये। विधि होती है तो विधि मिल जाती है। वीतरागी मुनिराज बारह प्रकार के तपों के माध्यम से कर्मों की निर्जरा करते हैं।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— सम्यग्दृष्टि विषय—भोगों को विषतुल्य मानता है। विषय—भोगों को ठुकरा दिया जाता है, तब कहीं यह निर्जरा तत्त्व आता है। भोगों की तो बात तक करना निर्जरा तत्त्व के लिये अभिशाप है, वहाँ भोग करना तो बहुत दूर की बात है। कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि तुम्हारी दृष्टि में भोग आ रहे हैं, तो अभी तक तुमने नहीं पहचाना है इस तत्त्व को। एकमात्र अपनी आत्मा में रम जा तू, वही मात्र निर्जरा तत्त्व है, एकमात्र आत्मा में घुसता चला जा तू यही निर्जरा तत्त्व है। तेरी ज्ञानधारा यदि ज्ञेयतत्त्व में लटकती है, अटकती है, तो ध्यान रखना, तेरा निर्जरा तत्त्व टूट गया। इस निर्जरा तत्त्व के उपरान्त और कोई पुरुषार्थ नहीं रह जाता है। मोक्ष तत्त्व अन्तिम नहीं है, वह तो फल है। मोक्ष, मार्ग नहीं हैं, मार्ग जो कोई भी है, वह संवर और निर्जरा है।

आचार्य समझाते हैं—अरे! मिथ्यात्व—तिमिर के कारण वस्तुस्वरूप को न

देखनेवाले आत्मानुभव से शून्य जीवो! तुम परपदार्थों में रागी हुये अनादिकालीन संसार से पद—पद पर सदा उन्मत्ते बने जिस चतुर्गति संसारी पर्याय में लीन हो, वह तुम्हारा स्थान नहीं है, नहीं है। अतः जागो—जागो। यहाँ आओ। तुम्हारा पद यह है, यह है। जहाँ चैतन्य धातु द्रव्य—भावरूप परमशुद्ध अपने चैतन्यरस से भरी हुई स्थायीपने को प्राप्त होती है।

जैसे कोई प्राणी मदिरा पीकर अपना पद व अपना स्थान भूलकर सड़क पर लुढ़क कर उन्मत्त हुआ बकवास करता था। उसे अन्य समझदार पुरुष ने बुलाकर उठाया, कहा—‘हे भ्राता! तुम मदिरा के नशे में सुध—बुध से रहित होकर इस खराब स्थान में पड़े हो, तुम्हारा तो पद ऐसा नहीं है। तुम बड़े उच्चकुलीन समझदार व्यक्ति हो, कहाँ पड़े हो? मोह को छोड़कर जागो, अपने स्वरूप को याद करो। तुम्हारा घर उन्नत महल है। उठो, वहाँ देखो। वह है तुम्हारा घर। वहाँ सदा आराम से रहो।’ जैसे वह व्यक्ति अपनी सुध—बुध ठीक कर उस निम्न स्थान का परित्याग कर अपने घर जाता है, उसी प्रकार आचार्य अनादिकाल से मोहमदिरा का पान कर अपने निज स्वरूप को भूले हुए संसारी प्रणियों को संबोधित करते हैं, कि—पंचेन्द्रिय विषय तो परपदार्थ हैं, उनमें मत्त होकर तुम अपना अहित करते हुए दुःखी हो रहे हो। इस मोह के नशे को त्याग कर जागो। देखो, कहाँ हो? तुम्हारा यथार्थ स्वरूप क्या है? कैसा सुन्दर है? उसे प्राप्त करो, तब सदा सुखी रहोगे। जो सम्पूर्ण विपत्तियों से रहित है, ऐसा उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप मात्र अपने पद का आस्वादन करना चाहिए। वह ऐसा श्रेष्ठतम पद है कि जिसके सामने सांसारिक सम्पूर्ण कर्मोपाधिजन्य पद स्वयं में अपद ही हैं। मेरे योग्य स्थान नहीं हैं, ऐसा स्वयं भासित होने लगता है।

आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! तू पर की ओर दृष्टि करके दीन हुआ ललचाता फिरता है। तूने कभी अपनी निजनिधि का दर्शन नहीं किया। तेरे भीतर तेरी ज्ञानकला ऐसी अपूर्व निधि है, जो तेरे सम्पूर्ण प्रयोजनों को साधनेवाली है। वही तेरे लिये चिन्तामणी रत्न के समान है। अपनी निजनिधि को प्राप्त करने के लिये संयम—तप को धारण कर कर्मों की निर्जरा करना अनिवार्य है।

वर्द्धमान कुमार की वीरता, युवावस्था, रूप, गुण और अनुपम सौन्दर्य को देखकर अनेक राजा—महाराजा अपनी रूपवती कन्याओं का संबंध श्री वर्द्धमान कुमार से करने के लिए महाराज सिद्धार्थ पर अपना—अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न कर रहे थे। कलिंगदेश के महाराजा जितशत्रु की राजकुमारी यशोदा गुण, सौन्दर्य और सम्पूर्ण कलाओं में सर्वोपरि श्रेष्ठ थी। उनका प्रस्ताव आने पर महाराज सिद्धार्थ ने जितशत्रु को वर्द्धमान के परिणय संबंध की स्वीकृति भी दे दी।

उसी समय माता त्रिशला और पिताजी ने वर्द्धमान कुमार को बुलाकर बड़े प्रेम से समझाया— बेटा! हम लोगों की बस एक छोटी—सी ही कामना है, तुमसे एक ही इच्छा है। मुझे आशा है कि तुम माता—पिता की इस तुच्छ इच्छा को अवश्य पूर्ण करोगे। हम चाहते हैं कि जो मार्ग प्रथम तीर्थकर भगवान् आदिनाथ ने अपनाया था, उसी मार्ग को तुम अपनाओ। हम सब अब इस भवन में विवाहोत्सव देखना चाहते हैं। जैसा कि अदिनाथ ने भी किया था। उसे स्वीकार करके हमारी उमंग पूरी कर दो बेटा।

वर्द्धमान कुमार यह सबकुछ सुनकर गम्भीर होकर बोले—पूज्यवर! आज तक किसकी इच्छायें पूर्ण हो सकी हैं? इस इच्छापूर्ति के चक्कर में ही तो जीव दुःखी हो रहा है। फिर आप मेरी तुलना भगवान् आदिनाथ से कर रहे हैं, जिनकी तुलना में हमारी आयु समुद्र के सामने बूँद के बराबर भी नहीं है। इस अल्प— सी आयु में यदि हम कीचड़ में फँस जायें तो अपना कार्य कब कर सकेंगे? हम अनादिकाल से इस कीचड़ में फँसते आ रहे हैं। इसीलिये भवभ्रमण करते हुये दुःखी हो रहे हैं। यह भव तो भव का नाश करने के लिये मिला है, भवभ्रमण के लिये नहीं। मनुष्य मूर्खता वश अपने स्वर्ण अवसर को हाथ से खो बैठता है। क्या आप चाहते हैं कि वही मूर्खता मैं करूँ? अब तो मुझे मुक्ति वधु के वरण की तैयारी करना है। मेरे जीवन का लक्ष्य अब समस्त कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष प्राप्ति का है।

निर्जरा का अर्थ है— अंतरंग के समस्त राग—द्वेष, मोहादि विकारों को निकालकर बाहर फेंक देना अर्थात् नष्ट कर देना। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने

लिखा है— संस्कारों को ललकार—ललकार कर इनसे ढाना जाने वाला युद्ध ही आगम—भाषा में कहलाता है 'तप' तथा उसके फलस्वरूप होने वाली संस्कार क्षति है निर्जरा—तत्त्व। इसमें बहुत अधिक बल लगाने की आवश्यकता है और इसीलिये इस तत्त्व को बड़े पराक्रमी तथा निर्भीक योगीजन ही मुख्यतः धारण किया करते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसको तू आंशिक रूप में भी धारण नहीं कर सकता। जितना बल लौकिक कार्यों में लगाता है, यहाँ भी लगा। शक्ति को छिपाने के लिये बहाना न बना। यह तेरे हित की बात है।

सम्यग्दृष्टि जीवों के भी समय—समय पर कर्म उदय आता है और मिथ्यादृष्टि जीवों के भी समय—समय पर कर्म का उदय आता है। ऐसी समानता होने पर तत्काल सुख—दुःख आदि फलों को भी दोनों भोगते हैं, तथापि मिथ्यादृष्टि जीव, सुख—दुःख फलोपभोग के समय, रागद्वेषादि परिणामों के कारण, पुनः नवीन कर्म का बन्धन बाँधता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सुख—दुःख रूप फलोपभोग को कर्म के उदय में भोगता है, परन्तु उनमें राग—द्वेषादि रूप संक्लेश परिणाम नहीं करता, अतः कर्म के बन्धन को प्राप्त नहीं करता। इसलिये सदा तत्त्वज्ञान तथा वैराग्य की भावना भानी चाहिये। ऐसा करने पर नवीन कर्मबन्ध नहीं होगा तथा पुरातन कर्म जो उदय में आयेंगे वे कटेंगे ही, अतः संवरपूर्वक निर्जरा होगी।

सम्यग्दृष्टि विषय—भोगों को विषतुल्य मानता है। उसकी यह विषय—विरक्ति ही उसे कर्म का संवर कराती है। विषयभोग संवर—निर्जरा स्वरूप नहीं है, किन्तु भोगों के प्रति अरुचि भाव संवर—निर्जरा का कारण है। जिसका आत्मप्रकाश जग गया है, वह भूलकर भी पर में नहीं रमता। वह पर के मध्य में क्रिया करता हुआ भी पर को स्वीकारता नहीं है।

जो साधु तप के माध्यम से कर्मों की निर्जरा करते हैं, उन्हीं का जन्म सफल है और उन्हीं को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। मैंने पूर्वजन्मों में जो पाप कमाया था, उसी का यह फल है, ऐसा जानकर जो मुनि तीव्र परीषह तथा उपसर्ग को कर्ज से मुक्त होने के समान मानता है, उसकी बहुत निर्जरा होती है। जैसे पहले लिये हुये ऋण को जिस किसी तरह चुकाना ही पड़ता है, उसमें

अधीर होने की आवश्यकता नहीं है। वैसे ही पूर्वजन्म में संचित पापों का फल भी भोगना ही पड़ता है, उसमें अधीर होने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा समझकर जो उपसर्ग आने पर अथवा भूख-प्यास वगैरह की तीव्र वेदना होने पर उसे भेदज्ञानपूर्वक शांतभाव से सहते हैं, व्याकुल नहीं होते, उन मुनि के बहुत निर्जरा होती है। जो मुनि समतारूपी सुख में लीन रहते हुये बार-बार आत्मा का संवेदन करते हैं, इन्द्रियों और कषायों को जीतने वाले उन मुनिराजों की उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

जैसे पत्थर चाहे बरसों से पानी के मध्य में पड़ा हुआ हो, पत्थर पर शैवाल भी जम जाय, तथापि उसे हथोड़े से फोड़ने पर भीतर सूखा ही निकलता है। उसने पानी के भीतर रहकर भी पानी को स्वीकार नहीं किया, पानी उसके बाहर-ही-बाहर रहा। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसार के समस्त सुख-दुःखोत्पादक सामग्री के बीच में रहता है, उनका कर्मोदय के वश से उपभोग भी करता है, तथापि अन्तरंग विरागता के कारण उन पदार्थों के रागादि के आर्द्रता उसके भीतर प्रवेश नहीं करती, वह उससे सूखा ही निकलता है। यही कारण है कि उसे अपरिग्रही, निर्बन्धक, अबन्धक आदि शब्दों द्वारा आचार्यों ने सम्बोधित किया है।

ज्ञानी मुनिराज घोर उपसर्ग के आने पर उन्हें सहन करते हुये भी, तज्जन्य शारीरिक अंग-भंगादि के क्लेश उठाने पर भी समताभाव से उन्हें सह लेते हैं। वे चिन्तन करते हैं कि यह पूर्व कर्म के विपाक का फल है, पूर्व उपराध का फल है, इसे समता से भोगना ही श्रेयस्कर है। अतः उससे विचलित नहीं होते। अपने स्वरूप में निमग्न रहते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके इन सब कर्मों की निर्जरा ही होती है और वे निज-रस की निमग्नता से कैवल्य को भी प्राप्त करते हैं।

भरत चक्री पुण्योदयवान् गृहस्थ थे। चक्रवर्तित्व सम्पदा के बीच रहते हुये भी उसे कर्मोदयजन्य विडम्बना मानकर उससे विरक्त ही रहते थे। यही कारण है कि अवसर पाने पर उसे त्यागकर दैगम्बरी दीक्षा लेकर अन्तर्मुहूर्त में ही कैवल्य को प्राप्त किया।

यहाँ आचार्य सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष को सम्बोधन देते हैं कि हे ज्ञानी पुरुष! तेरे ज्ञानभाव में रहते हुए भी विविध प्रकार के पूर्व में बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मों का उदय आयेगा, वह रुकेगा नहीं, और तुझे दोनों प्रकार के कर्म भोगने होंगे। तथापि तू अपने ज्ञानस्वभाव की भूमिका में क्रीडा करता रहा तो तेरे कर्मबन्ध न होगा। तुम कर्मोदयजन्य सुख-दुःख को भोगते हुए भी यदि अपने स्वभाव की भूमिका में रहोगे, तो उसमें रहते हुए भी कर्म के बन्धन से न बँधोगे। पर के अपराध से कोई बन्धन को प्राप्त नहीं होता, स्वापराध से ही बँधता है।

आचार्य कहते हैं, हे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव! यदि तू राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करेगा, तो ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध तुझे नियम से होगा। हम तुझसे पूछते हैं कि क्या तुम ऐसा मानते हो कि “मैं ज्ञानी हूँ और मेरे कर्मबन्ध नहीं होता है, अतः मैं नाना विषयों को भोगता हूँ, फिर मुझे कोई हानि नहीं है”, तो तुम्हारा ऐसा मानना दुर्गति का कारण बनेगा। यह मानना होगा कि तुम सम्यग्दृष्टिपने या ज्ञानीपने का मिथ्या अहंकार करते हो। तुम अज्ञानी हो, उसी से शास्त्रों के उक्त कथन का दुरुपयोग कर अपना अहित करते हो। यदि तुम सम्यग्दृष्टि हो, ज्ञानी हो, तो परीक्षा करो। ज्ञानी ज्ञानभाव में ही रमता है, रागादि में नहीं। अतः ज्ञानी के ज्ञानभाव में बसते हुये जो शुभाशुभ कर्म आते हैं, उन्हें वह कर्मदण्ड स्वीकार करता हुआ भोगता है, उसमें राग-द्वेषादि नहीं करता, न उन विषयों में रमण करता है।

भोगोपभोग स्वेच्छापूर्वक भोगते रहो और तुम्हारे कर्मबन्धन न होवे, ऐसा क्या तुम्हारी इच्छानुसार होगा? कदापि नहीं। यह तुम्हारा स्वेच्छाचारिता का अज्ञानजनित कार्य है। जो जीव अपने मोह-क्षोभविहीन शुद्ध ज्ञानस्वभाव में रमण नहीं करता, तथा विषय-कषायों में रमता है और अपने को ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मानता है, वह स्वयं अंधकार में है, अपने को धोखा देता है। तुम ज्ञानभाव की मर्यादा में निवास करो। ज्ञान की भित्तियों का उल्लंघन कर यदि रागादि की भूमिका में प्रवेश किया तो ज्ञानावरणादि नाना कर्मों से स्वयं लिप्त हो जाओगे। मिथ्या अहंकार संसार में डुबायेगा।

वास्तव में अपने उपयोग को अपने स्वरूप में स्थिर करना ही सबसे कड़ा

पुरुषार्थ है, जो कि केवल अभ्याससाध्य है। साधु प्रारंभ में बुद्धिपूर्वक विषय—कषायों से अपने को हटाकर परम पुरुष परमात्मा के गुणानुवाद में लगता है, आचार्यों द्वारा प्रणीत आगम के अभ्यास में लगता है। तीर्थवन्दना आदि धार्मिक कार्यों से भाव पवित्र करता है। जब वह अपने पर इतना नियंत्रण कर लेता है कि चित्तवृत्ति विषय—कषायों पर तथा तत्साधनों पर नहीं जाती, किन्तु अब अपने इष्ट पुरुषों व कार्यों में रुक जाती है, तब वह इनसे भी चित्त मोड़ता है। इन इष्ट महात्माओं— जैसा स्वयं बनने को प्रयत्नशील होता है। वह अपने चित्त को अपने स्वात्मचिंतन में सीमित करना प्रारम्भ कर देता है। परज्ञेय से चित्त हटाने पर वह स्वयं राग—द्वेषरहित वृत्ति पर उतर आता है। ज्ञान की वृत्ति राग—द्वेष से तथा उनके आलम्बनभूत पर—द्रव्यों से हटे और उपयोग अपने में सीमित हो जाय, यही मोक्ष का सच्चा पुरुषार्थ है, यही सच्चा निश्चय सम्यक्चारित्र है।

अपना पुरुषार्थ अपने आत्मशुद्धीकरण में करें, यही मोक्षमार्ग है। संयताचारी साधु ही ऐसा करते हैं अथवा जो ऐसा करते हैं, वे ही संयताचारी हैं। वे ही समस्त कर्मों को आत्मा से विलग कर शीघ्र ही मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

हे भव्य! शुद्धात्मस्वरूप के सिवाय अन्य सब पंचेन्द्रिय के विषयरूप पदार्थ पराधीन, दुःखदायी और नाशवान् हैं। तू भ्रम से भूला हुआ असार भूसे के कूटने की तरह कार्य न कर। तू घर—परिवार आदि की चिन्ता करता हुआ मोक्ष कभी नहीं पा सकता। इसलिये उत्तम तप का ही बारम्बार बुद्धिपूर्वक अभ्यास कर, क्योंकि संयम—तप से ही कर्मों की निर्जरा कर मोक्षसुख को पा सकेगा।

इस समय कर्मरूपी गहन वन में चिरकाल तक घूमने के बाद किसी भी प्रकार हमने आज विलक्षण विशेषता पा ली है ज्ञान की, वस्तुस्वरूप के पहिचान की, आत्मस्वभाव के परिचय की। हर दृष्टि से हमने परख लिया है और तब जान लिया है कि वास्तव में मैं यह ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ। शेष तो यह सब कर्म की लीला है, माया की चीज है। जिसने ऐसा परिचय पा लिया, उस पुरुष को अमृत की बावड़ी मिल गई, जिसमें मग्न रहने पर फिर संसार का संताप नहीं हो सकता। अतः स्वभावदृष्टि की धुन बनाओ और उसके लिये शक्ति अनुसार संयम धारण करो। पर—पदार्थों एवं पर—भावों से दृष्टि हटाकर निजात्मदृष्टि का

दृढ़ आलम्बन लो। आचार्य महाराज निकटभव्य जीवों को प्रतिबोधते हैं कि जिनेन्द्रोपदेश का लाभ होने पर मोह, राग—द्वेष का क्षय शीघ्र कर दोगे तो सर्व दुःखों से छुटकारा पा लोगे। योग्य शिष्य भी आत्मा का यथार्थ रहस्य जानकर प्रतिज्ञाबद्ध संकल्पित होता है कि मैं सर्व अभ्यास से मोह, राग—द्वेष के क्षय के लिये इस ही समय से आत्मिक पुरुषार्थ का आलम्बन लेता हूँ।

यदि यह जीव उद्यमपूर्वक अपने जीवन को संयमित करके रागादि भावों को रोककर समता में (ज्ञाता—दृष्टा भाव में) स्थित रहने का अभ्यास करे, तो तत्फलस्वरूप संवर व निर्जरा के कारण धीरे—धीरे उसके कर्मों का भार हल्का होता चला जाये और कुछ काल में ही कर्मों का पूर्णरूप से उन्मूलन हो जाने पर परम शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाये।

कोई मुसाफिर कहीं जा रहा था। जंगल में आकर रास्ता भूल गया और रात्रि भी हो गई। यहाँ—वहाँ भटकता है, किन्तु रास्ता नहीं मिलता है। इतने में विवेक से सोचता है कि अगर मैं और चला गया, तो कहाँ का कहाँ पहुँच जाऊँगा, और फिर दिन भर भी रास्ता मिलने में समाप्त हो जाये। इसलिये अब कहीं न जाकर यहीं बैठना चाहिये। इतने में बिजली चमकती है तो सड़क दूर चमकती हुई दिख जाती है। बिजली का कितना—सा प्रकाश, लेकिन दिख गया सब। फिर भी सड़क तक जाना दुर्गम है, चल सकते नहीं, फिर भी हिम्मत आ गई कि अब मैं सवेरा होते ही अपने गन्तव्य स्थान को चल दूँगा। रात्रि है, तब—तक वहाँ पड़ा है। सवेरा होते ही ऐसी पगडंडी से चला जो सड़क तक जुड़ सकती है। रास्ते में झाड़ियाँ, कांटे, गड्ढे, टीले आदि अनेक थे, उन सबसे बचता हुआ चला। सड़क जैसे—जैसे पास आती जाती है, उसे प्रसन्नता बढ़ती जाती है। सड़क पर पहुँच गया तो वहाँ बड़े आराम से विहार कर रहा है। पहले—जैसे विकल्प अब न रहे। चलते—चलते अपने लक्ष्यस्थान के समीप पहुँच गया, वहाँ आराम से बैठता है।

इसी प्रकार जीव मिथ्यात्वरूपी भूली हुई गहन झाड़ी में पड़ा है। वहाँ भाग्योदय से कदाचित् भेदज्ञानरूपी बिजली का उजाला चमका, तब रास्ते की सही प्रतीति हुई। संसार में कुछ नहीं मिला। सांसारिक विकल्पों में कुछ भी सार

नहीं है। बिजली चमकने से आत्मस्पर्श हो गया, पथ ज्ञात हो गया। जब—तक असंयत है, तब—तक साधन नहीं बनता। यहाँ असंयमरूपी रात्रि व्यतीत हो रही है। रात्रि बीतने पर संयमासंयम रूपी पगडंडी से चला। संयमासंयम का पालन भी कठिन है। यहाँ सारे बखेड़े साथ लगे हुए हैं। अब पूर्ण संयम के राजमार्ग पर आ चुका है। वहाँ एक रस है, कोई दुःख नहीं है। अयाचक वृत्ति से भोजन कर फिर स्वरूप में लीन हो गये। विहार करते—करते जैसे—जैसे स्थान समीप आ रहा है, वहाँ विकल्पों की गति मन्द पड़ गई है। फिर विश्रामस्थल पर पहुँच गये हैं और अब आनन्द में मग्न हो गये।

सम्यक् प्रकार से मोक्षमार्ग की साधना करने से धीरे—धीरे जीवन की भाग—दौड़ समाप्त हो जाती है, पहले बाह्य जीवन की और फिर भीतरी जीवन की। और इस प्रकार एक लम्बे काल तक अभ्यास करते रहने पर वह दिन भी आ जाता है, जब कि साधक का बहिरंग व अन्तरंग क्षोभ पूर्णतः शांत हो जाता है और साक्षात् निश्चय धर्म जो समतारूप है, उपलब्ध करके खो जाता है अपने शान्तस्वरूप में सदा के लिये।

जिनेन्द्र भगवान् की वाणी को प्राप्त कर हमें अपना आत्मकल्याण अवश्य ही कर लेना चाहिये। हमने यदि विषयरागवश इस उत्तम अवसर को खो दिया, तो आगे अनन्तानन्त काल तक इस पंचपरावर्तनरूप संसार में ही भटकना पड़ेगा। जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि जो जीव सारे परद्रव्यों के मोह को छोड़कर संसार, शरीर और भोगों से उदासीन होकर, संयम को अपने जीवन में अंगीकर करके, तपों के माध्यम से, शुद्धात्मा की साधना करता है, वह अपने स्वरूप की उपलब्धि को प्राप्त होता है। उसके कर्मबन्धन स्वयं ही कट जाते हैं।

संवर तथा निर्जरा में होनेवाला पुरुषार्थ यद्यपि एक ही जाति का है अर्थात् विकल्पों को रोकने का, तथापि “संवर” अनुकूल वातावरण में रहकर विकल्पों को दबाने का नाम है और ‘निर्जरा’ प्रतिकूल वातावरण में रहकर विकल्पों को उत्पन्न ही न होने देने के प्रयत्न का। संवर में थोड़े बल से काम चल जाता है, जबकि निर्जरा में अधिक बल की आवश्यकता होती है।

वास्तविक निर्जरा तत्त्व, जो मोक्षमार्ग में कारणभूत है, वह अविपाक

निर्जरा है। यह आत्मपुरुषार्थ से तप के द्वारा होती है। इसको पाये बिना मोक्षमार्ग नहीं है। सविपाक निर्जरा तो संसारी प्राणियों की प्रत्येक समय हो रही है। परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कभी भी, पर में रुचि होने के कारण, राग-द्वेष, मोह से खाली नहीं होते, इससे हर समय कर्मों का बंध करते रहते हैं।

अज्ञानी के कर्म की निर्जरा हाथी के स्नान के समान है। जैसे हाथी एक दफे तो सूंड से अपने ऊपर पानी डालता है, फिर रज डाल लेता है। वैसे ही अज्ञानी के एक तरफ तो कर्म झड़ते हैं, दूसरी तरफ कर्म बंधते हैं। अज्ञानी के जो सुख या दुःख होता है या शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, परिवार, परिग्रह का संबंध होता है, उसमें वह आसक्त रहता है, सुख में बहुत रागी व दुःख में बहुत द्वेषी हो जाता है। इस कारण उसके नवीन कर्मों का बन्ध तीव्र हो जाता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव संसार, शरीर व भोगों से वैरागी होता है। वह पुण्य के उदय में व पाप के उदय में समभाव रखता है, आसक्त नहीं होता, इससे उसके कर्म झड़ते बहुत हैं तथा सुख में अल्प राग व दुःख में अल्प द्वेष होने के कारण नवीन कर्मों का बन्ध थोड़ा होता है।

जो अपना सच्चा हित करना चाहता है, उसको अपने परिणामों की परीक्षा सदा करते रहना चाहिये। जीव के भाव तीन प्रकार के होते हैं— अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। अशुभोपयोग से पापकर्मों का, शुभोपयोग से पुण्यकर्मों का आस्रव व बन्ध होता है, परन्तु शुद्धोपयोग से कर्मों का क्षय होता है। इसलिये विवेकी को उचित है कि अशुभोपयोग से बचकर शुभोपयोग में चलने का अभ्यास करे और अधिक से अधिक शुद्धोपयोग में लीन होने का प्रयत्न करे। ज्ञानी को सदा जागृत और पुरुषार्थी रहना चाहिये।

जैसे कि साहुकार अपने घर में चोरों का प्रवेश नहीं चाहता है, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है, उसी तरह ज्ञानी को अपनी आत्मा की रक्षा बंधकारक भावों से करते रहना चाहिये व जिन-जिन अशुभ भावों की टेव पड़ गई है, उनको नियम व प्रतिज्ञा के द्वारा दूर करना चाहिये। प्रतिज्ञा व नियम करना अशुभ भावों से बचने का बड़ा भारी उपाय है।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने सूत्र दिया है—‘इच्छा निरोधः तपः।’ इच्छाओं

का निरोध करना तप है। तप के माध्यम से इच्छाओं का निरोध करने पर ही कर्मों की निर्जरा होती है। वास्तव में समस्त दुःखों और बन्धन का कारण इच्छायें ही हैं।

सुकौशल विरस्त हो गये। लोगों ने बहुत समझाया— ‘अरे राजकुमार! अभी तुम्हारी कुमार अवस्था है, अभी तुम्हारी शादी को हुये कुछ ही वर्ष हुये हैं, तुम्हारी पत्नी के गर्भ है। पहले उत्पन्न होने वाले पुत्र को राजतिलक कर जाओ, फिर चाहे घर—द्वार छोड़ देना।’ सुकौशल कहते हैं कि अच्छा, जो बच्चा गर्भ में है, मैं उसे राज्यतिलक किये देता हूँ। सुकौशल को बंधने की इच्छा नहीं थी तो उनको कोई बन्धन नहीं था। इच्छायें ही तो बंधन हैं। गृहस्थी में क्या बन्धन है? अरे! नहीं, गृहस्थी में बन्धन कहाँ है? केवल इच्छाओं के कारण ही सब फँसे हुये हैं। हमें तो बाल—बच्चों में मोह होने से अपने मोह से ही फँस गये हैं। क्या उम्मीद है कि हम इन बंधनों से निकल पायेंगे? जो—जो व्यवस्था हम सोचे हुये हैं, क्या इनको पूरा करके विश्राम कर लेंगे? देखो, मेढकों को कोई तौल सकता है? नहीं। अरे! वे तो उछल जायेंगे। कोई इधर उछलेगा, कोई उधर उछलेगा। वे तौले नहीं जा सकते। इसी तरह क्या अपने परिग्रह में रहकर अपनी व्यवस्था बना सकते हो? कितनी ही व्यवस्था बन जायेगी, तो कोई नई बात खड़ी हो जायेगी, क्योंकि बात बाहर में नहीं, अन्दर में खड़ी होती है, सो अन्दर उपादान अयोग्य है ही। जब तक इच्छायें समाप्त नहीं होतीं, तब—तक बन्धन नहीं मिटता अर्थात् जब—तक इच्छायें रहेंगी, तब—तक बन्धन रहेंगे।

प्रभु में और आत्मा में भेद कहाँ है? सब लोग चिल्लाते हैं कि प्रभु और आत्मा में भेद नहीं है। कहते हैं कि “आत्मा, सो परमात्मा”, भेद कुछ नहीं है। आत्मा हैं हम और आप और परमात्मा हैं कोई निर्दोष, सर्वज्ञ, शुद्ध, ज्ञानी आत्मा। उनमें और हममें कोई भेद नहीं है। सारा मामला तैयार है, केवल इच्छाओं को निकाल दो। अच्छा, देखो शुद्ध किसे कहते हैं? शुद्ध उसे कहते हैं, जिसमें रंचमात्र भी इच्छायें न हों। इच्छाओं के होने या न होने पर ही दुःख—सुख निर्भर है। अन्य पदार्थों के संयोग में सुख नहीं है, दुःख नहीं है। संसार में देखो तो सभी दःखी—ही—दुःखी नजर आ रहे हैं, सबको कष्ट है। और किसी को यहाँ

कितना ही आराम मिले, फिर भी कष्ट हैं। जितने एक दीन को कष्ट हैं, उतने एक धनी को भी कष्ट हैं। यद्यपि जितनी असुविधायें दीन को हैं, धनी को नहीं हैं, फिर भी धनी को भी उतने ही कष्ट होते हैं।

अरे! सुविधाओं से सुख नहीं होते और न ही सम्पदाओं से सुख होते हैं। इज्जत से भी सुख नहीं होता। इच्छायें यदि न रहें, तो सुख होता है। तो कैसी भी परिस्थिति आ जाये, अगर इच्छायें कर लीं, तो दुःख हो गया। ये इच्छायें ही बन्धन हैं। यदि मैं इच्छायें न रखूँ, ज्ञाता—दृष्टा रहूँ, ज्ञानमात्र रहूँ, तो मेरी हानि नहीं है। इच्छाओं से ही हानि है। देखो— हाथी, मछली, भंवरा ये प्रत्येक जीव इच्छाओं के कारण ही बंधन में पड़ जाते हैं, जाल में बंध जाते हैं, शिकारियों के चंगुल में फँस जाते हैं। यदि उनकी इच्छा नहीं होती, तो वे बंधन में नहीं पड़ते। आजकल भी बड़े-बड़े रईस लोग अपनी स्त्री, वैभव इत्यादि को छोड़कर अलग हो जाते हैं, विरक्त हो जाते हैं, क्योंकि उनके इच्छा का बन्धन नहीं रहा। इच्छा तक ही साम्राज्यों से लगाव था। इच्छाओं के समाप्त होते ही वे बड़े-बड़े साम्राज्य छोड़ देते हैं।

सीता जी अग्निपरीक्षा में सफल हो गयीं तो रामचन्द्र जी हाथ जोड़कर खड़े हो गये, बोले— देवी! क्षमा करो, आपको बहुत कष्ट पहुँचा। चलो, अब महल में चलो। लक्ष्मण ने भी हाथ जोड़े और सब लोगों ने हाथ जोड़े। भला सोचो क्या सीता जी ने मृत्यु से भेंट कराने वाली अग्निपरीक्षा के बाद अपने मन में इच्छा के भाव बनाये होंगे? क्या सीता जी के मोह की प्रवृत्ति हो सकेगी? नहीं। इसी से तो सीता के वैराग्य उमड़ा, सीता जी के लिये कुछ बन्धन नहीं हुआ और वे विरक्त हो गयीं तथा कर्मों की निर्जरा करने के लिये तपस्या में लग गयीं।

आचार्यों ने तप को निर्जरा का कारण कहा है। “तपसा निर्जरा च।” बारह प्रकार के निदानरहित तपों के द्वारा ज्ञानी पुरुष के वैराग्य भाव के कारण कर्मों की निर्जरा होती है। इस जीव को दुःख के हेतु कर्मोदय के समय कर्मफल में लीन होना है। दुःख न चाहने वाले पुरुषों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे कर्मों की निर्जरा हो जाये। निर्जरा होती है ज्ञानी पुरुष के। जिसको

कर्मरहित अमूर्त केवल सहज चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्व का परिचय है, ऐसा पुरुष ही कर्मों की निर्जरा कर सकता है, क्योंकि निर्जरा के मायने है— कर्मों को आत्मा से अलग हटाना। जब—तक इस जीव का परिणाम परद्रव्यों के साथ लगाव का है, तब—तक इसमें न कर्मों का संवर है और न कर्मों की निर्जरा संभव है। यद्यपि कर्म उदय में आये और झड़ गये, इसका नाम भी निर्जरा है, किन्तु निर्जरा तत्त्व का यह प्रयोजन नहीं है। ऐसी निर्जरा तो सभी संसारी जीवों की हो ही रही है। कर्म उदय में आते हैं और फल देकर झड़ जाते हैं, लेकिन इस निर्जरा से तो इस जीव का पूरा क्या पड़ा? यह हानि में ही रहा। उससे और कर्मों का इसने बंध कर लिया। तो जो मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है, उस निर्जरा से यहाँ सम्बन्ध है। ज्ञानीपुरुष जिसने कर्मरहित शुद्ध चैतन्य मात्र अपने आपके स्वरूप का निर्णय किया है— 'मैं तो यह हूँ', इस तरह निर्णय करने वाले ज्ञानीपुरुष के कर्मों की निर्जरा होती है।

यह सब कर्मों की निर्जरा वैराग्यभाव से होती है। चूँकि ज्ञानीजीव में रागभाव नहीं रहा, तब कर्म कैसे टिक सकें? जैसे कोई मेहमान आपके घर आया और आप उसको आदर न दें, उसकी प्रीति न रखें, तो वह मेहमान घर कब—तक टिका रहेगा? उसे तो जल्दी भागना होगा। वैसे भी भावना और जब रुचि न दिखी मालिक की, उस गृहस्थ की, तो मेहमान कब तक टिक सकता है? तो चूँकि वह मेहमान पहले किये हुए राग के कारण आया था, लेकिन वर्तमान में राग नहीं, तो वह कब—तक टिक सकेगा? ऐसे ही ये कर्म कैसे टिक सकेंगे? उनकी निर्जरा होगी, इनकी उथल—पुथल मचेगी। निर्जरा का साधन है वैराग्य व तप।

यदि आत्मकल्याण करना चाहते हो तो पाँच इन्द्रियों के भोगों को छोड़कर अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करो। आचार्य योगीन्दुदेव कहते हैं—

ए पंचिंदिय—करहडा जिय मोक्कला म चारि।

चरिवि असेसु वि विसय—वणु पुणु पाडहिँ संसारि॥१३६॥

ये प्रत्यक्ष पाँच इन्द्रिय रूपी ऊँट हैं, इनको अपनी इच्छा से मत चरने दो, विचरण मत करने दो, क्योंकि इन्द्रियों के सम्पूर्ण विषय विषय—वन को चर कर

फिर ये संसार में ही तुम्हें पटक देंगे।

पंचेन्द्रिय विषयों में सुख नहीं है। जो सुख एक बार प्राप्त हो जाने के उपरान्त कभी न छूटे, वह स्थायी सुख है। यह इन्द्रियों से रहित आत्मा के द्वारा उत्पन्न होता है। इस सुख को ही परम् सुख या अतीन्द्रिय आनन्द कहते हैं।

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु।

पर सुहु वढ चिंतंताहँ हियइ ण फिट्ठइ सोसु।।154।।

(परमात्मप्रकाश)

जो परद्रव्य से रहित आत्माधीन सुख है, उसी में जीव को संतोष करना चाहिए। इन्द्रियाधीन सुख का चिन्तन करने वालों के चित्त का ताप (दाह) नहीं मिटता। दूसरे शब्दों में कहे तो आत्माधीन सुख आत्मा के जानने से उत्पन्न होता है, इसलिये हे भव्य! तू आत्मा के अनुभव से सन्तोष कर ले। भोगों की इच्छा करने से चित्त शान्त नहीं होता। जो आत्मा की प्रीति करता है, वह स्वाधीन हो जाता है और जो भोगों का अनुरागी है, वह पराधीनता को प्राप्त होता है। भोगों के भोगने से कभी भी तृप्ति नहीं होती। अनादिकाल से तू भोगों को भोगता आ रहा है, क्या तू आज तृप्त हो गया? नहीं, बिलकुल नहीं। तब मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि बाह्य पदार्थों का अवलम्बन छोड़कर, अपने आत्मा में तल्लीन होकर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार आत्माराम का अनुभव करो। इन्द्रियभोग आस्रव-बन्ध के कारण हैं और योग निर्जरा का कारण है।

भोगी बन कर भोग भोगना, भव-बन्धन का हेतु रहा।

योगी बन कर योग साधना, भव-सागर का सेतु रहा।

जैसा तुम बोओगे, वैसा बीज फलेगा अहो! सखे।

कटुक निम्ब पर सरस आम्रफल, कभी लगे क्या अहो सखे?

अगर भोगों में लिप्त रहोगे, तो संसाररूपी बन्धन बंधता चला जायेगा। भोगों को छोड़कर योग की ओर बढ़ोगे तो संसार बन्धन छूटता चला जायेगा। जैसे तुम आम का बीज बोओगे तो आम लगेगा और नीम का बीज बोओगे तो निम्बोली ही आयेगी।

जब जीव शुद्धतत्त्व को विचारते हैं, ध्याते हैं, तब भोग से उदास हो जाते

हैं। जब भोग में मग्न होते हैं, तब तत्त्वज्ञान से दूर हो जाते हैं। भोग अभिलाषा की दशा ही मिथ्यात्व है। जो तीव्र भोग में मग्न रहते हैं, वे मिथ्यात्वी जीव हैं और जो भोग से उदास हो जाते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं। इसलिए भोग से उदास होकर योग की ओर बढ़ना ही श्रेयस्कर है।

निर्जरा के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में लिखा है—

यथा कर्माणि शीर्यन्ते बीज-भूतानि जन्मनः।

प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः॥

निर्जरा से जीर्ण हो गये हैं कर्मबन्ध जिनके, ऐसे मुनिजन, जिससे संसार के बीजरूप कर्म गल जाते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं। **विशुद्ध्यति**

हुताशेन सदोषमपि कांचनम्।

यद्वन्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना॥

जैसे सदोष भी स्वर्ण अग्नि में तपाने से विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार यह कर्मरूपी दोषों सहित जीव तपरूपी अग्नि में तपने से विशुद्ध और निर्दोष (कर्मरहित) हो जाता है।

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा।

यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा॥

संयमी मुनि वैराग्य पदवी को प्राप्त होकर जैसे-जैसे (ज्यों-ज्यों) तप करते हैं, तैसे-तैसे (त्यों-त्यों) दुर्जय कर्मों को क्षय करते हैं।

इन्द्रियभोग आस्रव-बंध के कारण हैं और योग निर्जरा का कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने 'समयसार' ग्रंथ की चौथी गाथा में लिखा है—

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।

एयत्तस्सुवलंभी णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

यह जीव काम, भोग, बन्ध सम्बन्धी चर्चा अनादिकाल से सुनता चला आ रहा है, अनादि से उसका परिचय प्राप्त कर रहा है अथवा अनादि से उसका अनुभव करता चला आ रहा है। इसलिए उस पर सहसा प्रतीति हो जाती है।

परन्तु यह जीव परपदार्थों से भिन्न है और अपने गुण-पर्यायों के साथ एकता प्राप्त कर रहा है। यह कथा आज तक नहीं सुनी, न ही उसका परिचय प्राप्त किया है और न अनुभव है। जहाँ योग है, वहाँ पर भोग नहीं। ये एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं, जैसे अमृत और जहर एकसाथ नहीं ठहर सकते। योग 'अमृत' है और भोग 'जहर' है।

जिस प्रकार कुम्भकार के चक्र पर जो मिट्टी का घड़ा बनाया जाता है तथा वह जिस प्रकार दण्ड के द्वारा भ्रमण करता है, उसी प्रकार संसारचक्र के मध्य में जो जीवलोक है, वह भी निरन्तर पंचपरावर्तन के रूप में मोह-पिशाच के द्वारा निरन्तर भ्रमण कर रहा है। भ्रमण करने से लोक भ्रान्त हो रहा है तथा नाना प्रकार के तृष्णारूपी रोगों से नाना प्रकार की चिन्ताओं से आतुर रहता है। इसके शमन करने के लिए पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करता है, परन्तु उससे शान्तभाव को नहीं पाता। जैसे-मृगादि मृगमरीचिका में जलबुद्धि कर तृषा की शान्ति के अर्थ दौड़कर जाते हैं, परन्तु वहाँ जल न पाकर फिर आगे दौड़ते हैं, वहाँ भी जल न पाकर परिश्रम करते-करते थककर अन्त में प्राण गँवाते हैं। इसी तरह यह प्राणी भी अंतरंग की कषायों के शमन करने के अर्थ पंचेन्द्रियों के विषयों में निरन्तर रत रहते हैं और दूसरों को भी यही उपदेश देते हैं।

तीनलोक की सम्पदा, चक्रवर्ती के भोग।

काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

सम्यग्दृष्टि को अगर भोग भोगने पड़ रहे हैं तो ऐसा नहीं कि वह सात व्यसन सेवन करने लगे। अगर वह सात व्यसनों में लग जाये तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, मिथ्यात्वी है। सम्यग्दृष्टि को जब भी वैराग्य का निमित्त आता है, तभी योग धारण कर लेता है, जैसे बज्रदन्त चक्रवर्ती राज्य कर रहे थे। माली एक सहस्त्रदल का कमल लेकर राजदरबार में आया तो वज्रदन्त ने देखा कि उसमें भौंरा मरा पड़ा है। उसे तुरन्त वैराग्य आ गया और वह विचार करने लगा कि जब एक इन्द्रिय के भोगों की यह दशा है, तो मेरी कैसी दशा होगी, क्योंकि मैं पाँच इन्द्रियों का भोगी हूँ? तभी योग धारण के लिए वह तैयार हो जाता है। अपने एक हजार लड़कों को बुलाया और कहा-बेटा! राज्य सम्भालो, हम वन

को जाते हैं। तो लड़के कहने लगे— “पिताजी! राज्य अच्छा है या बुरा? अच्छा है, तो आप क्यों छोड़ रहे हैं और बुरा है, तो हमें क्यों दे रहे हैं?” सारांश यह हुआ कि एक हजार लड़कों ने भी दीक्षा का निश्चय कर लिया। बज्रदन्त ने छह महीने के पोते को राज्यतिलक कर दिया और सब जंगल को चले गये। इसे कहते हैं योग। आदिनाथ भगवान् 83 लाख पूर्व तक घर में भोग भोगते रहे, लेकिन जब निमित्त आया तो नीलान्जना के निधन को देखकर वैराग्य हो गया और आदिनाथ जंगल को चले गए, तपस्या में लग गए, छह महीने का योग धारण कर लिया ध्यान में बैठे रहे। उनके साथ में चार हजार राजा और भी दीक्षित हुए थे। परन्तु उन्हें वैराग्य का ज्ञान नहीं था, इसलिए वे मुनिधर्म का पालन नहीं कर सके। आखिर सब मार्गच्युत हो गए। भाई! अगर भोग से कल्याण होता तो उसे तीर्थकर नहीं त्यागते। परन्तु उन्होंने भी भोगों को जहर के समान जानकर छोड़ दिया।

सुकमाल जब महलों में रहते थे तो उन्हें सरसों का दाना भी चुभता था। वह रत्नों की रोशनी में 32 रानियों के बीच में सोता था। जब भोगों से उदास हुआ, तो कमंद के द्वारा उतरकर मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली और योग धारण कर लिया। वही सुकमाल जंगल को जा रहा है, पैरों में कंकड़ चुभ रहे हैं, जाकर शिला पर बैठ जाता है। उसे गीदड़ी बच्चों सहित भक्षण करती है, फिर भी ध्यान में मग्न रहते हैं और तीन दिन में ही सर्वार्थसिद्धि चले जाते हैं।

भोगी प्राणी की दशा उस मक्खी जैसी है जो मधु के लोभ में मधुपान करती हुई उसी में चिपक कर रह जाती है। उसी भाँति हम अपनी इस स्थिति से मुक्त होने के लिए छटपटा रहे हैं, किन्तु जितना प्रयास करते हैं उतना ही उसमें ग्रसित हो जाते हैं। मनुष्य जितना पाता है, उससे अधिक भोगने का प्रयत्न करता है। वह कभी नहीं सोचता कि हम जिन भोगों में अपना विकास समझते हैं वह विकास नहीं, विनाश है। विकास तो योग में है, भोग तो सर्वनाशवान् हैं। योग का सुख सदा रहने वाला है। भोग में पड़ा रावण सीता का हरण करके ले गया। विमान में जा रहा था तो कहता है—“सीता! तुम मेरे भोग भोगो। मैं तीन खण्डों का राजा हूँ तथा सोने की लंका है, अठारह हजार

रानियाँ हैं, उनकी पटरानी बनाऊँगा।” तब सीता कहती है कि यह सब मेरे लिए मिट्टी के समान हैं। अगर तू मूझे हाथ लगाएगा, तो नरक जायेगा। उस रावण ने भोग के लिए बहुरूपिणी विद्या शान्तिनाथ भगवान् के चैत्यालय में सिद्ध की। अखंड ध्यान को भोग के लिए लगाया। अगर इतना ध्यान आत्मा में लगा लेता तो मोक्ष चला जाता, लेकिन भोगों की वजह से नरक जाना पड़ा।

सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जावेगी इच्छा ज्वाला।

परिणाम निकलता है लेकिन, मानों पावक में घी डाला।।

हम भोगों से इच्छा को बुझाना चाहते हैं, लेकिन वह बुझ नहीं सकती, बल्कि भोगने से और ज्यादा भड़कती है, जैसे अग्नि में घी डालने से अग्नि ज्यादा तेज होती है।

एक समय की बात है कि भवदेव और भावदेव दो भाई थे। भवदेव तो निमित्त पाकर देव हो गया और भावदेव घर में स्त्री में रत रहता था। लेकिन भवदेव का भाव यह भी रहा कि मेरा भाई कल्याण कर ले। उसने नगर में आकर भाई को उपदेश दिया। वह भावुकता में आकर मुनि बन गया, लेकिन मन भोगों में रहा। सोचता रहता था कि कब नगर में जाऊँ और अपनी स्त्री से मिलूँ। लेकिन वह स्त्री तो आर्यिका के व्रत ले चुकी थी। वह भावदेव मौका पाकर नगर में आया और हर प्राणी से पूछता कि भावदेव की स्त्री को देखा है? वह कह देते कि हमको नहीं मालूम। घूमता-घूमता मंदिर में पहुँच गया, वहीं पर वह भी ठहरी थी। उससे भी भावदेव ने यही पूछा। साध्वी पहिचान कर बोली—योग क्यों लिया था जब भोग भोगने की इच्छा थी?

सारांश यह है कि वह फिर वास्तविक योगी बन गया। अगर साधु बनने के बाद भोग चाहिए, बढ़िया खाने को, कूलर-पंखे और बाजे, अनेक सामग्रियाँ चाहिए, तो साधु क्यों बने? भोगों को कहाँ-कहाँ तक कहा जाये। जब तक भोगों में मन है, तब तक साधना अथवा योग नहीं है। योगी को भेदविज्ञान की कला में पारंगत होना चाहिये। स्व-पर का भेदज्ञान होने पर भोगों की लालसा व मोह विलीन हो जाता है।

एक नगर में एक धार्मिक प्रकृति का राजा न्यायपूर्वक राज्य करता था।

उसकी सर्वांगसुन्दरी नाम की एक कन्या थी। एक दिन एक चोर रात्रि के समय राजमहल में चोरी करने गया और राजा के कमरे के पास छिपकर बैठ गया। सोने के कमरे में रानी राजा के पास आयी और बातें करने लगी। चोर भी राजा-रानी की बात कान लगाकर सुनने लगा। रानी ने राजा से वार्तालाप के प्रसंग में कहा—“राजन्! अपनी पुत्री विवाह योग्य हो गयी है और आप उसके विवाह के योग्य कोई वर नहीं देखते। आखिर राज्य के कार्यों की तरह यह कार्य करना भी तो आवश्यक है।” राजा ने कहा कि — “पुत्री के लिए मुझे धनिक या राजपुत्र नहीं देखना है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति प्रायः चारित्रहीन और दुर्व्यसनी होते हैं। मैं तो पुत्री के लिए सुन्दर, सदाचारी, स्वस्थ, साधुपुरुष देखूँगा। पुत्री का विवाह करके उसको अपना आधा राज्य दे दूँगा। धन व राज्य की अपेक्षा मैं सदाचार को विशेषता देता हूँ। रानी ने कहा— “आपका विचार तो ठीक है, परन्तु यह कार्य शीघ्र करना चाहिए।” राजा ने कहा कि मुझे अगर कल ही ऐसा वर मिल गया तो मैं कल ही पुत्री का विवाह कर दूँगा। रानी सन्तुष्ट होकर सोने चली गयी। चोर ने विचार किया कि अपने भाग्य की परीक्षा करूँ। यदि राज्य व कन्या मुझे मिल जाए, तो सब दुःख दूर हो जायेंगे। ऐसा विचार कर वह बिना चोरी किये ही राजमहल से वापिस चला गया और प्रातः होते ही अपना रूप धार्मिक साधु का बनाकर एक स्वच्छ स्थान पर बैठा, जहाँ पर राजा प्रतिदिन आता-जाता था। उसने मार्ग में साधु भेषधारी तरुण चोर को देखा, तो राजा को रात की बात याद आ गयी। उसने इस साधु भेषधारी तरुण चोर को देखकर विचार किया कि पुत्री के लिए यह वर उपयुक्त होगा। ऐसा विचार करके उसने उसे बड़े सम्मान से रथ में बैठा लिया और राजमहल में ले गया। चोर बहुत प्रसन्न हुआ कि मेरा प्रयत्न सफल हो गया। तदनन्तर उसने विचारा कि मैंने बनावटी रूप से साधुरूप बनाया, उसका फल मुझे यह मिला। यदि मैं सचमुच साधु बन जाऊँ, तो सदा के लिए परम सुखी/मुक्त हो जाऊँगा। इस कारण अब मेरी परीक्षा का समय है। इसमें मुझे फेल नहीं होना चाहिए। राजा उस साधु को लेकर राजमहल में पहुँचा। उसे सम्मान के साथ ऊँचे आसन पर बिठाया। रानी ने भी उसे पसन्द कर लिया। तब राजा ने उससे निवेदन किया कि आप

मेरी पुत्री स्वीकार कीजिए और राजमहल में रहकर आनन्द कीजिए। दहेज में आपको आधा राज्य दूँगा। चोर सावधान होकर बोला कि राजन! मुझे यदि गृहस्थी के कीचड़ में फँसने की इच्छा ही होती, तो मैं साधु क्यों बनता? मैं तुम्हारी पुत्री का पति नहीं बनना चाहता। मैं योगी रहते हुए मुक्ति रूपी पत्नी का पति बनूँगा। यह कह कर वह वन में चला गया और मुनिदीक्षा लेकर तप करने लगा।

दुःखी आदमी मनोरंजन के साधन खोजता है। एक आदमी एक शरीर से हजार रूप बनाता है—कभी पुजारी, कभी इन्द्र बनता है आदि। वह मन में भी अनेक रूप बनाता है, दुकान पर बेईमान बन जाता है, तो कभी दानी बनता है, लड़ने—झगड़ने के समय वह क्षत्रिय से कम नहीं होता। तो फिर सरलता कहाँ रही? जैसे किसी मंदिर के गुम्बज में कांच के हजार टुकड़े लगे हैं, तो आपको अपने हजार रूप दिखेंगे। उसमें एक दिया जलाया, तो हजार दिए जलते दिखेंगे। इसी तरह हम संसार में केवल अपने को देखेंगे तो अकेले होकर अपना रूप देख पाएँगे अन्यथा संसार में देखने पर अपने को हजार रूपों में विभक्त पाएँगे। हमारी यह रूप बदलने की माया ही है कि रात को सपना सच हो जाता है, दिन में संसार सच हो जाता है। सिनेमा के परदे पर प्रकाश की किरणें सच होती हैं, पर वास्तविकता कुछ भी नहीं है।

जापान में एक फकीर नीम के पेड़ के नीचे साता था। कई लोग उसे प्रणाम करते थे। एक राजा ने निमंत्रण दिया तो फकीर उसके महल में रहने को चला गया। पर राजा हैरान हुआ कि कैसा साधु हैं, इसके कार्यकलाप विचित्र हैं। रातभर राजा सो न सका। सुबह होने पर राजा ने फकीर से पूछा—“क्या कारण है कि आप निश्चिन्त रहते हैं, आपको कोई तनाव नहीं है, यह मेरी शंका है।” फकीर ने कहा—“चलो एकान्त में बताऊँगा।” फकीर आगे चलता गया। राजा भी उसके पीछे—पीछे चलता गया। राजा भी पैदल गया। बहुत दूर निकल जाने पर राजा बोला— बताओ। फकीर बोला—और आगे चले चलो, फिर बताऊँगा। राजा बोला मेरा महल पीछे रह गया है, मैं अब आगे कैसे चलूँ? अब यहीं बताओ। फकीर बोला— मेरा कोई महल पीछे नहीं, तुम्हारी महल है। यही

अंतर है कि तुम मरते समय कहोगे कि मेरा राज्य चला गया, मेरा धन—धान्य चला गया। फकीर ने संक्षेप में समझाकर बता दिया और कहा—स्वप्नों की धूल स्मृति से निकाल दो, दिन भर की घटित घटनाओं को भी भूल जाओ, तो सरलता आयेगी।

सम्यग्दृष्टि जीव की दशा का वर्णन करते हुये श्री शिवराम जी ने लिखा है—

दुनियाँ में रहें या दूर रहें, जो खुद में समाये रहते हैं,
सब काम जगत का किया करें, नहीं प्यार किसी से करते हैं।
यह चक्रवर्ती पद भोग करें, पर भोगों में लीन नहीं रहते हैं,
वह जल में कमल की भांति सदा, घर बार बसाये रहते हैं।

दुनियाँ में रहें या दूर रहें—
वह नरक वेदना सहते हैं, पर मग्न रहें निज आत्म में,
वह स्वर्ग सम्पदा पाकर भी, रुचि हटाये रहते हैं।
दुनियाँ में रहें या दूर रहें—
नहीं कर्म के कर्त्ता बनते हैं, स्वामित्व न आपना वे धरते हैं,
नहीं सुख में सुखी, नहीं दुःख में दुःखी, समभाव धराये रहते हैं।

दुनियाँ में रहें या दूर रहें—
हैं धन्य—धन्य वे निर्मोही, जिन शान्त दशा यह प्रगटाई,
'शिवराम' चरण में उनके, सदा शीश झकाये रहते हैं।

दुनियाँ में रहें या दूर रहें—
आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है—

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्रमवम्।

सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यङ्गी सुवर्णवत्॥

यद्यपि कर्म अनादिकाल से जीव के साथ लगे हुये हैं, तथापि वे ध्यानरूपी अग्नि से स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं। उनके क्षय हो जाने से जैसे अग्नि के ताप से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी तप से कर्मों की निर्जरा कर शुद्ध (मुक्त) हो जाता है।

मुक्ति पाने के लिये आत्मा को तपना ही पड़ता है। ऐसे तप करने वाले को ही तपस्वी कहा जाता है। स्वेच्छा से वह तपता है, कष्टों को प्रसन्नता पूर्वक सहता है, किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं करता। मानव का जीवन एक शुद्ध स्वच्छ दर्पण के समान होता है। इस पर समय-समय पर अशुद्ध कर्मों की धूल की परतें जमती रहती हैं। अतः तप द्वारा इस दर्पण की सफाई नितान्त आवश्यक है। जो व्यक्ति दर्पण में धूल के कणों को जमने देते हैं, फिर उनका जीवन दर्पण नहीं रह जाता, परमात्मा का बिम्ब उस पर बिम्बित नहीं होता। अतः दर्पण की स्वच्छता के लिए धूल हटाना आवश्यक है। यह तपस्या से ही सम्भव है। दर्पण यदि स्वच्छ है, तो परमात्मा का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देगा।

कर्म कठोर गिरावन को निज, शक्ति समान उपोषण कीजे।

बारह भेद तपे तप सुन्दर, पाप जलांजलि काहे न दीजे॥

भाव घरी तप घोर करो, नर-जन्म सदा फल काहे न लीजे।

ज्ञान कहे तप जे नर भावत, ताके अनेकहि पातक छीजे॥

कठोर कर्मों को गिराना अर्थात् क्षय करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार व्रत, तप, उपवास आदि करना चाहिए। बारह प्रकार के तपों को भली प्रकार पालन कर पाप को जलांजलि क्यों न दे दी जाय? भावसहित घोर तप करके नरपर्याय का वास्तविक फल अर्थात् मोक्ष पद क्यों नहीं प्राप्त किया जाय? ज्ञानीजन कहते हैं कि जो मनुष्य भावसहित तपों को तपता है, उसके अनेक पापों का हरण हो जाता है। इस प्रकार नरपर्याय को सफल बनाना ही उसकी सार्थकता है।

जो तप तपे खपे अभिलाषा, चुरै कर्म शिखर गुरु भाषा।

गुरु कहते हैं कि जो प्राणी तप तपता है, उसकी सभी इच्छायें नष्ट हो जाती हैं और उसके सभी कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं।

तप दोषों की निवृत्ति के लिए परम आवश्यक है। मिट्टी भी अग्नि के तपन को पार कर पात्र का रूप धारण करती है, तभी आदर प्राप्त कर पाती है। पहले कष्ट, फिर लाभ होता है। यह जो नरपर्याय है, यह एक जंक्शन है। प्रत्येक दिशा में यहाँ से लाईन जाती है। यहाँ से नरक, स्वर्ग, मनुष्य, तिर्यन्च

योनि को प्राप्त किया जाता है और इसी पर्याय से परमात्म पद भी प्राप्त किया जा सकता है।

यह शरीर निगोदिया जीवों का पिण्ड है, अशुचि है, धिनौना है, असार है। यह शरीर दुःख का कारण है, अनेक दुःख उत्पन्न करता है, अनित्य है, अस्थिर है, अशुचि है एवं कृतघ्न के समान है। करोड़ों उपकार करने पर भी जैसे कृतघ्न अपना नहीं होता है। अतः चाहे जैसे उपायों से इसे पुष्ट करना उचित नहीं है।

शरीर के बिना धर्म नहीं होता है। धर्म के बिना कर्मों का नाश नहीं होता, इसलिए अपने प्रयोजन के लिए विषयों में आसक्ति रहित होकर, सेवक के समान उसको योग्य भोजन देकर, यथाशक्ति जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग से विरोध रहित काय-क्लेशादि करना योग्य है। तप किये बिना इन्द्रियों के विषयों से लोलुपता नहीं घटती है। तप किये बिना तीनलोक को जीतनेवाले काम को नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं होती है। तप बिना आत्मा को अचेत करने वाली निद्रा नहीं जीती जा सकती है। तप बिना शरीर का सुखिया स्वभाव नहीं मिटता है। तप के प्रभाव के द्वारा जो शरीर को वश में रखा होगा, उसे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परीषहों के आने पर कायरता उत्पन्न नहीं होगी। संयम धर्म से चलायमान नहीं होगा। तप कर्मों की निर्जरा का कारण है, अतः तप करना श्रेष्ठ है।

अपनी शक्ति को छिपाये बिना जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग से विरोध रहित हो, उस प्रकार तप करो। तप नामक सुभट की सहायता के बिना श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप धन को क्रोध, प्रमाद आदि लुटेरे एक क्षण में लूट लेंगे, तब रत्नत्रय सम्पत्ति से रहित होकर चर्तुगतिरूप संसार में दीर्घकाल तक भ्रमण करोगे। सभी तपों में प्रधान तप दिगम्बरपना है। कैसा है दिगम्बरपना? घर की ममतारूप फंदे को तोड़कर, देह का समस्त सुखियापना छोड़कर अपने शरीर में शीत, उष्ण, गर्मी, वर्षा, वायु, डांस, मच्छर, मक्खी आदि की बाधा को जीतने के सन्मुख होकर, कोपीनादि समस्त वस्त्रों का त्याग कर दश दिशारूप ही जिसके वस्त्र हैं ऐसा दिगम्बरपना धारण करना अतिशयरूप है। जिसके स्वरूप को देखने-सुनने पर बड़े-बड़े शूरवीर काँपने लगते हैं। हे भव्य जीवों

यदि संसार के बंधन से छूटना चाहते हो तो जिनेश्वर देव संबंधी दीक्षा धारण करो। उस तप से शरीर का सुखियापना नष्ट हो जाता है। उपसर्ग परीषह सहने में कायरता का अभाव हो जाता है। जिससे स्वर्गलोक की रंभा, तिलोत्तमा भी अपने हावभाव, विलास, विग्रह आदि द्वारा मन को काम विकार सहित नहीं कर सकती है ऐसे काम को नष्ट करना तप है। इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तन का अभाव हो जाना तप है। दोनों प्रकार के परिग्रह में इच्छा का अभाव हो जाना तप है। निर्जन वन में, पर्वतों की भयंकर गुफा में, जहाँ भूत, राक्षस आदि की छायाएँ विचरण करती हों, सिंह, व्याध्र आदि के भयंकर शब्द हो रहे हों, करोड़ों वृक्षों से अंधकार हो रहा हो, सर्प, अजगर, रीछ, चीता इत्यादि भयंकर दुष्ट तिर्यचों का आना-जाना हो, ऐसे महाविषम स्थानों में भयरहित होकर ध्यान-स्वाध्याय में निराकुल होकर रहना, तप है। आहार के लाभ-अलाभ में समभाव रखना, मीठा, खट्टा, कड़ुआ, कषायला, ठंडा, गरम, सरस, नीरस भोजन-जलादि में लालसा रहित सन्तोष रूप, अमृत का पान करते हुए आनंद में रहना, तप है। दुष्ट देव, दुष्ट मनुष्य, दुष्ट तिर्यन्चों द्वारा किये गये घोर उपसर्गों के आने पर कायरता छोड़कर कम्पायमान नहीं होना, तप है। जिससे चिरकाल का संचित किया हुआ कर्म निर्जरित हो जाये, वह तप है। कुवचन बोलने वालों में, निंद्य दोष लगाने वालों में, ताड़न-मारन आदि में, द्वेषबुद्धि में कलुषित परिणाम नहीं करना तथा स्तुति पूजनादि करने वालों में रागभाव का उत्पन्न नहीं होना, तप है।

पाँच महाव्रतों को धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, पाँच इन्द्रियों का निरोध करना, छह आवश्यकों को यथासमय करना, अपने सिर तथा दाढ़ी, मूँछ के बालों को अपने हाथ से उपवास के दिन लोंचना, तप है। दो माह पूरे हो जाने पर उत्कृष्ट, तीन माह पूरे होने पर मध्यम, चार माह पूरे हो जाने पर जघन्य केशलोंच होता है। वह भी तप है। शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल में नग्न रहना, यावज्जीवन, स्नानादि नहीं करना, जमीन पर शयन करना, अल्पनिद्रा लेना, दाँतों का मंजन नहीं करना, एक बार खड़े-खड़े ही रस-नीरस स्वाद छोड़कर थोड़ा भोजन करना आदि, इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्ड

पालन करना भी बड़ा तप है। इन मूलगुणों के प्रभाव से घातिया कर्मों का नाश कर जीव केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं।

जैसे कढ़ाई में पूड़ी छटपटाती है, उसी प्रकार यह मानव सांसारिक दुःखों से छटपटाता है, परन्तु तप द्वारा ही इसका निवारण होता है। जिस प्रकार जब लोहा वक्र हो जाता है तो उसको सीधा करने के लिए तपाना पड़ता है, उसी प्रकार इन्द्रिय विषय—भोगों और कषायों की निवृत्ति के लिए आत्मा को तपाना ही एकमात्र साधन है। आचार्य कहते हैं कि इच्छाओं का निरोध करना तप है। इच्छाओं का निरोध वानर नहीं, नर कर सकता है। नारकी और देव भी इच्छाओं का निरोध नहीं कर सकते। एक मनुष्य पर्याय ही ऐसी है जहाँ पर नारायण बनने का खेल खेला जा सकता है। जिसे संसार के स्वरूप का बोध हो जाता है, वह तप को अंगीकार कर लेता है।

आज से दो हजार वर्ष पूर्व भारत की राजधानी उज्जैयिनी थी उसे आजकल उज्जैन कहते हैं। भर्तृहरि व विक्रमादित्य दो भाई थे। भर्तृहरि राजा थे। भर्तृहरि धर्मात्मा होने से प्रजा भी धर्मात्मा थी, उसका भाई भी बहुत धर्मात्मा था। विक्रम संवत् भी उसके नाम से चलता है। भर्तृहरि के दो विवाह हुए थे, फिर भी किसी रूपवती नारी से सम्बन्ध मिलने पर उनका तीसरा विवाह भी हो गया। इस नई महारानी का नाम पिंगला था। महारानी पिंगला ज्यादा रूपवती होने से महाराज उस पर ऐसे मोहित हुए कि अपनी विद्या, बुद्धि, विवेक और विचार को ताक पर रख दिया। अब वह पिंगला की कठपुतली बन गये। पिंगला जो भी चाहती, वह ही राजा से करवाती। हम केवल भर्तृहरि को ही दोषी क्यों ठहरायें? बड़े—बड़े महारथी भी कामिनियों के जाल में फँस कर अपनी सारी अक्ल खो बैठते हैं। बड़े—बड़े शूरवीर भी जो संसार में विजय प्राप्त कर सकते हैं, वे भी इनके सामने कायर हो जाते हैं। ये अबला कहे जाने पर भी सबला हैं। जब कोई इनके वश में हो जाता है तो उसका ज्ञान काफूर हो जाता है। महाराज भर्तृहरि महान विद्वान् और बुद्धिमान थे। होनी बलवान होने से उन्होंने महारानी पिंगला को सिर पर चढ़ा लिया। पिंगला एक नीच दरोगा को चाहने लगी। उसके पापाचार का पता विक्रमादित्य को चला। अपने ऊँचे कुल में दाग

लगतें देख और भाई के अनिष्ट की आशंका से उसका मन काँप उठा। विक्रम ने यह बात भाई से कहने के लिए कई बार संकल्प किया। पर वह महाराज का रानी पर प्रेम देखकर कहने का साहस नहीं कर सका। आखिर एक दिन मौका पाकर उसने महाराज से कहना प्रारम्भ किया। पूज्य भाई! आप सब प्रकार से बुद्धिमान हैं, लेकिन आप धोखा खा रहे हैं। आपसे कहने में डर लगता है और न कहूँ तो कुल को दाग लगता है। सुनिये, मेरे बड़े भ्राता! क्या कहूँ, कहा नहीं जाता, पर दुविधा में कहना पड़ रहा है। भाभी के सम्बन्ध में बहुत बुरी बात सुनी है, पर मैंने उसे सुनकर ही सत्य नहीं माना। उसकी पूरी तरह से जाँच की और फिर विश्वास किया। महाराज! आप तो शास्त्रों के जानकार हैं। स्त्रियों की बातों में मधु और हृदय में हलाहल विष भरा रहता है। जो उनको सती-साध्वी समझते रहते हैं, वह बड़ी भूल करते हैं। यहाँ भर्तृहरि ने यह सब सुनकर विक्रम से कहा कि तुम्हें भ्रम हो गया है। पिंगला एक आदर्श नारी है। वह दिन-रात मेरा ही जाप करती रहती है। ऐसी पतिव्रता पर कलंक लगाकर आपने अच्छा नहीं किया। अब तक जो कह दिया सो कह दिया, अब आगे कहने की कोशिश न करना। तुम मेरे भाई हो, इसलिए इतना कह रहा हूँ, नहीं तो सूली पर चढ़ा देता। विक्रम चुपचाप बैठा रहा। उधर पिंगला को भी यह पता चला कि उसके पापकर्म का पता विक्रमादित्य को लग चुका है। उसने उसके लिए त्रियाचरित्र शुरू कर दिए। महाराज के प्रति पहले से भी अधिक प्रेम का प्रदर्शन करने लगी। मौका पाकर पिंगला ने विक्रमादित्य के प्रति कान भरने शुरू कर दिये। महाराज! आप बुरा तो मानेंगे, आपके भाई विक्रम का व्यवहार कुछ अच्छा नहीं है। मैं तो उनकी माता के समान हूँ, पर वह अपने नगर के एक धनिक पुत्र की वधु पर आसक्त हैं। उसने उसके लिए कई दासियाँ भी लगा रखी हैं। पर वह अब तक उसके वश में नहीं आयी, मैं नहीं समझती कि यह बात कितनी सत्य है। इधर तो उसने कहा और उधर उसने नगर सेठ को बुलाकर कह दिया कि जो मैं कह रही हूँ वह करना होगा, नहीं तो मैं तुम्हारी जान भी ले सकती हूँ और तुम्हारा कुछ भी नहीं बचेगा। मरता क्या नहीं करता, क्योंकि सारा नगर जान चुका था कि महाराज पिंगला के हाथों बिक चुके हैं, इसलिये यह जो काम

करायेगी उसे ही महाराज करेंगे। अतः बहुत सोच-विचार करने पर सेठ रानी की बात पर राजी हो गए। दूसरे दिन दरबार लगा, दरबार में एक व्यक्ति दुहाई-दुहाई का शोर मचाता हुआ आया। महाराज ने उसे सामने बुला कर बात पूछी। उसने भरी सभा में कहना शुरू कर दिया—‘महाराज! आपके छोटे भाई बड़े ही दुराचारी, अत्याचारी, अनाचारी, व्यभिचारी हो गये हैं। सेठ ने अभी इतना ही कहा था कि महाराज के मन में पिंगला की बताई हुई बात घूम गई, उन्हें मन-ही-मन पिंगला का घोर विश्वास हो गया। आखिर सेठ ने वही सारी कहानी दोहरा दी जो पिंगला ने बताई थी। इतने में महाराज का चेहरा तमतमा उठा। विक्रम ने सेठ से कहा कि तुम बुढ़ापे में झूठ बोल कर क्यों पाप सिर चढ़ाते हो? मैं तो तुम्हारी पुत्रवधु को जानता तक नहीं कि वह भली है या बुरी? मेरे लिए वह माता के समान है। यदि मेरे ऊपर दोषारोपण करके अपना मतलब भी सिद्ध करोगे तो इससे क्या होगा? सांसारिक धन-दौलत भी आपके साथ नहीं जायेगी। ये शरीर और धन-दौलत भी तो अनित्य है। अतः सेठ जी! धर्म को न छोड़ो। आप किसी के डर से यह दोष मुझ पर लगा रहे हैं। जब जाँच करने पर भेद खुलेगा, तब आपकी क्या दशा होगी? विक्रम की बातें न सुनकर महाराज भर्तृहरि ने कहा— रे नीच, रे पापी! तू मेरे सामने बातें बना कर सच्चा बनने की कोशिश न कर। अब तेरी मक्कारी, धोखेबाजी नहीं चलेगी। अगर अपने प्राणों की रक्षा चाहता है तो यहाँ से इसी समय भाग जा। विक्रम भाई की बात सुनकर बोला कि मैं तो अभी चला जाता हूँ, पर आपने यह बात जो बिना जाँच कराये एक तरफ ही फैसला दिया है, यह सरासर गलत है। एक दिन आपको पछताना पड़ेगा और आपका दिल मुझे याद कर रोयेगा। लेकिन परमात्मा आपका मंगल करें, सद्बुद्धि दें। और यह कहकर वह वन की ओर चला गया।

इस घटना को कई वर्ष बीत गए। भर्तृहरि के राज्य में ही नगर का एक दरिद्र ब्राह्मण अपनी इष्ट सिद्धि के लिए किसी देवता की घोर तपस्या या आराधना कर रहा था। देवता ने प्रसन्न होकर कहा—मैं तुम्हारे तप से बहुत प्रसन्न हूँ, इसलिए वरदान में एक फल देता हूँ। इस फल को साधारण फल नहीं

समझना। इस फल का नाम अमर है। इसके खाने वाले की मृत्यु नहीं होती। ब्राह्मण उस फल को देखकर और लेकर घर आया। स्त्री से सारा सोच-विचार कर ब्राह्मण उस फल को लेकर राजा के पास आ पहुँचा। महाराज ने उस ब्राह्मण को अपने पास बुला लिया और कहा—हे द्विज! आपको क्या कष्ट है? ब्राह्मण ने उस अमर फल की सारी कहानी राजा को कह सुनाई और वह फल राजा के हाथ पर रख दिया। महाराज ने खुश होकर बहुत धन उस ब्राह्मण को दिया। ब्राह्मण के विदा होते ही भर्तृहरि मन-ही-मन सोचने लगा कि यह फल बहुत अच्छा है, लेकिन समझ में नहीं आता कि ये फल खुद खाऊँ या पिंगला को खिलाऊँ? विचार कर वह फल पिंगला को दे दिया। अब पिंगला के मन में यह विचार आया कि इसका क्या करना है? उसने वह फल अपने प्रेमी दरोगा को दे दिया। मन-ही-मन दरोगा भी सोचने लगा कि इस फल को मैं खाऊँ तो क्या फायदा? मैं इसे अपनी प्रेमिका वेश्या को दे आऊँ। दरोगा साहब को आया देखकर वेश्या ने उन्हें अपने पास बैठाया और आने का कारण पूछा। दरोगा ने अमर फल की सारी कहानी बता दी और वह फल वेश्या को दे दिया। अब वेश्या सोचने लगी कि मैंने बहुत पाप किये हैं। अमर फल को खाने से ज्यादा जीना पड़ेगा, इतना ही दुःख भुगतना पड़ेगा। इसलिए यह फल मेरे खाने योग्य नहीं है, यह फल महाराज भर्तृहरि को देना चाहिए। वह राजा अमर रहेगा तो प्रजा सदासुखी रहेगी। और उसने वह फल लाकर राजा को दे दिया। फल देखते ही राजा के होश उड़ गए, वे सारी स्थिति समझ गए। उन्हें पिंगला के विश्वास पर बड़ी ग्लानि हुई, उन्हें जबरदस्त सदमा लगा। अब उनकी आँखें खुलीं तो पता चला कि स्त्रियों की प्रीति में सार नहीं होता। उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और समझ लिया कि संसार में कोई किसी का नहीं होता।

वह राजा संसार के विषयभोगों से एकदम विरक्त हो गया। यह सब मिथ्यासंसार है। इसमें फँसकर मनुष्य अपना कीमती जीवन गँवा देता है। वह बार-बार कामदेव को धिक्कारते हैं। उन्होंने सारा राजपाट त्याग दिया और धनदौलत वैभव को छोड़कर वन को चले गए। चलते समय मन्त्री से कहा कि मैंने विक्रम के साथ बड़ा अन्याय किया है, मुझे उस समय कुछ भी ज्ञान न था,

मेरी अक्ल पर पर्दा पड़ गया था, मेरा भाई तो बहुत धर्मात्मा था, वह चारित्रवान् भी था। विक्रम की फोटो लगा कर गद्दी पर बैठा देना। महाराज अगर चाहते तो पिंगला को जमीन में जिन्दा गड़वा देते, दरोगा को तोप के मुँह पर रख देते, परन्तु उन्हें तो निर्मल ज्ञान हो गया था। ऐसा ज्ञान भी उन्हें होता है जिसका उदय पलटा खाता है। मनुष्य से तो साधारण—सी वस्तु भी नहीं छोड़ी जाती, इच्छाओं का त्याग भी नहीं होता, तब राज्य और सम्पूर्ण वैभव को त्याग देना बहुत बड़ी बात है। भर्तृहरि वन में जाकर तपस्या करने लगे। अनादिकाल से मोह के उदय में इस जीव को अपने स्वरूप का भान नहीं है, वह परिग्रह में ही संलग्न है। उसी के संग्रह में आनन्द मानता है और उसके वियोग में दुःखी होता रहता है। पर के ऊपर “यह पर है” ऐसी दृष्टि नहीं है, किन्तु उसके स्वरूप में अपना ही स्वरूप देखता है। दोनों का भेदज्ञान उसे नहीं है। यह सुनिश्चित है कि परद्रव्य उसका कभी नहीं होगा। पर का परिणमन तो पर के अधीन है। अज्ञानीजन मोह से उसमें आत्मस्वरूप देखते हैं—यही उनके दुःख का मूल हेतु बन जाता है। इस भूल को दूर करने का ही उपदेश देते हैं कि हे भाई! इस अन्तरंग—बहिरंग परिग्रह को त्याग दे। मिथ्यात्व, कषाय आदि अन्तरंग परिग्रह और धन—धान्यादि बाह्य परिग्रह का त्याग ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय है। ज्ञानी जीव स्वयं त्याग करता है और अज्ञानी जीव को परवश होकर छोड़ना पड़ता है।

एक राजा अपने मंत्री के साथ शहर में घूमने निकला। मार्ग में एक कुंजड़ी मिली जो शाक—भाजी बेच रही थी। उसकी लड़की बड़ी सुन्दर थी। दैवयोग से वह उस दुकान पर बैठी थी कि बादशाह का मन उस लड़की से निकाह करने का हो गया। उसने मंत्री से कहा— इस लड़की की शादी हमसे होना चाहिए। मंत्री बोला—‘क्या बड़ी बात है? महाराज! हो जाएगी। बादशाह तो अपने महल चला गया। मंत्री उस कुंजड़ी के पास आया और कहने लगा—तुम अपनी लड़की की शादी बादशाह के साथ कर दो। बहुत जेवर, माल मिलेगा और वहाँ वह अच्छी तरह रहेगी। अच्छा खाना, पहनना मिलेगा। तुम्हारे बड़े भाग्य, जो बादशाह ने ऐसी इच्छा जाहिर की।

वह कुंजड़ी बोली— अरे भैया! शादी कर दी तो बताओ— यहाँ कौन तो दुकान पर बैठेगा? और कौन शाकभाजी बेचेगा? मुझे नहीं खिलाना अच्छा खाना, नहीं पहिनाना अच्छा वस्त्र, बादशाह से नहीं करनी लड़की की शादी, चला जा।

वह मंत्री अपना—सा मुँह लेकर चला गया। बहुत से बड़े—बड़े पुरुष उसे समझाने के लिए गए। लेकिन उसने किसी की भी नहीं सुनी। अन्त में एक सिपाही ने कहा—हुजूर! आप आज्ञा दें तो मैं जाकर समझाऊँगा। मंत्री ने आज्ञा दे दी। वह सिपाही कुंजड़ी के पास जाकर बोला— तुम बादशाह से अपनी लड़की की शादी क्यों नहीं करती? क्या बात है? कुंजड़ी कहने लगी— अबे मुएँ! तू फिर समझाने आया है।

तब उस सिपाही ने उसकी चुटिया पकड़ कर खींच ली और इधर से उधर चार बार घुमाया। जब ज्यादा वेदना हुई, तब बोली— अरे भाई! बता तो सही, तू क्या चाहता है? सिपाही ने कहा—जो चाहता था, पहले कह दिया, अब और क्या कहलवाना चाहती है? आखिर हार मानकर बोली —अच्छा, कह दे बादशाह, से शादी मंजूर है। अब तो छोड़ दे।

दूसरे दिन बादशाह की उस लड़की से ठाठ से शादी हो गई। सत्य यही है कि स्ववश त्याग करना कोई नहीं चाहता, परवश त्याग कर देता है। लेकिन बुद्धिमान पुरुष वही है, जो स्ववश त्याग करके अपना कल्याण करते हैं।

परपदार्थ कितने ही काल तक रहें, पर एक दिन अवश्य जाने वाले हैं। चाहे हम उनका त्याग कर दें, अथवा हमें वे छोड़ दें या त्याग दें, उनका वियोग अवश्यंभावी है। संसारी जीव स्वयं उनका त्याग नहीं करते, यही बड़ा आश्चर्य है। जब ये पदार्थ स्वतन्त्रता से हमारा त्याग करते हैं, तब हमें बड़ा असन्तोष होता है, परन्तु यदि स्वेच्छा से उनका त्याग कर दिया जाए तो हमें अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

ज्ञानी और अज्ञानी में यही अन्तर है। ज्ञानी स्वयं का कर्ता और अज्ञानी पर का कर्ता बनता है। अज्ञानी भी अपने ज्ञान का ही कर्ता है। लेकिन मान्यता को क्या करें?

किनहू न करै न धरै को,
पर द्रव्य वृथा न हरै को।
सो लोक मांहि बिन समता,
दुःख सहै जीव नित भ्रमता॥

द्रव्यों को किसी ने न तो बनाया और न बनाने वाला है। अज्ञानी जीव वस्तुस्वरूप को न जानकर व्यर्थ ही भ्रमण किया करता है।

लोक के सर्वपदार्थ स्वतन्त्र हैं। न कोई अच्छा है और न कोई बुरा है। नीम का स्वभाव कटुक है। अब यदि कोई कहे कि नीम को क्यों बना दिया? अरे! तुम्हें नहीं रुचता तो ऊँट को तो अच्छा लगता है। कषाय अज्ञानियों के लिए होती है। ज्ञानी को तो सर्वत्र ज्ञान का ही आदरभाव है।

कषाय अच्छी न लगे, तो न करो। अच्छी लगे, तो उसके फल को भुगतने के लिए तैयार रहो। कषाय का स्वभाव अशुचि और दुःखरूप ही है। वर्णीजी की जीवनगाथा में एक दृष्टान्त है—

एक बार वर्णीजी को पैदल शिखर जी जाना था। वे दो मील पैदल चले और थक गए, आगे नहीं चला गया। उनके साथ एक रसोईया था, वह बोला—‘सागर दूर सिमरिया नियरी’—उन्होंने इसका मतलब पूछा तो वह कहने लगा सागर के एक व्यापारी को बुन्देलखण्ड के सिमरिया गाँव के एक व्यापारी से कुछ उधारी लेना थी, तो वह घोड़े पर सवार होकर सिमरिया चल दिया। थोड़ी दूर चलकर उसने एक राहगीर से पूछा, कि सिमरिया कितनी दूर है? उसने उत्तर दिया— “सागर दूर सिमरिया नियरी” अर्थात् तुमने सिमरिया की तरफ मुँह कर लिया है तो अब 500 मील दूर होकर भी निकट है और चार कदम पास होकर भी सागर की ओर से पीठ कर ली तो वह दूर हो गया। हमने उसका भाव समझ लिया। दूसरे दिन हम सात मील चले और तीसरे दिन कुछ और मील चले, इस तरह धीरे-धीरे शिखर जी पहुँच गए।

यह कहावत बिलकुल ठीक है। मोक्षमार्ग के सन्मुख हो जायें, तप को अंगीकार कर लें, तो संसार दूर और मोक्ष निकट है। जो तप के माध्यम से कर्मों की निर्जरा करता है, वह एक दिन समस्त कर्मों से रहित होकर मोक्ष में पहुँच

जाता है।

अनगिनत भवों के बंधे हुये कर्म उदय में आ रहे हैं, जिससे यह जीव अपने स्वरूप से च्युत होकर परभावों में लगता है और यही संसारभ्रमण का कारण बनता है। अतः उन कर्मों की निर्जरा किये बिना हम-आपका भला नहीं हो सकता। यहाँ चार दिन की यह चाँदनी दिख रही है, कुछ वैभव प्रसंग आ रहे हैं, जिनमें अपने मन को स्वच्छन्द बनाया जा रहा है, हठ की जा रही है। ऐसा यह समय तो स्वप्न हो जायेगा। यहाँ के किये हुये पाप के फल में इस जन्म-मरण की परम्परा में बहना होगा। तो कर्तव्य यह नहीं है कि जैसा मन ने चाहा वैसी हठ करके अपना मन खुश रखना। कर्तव्य यह है कि तप करके कर्मों की निर्जरा करना।

मोक्ष तत्त्व

पंडित श्री दौलतराम जी ने मोक्ष तत्त्व का वर्णन करते हुये लिखा है—

सकल कर्म तैं रहित अवस्था, सो शिव थिर सुखकारी।

इह विध जो सरधा तत्त्वन की, सो समकित व्यवहारी॥

समस्त कर्मों से रहित जीव की शुद्ध अवस्था को मोक्ष कहते हैं। एक बार मोक्ष प्राप्त हो जाने के बाद जीव सदा शुद्ध अवस्था में ही रहता है। उस अवस्था में जीव अपनी परम पवित्र, परम शुद्ध आत्मा में लीन रहता है। मोक्ष प्राप्त होने पर जीव चरमशरीर से किंचित् न्यून आकार धारण किये सिद्धशिला पर जाकर शाश्वत विराजता है। उनकी आत्मा में लोकालोक के तीनकाल संबंधी समस्त पदार्थ युगपत् झकलते हैं।

‘तत्त्वार्थ सूत्र’ जी में आचार्य उमास्वामी महाराज ने लिखा है—

बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः॥२॥

बन्ध के कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) का अभाव हो जाने से नये कर्मों का बन्ध होना रुक जाता है और तप आदि से पूर्व बन्धे हुये कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतः आत्मा सर्वकर्म बन्धनों से छूट जाता है। इसी का नाम मोक्ष है।

‘ज्ञानार्णव’ ग्रंथ में आचार्य शुभचन्द महाराज ने लिखा है—

निःशेष कर्म संबंध परिविध्वंस लक्षणः।

जन्मनः प्रतिपक्षे यहः सः मोक्षः परिकीर्तितः॥६॥

जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग रूप समस्त कर्मों के संबंध से सर्वथा नाश रूप लक्षण वाला तथा संसार का प्रतिपक्षी है, वही मोक्ष है। यह

व्यतिरेक प्रधानता से मोक्ष का स्वरूप है।

आत्मा का समस्त कर्मबन्धनों से छूट जाना ही मोक्ष है। वह मोक्ष दो प्रकार का है— द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। आत्मा का जो परिणाम समस्त कर्म बन्धनों के क्षय में कारण है, वह भावमोक्ष है और आत्मा से समस्त कर्मों का अत्यन्त भिन्न हो जाना, द्रव्यमोक्ष है। वह द्रव्यमोक्ष अयोगकेवली के अंतिम समय में होता है। वह मोक्ष आत्मस्वरूप ही है। जैसे स्वर्ण से आंतरिक और बाह्य मैल निकल जाने पर स्वर्ण के स्वाभाविक गुण चमक उठते हैं, वैसे ही कर्मबन्धन से सर्वथा छूट जाने पर आत्मा स्वाभाविक स्वरूप में स्थिर हो जाता है, यही मोक्ष है। संसार अवस्था में इन्द्रियजन्य ज्ञान, इन्द्रियजन्य सुख होता था, जो कि एक तरह से पराधीन होने से दुःखरूप ही था। इन्द्रियों की परधीनता के मिट जाने से मुक्तावस्था में स्वाधीन, स्वाभाविक अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख प्रगट हो जाते हैं, जो कभी नष्ट नहीं होते।

समस्त कर्मों से मुक्त होने पर जीव ऊर्ध्वगमन करता है—

तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकान्तात् ।।5।।

समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद मुक्त जीव लोक के अन्तभाग पर्यन्त ऊपर को जाते हैं।

सर्वार्थसिद्धि से 12 योजन ऊपर, 8 योजन मोटी, व 7 राजू पूर्व—पश्चिम और 7 राजू उत्तर—दक्षिण “ईषतप्राग्धार” नाम की आठवीं पृथ्वी है। जिसके अन्तिम ऊपरी भाग में बीचों—बीच मनुष्यलोकप्रमाण 45 लाख योजन समतल अर्द्धचन्द्राकार सिद्धशिला है। आठवीं पृथ्वी ईषतप्राग्धार के ऊपर 2 कोस, 1 कोस और 1575 धनुष के क्रम से तीन वातवलय हैं। अन्तिम वातवलय के 1 कोस से कुछ कम की मोटाई और 45 लाख योजन में अपनी—अपनी अन्तिम देह से कुछ न्यून आकार के सिद्ध भगवान् विराजमान हैं।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन का कारण बताते हुये लिखा है—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्च ।।6।।

पूर्व प्रयोग से, संगरहित होने से, बन्ध का नाश होने से, ऊर्ध्वगमन

स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊपर को ही जाता है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के उक्त चारों कारणों के क्रम से चार दृष्टान्त—

**आविद्ध कुलाल चक्रवद् व्यपगत लेपालाम्बु
वदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्च ।।7।।**

1. कुम्हार द्वारा घुमाये गये चाक की तरह पूर्व प्रयोग से ऊर्ध्वगमन करता है।
2. लेप दूर हो गया है जिसका, ऐसे तूम्बे की तरह संगरहित होने से ऊर्ध्वगमन करता है।
3. एरंड के बीज की तरह बन्धन रहित होने से अर्थात् एरंड का सूखा बीज जब चटकता है तब उसकी भिंगी जिस प्रकार ऊपर को जाती है, उसी प्रकार यह जीव कर्मों का बन्धन दूर होने पर ऊपर को जाता है।
4. अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से ऊपर को गमन करता है।

**मुक्त जीव का लोकाग्र से आगे न जाने का कारण
धर्मास्ति— कायाभावात् ।।8।।**

धर्मद्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव लोकाग्र भाग के आगे (अलोकाकाश में) नहीं जाते, क्योंकि जीव और पुद्गल का गमन धर्मद्रव्य की सहायता से ही होता है और अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव है। मुनिराज रत्नत्रय को धारण कर तप के माध्यम से समस्त कर्मों को आत्मा से विलग करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। ऐसे मुनिराजों के दर्शन मात्र से जीव मोक्षमार्ग को अंगीकार कर लेते हैं।

अयोध्या नगरी में सुरेन्द्रमन्यु नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी पत्नी का नाम रानी कीर्तिसमा था। इनके बज्रबाहु नाम का एक बहुत ही सुन्दर रूपवान् पुत्र था। माता उसे बाल्यपन से ही मुनिराजों के समीप ले जाती थी। इस बालक के हृदय में मुनिराज की छवि व वचन अंकित हो गये थे। जब यह बालक युवा हो गया, तब इसका विवाह हस्तिनापुर के राजा इमवाहन व रानी चूड़ामणि की पुत्री मनोदया से हो जाता है। मनोदया भी इतनी रूपवान व गुणगान थी कि उसकी उपमा चाँद से बढ़कर दी जाती थी। बज्रबाहु अपनी

पत्नी मनोदया को एक क्षण भी नहीं छोड़ता था। एक दिन मनोदया का भाई विवाह के दो दिन बाद ही बहन को लेने आ जाता है। जब मनोदया अपने घर(माँ के घर) अपने भाई उदय—सुन्दर के साथ जाने लगी, तब वह भी इनके साथ अपनी ससुराल चल देता है। रास्ते में चलते—चलते बज्रबाहु की दृष्टि एक पर्वत पर पड़ती है। यह देखकर बज्रबाहु के मन में अनेक विचार उत्पन्न होने लगते हैं। क्या यह पर्वत का अंग है? या यह कोई ढूँठ पड़ा है, अथवा कोई साधु है। जब यह निश्चय हो जाता है कि ये दिगम्बर साधु हैं, और अत्यन्त शान्त मुद्रा को धारण करने वाले हैं, तब वे उन्हें निहारते ही रहे। उनके लिए शत्रु—मित्र, महल—मसान, सोना—चाँदी सब एकसमान थे। घोर तपश्चरण करते, बाईस परीषह को सहन करने वाले वे महामुनिराज, बिल्कुल निस्पृही थे। इस प्रकार मुनिराज को देखकर बज्रबाहु की दृष्टि मुनिराज के ऊपर खम्भे में उत्कीर्ण के समान निश्चल हो जाती है। ऐसी चेष्टा देखकर उदयसुन्दर उपहास करता हुआ, हँसी करता हुआ अपने जीजा जी से कहता है कि— जीजा जी! आप मुनिराज को बहुत देर से देख रहे हैं। क्या आपका विचार मुनिराज बनने का है? बज्रबाहु कहते हैं—उदयसुन्दर! तेरा क्या विचार है? उदयसुन्दर हँसकर बोलते हैं कि मेरा क्या विचार है? जो जीजा जी का विचार है, सो मेरा विचार है। उदयसुन्दर जानता था कि जो अपनी पत्नी में इतना आसक्त हो कि दो दिन भी अपनी पत्नी को माँ के यहाँ अकेला नहीं भेज सका, स्वयं साथ हो लिया, वह क्या मुनि—दीक्षा लेगा? बज्रबाहु उदयसुन्दर का उत्तर सुन अपने रथ से उतरते हैं महाराज के पास जाकर मुनिदीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लेते हैं। अब उदय सुन्दर जीजा जी को बहुत समझाते हैं, माफी माँगते हैं कि मैंने तो मजाक किया था, आप तो सच में ही समझ गये। मनोदया भी बहुत समझाती है, किन्तु सब व्यर्थ हो जाता है। अब बज्रबाहु मुनिराज के पास जा अपने सब वस्त्र, आभूषण उतार मुनिदीक्षा ले लेते हैं। अपने केशों को अपने हाथों से घास के सदृश उखाड़ देते हैं और वहीं पद्मासन में आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं। यह देख उदयसुन्दर और मनोदया भी मुनिदीक्षा एवं आर्यिकादीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। ये सभी संसार के वैभव को क्षणभंगुर समझ कर जीर्ण तृण के समान छोड़

देते हैं। बज्रबाहु विचारने लगते हैं कि आज मैं इस भयंकर संसाररूपी कारागृह से निकल गया हूँ।

जिस प्रकार उलझा हुआ ऊनी एक मिनट में सुलझ जाता है, उसी प्रकार जिनके संस्कार उत्तम होते हैं, वे जीव भी शीघ्र निमित्त पाकर सुलझ जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं। यह कर्मों से मुक्त होना ही मोक्षतत्त्व है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— मुक्ति का अर्थ है दोषों से अपनी आत्मा को मुक्त बनाना। मुमुक्षु जीव सामायिक, प्रतिक्रमण आदि के माध्यम से अपनी आत्मा को सतत निर्दोष बनाने का प्रयास करता रहता है। वास्तविक मोक्ष अर्थात् निराकुलता जितनी—जितनी जीवन में आये, आकुलता जितनी—जितनी घटती जाये, उतना ही मोक्ष हुआ समझो।

संसारी प्राणी अनादिकाल से आक्रमण करने की आदत को लिये हुये जीवन जी रहा है, परन्तु मोक्षपथ का पथिक आक्रमण को हेय समझकर प्रतिक्रमण को जीवन में जीने का एक उपाय समझता है।

‘आक्रमण’ यह शब्द अपने आप में बता रहा है बाहर की ओर, यात्रा और प्रतिक्रमण यह बता रहा है अन्दर की ओर के बीच? आक्रमण संसार है, तो प्रतिक्रमण मुक्ति है। ‘कृत दोष निराकरणं प्रतिक्रमणं।’ किये हुये दोषों का मन—वचन—काय से, कृत—कारित—अनुमोदना से विमोचन करना, यह प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है ओर इस अर्थ की ओर दौड़ लगाता है वही पथिक, जो मुक्ति की वास्तविक इच्छा रखता है। अपनी आत्मा की उपलब्धि ही मुक्ति है और प्रतिक्रमण का अर्थ भी है अपने आप में मुक्ति। किससे मुक्ति? दोषों से मुक्ति। इसका अर्थ यह हो गया कि संसारी दोष करता है, किन्तु दोषी नहीं हूँ यह सिद्ध करने के लिये निरंतर आक्रमण करता जाता है दूसरों के ऊपर। एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिये हजारा असत्त्यों का आलंबन और लेता है।

प्रत्येक संसारी प्राणी अपने दोषों को मंजूर नहीं करता। वह उन दोषों का निवारण करने का प्रयास नहीं करता, किन्तु मोक्षमार्ग का पथिक वही है इस संसार में, जो अपने दोषों को छोड़ने के लिये, दंड स्वयं अपने हाथ से लेने के लिये हर क्षण तैयार है। प्रत्येक साधक जीव प्रतिक्रमण को गुपचुप—चुपचाप

करता रहता है, उसकी भावना अहर्निश चलती रहती है।

जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है, उसे अन्दर से ऐसी छटा-पटी लगी रहती है कि कब चारित्र को धारण करूँ। वास्तविक भव्य की परिभाषा में पूज्यपाद आचार्य ने यही कहा है कि “स्वहितम् उपलिप्सु” अपने हित की इच्छा रखने वाला प्रत्यासन्न निष्ठ जल्दी-जल्दी कर रहा है। जिस प्रकार भूखा व्यक्ति ‘अन्न’ ऐसा सुनते ही मुँह फाड़ लेता है और अन्न पाते ही बस तृप्त। उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त करूँ ढूँढता रहता है और कोई उदाहरण स्वरूप (मुनि आदि) मिल जायें तो वह कह देता है कि बस, अब बताने की आवश्यकता नहीं है।

जिस व्यक्ति को भूख है चारित्र की, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त और भी तीव्र से तीव्रतम हो जाती है। सम्यक्त्व उत्पन्न होने के उपरान्त कोई भी चारित्र कठिन-से-कठिन आ जाये तो उसे हजम कर लेता है वह और कुछ भी शेष हो तो लाओ जल्दी-जल्दी, ऐसा वह व्यक्ति कहता है। अतः चारित्र लेने में जल्दी करना चाहिये, शुभस्य शीघ्रम्।

मुक्ति का मार्ग है-छोड़ने के भाव। जो छोड़ देगा, त्याग करेगा, उसे प्राप्त होगी निराकुल दशा और इसी को कहते हैं वास्तविक मोक्ष। वास्तविक मोक्ष अर्थात् निराकुलता। आकुलता जितनी-जितनी घटती जाये, उतना-उतना मोक्ष आज भी है।

जिस प्रकार एक-एक घास के माध्यम से ही भूख मिटती है, उसी प्रकार निर्जरा के माध्यम से भी एकदेश आकुलता का अभाव होना, यह प्रतीक है कि सर्वदेश का भी अभाव हो सकता है।

जितने-जितने भाग में हम राग-द्वेष आदि आकुलता के परिणामों को समाप्त करेंगे, उतने-उतने भाग में निर्जरा भी बढ़ेगी और जितने-जितने भाग में निर्जरा बढ़ेगी, उतनी-उतनी निराकुल दशा का लाभ होगा। आकुलता को छोड़ने का नाम ही है मुक्ति। आकुलता को छोड़ना अर्थात् आकुलता के जो कार्य हैं, आकुलता के जो साधन हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन सबको छोड़कर, जहाँ निराकुल भाव जागृत हों, वह अनुभव ही निर्जरा और मुक्ति है। इसलिये

सभी को बार—बार एक—एक समय में निर्जरा को क्रमशः बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये। निर्जरा के बढ़ने से मुक्ति भी पास—पास आती जायेगी।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है—प्रत्येक समय में प्रत्येक पर्याय होती है और वह पर्याय नियत है। यदि यह श्रद्धान हो जाये तो मुक्ति दूर नहीं है, वही मुक्ति है। सारे—के—सारे चोर उसके सामने सरेण्डर हो जाते हैं। नियतिवादी को क्रोध नहीं आता, नियतिवादी को किसी की गलती नजर नहीं आती। नियतिवादी के सामने प्रत्येक नियत है। “देखो, जानो, बिगड़ो मत”—यह सूत्र अपनाता है वह। वीतरागी देखता रहेगा, जानता रहेगा, लेकिन बिगड़ेगा नहीं और रागी जीव देखते भी हैं, जानते भी हैं और बिगड़ भी जाते हैं, इसलिये नियतिवाद को छोड़ देते हैं। भगवान् ने जो देखा, वह नियत देखा, बिल्कुल सही—सही देखा। जो कुछ भी पर्याय निकली, यह सब भगवान् ने देखा था। उसी के अनुसार हुआ। यहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ के लिये कोई स्थान ही नहीं है। नियतिवाद का अर्थ यही है कि अपने—आप में बैठ जाना, समता के साथ। किसी भी प्रकार का हर्ष—विषाद नहीं करना, यह नियतिवाद का वास्तविक अर्थ है। नियत जो है, सो है ही, वह भगवान् जाने। यह रट लगाओ और समता के साथ ज्ञाता—दृष्टा बनकर बैठे रहो, तो कर्मरूपी चोरों से छुट्टी मिल जायेगी।

मुक्ति के लिये एकाग्र होकर निराकुलतापूर्वक साधना करनी चाहिये। यहाँ तक कि आप मोक्ष के प्रति भी इच्छा मत रखो। इच्छा का अर्थ है संसार और इच्छा का अभाव है मुक्ति। अपने अन्दर निराकुल भावों का उद्घाटन करना ही मुक्ति है।

आज तक राग का ही बोल—बाला रहा है, अब वीतराग अवस्था का ही मार्ग उद्घाटित करना चाहिये, क्योंकि वास्तव में देखा जाये तो संसारी प्राणी के दुःख का कारण है राग। सकल संसार त्रस्त है, आकुल—व्याकुल है और इसका कारण एक ही है कि हृदय से नहीं हटाया विषय—राग को हमने, हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को, जो है शरण, तारण—तरण। अतः अपने को वीतराग अवस्था को अपने हृदय में स्थान देना है और राग को बाहर फेंक देना है। यह ध्यान रखना, राग के लिये भी एक ही जगह दी जाये और वीतराग के लिये भी

वही जगह दी जाये, ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। जहाँ राग रहेगा, वहाँ वीतराग अवस्था नहीं है। हाँ, राग में कमी आ सकती है और राग में कमी आते-आते एक अवस्था में राग समाप्त हो जायेगा और पूर्ण वीतराग भाव प्रकट होंगे।

सुख को चाहते हुए भी यह संसारी प्राणी राग को नहीं छोड़ रहा है और इसीलिए दुःख को नहीं चाहते हुए भी दुःख पा रहा है। राग है दुःख का कारण और वीतरागता है सुख का कारण। राग बाहर की अपेक्षा रखता है, किन्तु आत्मा में होता है और वीतराग भाव पर की अपेक्षा नहीं, किन्तु आत्मा की अपेक्षा रखता है। आत्मा की अपेक्षा आप लोगों को आज तक हुई नहीं और पर की ही अपेक्षा में लगे हो। बाह्य की अपेक्षा का अर्थ है संसार और आत्मा की अपेक्षा का अर्थ है मुक्ति। यह संसारी प्राणी किसी-न-किसी से अपेक्षा रखता ही है, परन्तु अपेक्षा मात्र आत्मा की रही आवे और संसार से उपेक्षा हो जावे, तो यह प्राणी मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

मुक्ति का मार्ग यही है— 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये वीतरागता के प्रतीक हैं। इन तीनों के साथ आडम्बर नहीं रहेगा, सांसारिक परिग्रह नहीं रहेगा। एक शरीर शेष रह जाता है और उसे भी परिग्रह कब माना है? जब शरीर के प्रति मोह हो। शरीर को मात्र मोक्षपथ में साधक मानकर जो व्यक्ति चलता है, वह व्यक्ति निस्पृह है और मुक्ति का भाजक बन सकता है। भावमुक्ति तो आज भी है और उस मुक्ति को पाने का उपक्रम यही है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपनाकर निर्ग्रन्थता अपनाएँ। ध्यान रखना, जब तक आप अकेले नहीं बनोगे, तब तक आपको मुक्ति भी नहीं मिलेगी।

आज भी रत्नत्रय के आराधक मुनि-महाराज हैं, जो आत्मज्ञान के बल पर स्वर्ग चले जाते हैं और स्वर्ग में भी इन्द्र या लोकान्तिक देव होते हैं और फिर मनुष्य होकर मुनि बनकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। स्वर्ग में भी उनका सम्यग्दर्शन छूटता नहीं है, इसलिये रत्नत्रय की जो भावना भायी थी, वह भावना वहाँ जागृत रहती है। रत्नत्रय नहीं हो पा रहा है, मुक्ति नहीं मिल रही है, किन्तु

भावना तो यही रहती है कि कब मिले? कब मिले वह? इस प्रकार उसका एक—एक समय कटता रहता है और श्रुत की आराधना करते हुये वे सम्यग्दृष्टि देव समय व्यतीत करते हैं। इस अपेक्षा से सोचा जाये तो आज भी मुक्ति है।

इस जीव की कहानी निगोद से आरंभ होती है और मोक्ष में जाकर समाप्त होती है, जहाँ वे “रहि हैं अनन्तानन्तकाल, यथा तथा शिव परिणये।” जो जीव मोक्ष में चले गये हैं, वे अनन्तसुखी हैं तथा वहाँ अनन्त काल तक रहेंगे। जब तक मोक्ष नहीं गये, तो समझ लेना कि हमारी कहानी अभी समाप्त नहीं हुई, बीच में ही चल रही है।

सिद्धों की भी समाप्त कहाँ हुई? अभी भी चल ही तो रही है। वे सिद्ध जीव अनन्तकाल इसी प्रकार अनन्तसुखी रहेंगे —

एक राजा था, उस राजा की यह आदत थी कि जो भी फरियादी उसके पास आता और राजा से कहता कि उसने मुझे पीट दिया। तब राजा उससे पूछता था कि फिर क्या हुआ? फिर क्या हुआ? फिर क्या हुआ? ऐसा पूछता ही रहता था।

आखिर वह फरियादी अंत में कहता— इसके बाद कुछ नहीं हुआ। तब राजा कहता कि कुछ नहीं हुआ तो जाओ। आखिरकार अंत में तो कहना ही पड़ेगा कि कुछ नहीं हुआ।

एक आदमी उस राजा के पास गया और उसने कहा कि मैंने खेती की और गेहूँ बोये। राजा ने पूछा फिर क्या हुआ? उसने कहा—अच्छी बरसात हुई, इतने अधिक गेहूँ पैदा हुये कि मैं उन्हें समेट नहीं सका। फिर क्या हुआ? मैंने एक वेयर हाउस किराये से लेकर, गेहूँ बोरो में भरकर, सब गेहूँ उसमें रख दिया।

राजा ने कहा, फिर क्या हुआ?

एक चिड़िया आती और गेहूँ का एक दाना लेकर फुर्र करके उड़ जाती।

चिड़िया आई, एक दाना लिया और फुर्र करके उड़ गई।

फिर क्या हुआ? चिड़िया आई

राजा ने पूछा कि तेरी यह फुर्र—फुर्र बाजी समाप्त होगी या नहीं?

उसने कहा—साहब! गेहूँ तो बहुत पैदा हुआ था न, चिड़िया तो एक—एक दाना ही लेकर जाती है। जब गेहूँ पूरी तरह खाली हो, तब ही तो कहानी समाप्त होगी न?

आखिर में उसने कहा कि हुजूर जब आपकी यह फिर—फिर बाजी समाप्त होगी, तब मेरी यह फुर—फुरबाजी समाप्त होगी।

इसी प्रकार कहानी सिद्धों में समाप्त थोड़े—ही हुई। वे तो अनन्त काल तक अनन्तसुखी मोक्ष में (सिद्धशिला पर) ही रहेंगे। यह ऐसी कहानी है जो कभी समाप्त नहीं होती।

आत्मा का समस्त कर्मबन्धनों से सर्वथा छूट जाना ही मोक्ष है। वह मोक्ष दो प्रकार का है—द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष। आत्मा का जो परिणाम समस्त कर्मबन्धनों के क्षय में कारण है, वह भावमोक्ष है और आत्मा से समस्त कर्मों का अत्यन्त छिन्न (दूर) हो जाना द्रव्यमोक्ष है। वह द्रव्यमोक्ष अयोगकेवली के अन्तिम समय में होता है। वह मोक्ष शुद्ध आत्मा का स्वरूप ही है। जैसे स्वर्ण से आंतरिक और बाह्य मैल निकल जाने पर स्वर्ण के स्वाभाविक गुण चमक उठते हैं, वैसे ही कर्मबंधन से सर्वथा छूट जाने पर आत्मा स्वाभाविक रूप में स्थिर हो जाता है। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने लिखा है 'अन्तरंग एवं बहिरंग क्षोभ से रहित आत्मा की पूर्ण शान्त दशा का नाम ही मोक्ष है।'

अन्तः शून्यं बहिर्शून्यं, चित्तशून्यं विकल्प मुक्त।

अन्तः पूर्णं बहिर्पूर्णं, शान्ति पूर्णं हि मोक्ष तत्त्व॥

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— मुक्ति का मार्ग है, तो मुक्ति है और मुक्ति है, तो आप राग—द्वेष का अभाव भी कर सकते हैं। यह सब किस अपेक्षा से है, यह समझना चाहिए। सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा जो किसी से राग नहीं है, द्वेष नहीं है, यही मुक्ति है। यह जीवन आज बन जाये। सिद्ध परमेष्ठी के समान आप भी बन सकते हैं, उम्मीदवार अवश्य हैं, कुछ समय के अन्दर नम्बर आयेगा, यह सौभाग्य हमें भी प्राप्त हो सकता है। अभी आप लोगों की रुचि (धारणा) संसार में ही लग रही है, किन्तु यह ध्यान रखना कि अन्त में

पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा। जिस समय व्यक्ति चूक जाता है और अन्त आ जाता है, तो पश्चात्ताप ही हाथ लगता है। कुछ फल की प्राप्ति नहीं हो पाती।

यह स्वर्ण—जैसा अवसर है। यह जीवन बार—बार नहीं मिलता। इसकी सुरक्षा, इसका विकास, इसकी उन्नति को ध्यान में रखकर इसका मूल्यांकन करना चाहिये। जो व्यक्ति इसको मूल्यवान समझता है, वह साधना पथ पर कितने ही उपसर्ग और कितने ही परीषहों को सहर्ष अपनाता है। मोक्षमार्ग तो वही है जो परीषहजय और उपसर्गों से प्राप्त होता है, और जो उसे धारण करने के लिये तैयार हैं उन्हें वह अवश्य मिलता है। मुक्ति—कन्या वीतरागी का ही वरण करती है। वह रागी की तरफ तो देखती भी नहीं। आचार्य पुष्पदन्तसागर महाराज ने एक काल्पनिक घटना सुनाई थी—

भावनगर नाम का नगर है तथा मकरध्वज (कामदेव) वहाँ का राजा है। वह साधारण राजा नहीं है। समस्त देव—देवेन्द्र, नर—नरेन्द्र और नाग—नागेन्द्र आदि देवताओं के ऊपर उसका अप्रतिहत शासन है। उसने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर ली है। रति और प्रीति नामक उसकी दो रानियाँ हैं और उसके प्रधानमंत्री का नाम मोह है।

एक दिन अपनी सभा में उसने मोह से नूतन समाचार सुनाने को कहा। मोह ने मुक्तिकन्या के रूप—सौन्दर्य का और जिनराज के साथ होने वाले विवाह का अत्यन्त रोचक ढंग से वर्णन किया। जिनराज का प्रथम बार नाम सुनकर उसके मन में आश्चर्य हुआ तथा मन—ही—मन काफी विकल्प हुआ और जिनराज के साथ संग्राम करने का निश्चय कर लिया और जिनराज पर आक्रमण करने चल पड़ा। किन्तु मोह ने समझा—बुझाकर मकरध्वज राजा को रोक दिया। उसने मोह को आदेश दिया कि तुम जिनराज पर चढ़ाई करने के लिये शीघ्र ही समस्त सेना तैयार करके ले आओ।

मकरध्वज की रानियाँ रति और प्रीति ने अपने स्वामी को उदास देखकर चिन्ता का कारण पूछा। सम्राट ने निःसंकोच सारी बात बतला दी और रति से कहा कि तुम मुक्तिकन्या के पास जाकर ऐसा प्रयास करो कि वह जिनराज के प्रति उदासीन हो जाये और अपने विवाहोत्सव पर वरमाला मेरे गले में डाल दे।

रति ने मकरध्वज से कहा—स्वामिन् आपको उचित—अनुचित का कोई विवेक नहीं है। क्या किसी ने कभी अपनी स्त्री से भी दूती का काम लिया है, जो कार्य आप मुझे सौंपने चले हैं?

मकरध्वज ने कहा, कि यह कार्य मैं तुम्हें इसलिये सौंप रहा हूँ कि स्त्रियाँ ही स्त्रियों के प्रति अधिक विश्वासशील देखी जाती हैं। रति ने कहा कि आप ठीक कह रहे हैं, लेकिन आपको मुक्तिकन्या प्राप्त नहीं हो सकती है। क्योंकि जिस प्रकार कौवे में पवित्रता, नारियों में सत्यता, सर्प में क्षमा, नपुंसक में धैर्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार सिद्धकन्या भी तुम्हारी नहीं हो सकती। वह सिद्धकन्या वीतरागी मुनिराजों के सिवाय अन्य किसी का नाम तक सुनना पसन्द नहीं करती। फिर अन्य के वरण करने की तो बात ही छोड़िये। इसलिये मेरी आपसे विनय है कि आप व्यर्थ आर्त्तध्यान न करें।

जब राजा रानी की कोई भी बात मानने को तैयार नहीं हुआ, तो रति सोचती है कि सूर्यवंशी राजा हरिश्चन्द्र को चाण्डाल की सेवा करनी पड़ी, मर्यादा पुरुषोत्तम राम को पर्वतों की कंदरायें छाननी पड़ीं, भीम आदिक चन्द्रवंशी नरेशों को रंक के समान दीनता दिखलानी पड़ी। अपनी बात के निर्वाह के लिये महान पुरुषों ने क्या—क्या अभीप्सित कार्य नहीं किया? ऐसा विचार कर रति भी आर्यिका का वेश बनाकर जिनराज के पास जाने के लिये निकल पड़ी।

जैसे—ही रति निर्ग्रन्थ मार्ग से जा रही थी, अचानक उसकी मार्ग में मोह से मुलाकात हो गई। उसने रति को अपने साथ वापस लौटा लिया। मोह रति को साथ लेकर सम्राट के पास गया और कहा, सम्राट! विचार हीन कार्य ये सम्राट नष्ट हो जाता है, परिग्रह से साधु नष्ट हो जाता है और प्रमाद से चारित्र्य नष्ट हो जाता है। इसलिये राजा का कर्तव्य है कि मंत्री की सलाह बिना कोई भी कार्य न करे। जिनराज से युद्ध करने के लिये मैंने सेना तैयार कर ली है, आप जरा भी चिन्ता न करें, जीत आप की ही होगी।

मोह की बात सुनकर मकरध्वज बहुत प्रसन्न हुआ, और कहा कि यह काम तुम्हारे अलावा और कौन कर सकता है? तुम ही हमारे सच्चे मंत्री हो। इस राज्य की रक्षा तुम्हें ही करनी है।

मोह ने कहा कि युद्ध के पहले हमें वहाँ दूत पहुँचाना चाहिये। नीति कहती है पहले दूत भेजना चाहिये और बाद में युद्ध करना चाहिये। दूत से ही विरोधी सेना की सबलता और निर्बलता का पता चलता है।

राग और द्वेष को दूतत्त्व का भार सौंपा गया। ये ही अनन्त दुःख परम्परा के प्रथम अंकुर हैं। ये देहधारियों में अनायास ही उत्पन्न हो जाते हैं। ये महान वीर हैं और ज्ञान साम्राज्य के समूल विध्वंसक हैं। ये जीव को भुलाते हैं, भ्रमाते हैं, डराते हैं, रुलाते हैं, शंकित करते हैं, दुःख देते हैं। राग और द्वेष को जिनराज के स्थान पर पहुँचने के लिये अत्यन्त विषम मार्ग से आना पड़ा। अपने पारिवारिक बिछुड़े हुये मित्र संज्वलन के पास पहुँचकर कहा—मित्र! तुम हमें किसी भी प्रकार से जिनराज के पास पहुँचा दो।

संज्वलन कषाय ने पूछा कि तुम लोग जिनराज के पास किस काम से आये हो?

हम लोग जिनराज से भेंट करना चाहते हैं। हमें कामदेव ने भेजा है। संज्वलन कषाय ने कहा कि जिनराज कामदेव का नाम सुनना भी पसन्द नहीं करते। तुम वहाँ मत जाओ। उनके सामने जाने से तुम्हारा अहित हो जायेगा।

किसी भी प्रकार से राग—द्वेष जिनराज के समवसरण में पहुँच गये। वहाँ जाकर राग—द्वेष ने देखा कि जिनराज कमलासन पर विराजमान हैं। उनके शिर पर तीन छत्र लटक रहे हैं, चौंसठ चंवर दुर रहे हैं। भामण्डल की प्रभापुंज से दमक रहे हैं। अनन्त चतुष्टय से सुशोभित हैं और कल्याण अतिशयों से सुंदर हैं। जिनराज का वैभव देखकर राग—द्वेष चकित रह गये। उन्होंने जिनराज से कहा—स्वामिन्! हमारे स्वामी कामदेव ने आपके लिये आदेश पहुँचाया है कि आपके पास जो तीन अमूल्य रत्न हैं, उन्हें आप हमारे सम्राट को दे दीजिये। दूसरी बात, सिद्धकन्या के साथ आप जो विवाह कर रहे हैं, उसे तोड़ दीजिये। यदि आप सुखी रहना चाहते हैं तो काम की सेवा करें और सुखी रहें। संसार के सभी प्राणी उसकी सेवा में रत हैं। स्वर्ग के देव और इन्द्र भी उसकी पूजा करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्य राजागण उनके सम्मान में खड़े रहते हैं। आप भी उनके साथ मित्रता कायम रख लें अन्यथा आपका अहित होगा। हम आपसे

ज्यादा क्या कहें? अगर आप आत्मतोष चाहते हैं तो काम की सेवा कीजिये।

राग—द्वेष का अपलाप संयम को सहन नहीं हुआ और दोनों को एक—एक चाँटा मारकर दरवाजे से बाहर कर दिया।

संयम से अपमानित होने पर राग—द्वेष बड़े क्रुद्ध हुये और वे वहाँ से सीधे कामदेव के पास पहुँच गये। उन्होंने जाकर कामदेव के कान भरते हुये कहा कि जिनराज अत्यन्त अगम्य, अलक्ष्य और महान बलवान हैं। वे आपको कुछ नहीं समझते हैं। उन्होंने हमारा अपमान करके भगा दिया है।

राग—द्वेष की बात सुनकर कामदेव इस प्रकार से भड़क उठा जैसे अग्नि पर घी डालने से वह भड़क उठती है। कामदेव ने युद्ध की भेरी बजाने का आदेश दे दिया। आदेश सुनते ही उसकी सेना के अठारह दोष, तीन गारव, सात व्यसन, पाँच इन्द्रिय विषय, तीन शल्य, सत्तावन आस्रव तथा आठों कर्म नरेश अपनी—अपनी फौजों को लेकर रोष भरे आ पहुँचे। तीन मूढ़ता, षट अनायतन भी युद्ध की तैयारी करके आ डटे। इस प्रकार जिनराज से युद्ध करने मकरध्वज अपनी सेना लेकर चला। और इधर जिनराज ने संवेग को बुलाकर कहा—जाओ, जल्दी—जल्दी अपनी सेना तैयार करो।

जिनराज की आज्ञा पाते ही दस धर्म, पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, बारह अनुप्रेक्षा, बारह तप, सम्यक्त्व के आठ अंग, सम्यग्ज्ञान, अट्ठाइस मूलगुण, धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान, बाइस परीषहजय, क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक सुख, क्षायिक वीर्य आदि चतुरंग सेना रणभूमि में आ गई।

दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। मकरध्वज की सेना पराजित हुई। मोह को बन्दी बनाया गया। मोह के बन्दी बनते ही शेष शत्रुसेना हथियार डालकर भाग गई। जिनराज की विजयपताका फहराते ही सिद्धसेन महाराज की पुत्री मुक्तिश्री ने जिनराज के गले में वरमाला डाल दी। वरमाला डालते ही देवांगनायें मंगल गान गाने लगीं और इस निर्वाण महोत्सव को मनाने चतुर्निकाय के देव आदि आ गये।

जो भी रत्नत्रय को धारण कर तप के माध्यम से आठों कर्मों को नष्ट कर देते हैं, उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन का तीसरा सोपान स्व-पर की यथार्थ श्रद्धा

जब जीवों को स्व-पर की (अर्थात् अपना क्या है? पराया क्या है?) अर्थात् अपना आत्मा है और आत्मा से भिन्न जो भी पदार्थ हैं वे अपने नहीं हैं, ऐसी श्रद्धा होती है, तब उसका जीवन सुधर जाता है। अगर हमको भी अपना जीवन सुधारना है, तो हमें जिनवाणी की बात मानना चाहिये। शक्ति अनुसार अणुव्रतों का पालन करना चाहिये और अज्ञानता छोड़कर भेदविज्ञानी बनना चाहिये। 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है —

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः।

बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम्॥

जो बहिरात्मा है, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा का देह के साथ संयोजन करता (जोड़ता) है अर्थात् एक समझता है, और जो ज्ञानी (अन्तरात्मा) है, वह देह से देही (चैतन्यस्वरूपी आत्मा) को पृथक् ही देखता है। यही ज्ञानी और अज्ञानी में भेद है।

अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर अनन्त दुःख उठा रहा है। अपने को पहिचानना/ जानना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तथा अपने में ही लीन हो जाना सम्यक्चारित्र है। इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है, सुखी होने का सच्चा उपाय है। अतः हमें शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न आत्मा को जानने-पहिचानने का प्रयास करना चाहिये। देह में अपनापन नहीं टूटने से राग भी नहीं टूटता, क्योंकि जो अपना है, वह कैसा भी क्यों न हो, उससे राग नहीं छूटता।

एक करोड़पति सेठ था। उसका एक इकलौता बेटा था। वह सातों व्यसनों में पारंगत था। उसके पड़ोस में एक व्यक्ति रहता था। उसका भी एक बेटा था। वह सर्वगुणसम्पन्न, पढ़ने—लिखने में होशियार, व्यसनों से दूर, सदाचारी, विनयशील था।

सेठ रोज सुबह उठता तो पड़ोसी के बेटे की भगवान्—जैसी स्तुति करता और अपने बेटे को हजार गालियाँ देता। कहता है—“देखा, यह कितना होशियार है, प्रतिदिन प्रातःकाल मन्दिर जाता है, समय पर सोकर उठता है और एक तू है कि अभी तक सो रहा है।

एक दिन पड़ोसी का बेटा स्कूल नहीं गया। उसे घर पर देखकर सेठ ने कहा—“बेटा! आज स्कूल क्यों नहीं गये?”

बच्चे ने उत्तर दिया—“मास्टर जी कहते हैं कि स्कूल में ड्रेस पहिनकर आओ और पुस्तकें लेकर आओ। मैं पापा से कहता हूँ तो उत्तर मिलता है कि कल ला देंगे, पर उनका कल आता ही नहीं है। आज एक माह हो गया। अतः आज मैं स्कूल ही नहीं गया हूँ।”

पुचकारते हुये सेठ बोला—“बेटा चिन्ता की कोई बात नहीं। अपना वो नालायक पप्पू है न। वह हर माह नई ड्रेस सिलवाता है और पुरानी फेक देता है। पुस्तकें भी हर माह फाड़ता है और नई खरीद लाता है। बहुत—सी ड्रेसें और पुस्तकें पड़ी हैं। उनमें से ले जाओ।”

अब जरा विचार कीजिये, सेठ जिसकी भगवान्—जैसी स्तुति करता है, उसे अपने नालायक बेटे के उतारन के कपड़े और फटी पुस्तकें देने का भाव आता है और अपने उस नालायक बेटे को करोड़ों की सम्पति दे जाने का पक्का विचार है। कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं आया कि थोड़ी—बहुत किसी और को भी दे दूँ। यद्यपि पड़ोसी का बेटा अच्छा है, पर वह अपना नहीं है। अतः उसके प्रति राग भी नहीं है और अपना बेटा अच्छा नहीं है, पर वह अपना है, अतः उसके प्रति राग है।

आज तक इस आत्मा ने देहादि पर—पदार्थों में ही अपनापन मान रखा है। अतः उन्हीं की सेवा में सम्पूर्णतः समर्पित है। निज आत्मा में एक क्षण को भी

अपनापन नहीं आया। यही कारण है कि उसकी उपेक्षा हो रही है। देह की संभाल में हम चौबीसों घंटे समर्पित कर देते हैं, पर आत्मा के लिये हमारे पास समय नहीं है। इसका एकमात्र कारण शरीर में अपनापन और आत्मा में परायापन ही है। यदि हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो स्व-पर का भेदज्ञान कर देह के प्रति एकत्व को तोड़ना होगा और आत्मा में एकत्व को स्थापित करना होगा। निज आत्मा में अपनापन ही सम्यग्दर्शन है और आत्मा से भिन्न देहादि परपदार्थों में अपनापन ही मिथ्यादर्शन है। अपनेपन की महिमा अद्भुत है।

एक सेठ का दो-ढाई वर्ष का इकलौता बेटा खो गया। बहुत कोशिश की, पर मिला नहीं। वह भीख माँगकर पेट भरने लगा। जब वह 8 वर्ष का हो गया, तो एक हलवाई की दुकान पर बर्तन साफ करने का काम करने लगा।

सेठ का चौका-बर्तन करने वाला नौकर नौकरी छोड़कर चला गया। अतः सेठ ने उसी हलवाई से नौकर की व्यवस्था करने को कहा और वह सात-आठ साल का बालक अपने ही घर में नौकर बनकर आ गया।

अब माँ बेटे के सामने थी और बेटा माँ के सामने, पर माँ बेटे के वियोग में दुःखी थी और बेटा माँ-बाप के वियोग में। वह सेठानी बच्चे से दिन-रात काम लेती और उसे समय पर भोजन भी नहीं देती।

एक दिन एक पड़ोसिन ने संकोच के साथ कहा—“अम्माजी! यह नौकर शक्ल से और अकल से सब बातों में अपने पप्पू-जैसा ही लगता है। वैसा ही गोरा-भूरा, वैसे ही घुंघराले बाल। सबकुछ वैसा ही है, कुछ भी तो अन्तर नहीं और यदि आज वह होता तो होता भी इतना ही बड़ा।” अब अपने पप्पू के मिलने की आशा तो है नहीं। आप उसके वियोग में कब तक दुःखी होती रहोगी? मेरी बात मानो तो आप इसे गोद क्यों नहीं ले लेती?

उसने इतना ही कहा था कि सेठानी तमतमा उठी —“क्या बकती हो न मालूम किस कुजाति का होगा यह?”

सेठानी के इस व्यवहार का एकमात्र कारण बेटे में अपनेपन का अभाव ही तो है। वैसे तो वह बेटा उसी का है, पर उसमें अपनापन न होने से उसके प्रति

व्यवहार बदलता नहीं है।

यही हालत हमारी आत्मा की हो रही है। यद्यपि वह अपना ही है, अपना ही क्या, अपन स्वयं आत्मा हैं, पर आत्मा में अपनापन नहीं होने से उसकी उपेक्षा हो रही है। वह अपने ही घर में नौकर बनकर रह गया है।

जब वह बच्चा अठारह वर्ष का हो गया, तब एक दिन इस बात का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध हो गया कि वह लड़का उन्हीं सेठानी का लाड़ला बेटा है। तब वह रोती हुई बोली— हाय! मैंने अपने बेटे को कितना कष्ट दिया? अब उसका बच्चे के प्रति व्यवहार बदल गया। व्यवहार में इस परिवर्तन का एकमात्र कारण अपनेपन की पहिचान है, अपनेपन की भावना है। इसी प्रकार जब—तक निज आत्मा में अपनापन स्थापित नहीं होगा, तब तक उसके प्रति अपनेपन का व्यवहार भी संभव नहीं है। देहादि परपदार्थों से भिन्न निज आत्मा में अपनापन होना ही सम्यग्दर्शन है। हम जानते तो हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ, पर मानते नहीं हैं। जानना अलग बात है और मानना अलग बात है। जो अपने को शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न आत्मा मान लेता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—

चेतन और अचेतन। चेतन पदार्थ वे हैं, जिनमें जानने की शक्ति है, अथवा जो सुख—दुःख का वेदन या अनुभव कर सकते हैं। इसके विपरीत, अचेतन या जड़ पदार्थ वे हैं, जिनमें जानने की, अनुभव करने की शक्ति नहीं है, जो सुख—दुःख का वेदन नहीं कर सकते। चेतन जाति के अन्तर्गत, पाँच इन्द्रियों वाले विशालकाय जीवों से लेकर एक इन्द्रिय वाले सूक्ष्म जीवों तक, समस्त संसारी जीव एवं मुक्त जीव आ जाते हैं। शेष सभी पदार्थ अचेतन जाति के अंतर्गत आते हैं। सभी प्रकार के जीवों में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है।

जिस प्रकार स्वर्ण—पाषाण, अर्थात् खान से निकाला गया सोना हमेशा कंकड़—पत्थर, रेत—मिट्टी तथा किट्ट—कालिमा से संयुक्त अवस्था में ही पाया जाता है, उसी प्रकार जीव के साथ कर्म का अनादिकाल से संयोग चला आ रहा है। कर्मबन्धन के फलस्वरूप उसे बार—बार एक—के—बाद—एक शरीर का

संयोग भी सदाकाल मिलता रहा है, अतः शरीर के साथ भी इस जीव का संयोग अनादिकालीन ही है। वस्तु-स्थिति इस प्रकार है, परन्तु इस जीव ने स्वयं को अर्थात् चेतन आत्मा को न जानने के कारण, अज्ञानतावश इस संयोगी पदार्थ अर्थात् अचेतन शरीर को ही अपना स्वरूप मान लिया है कि 'यही मैं हूँ'। स्वयं को न पहचानकर शरीर को अर्थात् अनात्मा को ही आत्मा मानना, यही इस जीव की मिथ्याबुद्धि, मिथ्यात्व या अज्ञान है। चूँकि यह शरीर में आत्मबुद्धि या अपनेपन का भाव रखता है, इसलिये शरीर के लिए अनुकूल लगने वाले पदार्थों-परिस्थितियों से राग तथा शरीर के लिये प्रतिकूल लगने वाले पदार्थों-परिस्थितियों से द्वेष करता है। इस प्रकार राग-द्वेष करके यह कर्मों को बँधता है। इन बाँधे गये कर्मों के उदय में आने के फलस्वरूप इसे पुनः शरीर आदि की जो भी बाहरी स्थितियाँ प्राप्त होती हैं उनमें फिर से एकत्व-बुद्धि करके यह पुनः राग-द्वेष करता है। इस प्रकार यह जीव निरन्तर देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यच इन चार गतियों में भ्रमण करता रहता है।

यदि यह जीव अपने असली स्वरूप को पहचाने अर्थात् अपने को चैतन्य स्वरूप जाने और शरीर को अपने से भिन्न एक संयोगी अचेतन पदार्थ जाने, तो इसका परपदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानने का प्रयोजन मिटे अर्थात् इसके राग-द्वेष की उत्पत्ति के मूल पर कुठाराघात हो। फिर यह राग-द्वेष के पूर्व संस्कारों को मिटाने के लिए परिग्रह का त्याग करे, क्योंकि परिग्रह के संयोग में यह निरन्तर राग-द्वेष करता रहता है। वस्तुतः ये राग-द्वेष ही इस जीव के दुःख के मूल कारण हैं अथवा राग-द्वेष स्वतः ही दुःख स्वरूप हैं। जो जीव सही-सम्यक् तत्त्व का अनुभव करके, राग-द्वेष को दुःखरूप जानकर उनसे मुक्ति के लिए अणुव्रत/महाव्रत धारण करते हैं, अपने आत्मस्वरूप में रमण करते हैं, वे मोक्षपद प्राप्त करते हैं।

दूसरी ओर, जो जीव तत्त्वज्ञान के अभाव में शरीर और आत्मा को एक मानते हैं तथा रागादि को सुखरूप जानते हैं, वे अपने इस विपरीत ज्ञान के कारण बार-बार जन्म-मरण करते रहते हैं। संसार में सभी जीव अपने राग-द्वेष के कारण दुःखी हैं। यदि यह जीव स्व-पर को पहचानकर रत्नत्रय को धारण

करके राग-द्वेष का अभाव करे, तो इसे सच्चे-सुख की प्राप्ति संभव है। 'छहढाला' ग्रंथ में पंडित श्री दौलतरात जी ने निश्चय रत्नत्रय का वर्णन करते हुए लिखा है—

परद्रव्यन तैं भिन्न आप में, रूचि सम्यक्त्व भला है।

आपरूप को जानपनो सो, सम्यग्ज्ञान कला है॥

आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यक्चारित सोई।

अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियत को होई॥ 2॥

अपने को अपनेरूप ज्ञाता-दृष्टारूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अपनेरूप जानना सम्यग्ज्ञान है और ज्ञाता-दृष्टारूप रह जाना ही सम्यक्चारित्र है। इन तीनों की एकता ही मोक्ष मार्ग है, और वीतरागी देव, शास्त्र, गुरु उस मोक्ष मार्ग की प्राप्ति में निमित्त या माध्यम होते हैं। इससे व्यवहार से देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा को भी सम्यग्दर्शन कहा जाता है, जो निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है। शास्त्रों में विवक्षा भेद से अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार के कथन मिलते हैं, उन्हें ठीक प्रकार से समझना चाहिये कि कहाँ कौन सी विवक्षा से क्या कहा गया है। योगसार ग्रन्थ में आचार्य योगीन्दु देव ने कहा है — आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा ही परमानन्द है, सुखदायक व कल्याण रूप है। जिसने आत्मा को नहीं जाना उसने संसार में कुछ भी नहीं जाना और जिसने आत्मा को जान लिया उसको फिर किसी चीज को जानने की जरूरत नहीं है। जो आत्मा को जानता है वही वास्तव में पंडित है। वह आत्मा कैसी है कि—

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।

तिल मध्ये यथा तैलं, देहमध्ये यथा शिवः।

जैसे पाषाण में सोना है, दूध में घी है, तिल में तेल है, ठीक उसी प्रकार इस देहरूपी देवालय में आत्मा परमात्मा विराजमान है। जब कोई साधक योगी आत्मा के स्वभाव को परमात्मा के स्वरूप में अनुभव करता है तब वह परमानंद का रसास्वादन करता है। अतः अपने एकत्व को पहचानो। जो अपने में यह भावना भायेगा कि जगत में मेरा कुछ भी नहीं है वह नियम से सुखी होगा, कभी भी उसको दुःख नहीं होगा। अतः इन सब वस्तुओं को बाह्य वस्तु जानकर

इनसे राग हटाना चाहिए। अपने आप से अपने को दुःख नहीं होता, परन्तु पर का संग होने से दुःख पैदा होता है। जिसने भी इस एकत्व के रहस्य को समझ लिया, उसका नियम से कल्याण होता है। उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है।

नमिराय राजा की कथा आती है। उनको दाह ज्वर हो गया था। उनका रोग दूर करने के लिये रानियाँ चन्दन घिस रही थीं। रानियों की चूड़ियों के खनकने की आवाज सुनकर राजा बोला— यह शोर क्यों हो रहा है? मंत्री बोला— महाराज आपका रोग दूर करने के लिये रानियाँ चन्दन घिस रही हैं। राजा को शोर अच्छा नहीं लग रहा था, अतः बोला कि यह शोर बंद करो।

रानियों ने एक-एक चूड़ी छोड़कर शेष चूड़ियों को उतार दिया जिससे चूड़ियों के खनकने की आवाज बंद हो गई। राजा बोला— क्या चन्दन घिसा जाना बंद हो गया है? मंत्री बोला— महाराज! चंदन तो अभी भी घिसा जा रहा है, पर रानियों ने एक-एक चूड़ी छोड़कर शेष चूड़ियों को उतार दिया है। राजा को शोर बंद हो जाने से बड़ी शांति महसूस हो रही थी। राजा को बात समझ में आ गई। वह एकत्व भावना का चिन्तन करने लगा। वह विचार करने लगा कि एकत्व में ही शांति है। अपने स्वभाव के अलावा जितने भी परभाव हैं, वे ही अशांति के कारण हैं और उस राजा ने सुबह रोग दूर होते ही वन में जाकर दीक्षा लेकर अपना कल्याण किया। आचार्य समन्तभद्र महाराज ने सम्यग्दर्शन का महत्व बताते हुये लिखा है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहीनैव मोहवान्।

अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोही मोहिनो मुनैः॥

मोह—ममता से रहित गृहस्थ मोक्षमार्ग पर चलने वाला है, किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं है, संसारी है। इस कारण निर्मोही गृहस्थ मोही मुनि से श्रेष्ठ है। स्वामी कार्तिकेय महाराज ने लिखा है —

इक्को जीवो जायदि एक्को गिण्हदे देहं।

इक्को बाल जुवाणो इक्को बुड्डो जरा गहिओ॥

जीव अकेला ही उत्पन्न होता है अकेला ही माता के उदर में शरीर को ग्रहण करता है अकेला ही बालक होता है, अकेला ही जवान होता है और

अकेला ही बुढ़ापे से बूढ़ा होता है। संसार को देखते हुये भी अपने कुटुम्बी जनों से जीव का मोह नहीं छूटता। इसका कारण यह है कि जीव अपने को अभी जान नहीं सका है। जिस समय वह अपनी शुद्ध चैतन्यमय आत्मा को जानता है उसी समय उसे सभी वस्तुयें हेय प्रतीत होने लगती हैं।

जीव और पुद्गल की विकारी अवस्था रूप अनन्तानन्त वस्तुओं से संसार ओत-प्रोत है। विभाव परिणति से परिणत शरीर और आत्मा को एक मानने वाला एवं इष्ट अनिष्ट की कल्पना में लीन आत्मा बहिरात्मा है। अतः लोक में अवस्थित समस्त पर वस्तुओं से विमुख होकर एक मात्र अपने स्वरूप में परिपूर्ण निश्चल अभिरुचि ही सम्यग्दर्शन है। यह आत्मा कर्ममल रहित शुद्ध व महान परमात्मा के समान है। ऐसा जो श्रद्धान करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

अपनी आत्मा को एकाकी देखें, इसमें न आठ कर्मों का बंधन है, न इसमें रागादि विकारी भाव हैं, न कोई शरीर है। यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणि के समान परम निर्मल है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का सागर है।

आत्मीक आनन्द का स्वाद जिस साधन से हो वही मोक्ष का उपाय है। क्योंकि स्वानुभव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों ही गर्भित हैं अतः स्वानुभव ही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। उसी से नवीन कर्मों का संवर होता है व पुराने कर्मों की निर्जरा होती है। यही सीधी सड़क मोक्ष महल की तरफ गई है, इसके सिवाय कोई दूसरी सड़क नहीं है। शेष बाहरी साधन मन, वचन, काय को निराकुल करने के लिये हैं। जितनी मन में निराकुलता व निश्चितता अधिक होगी, उतना ही मन स्वानुभव में बाधक नहीं होगा।

व्यवहार चारित्र की इसलिये आवश्यकता है कि मन, वचन, काय को वश में रखने की जरूरत है। जब तक ये तीनों चंचल रहेंगे तब तक आत्मा का ध्यान नहीं हो सकता।

जो कोई इस भयानक संसार सागर से पार होना चाहे व कर्म ईंधन को जलाना चाहे तो उसे संयम धारण करके अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिये। आत्मा का ध्यान ही मोक्ष मार्ग है। श्री तत्त्वानुशासन ग्रंथ में लिखा है —

जो वीतरागी आत्मा, आत्मा के भीतर, आत्मा के द्वारा, आत्मा को देखता है

व जानता है, वह स्वयं सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र्यरूप होता है। इसलिये आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं।

परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। अतः सब कुछ छोड़कर पर द्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा को जानने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

आत्मा मे अनन्त शक्ति है, पर जब तक इस जीव को अपनी आत्मिक शक्ति का ज्ञान नहीं होता, तब तक कर्म इसे संसार में भटकाते रहते हैं रुलाते रहते हैं। पर जब यह गुरु के उपदेश से प्रतिबुद्ध होता है, अपनी शक्ति को पहचान लेता है, तब सारे कर्म अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं।

एक सिंह का बच्चा था। वह भूल से बकरों के झुण्ड में शामिल हो गया और अपने को बकरा समझकर बकरे के समान व्यवहार करने लगा। दूसरे अनुभवी वृद्ध सिंह ने उसे देखा और जागृत करने के लिए उसने सिंहनाद किया। सिंह की गर्जना सुनकर झुण्ड के सारे बकरे तो डरकर भाग गये लेकिन सिंह का बच्चा वहीं निर्भयता से खड़ा रहा, उसे सिंह से डर नहीं लगा।

तब वह वृद्ध सिंह उसके पास आकर प्रेम से बोला— अरे बच्चे! तू मैं—मैं करने वाला बकरा नहीं है। तू तो महापराक्रमी सिंह है। देखो, मेरा सिंहनाद सुनकर बकरे तो सब डरकर भाग गये, लेकिन तुझे डर क्यों नहीं लगा। क्योंकि तुम तो सिंह हो, हमारी जाति के हो। यदि विश्वास न हो तो विशेष परिचय करने के लिये मेरे साथ चलो।

ऐसा कहकर वह अनुभवी सिंह उसे अपने साथ ले गया और एक कुँए के पास ले जाकर बोला— स्वच्छ पानी में देखो, तेरा चेहरा किसके समान है ? सिंह के समान है या बकरे के समान ? सिंह के बच्चे ने जैसे ही गर्जना की, वैसे ही उसे आभास हो गया की मैं सिंह हूँ। भूल से मैं अपना सिंहपना भूलकर अपने को बकरे के समान मान रहा था।

इसी प्रकार भगवान् दिव्यध्वनि द्वारा भव्य जीवों को उपदेश दे रहे हैं अरे जीव! तू तो हमारी जाति का परमात्मा है। जैसी उपयोग स्वरूप मेरी आत्मा है, वैसी ही उपयोगस्वरूप तुम्हारी भी आत्मा है। तू देह वाला या रागी—द्वेषी बकरे

के समान नहीं है, तू तो भगवान् के समान चैतन्य—स्वरूपी आत्मा है। निर्मल ज्ञानदर्पण में तू अपने स्वरूप को देख, तेरी चैतन्य आत्मा हमारे साथ मेल खाती है या इस जड़ शरीर के साथ। जड़ चेतन का भेद होते ही तुझे समझ में आ जायेगा।

चेतन को है उपयोग रूप, बिन मूरत चिन्मूरत अनूप।

आत्मा का स्वरूप उपयोगमयी, अमूर्तिक, चैतन्यमय व अनुपम है। सर्वज्ञ भगवान् ने आत्मा को ज्ञान आनन्द स्वरूप देखा है, देह से भिन्न देखा है। ऐसी आत्मा को जानने से देह से एकत्व बुद्धि छूट जाती है। आत्मा के स्वभाव में दुःख नहीं है। आत्मा तो शरीर से भिन्न आनन्दमयी ब्रह्मस्वरूप है। परमानन्द स्त्रोत में कहा है —

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।

अयमात्मा स्वभावेन, देह तिष्ठति निर्मलः॥

जिस प्रकार कमल हमेशा जल से भिन्न रहता है उसी प्रकार अपनी आत्मा स्वभाव से शरीर से भिन्न निर्मल रहती है, पर ध्यान से रहित व्यक्ति उस आत्मा का अनुभव नहीं कर पाते।

आनन्दं ब्रह्मणोरूपं, निज देहे व्यवस्थितं।

ध्यान हीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्॥

आनन्दमयी ब्रह्मस्वरूप आत्मा इस देह के भीतर विराजमान है पर ध्यान से रहित व्यक्ति उसे नहीं देख पाते जिस प्रकार जन्म से अन्धा व्यक्ति सूर्य को नहीं देख पाता।

कर्म और शरीर आजीव हैं, उसको ही जीव का स्वरूप समझना यह तो सर्वज्ञ भगवान् के उपदेश से विपरीत मान्यता है। अनन्त जीव सर्वज्ञ केवली भगवान् हुये हैं। उन सब भगवन्तों ने आत्मा को उपयोग स्वरूप देखा है आत्मा को जड़रूप या राग—द्वेषरूप नहीं देखा है।

द्रव्य कर्म मलैर्मुक्तं, भाव कर्म विवर्जितम्।

नो कर्म रहितं सिद्धं, निश्चयेन चिदात्मनः॥

आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म व शरीरादि नौ कर्म से भिन्न चैतन्यमयी है। ऐसी

आत्मा को अनुभव में लेकर अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानो।

जो चेतन अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह को मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से सर्वथा छोड़ देते हैं। तथा लोक व्यवहार तक से विरत रहते हैं, वे दिगम्बर मुनिराज ही रत्नत्रय के धारी होते हैं। अतः इन परपदार्थों की इच्छा छोड़कर जीवन में रत्नत्रय को धारण करो। हम सोचते हैं बस हमारी यह इच्छा पूरी हो जाये तो मुझे शांति मिलेगी, पर ध्यान रखना इस इच्छा का पेट इतना बड़ा है जिसे आज तक कोई नहीं भर सका।

एक बार की बात है कि एक मुनिराज जंगल में बैठे ध्यान लगा रहे थे। एक सेठ के लड़के की शादी थी। उस सेठ ने ज्यौनार की थी। सेठ ने जंगल में जाकर मुनिराज से कहा कि महाराज आप भी भोजन कर लीजिये। मुनिराज ने मना कर दिया। जब सेठ ने विशेष आग्रह किया तो मुनिराज ने सामने से आती हुई एक छोटी सी लड़की की ओर इशारा करके कहा उसे ले जाओ। लड़की कहने लगी की मेरा नाम इच्छा है, यदि तुम मेरा पेट भर सको तो मुझे साथ ले जाना, वरना मत ले जाना। सेठ कहने लगा कि तुम छोटी-सी लड़की हो, तुम क्या खाओगी ? मैं तुम्हारा पेट अवश्य भर दूँगा। इच्छा रूपी लड़की बोली—यदि तुम मुझे पेटभर भोजन न करा सके तो मैं अंत में तुम्हें खा जाऊँगी। सेठ ने कहा कि ठीक है। ऐसा कहकर सेठ ने उसे घर लाकर भोजन करने बैठा दिया। इच्छा नाम की लड़की ने भोजन करना शुरू कर दिया। सेठ के यहाँ बना पाँच हजार व्यक्तियों का भोजन खाकर भी वह भूखी रही, तो सेठ ने कहा कि घर में जितनी सामग्री है सब बनाकर इच्छा का पेट भरो, नहीं तो वह मुझे खा जायेगी। इस प्रकार उसे घर की सारी सामग्री बनाकर खिला दी, तो भी उसकी शांति नहीं हुई। इस प्रकार जब वह सेठ उस इच्छा नाम की लड़की का पेट भरने में असफल रहा, तो वह उससे बचने के लिये भागा। लेकिन वह लड़की भी उस सेठ के पीछे भागी, मैं तो तुम्हें अवश्य ही खाऊँगी। सेठ ने भागते-भागते सारे गाँव का चक्कर लगा लिया। अंत में वह मुनिराज के पास पहुँचा कि महाराज! मुझे बचाइये इस लड़की की भूख तो मुझे खा जायेगी। महाराज को देखकर वह लड़की दूर से ही रुक गयी। महाराज बोले यदि तुम सुखी रहना

चाहते हो तो अपनी इच्छाओं को घटाओ। देखो, तुम इस इच्छा के कारण व्यर्थ में परेशान हो रहे हो। तुम सोच रहे थे कि इसे एक व्यक्ति का भोजन कराकर शांत कर दूँगा। इसी प्रकार प्रत्येक मानव सोचता है कि बस मेरी यह इच्छा पूरी हो जाये तो मुझे शांति मिलेगी। लेकिन यह इच्छा कभी शांत नहीं होती।

एक बार गोटेगाँव के एक सेठ जी क्षमासागर महाराज से बोले— महाराज जब हम अलग हुये थे तो मुझे 65 रुपये मिले थे। मैंने उन रुपयों से व्यापार किया तो हमारे पुण्य के उदय से वे 65 रु. पहले पैंसठ सौ, फिर पैंसठ हजार और अब पैंसठ लाख हो गये हैं, पर मेरी इच्छा है कि ये कब पैंसठ करोड़ हो जायें। पहले मैं रुपये कमाता था, पर अब तो मैं रुपये कमाने की मशीन हो गया हूँ। पहले मेरा मन धर्म करने का होता था और मेरे पास समय भी बहुत रहता था। पर अब मेरा मन कभी—कभी धर्म करने का होता तो है, पर अब मेरे पास समय बिल्कुल भी नहीं है। उन्हें इस बात का दुःख है, पर अब मुश्किल है कि वे इस इच्छा डायन से बच पायें। इच्छायें पूरी करने पर और बढ़ती ही जाती हैं। अतः यदि तुम अपना कल्याण करना चाहते हो तो इच्छा निरोधरूपी तप करके इन इच्छाओं को घटाते—घटाते समाप्त कर दो, तो तुम्हें भी धीरे—धीरे शांति मिल जायेगी और पूर्ण इच्छाओं के समाप्त होते ही मोक्ष की प्राप्ति होगी, जहाँ पूर्ण नराकुल अनंत सुख मिलेगा। इच्छाओं के कारण ही राग—द्वेष होता है। यदि इच्छाएँ घटना शुरू हो गयीं, तो समझो की मोक्ष का मार्ग मिल गया।

गृहस्थी तो एक जंजाल है। गृहस्थी के चारित्र को आचार्य गुणभद्र स्वामी ने बताया है कि वह तो हाथी के स्नान के समान है। हाथी ने स्नान किया और बाद में बाहर निकलकर धूल को सूँड़ में भरकर अपने ऊपर डाल लिया। परसंबंध में हानि—ही—हानि है। अकेला है तो बड़ा सुख है और यदि दुकेला हो गया, विवाह हो गया, तो क्या मिला ? चौपया हो गया। भंवरा हो गया। बच्चा हो गया छः—पाया हो गया और बच्चे की शादी हो गई तो अष्टपाया हो गया अर्थात् मकड़ी बन गया। मकड़ी का जाल होता है। वह स्वयं जाल बनाती है और उसी में फँसा जाती है। इसी प्रकार इसने स्वयं जाल बनाया और 70—80

वर्ष तक उसी में फंसा रहा। ये जितने भी बाह्य पदार्थ हैं, सब आसार हैं। इनमें हित का नाम भी नहीं है। यदि परपदार्थों से अपना हित मानते हो तो समझो की हम भ्रम में पड़कर उलटे मार्ग पर चल रहे हैं। अरे इन विषय—कषाय के मार्ग को छोड़ो और संयम, तप के मार्ग को अपना कर अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करो। जिन्होंने अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली वे मुनिराज ही वास्तव में सुखी हैं और एक दिन सम्पूर्ण इच्छाओं का अभाव करके परमात्मपद को प्राप्त करेंगे।

एक मुनिराज किसी जंगल में तपश्चरण करते थे। एक बार एक राजा वहाँ से गुजर रहा था। उसने उनकी निर्ग्रन्थ मुद्रा देखकर सोचा कि यह तो बहुत दरिद्र है, इसके पास एक लंगोटी तक नहीं है, अतः हमें इसकी कुछ सहायता करनी चाहिए। ऐसा विचार कर राजा ने अपने मंत्री को 100 स्वर्ण मुद्रायें उस दरिद्र साधु को देने को कहा। मंत्री ने साधु से जाकर कहा कि राजा ने ये मुद्रायें आपके लिए भेजी हैं, इसे लेकर आप अपनी दरिद्रता दूर कर लें। यह सुनकर मुनिराज कहते हैं कि इन्हें गाँव में बाँट दो। मंत्री राजा के पास पहुँचा और साधु का उत्तर बताया। राजा सोचते हैं कि शायद यह मुद्रायें कम हैं, इसलिए उस दरिद्र ने स्वीकार नहीं कीं। राजा ने कहा— 200 मुद्रायें भेजी जाएँ। इस तरह वह पुनः 200 मुद्रायें मंत्री के हाथ भेजता है, मंत्री साधु के पास जाता है और मुद्रायें स्वीकार करने के लिए कहता है। किन्तु इस बार भी उस साधु ने वही उत्तर दिया कि जाओ, इन्हें गरीबों में बाँट दो। मंत्री फिर राजा के पास जाकर कहता है कि उसने मुद्रायें स्वीकार नहीं कीं। अब राजा सोच में पड़ जाता है कि क्या कारण है कि यह मुद्रायें स्वीकार नहीं करता। वह सोचता है कि शायद मंत्री के हाथ से मुद्रायें लेना उसने अपना अपमान समझा हो, इस कारण मैं स्वयं ही वहाँ जाकर उन्हें ये दे आऊँ। इस प्रकार वह स्वयं 1000 मुद्रायें लेकर उन मुनिराज के पास पहुँचता है और कहता है कि ये स्वर्ण मुद्रायें ले लीजिये। मुनिराज ने फिर वही बात कही जाओ इन्हें गरीबों में बाँट दो। राजा बोलते हैं कि तुमसे गरीब मुझे और कौन मिलेगा ? मुनिराज उत्तर देते हैं कि तुम हमें नहीं जानते हो, हम श्रीमन्त हैं, हमारे पास अनन्त वैभव का भण्डार है, हम ऐसे

तुच्छ पर द्रव्य को स्वीकार नहीं करते। राजा बोला—मुझे भी उसकी चाबी दे दीजिये। मैं भी वह अनंत वैभव का भण्डार ले लूँगा। मुनिराज कहते हैं कि इसके लिए तुम्हें मेरे साथ कुछ दिन रहना होगा, तब उसे पा सकोगे। राजा बोलता है—हाँ—हाँ, रह लूँगा। इस तरह राजा मुनिराज के पास रहने लगा। मुनिराज उसे कुछ धर्म का उपदेश देते रहे। कुछ दिन बाद मुनिराज कहते हैं कि तुम्हें मेरा अनंत वैभव का खजाना देखना है तो तुम मेरे—जैसे बन जाओ। राजा ने सोचा कि यही विधि होगी अनंत वैभव का खजाना देखने की, इसलिए वह मुनिराज बन जाता है, मुनिराज जैसी क्रियायें करने लगता है। अब उसे बड़ी शांति महसूस होने लगी। कुछ दिन बाद मुनिराज बोले— राजन्! अब तुम अपनी यह धन—संपदा वापिस ले लो। तो वह पूर्व राजा बोलता है कि, प्रभु! अब कुछ नहीं चाहिये। अब तो मुझे यह धन संपदा तुच्छ लग रही है। इसके कारण तो पहले मैं बहुत दुःखी था। दिन—रात इच्छाएँ चिंताएँ बनीं रहती थीं, पर अब जब मेरी समस्त इच्छायें समाप्त हो गई हैं, तो मुझे अपने अनन्त वैभव तथा उसके साम्राज्य का पता चल गया। अब तो मुझे अपने रत्नत्रय खजाने का पता चल गया। जब इच्छाएँ थीं तो राजा दुःखी था और अब इच्छाएँ समाप्त हो गई, तो वह सुखी हो गया। वास्वत में इच्छाओं का होना ही दुःख है और इच्छाओं का ना होना ही सुख है। अतः अपनी शक्ति को पहचानो और इन इच्छाओं को घटा कर अपना कल्याण करो।

आचार्य योगीन्दुदेव ने लिखा है —

यः जिनः स अहं एतद्, भावय निर्भ्रान्तम्।

मोक्षस्य कारणं योगिन, अन्यः न तन्त्रः न मन्त्रः॥

जो जिनदेव हैं, वह मैं हूँ। इसकी भ्रान्तिरहित होकर भावना कर। हे योगिन्! मोक्ष का कारण कोई अन्य तन्त्र—मन्त्र नहीं है।

स्वभाव का आश्रय करना, अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का परिचय होना, इससे बढ़कर दुनियाँ में कोई सम्पदा नहीं है। बाकी जिसे सम्पदा मानते हैं, तो जब तक जीवित हैं, तब तक बहुत कलंक में लगे हैं और जब मरण हो जायेगा, तो सब—का—सब यहीं धरा रह जायेगा और आत्मा को अकेला ही जाना पड़ेगा।

अपने स्वभाव में लीन रहने पर कर्मों का बंध नहीं होता।

यथा सलिलेन न लिप्यते, कमलिनीपत्र कदा अपि।

तथा कर्मभिः न लिप्यते, यदि रतिः आत्मस्वभावे।।

जिस तरह कमलिनी का पत्र कभी भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी तरह यदि आत्मस्वभाव में रति हो, तो जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता।

पर द्रव्यों से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। जितने भी परद्रव्य व परभाव हैं वे आपके नहीं हैं। यदि किंचित् मात्र भी कषायें आत्मा में रहती हैं, तो उस आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है।

भरत जी आदिनाथ भगवान् के समवशरण में जाकर पूँछते हैं, हे भगवान्! मेरा छोटा भाई एक वर्ष से तपस्या कर रहा है, पर उसे केवल-ज्ञान क्यों नहीं हो रहा है ?

भगवान् कहते हैं—बाहुबली के मन में थोड़ा-सा विकल्प है। वे जानते हैं कि मेरा तो इस संसार में कुछ नहीं है, यह वसुधा मेरी नहीं है लेकिन मैं भरत की जमीन पर तपस्या कर रहा हूँ। यह छोटा-सा विकल्प रह गया है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद यदि ये नोकषायें भी मन में रहती हैं, तो मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। बाहुबली के पूरे शरीर पर अनेक कीड़े-मकोड़ों ने बिल बना लिये, लेकिन वे बिल और कीड़े-मकोड़े उनके लिये बाधक नहीं हो रहे हैं, लेकिन यह छोटी सी कषाय बाधक हो रही है।

भरत जी ने जाकर बाहुबली से क्षमा याचना की कि यह वसुधा किसी की भी नहीं है। विकल्प दूर होते ही बाहुबली को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। पूजा में पढ़ते हैं —

फाँस तनिक—सी तन में साले।

चाह लंगोटी की दुःख भाले।।

यहाँ परमाणु मात्र भी किसी का नहीं है। हम राग-द्वेष के कारण तो कई बार मान लेते हैं कि संसार में कुछ भी हमारा नहीं है। यही भावना अगर वीतरागता के कारण भाना शुरू कर दो तो आपका कल्याण हो जायेगा।

एक नगर में एक मुनि महाराज पधारे। जैसे ही जिनमंदिर में उनका प्रवेश हुआ और प्रवचन हुये उसके बाद कुछ लोग मुनि महाराज जी के पास पहुँचे और बोले कि हमारे नगर में एक अत्यंत दुःखित महिला रहती है, उसका पति मर गया है, बहुत दिनों से उसने कुछ नहीं खाया, वह केवल शय्या पर पड़ी रहती है और शोक करती रहती है, आप अगर जाकर के उसको संबोध दें तो शायद उसका अंतिम समय सुधर जाये। यह सुनकर महाराज बोले कि ठीक है, अगर हमारे उपदेश से उसकी गति सुधरती है तो चलो हम उपदेश देने चलते हैं। महाराज जी जैसे ही उस दुःखयारी महिला के घर पहुँचे, वह महिला कराह रही थी और कह रही थी कि मेरा इस संसार में कोई नहीं है।

मुनि महाराज एकदम आश्चर्यचकित होकर उस महिला से कहते हैं कि, माता! तूने यह मंत्र कहाँ से सीखा, यह तो महामंत्र है। महिला भी यह सुनकर के अवाक् रह जाती है कि मैं तो शोक कर रही हूँ, कौन-सा मंत्र जप रही हूँ ? उसने महाराज से कहा कि आप मुझसे मजाक तो नहीं कर रहे हैं, मेरी हँसी तो नहीं उड़ा रहे हैं ? मुनि महाराज ने उससे कहा कि नहीं, बिलकुल नहीं। तुम एक ऐसे महामंत्र का जाप कर रही हो जिसे कोई निकट-भव्य आत्मा ही कर पाती है। लेकिन मंत्र थोड़ा-सा अधूरा रह गया है। इसे पूरा कर लो तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। महिला ने आश्चर्य से पूछा, अधूरा मंत्र ? मुनि महाराज ने कहा कि हाँ, तुम अधूरा मंत्र जप रही हो। अभी तुम जप रही थीं कि मेरा इस संसार में कोई नहीं है, इसके आगे बस इतना और लगा दो कि तू भी इस संसार की नहीं है, तू भी किसी की नहीं है। न तेरा कोई है, न तू किसी की है। 'तू चेतन अरु देह अचेतन, यह जड़ तू ज्ञानी।'

तुम तो चैतन्यमयी आत्मा हो और शेष शरीर आदि अचेतन/जड़ हैं। उससे तुम्हारा कोई नाता नहीं है। इस प्रकार की भावना भाते हुये इस मंत्र को जपना प्रारंभ कर दो तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। महिला को बात समझ में आ गई और उसका सारा शोक समाप्त हो गया।

जैनधर्म कहता है कि कोई कर्म ही मत करो। किसी पदार्थ में कर्तव्य-बुद्धि ही मत रखो। अनादिकाल से यह जीव अपने आपको (आत्मा को) न पहचानने

के कारण ही संसार में भटक रहा है। अब सुकुल व सच्चे—देव—शास्त्र गुरु का सान्निध्य प्राप्त हुआ है। अतः प्रमाद को छोड़कर अपने आत्मचिंतन में लगना ही मानवपर्याय की सफलता है। जिसे आत्मज्ञान हो गया, वही धन्य है। परवस्तु में अपनापन मानना ही दुःख का कारण है और आत्मस्वभाव में रहना ही सुख है।

केले के पेड़ में भले सार निकल आवे, किन्तु विषयभोगों में कोई सार नहीं है। यह विषयसामग्री तो अनेक बार मिली, किन्तु वस्तु स्वरूप का ज्ञान (आत्मा का परिचय) आज तक प्राप्त नहीं हुआ। आचार्य समझा रहे हैं— अब भूल की बात को मत दोहराओ और सर्व प्रयत्न करके आत्मा को पहचानकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयास करो। एकमात्र सम्यग्दर्शन ही ऐसा है जो इस संसार से मुक्त करा सकता है।

यदि संसारी जीव विषयभोगों की आधीनता छोड़कर अपने आत्म—सुख का अनुभव करें तो उन्हें वह परम आल्हाद सुख मिले, जिसमें न आकुलता है, न चिन्ता है, न लालसा है, न अशान्ति है, न पराधीनता। अत्यन्त महिमावन्त आत्मा अनन्तसुख का अक्षय भंडार है, अनन्त गुणों का स्वामी है। आत्मस्वरूप का विचार व ध्यान करते ही महान आनन्द उत्पन्न होता है। सम्यग्ज्ञानी जीव को समस्त बाह्य वैभव और परपदार्थों के प्रति दृढ़ वैराग्य होता है। 'छहढाला' ग्रंथ की चौथी ढाल में कहा है कि करोड़ों उपाय करके भी, हे भव्य! तू सम्यग्ज्ञान प्रगट कर। यह सम्यग्ज्ञान ही विषय—कषाय के दुखों से छुड़ाकर मोक्ष—सुख प्राप्त करता है। जितने जीव मोक्ष गये हैं, जो जा रहे हैं और आगे जायेंगे, यह सब सम्यग्ज्ञान की ही महिमा है। आत्मज्ञान के सिवाय सुख का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

रत्नत्रय से सहित यही जीव उत्तम तीर्थ है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नाव से संसार को पार करता है। जिसके द्वारा संसार को तिराजाये उसे तीर्थ कहते हैं। सो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से सहित यह आत्मा ही सब तीर्थों में उत्कृष्ट तीर्थ है, क्योंकि यह आत्मा रत्नत्रयरूप नौका में बैठकर संसाररूपी समुद्र को पार कर जाता है। आशय यह है कि यह जीव रत्नत्रय को अपनाकर संसारसमुद्र को तिर जाता है, अतः रत्नत्रय 'तीर्थ'

कहलाया। किन्तु रत्नत्रय तो आत्मा का ही धर्म है, आत्मा से अलग तो रत्नत्रय नाम की कोई वस्तु है नहीं। अतः आत्मा ही तीर्थ कहलाया। यह आत्मा संसारसमुद्र को स्वयं ही नहीं तिरता, किन्तु दूसरों को भी तिराने में निमित्त होता है। अतः वह सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है।

जीव (आत्मा) और शरीर परस्पर में मिले हुये हैं, जैसे दूध में घी। इसी से मूढ़ पुरुष शरीर को ही जीव समझते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि आत्मा ज्ञान गुण वाला है और शरीर पौद्गलिक है। अतः वह शरीर को आत्मा से वैसा भिन्न मानता है जैसा ऊपर से पहना हुआ वस्त्र शरीर से अलग है। जो शरीर से भिन्न आत्मा को जानते हैं, वे अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। कहा भी है कि जो परम समाधि में स्थित होकर देह से भिन्न ज्ञानमय परम आत्मा को निहारता है, वही पंडित कहा जाता है। जिसने मनुष्यभव पाकर आत्मज्ञान प्राप्त करके रत्नत्रय को धारण किया, उन्हीं का मनुष्य-जन्म सफल हो गया। 'छहढाला' ग्रंथ में कहा है 'धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया।'

मनुष्यभव में तो आत्महित का कार्य अवश्य ही कर लेना चाहिये। इसके बिना सब व्यर्थ है, संसार का कारण है, उसमें कुछ सार नहीं है। रत्नत्रय को धारण करके अन्तर्मुख होकर आत्मा का अनुभव करना ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। इसी उपाय से अनन्त जीव मोक्ष-सुख को प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं और आगे करेंगे।

आचार्य समझा रहे हैं—हे भव्य! तूने अनादि काल से 'शरीर भिन्न है, मैं भिन्न हूँ' इस प्रकार भेदविज्ञान रूपी अमृत के सरोवर में प्रवेश नहीं किया। इसलिये ही शरीर में आत्मबुद्धि होने से नरकादि चारों गतियों में भ्रमण किया है। परन्तु जिनको 'आत्मा से शरीर भिन्न है। आत्मा ज्ञानी है, शरीर जड़ है' ऐसा भेद ज्ञान है, वे सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर आत्मोत्थ, चिदानन्दमय सुख का अनुभव करते हैं। हे भव्य! सदा राग-द्वेष, मोह रहित शुद्ध आत्मा का चिन्तन करो। यह चैतन्यमात्र ज्ञानज्योति-स्वरूप मैं हूँ, अन्य समस्त परद्रव्य और परभाव मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। जिसने ऐसा परिचय पा लिया, उसको अमृत की बाबड़ी मिल गई। जिसमें मग्न रहने पर फिर संसार का संताप नहीं हो सकता।

अतः इन असार इन्द्रियविषयों को छोड़कर भगवान् ने सात तत्त्वों का जैसा स्वरूप बताया है, उसे समझकर श्रद्धान कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो और इस बाह्य जगत के पीछे दौड़ना छोड़ दो।

संसारभ्रमण का मूलकारण यह मोह ही है। मोह, असंयम, पाप ये सब मदिरा के समान हैं। इनमें नशा होता है। जिसमें आसक्त होकर यह संसारी प्राणी अपनी ही आत्मा का अहित करता है।

एक बार एक राजा हाथी पर बैठकर शहर में घूमने गया। उसे रास्ते में एक कोरी मिला। कोरी ने मदिरा पी रखी थी, इसलिए वह होश में नहीं था। राजा को देखकर वह बोला— ओबे रजुआ! हाथी बेचेगा क्या? राजा को सुनकर बड़ा गुस्सा आया, यह कोरी कैसे मेरे हाथी को खरीदेगा? मंत्री जी साथ में थे। उसने राजा को समझाया— यह कोरी नहीं बोल रहा है, कोई और बोल रहा है। अभी वापस राजा—दरबार में चलते हैं, इसे वहीं बुलायेंगे, आप वहाँ ही उसे दण्ड देना। कुछ देर बाद राजा राज—दरबार में पहुँचा। वहाँ उसने कोरी को बुलवाया। तब तक कोरी का नशा उतर चुका था, वह होश में आ चुका था। ज्योंही वो राजा के सामने लाया गया तो, राजा कहता है कि तू रास्ते में क्या कह रहा था, मेरा हाथी खरीदेगा? कांपने लगा बेचारा बोला— महाराज! यह आप क्या कह रहे हैं? मैं हूँ गरीब आदमी और आप राजा। आपका हाथी मैं कैसे खरीद सकता हूँ। मंत्री कहता है— राजन् अब यह कोरी होश में है। वहाँ जो हाथी खरीदने को कह रहा था, वह यह नहीं था। वह कहने वाला तो मदिरा का नशा था। अब इसके नशा नहीं रहा। इसी तरह आप और हम प्रभु की तरह पवित्र हैं। हमें स्वयं अपना परिचय नहीं, यह सब मोह का नशा है। इसलिए अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करना पड़ रहा है।

आचार्य समझाते हैं हे जीव! तू सिद्ध भगवान् के समान ही चैतन्य स्वभावी आत्मा है। देख तू सिद्ध भगवान् के समान अमूर्तिक चैतन्य स्वभाव वाला है कि नहीं? देखो, जब यह जीव मरण इस शरीर से निकल कर अन्य गति में जाता है, तब इस शरीर के अंगोपांग, (हाँथ, पैर, आँख, कान, नाक इत्यादि सर्व चिन्ह) ज्यों के त्यों रहते हैं, किन्तु चेतनपना नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है

कि जानने—देखने वाला जीव और ही था। तथा देखो, मरण के समय कुटुम्ब—परिवार के लोग मिलकर इसे बहुत पकड़—पकड़ कर रखना चाहें तथा गहरे तलघर में मोटे कपाट भी जड़कर रखें, तो भी सर्व कुटुम्ब के देखते—देखते दीवार व घर में से आत्मा निकल जाती है, और किसी को यह दिखती नहीं है। अतः तू सिद्ध भगवान् के समान ही चैतन्यस्वभावी अरूपी आत्मा है, इसमें संदेह मत कर। द्रव्यदृष्टि से सिद्धों के स्वरूप में और तेरे स्वरूप में अंतर नहीं है। सिद्ध भगवान् का नाम लेने व ध्यान करने से ही भवरूपी आताप विलीन हो जाता है, परिणाम शांत होते हैं और निजस्वरूप की प्रतीत होती है। सिद्ध भगवान् के स्वरूप में और अपने स्वरूप में सादृश्यपना है। इसलिये सिद्ध भगवान् के स्वरूप का ध्यान कर अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना चाहिये।

‘परमात्म—प्रकाश’ ग्रंथ की टीका में पं. दौलतराम जी ने लिखा है—द्रव्य छह हैं, उनमें से पाँच जड़ और जीव को चेतन जानो। पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश ये सब जड़ हैं, इनको अपने से जुदा जानो और जीव भी अनन्त हैं, उन सबको अपने से भिन्न जानो। अनन्त—चतुष्टय—स्वरूप अपना आत्मा है, उसी को निज (अपना) जानो और रागादिक भाव कर्मों को, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मों को तथा शरीरादिक नोकर्मों को अपने मत मानो। ये सभी जीव से भिन्न हैं।

ब्र. राममल्लजी ने एक उदाहरण दिया है — जैसे जल का स्वभाव शीतल है पर अग्नि के निमित्त से ऊष्ण हो जाता है, सो उष्ण होने पर (पर्याय में) अपना शीतल गुण भी खो देता है। स्वयं उष्णरूप होकर परिणमता है और औरों को भी आताप उत्पन्न करता है। पीछे काल पाकर जैसे—जैसे अग्नि का संयोग मिटता है, वैसे—वैसे जल का (पर्याय) स्वभाव शीतल होता जाता है तथा जो को भी आनन्दकारी होता है। उसी भाँति इस आत्मा का स्वभाव सुख है, परन्तु कषाय के निमित्त से आकुल—व्याकुल होकर परिणत है, पर्याय में सर्व निराकुलित गुण जाता रहता है, तब अनिष्टरूप लगता है। पुनः जैसे—जैसे कषाय का निमित्त मिटता जाता है, वैसे—वैसे निराकुलित गुण प्रकट होता जाता है, तब वह इष्टरूप लगता है। सो किञ्चित् कषाय मिटने पर जब इतना सुख होता है, तब सम्पूर्ण कषायों के मिटने पर जिनके अनन्तचतुष्टय प्रकट हुआ है, उनका

वह सुख कैसा होगा? सो थोड़े-से निराकुलित स्वभाव को जानने से संपूर्ण निराकुलित स्वभाव की प्रतीत आती है। सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा कितनी निराकुलित स्वभाव की होगी?

निज ज्ञान-आनन्द स्वभाव की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व और कषाय का नाश करना आवश्यक है। कषाय अथवा राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण अपनी मन की मिथ्या मान्यता है। अपने स्वरूप को यदि यह जीव पहचाने, तो इसकी मिथ्या मान्यता छूटे। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से अपने स्वरूप को स्पर्श करने का, अनुभव करने का पुरुषार्थ करते हुए जब यह जीव निर्णय करता है कि मैं शरीर से भिन्न एक अकेला चेतन तत्त्व हूँ और मेरी पर्याय में होने वाले रागादि भाव, जिनके कारण मैं दुःखी हूँ, मेरे स्वभाव नहीं हैं, अपितु विकारी भाव हैं, अनित्य हैं, नाशवान् हैं, तब यह जीव शरीर और रागादि से भिन्न अपने ज्ञाता स्वरूप को देख पाता है। यही सम्यग्दर्शन है। जब रागादि से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का निर्णय हो जाता है, तब ही राग-द्वेष के नाश के लिए वास्तविक पुरुषार्थ आरंभ होता है।

जब इस जीव की मोहरूपी निद्रा टूटती है, तो इसे अपना परिचय प्राप्त होता है कि मैं पुद्गलादि परद्रव्यों से भिन्न राग-द्वेषादि विकारों से रहित परमानन्दमय आत्मा हूँ। सर्वगुणों का धाम यह आत्मा है, सर्वद्रव्यों में उत्तम द्रव्य व सर्वतत्त्वों में उत्तम तत्त्व है। श्री गणेश प्रसाद वर्णी जी ने 'वर्णी वचनामृत' में लिखा है —

यदि हमें संसार के बन्धनों से मुक्त होना हो तो सर्वप्रथम हम कौन हैं? हमारा स्वरूप क्या है? वर्तमान में कैसा है ? तथा संसार क्यों अनिष्ट है? यह जानने का प्रयास करें, क्योंकि जब तक इन सब बातों का निर्णय न हो जाये, तब तक उसके अभाव का प्रयत्न हो ही नहीं सकता। हम इच्छा करने मात्र से मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते। आत्मा में जो रागादि विभाव परिणाम हैं, उनके दूर करने के अर्थ 'श्री वीतरागाय नमः' यह जाप असंख्य कल्प भी जपा जाये, तो भी आत्मा में वीतरागता नहीं आयेगी, किन्तु रागादि की निवृत्ति से अनायास वीतरागता आ जायेगी।

आत्मा में जो रागादि होते हैं। उनका मूल कारण यह मोह ही है। इसलिए मोह को महामद कहा गया है। जैसे शराबी व्यक्ति को शराब पीने के बाद कुछ होश नहीं रहता, वह कुछ-का-कुछ समझता है, उसी प्रकार यह जीव मोह के नशे के कारण शरीरादि पर द्रव्यों को अपना मानता है और यही संसार भ्रमण का कारण है। परद्रव्यों से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करना निश्चय सम्यग्दर्शन कहलता है और परद्रव्यों को अपना मानना मिथ्यादर्शन कहलाता है।

एक व्यक्ति विदेश गया था। वहाँ उसे आँख में कामला रोग हो गया, जिससे उसे सभी वस्तुयें पीली-पीली दिखने लगीं। जब वह परदेश से लौटा और घर आया तो उसे अपनी स्त्री पीली दिखी। उसने उसे भगा दिया, कहा कि मेरी स्त्री तो काली थी, तू यहाँ कहाँ से आ गई? वह कामला रोग होने से अपनी ही स्त्री को पराई समझने लगा था। इसी प्रकार मोह के उदय में यह जीव कभी-कभी अपनी चीज को पराई समझने लगता है और कभी-कभी पराई को अपनी। यह विभ्रम ही संसार का कारण है। इसलिये ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे पाप-का-बाप यह मोह आत्मा से निकल जाये। यही दुनियाँ को नाच नचाता है। मोह दूर हो जाये और आत्मा के परिणाम निर्मल हो जायें तो संसार से आज छुट्टी मिल जाये। पर हो तब न। संस्कार तो विषय-भोगों में ही सुख-शान्ति खोजने के बना रखे हैं। शान्ति को अपने चेतनघन-स्वरूप आत्मा में खोजो, इंद्रिय-विषय संबंधी-भोगों में नहीं। वहाँ इसका साया भी नहीं है। न मालूम क्यों हम लोगों को वहाँ ही अपनी शान्ति के होने का भ्रम हो गया है। यह सब मोह का ही परिणाम है। अतः मोह को छोड़कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयास करो। जिसका मोह दूर हो जाता है, जो स्वयं को जान लेता है, उसे सब कुछ मिल जाता है।

एक व्यक्ति धन कमाने विदेश गया। वहाँ उसने बारह वर्ष तक खूब धन कमाया। उसने लौटते समय अपना सारा धन देकर एक बहुमूल्य हीरा खरीद लिया और उसे एक सुन्दर-सी डिबिया में रख लिया।

एक ठग ने सोचा सेठ बहुत दिनों बाद अपने घर जा रहा है, इसके पास बहुत सारा धन होगा, इसलिये वह ठग भी सेठ के साथ-साथ चलने लगा।

बातचीत की कुशलता से ठग ने सेठ के साथ अच्छा परिचय कर लिया। परन्तु सेठ ने ठग की चाल-ढाल को पहचान लिया था। जब शाम होने लगी तो दोनों एक ही धर्मशाला में रुक गये। सेठ तो चलते-चलते थक चुका था, अतः बिस्तर पर लेटते ही उसे नींद आ गई। ठग बिस्तर पर लेटे-लेटे सोच रहा था कि सेठ के पास इतना जोखिम है, फिर भी कैसे चैन से सो रहा है।

दूसरे दिन भी सेठ और ठग की यात्रा साथ-साथ होने लगी। बातचीत के दौरान ठग ने इतना तो जान लिया कि सेठ ने अपना सारा धन देकर एक बहुमूल्य हीरा खरीदा है। अब ठग इस फिराक में रहने लगा कि सेठ हीरे की डिबिया को रखता कहाँ है ? ठग ने जान लिया कि सेठ उस डिबिया को हरदम अपने साथ ही रखता है। ठग ने निर्णय लिया कि आज रात में मैं उस डिबिया को अवश्य निकाल लूँगा। चलते-चलते जब शाम होने लगी तो दोनों एक साथ ही धर्मशाला में ठहरे। मध्यरात्रि में जब सेठ सो रहा था तब ठग ने उसके सारे कपड़े टटोल लिये, किन्तु उसे डिबिया नहीं मिली। आखिर हारकर वह भी सो गया।

जब ठग की दूसरी रात्रि भी असफल सिद्ध हुई तो वह सोचने लगा कि ये सेठ भी गजब का है। दिन में तो उसकी डिबिया जेब में दिखाई देती है किन्तु रात्रि में पता नहीं कहाँ गायब हो जाती है। इस तरह यात्रा की अनेक रात्रियाँ व्यतीत होती रहीं, किन्तु ठग को कोई रहस्य मालूम नहीं हो सका। अब तो पड़ाव की अंतिम रात्रि थी।

ठग ने फिर से एक बार सेठ का सामान, बिस्तर, कपड़े इत्यादि सब टटोल लिये। परन्तु आश्चर्य उसे डिबिया नहीं मिली। सुबह होते ही दोनों चल पड़े और जब सेठ का गाँव दूर से नजर आने लगा, तब ठग के मन में भारी उथल-पुथल थी। उसे बार-बार ये ही अफसोस हो रहा था कि मैं इस सेठ को ठगने में असफल रहा। उसने सेठ से कहा—सेठ जी! मैं आपकी बुद्धि को प्रणाम करता हूँ। बिदा होते-होते आज आप बस मुझे इतना राज बता दीजिये कि दिन में दिखाई देनेवाली आपकी डिबिया रात में कहाँ छिप जाती थी। ये प्रभाव किसी दैवी-शक्ति का है या किसी मंत्र-शक्ति का?

सेठ ने रहस्यमयी मुस्कान भरते हुये कहा—अरे, भले आदमी! रात को सोते समय मैं उस डिबिया को तुम्हारे सामान में रखकर आराम की नींद सोता था। इतना सुनते ही ठग बड़ा हैरान हुआ कि कैसी अजीब बात है कि जो डिबिया सारी रात मेरे सामान में रहा करती थी, उसे ढूँढ़ने के लिये मैं रात भर सेठ का सामान टटोलता रहता था। प्रत्येक मनुष्य स्वयं को छोड़कर सदा दूसरों को ही टटोलता रहता है पर स्वयं की खोज नहीं करता। आचार्यों का कहना है कि जो स्वयं को जानता है, उसे सब कुछ मिल जाता है और जो दूसरों को जानने में जिन्दगी बिता देता है, उसे कुछ भी नहीं मिल पाता।

यदि चारों गतियों के दुःखों से छूटना चाहते हो तो धर्म का सेवन करो। 'जब वृद्धावस्था होगी, तब धर्म करेंगे'—ऐसा कहते—कहते अनेक व्यक्ति धर्म किये बिना ही मर गये। धर्म करने के लिये वृद्धावस्था की राह क्यों देखना? सभी के जीवन में पहला स्थान धर्म का होना चाहिये।

चक्रवर्ती भरत के पास एकसाथ तीन शुभ संदेश आये थे। जिनमें पुत्र—रत्न और चक्ररत्न की प्राप्ति इन दोनों को गौण करके उन्होंने सबसे पहले भगवान् आदिनाथ को केवलज्ञान प्राप्ति के शुभ संदेश को मुख्य करके उनकी पूजा की थी। इस घटना से पता चलता है कि महापुरुषों के जीवन में धर्म की प्रधानता थी। अतः यदि तुम्हें दुःख से छूटना हो तो वर्तमान में तुम्हारे पास जो मौजूद है, उसका सदुपयोग कर लो। आचार्य यहाँ बता रहे हैं—तेरे उल्टे भाव के अनुसार ही कर्म बंधे हैं, अतएव संसार परिभ्रमण का मूल कारण ये मिथ्यात्वादि उल्टे भाव ही हैं। इन उल्टे भावों को छोड़, तो तेरा भवभ्रमण मिटे। निज आत्मतत्त्व को पहचानकर, श्रद्धानकर सम्यग्दर्शन धारण करो। सम्यग्दर्शन के बिना जीव का परिभ्रमण कभी नहीं मिटता।

आचार्य योगीन्दुदेव ने लिखा है— निज आत्मतत्त्व जिनके मन में प्रकाशमान हो जाता है, वह साधु ही सिद्धि को पाता है। कैसा है वह तत्त्व? जो रागादि—मल रहित है और ज्ञानरूप है, जिसको परम मुनीश्वर सदा अपने चित्त में ध्याते हैं।

अपने को इस जड़ शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप जानना—देखना तथा

अनुभव करना ही आत्मोन्नति का पहला पड़ाव है। यह भेदज्ञान ही रागद्वेषादि विकारों को मेटने की औषधि है। सम्यक् साधना में रत जीव जितना आत्मस्वभाव में लगता है शरीर, परिवार, परिग्रह, भोजनादि में उसकी आसक्ति उतनी ही कम होती जाती है, और आत्मा उतनी ही मात्रा में उज्ज्वल होती चली जाती है। अतः जो जीव अपना कल्याण करना चाहता है, उसे राग-द्वेष का अभाव करने की चेष्टा करनी चाहिये। जिन साधकों के पूर्णरूप से कषाय का अभाव नहीं हो पाता, वे शुभोपयोग के फलस्वरूप स्वर्गादिक प्राप्त करते हैं और परम्परा से मोक्षपद प्राप्त करते हैं। राग-द्वेष का अभाव करने के लिए स्व को स्व व पर को पर जानकर, पर का आलम्बन छोड़कर, आत्मस्वभाव का आलम्बन लेना चाहिये।

जो तत्त्व (आत्मतत्त्व) इस लोक में सर्व प्राणियों के शरीर में मौजूद है और आप देह से रहित है, जो तत्त्व केवलज्ञान और आनन्दरूप अनुपम देह को धारण करता है, तीन भुवन में श्रेष्ठ है, उसको शांत जीव, संत पुरुष आधार बनाकर सिद्ध पद पाते हैं।

जिसने अपने आप को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया (ब्रह्म को प्राप्त कर लिया) उसे फिर और-कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती।

एक घटना है- वर्द्धमान महावीर जब 5 वर्ष के हुये तो उनके पिता सिद्धार्थ ने उनके विद्या अध्ययन के लिये एक आचार्य को नियुक्त किया। अध्ययन के पहले ही दिन बालक वर्द्धमान ने अपनी प्रज्ञा से आचार्य को निरुत्तर कर दिया। आचार्य ने वर्द्धमान! से कहा-वर्द्धमान बोलो एक। वर्द्धमान बोले- एक आचार्य ने समझाया एक माने आत्मा। फिर आचार्य ने कहा-बोलो दो। वर्द्धमान ने कहा-बस, अब और -कुछ बोलने की जरूरत नहीं। आचार्य ने आश्चर्य से पूछा-क्यों ? वर्द्धमान महावीर ने कहा- 'जे एगं जाणई, ते सव्वं जाणई।' अर्थात् जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। महावीर की प्रज्ञा के समक्ष आचार्य मौन थे। आचार्य ने महाराज सिद्धार्थ से क्षमायाचना के साथ कहा- महाराज! यह बालक कोई साधारण शिशु नहीं है, बल्कि जगद आचार्य है। इसे कोई क्या सिखायेगा ? आज से मैं स्वयं इनके चरणों में बैठकर कुछ

सीखूँगा।

‘जे एगं जाणई, ते सव्वं जाणई।’ जो एक आत्मा को जान लेता है, उसे फिर कुछ—और जानना शेष नहीं रहता। एक आत्मा सर्वोपरि है, सर्व—शक्तिमान है। ताश के खेल में एक पत्ता दूसरे पत्ते को हरा देता है। नहले को दहला हरा देता है तो दहले को गुलाम, गुलाम को बीबियाँ हरा देती हैं, तो बीबियों को बादशाह हरा देता है और बादशाह को इक्का हरा देता है, मगर इक्का को कोई नहीं हरा पता। इक्का सर्वोपरि है, एक आत्मा सर्वोपरि है। जिसने आत्मशक्ति को, आत्मबल को पहचान लिया, वह अजेय हो जाता है, फिर कर्म उसे पराजित नहीं कर पाते।

आत्मा को पहचान लेने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और सम्यग्दर्शन से ही मोक्षमार्ग की शुरुआत होती है। मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी। देखो, मनुष्य पर्याय तो संसार—संकटों से छूटने का उपाय बना लेने वाला समय है। कितना श्रेष्ठ जैनकुल प्राप्त हुआ है। यदि इस सुलझने के समय भी उलझन बढ़ाते रहे, तो कभी भी संसार—चक्र की उलझनों से छूट नहीं सकते। अतः व्यर्थ में समय बर्बाद मत करो और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, श्रावक धर्म व मुनिधर्म का पालन कर, मोक्षमार्ग पर चलते हुये, इस मनुष्यभव रूपी रत्न की जो असली कीमत मोक्ष है, उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

एक मनुष्य समुद्र के किनारे बैठा था। उसके हाथ में अचानक एक थैली आयी। उस थैली में रत्न भरे थे, जो उसे अंधेरे में दिखाई नहीं दिये और वह रत्नों के साथ खेल खेलेने लगा। एक के बाद एक रत्न को समुद्र में फेकने लगा। वह जैसे ही आखरी रत्न फेकनेवाला था, तभी किसी सज्जन पुरुष ने उसे आवाज दी—

अरे भाई ठहर! रत्न फेक मत देना, तेरे हाथ में कोई साधारण पत्थर नहीं है, वह तो बहुत कीमती रत्न है।

जब थोड़ा प्रकाश हुआ और उजाले में वह मनुष्य उस सज्जन पर विश्वास करके हाथ की वस्तु को सामने लाकर देखता है, तो वह चकित रह जाता है। वह क्या देखता है कि जगमगाता हुआ महान रत्न उसके हाथ में है, तब वह

विचार करने लगा—

अरे रे! मैं कितना मूर्ख हूँ ? ऐसे रत्नों की तो पूरी थैली भरी थी और मैंने अज्ञानता में मूर्खता करके खेल—खेल में उन सब रत्नों को समुद्र में फेक दिया।

इस प्रकार वह रोने लगा, तब उन सज्जन पुरुष ने उसे पुनः समझाया भाई! तू रो मत तेरे पास अभी भी जो एक रत्न बचा है, वह भी इतना कीमती है कि तू उसकी कीमत समझे और बराबर सदुपयोग करे तो पूरी जिन्दगी भर तुझे सुख और सम्पत्ति मिलती रहेगी। उस एक रत्न से भी तेरा कार्य हो जायेगा। इसलिये जो रत्न चले गये, उनका अफसोस छोड़कर अब जो रत्न हाथ में है, उसका सदुपयोग कर लो। जब जागो तभी सबेरा। उसके बाद उसने हाथ में बचे हुये उस एक रत्न का सदुपयोग किया और सुखी हुआ।

इसी प्रकार कोई भद्रपरिणामी आसन्न—भव्यजीव इस भवसमुद्र के किनारे आया अर्थात् त्रस—पर्याय को प्राप्त हुआ। वहाँ उसे त्रस—पर्याय में सर्वोत्कृष्ट मनुष्य भवरूपी रत्न मिला, परन्तु वह रागादि में ही सुख मानता हुआ जगत के क्षणिक विषय—कषाय के पोषण में ही अपने को रंजायमान करता हुआ उस मनुष्यभवरूपी रत्न को नष्ट करता रहा।

इस प्रकार इस रत्न को नष्ट करते देखकर किसी ज्ञानी ने आवाज दी अर्थात् भव्यजीव को देशना मिली कि, अरे भाई! ठहर। यह रत्न है, इसे फेक मत देना। यह मनुष्य पर्यायरूपी अमूल्य रत्न तो बहुत कम जीवों को ही मिलता है और बार—बार नहीं मिलता ? यदि यह मनुष्यभवरूपी महारत्न हाथ से चला जायेगा तो फिर तुझे मोक्षमार्ग का अद्भुत अपूर्व अवसर कैसे मिलेगा? तब वह जीव उस ज्ञानी पुरुष पर विश्वास करके उसके बताये मार्ग पर चलकर इस मनुष्यभवरूपी रत्न की जो असली कीमत मोक्ष है, उसे पाकर सदा के लिये सुखी हो जाता है।

अतः जिनधर्म को प्राप्त कर अब तो मिथ्यात्व को छोड़ो और सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयास करो। सम्यग्दर्शन के अभाव में इस मिथ्यादृष्टि जीव की दशा उल्टे—घड़े जैसी होती है।

एक माँ ने अपने बेटे से कहा—बेटा ! इस घड़े को ले जाकर नल के नीचे

रख दे और भर जाये तो ले आना। थोड़ी देर बाद बेटा घड़ा वापिस ले आया। माँ ने पूछा—घड़ा भर गया? बेटा—बोला नहीं। माँ ने पूछा—क्यों? क्या नल नहीं आया? बेटे ने कहा— नल तो आया था। माँ ने पूछा— तो क्या घड़े को नल के नीचे नहीं रखा था? बेटे ने कहा—नल के नीचे भी रखा था। माँ को तो बड़ा आश्चर्य हुआ। नल भी आया, पर घड़ा भरा नहीं, तो क्या घड़ा फूटा है? बेटे ने कहा— नहीं, फूटा भी नहीं है। माँ को और भी आश्चर्य हुआ। फिर माँ ने बेटे से पूछा— बेटा! एक बात तो बताओ कि तुमने घड़ा नल के नीचे सीधा रखा था या उल्टा? बेटे ने कहा— माँ! घड़ा तो उल्टा रखा था। माँ बोली— बेटा! बस, यही भूल हो गई। घड़ा उल्टा हो तो उस पर पूरा समुद्र भी उड़ेल दो तो भी वह भरने वाला नहीं है, हमने अनादि काल से सबकुछ जाना, पर एक आत्मा को नहीं जाना इसीलिये आज तक संसार में भ्रमण करना पड़ रहा है।

बाह्य वस्तु, स्त्री, पुत्र आदि सचेतन पदार्थों तथा चांदी, सोना आदि अचेतन पदार्थों को अपना समझना कि ये मेरे हैं ऐसे ममत्व परिणाम को संकल्प कहते हैं तथा मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि हर्ष—विषाद रूप परिणामों को विकल्प कहते हैं। ये संकल्प—विकल्प ही संसार भ्रमण के कारण हैं।

यदि हम इन संकल्पों—विकल्पों में ही उलझे रहे और शरीर से भिन्न अपनी चेतन आत्मा की पहचान नहीं की, तो जब यह आत्मा इस शरीर को छोड़ कर चला जायेगा, तब यह मित्र मंडल मिलजुलकर इस शरीर को जलाकर खाक कर देगा। संसारी जनों में ख्याति आदि की भावना रखना तो दण्ड के लिये है, उसका चाव करना तो विपत्ति है। जैसे कभी स्कूल में बच्चों से कोई काम बिगाड़ जाये या कोई बच्चा किसी काम को बिगाड़ दे तो मास्टर उसकी प्रशंसा करता है। मास्टर यदि यह कहे कि वाह यह तो बड़ा अच्छा काम किया है, बड़ी बुद्धिमानी का काम किया है। इतना सुनते ही जिस बच्चे ने काम बिगाड़ दिया है वह झट से कहेगा कि मास्टर साहब मैंने यह काम किया है। मास्टर केवल यह जानना चाहता था कि किस लड़के ने काम बिगाड़ा, इसलिये प्रशंसा करता था। पता चलने पर उस लड़के पर विपत्ति ही आती है। इसी तरह से ये जगत के जीव मास्टर बने रहते हैं, प्रशंसा! करते हैं। वाह, यह तो बड़ी बुद्धिमानी का

काम है, बड़ा ही सुन्दर काम किया है आदि। उसे पता नहीं कि इस प्रशंसा के फल में मेरे को विपदा ही आवेगी।

यश की चाह करना व्यर्थ है। मैं आत्मा हूँ, मैं आत्मा हूँ, एक ज्ञानदर्शन चैतन्य पदार्थ, इसे तो कोई जानता ही नहीं है। इसकी कोई चर्चा ही क्या करे, यश ही कोई क्या कर सकता है। यहाँ किसमें यश चाह रहे हो ? यह यह लोगों का समुदाय जो कि स्वयं कर्मप्रेरित है, स्वयं असहाय है, स्वयं बरबाद हो रहा है, जो कि मरेगा, जन्मेगा, संसार में दुःख पायेगा, ऐसा जो यह आज का दिखने वाला लोक समुदाय है उसमें यश की चाह की जा रही है। ये कोई मेरे प्रभु हैं क्या, इनसे मेरा पूरा पड़ेगा क्या ? तो जिसमें यश चाहा जा रहा है, वह समुदाय स्वयं अशरण है, उसमें यश होने से मेरा किञ्चित्मात्र भी लाभ नहीं है। तो जिसमें यश चाहा जा रहा है, वह लोक समुदाय भी अपावन है, वे स्वयं बरबाद हो रहे हैं। तो इनमें यश चाहने की बात बिल्कुल व्यर्थ है।

जगत के 10—20 हजार व्यक्तियों के बीच मैंने जरा अच्छा सुन लिया तो क्या इज्जत बढ़ गई ? यदि यहाँ न रहते, अन्यत्र कहीं रहते तो यह समागम मेरे को क्या था ? यदि हम किसी दूसरी पर्याय में होते, तो इस रंग ढंग का क्या ख्याल आता ? यदि हमने अभी अपने स्वरूप को नहीं पहचाना, तो दुर्दशा हो जायेगी। इस जगत में कोई किसी का मोह करता है, कोई किसी का मोह करता है, पर मोही प्रायः सभी हैं। इसी कारण दुःखी भी सभी हैं।

अज्ञानी शरीर को ही आत्मा मानकर व्यर्थ ही दुःखी होता है। जैसे दर्पण में दिखने वाले प्रतिबिम्ब को ही कोई मूर्ख अपना रूपसमझकर का और फिर उस प्रतिबिम्ब के नष्ट होने पर अपना ही नाश मानकर दुःखी होवे, वैसे अज्ञानी/बड़ा—मूर्ख अपने को देहरूप ही मान रहा है। मैं मनुष्य, मैं पुरुष, मैं स्त्री, ऐसा मानकर शरीर की चेष्टाओं को ही अपनी मान रहा है। यह जीवतत्त्व के संबंध में बड़ी भूल है। जिसको देह में आत्मबुद्धि है और जो चैतन्यस्वभावी आत्मा को नहीं जानता, वह जीव मिथ्यात्व के कारण से संसार में भ्रमण करता हुआ जन्म—मरण के दुःख भोगता है। मिथ्यात्व के रहते 'चाहे जो करो, किन्तु दुःख मिटेगा नहीं और सच्चा सुख होगा नहीं। अतः मिथ्यात्व को महादुःखदायक

जानकर छोड़ देना चाहिये और पर द्रव्यों से भिन अपनी चेतन आत्मा की पहचान करनी चाहिये।

जानने की शक्ति केवल जीव में ही होती है। यह शरीर, लकड़ी, मोटरगाड़ी, घड़ी, रुपये, मकान आदि पदार्थ दिखते हैं, वे सब अजीब हैं, उनमें जानने की शक्ति नहीं है वे चलते-फिरते, बोलते हुये भी अजीब हैं। 'चले-फिरे, बोले,' सो जीव-ऐसी तो जीव की परिभाषा है नहीं। चेतना जिसमें हो, वह जीव ओर चेतना जिसमें न हो, वह अजीव। यह जीव व अजीब की सच्ची पहचान है।

घड़ी चलती है तो क्या जीव है? नहीं, वह अजीव है। रेडियो बोलता है, तो क्या वह जीव है? नहीं, वह अजीव है। उसे कुछ मालूम नहीं है कि मैं घड़ी हूँ या मैं रेडियो हूँ। उसको जानने वाला तो जीव है। करीब 100 वर्ष पहले जब रेलगाड़ी चलना प्रारंभ हुई थी तब उसे दौड़ती देखकर कितने ही गाँव के लोग उसे जीव अथवा राक्षस मानते थे। कोई-कोई तो उसे नारियल चढ़ाकर पूजते थे। कैसा भ्रम करते हैं कि शरीर का चलना-फिरना, बोलना-ये सब कार्य जीव के हैं, जीव ही शरीर को चलाता है। परन्तु यदि जीव अजीव के भिन्न-भिन्न लक्षणों को अच्छी तरह पहचाने, तो यह सब भ्रम दूर हो जाय। जब आँख में जाली पड़ जाती है तो उसके द्वारा सामने पड़े हुए पदार्थ तथा उनके वर्ण आदि को देखना संभव नहीं होता है, लेकिन जब उपयुक्त चिकित्सा के द्वारा वह जाली दूर कर दी जाती है तो वही आँख पदार्थों तथा उनके वर्ण आदि को स्पष्ट देखने लगती है। इसी प्रकार जब आत्मा की स्वाभाविक शक्ति मिथ्यात्व रूपी जाली से ढक जाती है। तो वह जीव अपितु आदि पदार्थों की श्रद्धा नहीं कर पाता और इन शरीरादि परपदार्थों को अपना मानता है, किन्तु सम्यग्ज्ञान रूपी शलाका के द्वारा जब मिथ्यात्वरूपी जाली काट दी जाती है, तब सच्चा तत्त्व ज्ञान प्रगट हो। तत्त्व ज्ञान के अभाव में देहबुद्धि छूटना संभव नहीं है। और जब तक देह बुद्धि है, पर्यायबुद्धि है, तब तक व्यक्ति मानता है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं बड़ा ज्ञानी हूँ, तपस्वी हूँ, साधू हूँ। यह पर्यायबुद्धि ही संसार-भ्रमण और समस्त आपत्तियों का कारण है।

एक साधु जी और उनका शिष्य था। चलते-चलते शाम हो गई तो पास

में राजा का बगीचा था वे वहीं जाकर ठहर गये। बगीचे में दो कमरे थे, उनमें बढ़िया तखत पड़े हुये थे। एक कमरे में गुरुजी बैठे और दूसरे में शिष्य। गुरुजी ने शिष्य से कहा—बेटा! तुम कुछ बनना नहीं। शिष्य बोला हाँ, गुरुजी! हम कुछ नहीं बनेंगे। शाम को राजा बगीचे में आये। राजा के सिपाहियों ने देखा दोनों कमरों में एक—एक आदमी बैठे हुये हैं। उन्होंने राजा को बताया तो राजा बोले—अच्छा, जाओ, उनसे पूछकर आओ कि वे कौन हैं ?

सिपाही शिष्य के पास गये और पूछा तुम कौन हो? शिष्य बोला— देखते नहीं, मैं साधु हूँ। सिपाहियों ने राजा से कहा महाराज वह तो कह रहा है कि देखते नहीं, मैं साधु हूँ। राजा बोले—उसे कान पकड़कर बाहर निकाल दो। सिपाहियों ने उसे ठोका—पीटा और कान पकड़कर बाहर निकाल दिया। सिपाही दूसरे कमरे में गये और पूछा—तुम कौन हो? गुरुजी मौन थे। सिपाही राजा से बोले— महाराज! वे तो बोलते ही नहीं, आँखें बंद किये बैठे हैं। राजा बोले—उनसे कुछ नहीं कहना, वे कोई साधु महाराज होंगे।

राजा तो घूमकर चला गया। अब शिष्य गुरुजी से कहता है—महाराज! आपने ऐसा ठहराया कि मेरी तो मरम्मत हो गई और कान पकड़कर बाहर निकाल दिया गया। गुरुजी बोले—तुम कुछ बने तो न थे ? शिष्य बोला—अरे महाराज! मैं कुछ नहीं बना था। सिपाही ने पूछा तुम कौन हो, तो मैंने कहा—अरे, देखते नहीं, मैं साधु हूँ। गुरुजी बोले—यही तो तुम्हारा बनना हुआ। मैं साधु हूँ, मैं श्रावक हूँ, मैं अमुक हूँ, मैं तमुक हूँ—यह सब पर्यायबुद्धि ही संसार—भ्रमण का कारण है। अतः, पर्यायबुद्धि को छोड़कर अपने आत्मस्वरूप को पहचानो।

श्री सहजानंद वर्णीजी ने लिखा है — मोह को छोड़कर पर से भिन्न निज को पहचानकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो। कितने ही भव गुजर गये, उन भवों में क्या—क्या मिला और उनमें कितना—कितना मोह किया होगा, राग किया होगा और आज कुछ नहीं है ना ? पूर्वभव की बात तो कोई सोच सकता है कि पूर्वभव में न किया जाता मोह, तो क्या बिगड़ता था मेरा? अच्छा ही होता, आज के ये बुरे दिन तो न देखने होते कभी के मोक्ष पा लेते और इसी प्रकार इस जीवन में भी जो अब तक बातें गुजरी हैं, उनमें प्रेम न करता, मोह न करता। सब

गया—गुजरा, कुछ मिला नहीं। सब गया, सब बिछुड़ा, न मोह करता मैं, तो अच्छा ही होता। तो जैसा गई—गुजरी बातों में सोच करते हैं, वैसा ही वर्तमान में मिले संयोगों में भी सोच लें और उनमें राग करना छोड़कर वैराग्य को धारण कर लें तो संसार से पार हो जायेंगे।

क्या ये मकान, धन, वैभव, यश, प्रतिष्ठा आदिक सदा रहेंगे ? अरे! ये कुछ नहीं रहेंगे। जब कुछ रहना ही नहीं है, तो हम अभी से उनसे मोह न करें, राग न करें। लोग विवश होकर तो पर को छोड़ते हैं लेकिन विवेक करके नहीं छोड़ते। छोड़ना तो सब को पड़ता है, तो फिर विवश होकर क्यों छोड़ें ? सच्चे ज्ञानपूर्वक उन्हें छोड़कर वैराग्य को धारण करें, तो जीवन सफल समझो और यदि यह न कर सके तो जीवन बेकार समझिये।

सम्यग्दृष्टि परपदार्थों को अपना नहीं मानता, इसलिये उसके राग में और एक मिथ्यादृष्टि के राग में बहुत अंतर होता है। जैसे बिल्ली जिस मुँह में चूहे को पकड़ती है, उसी मुँह में अपने बच्चे को भी पकड़ती है, परन्तु चूहे को तो मारने के लिये पकड़ती है और बच्चे को पालने के लिये पकड़ती है। इस प्रकार पकड़-पकड़ में फेर है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के राग में भी फेर है।

जैसे कोई सफर में जा रहा है, उसका अपना सामान भी उसके पास है और दूसरा मुसाफिर भी वहीं बैठा है डिब्बे में, उसका भी सामान वहीं रखा है। पर इसे अपने सूटकेस में आत्मीयता है। इस आत्मीयता के कारण वह ऐसा राग करता है कि आगामी काल में भी तत्संबंधी राग रहेगा और कदाचित् वह मुसाफिर थोड़ी बात करके आपकी निगरानी में अपना सामान छोड़ जाय और वह प्लेटफार्म पर पानी पीने चला जाये, तब उसका सामान देखने का राग है या नहीं है? कोई उसे हाथ लगाये तो वह कहेगा कि भाई! इसे मत छुओ, यह दूसरे का सामान है। राग थोड़ा जरूर है, पर वह राग भावीकाल में, आगामी समय में राग को पैदा करे, ऐसा राग नहीं है। थोड़ी देर के लिये है। जब वह मुसाफिर आ गया, तो उसमें रंच भी राग का संस्कार नहीं रहता।

इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव को जो विषयभोगों के साधन मिले हैं, उनमें

इसका राग तो है, पर ऐसा राग नहीं है जो आगामी समय के लिये भी राग बाँधे। उसकी यह बुद्धि नहीं होती है कि मैं ऐसा ही भोग जीवन भर भोगता रहूँ। वह तो यह चाहता है कि कब वह समय आये कि इस भावी विपत्ति से छूट जाऊँ। किन्तु अज्ञानी जीव को इस प्रकार का राग है कि उस चीज को वर्तमान में भी नहीं छोड़ सकता और आगामी समय के लिये भी राग बंधेगा।

देखो, हित और अहित की ये दो ही बातें हैं, और—अधिक नहीं जानना है। अहित की बात यह है कि जिस पर्यायरूप हूँ, जिस परिणमन में चल रहा हूँ, मैं यह ही हूँ, इससे परे और—कुछ नहीं हूँ—यदि यह श्रद्धा होती है, तो संसार में रुलना पड़ता है और जो ज्ञानीजीव जानता है कि मैं न मनुष्य हूँ, न रागद्वेषादि परिणाम हूँ, किन्तु मैं एक शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, ऐसा जिसके भाव रहता है, वह पुरुष अपनी आत्मा को पाता है और मोक्षमार्ग में लगता है। भीतर के इतने से निर्णय में संसार और मोक्ष का फैसला है। भीतर में अपने आत्मस्वरूप को छोड़कर जहाँ यह माना कि मैं अमुक—अमुक हूँ, बस, फैसला हो चुका कि संसार में जन्म—मरण करना होगा। ओर जिसने शरीर व कर्मों से भिन्न ज्ञानमय अपने को मान लिया, बस, फैसला हो चुका उसका मोक्ष जरूर होगा। जो चीज छूट जानेवाली है उस चीज से प्रीति नहीं तजी जा रही है, यही तो सबसे बड़ी अज्ञानता (मलिनता) है।

अनादिकाल से भ्रमण करते—करते आज यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया। अगर यह विषय और कषायों में लगा दिया, चाहे वे कषायें धर्म के नाम पर ही क्यों न हों, तो जीवन बेकार समझिये। सभी को दो कार्य अवश्य करने चाहिये। प्रभु—भक्ति और ज्ञानस्वरूप आत्मा की उपासना। यदि इस सुअवसर में हम चेत न सके, इन दो कर्तव्यों का पालन न कर सके, स्वच्छन्द बने रहे, विषय—कषाय में ही सारा जीवन खो दिया और उसके फल में यदि कीड़ा—मकोड़ा, पेड़—पौधे बन गये, तो क्या स्थिति होगी ? सो इन खड़े पेड़—पौधों को देखकर समझ लो। ये संसार में रुलने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकते। अरे, ऐसा काम करें जिससे अगले भव में भी हमें धर्म का वातावरण मिले और निकटकाल में ही इस शरीर से छुटकारा पाकर मुक्ति को प्राप्त करें, समस्त झंझटों से मुक्ति

पायें। यहाँ का यह समागम, जिसकी आसक्ति के कारण पापकर्मों का आस्रव बन्ध हो रहा है, कुछ भी साथ में जानेवाला नहीं है। अतः पर से भिन्न निज को पहचानो।

जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं करते। वे उन्हें जानते मात्र हैं, परन्तु प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते।

एक व्यक्ति बाजार की एक सबसे बड़ी दुकान में गया और उसने उस दुकान में अनेक प्रकार की सस्ती-मंहगी अनेक वस्तुयें देखीं तथा अंत में जाते समय बोला—दुकान बहुत अच्छी है। तब दुकानदार ने कहा कि, भाई! आप कुछ खरीद तो करो। तब वह व्यक्ति बोला—भाई ! तुम्हारी दुकान बहुत अच्छी है, परन्तु मुझे तुम्हारी दुकान में उपलब्ध वस्तुओं में से किसी भी वस्तु की जरूरत नहीं है, इसलिये मैं इन्हें लेकर क्या करूँ? दुकानदार ने कहा कि तुम दुकान की मात्र प्रशंसा करते हो, परन्तु खरीदते तो कुछ हो नहीं। तब वह व्यक्ति बोला कि, भाई! सोचो, जरा सोचो, आप एक दवा की दुकान पर जाओ, उसे देखो और सभी प्रकार के बड़े-से-बड़े रोगों की दवाओं को देखकर प्रसन्नता व्यक्त करो और किसी भी दवा की खरीद न करो, क्योंकि तुम्हें किसी प्रकार का रोग न होने से किसी भी प्रकार की दवा लेने की जरूरत ही नहीं है।

इसी प्रकार इस जगतरूपी दुकान में जड़-चेतन समस्त पदार्थ भरे हुये हैं, सभी वस्तुयें अपने-अपने स्वभाव में सुशोभित हैं। उनमें जिनके इच्छारूपी रोग व्याप्त है, वे तो सुख की इच्छा से परपदार्थों का ग्रहण करते हैं, परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि मैं मेरे स्वरूप से परिपूर्ण हूँ तथा मैं मेरे स्वरूप से तृप्त व सन्तुष्ट हूँ। इच्छारूपी रोग मुझे नहीं है, फिर मैं पर द्रव्य का ग्रहण किस लिये करूँ। व्यक्ति अपनी इच्छाओं के कारण ही संसार में फँसता है।

एक दृष्टांत आता है राजा जनक का, कि राजा जनक बड़े ज्ञानी पुरुष थे। तो एक गृहस्थ पहुँचा अपनी एक समस्या का समाधान पाने कि महाराज! मैं बड़ा दुःखी हूँ, मुझको गृहस्थी ने फँसा रखा है। उससे मैं निकल नहीं पा रहा हूँ, आप कोई उपाय बताइये जिससे मैं गृहस्थी से निकल सकूँ। तो राजा जनक मुख से कुछ न बोले, किन्तु सामने एक खम्भा खड़ा था उसको दोनों हाथों से

पकड़कर बोले — अरे भाई! ठहरो—ठहरो। मैं बहुत फँस गया हूँ, मुझे इस खम्भे ने पकड़ लिया है। जब यह खम्भा मुझे छोड़े, तो मुझे चैन पड़ेगी और मैं तुम्हारे प्रश्न का जवाब दे सकूँगा। तो वह प्रश्नकर्ता कहता है कि महाराज! मैं तो आपको बड़ा बुद्धिमान समझकर आपके पास आया था, मगर आप तो बड़े बेवकूफ मालूम होते हैं। राजा जनक बोले—कैसे ? उसने कहा—आपने खुद खम्भे को पकड़ रखा है, फिर भी कह रहे हो कि खम्भे ने मुझे पकड़ लिया है ? तो राजा जनक बोले—बस, यही उत्तर तो तेरे लिये है। अरे! तूने खुद गृहस्थी को पकड़ रखा है और कहता है कि गृहस्थी ने तुझे पकड़ रखा है।

देखिये, पकड़ किसी ने नहीं रखा है, पर विकल्प करके उनको अपने उपयोग में लेकर वैसा मान रखा है। तू तो सर्व पदार्थों से निराला ज्ञान मात्र आत्मतत्त्व है। इस देहबुद्धि को, रागबुद्धि को छोड़कर यथार्थ समझ। सबका जुदा—जुदा अस्तित्व है। सब जीवों के जुदे—जुदे कर्म हैं। सभी जीव अपने कर्मोदय से सुख—दुःखी होते हैं। शरीर, स्त्री, पुत्रादि को अपना मानना तो निपट अज्ञान है, व्यर्थ का मोह है। भला बताओ — घर में जितने जीव आये हैं वे क्या पूर्व भय से साथ आये हैं ? उनके साथ मेरा कुछ सम्बन्ध है क्या ? मेरी अनुभूति से उनकी अनुभूति बनती है क्या ? कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं। अरे! उनके साथ उनके कर्म लगे, मेरे साथ मेरे कर्म लगे, वे अपनी परिणति से सुख—दुःख पाते हैं। हम अपनी परिणति से सुख—दुःख पाते हैं। जरा सम्बन्ध का कुछ ढंग तो बताओ कि किस तरह आपका उनसे सम्बन्ध है, कोई अधिकाधिक यह कहेगा कि मैं पिता हूँ, वह पुत्र है, मैंने इसे पैदा किया। तो, भाई! गलत है। आपने जीव को पैदा नहीं किया। जगत में जितने भी पदार्थ हैं, वे अनादि से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। जीव पैदा नहीं किया जाता। यह व्यर्थ का मोह है। जब प्रत्येक जीव का कर्मोदय अपना—अपना है और उसके उदय में वे सुख—दुःख पाते हैं तो यह बात कैसे रही कि मैंने उसे सुखी किया अथवा अमुक को दुखी किया। मोह से ही तो दुःख उत्पन्न होता है और फिर भी दुःख दूर करने के लिये किया जा रहा है मोह ! जब से मनुष्य जीवन पाया है, तब से लेकर अब तक यही काम किया। इसीलिए तो कहते हैं कि मैंने बहुत काम किये—दुकान

खोली, मकान बनाया, बच्चों को पढ़ाया; पर आचार्य कह रहे हैं तुमने ये सब अज्ञान के काम किये, इसलिये आज तक दुःखी व अशान्त बने हुये हो। अब तो इस मोह को, राग को छोड़कर वैराग्य को जीवन में धारण करो, जो आत्मकल्याण का कारण है।

भैया! बताओ कि अपने आपको जगत में सब पदार्थों से निराला मान लेने में क्या बिगाड़ हो जायेगा ? हे जगत के प्राणी ! तू अपने आपको जगत में सब पदार्थों से निराला मान ले तो तेरे समस्त दुःख समाप्त हो जायेंगे नहीं तो तू जगजाल में ही फँसा रहेगा। तू अपने को निर्मल देख। अपने में ज्ञान उत्पन्न करे तो तुझे जीवन भर सुख प्राप्त होगा और यदि तू अपने ज्ञान स्वरूप को न संभाल सका, अपने आपको निर्मल न समझ सका, तो तू जगजाल में ही फँसा रहेगा।

कोई किसी से बंधा है क्या? अरे! कोई किसी से बंधा हुआ नहीं है। केवल खुद ही कल्पनायें करके विकल्प बना लिया है। विकल्प बन जाने से अपने शुद्ध स्वरूप को न समझ पाने के कारण मोह हो गया है और मोह में आकर ही पर से बंध गया है।

सुकौशल राजकुमार अपनी कुमार अवस्था में विरक्त हो गये। वह घर छोड़कर चल दिये। देखो, राजकुमार की अवस्था छोटी थी। अपनी माँ से पत्नी से व साम्राज्य—सुख से विलग हो गये थे। मंत्री—जनों ने उन्हें बहुत समझाया, अन्य लोगों ने भी बहुत समझाया, पर वे न माने। उन्हें ज्ञान हो गया था, वे अपनी आत्मा में ही लीन होना चाहते थे। तब फिर दूसरों का असर उनके ऊपर किस प्रकार से हो सकता था ? मंत्रियों ने राजकुमार को बहुत समझाया कि आपकी पत्नी के गर्भ है, बच्चा तो हो जाने दो, फिर बाद में चले जाना। बेटा! उस बच्चे को राजतिलक दिये जाओ। दुनियाँ को यह बता जाओ कि मैं अपने बच्चे को राजतिलक दे रहा हूँ। इसलिये, हे महाराज! अभी इतनी जल्दी मत जाओ। भले ही दो—तीन माह बाद चले जाना। राजकुमार सुकौशल कहते हैं कि अच्छा गर्भ में जो सन्तान है, उसे मैं तिलक किये देता हूँ। जो गर्भ में सन्तान है, उसे मैं राजा बनाये देता हूँ। ऐसा कहकर सुकौशल राजकुमार विरक्त हो

गये। ज्ञान ही सुख है, आनन्द व शान्ति देता है। और यदि ज्ञान नहीं हैं, तो आजीवन क्लेश है। अतः अपनी आत्मा को पहचान कर सम्यग्ज्ञानी बनो।

श्री सहजानन्द वर्णी जी ने लिखा है – यह मैं आत्मा कैसा हूँ, कैसे स्वभाव वाला हूँ ? जैसा हूँ, तैसा ही मानना, इसी के मायने है धर्म पालन। मेरा शरीर है, मेरे स्त्री-पुत्र, मकान-वैभव आदि हैं, यही मिथ्या मान्यता ही संसार भ्रमण का कारण है। पदार्थ जैसा है वैसा न अनुभव करना, वैसा न मानना, बस इसी का नाम है जगजाल में रुलना। जो अपने को नाना वेशों रूप शरीरादि रूप ही अनुभवता है, उसे शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि इसके नाना रूप बन गये, सो एक तो वे सब पराये और फिर हैं नाना, अतः उनकी संभाल कैसे हो? मुक्ति का रास्ता और कोई दूसरा नहीं है। यही अपनी आत्मा का जैसा शुद्ध चैतन्य मात्र स्वरूप हैं वैसा माना जाये, बस, यही मोक्ष का रास्ता है, मुक्ति का पथ यही है। आप धर्मपालन के लिये कितनी भी क्रियायें कर लो, किन्तु यदि अपनी आत्मा का श्रद्धान व अनुभव नहीं हुआ, तो धर्मपालन नहीं हुआ, शान्ति का मार्ग नहीं मिला, मोक्ष का मार्ग नहीं पाया। धर्म एक ही होता है, धर्म पचासों नहीं होते।

यदि वास्तव में धर्म करना है, आत्मा का कल्याण करना है, तो अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभव करने का अभ्यास करो, बाहर की ओर से दृष्टि कम करके अपनी प्रकृति, रहन-सहन को सात्विक बनाओ और मुख्य प्रयोजन, जो आत्मसिद्धि का है, उसे करो। बनावट/दिखावट न करके आत्मानुभव की ओर दृष्टि हो तो बस, यही धर्म का पालन है। शान्ति भी इसी उपाय से प्राप्त होगी, मोक्षमार्ग भी इसी उपाय से मिलेगा। दर-दर परपदार्थों में भटकना, नाना प्रकार की कल्पनायें करके उपयोग को बाहर फँसाना, यह सब अशान्ति के साधन हैं, अधर्म का पालन है, धर्म की उपेक्षा है।

अपने धर्म से अर्थात् आत्मस्वभाव से स्नेह करो। जगत में कहाँ भटक रहे हो? इन परपदार्थों से शरण नहीं मिलेगी, हर एक से धोखा मिलेगा, हर एक से बहकावा मिलेगा, शरण कहीं नहीं मिलेगी। केवल पंच-परमेष्ठी व अपनी शुद्ध आत्मा, ये दो ही शरण हैं। "शुद्धात्म अरु पंचगुरु, जग में शरणा दोय।" अतः पर से मोह छोड़कर अपने आपमें बसे हुये परमात्मतत्त्व की शरण में जाओ। यही

मुक्ति का मार्ग है। दूसरा कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। जो अपनी आत्मा के सहज चैतन्य स्वरूप की श्रद्धा पा लेगा, वह ही अपने स्वरूप में रम जायेगा। ऐसी स्वाधीन शाश्वत आत्मा की श्रद्धा बिना मोक्ष का मार्ग नहीं मिलेगा। किसी बहकावा, किसी बाल-बच्चों की उलझन में पड़कर शान्ति नहीं मिलेगी और आगे का रास्ता भी बंद हो जायेगा। बाहरी चीजों में पढ़कर इस आत्मा का कुछ भी हित नहीं है। हित तो केवल आत्मा के ध्यान, चिंतन, मनन में है।

एक बार एक राजा किसी दूसरे राजा से लड़ाई करने गया। दो माह तक युद्ध होता रहा। उसमें उस राजा की विजय हुई। इसके बाद वहाँ पर राजा ने बड़ा उत्सव मनाया और खुशी में अपनी सब रानियों को वहाँ से पत्र भेजा कि जिसको जो कुछ चाहिये मुझे पत्र में लिखें। तब किसी रानी ने साड़ी लिखा, किसी ने अमुक खिलौने को लिखा, किसी ने कुछ लिखा। जो सबसे छोटी रानी थी उसने अपने पत्र में केवल एक (1) का अंक लिखा, और—कुछ नहीं लिखा, और पत्र को लिफाफे में रखकर भेज दिया। जब राजा ने पत्रों को खोला तो किसी में कुछ लिखा था, किसी में कुछ। मगर छोटी रानी के पत्र में केवल एक (1) का अंक लिखा था। राजा इस केवल (1) का अर्थ न समझ सका। उसकी समझ में उस केवल एक का मतलब न आया। उस राजा ने मंत्री से पूछा कि इस छोटी रानी ने क्या मँगाया है। मंत्री पत्र को देखकर कहता है कि छोटी रानी ने केवल एक आपको ही चाहा है, और—कुछ नहीं चाहा है। राजा सभी रानियों को किसी को साड़ी, किसी को गहना, किसी को खिलौने लेकर अपने देश जाता है। जब वह वहाँ पहुँचता है तो जहाँ जो कुछ देना था उनके घर पहुँचा दिया और स्वयं छोटी रानी के महल में पहुँच गया। इसने केवल एक को चाहा था। अब यह बतलाओ कि राजा के वहाँ पहुँच जाने से राजा की सारी चीजें, सारा वैभव, हाथी, सेना, इज्जत सबकुछ उसके महल में पहुँच गये या नहीं?

एक आत्मा का शुद्ध स्वरूप जिसके ज्ञान में आ गया, उसको ही सर्व सिद्धि है। 'जे एक्कं जाणई, ते सव्वं जाणई।' जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सबकुछ जान लेता है। यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही धर्म की मूर्ति है, वह भगवान्

स्वरूप है, वही कल्याण है। यदि हमने इस एक आत्मा को नहीं पहचाना, तो संसार में भटकते-भटकते कुछ पता भी नहीं लगेगा। कितनी योनियाँ हैं, कितने शरीर के कुल हैं, कितने जगत में लोक के स्थान हैं, किस स्थान में, कितनी बार, कहाँ जन्म लूँगा? कितने-कितने शरीरों में कितने बार जन्म लेते रहेंगे। कुछ पता तक भी न रहेगा। अभी मनुष्य हैं, ज्ञान साफ है, स्वाधीन है, हम दूसरों की बात समझ लेते हैं, दूसरों को अपनी बात समझा देते हैं। पशु-पक्षियों को देखो, ऐसा जन्म हो गया तो क्या पल्ले पड़ेगा? इनके तो अक्षरमय भाषा ही नहीं है। अपनी बात वह दूसरों से क्या कहेंगे? उनमें धर्म की चर्चा क्या होगी। कीड़े-मकोड़े बहुत से जीव हैं, पर वे क्या कर सकते हैं? उन जीवों के मुकाबले से देखें तो हमारी इस समय कितनी उच्च अवस्था है? हम और आप सम्यग्दर्शन के पात्र हैं, सम्यग्ज्ञान के पात्र हैं और सम्यक्चारित्र के पात्र हैं। अपने में पुरुषार्थ करने की योग्यता है। हमें घर-द्वार, धन-वैभव इत्यादि में ज्यादा दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। जो इस अपने सम्यग्ज्ञान को छोड़कर यदि परपदार्थों को महत्व देगा, तो अशान्ति रहेगी और कर्मों का बंधन ही होगा और यदि अपने इस शुद्ध स्वरूप को महत्व देगा, वहीं रहेगा, वही पहचानेगा, तो उसके बंधन कटेंगे, शान्ति का मार्ग मिलेगा और भविष्य में जब तक इसका संसार है उत्तम-उत्तम भव समागम मिलेंगे और निकट समय में मुक्ति प्राप्त होगी। इसलिये सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो, प्रमादी मत बनो। इस अपने स्वरूप को देखकर प्रसन्न रहो। यह मेरा शाश्वत आनन्दमय चैतन्य स्वरूप सदा सबसे अलग है। एक अपने आप में सही स्वरूप का पता लग जाये, तो इससे बढ़कर जगत में और कुछ नहीं है। अतः आत्मा के ध्यान में, चिंतन में, मनन में, अध्ययन में, अनुभवन में अधिक-से-अधिक पुरुषार्थी बनकर अपने जीवन को सफल बनाओ।

जिन महात्माओं ने, जिन सौभाग्यशाली पुरुषों ने इस निराले चैतन्य-चमत्कार-मात्र स्वरूप को पहचाना है, वे आनन्दमय हैं और जिन्होंने अपने स्वरूप को नहीं पहचाना है, वे प्राणी संसार में रुलते हैं, रोते हैं। आचार्य उन्हें समझा रहे हैं—ऐ रोने वाले प्राणियो! तुम व्यर्थ में दुःखी हो रहे हो, व्यर्थ में विवश हो रहे हो। तेरी सहायता करने वाला संसार में कोई है क्या? तुझे मुक्ति

में ले जाने वाला, तेरे को इस संसार में भटकाने वाला कोई दूसरा इस जगत में है क्या ? कोई नहीं है। आप जैसे-जैसे परिणाम करते हो, उसी के अनुसार कर्मों का बन्ध स्वतः (आटोमेटिक) होता चला जाता है। यदि संसार के इन दुःखों से बचना चाहते हो तो अपने स्वरूप को देखो। दूसरा कोई उपाय नहीं है। धर्म का पालन इसी को कहते हैं। धर्म बाहर नहीं, वेश-भूषा में नहीं, नाना स्थानों में नहीं, नाना पद्धतियों में नहीं। केवल निज सहज स्वभाव में, यह ही मैं हूँ, ऐसा मान लेने से, ऐसा अंगीकार कर लेने से, ऐसी दृष्टि बना लेने से धर्म का पालन है। इस ही बात के लिये यह व्यवहार धर्म है। सत्संग इसीलिये किया जाता है कि हमारी दृष्टि ऐसी बनी रहे कि हम धर्म के पालन के योग्य बने रहें।

यह आत्मा ज्ञान का पिंड है, अन्य समस्त पदार्थों से भिन्न है, स्वभाव से निर्विकार है, सहज आनन्दमय है। जैसे सुख के भण्डार प्रभु हैं वैसी ही यह मेरी आत्मा है। ज्ञानी जीव इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं मानते, जबकि अज्ञानी जीव, जो आत्मिक सुख को नहीं पहचानते, इन्द्रिय-विषयों में ही सुख ढूँढते रहते हैं और अपनी इस अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यपर्याय को व्यर्थ में ही समाप्त कर देते हैं। अगर कोई कुत्ते को लाठी मारता है तो कुत्ता उस लाठी को चबाने लगता है। वह समझता है कि मेरी दुश्मन यह लाठी है, मेरा अहित करने वाली यह लाठी है। जबकि शेर को कोई लाठी या तलवार से मारे तो शेर यह नहीं समझता कि मेरा दुश्मन लाठी या तलवार है, बल्कि वह समझता है कि यह व्यक्ति ही मेरा दुश्मन है, इसलिये वह शेर उस पुरुष पर ही हमला करता है। एक की दृष्टि है कि मेरा दुश्मन लाठी है और दूसरे की दृष्टि है कि मेरा दुश्मन पुरुष है। यही ज्ञानी और अज्ञानी में अंतर है। ज्ञानी देखता है कि धन, वैभव, परिवार किसी में मेरा सुख नहीं है। मेरा सुख मेरे अन्तर से उठता है, परन्तु अज्ञानी यह देखता है कि धन, वैभव, परिवार आदि में ही सुख है। ज्ञानी यह सोचता है कि बाह्य पदार्थों से सुख नहीं होता, पर अज्ञानी यही सोचता है कि बाह्य पदार्थों पर ही सुख-दुःख निर्भर है। अज्ञानी जीव ने अपनी आत्मिक शक्ति को भूलकर अपनी प्रभुता को बरबाद कर दिया है।

एक पुरानी घटना है कि वज्रदंत चक्रवर्ती जब फूल में मरे हुये भँवरे को देखते हैं तो देखकर विचार करते हैं कि यह भँवरा फूल की सुगंध में आसक्त होकर इस फूल के अंदर ही रहा और मर गया। इस घटना को देखकर चक्रवर्ती को वैराग्य हो गया। कई फूल ऐसे होते हैं जो कि दिन में तो खिले रहते हैं और शाम होते ही बंद हो जाते हैं। भँवरा मकरंद—रस चूसने के लिये शाम को बैठ गया और उसी फूल में बंद हो गया। जिस भँवरे में इतनी ताकत है कि वह लकड़ी में छेद कर सकता है, एक ओर से छेद करके दूसरी ओर से निकल जाता है, किन्तु वही भँवरा मकरन्द—रस की आसक्ति के कारण फूल की कोमल कोमल पंखुड़ियों के अंदर ही बंद रहकर मर जाता है, इसी तरह आत्मा में तो केवलज्ञान की शक्ति, आनन्द की शक्ति, अनन्त शक्तियाँ हैं; परन्तु अज्ञानी जीव विषयों में आसक्त होकर अपने ज्ञान प्राण को बरबाद कर रहा है। आत्मा में क्लेश या आनन्द केवल जानने की कला पर निर्भर है। लो, शरीर को देखो तो आनन्द खत्म हो गया और लो, ज्ञानस्वरूप देखने में उपयोग बन गया तो आनन्द प्रगट हो गया। ऐसी महान चमत्कार की कला से युक्त यह भगवान् आत्मा है। ज्ञानी जीव जानता है कि जैसा सुख का भण्डार सिद्ध भगवान् में है, वैसा ही मेरे अंदर भी है। मेरा सिद्ध पद कहीं बाहर नहीं, मेरे अंदर ही है।

सिद्ध भगवान् के परमसुख की बात सुनकर एक जिज्ञासु को सिद्ध पद की भावना जागृत हुई। वह सिद्ध भगवान की ओर देखकर उन्हें बुलाता है कि, हे सिद्ध भगवान! यहाँ पधारो। परन्तु सिद्ध भगवान तो ऊपर सिद्धालय में विराजमान हैं, वे नीचे आयेंगे क्या? नहीं। और सिद्ध भगवान् को देखे बिना जिज्ञासु को समाधान नहीं हो सकता। अंत में उसकी एक निर्ग्रन्थ मुनिराज से भेंट हो गई। उन्होंने कहा कि तू अपने में देख, तो तुझे सिद्धपद दिखायी देगा। अपने ज्ञानदर्पण को स्वच्छ करके उसमें देख तो तुझे सिद्ध भगवान् अपने में दिखाई देंगे। जब उसने अंतर्मुख होकर सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पण में देखा तो उसे अपने में सिद्ध भगवान दिखाई दिये, अपना स्वरूप ही सिद्ध भगवान के समान देखकर उसे परम आनन्द व प्रसन्नता हुई। इसका तात्पर्य है कि हमारा सिद्ध पद, अनन्त सुख मेरे ही अंदर है, बाहर में नहीं। अंदर दृष्टि होने का नाम मोक्ष

का मार्ग है और ओर बारह में दृष्टि फैलाने का नाम संसार है, संसार का मार्ग है। देखिये, भावना से ही यह संसार मिल जाता है और भावना से ही मोक्ष का मार्ग मिल जाता है। अब बुद्धिमानी यह होनी चाहिये कि हम किसे प्राप्त कर लें? केवल भावना से ही मिल रहा है सब कुछ। बाह्य पदार्थों की आसक्ति तो संसार का कारण है और संसार ही बंधन है। अतः बाह्य पदार्थों की आसक्ति छोड़कर अपने आत्मस्वरूप में रमण करने का पुरुषार्थ करो, जिससे यह संसार का बंधन छूट जाये और मुक्ति की प्राप्ति हो।

देखो, सर्वजीवों को छुटकारा प्यारा होता है। स्कूल में लड़के पढ़ते रहते हैं तो उनकी इच्छा होती है कि कब छुट्टी मिल जाये तो उसके बाद अपना बस्ता उठाकर कैसा दौड़ते हैं? हो हल्ला करते हुए खुशी से भागते हैं। यह खुशी उनको किस बात की है? छुटकारा मिलने की है। छुटकारे का आनन्द सबसे उत्कृष्ट आनन्द होता है। वह तो 6-7 घंटों का बंधन है, पर यह कितना विकट बंधन है कि शरीर में जीव फँसा हुआ है। शरीर से निकल नहीं सकता। जो ज्ञानमय पदार्थ है, जिसका कार्य सारे विश्व को जान लेना है, ऐसा यह आत्मा इन्द्रियों के द्वारा जान पाता है और सबको नहीं जान पाता है। राग-द्वेष विभाव इसके स्वभाव में नहीं हैं, फिर भी उत्पन्न होते हैं। सुख और दुःख इस संसार-विषवृक्ष के फलस्वरूप हैं। ऐसे विकट बंधन में पड़ा हुआ यह आत्मा यदि कभी इस बंधन से छूट जाये तो उसके आनन्द का क्या ठिकाना?

यदि इस बंधन से छूटना चाहते हो, तो इन परपदार्थों का मोह छोड़ो। प्रभु ने क्या किया, जिनकी हम पूजा करते हैं? उन्होंने पहले मोह का त्याग किया। घर में रहकर भी मोह त्यागा जा सकता है। न मानें कुछ अपना। बस, घर में रह रहे हैं। पर यह जानें कि मेरा तो मैं ही आत्मा हूँ, दूसरा मेरा कुछ नहीं है। सच्चा ज्ञान होने पर जो आनन्द होगा, शान्ति मिलेगी, वह अन्य प्रकार से नहीं मिल सकती है। पुराणों में पढ़ा होगा कि बड़े-बड़े राजा दुःखी रहे। उनका दुःख दूर तब हुआ, जब उन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ। पांडव और कौरवों में कितना बड़ा युद्ध हुआ, पर पांडवों को शान्ति तब मिली, जब उन्होंने सर्व परिग्रह का परित्याग करके निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की, अपनी आत्मा में रमण किया, तब

उनको शान्ति प्राप्त हुई। बाह्य पदार्थों में रहकर कोई भी सुखी नहीं रह सकता। जो सुख और शान्ति प्राप्त होगी, वह अपने आप में रम करके ही प्राप्त होगी। पूर्ण संयम को धारण करने वाले मुनिराज जब आत्मस्वरूप में रमण करते हैं, उस समय उन्हें जो सुख प्राप्त होता है, वैसा सुख इन्द्र, नागेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि किसी को भी प्राप्त नहीं होता। इसे ही निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं।

सच्चे आत्मिक सुख को प्राप्त करने के लिये इन परपदार्थों की आसक्ति छोड़कर अपने स्वरूप को पहचानो और शक्ति-अनुसार संयम को धारण करो। समय को आज तक कोई भी बाँध नहीं पाया, अतः समय का सदुपयोग करो। अपने स्वरूप को पहचानो और नियम, संयम को जीवन में धारण करो। हमें संयम धारण करने में ज्यादा विचार नहीं करना चाहिये।

एक व्यक्ति बहुत समझदार था। वह बहुत सोच-सोचकर कार्य करता था। एक बार वह फौज में शामिल हो गया। कर्नल ने सभी को आदेश दिया—बायें मुड़। सभी लोग तो मुड़ गये पर वह नहीं मुड़ा। वह वहीं सोचता खड़ा रहा। कर्नल उससे कहता है कि आप क्यों नहीं मुड़े? तो वह कहता है कि मैं मुड़ तो सकता था, पर सोच रहा था मुड़ूँ या ना मुड़ूँ? मुड़ने से क्या फायदा है? तो कर्नल ने उसे फौज से निकाल दिया। जो व्यक्ति उसे लाया था, उसने उसे एक रसोइये का काम दिलवा दिया। मालिक उससे मटर छीलने के लिये कह गया, बोला कि बड़ी-बड़ी मटर इधर रख देना और छोटी-छोटी उधर रख देना। जब एक घंटे बाद मालिक वापिस आया, तो वह पूरी मटर रखे बैठा था, उसने एक भी मटर नहीं छीली। मालिक ने कहा—क्यों, अभी तक मटर नहीं छीली? तो वह बोला—मैं सोच रहा था कि छोटी मटर इधर रखूँगा बड़ी मटर उधर रखूँगा पर कुछ मंजली भी तो होंगी उन्हें कहाँ रखूँगा? पहले पूरा निर्णय हो जाये उसके बाद ही शुरू करूँगा।

इसी प्रकार हम लोगों का पूरा जीवन केवल विचार करते-करते ही निकल जाता है। वृद्धावस्था आ जाने तक भी संयम को धारण नहीं कर पाते। आचार्य समझा रहे हैं कि जब तक शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियाँ ठीक-ठीक काम कर रही

हैं, संयम धारण करने की क्षमता है, तब तक संयम को अवश्य धारण कर लेना चाहिये। क्योंकि वृद्धावस्था में जब शरीर साथ नहीं देता, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और ज्ञान काम नहीं करता, तब हाथ क्या आता है, केवल पश्चात्ताप ही हाथ आता है। अतः संयम धारण करने में ज्यादा विचार नहीं करना चाहिये। यह शरीर भोगों के लिये नहीं मिला है और न ही देखने के लिये मिला है। इसके द्वारा तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को धारण कर आत्मा का कल्याण कर लेना चाहिये।

अभी 100—200 वर्ष पहले पं. दौलतराम जी, भैया भगवती दास जी आदि थे, जिनमें यह निर्णय रहता था कि केवल एक रुपया कमाया, वही बहुत है। आज एक रुपये की जगह 500 रुपये कमा लेने का ही भाव रहे तो भी ठीक है। एक रुपया में एक आना मुनाफा या एक पगड़ी में एक आना मुनाफा। यदि 16 रुपये का माल बेचा तो 16 आना अर्थात् एक रुपये का मुनाफा हो गया। बस, इतना होते ही वे तुरन्त दुकान बंद कर देते थे और मंदिर जी में आकर धर्म ध्यान करते थे, स्वाध्याय व धर्मचर्चा में समय व्यतीत करते थे।

आत्मा के दर्शन कर लें और उसी आत्मीय आनन्द का पान कर लें, तो यही आत्मानुभव पार कर देनेवाला है, और शेष असार काम है। ऐसी धुन लगने के कारण दुकान से होते हुये मुनाफे को छोड़कर चले आये और मंदिर में आकर धर्म की, तत्त्व की चर्चा की। धर्म की चर्चा करने, सुनने से स्वाध्याय तो हुआ। इतना तो संतोष कर रहे हैं कि राग की आग में नहीं जल रहे हैं। वीतराग भगवान् के मंदिर में बैठे हैं, प्रभु की वाणी को सुन रहे हैं, मोह से तो दूर हो रहे हैं। मोह से दूर होने पर ही शान्ति का मार्ग मिलेगा।

मेरी दृष्टि बाहर नहीं होना चाहिये। मुझे यह समझना चाहिये कि मैं सबसे निराला, शुद्ध, चैतन्य मात्र आत्मा हूँ। मैं किसी भी स्त्री स्वरूप नहीं हूँ, मैं किसी अन्य रूप नहीं हूँ। मैं एक चैतन्य मात्र आत्मा हूँ—इस प्रकार से जो अन्तर में अपने आपको निरखता है, वह शान्ति का मार्ग प्राप्त कर सकता है।

जैसे कुछ लोग कहीं बाहर चले जा रहे हैं, मधु—मक्खियाँ सिर पर मंडरा रही हैं। शरीर में बराबर मक्खियाँ चोट मार रही हैं। यदि वे व्यक्ति किसी

तालाब में जाकर डुबकी लगा लेवें, तो सारी मक्खियों का प्रयास बेकार हो जाता है। वे मक्खियाँ उन पुरुषों को कष्ट नहीं दे पाती हैं। उसी प्रकार इस जगत के जीव पर अनेक विकल्प—विपदायें मंडरा रही हैं। यदि इस जगत का यह प्राणी अपने ज्ञानसागर में डूब जाये, तो जो अनेक प्रकार के विकल्प हैं, वे उन्हें परेशान नहीं कर पावेंगे। उसके विकल्प समाप्त हो जावेंगे और वह मोक्ष को प्राप्त करेगा।

हे आत्मन! यदि तू अपने आपको सबसे निराला, शुद्ध, अविनाशी समझे, तो तुझे अविनाशी सुख प्राप्त होगा। तेरे को कभी आकुलतायें—व्याकुलतायें नहीं आवेंगी और यदि तूने अपने को इसके विपरीत समझा, मैं तो संसार के समस्त प्राणियों से मिला हुआ हूँ, यह मेरी बुआ है, यह मेरे फूफा हैं, यह मेरे भाई हैं, यह मेरी माँ है, तो उसको कष्ट ही रहेगा। मैं तो जैसा हूँ, तैसा ही सदा बना रहनेवाला हूँ। मैं ज्ञान मात्र हूँ, सबसे निराला हूँ — ऐसा अपने आपको निरखो। तू अपने को भगवान् रूप मान। तेरे में तो कोई विकार ही नहीं दिखते हैं, तू तो निर्विकार है। तेरे में दुःख कहाँ हैं? तू तो सदा सुखी है। दुखों का रंच भी तेरे में नाम नहीं है। तू अपने को शुद्ध चैतन्यमात्र समझ। जो पर्यायमात्र अपना अनुभव करे, वह परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि है और जो ध्रुव स्वभावमय अपना अनुभव करे वह स्व समय अर्थात् सम्यग्दृष्टि है। अपने सहज स्वरूप मात्र अपनी श्रद्धा करना सो परमार्थ अमृत का पान करना है। इस अमृतपान से आत्मा अमर व अनुपम आनन्दमय हो जाता है। आनन्द तो यही इस आत्मा में है। यदि किसी बाह्य में दृष्टि न हो, मोह न हो, विकल्प न हो, तो हमारा ज्ञान जितना भगवान् का है उतना हो जायेगा, जितना आनन्द भगवान् में है उतना हो जायेगा।

सुख का उपाय अपनी स्वतंत्रता का विश्वास है। यदि दूसरे पदार्थों में ही लगे रहें, तो आकुलतायें आयेंगी। सो यह सुख और दुःख किसका फल है ? अरे सुख—दुःख तो मोह का ही फल है। जगत के जीवों को देखो, बाह्य में मोह करके सुखी और दुःखी होते हैं। देखो, इस जगत के जीवों को जो दुःख होते हैं, वे उनके मोह और मिथ्यात्व के ही परिणाम हैं। 'मोह महा मद पियो अनादि,

भूल आपको भरमत वादि।' इस जीव ने मोह—रूपी तेज शराब पी रखी है, इसलिये अपने स्वरूप को भूलकर व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है।

कोई एक शराबी था। वह शराब की एक दुकान पर गया और बोला—हमें अच्छी शराब दो। दुकानदार ने बताया कि यह बहुत बढ़िया है, इसे ले लो। वह बोला—नहीं, हमें तो बढ़िया शराब चाहिये। दुकानदार ने कहा देखो, हमारी दुकान पर ये जो पाँच/सात व्यक्ति पड़े हुये हैं, उनसे तुम अंदाज लगा सकते हो कि शराब बढ़िया है या नहीं। मोह में क्या हुआ करता है? मोह में आकुलतायें होती हैं, मगर देखते हैं कि ये जगत के सब जीव बाह्य पदार्थों में ही चिंतायें किया करते हैं, मोह किया करते हैं, दुःखी होते जाते हैं। यह सब तो मोह मदिरा का परिणाम है। फिर भी मोह के नशे के दुष्परिणाम का विश्वास यह मोही नहीं करता।

बाह्य पदार्थों के विकल्प छोड़ दो और अपने ज्ञानरस का स्वाद लो। यदि अपनी सहज इस स्वतंत्रता का विश्वास हो जाये, तो यही अनुपम काम है। बाहरी पदार्थों से नहीं। दो लड़के 20 हाथ की दूरी पर खड़े हैं। यदि एक लड़का दूसरे को अंगुली दिखाकर चिढ़ाये, तो जिस लड़के को चिढ़ाया जा रहा है, वह यदि विकल्प बना ले कि, अरे! यह तो मुझे चिढ़ा रहा है, ऐसी कल्पना बनाने से ऐसा ख्याल करने से उसे दुख होता है, दूसरे लड़के की अंगुली से दुःख नहीं होता। बड़े-बड़े लोग किस कारण से दुःखी हो रहे हैं? तो क्या विरोधी के कारण से दुखी हो रहे हैं। अरे उन्होंने स्वयं कल्पना बना ली है कि यह मेरा विरोधी है, यह मेरे खिलाफ है, यदि यह कल्पना बना ली है तो क्लेश होते हैं, दुःख होते हैं। देखो! इन दुश्मनों से दुःख नहीं होता है। केवल कल्पनायें कर लेने से दुःख होता है।

एक राजा था। वह किसी राज्य पर चढ़ाई करने के लिये जा रहा था, सो वह सेनासहित जा रहा था। रास्ते में जंगल से निकला। उसी जंगल में एक साधु महाराज थे। राजा जिस राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था वह साधु जी के पास बैठा था। साधु जी उसको कुछ उपदेश दे रहे थे। अब राजा के कान में शत्रुओं के शब्द सुनाई पड़े। राजा ने समझ लिया कि शत्रु आ रहे हैं। कहाँ तो

वह उपदेश सुनने के लिये विनयासन से बैठा हुआ था और कहाँ वीरासन से होकर बैठ गया। अब राजा ने शत्रुओं को देख लिया तो उठ खड़ा हुआ और उसने अपनी तलवार निकाल ली। साधु जी बोले कि, राजन्! क्या कर रहे हो? राजा बोला कि, महाराज ज्यों-ज्यों दुश्मन आ रहे हैं, त्यों-त्यों मेरा दिल भड़क रहा है। मैं शत्रुओं को गर्क कर दूँगा। साधु जी बोले- राजन्! तुम ठीक कह रहे हो कि अपने दुश्मनों को गर्क करने जा रहे हो, परन्तु एक शत्रु तो तुम्हारे अन्दर ही पड़ा हुआ है, उसका भी तो दलन करो। राजा बोला- अरे! मेरे अन्दर भी कोई दुश्मन है ? साधु जी बोले-राजन् तुम्हारा दुश्मन दूसरे को दुश्मन मानने का विकल्प है। तुम्हारा शत्रु तुम्हारा मोह है, विकल्प है। यह विकल्प ही तुम्हें चैन नहीं लेने देता। दूसरे शत्रु हैं, ऐसा ख्याल छोड़ दो तो कोई शत्रु नहीं है। दूसरा कोई तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता। ऐसा ख्याल छोड़ दो कि फलाना मेरा दुश्मन है। राजा को साधु जी की बात समझ में आ गई, तो वह शान्त होकर, मुनि दीक्षा लेकर, मूर्ति की भांति बैठ जाता है। दुश्मन आते हैं और राजा को मुनिमुद्रा में देख प्रणाम कर वापस चले जाते हैं।

बतलाओ कि यदि वे राज्य हड़प लेते तो विजयी थे या यों ही शान्त मुद्रा में रहकर सत्यविजयी बने तो विजयी हैं? अरे! राज्य हड़प लेने से मोह हो जाता और उन्हें दुःख होता, आकुलतायें-व्याकुलतायें सदा बनी रहतीं।

अपने आप में विश्वास करो कि मैं आत्मा ज्ञान मात्र हूँ, आनन्दमय हूँ, सबसे निराला हूँ। किसी दूसरे से मेरा संबंध नहीं है। यदि ऐसी स्वतंत्र दृष्टि हो जाये तो सुख और शान्ति का मार्ग मिल सकता है और कितना ही धन संचय हो जाये, कितनी ही इज्जत मिल जाये, पर अन्य की दृष्टि में शान्ति नहीं मिल सकती। किन्हीं भी पर पदार्थों का ख्याल करना, अटपटी कल्पनायें करना और परेशान होना, इतना ही काम प्राणियों का अब तक चला आ रहा है। हम दूसरों का ख्याल करते, इष्ट-अनिष्ट का ख्याल करते और परेशान होते हैं। पर के विषय में विकल्पचक्र में पड़ने से बरबादी होती रहती है। दूसरे को अपना मालिक समझ लेना, खुद को पर का मालिक समझ लेना, बस यही परेशानी की जड़ है। हम व्यर्थ ही कल्पना कर-करके दुःखी होते रहते हैं। वह लड़का सोच

रहा कि यह मुझे चिढ़ा रहा है, इसलिये दुःखी हो रहा है। भले ही कोई सामान्य बात कर रहा हो, पर हम उसे अपने ऊपर लेकर व्यर्थ ही दुःखी होते रहते हैं।

टीकमगढ़ में एक भाई जी थे। वे जानते तो कुछ नहीं थे, मगर पंडित बन गये। प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन के बाद एक भाई ने भजन गाया। “मैंने बहुतेरे पंडित देखे, पर पेट कतरनी, बाहर से कुछ और।” इस भजन को सुनकर उन पंडित को लगा कि यह तो हमारे ऊपर ही कह रहा है, सो बाद में वे उस भाई पर बिगड़ गये, लड़ने लगे, उसे दो थप्पड़ जड़ दिये, कहने लगे—‘अरे! तुमने तो हम पर ढाल कर ही भजन कहा है।’ सभी लोग समझ गये, उन्होंने स्वयं बता दिया कि वे कैसे पंडित हैं। फिर वहाँ उन पंडित जी की जो दशा की जानी चाहिये थी, सो लोगों ने की। कहते हैं, चोर की दाड़ी में तिनका। चोर ऐसे ही तो पकड़े जाते हैं।

एक बार सागर विद्यालय में किसी की चीज चोरी चली गई। तो अब यह हुआ, कि चोर को कैसे पकड़ा जाये। तो क्या उपाय किया गया कि प्रधान अध्यापक ने एक छोटे कमरे में एक देवी के नाम का डंडा रख दिया और उसमें कुछ तेल, कोयला वगैरह लगवा दिया और कह दिया कि देखो बच्चो! वहाँ एक देवी का डंडा रखा है, सभी लड़के बारी-बारी से उस डंडे को छूकर आयेंगे। जिसने उस चीज को चुराया होगा, वह तो उसमें चिपक जायेगा और जिसने नहीं चुराया होगा, वह नहीं चिपकेगा। तो सभी लड़के बारी-बारी से छूकर आते गये और उधर प्रधानाध्यापक दरवाजे पर बैठकर सबका हाथ देखते गये कि इसने डंडा छुआ कि नहीं। आखिर जिस बालक ने वह चीज चुराई थी, उसने डंडा न छुआ। यह सोचकर कि मैं डंडे में चिपक जाऊँगा। वहाँ प्रधानाध्यापक ने देखा कि उसके हाथ में कोयला लगा ही न था, तो समझ लिया कि इसी ने चुराया है और उसे झट पकड़ लिया। यदि कोई सामान्य बात भी कही जाये तो जिसमें वह बात होती है वह सोचता है कि ये मुझ पर ढालकर ही कह रहे हैं। अभी कोई बात पाप की बतायें कि ऐसा पाप करना ठीक नहीं है, तो जो वह पाप करता होगा वह सोचेगा कि ये तो हमें ही कह रहे हैं।

स्व को छोड़कर पर में दृष्टि देना और व्यर्थ की कल्पनायें करना, उसी का

यह दुष्परिणाम है कि यह जीव अभी तक संसार में डोल (भ्रमण कर) रहा है। यदि शुद्ध स्वरूप का अनुभव हो जाये, तो यह शुद्ध आत्मतत्त्व इस शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाये। इस जड़ शरीर में कोई सार नहीं है इस शरीर को असार झोपड़ी समझो और अपने आपको शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व समझो। जैसे किसी गाड़ी में गधा और ऊँट जोत दो या हाथी और गधा जोत दो, तो जैसी स्थिति होगी, ऐसी ही स्थिति मेरी भी बनाई जा रही है। कहाँ तो ऐसा शुद्ध परमात्मतत्त्व मैं हूँ, और कहाँ इस असार शरीर का बन्धन। दोनों का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर भी दोनों अलग-अलग हैं। अतः सबको छोड़कर अपने को शुद्ध चैतन्य मात्र देखो। यदि बाह्य में ही फँसे रहे, तो बरबादी होगी। जगत के समस्त जीव बाह्य में ही पड़कर नष्ट हो रहे हैं। इस मायामय जगत के पीछे मोह में पड़कर मोही व्यर्थ बरबाद हो रहे हैं, हठ कर रहे हैं। बड़ा सोच करते हैं कि यदि हठ नहीं करें तो संसार के लोग क्या कहेंगे? देखो माया की हठ से इज्जत नहीं बढ़ती। हिंसा करें, मान करें, अन्याय करें, द्वेष करें, परिग्रही बने, तो क्या जीव महान हो गया? क्या जीव की इज्जत हो गयी? अरे, पाप किया और मर गए, मरकर कीड़े-मकोड़े हो गये, तो फिर क्या इज्जत रह गयी? अपने धर्म से, अपनी नीति से, स्वभाव से, आत्मदृष्टि से न चिगना यह सबसे बड़ी कमाई है। इससे इस लोक में सुख है और परलोक में भी सुख रहेगा।

हे जीव! तू अपने स्वरूप को पहचान ले तो तू प्रभु हो सकता है, तू जगत से भिन्न हो सकता है। जिन्होंने जगत से भिन्न अपने आपको देखा है, वह जगत से भिन्न होकर भिन्न ही चलता रहेगा। और जो अपने को मिला हुआ देखता है, मैं साधु हूँ, मैं ऐसा बलिष्ठ हूँ, यह गृहस्थ है, यह साधु है, यह मनुष्य है, घर में रहता है, श्रावक है इत्यादि, तो वह इस जगत से मिला हुआ ही चलता रहेगा और आजीवन उसको क्लेश ही रहेंगे। उसे आत्मकल्याण की फिक्र नहीं रहेगी। सुकुमाल स्वामी, जिन्हें सरसों के दाने भी चुभते थे, उन्हें तीन दिन तक स्यालनी ने खाया, पर कोई कष्ट नहीं हुआ यदि मानते हो तो कष्ट है, और यदि न मानो, तो कोई कष्ट नहीं है। गृहस्थी में कष्ट नहीं मालूम होते, पर धर्म के कामों में कष्ट मालूम होते हैं। जहाँ मन नहीं लगता, वहाँ कष्टों का

नाम लगता है। प्रवचन में यदि थोड़ा भी ज्यादा समय हो गया तो कहते हैं कि अरे! एक घंटा हो गया, देड़ घंटा हो गया पौन घंटे में हो जाना चाहिये था। स्वाध्याय जल्दी खत्म हो जाये तो अच्छा है। यद्यपि गृहस्थी के कार्यों में वे आराम से घुटने टेके बैठ रहें, कोई परेशानी नहीं है। वहाँ कितनी ही अड़चने हों, फिर भी उनको परेशानी नहीं होती है। एक कथानक आता है। फालतू की जिद में एक मास्टर—मास्टरनी तीन दिन तक भूखे मौन से लेटे रहे।

एक मास्टर—मास्टरनी थे। दोनों ही अलग—अलग स्कूलों में पढ़ाने जाते थे। एक बार इतवार के दिन मास्टर ने 'बड़ा' बनाने का प्रोग्राम बनाया। बहुत अच्छा सब सामान बाजार से खरीदकर मास्टर ने घर में लाकर रख दिया। अब मास्टरनी बड़ा बनाने लगीं। बनाते—बनाते कुल 21 बड़े बने। अब मास्टर भोजन करने बैठे, 10 बड़े मास्टर को परोस दिये और ग्यारह बड़े अपने लिये रख लिये। कभी मजाक भी हो जाती है। जरा—सी बातों में जिद हो जाती है। मास्टर ने कहा—हमें 10 बड़े परोसे और अपने लिये ग्यारह रख लिये? मास्टरनी बोली—मैंने तो परिश्रम किया है इसलिये मैं ग्यारह खाऊँगी और आप दस खाओ। दोनों का निर्णय हो गया कि दोनों चुप हो जावें। जो पहले बोलेगा उसे दस मिलेंगे। अब दोनों चुप हो गये। एक दिन हो गया, 2 दिन हो गये, भूखों मरे जा रहे हैं। भूखों मरते तीन दिन हो गये, मगर जिद नहीं छोड़ी। स्कूल के बच्चों ने देखा कि मास्टर तीन दिन से स्कूल नहीं आ रहे हैं, सो वे मास्टर के घर आये। देखा कि दोनों मरे पड़े हैं। मरे नहीं थे, पर मरे से हो गये, नहीं—तो बोलना पड़ेगा। सब लोग जुड़ गये। सब लोगों ने कहा—देखो, दोनो एक—साथ मर गये। चलो इनकी अर्थी बनाकर लिटा लें और ले चलें। यद्यपि मरे नहीं थे, पर मरे से हो गये चुप रहने की जिद में। लोगों ने अर्थी बना ली और दोनों को लिटा लिया। अर्थी ले गये। आग लगाने ही वाले थे कि मास्टरनी ने देखा कि अब हम दोनों नहीं बचेंगे। तो भाग्य की बात देखो कि अर्थी ले जाने वाले भी इक्कीस लोग थे। मास्टरनी झट बोली—आप ग्यारह खा लेना, मैं दस खा लूँगी। उन लोगों ने समझा कि ये मरकर भूत हो गये हैं। वे डर गये कि अरे! ये तो हम सबको खा जावेंगे। इसलिये सब छोड़कर भाग गये। दोनों ही घर गये, बोले कि जो पहले

बोला, वह दस खाये और हम ग्यारह खायेंगे। अज्ञान में, मोह में बहुत—सी ऐसी बातें हो जाती हैं जिनमें कुछ जान नहीं होती और पति—पत्नी में ज़िद की दीवार खड़ी हो जाती है, जिसे गिराना बहुत मुश्किल होता है।

ये जगत के प्राणी व्यर्थ की बातों में ही विवाद खड़ा कर देते हैं। अपने धर्म को छोड़कर कहाँ दृष्टि डाल रहे हो? धर्म अपने आपकी आत्मा में है। अपने आपके स्वरूप में दृष्टि हो, तो धर्म है। धर्म बाह्य दृष्टि से, बाह्य में मोह करने से नहीं मिलेगा। शुद्ध परिणाम से ताल्लुक रखो, तो धर्म होगा। अगर क्रोध आदि कषाय ही करते रहे, तो धर्म नहीं होगा। अरे! मैं यह चेतन पर पदार्थों के पीछे बरबाद हो गया, जिनमें कोई सार नहीं। अभी तक अपनी जो रफ्तार चल रही है, उसमें फर्क करना चाहिये। अपने जीवन को संयमित करके अपने को अपने आप में झुका लो, तो शान्ति का मार्ग मिलेगा, अन्यथा संसार में रुलना ही बना रहेगा। जब तक हम अपने आप से विमुख रहेंगे, तब तक शान्ति नहीं आयेगी। अपने को शान्त रखने के लिए समर्थ स्वाध्याय है, संयम है, अत्मचिन्तन है। सुखी होने का उपाय केवल आत्मदर्शन ही है, अन्य दूसरा नहीं। जो ज्ञानीजीव हैं, वे बाह्य में नहीं पड़ते। उन्हें कोई परेशानी नहीं होती है और जो अज्ञानी होते हैं, वे व्यर्थ की बातों में अड़ जाया करते हैं, छोटी—छोटी बातों में विवाद खड़ा कर देते हैं। जैसे कहते हैं 'सूत न कपास कोरी से लट्ठमलट्ठा।'

दो व्यक्ति चले जा रहे थे। एक अहीर था और एक कोरी। रास्ते में एक बहुत बड़ा खेत था। कोरी बोला कि अगर यह खेत मुझे मिल जाये तो हम इसमें कपास बोयेंगे और कपास के कपड़े बनाकर व्यापार करेंगे। अहीर बोला—अगर यह खेत हमें मिल जाये तो मैं इसमें अपनी भैंसें चराऊँगा। कोरी बोला—तू भैंसें कैसे चरायेगा? मैं कपास बोऊँगा। अहीर बोला कि अच्छा, देखो मेरी भैंसें चरती हैं या नहीं? रास्ते में चले जा रहे हैं। हाथ चलाकर कोरी बोला—तो मैंने खेत हल से जुता लिया, बीज बो दिया, कपास पैदा हो गई। अहीर ने दस कंकड़ उठा लिये और एक कंकड़ खेत में फेक दिया कि लो हमारी एक भैंस आ गयी, दूसरा कंकड़ फेक दिया दूसरी भैंस आ गयी। लो, आपस में लट्ठमलट्ठा होने लगा। अरे वहाँ न सूत है, न कपास और न ही अहीर की गाय—भैंसें हैं, पर

लट्ठमलट्ठा होने लगा। कैसा विचित्र नाटक है यह। तो यह मनुष्य बेकार की बातों में अपना जीवन गँवा देता है। शान्ति से, समता से एक लक्ष्य बनाकर आत्म-कल्याण करने की बात नहीं सोचता। इन व्यर्थ की कषायों को छोड़ दो। हम सब एक-समान हैं, सब चैतन्य स्वरूप हैं। सब जीवों में समता-परिणाम रखो। आत्मा चैतन्यस्वरूप है। उसे जानने का प्रयास करो।

व्यवहार धर्म की क्रियाओं से, संयम से अपने मन को पवित्र बनाओ, तभी शरीर से भिन्न आत्मा समझ में आती है। केवल शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है, कहने मात्र से आत्मा के दर्शन नहीं होते। जैसे लोग कह देते हैं कि फूँफ़ ग्राम या अमुक ग्राम यहीं तो धरा है नाक के सामने। ऐसा बोलते हैं। और जब चलो, तब पता पड़ता है कि ऐसे जाना पड़ता है।

गप्प करने में, गाल बजाने में तो कोई देर नहीं लगती। अन्तस्तत्त्व यह ही तो है। और जब उपयोग में करने बैठो, तब पता पड़ता है कि क्या होता है, किस तरह से पार हुआ जाता है, कैसे क्या होता है। एक लड़का था। तो, उसे शौक हुआ कि हमें तो तालाब में तैरना सीखना है। तो वह गया तालाब में तैरने के लिये, सो डूबने लगा। खैर, किसी ने उसे डूबने से बचा लिया, पर उसके मन में यह बात बनी रही कि हमें तो तैरना सीखना है। तो माँ के पास जाकर बोला—माँ! मुझे तैरना सिखा दो। तो माँ बोली—अरे बेटा! चलो किसी तालाब में, तुम्हें वहाँ तैरना सिखा दूँगी। तो वह लड़का बोला—माँ! मुझे पानी न छूना पड़े और तैरना आ जाये। माँ बोली—बेटा! मैं तुझे कितना भी सिखा दूँ कि पानी में ऐसे हाथ चलाना,, ऐसे पैर चलाना पर तू जब भी पानी में जायेगा तो डूब जायेगा। पानी न छूना पड़े और तैरना आ जाये, यह कभी सम्भव नहीं। यह तो एक प्रयोगसाध्य बात है। अरे उसका प्रयोग करें और प्रयोग करने में बहुत-सी प्रवृत्तियाँ करनी होंगी। उन्हीं प्रवृत्तियों को व्यवहार धर्म कहते हैं।

जिसको स्वभावदृष्टि करने का काम है, उसे तो सबकुछ करना होता है और जिसे केवल गप्प मारने का काम है, उसको तो केवल गप्प ही मारना है। तो, भाई! तन जाय, मन जाय, धन जाय, वचन जाय, प्राण जाय कुछ भी जाये, पर हर तरह से तैयार रहें कि हमें तो शुद्धोपयोग की प्राप्ति करना है और

शुद्धस्वभाव का लक्ष्य बनाना है, उसके लिये बढ़ते चले जाना है।

यदि अपने आपको शुद्ध चैतन्य मात्र देखोगे, तो हमारी यह दृष्टि वह चिनगारी है जो कि विपदाओं के, कर्मों के पहाड़ों को जला सकती है। एक छोटी दृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि, मगर वह इतनी चमत्कारिणी है कि सारे पहाड़ों को भस्म कर सकती है। और यदि एक आत्मा को नहीं पहचाना, तो संसार में ही रुलना पड़ेगा।

संसार तो स्वार्थ का होता है। वास्तव में जीव का यहाँ कोई भी अपना नहीं है। संसार में जीव के जीते हुये बनावटी प्रेमलीला चलती है। मरने के बाद कोई भी अपना नहीं है। मरने के बाद कोई भी उस प्रेम को नहीं रखता। पर को अपना मानकर उसमें राग—द्वेष करना ही संसार भ्रमण का कारण है। अतः पर से भिन्न अपनी चैतन्य स्वरूपी आत्मा को पहचान कर उसी में रत रहो।

जैसे तोता—मैना अपनी पक्षी की बोली छोड़कर मनुष्यों की बोली बोलने की क्रिया आरम्भ कर देते हैं तो मनुष्यों के द्वारा स्व—मनोरंजन के लिये पिंजड़े में डाल दिये जाते हैं। और यदि वे मनुष्यों की बोली बोलना बन्द कर दें, तो मनुष्यों के द्वारा पिंजड़े से बाहर निकाल दिये जाते हैं। इसी तरह संसारी जीव जब तक मन, वचन, काय आदि परपदार्थों को अपना मानकर उनसे ममत्व करता है, तब तक कर्मों के द्वारा बँधा संसाररूपी जेल में पड़ा परतंत्रता के दुःख उठाता है। किन्तु मन अलग है, मैं जीवात्मा अलग हूँ, वचन अलग हैं, मैं चैतन्य आत्मा अलग हूँ, ऐसा भेदविज्ञान ही मुझे संसार परिभ्रमण से छुड़ाकर मुक्ति की ओर ले जाने वाला है। 'समयसार जी' में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने लिखा है —

अहमिक्को रव्लु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारुबी।

ण वि अत्थि मज्झ किंचिव, अण्णं परमाणुमितंपि।।

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ और अन्य जो परद्रव्य हैं, वे किंचित् मात्र/अणुमात्र भी मेरे नहीं हैं।

आत्मा और शरीर का संबन्ध दूध और पानी के समान है, जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके अलग किया जा सकता है। जो अन्तरात्मा रत्नत्रय के मार्ग पर चलता है, वह शरीर व आत्मा को अलग—अलग कर लेता है—

**तू चेतन अरु यह देह अचेतन, यह जड़, तू ज्ञानी।
मिले अनादि, यतन ते विछुड़े, ज्यों पय अरु पानी॥**

तू चेतन है, यह देह अचेतन है। यह शरीर जड़ है, तू ज्ञानी है। दोनों का अनादिकाल से मेल बना हुआ है। पर रत्नत्रय के मार्ग पर चलकर दोनों को पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। 'ज्यों पय अरु पानी' यानि दूध और पानी को जिस तरह अलग-अलग किया जा सकता है, ऐसे ही शरीर से भिन्न इस आत्मा के सम्बन्ध को भी अलग-अलग किया जा सकता है।

भेदविज्ञान होते ही शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान हो जाता है, आत्मा की सही पहचान हो जाती है। अतः, पर के आकर्षण को छोड़कर आत्मस्वरूप को समझने का प्रयास करो।

जब इस जीव को सच्चा भेदविज्ञान हो जाता है, तब वह स्व को स्व ओर पर को पर समझने लगता है और धीमे-धीमे उसकी प्रवृत्ति में भी अन्तर आने लगता है। अपना मानने में हमारा व्यवहार दूसरा होता है। और पराया मानने में हमारा व्यवहार दूसरा होता है। जैसा 'समयसार' ग्रन्थ में आचार्य कुन्द-कुन्द महाराज ने एक उदाहरण दिया है —

जो परद्रव्य को परद्रव्य मान लेता है, वह उसके साथ अपने व्यवहार को बदल लेता है। जैसे कोई व्यक्ति धोबी के यहाँ से कपड़े लाकर पहनकर जा रहा है उसे रास्ते में एक व्यक्ति मिला और बोला—भइयाजी! ये कपड़े तो मेरे हैं, आप इन्हें कहाँ से लाये? वह बोला—नहीं, ये कपड़े तो मेरे ही हैं, मैं तो अभी—अभी धोबी के यहाँ से लेकर आया हूँ। वह व्यक्ति बोला—नहीं, आप भूल गये हैं, ये कपड़े तो मेरे हैं, आप निशान देख लीजिये। निशान देखा तो वह समझ गया ये कपड़े तो इन्हीं के हैं। अब उसकी दृष्टि बदल गई। अभी तक अपने मानकर पहने था तो लग रहा था कि मेरे कितने अच्छे कपड़े हैं, सभी लोग देख लें। पर अब जब यह जान गया कि ये मेरे नहीं हैं, किसी और के हैं, तो चुपचाप चला जाता है घर कि मैं क्या करूँ जल्दी घर पहुँचूँ और इनके कपड़े इन्हें वापिस कर दूँ। अब दिखाने का मन नहीं हो रहा अब तो कोई देख न ले, इस बात की मुश्किल लग रही है।

मोह के कारण यह जीव अनादिकाल से अपने शुद्ध स्वरूप को भूल रहा है। जिस ज्ञानी के अनंत पदार्थों में यह भाव आ गया कि जगत में मेरा कोई नहीं है, उसका बड़ा भारी दुःख मिट गया। ऐसे ज्ञानी को पं. बनारसी दास जी ने नमस्कार किया है —

भेद—विज्ञान जग्यौ जिनके घट, सीतल चित्त भयो जिमिचंदन।

केलि करें शिव मारग में, जगमाहिं जिनेश्वर के लघुनंदन॥

सत्यसरूप सदा जिन्हके, प्रकट्यो अवदात मिथ्यात्व निकंदन।

शान्त दसा तिन्ह की पहिचान, करें कर जोरि बनारसि बंदन॥

जिनके हृदय में निज—पर विवेक प्रकट हुआ है, जिनका चित्त चंदन के समान शीतल है अर्थात् कषायों का आताप नहीं है, जो निज—पर विवेक होने से मोक्षमार्ग में मौज करते हैं, जो संसार में अरहंतदेव के लघुपुत्र हैं, अर्थात् थोड़े ही काल में अरहन्तपद प्राप्त करने वाले हैं, जिन्हें मिथ्यादर्शन को नष्ट करनेवाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है, उन सम्यग्दृष्टि जीवों की आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके पं. बनारसी दास हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं, जिनका मोह चला गया है, वे शरीर और आत्मा को भिन्न—भिन्न मानते हैं। पर जो मोही जीव हैं, वे शरीर को ही अपना मानते हैं और शरीर की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानते हैं।

एक फकीर किसी गाँव में ठहरा हुआ था। लोग उसके दर्शन करने आते थे और अपनी शंकाओं का समाधान करते थे। एक आदमी आया और पूछा कि यह कैसे सम्भव है, कि शरीर में दर्द हो अथवा चोट लगे, कोई उसको काटे, तब भी पीड़ा न हो? शरीर को काटने से तो पीड़ा होगी ही। फिर शरीर और आत्मा को अलग—अलग मानने से क्या सिद्धि हुई? फकीर ने कहा—यहाँ दो नारियल पड़े हैं। एक कच्चा है, उसमें पानी है, उसको तोड़कर उसकी गिरी अलग करना चाहो तो नहीं होगी; क्योंकि वह गिरी नारियल (काठ) के साथ जुड़ी हुई है। यह दूसरा नारियल है, इसका पानी सूख गया है, इसकी गिरी नारियल (काठ) से अलग हो गई है। इसको तोड़ने पर गिरी को कोई हानि नहीं होगी। नारियल का खोल और गिरी अलग—अलग हो गई है। फकीर ने कहा कि यही आश्चर्य

है। कुछ लोग शरीर के खोल से जुड़े रहते हैं, तो शरीर की चोट के साथ उनको भी चोट पहुँचती है पर जो अपने को शरीररूपी खोल से अलग समझते हैं, उनके शरीर को काटने पर भी उनको कोई दुःख और पीड़ा नहीं होती।

पर जो मोही हैं, जिनके भीतर राग पड़ा हुआ है, वे शरीर से जुड़े हुए हैं। जो गीलापन है, वही राग है। जिन्होंने शरीर को ही अपना होना मान रखा है, उनका शरीर और आत्मा का अलग-अलग अस्तित्व होने पर भी वे एक अनुभव करते हैं। वे शरीर के मरण से अपना मरण और शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति होना मानते हैं। तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान। वे शरीर की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानते हैं। इस मोही बहिरात्मा जीव को शरीर के प्रति इतनी अधिक आशक्ति होती है कि प्राण भले चले जायें, पर पूँछ का बाल न टूटे।

चामरी गाय की पूँछ के बाल सुनहरे होते हैं। उसे अपने बालों से बड़ा प्रेम होता है। एक बार चामरी गाय की पूँछ का बाल एक झाड़ी में उलझ गया। सामने शिकारी धनुष-बाण लिये आ गया। गाय आँखों से देख रही है कि मेरा शत्रु सामने खड़ा है, लेकिन सोचती है कि मेरी पूँछ का बाल टूट न जाये, इसलिये वह वहाँ से भागती नहीं है। जिसका परिणाम यह होता है कि शिकारी अपने बाण से उसके प्राण छीन लेता है। प्राण भले चले गये, लेकिन बालों का मोह नहीं छोड़ा।

इसलिये मोह को महामद कहा गया है। यह मोह ही संसारभ्रमण का कारण है। यह संसारी प्राणी मोह के कारण शेखचिल्ली के समान नाना प्रकार की कल्पनायें किया करता है—

एक मनुष्य था। वह किसी तेली का घड़ा सिर पर रखकर उसके साथ चला जा रहा था। वह मनुष्य मार्ग में सोचता है यह तेली मुझे घड़ा ले जाने के पैसे देगा, उससे मैं एक मुर्गी खरीदूँगा। मुर्गी से बच्चे होंगे, उन्हें बेचकर बकरी खरीदूँगा। बकरी के बच्चे होंगे, उन्हें बेचकर अपनी शादी करूँगा। फिर एक मकान खरीदूँगा और उसमें ऐश से जीवन बिताऊँगा। बाद में मेरे भी बच्चे होंगे और वे परस्पर खूब खेलेंगे, कभी-कभी झगड़ेंगे भी। जब वे झगड़ते-झगड़ते

मेरे पास आयेंगे तो मैं उनको यों तमाचा मारूँगा। उसका हाथ लगने से मटकी नीचे गिरकर फूट गई, उसी समय तेली बोला—क्यों जी! तुमने हमारी मटकी फोड़ दी। तब वह गुस्से में बोला—तुम्हारी तो मटकी ही फूटी है, यहाँ हमारी तो सारी गृहस्थी ही नष्ट हो गई। मनुष्य शेखचिल्लियों जैसी नाना प्रकार की कल्पनायें किया करते हैं यह सब मोह का अज्ञान का परिणाम है।

आचार्य समझा रहे हैं तू अनादिकाल से पर द्रव्यों की संगति से अनेक प्रकार के दुख भोगता आ रहा है। तुम्हें अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं है, इस कारण अपने शरीर को ही 'मेरा स्वरूप है ऐसा मानते हो, यह विभ्रम ही संसार भ्रमण का कारण है। जिसे शरीर भिन्न है आत्मा भिन्न है ऐसा सच्चा श्रद्धान होता है उसे ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

एक जंगल में से दो मुनिराज जा रहे थे। शरीर की दृष्टि से वे पिता—पुत्र थे। पुत्र आगे—आगे चल रहा था, पिता पीछे थे। जंगल एकदम भयानक था। दोनों तत्त्वचर्चा करते जा रहे थे—'शरीर अलग है और चैतन्य आत्मा अलग है। शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता।' इतने ही में अचानक सिंह का गर्जन हुआ। पिता ने पुत्र से कहा—तुम पीछे हो जाओ, यहाँ खतरा है। किन्तु पुत्र नहीं आया। पिता ने पुनः कहा, किन्तु पुत्र नहीं आया। सिंह सामने आ चुका था। मृत्यु सामने खड़ी थी। पुत्र बोला— 'मैं शरीर नहीं हूँ, मैं चैतन्य स्वरूपी आत्मा हूँ, मेरा नाश हो ही नहीं सकता, मेरी मृत्यु कैसी?' पिता तो भाग गया, लेकिन पुत्र आगे बढ़ता गया। सिंह ने उस पर हमला कर दिया। वह गिर पड़ा था, पर उसे दिखाई पड़ रहा था कि जो गिरा है, वह मैं नहीं हूँ। वह शरीर नहीं था, इसलिये उसकी मृत्यु नहीं हुई। पिता मात्र कहता था, कि शरीर हमारा नहीं है, परन्तु दिखाई उसको यह दे रहा था कि शरीर हमारा है। वस्तुतः कहने और दिखने में मौलिक अन्तर है। सही दिखने से अर्थात् सच्ची श्रद्धा से जीवन में परिवर्तन होता है, कहने से नहीं। इसलिये सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा को मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी कहा है।

आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में लिखा है—

**वपुष्पात्मेति विज्ञानं वपुषा धरयत्यमून् ।
स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिनत्यङ्गं शरीरिणाम् ।**

‘शरीर में यह आत्मा है,’ ऐसा ज्ञान तो जीवों को शरीर सहित करता है, और आप में ही आप है अर्थात् ‘आत्मा में ही आत्मा है,’ इस प्रकार का विज्ञान जीवों को शरीर से भिन्न करता है। आगे और भी कहते हैं —

**तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितः ।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्यक्तवान्तर्विशेन्ततः ।।**

शरीर में ऐसा जो भाव है कि ‘यह मैं आत्मा ही हूँ’ ऐसा भाव संसार की स्थिति का बीज है। इस कारण, बाह्य में नष्ट हो गया है इन्द्रियों का विक्षेप जिसके, ऐसा पुरुष उस भावरूप संसा के बीज को छोड़कर अंतरंग में प्रवेश करो, ऐसा उपदेश है। अपनी आत्मा में रमण करने वाले साधु ही महान होते हैं।

सिकन्दर जब भारत से वापिस लौट रहा था तो वह कोई अद्भुत चीज यूनान में ले जाना चाहता था। किसी ने बताया कि हिमालय की तराई में एक महान साधु बड़ा अद्भुत है, परन्तु उसे ले जाना असम्भव है, क्योंकि वह किसी की आज्ञा माननेवाला नहीं है, अपने मन का मालिक है। सिकन्दर नहीं माना और बोला—मेरी तलवार कब काम आयेगी। यद्यपि लोगों ने कहा कि जो तलवार के भय से चला जाये, वह साधु नहीं है। उसको साथ ले जाना सम्भव नहीं है। तो भी सिकन्दर ने अपने सेनापति को उसके पास भेजा। सेनापति ने साधु को सिकन्दर की आज्ञा बताई। साधु ने कहा— ‘हम किसी के अधीन नहीं हैं। हम तो केवल अपनी आज्ञा मानते हैं।’ सिकन्दर खुद आया, नंगी तलवार लेकर बोला कि आपको हमारे साथ चलना है अन्यथा हम आपको समाप्त कर देंगे साधु ने कहा—हम भी उसे समाप्त होते देखेंगे। जिस प्रकार इस शरीर को तुम कटता देखोगे उसी प्रकार इसे हम भी कटता देखेंगे। क्योंकि तुम जिसे काटोगे वह मैं नहीं हूँ, मैं उससे अलग चैतन्य स्वरूपी आत्मा हूँ। जिस शरीर को तुम साधु समझ रहे हो, वह मैं नहीं हूँ, और जो मैं हूँ, उस आत्मा का मरण हो ही नहीं सकता, उसको कोई काट ही नहीं सकता।

सारे दुःखों का मूलकारण है शरीर में अपनापन। राग—द्वेष की उत्पत्ति का

कारण है शरीर में अपनापना। जितना शरीर को अपनेरूप में देखोगे, उतना राग—द्वेष—मोह बढ़ेगा और जितना हम शरीर को स्वयं से अलग देखेंगे, तो मोह पिघलने लगेगा। इसलिये हमको खाते—पीते, उठते—बैठते, चलते—फिरते, गाते—बजाते हर समय स्वयं को शरीर से भिन्न ही अनुभव करना चाहिये। शरीर और आत्मा को एक देखना भ्रम है और शरीर एवं आत्मा को अलग देखना विवेक है, सम्यग्ज्ञान है। सिकन्दर अवाक् होकर साधु के वचन सुनता रहा। उसे अनुभव हुआ साधु जी जो कह रहे हैं वही सत्य है।

यदि हमारी कोई वस्तु घर में गुम गई हो और हम उसे बाहर ढूँढ़ें तो क्या वह प्राप्त होगी? नहीं होगी। जब तक हम उसे अपने घर में नहीं ढूँढ़ेंगे, वह कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार सत्य तो आत्मा का स्वभाव है, आत्मानुभूति है, जिसे हम परपदार्थों में ढूँढ़ रहे हैं, इसलिये आज तक प्राप्त नहीं हुआ। सत्य स्वभाव की प्राप्ति तो केवल उन्हें ही हुई है जिन्होंने समस्त परपदार्थों से मोह छोड़कर संयम—तप को अपनाकर अपने स्वरूप में डुबकी लगाई है।

मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है। इस कर्म के कारण जीव मोहग्रस्त होकर संसार में भटकता है। मोहनीय कर्म संसार का मूल है। इसलिये इसे “कर्मों का राजा” कहा गया है। समस्त दुःखों की प्राप्ति मोहनीय कर्म से ही होती है। इसलिये इसे “अरि” या “शत्रु” भी कहते हैं। यह आत्मा के वीतराग भाव तथा शुद्ध स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा राग—द्वेषादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। यह कर्म स्व—पर विवेक एवं स्वरूप रमण में बाधा डालता है। पंडित श्री दौलतराम जी ने लिखा है—“मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।” मोहरूपी तेज शराब पीकर जीव अपनी आत्मा को भूल रहा है। मोह इतना बड़ा शत्रु है कि विष तो एक भव में ही प्राण हरता है, लेकिन मोहरूपी विष भव—भव में दुःख देता है।

मोह कर्म ऐसा होता है, जैसे फौज का कमांडर अगर मारा जाए तो फौज ठहर नहीं सकती। उसी प्रकार अगर मोह कर्म को जीत लिया जाए, तो शेष कर्म ठहर नहीं सकते। इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गयी है। जैसे मदिरा

पीने से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नहीं रहता, वह हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व — अतत्त्व का भेद — विज्ञान नहीं हो पाता। वह संसार के विकारों में उलझ जाता है

आचार्य समझा रहे हैं कि अपने आप पर स्वयं दया करके मोह को छोड़ने का प्रयास करो। जहर दो तरह का होता है एक मीठा जहर और एक कड़वा जहर। कड़वा जहर तो कोई भी पीते ही थूक देगा, लेकिन मीठा जहर ऐसा है कि पीते ही चले जाना आनन्ददायक लगता है। जब जीवन समाप्त होने लगता है, तब मालूम पड़ता है कि यह तो जहर था। मोह ऐसा ही मीठा जहर है। जिसे संसारी प्राणी थूकना नहीं चाहता। इसकी मिठास इतनी है कि मृत्यु होने तक यह नहीं छूटता और दूसरे जीवन में भी प्रारंभ हो जाता है। भव—भव में रुलाने वाले इस मोह के प्रति सचेत हो जाना चाहिये, तभी मुक्ति की ओर जाने का रास्ता प्रारंभ होगा, तभी अपने सत्य स्वरूप (आत्म तत्त्व) की प्राप्ति होगी। अपने—पराये को जानकर पराये के प्रति मोह छोड़ना ही हितकर है।

शरीर अपना नहीं है, अपना तो आत्म तत्त्व है। यदि यह ज्ञान हो जाये, तो भी कार्य आसान हो जायेगा। स्व को जानने की कला के माध्यम से पर के प्रति उदासीनता आना संभव है। एक महिला थी और उसके छह बच्चे थे। उनका आग्रह था कि माँ! हमें मेला दिखाओ। उस महिला ने सोचा कि चलो, बच्चों का आग्रह है तो दिखा लाते हैं, किन्तु ये अभी बहुत छोटे हैं, इसलिये इन्हें प्रशिक्षण देना आवश्यक है। और वह उन्हें प्रशिक्षित कर देती है कि देखो, एक दूसरे का हाथ पकड़े रहना, मेले में भीड़ रहती है, कहीं गुम न हो जाना, अन्यथा हम नहीं ले जाएंगे। सभी ने कह दिया कि आप जैसा कहोगी वैसा ही करेंगे, पर हमें मेला दिखा दो। वह महिला सब बच्चों के साथ मेला में जा पहुँची। सारा मेला घुमा दिया, झूला झुलवाया, खिलौने खरीदे, मिठाई खरीदी, बच्चों को बहुत आनन्द आया। शाम हो गई, तो उसने सोचा कि अब घर लौटना चाहिये। उसने बच्चों को देखा कि कहीं कोई गुम तो नहीं गया। गिनकर देखा तो छः के स्थान पर पाँच ही थे। दुबारा गिना तो भी पाँच थे। अब वह महिला घबरा गई। इतना

बड़ा मेला और हमारा छोटा-सा लड़का, कहाँ खोजें, समझ में नहीं आता। वह रोने लगी। तभी एक सहेली मिल गई और उसने पूछा कि क्यों बहिन! क्या हो गया? तब वह महिला कहती है कि क्या बताऊँ? छह बच्चे लायी थी, पाँच ही बचे हैं; एक बच्चा भीड़ में खो गया। तब वह सहेली गिनकर देखती है तो सारी बात समझ जाती है और पाँच बच्चों को गिनने के बाद वह महिला की गोद में सोये हुये बच्चे को थपथपाकर कहती है कि यह रहा छटवाँ लड़का। यही स्थिति सभी की है। जो अत्यंत निकट है अपना आत्म तत्व, उसे ही सब भूले हुये हैं। बाह्य भोग्य सामग्री को ही गिन रहे हैं कि हमारे पास इतनी कारें हैं, इतनी सम्पदा है। सुबह से शाम तक जो भी क्रियायें हो रही हैं। यदि हम जान लें कि सारी-की-सारी शरीर के द्वारा हो रही हैं और मैं केवल करने का भाव कर रहा हूँ, मैं पृथक हूँ, तो पर के प्रति उदासीनता आने में देर नहीं लगेगी, कठपुतली के खेल के समान सारा खेल समझ में आ जायेगा। शरीर आदि पर द्रव्यों के साथ जब तक उपयोग की डोर बंधी है, तब तक यह संसार का खेल चलता रहेगा और जैसे ही हमारे उपयोग की डोर पर पदार्थों से हट जायेगी, तो संसार का अंत आ जायेगा।

यह मोह ही है जो हमें अपने सत्य स्वरूप का बोध नहीं होने देता। मोह किसी को नहीं छोड़ता। भगवान् ऋषभदेव तो युग के महान पुरुष थे पर उन्होंने भी मोह के उदय में अपनी आयु के 83 लाख पूर्व बिता दिये। आखिर इन्द्र का इस ओर ध्यान गया कि 18 कोड़ा-कोड़ी सागर के बाद तो इन महापुरुष का जन्म हुआ और ये सामान्य जीवों की तरह संसार में फँस रहे हैं, स्त्रियों और पुत्रों के स्नेह में डूब रहे हैं, संसार के प्राणियों का कल्याण कैसे होगा? उसने यह सोचकर नीलांजना के नृत्य का आयोजन किया और उस निमित्त से भगवान् का मोह दूर हुआ। जब मोह दूर हुआ, तब ही उनका और उनके द्वारा अनंत संसारी प्राणियों का कल्याण हुआ। रामचन्द्र जी सीता के स्नेह में कितने भटके, लड़ाई लड़ी, अनेकों का संहार किया, पर जब मोह दूर हो गया तो स्वयं सीता के जीव प्रतीन्द्र ने कितने प्रयत्न किये, पर उन्हें तप से विचलित नहीं कर सकी। मोह ही संसार का कारण है, यह अटल श्रद्धान होना चाहिए।

हम मोह के कारण ही अपने आपको दुनियाँ का कर्ताधर्ता मानते हैं, पर यथार्थ में पूछो तो कौन कहाँ का? कहाँ की स्त्री, कहाँ का पुत्र? कौन किसको अपनी इच्छानुसार परिणमा सकता है? कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनवा जोड़ा। ठीक हम लोग भी भानुमती के समान कुनवा जोड़ रहे हैं। कौन किसका पिता है? कौन किसका पुत्र है? यह मात्र पर्याय की ओर दृष्टिपात करने पर ही दिखायी देता है। यह मोह का ही परिणाम है। यह मोह छूट जाये, तो वास्तविकता मालूम पड़ने लगती है कि शरीर का अवसान होने पर यह सारे संबंध छूट जाते हैं। शरीर यहीं पड़ा रह जाता है, और जीव क्षण भर में कहाँ पहुँच जाता है किस रूप में उत्पन्न हो जाता है, पता भी नहीं पड़ता।

कैसा वैचि=य है। एक नाटक की तरह रंगमंच पर जैसे विभिन्न पात्र आ रहे हैं, जा रहे हैं, और देखने वाला जान रहा है कि यह सब नाटक है, फिर भी उसमें हर्ष-विषाद करने लगता है। इसी प्रकार यह सारा संसार रंगमंच की तरह है। जो संसार से विरक्त हैं, ऐसे वीतराग सम्यग्दृष्टि को यह सब नाटक की भाँति दिखाई पड़ने लगता है। वह सत्य को जान लेता है तो पर्याय में मुग्ध नहीं होता, हर्ष-विषाद नहीं करता। यदि हम बंधन से छूटना चाहते हैं, तो हमें मोह को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। हम लोग बारह भावनाओं में पढ़ते हैं —

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।

यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय।।

अकेले उत्पन्न हुए और अकेले ही मर जाना है। यदि आत्म कल्याण करना चाहें, तो भी अकेले ही करना होगा। पर अकेले होने की बात और, मरने की बात ये दोनों बातें संसारी प्राणी को नहीं रुचतीं, जबकि यही सत्य है कि कोई किसी के साथ आता-जाता नहीं है। गर्भ और मृत्यु की पीड़ा स्वयं को ही सहनी पड़ती है। माँ के गर्भ में अकेले आये थे और चिता पर भी अकेले ही लेटेंगे। प्रत्येक जीव को अपने किये हुये कर्मों का फल अकेले ही भोगना पड़ता है।

एक लुटेरा जंगल में एक संघ को लूट रहा था, तब संघ में रहने वाले एक महात्मा ने कहा कि भाई तू यह लूट-पाट करता है, परन्तु मेरी एक बात सुन, लूटपाट से प्राप्त होने वाले धन को भोगने में जो तेरे कुटुम्बीजन भागीदार होते

हैं, जरा घर जाकर उनसे यह बात पूछ कर आओ कि तुम सब यह धन भोगने में तो मेरे हिस्सेदार होते हो, परन्तु इस लूटपाट से बंधने वाले पाप का फल भोगते समय दुर्गति के दुःख में भी मेरे सहभागी बनोगे क्या?

उस लुटेरे ने घर जाकर अपने कुटुम्बियों से उक्त प्रश्न पूछा। परन्तु पाप या दुःख में हिस्सा बटाने के लिये कोई तैयार नहीं हुआ। तब महात्मा ने समझाया—

सुन, भाई! यह जीव स्वयं अकेला ही पुण्य पाप भावों को करता है और अकेला ही उनका फल भोगता है, दूसरा कोई उसमें सहभागी नहीं हो सकता, इसलिये तू पाप छोड़कर अपने भविष्य को सुधार।

यह सुनकर उस लुटेरे को वैराग्य हो गया उसे संसार की स्वार्थ लीला समझ में आ गई। और उसने सन्यास धारण कर लिया। जिन्हें भी सत्य समझ में आ जाता है, उन्हें संसार से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वह विषय भोगों के प्रति उदासीन हो जाता है।

एक महात्मा जी ने अपने शिष्यो से कहा कि "अब मेरा अन्त निकट है, इसलिये तुम लोगों को जो कुछ पूछना हो पूछ लो।" गाँव में खबर कर दो कि महात्मा जी जा रहे हैं, उनका अन्तिम समय आ गया है। यह बात सुनकर एक व्यक्ति ने महात्मा जी से मिलने की अपनी इच्छा प्रकट की और बोला — तीस वर्षों तक महात्मा जी मेरे गाँव में रहे, पर मैं उनसे एक दिन भी नहीं मिल सका, लेकिन आज जब सुना कि महात्मा जी अपनी अन्तिम साँसें ले रहे हैं, जब दृढ़ निश्चय करके तथा समस्त कार्यों को छोड़कर महात्मा जी के दर्शन करने आया हूँ। यह सुन महात्मा जी का एक शिष्य कहता है कि आपने बहुत देर कर दी। वह व्यक्ति कहता है — मैं अपनी घर-गृहस्थी में फँसा रहा, पर जब मैंने सुना कि महात्मा जी की ज्योति बुझने वाली है, तब मैं दौड़ा आया हूँ। यह सब वार्ता महात्मा जी सुन रहे थे। अब वे कहते हैं — आ जाओ, अभी भी कुछ साँसें शेष हैं, मैं तुम्हारी जिज्ञासा शान्त कर दूँगा। यह सुनकर वह व्यक्ति अपनी भूल पर रोने लगता है। महात्मा जी आश्वासन देते हुये कहते हैं कि जिसे अपनी अज्ञानजनित भूल का पता चल गया, जिसे समझ में आ गया कि मैंने अपना

अतीत व्यर्थ गँवाया है, समझो वह संभल गया, उसके जीवन में अपने आप वैराग्य घटित हो जाता है और वह कर्मों का क्षय करने के लिये सम्यक् साधना को स्वीकार कर लेता है। यह संसार असार तथा नश्वर है और आत्मा अविनश्वर है, उसका कभी नाश नहीं होता। यह सुनकर उस व्यक्ति को संसार से वैराग्य हो गया और उसने मुनिदीक्षा धारण कर ली।

किसी ने सफेद बाल देखकर, किसी ने मुर्दे को देखकर, किसी ने वृद्ध को देखकर वैराग्य को धारण कर लिया। जिसकी आत्मा में अतीत का कोई पुण्य छिपा होता है, उसे वर्तमान में किसी घटना या निमित्त को पाकर संसार के क्षण भंगुरता का बोध हो जाता है और वह संसार, शरीर व भोगों से विरक्त हो जाता है। अनेक राजा आकाश में गिरते तारे को देखकर अथवा बादलों को देखकर संसार से विरक्त हुये हैं। महाराज हनुमान ने आकाश में तारा गिरता देखकर वैराग्य प्राप्त किया। आदिनाथ भगवान् ने नीलांजना देवी की देह की क्षणभंगुरता देखकर वैराग्य प्राप्त किया।

नृत्य करते-करते नीलांजना का मृत्युक्षण आ गया और आदिनाथ भगवान् को नीलांजना के नृत्य ने संसार का सत्य स्वरूप दर्शा दिया। नीलांजना जैसी दिव्य काया भी एक क्षण में छाया में विलीन हो गई। धिक्कार है इस क्षणभंगुर जीवन को, धिक्कार है बर्फ के समान पिघलते यौवन को, धिक्कार है इन्द्रधनुष के समान मिटते सौन्दर्य को। उन्होंने 83 लाख पूर्व वर्ष तक भोगे दिव्य भोगों को एकक्षण में त्याग दिया।

शान्तिनाथ भगवान् ने दर्पण में अपने दो रूप देखे और निकल पड़े अपने शाश्वत रूप को प्राप्त करने। पद्मप्रभु भगवान् ने सांकल से बंधे हाथी को देखा और विचार किया कि इतना विशालकाय हाथी वासना के कारण जरा सी सांकल से बंध गया। मैं भी भगवान् बनने की शक्ति से सम्पन्न होते हुये भी भोगों की सांकल से बंधा हूँ। धिक्कार है मुझे और सन्यास धारण कर लिया। चन्द्रप्रभु भगवान् ने आकाश महल के विघटन को देखकर घरबार छोड़कर सन्यास धारण कर लिया। अरविन्द नाम के एक राजा ने बादलों को बिखरते देखकर वैराग्य प्राप्त किया।

जब दुष्ट कमठ ने अपने भाई मरुभूति को मार डाला, तो यह सुनकर राजा अरविन्द उदासचित्त होकर राजमहल की छत पर बैठ गये और वैराग्य का विचार करने लगे, तभी आकाश में सुन्दर मन्दिर का दृश्य बन गया। उसकी अद्भुत शोभा देखकर राजा को ऐसा विचार आया कि मैं भी अपने राज्य में ऐसा ही सुन्दर जिनमंदिर बनवाऊँगा। ऐसा विचार करके उन्होंने बादलों के मंदिर के चित्र को बनवाने की तैयारी की, परन्तु तब तक बादल बिखर गये और उस अद्भुत मंदिर की रचना अदृश्य हो गयी।

राजा यह घटना देखकर दंग रह गये। उन्होंने विचार किया कि बादलों की तरह ही राजपाट, महल, शरीर इत्यादि सभी संयोग भी असार और विनाशीक हैं। अरे! ऐसे अस्थिर इन्द्रिय-विषयों में मग्न रहना जीव को शोभा नहीं देता। जिसे स्वयं का हित करना हो, उसे इस मोह में समय गँवाना योग्य नहीं है। जिस प्रकार यह बादल क्षण-भर की देर किये बिना बिखर गये, उसी प्रकार अब मैं भी एक पल भी गँवाये बिना, यह संसार छोड़कर, मुनि होकर कर्म के बादलों को बिखेर कर नष्ट करूँगा। इस प्रकार वैराग्यभावना पूर्वक वे अरविन्द राजा राजपाट छोड़कर वन चले गये और दिगम्बर गुरु के पास दीक्षा लेकर मुनि हो गये। भगवान् पार्श्वनाथ के जीव ने हाथी की पर्याय में इन्हीं मुनिराज के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था।

इस दुर्लभ मनुष्यभव में धर्म करने के लिये समय निकालना चाहिये। संसार के पापों और शरीर आदि की चिन्ता में व्यर्थ समय गँवाने जैसा नहीं है। जन्म के साथ तुम जिस शरीर को लाये हो, वह भी जब तुम्हारा नहीं है, तो प्रत्यक्ष रूप से भिन्न दिखने वाले परिवारजन तुम्हारे कैसे हो सकते हैं? यह तो एक मुसाफिरखाना है।

कोई पागल मनुष्य इधर-उधर भटकता हुआ नदी के किनारे जाकर बैठ गया। वहाँ किसी राजा ने आकर पड़ाव डाला, तो वह अपने पास ठहरे हुये हाथी, घोड़ा, रथ, मनुष्य इत्यादि को देखकर विचार करने लगा कि यह मेरे हाथी, घोड़े आदि आ गये, मेरी सेना आ गई। ऐसा मानकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। थोड़ी देर बाद जब पड़ाव उठने लगा, तब वह मनुष्य चिल्ला-चिल्लाकर

रोता हुआ कहने लगा कि अरे! मेरा यह ठाठ—बाट यहाँ से क्यों जा रहा है? मुझसे पूछे बिना यह सब कहाँ जाने लगे? परन्तु जरा विचार करो कि वे तुम्हारे थे ही कहाँ? वे तो सब अपने कारणों से रुके थे और उनका काम पूरा होने पर जाने लगे। वे क्या आपसे पूछकर आये थे, जो तुझसे पूछकर जायेंगे? ये तो तेरे थे ही नहीं। तू प्रत्यक्ष ही उनसे भिन्न था। तू इन्हें अपना मानकर व्यर्थ ही दुःखी होता है।

इसी प्रकार पागल के समान मोही जीव संयोग को अपना मानकर खुश होता है, तथा उनके वियोग होने पर 'हाय—हाय! मेरा सबकुछ चला गया' इस प्रकार खेद करता है। परन्तु ये संयोग तेरे थे ही कब? ये तो स्पष्ट रूप से तुझसे भिन्न हैं। ये तेरे कारण नहीं आये तथा तेरे रोकने से रुकेंगे भी नहीं। यहाँ न तो कोई कुछ लेकर आया है और न ही कुछ लेकर जायेगा। यहाँ की जरा भी सम्पत्ति साथ में जाने वाली नहीं है। जिस प्रकार रात्रि में स्वप्न में देखा गया दृश्य जाग जाने पर झूठा मालूम होने लगता है। उसी प्रकार सत्य स्वरूप का बोध हो जाने पर ये समस्त संयोग झूठे प्रतीत होने लगते हैं। अतः सत्य को समझो और इन संयोगों से मोह व राग मत करो। राम, पांडव आदि वैभवशाली पुरुष भी भौतिक सम्पत्ति का त्याग करके ही संसार से मुक्त हुये हैं। भरत चक्रवर्ती छः खण्ड के स्वामी होकर भी उस वैभव से निर्लिप्त रहे, जैसे कमल कीचड़ से निर्लिप्त रहता है।

आज तक जितने जीव सिद्ध (सुखी) हुये हैं, वे भेद विज्ञान से सिद्ध (सुखी) हुये हैं और जितने जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, वे भेद विज्ञान के अभाव में ही संसार में भ्रमण कर रहे हैं।

शरीर और आत्मा को एक मानना ही संसार भ्रमण व दुःख का मूल कारण है। आत्मा सिंह के समान शूरवीर है, फिर भी वह अपने को भूलकर अज्ञान के कारण दुःखी हो रहा है।

एक सिंह था। उसे भूख लगी। जंगल में एक वृक्ष के ऊपर एक बंदर बैठा था, नीचे उसकी छाया पड़ रही थी। उस छाया को देखकर सिंह को विचार आया कि मुझे अच्छा शिकार मिला। परन्तु बंदर तो ऊपर बैठा था, अतः सिंह ने

बंदर की छाया को ही बंदर मानकर छाया पर झपट्टा मारा। उसी समय डाल पर बैठा हुआ बंदर सिंह को संबोधन करता हुआ कहता है —

अरे, जंगल के राजा! मैं तो यहाँ डाल पर बैठा हूँ। यह जो नीचे छाया पड़ रही है, वह मैं नहीं हूँ। उससे तुम्हारा पेट नहीं भरेगा, इसलिये बेकार मेहनत मत करो। छाया पर तुम चाहे जितने झपट्टे मारो, पर उससे तुम्हारे हाथ कुछ भी आने वाला नहीं है।

बंदर के इतने समझाने पर भी सिंह तो बंदर की छाया पर पंजे मार-मार कर व्यर्थ कोशिश करता रहा और अंत में परेशान होकर थक गया। लेकिन उसे कुछ भी नहीं मिला।

इसी प्रकार जगत के राजा के समान चैतन्य सिंह आत्मा को भी सुख की भूख लगी है। वह छाया के समान बाह्य विषयों से सुख की माँग करता है और विषयों की तरफ झपट्टे मार-मार कर दुःखी होता है। तब मुनिराज उसे समझाते हैं —

अरे जीव! सुख तो तेरी आत्मा में ही है। छाया के समान शरीर में अथवा विषयों में सुख नहीं है, इसलिये तू बाहर में सुख की खोज मत कर। बाह्यविषयों में तुम चाहे जितने मिथ्या प्रयत्न करो, लेकिन उनसे तुम्हें कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं होगी।

एक दूसरी कहानी है, जिसमें सिंह समझदार है और बंदर मूर्ख है —

एक वृक्ष के ऊपर एक बंदर रहता था। वहाँ एक सिंह आया। उस सिंह के मन में बंदर का शिकार करने का भाव आया, लेकिन वह बंदर तो ऊँचे वृक्ष पर बैठा था, इसलिए सिंह उसका शिकार कैसे बन सकता था? लेकिन सिंह चालाक था। उसने सोचा कि यह मूर्ख बंदर जमीन पर पड़ रही उसकी छाया को ही स्वयं मान रहा है, इसलिये बंदर के सामने सिंह ने जोर से गर्जना की और उसकी छाया के ऊपर पंजा मारा। बंदर अपनी छाया के ऊपर पंजे मारते देख घबरा गया। हाय-हाय! सिंह मुझे पंजा मार रहा है। ऐसा सोच भयभीत होकर वह जल्दी ही नीचे गिर गया और सिंह ने उसे सचमुच में अपना शिकार बना डाला और उसका प्राणान्त हो गया। उस मूर्ख बंदर ने यह नहीं सोचा कि

पंजे तो मेरी छाया को पड़ रहे हैं, मैं तो छाया से अलग वृक्ष के ऊपर सुरक्षित बैठा हूँ। देखो! बंदर ने अज्ञान से छाया को ही अपना माना, इसलिये अपने प्राणों से हाथ धो बैठा।

इसी प्रकार इस जीव ने छाया के समान इस शरीर को अपना मान रखा है, अतः रोगादि होने पर या मृत्युरूपी सिंह के पंजे पड़ते ही मूर्ख बंदर के समान मूर्ख अज्ञानी जीव अपना ही मरण जानकर डरता है, भयभीत होता है कि हाय! मैं मर गया, हाय! मेरे शरीर में रोग हो गया।

लेकिन ये सब तो शरीर में हैं, तेरे में नहीं, तुम तो शरीर से भिन्न चैतन्य स्वरूपी आत्मा हो। आचार्य समझा रहे हैं—हे जीव! तू शरीर से भिन्न आत्मा को जानकर निर्भय हो जा। जब आत्मा का मरण ही नहीं, तो डर किस बात का? जो शरीर और आत्मा को भिन्न—भिन्न जानते हैं, वे सदा निर्भय रहते हैं।

बहुत पुराने समय की बात है। जंगल में एक वृक्ष पर दो बंदर रहते थे। एक बंदर जवान था और दूसरा बूढ़ा। उस जंगल में एक भूखा सिंह शिकार की खोज कर रहा था। खोजते—खोजते वह उस वृक्ष के समीप आया। उसने वृक्ष के ऊपर दो बन्दरों को बैठे देखा, लेकिन वृक्ष के ऊपर तो सिंह पहुँच नहीं सकता था, फिर भी चालाक सिंह ने बन्दरों को पकड़ने की युक्ति खोज निकाली।

गर्मी के दिनों में दोपहरी में वृक्ष के ऊपर बैठे बंदरों की छाया नीचे पड़ रही थी। जब सिंह ने देखा कि वृद्ध बंदर छाया को ही अपनी मान रहा है, इसलिये सिंह ने बंदर की ओर देखकर जोरदार गर्जना की और उसकी छाया पर जोर से पंजा मारा। हाय! हाय! सिंह ने मुझे पकड़ लिया ऐसा समझकर मूर्ख बंदर भय से काँपते हुये नीचे गिर गया, तब सिंह ने उसे पंजे से पकड़ लिया, जिससे उसका मरण हो गया। उसी समय युवा बंदर वृक्ष के ऊपर निर्भय होकर बैठा रहा। वह वहाँ बैठा—बैठा सिंह की चेष्टायें देखता रहा। तब युवा बंदर ने विचार किया कि वह दूसरा बंदर नीचे गिरकर क्यों मर गया और मैं क्यों नहीं मरा? विचार करने पर उसे समझ में आया कि हाँ, ठीक ही तो है, वह वृद्ध बंदर नीचे की छाया को अपनी मान रहा था, इसलिये छाया पर सिंह के द्वारा पंजा मारते

ही वह अज्ञान से भयभीत होकर नीचे गिर गया और सिंह का शिकार बनकर मर गया, लेकिन मैंने छाया को अपनी नहीं माना, इसलिये मरण से बच गया।

इसके बाद उस युवा बंदर ने ऐसा विचार किया कि सिंह ने मेरे दादा (वृद्ध बंदर) को मूर्ख बनाया। अब मैं भी उसे उसकी मूर्खता का बोध कराऊँगा। वह बोला—हे सिंह काका! तुम इस जंगल के राजा हो, परन्तु इसी जंगल में तुम्हारे जैसा दूसरा सिंह आया है। वह कहता है कि मैं इस जंगल का राजा हूँ, तुम नहीं हो।

तब उस सिंह ने क्रोध में आकर कहा—हमारे राज्य में हमारी सत्ता से इंकार करने वाला यह दूसरा सिंह कौन आया? चलकर बताओ वह कहाँ रहता है? मैं उसकी खबर लूँगा।

बंदर बोला काका! उस सामने के कुँए में वह सिंह रहता है।

बस, सिंह तो दौड़ा और कुँए में झाँककर देखा, तो उसे वहाँ उसके ही जैसा एक सिंह दिखाई दिया। वास्तव में वह तो उसकी ही छाया थी, वह कोई सच्चा सिंह नहीं था, फिर भी मूर्ख सिंह छाया को ही सच्चा सिंह समझकर क्रोध में अन्धा होकर कुँए में कूद गया और अंत में वह मूर्ख सिंह कुँए में डूबकर मर गया।

इसी प्रकार सिंह और बंदर के समान अज्ञानी जीव इस छाया के समान शरीर को अपना मानकर संसार में जन्म—मरण कर रहे हैं और वैसे ही भवरूपी कुँए में गिरकर दुःखी हो रहे हैं। लेकिन जो सच्चा ज्ञान कर शरीर से भिन्न अपनी आत्मा का स्वरूप जानते हैं, उनका जन्म मरण नहीं होता।

कुछ दिनों बाद फिर से ऐसा हुआ कि पहले की घटना के समान ही उस जंगल में वृक्ष पर बंदर बैठा था और वहाँ एक भूखा सिंह आया। सिंह ने देखा कि नीचे जो बंदर की छाया हिलती—डुलती दिखाई दे रही है, वही बंदर है। उसने छाया के ऊपर पंजा मारा। वह पंजा मारते—मारते थक गया, लेकिन उसके हाथ कुछ नहीं आया।

इसी प्रकार रुपये पैसे में झपट्टे मार—मार कर यह जीव भी थक गया, फिर भी इसको थोड़ा—सा भी सुख नहीं मिला।

तब वृक्ष के ऊपर बैठे बंदर ने कहा—अरे, सिंह राजा। जैसी मूर्खता तुम कर रहे हो, उसी प्रकार इसके पहले तुम्हारे दादा ने भी अपनी मूर्खता से अपने प्राण खो दिये थे। जैसे तुम मेरी छाया को ही बंदर समझकर उसके ऊपर पंजे मार रहे हो, उसी प्रकार तुम्हारे सिंह दादा ने भी कुँए में अपनी छाया देखकर उसे ही असली सिंह मान लिया था और उससे लड़ने के लिये कुँए में छलाँग लगाकर मर गये थे।

तब सिंह बोला — अरे, बंदर भाई। जैसी मेरे दादा ने भूल की थी, वैसे ही तुम्हारे दादा ने भी भूल की थी। एक बार तुम्हारे बंदर दादा वृक्ष के ऊपर बैठे थे और नीचे उनकी छाया पर सिंह ने पंजा मारा, तब ऊपर बैठे तुम्हारे दादा घबरा गये कि सिंह मुझे मार डालेगा, इस डर से नीचे गिर गये। उसी प्रकार तुम भी नीचे गिरने वाले हो।

सिंह राजा की बात सुनकर बंदर ने हँस कर कहा—मैंने निर्ग्रन्थ मुनिराज से उपदेश को सुना है, जिससे मुझे जड़ शरीर और चेतन आत्मा का भेद ज्ञात हो गया है। अब छाया को अपनी मानकर प्राण गँवाने की मूर्खता मैं नहीं करूँगा। तुम छाया पर चाहे जितने पंजे मारो, फिर भी मैं तो छाया से भिन्न निर्भयता से अपने स्थान पर बैठा रहूँगा।

बंदर की बात सुनकर सिंह राजा समझ गये कि यहाँ हमारी कोई चालबाजी नहीं चलेगी, बल्कि बंदर की बुद्धिमानी के प्रति उसे बहुमान जागृत हुआ कि वाह! देह और छाया की भिन्नता के भान से इस बंदर को कैसी निर्भयता है। फिर देह और आत्मा की भिन्नता जानने से कैसी निर्भयता आयेगी।

इस प्रकार सिंह के विचारों में भी परिवर्तन हो गया। सिंह ने अपने विचार बंदर को सुनाये, तब बंदर ने कहा—राजा! तुम्हारी बात बिल्कुल सच्ची है। देह और आत्मा की भिन्नता के ज्ञान से इस सिंह से तो क्या बल्कि कालरूपी सिंह से भी डर नहीं रहता। कालरूपी सिंह अर्थात् मृत्यु आ जावे तो वह उसे पीछे धकेल देता है। अरे काका! तू यहाँ से चला जा। मेरे पास तुम्हारा जोर नहीं चलेगा, तुम्हारे पंजे हमारे ऊपर नहीं चलेंगे, क्योंकि मैं कोई देह नहीं हूँ। मैं तो अविनाशी आत्माराम हूँ, मृत्युरूपी सिंह मुझे मार नहीं सकता। हे सिंह राजा! अब

तुम्हें भी भेद—विज्ञान हो गया है, अब तुम सिंह के क्रूर भाव को छोड़ो और आत्मा के परमशान्त भाव को धारण करो। तुम्हारे ही वंश में पहले एक सिंह ने मुनिराज के उपदेश से ऐसा ही भेदविज्ञान किया था और दसवें भव में भरतक्षेत्र में अन्तिम तीर्थकर महावीर हुआ था। इसी प्रकार आदिनाथ भगवान् के जीव ने वज्रजंघ के भव में जब मुनिराज को आहारदान दिया था, तब सिंह और बंदर ने एक साथ उसकी अनुमोदना की थी, उसके बाद दोनों ने एकसाथ मुनिराज का उपदेश भी सुना था और जातिस्मरण ज्ञान पाया था। उसके बाद दूसरे भव में भोगभूमि में शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान प्राप्त करके आदिनाथ भगवान् के पुत्र हुये और मोक्ष गये।

बंदर की यह बात सुनकर सिंह बहुत खुश हुआ। उसने हिंसक—भाव छोड़ दिया और शान्त—भाव धारण करके भेदज्ञान प्रगट किया। तत्पश्चात् सिंह और बंदर एक दूसरे के साधर्मी मित्र बन गये।

इस कहानी से हमें शिक्षा मिलती है —

जिस प्रकार मूर्ख सिंह और बंदर शरीर की छाया को अपनी मानकर दुःखी हुए, वैसे ही अज्ञानी जीव शरीर को आत्मा मानकर दुःखी होता है। जैसे समझदार सिंह और बंदर ने शरीर की छाया को अपने से भिन्न जाना, तब वे दुःखी नहीं हुये। वैसे ही हम भी देह से भिन्न अपनी आत्मा का सच्चा स्वरूप जानें और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र को छोड़कर रत्नत्रय को धारण करें, तब ही यह संसार का परिभ्रमण समाप्त होगा। और हम अनन्तकाल के लिये अनन्तसुखी हो जायेंगे।

जैसे छाया पर छपट्टे मारने से सिंह को कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, वैसे ही छाया के समान बाह्य पदार्थों में राग—द्वेष करने से सुख माने और उसमें चाहे जितने झपट्टे मारे, तो भी जीव को रंचमात्र भी सुख नहीं मिल सकता। शरीर से भिन्न आत्मा को पहचान कर ही जीव सुखी हो सकता है।

जैसे कहानी का सिंह जंगल का राजा है, वैसे ही हे जीव! तू तीन लोक में महान चैतन्य राजा है। सिंह राजा ने अपने सच्चे स्वरूप को भुला दिया और छाया को सिंह मान लिया, इस कारण वह कुँए में गिरकर दुःखी हुआ। वैसे ही

चैतन्यस्वरूपी जीवराजा भी अपना स्वरूप भूलकर संसार रूपी कुँए में गिरता है।

जब यह जीव शरीर से भिन्न अपनी चैतन्य स्वरूप आत्मा का ख्याल करता है, तब रत्नत्रय को धारण कर तीन लोक का राजा, परमात्मा बन जाता है। सम्यग्दर्शन स्व-पर की यथार्थ श्रद्धा हो जाती है।

अपना क्या है? और पराया क्या है? अपनी आत्मा है और आत्मा से भिन्न जो पदार्थ हैं वे अपने नहीं हैं, जब ऐसी सच्ची श्रद्धा होती है तब उसका जीवन सुधर जाता है। अज्ञान ही दुःख का कारण है और भेद-विज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान ही उस दुःख से छूटने का उपाय है।

एक बार एक सेठ की हवेली में रंग-रोगन का कार्य चल रहा था। सायंकाल थोड़ा-सा लाल रंग बच गया। उसे लोटे में रखकर मिस्त्री ने सेठ की लड़की को दे दिया कि इसको सुरक्षित स्थान पर रख दो, सुबह हम ले लेंगे। लड़की ने वह लोटा ले जाकर सेठ जी के पलंग के नीचे रख दिया। सेठजी दुकान से देर से आये और पलंग पर जाकर सो गये। सुबह उठे और अंधेरे में पानी का लोटा समझकर रंग का लोटा लेकर शौच करने चले गये। शौच के बाद जब उठने लगे तो हाथों पर लाल रंग लगा देखकर खून समझ लिया और चिल्लाने लगे तथा असहाय होकर गिर पड़े। चार व्यक्तियों ने सेठ जी को उठाकर चारपाई पर लिटाया। वैद्य बुला लिये। इतने में कारीगरों ने आकर लड़की से रंग माँगा, तब उसे वहाँ वह लोटा नहीं मिला। लड़की ने कहा—पिता जी! आपने रंग का लोटा इस्तेमाल कर लिया, आपको कुछ नहीं हुआ, वह खून नहीं था, वह तो रंग था इतना सुनकर सेठ जी उठकर खड़े हो गये और बोले—बेटी! जल्दी मेरा टिफिन लाकर दो, मुझे दुकान जाना है, बहुत देर हो गई है। बस, यही दशा इस संसारी प्राणी की है। यह व्यर्थ ही अपने आपको भूलकर संसार में भ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है — ‘मोह महामद पियो अनादि, भूल आप को भरमत वादि।’ यदि इसे स्व-पर भेद विज्ञान हो जाये तो इसका संसार परिभ्रमण समाप्त हो जाये और दुःख दूर हो जाये। आचार्य अमृत चन्द्र स्वामी कलश 131 में लिखते हैं —

भेद विज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धाः ये किल केचन।

अस्यैवा भावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥

जो भी जीव आज तक बंधे हैं, वे सभी बिना भेदविज्ञान से बंधे हैं और जितने भी जीव आज तक छूटे हैं, वे सभी भेदविज्ञान से ही छूटे हैं।

शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है, परन्तु मोह के नशे के कारण यह संसारी प्राणी अपनी चैतन्य आत्मा को नहीं पहचानता और इस पुद्गल शरीर को ही 'मैं' मान लेता है। वह सच्चे सुख को न पहचानकर इन्द्रिय विषयों में ही सुख ढूँढ़ता रहता है और मृगमरीचिका के समान भटक-भटक कर अपनी अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त इस मनुष्यपर्याय को समाप्त कर देता है, परन्तु इसे रंचमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं होती और अन्त में यह जीव आर्तध्यान व रौद्रध्यान से मरण कर नरक-तिर्यच आदि खोटी योनियों में पहुँच जाता है। अपने स्वरूप को न समझ पाने के कारण उसका वर्तमान जीवन भी दुःखी व भविष्य का जीवन भी दुःखी रहता है। यदि सच्चा निराकुल सुख चाहिये हो, तो स्व व पर के भेद को समझो।

सम्यग्दर्शन के लिये विश्व के अन्य पदार्थों, द्रव्यों को जानना आवश्यक नहीं है, केवल पर से भिन्न अपनी आत्मा को जानना ही पर्याप्त है। यह बात निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है —

एक बार क्षत्रिय और वैश्य में लड़ाई हो गयी क्षत्रिय को वैश्य ने हरा दिया। वैश्य क्षत्रिय की छाती (सीना) पर सवार हो गया। उसी समय क्षत्रिय ने वैश्य से पूछा—“तुम कौन हो?” वैश्य ने उत्तर दिया मैं वैश्य हूँ। क्षत्रिय ने सुनते ही उसे नीचे गिरा दिया। लड़ाई से पूर्व वह यह नहीं जानता था कि यह वैश्य है। उसी प्रकार आत्मा में अनन्त शक्ति है पर जब तक इस जीव को अपना परिचय प्राप्त नहीं होता तब तक कर्म इसे संसार में भटकाते रहते हैं।

एक शेर सो रहा था। उस शेर की पूँछ पर आकर एक मक्खी बैठ गई, उस शेर के आसपास मच्छर भी मंडराने लगे, पर शेर सोया हुआ है। खरगोश के बच्चे ने देखा कि देखो मक्खियाँ और मच्छर कितने निर्भीक होकर शेर के पास घूम रहे हैं हम भी जायें और हम भी खेलें। वह खरगोश का बच्चा उछलता

हुआ शेर के पास जाकर खेलने लगता है। अब खरगोश के बच्चे को देखकर एक हिरण का बच्चा सोचता है, अरे! यह मेरे से छोटा, फिर भी शेर के पास खेल रहा है मैं भी जाकर खेलूँगा। वह भी जाकर खेलने लगता है। पर यह अवस्था कब तक सम्भव है? जब तक शेर सोया हुआ है। उसी प्रकार जब तक आत्मा अपने बोध से परान्मुख है, अपने परिचय से विमुख है, तब तक कर्म आत्मा को संसार में भटकाते रहते हैं, रुलाते रहते हैं। पर जब आत्मा अपने आप से परिचित हो जाता है, अपनी अनन्त शक्ति को पहचान लेता है, तब कर्म सब अपने-अपने रास्ते पर चले जाते हैं, अपना रास्ता नापते नजर आते हैं। अपने परिचय की महिमा जिनवाणी में सर्वत्र बतलाई गई है। सम्यग्दर्शन होने पर इस जीव को अपना परिचय प्राप्त हो जाता है कि मैं अनादिकाल से संसार में भटकने वाला जीव हूँ। भटकने का कारण क्या है? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र। मैं यदि इन से अलग हो जाता हूँ, तो मोक्ष प्राप्त करने में देर नहीं है। जितने भी सिद्ध भगवान् हुये हैं, वे भी पहले संसारी थे। ऐसा नहीं कि कोई पहले से ही सिद्ध रहा हो। कोई पहले से ही सिद्ध नहीं रहा आया। लेकिन संसारी दशा में उन्होंने अपने आपको पहचाना कि मेरा ऐसा स्वरूप है और मैं कहाँ भटक रहा हूँ। जब उनमें जागृति आ गई, तो उन्होंने जैसे हिरण है, खरगोश है, मक्खी, मच्छर आदि शेर के पास खेल रहे हैं, पर जैसे ही शेर जागता है, तो सबसे पहले वह उसे पकड़ लेता है, जिसे वह सबसे ज्यादा पकड़ने योग्य समझता है, वैसे ही जब संसारी प्राणी प्रतिबुद्ध होता है, तो वह आक्रमण करता है। किस पर? मोहनीय कर्म पर। मोक्ष मार्ग का पूरा पुरुषार्थ मोह को जीतने का है। मोहकर्म को जीतने के बाद शेष कर्म अपने आप थोड़े ही समय में क्षय हो जाते हैं।

जो अपने आप को पहचान लेता है, वह पर के प्रति निर्मोही हो जाता है। वह घर में रहते हुये भी नहीं रहता, वह जल से भिन्न कमल के समान रहता है।

एक राजा के महल के पास एक साधु रहता था। राजा एक दिन साधु के पास आया और उससे अपने महल में चलकर रहने की प्रार्थना की। साधु ने कुछ सोचकर राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। राजा ने साधु के बर्तन में

अपने—जैसा उत्तम भोजन परोसा, साधु ने भोजन कर लिया। एक बहुत सजे—६। जे कमरे में सुन्दर पलंग पर सोने के लिये कहा, साधु ने उसे भी मंजूर कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि वह राजा की तरह ही ऐशो आराम से रहने लगा। यह देखकर राजा को लगा कि ये साधु तो ऐसे ही हैं। (दूसरों के बारे में मन बहुत जल्दी खराब हो जाता है।) आखिर एक दिन राजा ने पूछ ही लिया कि अब आपमें और मुझ में क्या अन्तर है? साधु ने कहा कि बाहर चलो घूमने चलते हैं, वहीं बतायेंगे। राजा और साधु दोनों घूमने गये। जब वे शहर से काफी दूर पहुँच गये तब राजा ने कहा—महाराज! वापिस चलिये, महल बहुत दूर छूट गया है। साधु ने कहा कि राजन्। आपका तो सब—कुछ पीछे छूट गया है, परन्तु मेरा तो कुछ भी नहीं छूटा। आपमें और मुझमें यही अन्तर है। आप सबको अपना मानते हो, इसलिये आपका महल है, रानी है, सब—कुछ है। आपका सब कुछ पीछे रह गया है, इसलिये आपको वापिस जाना है। परन्तु हमारा तो पीछे कुछ भी नहीं है यह शरीर भी मेरा नहीं है, इसलिये हमें तो आगे जाना है।

सारे दुःखों का मूलकारण है शरीर में अपनापन। राग—द्वेष की उत्पत्ति का कारण है शरीर में अपनापन। जितना शरीर को अपने रूप देखोगे, उतना—उतना राग, द्वेष, मोह बढ़ेगा और जितना हम शरीर को स्वयं से अलग देखेंगे, मोह पिघलने लगेगा।

जब जीव को आत्मा और आत्मा से भिन्न वस्तु का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् मैं शरीरादि से भिन्न अखण्ड, अविनाशी, शुद्धात्मतत्त्व हूँ, ये शरीरादि मेरे नहीं हैं, न ही मैं इनका हूँ, तब उसे पर से भिन्न निज आत्मा की रुचि पैदा हो जाती है और संसार, शरीर, भोगों से अरुचि पैदा हो जाती है। और वह हमेशा आत्म सन्मुख रहने का पुरुषार्थ किया करता है। अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) का स्वरूप बताते हुये आचार्य योगीन्दु देव कहते हैं —

जो कोई आत्मा और पर को भले प्रकार पहचानता है तथा जो अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों को त्याग देता है, वही भेद विज्ञानी अन्तरात्मा है। वह अपने आप का अनुभव करता है और संसार से छूट जाता है।

शिवभूति मुनिराज को उनके गुरु ने पढ़ाया पर उन्हें कुछ भी याद नहीं

होता था। तब गुरु ने उन्हें ये 6 अक्षर पढ़ाये मारुष, मातुष। वे इन शब्दों को रटने लगे। इन शब्दों का अर्थ यह है कि रोष मत करो, तोष मत करो अर्थात् राग—द्वेष मत करो, इससे ही सर्व सिद्धि होती है। कुछ समय बाद उनको यह भी शुद्ध याद न रहा, तब तुष मास ऐसा पाठ रटने लगे। दोनों पदों के रू और मा भूल गये और तुष माष ही याद रह गया। एक दिन वे यही रटते एवं विचारते हुए कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक स्त्री उड़द की दाल धो रही थी। स्त्री से कोई व्यक्ति पूछता है “तू क्या कर रही है” स्त्री ने कहा तुष और माष को भिन्न—भिन्न कर रही हूँ। यह वार्ता सुनकर उन मुनिराज ने जाना कि यह शरीर ही तुष है और यह आत्मा माष है। दोनों भिन्न—भिन्न हैं। इस प्रकार तुष—मास भिन्न रटते हुये आत्मानुभव करने लगे। आत्मानुभव के फलस्वरूप कुछ समय बाद घातिया कर्मों को नाश कर उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। उन्हें एक समय में तीनों लोकों का ज्ञान हो गया।

आत्मा और शरीर का संबंध अनादिकाल से एक होकर भी किस प्रकार अलग है, यह परमानंद स्तोत्र में आचार्य महाराज निम्न श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं —

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।

तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये यथा शिवः॥

जैसे पत्थर में सोना रहता है, दूध में घी रहता है, तिल में तेल रहता है, उसी प्रकार शरीर में यह आत्मा रहती है।

काष्ठमध्ये यथा बह्निशक्तिरूपेण तिष्ठति।

अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः॥

जिस प्रकार लकड़ी में शक्ति रूप में अग्नि रहती है, उसी प्रकार इस शरीर में आत्मा रहती है, जो ऐसा जानता है, वह पण्डित है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।

अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः॥

जिस प्रकार जल कमल में जल से सर्वदा भिन्न रहता है उसी प्रकार आत्मा भी स्वभावतः शरीर से भिन्न रहती हुई शरीर में रहती है। पर अज्ञानी

जीव शरीर से भिन्न आत्मा को नहीं पहचानते और परपदार्थों से सुख की भीख माँगते रहते हैं।

एक राजधानी में एक फकीर भीख माँगता था। वह एक ही जगह बैठकर 30 वर्ष से भीख माँग रहा था। एक दिन वह मर गया। उसके चारों तरफ की जमीन गन्दी हो गई थी। इसलिये उसे जब लोग लेकर जाने लगे तो जहाँ वह बैठता था वहाँ चारों तरफ जमीन खोदी गयी। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। हजारों आदमी वहाँ इकट्ठे हो गये। वहाँ जमीन के नीचे धन गड़ा हुआ था। बहुत खजाने भरे हुये थे। उस भिखारी ने सब जगह हाथ फैलाया, परन्तु अपने नीचे खोदकर नहीं देखा। लोग कहने लगे कि भिखारी पागल था।

इसी प्रकार हम भी धन के पीछे दौड़ लगा रहे हैं ओर उससे सुख की इच्छा कर रहे हैं, लेकिन उसमें सुख था ही कब? जहाँ देखो वहाँ, जैसे रेस में घोड़े दौड़ते हैं और हम सोचते हैं कि मेरा घोड़ा पीछे न रह जाये, वैसे हम लोग धन के, मान के प्यासे 24 घण्टे दौड़ रहे हैं कि मैं सबसे आगे निकल जाऊँ, परन्तु अपने अन्दर झाँक कर देखो कि तीनलोक का नाथ अपना चैतन्य प्रभु अपने में ही विराजमान है। कहीं बाहर खोजने की जरूरत नहीं है। हमने अनन्त काल ये सुख — शान्ति को बाहर, में मन्दिर में, तीर्थों पर, सब जगह खोजा, परन्तु अपने अन्दर में झाँक यदि लेता, तो कहीं खोजना नहीं पड़ता, क्योंकि जहाँ था वह वहाँ हमने खोजा ही नहीं। कबीरदास जी ने लिखा है —

ज्यों तिल माहिं तेल है, ज्यों चकमक में आग।

तेरा स्वामी तुझमें, जाग सके तो जाग।।

जिन्हें आत्मा की अनुभूति हो जाती है, वे सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहते हुये भी अपने आत्मिक निराकुल सुख का पान करते रहते हैं।

एक बार अकबर बादशाह और बीरबल बैठे थे। अकबर ने कहा कि आज मैंने एक स्वप्न देखा कि आप और हम दोनों भागे जा रहे हैं। मैं एक गन्ने के रस के गड्ढे में गिर गया और आप गोबर के गड्ढे में गिर गये। बीरबल ने

कहा कि मैंने भी एक स्वप्न देखा है, जो इससे थोड़ा आगे तक है। आप तो गन्ने के रस के गड्ढे में गिर गये और मैं गोबर के गड्ढे में गिर गया। इतना तो ठीक है, परन्तु इससे आगे यह और था कि आप मुझे चाँट रहे हैं और मैं आपको चाँट रहा हूँ। अब अपनी बात है। यह आत्मा कर्म के कषाय के गड्ढे में गिरी हुई है। परन्तु यह आत्मा कर्म के फल सुख-दुख का स्वाद भी ले सकती है, अथवा अपने ज्ञान का स्वाद भी ले सकती है। गोबर के गड्ढे में पड़ा अथवा गन्ने के रस के गड्ढे में सवाल यह नहीं है। सवाल है कि स्वाद किसका लेना चाहता है? किसका ले रहा है? कर्म के मध्य पड़ा हुआ अपने चेतन स्वभाव का स्वाद ले सकता है। ज्ञान भी हमारे पास है और कर्म का फल भी हमारे पास है। स्वाद लेने वाले हम ही हैं। यदि हमें आत्मा का ज्ञान हो जाये, आत्मा की अनुभूति हो जाये, तो हम चेतन का स्वाद ले सकते हैं, जिसके आगे अन्य सारे स्वाद स्वादहीन हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन का अचिन्त्य महात्म्य है। सम्यग्दर्शन के रहने से विवेक शक्ति सदा जाग्रत रहती है। वह विपत्ति में पड़ने पर भी कभी अन्याय को न्याय नहीं समझता। रामचन्द्र जी सीता को छुड़ाने के लिये लंका गये थे। लंका के चारों ओर उनका कटक पड़ा था। हनुमान आदि ने रामचन्द्र जी को सूचना दी कि रावण जिनमंदिर में बहुरूपणी विद्या सिद्ध कर रहा है। यदि उसे यह विद्या सिद्ध हो गई, तो फिर वह अजेय हो जायेगा। आप आज्ञा दीजिये जिससे हम लोग उसकी विद्या सिद्धि में विघ्न करें। रामचन्द्रजी ने कहा—हम क्षत्रिय हैं। कोई धर्म करे और हम उसमें विघ्न डालें यह हमारा कर्तव्य नहीं है। हनुमान जी बोले कि फिर सीता दुर्लभ हो जायेगी। रामचन्द्रजी ने जोरदार शब्दों में उत्तर दिया कि हो जाये। एक सीता नहीं दस सीतायें दुर्लभ हो जायें, पर मैं अन्याय करने की आज्ञा नहीं दे सकता। रामचन्द्रजी में जो इतना विवेक था, उसका कारण क्या था? कारण था उनका सम्यग्दर्शन, विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन।

निर्दोष सीता जी को तीर्थयात्रा के बहाने कृतान्तवक्र सेनापति जंगल में छोड़ने गया। क्या उसका हृदय वैसा करना चाहता था? नहीं, वह तो स्वामी की परतंत्रता से गया था। उस वक्त कृतान्तवक्र को अपनी पराधीनता काफी खली।

जब वह निर्दोष सीता को जंगल में छोड़ अपने अपराध की क्षमा माँग वापिस आने लगा, तब सीता जी उससे कहती हैं— सेनापति! मेरा एक संदेश उनसे (राम से) कह देना कि जिस प्रकार लोकापवाद के भय से आपने मुझे त्यागा है, उस प्रकार लोकापवाद के भय से धर्म को नहीं छोड़ देना। उस निराश्रित, अपमानित स्त्री को इतना विवेक बना रहा। इसका कारण था—उनका सम्यग्दर्शन। (आजकल की स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानता के अङ्घ्रिाकार बताती।) इतना ही नहीं, सीता जब नारदजी के आयोजन द्वारा लवकुश के साथ अयोध्या आती हैं, एक वीरतापूर्ण युद्ध के बाद पिता—पुत्र का मिलाप होता है, सीता लज्जा से भरी हुई राजदरबार में पहुँचती हैं। उन्हें देखकर रामचन्द्र जी कहते हैं—आप बिना परीक्षा दिये यहाँ कैसे आई ? तुझे लज्जा नहीं आई? सीता ने विवेक और धैर्य के साथ उत्तर दिया कि मैं समझी थी कि आपका हृदय कोमल है, पर क्या कहूँ ? आप मेरी जिस प्रकार चाहें परीक्षा ले लें। रामचन्द्र जी ने उत्तेजना में आकर कह दिया कि अच्छा अग्नि में कूदकर अपनी सच्चाई की परीक्षा दो। बड़ी भारी जलती हुई अग्नि कुण्ड में कूदने के लिये सीता जी तैयार हुई। रामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहते हैं, देखो, सीता जल न जाये। लक्ष्मण ने कुछ रोषपूर्ण शब्दों में उत्तर दिया कि यह आज्ञा देते समय न सोचा? वह सती है, निर्दोष है। आज आप इसके अखण्ड शील की महिमा देखिये। उसी समय दो देव केवली भगवान् की वंदना से लौट रहे थे। उनका ध्यान सीता का उपसर्ग दूर करने की ओर गया। सीता अग्निकुण्ड में कूद पड़ी और कूदने के साथ जो अतिशय हुआ सो सब जानते हैं। सीता ने कूदते समय कहा हे अग्नि! यदि मैं अपवित्र हूँ, तो तू मुझे क्या जलायेगी, मैं तो पहले ही जल गई और यदि मैं पवित्र हूँ, तो भी तू मुझे क्या जलायेगी, तुझमें मुझे जलाने की शक्ति ही नहीं है। सीता के कूदते ही अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन गया, सिंहासन की रचना हो गई, चारों ओर सीता जी की जयजयकार होने लगी। सीता जी के चित्त में रामचन्द्र जी के कठोर शब्द सुनकर संसार से वैराग्य हो चुका था, पर 'निःशल्यो व्रती', को निःशल्य होना चाहिये। यदि बिना परीक्षा दिये मैं व्रत लेती हूँ, तो यह शल्य निरन्तर बनी रहेगी। इसलिये उन्होंने दीक्षा लेने से पहले परीक्षा देना आवश्यक

समझा। परीक्षा में वे पास हों गईं, रामचन्द्र जी उनसे कहते हैं—देवी! घर चलो। अब तक हमारा स्नेह हृदय में था, पर अब आँखों में आ गया है। सीता जी ने जवाब दिया—रामचन्द्र जी! यह घर दुःख रूप वृक्ष की जड़ है, अब मैं इसमें नहीं रहूँगी। सच्चा सुख तो इसके त्याग में ही है। रामचन्द्र जी ने बहुत मनाया और कहा कि यदि मैं अपराधी हूँ, तो लक्ष्मण की ओर देखो। यदि वह भी अपराधी है, तो अपने बच्चों लव—कुश की ओर देखो और एक बार पुनः घर में प्रवेश करो। परन्तु सीता अपनी दृढ़ता से च्युत नहीं हुईं उन्होंने उसी समय केशलोंच कर आर्यिका माता की दीक्षा ले ली और जंगल चली गईं। यह सब काम सम्यग्दर्शन का है।

परद्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा के सहज चैतन्य स्वरूप की श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन कहलाता है। आत्मा के श्रद्धान के बिना मोक्षमार्ग नहीं मिलेगा। बाहरी चीजों में पड़कर इस आत्मा का कुछ भी हित नहीं है।

सम्यक्त्वाचरण एवं विशेष

जिण्णाणदिट्ठसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।
विदियं संजमचरणं जिण्णाणसदेसियं तं पि ॥

अष्टपाहुड—(चारित्रपहुड)

जब जीव को आत्मा और आत्मा से भिन्न वस्तु का ज्ञान हो जाता है अर्थात् 'मैं शरीरादि से भिन्न अखण्ड, अविनाशी शुद्धात्मतत्त्व भगवान् आत्मा हूँ, ये शरीरादि मेरे नहीं हैं और न ही मैं इनका हूँ' तब उसे पर से भिन्न निज आत्मा की रुचि पैदा हो जाती है, और संसार, शरीर, भोगों से अरुचि पैदा हो जाती है। वह हमेशा आत्म सन्मुख रहने का पुरुषार्थ किया करता है। वह जिनदेव की कही हुई जिनवाणी माँ और दिगम्बर गुरु के उपदेश को अपने आचरण में लाकर अपनी मंजिल (सच्चे सुख) की तरफ बढ़ता जाता है। एक दिन ऐसा आता कि वह सर्व परिग्रह को त्याग, आत्मा में लीन हो, सर्वकर्मों को काटकर सदा के लिए इस दुःखद संसार से पार हो जाता है और अनन्त काल तक अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है।

अन्तरात्मा का स्वरूप बताते हुए आचार्य योगीन्दुदेव कहते हैं—

जो परियाणइ अप्पु परु जो परभाव चएइ।

सो पंडित अप्पा मुणहु सो संसाररु मुएइ ॥४॥

जो कोई आत्मा और पर को अर्थात् भिन्न पदार्थों को भले प्रकार पहचानता है तथा जो अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों को त्याग देता है, वह पंडित भेदविज्ञानी अन्तरात्मा है, वह अपने आप का अनुभव करता है, वही संसार से छूट जाता है।

आचार्य कहते हैं— शुद्ध निश्चयनय से यह भले प्रकार जान ले कि मैं आत्मद्रव्य हूँ, सिद्ध के समान हूँ, अपने ही स्वभाव में परिणमन करने वाला हूँ। रागादि भावों का कर्ता नहीं हूँ, सांसारिक सुख व दुःख का भोगने वाला नहीं हूँ। मैं केवल अपने ही शुद्ध भाव का कर्ता व शुद्ध आत्मिक आनंद का भोक्ता हूँ, मैं आठ कर्मों से शरीरादि से व अन्य सर्व आत्मादि द्रव्यों से निराला हूँ। तथा अपने गुणों से अभेद हूँ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा का ऐसा विचार करे, समझे जैसा श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुठं अणण्णयं णियदं।

अविसेसमसजुत्तं तं सुद्धणयं वियसाणीहि॥

जो कोई अपने आत्मा को पांच तरह से एक अखण्ड शुद्ध द्रव्य समझे, उसे शुद्धनय जोनो।

1. यह आत्मा अबद्ध स्पष्ट है—न तो यह कर्मों से बंधा है और न स्पर्शित है।
2. यह अनन्य है—जैसे कमल जल से निर्लेप है, वह सदा एक आत्मा ही है, कभी नारक, देव, तिर्यच नहीं है। जैसे मिट्टी अपने बने बर्तनों में मिट्टी ही रहती है।
3. नियत या निश्चल है—जैसे पवन के झकोरे के बिना समुद्र निश्चल रहता है। वैसे यह आत्मा कर्म के उदय के बिना निश्चल है।
4. यह अविशेष या सामान्य है—जैसे सुवर्ण अपने चिकने आदि गुणों से अभेद व सामान्य है। वैसे ही यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अपने ही गुणों से अभेद या सामान्य है, एक रूप है।
5. यह असंयुक्त है—जैसे पानी स्वभाव से गर्म नहीं है, ठंडा है, वैसे यह आत्मा स्वभाव से परम वीतराग है, रागी, द्वेषी, मोही नहीं है।

आचार्य योगीन्दुदेव 'योगसार' ग्रंथ में कहते हैं कि अपनी आत्मा व जिनेन्द्र प्रभु में भेद नहीं है—

सुद्धप्पा अरुजिणवरहं भउ म किंपि वियाणि।

मोक्खहं कारणे जाइया णिच्छइं एउ विजाणि॥20॥

हे योगी! अपनी शुद्धात्मा में ओर जिनेन्द्र भगवान् में कोई भी भेद मत समझो, मोक्ष का साधन निश्चय से यही है।

आगे आचार्य श्री परमात्मप्रकाश में लिखते हैं—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धहिं णिवसइ देउ।

तेहउ णिवसइ बंभु परु, देहं मं करि भेउ॥२६॥

जैसे निर्मल ज्ञानमय परमात्म देव सिद्धगति में निवास करते हैं, वैसे ही परमब्रह्म परमात्मा इस शरीर में निवास करता है, सिद्ध भगवान् तथा अपने में कुछ भेद न जान।

जिसने मोह को छोड़कर समस्त जगत से भिन्न ज्ञायक स्वभाव निज आत्मा को पहचाना, उसी ने शुद्ध स्वभाव को उपलब्ध कर मुक्ति को प्राप्त किया। जिन तीर्थकरों की हम उपासना करते हैं, उन तीर्थकरों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया। निज को निज पर को पर जानो, ऐसा ही उन्होंने जाना और फिर सबको छोड़कर रत्नत्रय की साधना की जिसके परिणाम स्वरूप वे परमात्मा बने और हम सब उनकी पूजा करते हैं।

यदि आपके मन में यह जिज्ञासा हुई है, ऐसा संकल्प किया है कि मुझे तो संसार के दुःखों से छूटना है तो इनसे छुटकारे का जो उपाय है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र उसे धारण करो और सदा अपने शुद्ध स्वरूप में रमण करो।

यदि संसार के दुःखों से बचना चाहते हो तो आत्मिक सुख को पहचानकर बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि बन जाओ, ये शरीर की अवस्थायें अमूर्त एवं चिदानन्द आत्मा को पीड़ा नहीं दे सकतीं जैसे घर में लगी हुई आग घर को जला सकती है पर घर के भीतर विद्यमान अमूर्त आकाश को नहीं जला सकती। ऐसे अनेक मुनिराज हुये जिन्होंने उपसर्गों को समता पूर्वक सहन किया और शरीर से भिन्न आत्मा का ध्यान कर मुक्ति को प्राप्त किया।

सुकुमाल स्वामी का शरीर कितना सुकुमार था, जिन्हें आसन पर पड़े हुये राई के दाने भी चुभते थे, दीपक की लौ की ओर देखने पर उनकी आँखों से पानी आ जाता था, पर जब उन्हें शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान हो गया, वे

मुनि बनकर आत्मिक सुख में लीन हो गये, तब पूर्व भव के बैर के कारण एक स्यालनी बच्चों सहित तीन दिन तक उनके पैर को खाती रही, पर उन्हें कष्ट नहीं हुआ। वे आत्म ध्यान में लीन रहकर, समता पूर्वक शरीर को त्यागकर अच्युत स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुये।

सुकौशल भी राजकुमार थे, पर उन्होंने सारे भोग—विलास छोड़कर अपने पिताजी सिद्धार्थ मुनिराज के पास जाकर मुनिदीक्षा धारण कर ली थी। दोनों मुनिराजों ने चतुर्मास में एक पर्वत पर योग धारण किया। अब चार महीने तक उठना ही नहीं है। योग समाप्त होने पर आहार के लिये पर्वत से उतरते समय दोनों मुनिराजों को एक व्याघ्री ने (जो सुकौशल की माँ थी और मरकर व्याघ्री बनी थी) देखा और झपटकर अपने ही पुत्र सुकौशल को खाने लगी, पर सुकौशल मुनिराज को जरा भी कष्ट नहीं हुआ और वे आत्मध्यान में लीन हो गये। उन्होंने समता पूर्वक अपने शरीर का त्याग किया और सर्वार्थसिद्धि में देव हो गये तथा एक भव बाद मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

गजकुमार भी अत्यन्त सुकुमार थे। वे श्री कृष्ण जी के साथ धर्मोपदेश सुनने के लिए नेमिनाथ भगवान के समवशरण में जा रहे थे। मार्ग में एक ब्राह्मण की अत्यन्त सुन्दर पुत्री को देखकर श्रीकृष्ण जी ने उसके पिता से गजकुमार के लिए उसकी मंगनी कर ली और उसे अन्तःपुर में भिजवा दिया। भगवान् का उपदेश सुनकर गजकुमार को वैराग्य हो गया। उनका वैराग्य इतना उत्कृष्ट था कि उन्होंने वहीं दीक्षा लेकर समवशरण भी छोड़ दिया और जंगल में जाकर एकान्त स्थान में ध्यानारूढ़ हो गये। जिस ब्राह्मण की कन्या का सम्बन्ध गजकुमार से हुआ था वह ब्राह्मण जंगल से लकड़ियाँ इकट्ठी करके लौट रहा था, उसकी दृष्टि जैसे ही गजकुमार मुनिराज पर पड़ी वह आग बबूला हो गया और बोला— रे दुष्ट! मेरी अत्यन्त प्रिय सुकुमारी पुत्री को विधवा बनाकर तू यहाँ साधु बन गया है। मैं अभी देखता हूँ तेरी साधुता को। ऐसा कहकर, तालाब के पास की गीली मिट्टी लाकर गजकुमार के केश लुंचित सिर पर चारों ओर पाल बाँधकर उसके भीतर धधकते हुये अंगारे भर दिये। गजकुमार का सिर बैगन के भुर्ते के सदृश खिल गया, कपालफट गया परन्तु गजकुमार मुनिराज शरीर से

भिन्न आत्मा के ध्यान में ऐसे लीन हुये कि उसी अन्तर्मुहूर्त में इतनी अल्पवय में ही मुक्ति को प्राप्त कर लिया। आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने ज्ञानार्णव ग्रंथ में लिखा है—

**अज्ञातस्वस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते।
आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरं परम्॥**

जिसने अपनी आत्मा का स्वरूप नहीं जाना वह पुरुष परमात्मा को नहीं जान सकता। इस कारण परमात्मा को जानने की इच्छा रखनेवाला पहिले अपनी आत्मा का ही निश्चय करे। ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी ने लिखा हैं—

सुखका अभिलाषी आत्मा जब अपने अनुभव से इस बात का अच्छी तरह विश्वास कर लेता है कि इंद्रिय-विषयों में राग-भाव सुखकारी नहीं, किन्तु दुःखकारी है तथा अपनी सुख-शांति की अवस्था में क्षोभ उपजाने वाला है। सच्चा सुख आत्मा का स्वभाव है, और वह आत्मा के ही विशेष गुणों में से एक गुण है। जब गुण गुणी से अलग नहीं होता, तब वह अपने उपयोग की चालको अपने शुद्ध स्वभावरूप वीतराग स्वरूप में ले जाने का बड़ी रुचि के साथ उद्यम करता है। यद्यपि अपने से भिन्न अनेक कार्य, जो कि चारों तरफ फैले हुए हैं, इस उद्यमशील आत्मा के उपयोग को स्वस्वरूप से छुड़ाकर अपनी ओर उपयुक्त होने के लिए निमित्त कारण होते हैं, तो भी परम विश्वास रूपी दृढ़ आश्रय के बल से, यह उत्साही प्राणी उनकी चाह न करता हुआ अपनी दृष्टि, अपनी श्रद्धारूपी भूमिका में ही रखता है।

जब यह आत्मा अपनी शक्ति को संभाल अपनी चैतन्यमय भूमिका में स्थिर हो जाता है तब आस्रव चोर दूर से ही शंका करते हैं और वहाँ आ नहीं सकते। संवर का झण्डा गाड़े हुए यह चित्भूष अपनी अनन्त गुणमय राजधानी का राज्य करता हुआ अपने स्वरूप में ऐसा उन्मत्त हो रहा है कि इसके चित्त से पूजक और पूज्यभाव, ध्याता और ध्येयभाव तथा ज्ञाता और ज्ञेयभाव निकल गया है। यह अपने अनन्त चतुष्टय स्वरूप और परम पारणमिक भाव का स्वतः स्वामी है, अतीन्द्रिय आनंद इसके हर एक प्रदेश का स्वत्व है, यह शुद्ध चैतन्य परिणति का ही कर्त्ता और भोक्ता है, शुद्धोपयोग की भूमिका में ही इसकी अबंध दशा है, ऐसी

गाढ़ प्रतीति सो ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पाँच अनात्म द्रव्यों से विलक्षण अपने चित् लक्षण से दीप्तमान अस्तिमय पदार्थ है, ऐसा संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है, कषाय कालिमा को मेटकरि और वीतराग भाव जमाकर अपनी ज्ञान चेतना में स्थिरता पाना सो सम्यक्चारित्र है। इन तीन स्वरूप आत्मा जब वर्तन करता है, तब आप ही निश्चय मोक्षमार्गी हो जाता है। उस समय यह आत्मा आप ही साधक होकर, अपने ही साध्य के लिए, आप ही साधन करता है, और सच्चा साधु होता हुआ तीन गुप्तिकी गुफा में बैठकर, एकाग्रता का आश्रय ले, आत्मिक ध्यान में एकतान होकर, अनुभव रस का पान करता हुआ, परमानन्द का लाभ करता है।

मोह के जाल में उलझ रहा हुआ एक पुरुष इंद्रिय विषयरूप लालच में रंजायमान होता हुआ, रागी—द्वेषी होकर नाना प्रकार अजीव रूप कार्माण वर्गणाओं से लिप्त हो, इस चतुर्गतिरूप संसार में नाट की तरह अनेक भेष धारणकर निराकुल सुख की तृष्णा में उसी तरह बारम्बार चक्कर लगाता और क्षोभित होता है, जिस तरह कि रेत के वन में हिरण अपनी प्यास बुझाने को सूर्य—किरण से चमकती हुई रेत में जल का आभास मान उसकी ओर दौड़ता है और वहां जल न पाकर आकुलित होकर दूसरी ओर फिर उसी भ्रम—बुद्धि से दौड़ता है और वहाँ से भी निराश होकर अपनी तृष्णा बुझाने के लिए भटक—भटककर महा दुःखी होता है।

निश्चय नय से तीन लोक और अलोक के धनी की ऐसी नीच दशा जिस अजीव के संग से हुई है, उस अजीव को जब यह आगम, युक्ति, गुरूपदेश और स्वसंवेदन ज्ञान से, अपने से बिलकुल भिन्न अनुभव करता है और अपनी शक्ति की महिमा में लीन होता है, तब यह अपने निर्विकार, निरंजन, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित अविनाशी, अस्तित्वादी साधारण और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र आदि विशेष गुणों से युक्त परम शुद्ध जीवत्व नाम के पारिणामिक भाव के धारी स्वरूप को निर्मल दृष्टि से देखता है। इस स्वरूप अवलोकन में जो आनंद आता है, सुख है, जिसको अनुभव करते हुए जो शांति और सुख होता है, वह वचन अगोचर है।

परम् शक्तिधारी, अनुपम, अविकारी, निजानन्द आत्मा जब शरीर और उसके विकारों की चिन्ता से निवृत्त हो जाता है और पुद्गल की संगति से होने वाले भावों का भी तिरस्कार करता है, तब पहले एक जाति के राग-द्वेष में फँस जाता है। मैं सिद्ध की जाति का धारी, निराकुल सुख का भोक्ता, परम वीतराग और शुद्ध हूँ। यह मेरी शक्ति है। इसी की प्राप्ति मेरे को उपादेय है, यह तो राग पैदा होता है और यह चार गतिमय संसार, यह द्रव्यकर्म, यह भावकर्म, यह नोकर्म, यह परिवार, यह धन-सम्पदा, यह लौकिक ऐश्वर्य यह सब आत्मा के स्वरूप से भिन्न हैं, इनका संग आत्मा की हानि करने वाला है, इस प्रकार का द्वेष पैदा होता है। स्व से प्रेम, पर से अप्रेम इस जाति के राग-द्वेष में भीगे हुए आत्मा के शनैः-शनैः स्व का प्रेम अपने शुद्ध आत्मिक अनुभव के आनंद में डूबते हुए विलय हो जाता है, तब किसी जाति का राग-द्वेष नहीं होता। इस परिणति को स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं। इसी परिणति में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों उसी तरह घुले रहते हैं जैसे एक ठंडाई में पानी, शक्कर, मसाला आदि सब घुलजाते हैं और जैसे इस ठंडाई को पीने से तीनों का ही एक साथ अभिन्न अनुभव होता है। ऐसे ही स्व संवेदन ज्ञान में अभेद नय से तीनों का ही प्रवेश है और वहाँ तीनों का एक होना ही परम विलक्षण अनुभव है— यही परिणति निश्चय से मोक्ष का मार्ग है, जो इस मार्ग में बिना जरा भी गिरे हुए अंतर्मुहूर्त डटे रहते हैं, वे तुरन्त भाव-मोक्ष का लाभकर जीवनमुक्त परमात्मा हो जाते हैं और जो पूर्ण डटे नहीं रह सकते वे इस परिणति से गिरकर फिर भी इसी की भावना करते हैं, जिसके प्रताप से वे पुनः इस स्वसंवेदन ज्ञान में आ जाते हैं।

सर्व संसार-विकल्पों से दूर ज्ञानानंदमय स्वाभाविक तत्त्व का मनन व अनुभव इस मुमुक्षु जीव को मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। अनंतगुण पर्यायों का समूह चेतनता लक्षणधारी स्व-तत्त्व में विलास आत्मिक अतीन्द्रिय आल्हाद के लाभ बिना संसार विकल्पजनित चिन्ताओं से इस प्राणी का बचाव नहीं होता। मैं निश्चय से अष्टकर्म रहित रागद्वेष मोह की कालिमा से वर्जित शरीरादि सम्बन्ध । बिना स्फटिकमणि के समान पूर्ण निर्मल एक शुद्ध गुण पर्यायमय आत्म पदार्थ

हूँ। मेरी सत्ता मेरे ही में है। मेरी परिणति का मैं ही स्वामी हूँ। सूर्य जैसे अंधकार से अन्ध होकर अपने स्वभाव को नहीं त्यागता वैसे ही मैं अपने स्वभाव को अपनी नित्य शक्ति में से कभी त्यागने वाला नहीं हूँ। यह निश्चय रखते हुए भी कि मेरे स्वभाव रूपी निज घर में रहना सर्वथा निष्कण्टक और निरंतर आनंदप्रद है, वह जीव अपने स्वभाव से बाहर—बाहर रहता है। यही इसका अपराध और दुःख का हेतु है। सुख का अर्थी इसीलिए स्वभाव—धाम में ही विश्राम करके परम अभिराम निज—ग्राम से उत्पन्न अनुपम आनन्द—धान्य पर संतोष करता हुआ और निज अनुभूति तिया से एकमत हो कल्लोल करता हुआ जिस शांति और वीतरागता का लाभ करता है, उसका मनन भवसुखपिपासु जीव को कदापि नहीं होता। वह अपराधी होकर कर्म बांधता है, जब कि स्व—स्वभाव में लीन आत्मा निरपराधी रहकर सदा निर्भार ओर निःशंक पद में अचल तिष्ठता हैं उसकी यह स्थिति परमपद प्रगटता का एक असाधारण साधन है।

कर्म फंदों से अतीत आत्मा जब अपनी अटल संपदा को अपने शांत सुखदायी भण्डार में एकत्रित देखता है तो महा आनंद में फूला नहीं समाता है। एक प्रकार की उन्मत्तता उस पर आ जाती है, जिसकी बेहोशी उससे तीन जगत को भुलवा देती है। वह तृप्त हुए सिंह के समान निर्भय हो अपनी त्रिगुप्तिमय वीतराग विज्ञानमयी गुफा के भीतर विश्राम करता है। मानों उसका सब संबंध सबसे छूट ही गया है। उसकी इस निश्चल दशा में भीतरी निद्रा नहीं है। वहाँ तो एक अद्भुत तरंगों का समुद्र लहलहा रहा है। अनंत गुणों की परिणतियाँ होती ही रहती हैं। इनके होते हुए भी इस अनुभवी को एकाकार स्वरस का ही स्वाद आता है। यह तो अपने को निर्विकल्प ही समझता है। वहाँ अपने को निर्विकल्प समझता है, या सविकल्प यह बात भी कौन कह सकता है? वहा तो ऐसी एकाग्रता व तन्मयता है कि प्रमाण, नय, निक्षेप आदि सब मारे भय के कांपते हैं, उसके स्पर्श करने का भी साहस नहीं कर सकते।

शुद्धोपयोगी मुनिराजों (उत्कृष्ट अन्तरात्मा) को जो आत्मिक सुख होता है उसकी साधारण संसारी जीव कल्पना भी नहीं कर सकते। यह सुख विषयातीत है। विषय भोगी व्यक्ति अपने विषय सुख से तुलना करने जायें और मुनिराजों के

सुख की भाँप भी कर सकें यह हो ही नहीं सकता। एक बार भील लोगों में आपस में चर्चा हुई कि चक्रवर्ती को कितना सुख होगा। तो एक भील बोला अरे उनके सुख का क्या कहना, उनका सुख तो इतना होगा कि वे तो हमेशा गुड़-ही-गुड़ खाते होंगे। जिसने कभी गुड़ से अच्छा पदार्थ देखा ही न हो वह इससे अधिक सुख की क्या कल्पना कर सकता है।

आत्मा के ध्यान में लीन मुनिराजों को जो आत्मिक सुख होता है, उसकी विषय सुख से तुलना करना सम्भव ही नहीं है। समस्त देवेन्द्रों, नागेन्द्रों, भवनेन्द्रों, नरेन्द्रों आदि को जो सुख होता है, उस सबको मिला लिया जाये, उससे भी अनन्त गुणा सुख आत्मध्यान में लीन मुनिराजों को होता है। वेसे यह हिसाब भी उस परमार्थ सुख को छू भी नहीं सकता। उनका सुख तो उनकी ही तरह होता है उसे अन्य कोई उपमा नहीं दी जा सकती। महाराजों के सुख का वर्णन करते-करते जब थक जाते हैं तो अन्त में यही कहना पड़ता है कि महाराजों का सुख तो महाराजों के समान ही होता है। आत्मिक सुख, निराकुल सुख ही सच्चा सुख है। आत्मध्यान में लीन मुनिराजों को बाहर क्या हो रहा है, इसका कुछ भी पता नहीं रहता।

एक बार एक मुनिराज किसी जंगल में ध्यान मग्न खड़े थे। एक ग्वाला उनके पास आया और कहने लगा कि आप मेरे पशुओं को देखते रहना, मैं थोड़ी देर में नहा धोकर, खाना खाकर आ रहा हूँ। मुनिराज ध्यान में मग्न थे, उन्होंने न कुछ सुना ओर न कुछ कहा। ग्वाले ने समझा कि मौन ही इनकी स्वीकृति है। ग्वाला कहता है ठीक है, आपका मौन होगा, कोई बात नहीं, मैं समझ गया हूँ, मैं जा रहा हूँ, जरा ध्यान रखना, यह कहकर चला जाता है। वह जब लौटकर आता है तो वहाँ एक भी पशु नहीं पाता। सब इधर-उधर हो जाते हैं। इस पर वह मुनिराज पर बहुत नाराज होता है। कहता है — कहाँ गये मेरे पशु, तुम यहाँ पर खड़े-खड़े उन्हें रोक लेते तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता ? महाराज मौन खड़े हैं, नासाग्र दृष्टि है। ग्वाला पुनः कहता है — तुम मुख से कुछ बोलते क्यों नहीं हो ? फिर कहता है — क्या तुम बहरे हो, ग्वाला कुछ उत्तर नहीं पाता। सोचता है, शायद ये बहरे हैं। व्यर्थ ही इनके पास अपना समय खराब करना है, शायद

पागल हों। मात्र नीची दृष्टि किये खड़े हैं। पुनः ग्वाला उनको कुछ हिलाता डुलाता है किन्तु महाराज के होंठ नहीं खुलते, उनका ध्यान भंग नहीं होता। अन्त में निराश होकर ग्वाला जंगल में अपने पशु खाजने चला जाता है। शाम तक जंगल में भटकता है। लौटकर वह देखता है कि सारे पशु महाराज के पास खड़े हैं। वह कहता है— “अरे यह साधु तो बड़ा चाल बाज है, धोखेबाज है, बहुत होशियार है, मेरे पशुओं को इसने कहीं छिपा रखा था, अब भागने की तैयारी कर रहा है। मुझे दूर से देख कर फिर से मौन लेकर खड़ा हो गया है। रात में पशुओं को लेकर जरूर भाग जाता।” ग्वाला अब क्रोध में आ जाता है और जोर से चिल्लाकर कहता है— मैं देखता हूँ तुम्हारा बहरा—गूंगापन और वह उन्हें लकड़ी से मारना शुरू कर देता है। जंगल का देवता यह देखकर घबरा जाता है, क्योंकि वन देवता को मालूम है कि ये वीतरागी संत हैं, ऐसा देव पुरुष मुश्किल से ही देखने को मिलता है। वन देवता पास आता है और मुनि महाराज से आज्ञा माँगता है— कि आप हमें आज्ञा दीजिये जिससे हम इस ग्वाले को इसकी करनी का सबक सिखा दें। किन्तु ध्यान मग्न महाराज तो आत्मा के रस में डूबे थे। उन्हें बाह्य जगत से कुछ लेना देना नहीं था। वे अपनी आत्मा में स्थिर थे। अतः उन्होंने न ग्वाले की आवाज सुनी और न ही शरीर पर हुये हमले का अनुभव किया।

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है समसत् पर द्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा की श्रद्धा करना है, जिसे सच्चे देव—शास्त्र—गुरु का आलम्बन लेकर सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा यह जीव प्राप्त कर सकता है। शास्त्रों में सम्यग्दर्शन होने से पूर्व पाँच लब्धियों का होना कहा है। उन पाँच लब्धियों के नाम हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण।

1. क्षयोपशम लब्धि:—

जिसके होने पर तत्त्व विचार हो सके ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हो अर्थात् उदयकालको प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय का अभाव सो क्षय तथा आनागतकाल में उदय आने योग्य उन्हीं का सत्तरूप रहना सो

उपशम—ऐसी देशघाती स्पर्द्धकों के उदय सहित कर्मों की अवस्था उसका नाम क्षयोपशम है; उसकी प्राप्ति सो क्षयोपशमलब्धि है।

अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहे इस आज्ञानी जीव को न तो अपने स्वरूप की खबर है, न सच्चे देव—शास्त्र—गुरु के स्वरूप की पहचान है और न ही उनकी पूजा—भक्ति करने के प्रयोजन का विचार है। सबसे पहले तो इस जीव की दृष्टि अपने प्रयोजन को ठीक करने पर होनी चाहिये कि मैं अपनी कषाय के कारण दुःखी हूँ, वह कषाय तत्त्व विचार करने से मिटेगी और वह तत्त्व विचार सच्चे देव—शास्त्र—गुरु के माध्यम से मुझे करना है। सच्चे देव—शास्त्र—गुरु का निमित्त बड़े भाग्य से ही कदाचित् किसी जीव को मिलता है। उसके मिलने के बाद भी आत्मदर्शन का पुरुषार्थ करके आत्म—अनुभव कर लेना बड़े साहस का काम है, क्योंकि उसके लिये तीव्र रुचि चाहिये।

2. विशुद्ध लब्धि:—

मोह का मन्द उदय होने से मन्दकषायरूप भाव हों कि जहाँ तत्त्वविचार हो सके, उसे विशुद्ध लब्धि कहते हैं। जब इस जीव में अपनी शक्ति का उपयोग करने की सद्बुद्धि जाग्रत हो, कषायों की मंदता हो, परिणामों में विशुद्धि आये, संसार में आकुलता भासित हो। तब यह स्व की खोज के लिये तत्त्व विचार करता है।

3. देशना लब्धि:—

जिनदेव के उपदिष्ट तत्त्व का धारण हो, विचार हो, सो देशना लब्धि है। जहाँ नकरादि में उपदेश का निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कार से होती है। गुरु आदि के द्वारा देशना प्राप्त होने पर जब परिणामों में विशुद्धता आती है, तब यह जीव विचार करता है कि अहो! अनादिकाल से इस शरीर को अपना मानकर मैं संसार में दुःखों का ही पात्र बनता रहा हूँ। जन्म के समय मैं इसे अपने साथ लाया नहीं था और मरण के समय भी यह यहीं पड़ा रहा जायेगा। अतः ऐसा लगता है कि मैं इस रूप नहीं हूँ। यह जड़ मुझसे कोई पृथक् ही पदार्थ है, जबकि मैं चेतन—जाति का हूँ। आज तक शरीर के साथ एकपने की भावना भाई, जिससे राग—द्वेष उत्पन्न हुआ, जीव दुःखी हुआ, इसका संसार बना। अब शरीर से भिन्न

आत्मा की भावना इस प्रकार भाना कि मैं शरीर से भिन्न मात्र ज्ञान—दर्शनमयी चैतन्य स्वरूपी आत्मा हूँ— यह भावना मजबूत बने। शरीर को अपने—रूप मानने से संसार बढ़ा। अब शरीर से भिन्न अपने स्वभाव की भावना भाने से ही मिटेगा। आचार्य समझते हैं—अत्यन्त कठिनाई से यह मौका तेरे हाथ आया है, किसी प्रकार से भी—मर कर भी उस परम तत्त्व की प्राप्ति कर ले। यदि अगले जन्म पर छोड़गा तो फिर से अनन्त जन्म लेने पड़ेंगे।

4. प्रायोग्य लब्धि:—

किसी ज्ञानी की दिव्य—देशना को सुनकर इस जीव को समझ में आये कि आज तक मैंने बड़ी भूल की हुई थी कि संसार—शरीर—भोगों की तरफ मुँह किया हुआ था और भगवान् आत्मा की ओर पीठ की हुई थी। फिर तत्त्व—संबंधी रुचि में तीव्रता लाये, कषायों में मंदता हो तथा कामों की पूर्वसत्ता अंतः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बन्ध अंतः कोड़ाकोड़ी प्रमाण उसके संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धिकाल से लगाकर क्रमशः घटता जाये और कितनी ही पापप्रकृतियों का बन्ध क्रमशः मिटता जाये—इत्यादि योग्य अवस्था का होना सो प्रायोग्यलब्धि है।

सो ये चारों लब्धियाँ भव्य या अभव्य दोनों के होती हैं। इन चार लब्धियों के होने के बाद सम्यग्दर्शन हो तो हो, न हो तो नहीं भी हो— ऐसा “लब्धसार” ग्रंथ (गाथा 3) में कहा है। इसलिये उस तत्त्व विचार वाले को सम्यग्दर्शन का नियम नहीं है। जैसे किसी को हित की शिक्षा दी, उसे जानकर वह विचारे कि यह जो शिक्षा दी सो कैसे है? पश्चात् विचार करने पर उसको ‘ऐसे ही है’— ऐसी उस शिक्षा की प्रतीति हो जाये; अथवा अन्यथा विचार हो या अन्य विचार में लगाकर उस शिक्षा का निर्धार न करे, तो प्रतीति नहीं भी हो; उसी प्रकार श्रीगुरु ने तत्त्वोपदेश दिया, उसे जानकर विचार करे कि यह उपदेश दिया सो किस प्रकार है? पश्चात् विचार करने पर उसको ‘ऐस ही है’—ऐसी प्रतीति हो जाये; अथवा अन्यथा विचार हो या अन्य विचार में लगाकर उस उपदेश का निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी हो। सो मूलकारण मिथ्यात्वकर्म है; उसका उदय मिटे तो प्रतीति हो जाये, न मिटे तो नहीं हो;— ऐसा नियम है। उसका उद्यम तो तत्त्वविचार करना

मात्र ही है। इन चारों लब्धियों के साथ जब भव्य जीव को पाँचवीं करण लब्धि भी हो जाती है तब सम्यग्दर्शन होता है।

5. करण लब्धि:—

करण भावों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले भावों की प्राप्ति को करण लब्धि कहते हैं। करण लब्धि होने पर सम्यग्दर्शन हो ही हो — ऐसा नियम है। सो जिसके पहले कही हुई चार लब्धियाँ तो हुई हों और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यग्दर्शन होना हो उसी जीव के करण लब्धि होती है।

सो इस करणलब्धि वाले के बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि उस तत्त्व विचार में उपायोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय—समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे किसी के शिक्षा का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसकी प्रतीति हो जायेगी; उसी प्रकार तत्त्वोपदेश का विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसका श्रद्धान हो जायेगा तथा इन परिणामों का तारतम्य केवल ज्ञान द्वारा देखा, उसका निरूपण करणानुयोग के ग्रंथों में किया गया है। इस करणलब्धि में उत्तरोत्तर विशुद्धि की वृद्धि को लिये हुए तीन प्रकार के परिणाम साधक जीव के होते हैं— अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

1. अधःकरण :—

जब आत्मा के परिणामों की विशुद्धता क्रम से तथा अक्रम से बढ़ती है। यानी किसी करण—लब्धि वाले जीव के परिणाम पहले ही समय में अन्य करण—लब्धि वाले जीव के दूसरे, तीसरे आदि समयों के परिणामों के समान भी हो सकें। अर्थात् विभिन्न जीवों के पूर्ववर्ती, उत्तरवर्ती परिणामों में समानता भी आ सके, उन परिणामों को 'अधःकरण' कहते हैं। अधःकरण का समय अनर्तुहूर्त है।

2. अपूर्वकरण :—

प्रत्येक जीव के परिणाम प्रतिसमय अपूर्व—अपूर्व होते हैं। अर्थात् पहले जैसे कभी न हुये हों, ऐसी विशुद्धता प्रतिसमय अनन्तगुणी बढ़ती जाती है। इसका समय अधःकरण से कम अन्तर्मुहूर्त होता है।

3. अनिवृत्तिकरण :—

जहाँ प्रतिसमय के निश्चित विशुद्धि रूप परिणाम होते हैं, अनेक व्यक्तियों के भी परिणाम एक दो आदि समय में एक समान होते हैं, उनमें कुछ अन्तर नहीं होता, उन परिणामों का नाम 'अनिवृत्तिकरण' है। इसका समय भी अन्तर्मुहूर्त है परन्तु अपूर्वकरण से भी कम है।

इन तीनों करणों के द्वारा कर्मों का बल क्षीण होता जाता है, इनका अनुभाग, स्थिति घटती जाती है, बहुत भारी निर्जरा होती जाती है और आत्मा का बल बढ़ता जाता है, आत्मा के गुणों का विकास होता जाता है। अनिवृत्तिकरण के काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्म के निषेकों का अंतर्मुहूर्त के लिये अभाव होता है, इसे अंतकरण कहते हैं। अंतकरण के पीछे उपशम करण होता है। अर्थात् अंतकरण के द्वारा अभाव रूप किये हुये निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय में अपने वाले थे उन्हें उदीरणा के आयोग्य किया जाता है। साथ ही अनंतानुबंधी कषायों का भी उपशम होता है। इस तरह उदय योग्य प्रकृतियों का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड (मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति) करता है। राजवार्तिक ग्रंथ के अनुसार अनिवृत्तिकरण के चरम समय में तीन खण्ड करता है।

करण लब्धि के होने पर मोह दूर हो जाता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सभी को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ अवश्य ही करना चाहिये। आचार्य पूज्यवाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' ग्रंथ में लिखा है—जगत मे रूलाने वाला एक मात्र मोह ही है, क्योंकि यह स्व—पर का भेदविज्ञान नहीं होने देता।

मोहेन संवृतज्ञानं स्वभावं लभते न हि।

जिसका ज्ञान मोह से ढँका होता है, वह मोह स्वभाव को प्राप्त नहीं होने देता। स्वभाव को चाहते हो, तो मोह को हटाइये। जैसे मद को उत्पन्न करने वाले कोदों को खानेवाला व्यक्ति हेय—उपादेय को भूल जाता है, ऐसे ही मोही प्राणी भी हेय—उपादेय को भूल जाता है, आपा—पर का भेदविज्ञान नहीं होता। वे सम्यग्दृष्टि मुनिराज ही धन्य हैं जिन्होंने इस मोह को नष्ट कर दिया।

एक बालक ने दीक्षा ले ली ओर जंगल में साधनारत हो गया। वह घड़ी भी आ गई जब उस बालक की माँ अपनी कुँआरी कन्या को लिए, उसकी गोद भरने को जा रही थी। कोई शुभ काम करने जा रहा हो और उसे मुनिराज दिख जायें, तो उसका हृदय गद्गद हो जाता है। अरे! यह तो मेरा ही बेटा है, और माँ गद्गद हो गई। माँ वन्दना करके कहती है— 'बेटे! ये तरी बहिन बड़ी हो गई है, इसे देख लो, मैं इसकी शादी करने जा रही हूँ। हे पुत्र! ये तो बताओ इस जंगल में लुटेरे तो नहीं हैं? पर माँ के आने से पहले डाकू वहीं से निकले थे। डाकूओं ने कहा कि भगा दो इसे, परंतु सरदार ने कहा कि 'ये ऋतु के देवता हैं। हिमालय हिल जायेगा, पर ये दिगम्बर तपोधन नहीं हिलेंगे। इनको शत्रु या मित्र से कोई प्रयोजन नहीं है। ये हमारे कार्य में विघ्न कभी नहीं कर सकते हैं। इनकी पूजा करो। देखो आज अपन वंदना करके जा रहे हैं, आज अच्छा ही मिलेगा। महाराज ने माँ से कुछ नहीं कहा, पलक उठाकर देखा भी नहीं। वे कुछ दूर चलीं ही थीं कि लुटेरों ने घेर लिया, माँ—बहिन दोनों को पकड़ लिया, सम्पूर्ण जेवरात छीन लिये। सरदार प्रसन्न होकर कहता है—'देखो, प्रातः हमने कहा था न कि दिगम्बर तपोधन किसी से राग—द्वेष नहीं करते।' सरदार ने जो बोला वह माँ ने सुन लिया। माँ ने पूछा— क्या कह रहे हो? 'माँ आपको रास्ते में दिगम्बर साधु मिले होंगे?' हाँ, मिले थे। 'मैंने मित्रों से कहा था कि इनके दर्शन से हमें लाभ मिलेगा। आज देखो मिल गया।' माँ ने सुना तो कहा—'उसको मालूम था कि आप यहाँ हो। आप अपनी कटार दे दो।' सरदार घबरा गया। उसने पूछा— आप कटार क्यों माँग रही हो? 'मैं इस कटार से अपनी गन्दी कोख को काटना चाहती हूँ।' क्यों? 'जिस बेटे को हमने नौ महीने पेट में रखा हो और जिससे मैंने पूछा भी था कि जंगल में कोई डाकू तो नहीं है, वह अपनी बहिन व माँ की भी रक्षा नहीं कर सका, ऐसी कोख को मैं चीरना चाहती हूँ। सरदार ने कहा—माँ! क्या वह आपके बेटे हैं। 'हाँ, वह मेरा बेटा है।' सरदार तुरंत जमीन पर गिर पड़ता है, पैर से लिपट जाता है। 'हे माँ! इस कोख को अपवित्र मत कहो। इस कोख ने ऐसे निर्मोही को जन्म दिया है, जिसे

माँ—बहिन का राग भी हिला नहीं सका। इनसे बड़ा जगत् में कोई महा साधु हो सकता। हे माँ! यह लो अपना धन और लो मेरे द्वारा और धन, और मैं स्वयं आपको जंगल से पार कराने चलता हूँ, लेकिन ऐसे योगी की माँ बनकर अपनी कोख को अपवित्र मत कहिए। संसार में ऐसी कोख हो ही नहीं सकती।

यह मोह ही है जो हमें अपने आत्म स्वरूप का बोध नहीं होने देता। अतः जगत् में कोई पाप छूटे या न छूटे, पर मोह छूट जाये। आप स्वयं पर दया करके सम्यग्दर्शन के सोपानों एवं पाँच लब्धियों को अपने जीवन में उतारकर मोह को छोड़ने का प्रयास करो। मोह कर्म ऐसा होता है, जैसे फौज का कमांडर। अगर कमांडर मारा जाए तो फौज ठहर नहीं सकती। उसी प्रकार अगर मोहकर्म को जीत लिया जाए, तो शेष कर्म ठहर नहीं सकते। दर्शनमोह एवं अनन्तानुबन्धी कषायों के उपशम होने पर उपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन — मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माय, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आनेवाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय आनेवाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृति का उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहने से चल, मल, अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं।

चल दोष— अपने द्वारा स्थापित कराई गई अरहंत भगवान् की प्रतिमा में 'यह मेरे भगवान् हैं,' अन्य के द्वारा स्थापित करने पर 'यह दूसरे के भगवान् हैं।' इस प्रकार भगवान् का भेद करना चल दोष है।

मल दोष— शुद्ध स्वर्ण मल से मलिन होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से शंकादि दोषों द्वारा मलिन हो जाता है।

अगाढ़ दोष — सभी अरहंत भगवान् में समान शक्ति होते हुये भी शान्तिनाथ भगवान् शान्ति के कर्त्ता हैं, पार्श्वनाथ भगवान् विघ्नों का नाश करने

वाले हैं। इस प्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि का श्रद्धान शिथिल होने के कारण आगाढ़ दोष से युक्त है।

छह सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है, तब इसे क्षयोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है, तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वेदक सम्यग्दर्शन चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन — मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।

दंसणमोहक्खवणा पट्ठवगो, कम्मभूमिजादो हु।

मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो, होदि सव्वत्थ।।64।।

— गोम्टरसार (पी.का.)

दर्शनमोहनीय की क्षपणा का आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में। (स्वयं श्रुतकेवली हो जाने पर फिर केवली या श्रुतकेवली के सन्निधान की आवश्यकता नहीं रहती) परन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियों में हो सकता है।

यह सम्यग्दर्शन वेदक सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है तथा चौथे से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में हो सकता है। यह सादि-अनन्त है। होकर कभी छूटता नहीं है, जबकि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात बार होकर छूट सकते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि या तो उसी भव में मोक्ष चला जाता है या दूसरे, तीसरे, चौथे भव में। वह इससे अधिक संसार में नहीं रहता।

जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बद्धायुष्य होने से नरक में जाता है अथवा देवगति में उत्पन्न होता है, वह वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष में जाता है। इसलिये वह तीसरे भव में मोक्ष जाता है और जो भोगभूमि में मनुष्य या तिर्यच होता है, वह वहाँ से देवगति में जाता है और वहाँ से आकर मनुष्य हो मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार चौथे भव में उसका मोक्ष जाना बनता है।

चारों गति संबंधी आयु का बंध होने पर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि का चारों गतियों में जाना संभव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्व के काल में यदि मनुष्य और तिर्यच के आयुबंध होता है, तो नियम से देवायु का ही बंध होता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरंग कारण —

कारण दो प्रकार के होते हैं— एक उपादान कारण और दूसरा निमित्तकारण। जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है, वह उपादान कारण कहलाता है और जो कार्य की सिद्धि में सहायक होता है, वह निमित्त कारण कहलाता है। अंतरंग और बहिरंग के भेद से निमित्त के दो भेद हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपादानकारण आसन्नभव्यता आदि विशेषताओं से युक्त आत्मा है। कहा भी है:—

आसन्नभव्यता कर्महानि संज्ञित्व शुद्धि भाक्।

देशनाद्यस्तमिथ्यात्वोजीः सम्यक्वमश्नुते ॥ सा.ध. ॥

अंतरंग निमित्तकारण सम्यक्त्व की प्रतिबंधक सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है और बहिरंग निमित्तकारण सद्गुरु आदि हैं। अंतरंग निमित्तकारण के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है, परन्तु बहिरंग निमित्त के मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है।

सम्यग्दर्शन के बहिरंग निमित्त चारों गतियों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे— नरकगति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, तीव्रवेदना, धर्म श्रवण ये तीन; चौथे से सातवें तक जातिस्मरण, तीव्रवेदनानुभव ये दो। तिर्यच और मनुष्यों में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिंब दर्शन ये तीन। देवगति में बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवर्द्धिदर्शन ये चार। तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक देवर्द्धिदर्शन को छोड़कर तीन। और आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरंग निमित्त हैं। ग्रैवेयक के ऊपर केवल सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वहाँ बहिरंग निमित्त की आवश्यकता नहीं है।

सम्यग्दर्शन के भेद — करणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन भेद होते हैं। द्रव्यानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। यहाँ जीवाजीवादि सात तत्त्वों के विकल्प से रहित, परद्रव्यों से भिन्न आत्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं और सात तत्त्वों के श्रद्धान को तथा देव-शस्त्र-गुरु के श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। अध्यात्म में वीतराग सम्यग्दर्शन और सराग सम्यग्दर्शन के भेद से दो भेद होते हैं। यहाँ आत्मा की विशुद्धिमात्र को वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं और प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इन चार गुणों की अभिव्यक्ति को सराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज दो भेद होते हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' ग्रंथ में लिखा है—

“तन्निर्गजदधिगमाद्वा”

तत्— उस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अधिगमज और निसर्गज दो प्रकार से होती है।

अधिगमज— जो पर के उपदेश आदि से श्रद्धा जाग्रत होती है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

निसर्गज— जो पर के उपदेश आदि की अपेक्षा न रखता हुआ स्वभावतः उत्पन्न होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

“आत्मानुशासन” ग्रंथ में सम्यग्दर्शन के 10 भेद बताये गये हैं—

आज्ञा मार्ग समुद्भवमुपदेशात् सूत्र बीज संक्षेपात्।

विस्तारार्थाभ्यां, भवमवगाढ परमावगाढे च॥

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ सम्यक्त्व के भेद से सम्यग्दर्शन 10 भेद वाला है।

1. आज्ञा सम्यक्त्व — वीतराग सर्वज्ञदेव की आज्ञा रूप वचनों का श्रद्धान करना 'आज्ञा सम्यक्त्व' है।

2. मार्ग सम्यक्त्व— मोहनीय कर्म के शांत होने से परिग्रहादि रहित श्रद्धान करना 'मार्ग सम्यक्त्व' है।

3. उपदेश सम्यक्त्व— जो तीर्थकरों के उपदेश से प्रगट हुए सम्यग्ज्ञान स्वरूप जो आगम—समुद्र हैं, उनके तथा गणधर, श्रुतकेवली, आचार्य आदि के उपदेश से उत्पन्न हुये सम्यक्त्व को 'उपदेश सम्यक्त्व' कहते हैं।

4. सूत्र सम्यक्त्व— मुनियों के चरण समीप में बैठकर आचार—सूत्रों के विवरण सुनने से उन पर श्रद्धान होने से जो सम्यक्त्व होता है, उसे 'सूत्र सम्यक्त्व' कहते हैं।

5. बीज सम्यक्त्व— मोहनीय कर्म के उपशम होने से किन्ही—किन्ही को जो कठिन शास्त्रीय रहस्यों के एवं कारण बीजों के मर्म को समझाने से जो सम्यक्त्व होता है, उसे बीज सम्यक्त्व कहते हैं।

6. संक्षेप सम्यक्त्व— पदार्थों को संक्षेप से समझकर उन पर श्रद्धान करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह 'संक्षेप' सम्यक्त्व है।

7. विस्तार सम्यक्त्व— द्वादशांग वाणी को विस्तारपूर्वक सुनकर उसके समझने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह 'अवगाढ़ सम्यक्त्व' है।

8. अर्थ सम्यक्त्व— शास्त्रवचनों के बिना किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न जो सम्यक्त्व है, वह 'अर्थ सम्यक्त्व' है।

9. अवगाढ़ सम्यक्त्व— अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप श्रुतज्ञान को अवगाहन करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह 'अवगाढ़ सम्यक्त्व' है।

10. परमावगाढ़ सम्यक्त्व— केवलज्ञान उत्पन्न होने से जो सहभावी गुण की परम निर्मलता होती है, वह 'परमावगाढ़ सम्यक्त्व' है।

सम्यग्दर्शन का काल

क्र. सम्यग्दर्शन	उत्कृष्ट काल	जघन्य काल
1. औपशमिक सम्यग्दर्शन	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
2. क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन	66 सागर	अन्तर्मुहूर्त
3. क्षायिक सम्यग्दर्शन (संसार अवस्था में)	8 वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम 2 पूर्व कोटि अधिक 33 सागर	—
4. क्षायिक सम्यग्दर्शन	सादि अनन्त	—

(मुक्त जीव की अपेक्षा)

चारों गतियों में सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता का काल—

देव गति में — जन्म के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ।

नरक गति में — जन्म के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ।

तिर्य्यच गति में — वर्ष पृथक्त्व ।

मनुष्य गति में — 8 वर्ष अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ।

वास्तव में स्वानुभव ही वह मंत्र है जिसे यती, मुनि, ऋषि, अनगार निरंतर जपते हैं। वे विचार करते हैं कि मैं समस्त प्रपंचजाल को छोड़ आप ही जो कुछ हूँ सो हूँ। मैं सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, आनंदमय हूँ, अनंतगुणरूप हूँ, सर्व जीवों विकल्पव्यवहार (अंतरंग वचन व बाह्य वचन बकवास) को छोड़कर मैं आपमें निश्चल मेरुवत थिर होता हुआ स्वात्व—लक्ष्मी का स्वाद लेता हूँ।

महामोहानल में दग्ध होने वाले प्राणी चिरकाल विषयवासनाओं के दास रहते हुए अपने आपको न पाकर शांतता के मनन से कोसों दूर रहते हैं, परन्तु उन्हीं में से कोई भव्यजीव जब अपनी दृष्टि सर्व पर फन्दों से फेरकर, 'मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है?' इस प्रश्न पर जब विचारता हुआ अपनी ओर देखता है, भीतर घुसकर अपने स्वरूप को झाँकता है, तो उसे मालूम हो जाता है कि मैं तो परम शांतता और आनंद का सागर हूँ। मेरे में न अज्ञान है, न मिथ्यात्व है, न कषाय है, न कर्म है, न नोकर्म है, न मैं नारकी हूँ, न देव हूँ, न पशु हूँ, और न मनुष्य हूँ। न मैं बाल हूँ, न युवा हूँ, और न वृद्ध हूँ। मैं कैसा हूँ? इसका कुछ वर्णन नहीं हो सकता। जब यह समझ जाता है कि मैं तीनलोक का नाथ ज्ञाता—दृष्टा, अविनाशी, अखंड, अतीन्द्रिय सुख का भंडार, परमात्मा हूँ, तब उसकी अनादिकाल की अपने को तुच्छ मानने की बुद्धि विदा हो जाती है, और 'मैं अनन्त शक्तिमय हूँ' ऐसी अहंबुद्धि उमड़ आती है। पहले देहादिक व रागादिक भावों में अहंबुद्धि थी, सो निकल जाती है। स्वचैतन्य भाव की झलक में राग—द्वेष, मोह व शत्रु—मित्र का कहीं पता नहीं चलता।

अंधकार के प्रभाव में गेहूँ के साथ जौ के दाने अलग—अलग नहीं दिखते। मिश्र को ही गेहूँ समझ लेता है। परन्तु ज्ञान—प्रभात के होते ही उसे जौ और गेहूँ

भिन्न—भिन्न दिखते हैं, फिर वह स्वप्न में भी जौ को गेहूँ और गेहूँ को जौ नहीं कह सकता। इसी तरह सर्व परद्रव्य रहित केवल आत्मा को जानने वाला कभी उसे और रूप नहीं जान सकता। वह सर्व कल्पनाओं के जालों को काटकर आत्मस्वरूप में लीन रहकर परम तृप्त रहता है।

परम निरंजन आनन्दमयी आत्मा के स्वरूप में तन्मय होना ही परमसुख का बीज है। जगत भर में किसी भी अन्य स्थान में ज्ञान, शान्ति और आनन्द का दर्शन नहीं हो सकता, सिवाय इस परमधाम के। इस धाम की यात्रा करना आत्मा का सच्चा हित है। साधक आत्मतल्लीनता की दिशा में पहुँचकर सर्वक्लेश आपदाओं से बच जाता है तथा परमसुखी, संतोषी और वीतराग हो जाता है। इस आत्मलीनता की महिमा निराली है।

परम निःस्पृह ज्ञाता—दृष्टा आत्मा का आत्मा में रहना ही परम तप है। यह तप आत्मा का निजधर्म है। इस तप में संसार संबंधी न कोई व्याधि है, न आधि है। इस तप के तापसी में सदा स्वच्छ अतीन्द्रिय सुख की निर्मल धारा बहती रहती है। उसी धारा में यह तापसी कभी स्नान करता है, कभी उसी का जल पीता है। यह परम तप सर्व परद्रव्यों के संसर्ग से रहित है। यह तप ही स्वानुभव है। जैसे मंत्रों के प्रताप से विष उतर जाता है, ज्वर चला जाता है, उसी तरह इस स्वानुभवरूपी मंत्र के प्रभाव से मनुष्य का मन भी शान्त हो जाता है।

पदार्थों के संग्रह में सुख नहीं मिलता है। दुःख का उपाय करके सुख चाहें तो कैसे मिलेगा? बबूल का बीज बोकर आम का फल चाहें तो यह कैसे हो सकता है? सुख तो अन्तर से सबके त्याग से ही होगा। केवल अपने आत्माराम को अन्तरंग से जाग्रत करते रहो तो ही सत्य सुख प्राप्त होगा। भैया! जब भ्रम खत्म होता है और अपने ज्ञानप्रकाश की स्थिति आती है, तो उससे बढ़कर विभूति और कुछ नहीं हो सकती। वर्णी जी ने 'सहजानन्द गीता' में लिखा है—

दुःखमूलं स्वधीरन्ये न परऽर्थाः परे परे।

स्वच्युतिः सा च स्वस्थोऽतः स्यां स्वस्मै

स्व सुखी स्वयम्॥ 5-46॥

दुःखों का कारण अन्य पदार्थों में आत्मबुद्धि होना है। परपदार्थ कोई क्लेश के कारण नहीं हैं, किन्तु अपने आप में वस्तुस्वरूप के विपरीत ख्याल बना लें तो उससे दुःख उत्पन्न होता है। परपदार्थ तो पर ही हैं, उनसे मेरे में कोई परणिमन नहीं आता, पर हम ही परबुद्धि बनाकर जो अपना ख्याल बनाते हैं, उस ख्याल से ही क्लेश उत्पन्न होते हैं। आचार्य बार-बार समझाते हैं कि यदि दुःखों से छूटना चाहते हो तो पर को पर मान लो। मगर समझने वाला समझना ही नहीं चाहता तो वे क्या करेंगे?

एक कथानक है कि एक अपने गाँव का मुखिया था। किसी सभा में पंच लोगों की बैठक हुई। कोई बात ऐसी चल उठी, कहा कि 40 और 40 कितने होते हैं? तो वह मुखिया बोला कि 40 और 40 मिलकर 60 होते हैं। तर्क होने लगा। सभी कहें कि 40 और 40 मिलकर 80 होते हैं। उसने कहा— नहीं, 40 और 40 मिलकर 60 होते हैं। लोगों ने बहुत कहा कि 40 और 40 मिलकर 60 नहीं होते हैं। तब मुखिया ने कहा कि 40 और 40 मिलकर 80 हो जायें, तो हम अपनी सब भैंसों दे देंगे। यह बात उसकी स्त्री ने भी सुनी। जब वह घर पहुँचा, तो देखा स्त्री बड़ी उदास बैठी है। मुखिया बोला— तुम उदास क्यों हो? वह बोली— कि तुमने बोला है 40 और 40 मिलकर 60 होते हैं। यदि 40 और 40 मिलकर 60 नहीं होते हैं, तो हम अपनी सब भैंसों दे देंगे। तो अब तो ये बच्चे भूखों मरेंगे। मुखिया बोला— तू बड़ी भोली है। अरे! जब हम अपने मुख से बोल दें कि 40 और 40 मिलकर 80 होते हैं, तभी भैंसों जायेंगीं। देखें वे कैसे भैंसों ले पाते हैं।

आचार्य समझाते हुए कहते हैं— जिस सुख-शांति को तू चाहता है, वह तेरे ही पास है, तेरी ही विभूति है, तेरे ही घर में गड़ी है। यदि तू सावधान होकर खोजे, तो तुझे अवश्य मिल जावे। भेदविज्ञान रूपी कुल्हाड़ी काम में लेकर इस सम्पत्ति का स्वामी बनना चाहिये। जब शिष्य का भ्रम दूर हो जाता है और ज्यों ही वह आपको सर्व परद्रव्यों से भिन्न ज्ञाता-दृष्टा आनंदमयी अमूर्तिक परमात्मा के समान सिद्ध, शुद्ध, निरंजन, निःकषाय, निर्द्वन्द्व, निर्भय, अकेला और शान्त अनुभव करता है, तब अनादिकाल की भव-आताप की बाधा शांत हो जाती है और परमस्वाधीन

सुखानुभव का लाभ होता है। धन्य हैं वे वीतरागी मुनिराज, जो इस रस को पीकर शान्ति लाभ करते हैं और अपने जीवन को सुखिया बनाते हैं।

जगत एक नाटकशाला है। यहाँ पुद्गल और जीवों ने अपने-अपने विचित्र स्वांग बना रखे हैं, जो एक बड़ी भारी मनोहरता दिखा रहे हैं। आत्मस्वरूप को न जानने वाले जो व्यक्ति हैं, वे इन विचित्र दृश्यों में किसी में राग, किसी में द्वेष करते हैं। उनके मोहजाल में फँसकर उन्हीं के वश में हो उन्हीं को रिझाने वाली क्रिया किया करते हैं। परन्तु जो आत्मस्वरूप को जानते हैं, वे इन विचित्र दृश्यों को देखते हुये भी, जैसे चक्षु अग्नि को देखकर जलती नहीं, अमृत को देखकर संतोषित नहीं होती, ऐसे उनमें कुछ भी राग-द्वेष नहीं करते हैं। इसी से अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अटूट भंडार के स्वामी बने हुये सदा आनंदित रहते हैं। वे जानते हैं कि मैं ही ईश्वर, परमात्मा, भगवान्, केवली, जिन बुद्ध, विष्णु, शंकर, ब्रह्मा हूँ।

परम सुखदायी ज्ञानानंदी निजात्मा का दर्शन ही शिवमार्ग है। यह शिवमार्ग परमसरल, वक्रतारहित है। इस मार्ग में संकल्प-विकल्प रूप कांटे नहीं हैं। विकल्परहित अभेद रत्नत्रय की ज्योति से प्रकाशमान यह मार्ग परम शांत व सुखदायी है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है, यह व्यवहारदृष्टि से कहा जाता है, पर निश्चय से इन तीन स्वभाव रूप यह आत्मा ही है। यही सत्य पक्ष साक्षात् मोक्ष का सरल मार्ग है। मैं शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता-दृष्टा, अविनाशी, परम्ब्रह्मस्वरूप हूँ। मैं ऐसा ही हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ। यही विश्वास सम्यग्दर्शन है। मैं ऐसे ही अपने स्वरूप में रमता हूँ, “पर” में नहीं, यही प्रवृत्ति सम्यक्चारित्र है।

जो कोई आत्मा अपने स्वरूप संवेदन में उत्साहवान् है और स्वरूप प्राप्ति के लिये परम श्रद्धावान् है, वह जब कषायों की संगत में नहीं रंगता, तब कर्मबंधनों को काटने की दृढ़ भावना करता है, उसे ही वीर कहना चाहिये। ऐसा ही वीर सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा राग-द्वेषादि भावकर्मों से भिन्न श्रद्धता, जानता तथा अनुभवता है, तब श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र के बल से यह आत्मा सर्व प्रपंचजालों से रहित हो जब एक परम निर्मल आत्म-सरोवर में स्नान करता है। देखो, केवल जानने से आत्मकल्याण नहीं होता, उस पर चलने से आत्मकल्याण होता है। जो जानते हुये भी मोक्षमार्ग पर

नहीं चलता, वह संसार में ही भ्रमण करता रहता है। उसे उस जानने से कोई लाभ नहीं होता।

एक कुम्हार था। वह प्रतिदिन जंगल से गधे पर मिट्टी लादकर लाता और उससे बर्तन बनाता था। एक दिन उसे जंगल में एक चमकीला पत्थर मिला। उसने सोचा कि यह पत्थर हमारे गधे के गले में अच्छा लगेगा। उसने उस पत्थर को गधे के गले में पहना दिया। वह थोड़ा आगे बढ़ा तो उसे दो जौहरी मिले। उन्होंने देखते ही पहचान लिया कि यह तो हीरा है। एक जौहरी ने कुम्हार से कहा— यह गधे के गले में क्या है? कुम्हार बोला—मुझे जंगल में यह चमकीला पत्थर मिला था, मैंने सोचा कि यह पत्थर गधे के गले में अच्छा लगेगा, इसलिये इसे पहना दिया। जौहरी बोला— इसे बचोगे? कुम्हार बोला— हाँ, बेचूँगा, पर मैं एक रुपये से कम न लूँगा और न अधिक। जौहरी बोला— अरे! यह पत्थर तो पच्चीस पैसे में मिलता है। तुम ऐसा करो कि पचास पैसे ले लो। कुम्हार बोला— मैं एक रुपये से कम में नहीं दूँगा और आगे बढ़ गया। दूसरा जौहरी कुम्हार के पास आया और बोला— यह पत्थर कितने में बेचोगे? कुम्हार ने कहा— एक रुपये में। उस जौहरी ने तुरंत उसे एक रुपया दिया और उस चमकीले पत्थर को लेकर चला गया। वह पहला जौहरी दौड़ता हुआ आया और कुम्हार से बोला— तूने यह क्या किया? उसे एक रुपये में बेच दिया। यह तो कोहिनूर हीरा था। उसकी कीमत लाखों—करोड़ों रुपयों की थी। तू बड़ा बेवकूफ है। कुम्हार बोला— बेवकूफ मैं नहीं, अप हो। मैं तो इसकी कीमत जानता नहीं था, पर जब आप जानते थे कि इसकी कीमत लाखों—करोड़ों रुपये है, तब आपने उसे एक रुपये में क्यों नहीं लिया? इसी प्रकार जो जानते हुये भी मोक्षमार्ग पर नहीं चलता, उसे उस जानने से कोई लाभ नहीं होता। आचार्य समझाते हैं—रत्नत्रय को धारण करो और सदा चिन्तन करो— मैं शुद्ध, ज्ञाता—दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तिक, आनन्दस्वभावी, परम शांत, परम स्वरसवेदी, निश्चय सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्रमयी, एक अखण्ड चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ। इसके सिवाय अन्य कोई रूप नहीं हूँ। जो हूँ, सो ही सदा रहूँगा। मेरी गुण—सम्पत्ति का कभी वियोग नहीं हुआ और न कभी होगा। ऐसा ही अनुभवना परमार्थ मार्ग है।

जहाँ तक विचार कर देखा जाता है, परम शुद्धता इस हमारी आत्मा में ही वास कर रही है। हमको निर्मल जल के लिये कहीं अन्य स्थान में जाने की जरूरत नहीं है। हमारे ही पास शान्ति और आनन्द का समुद्र है। यद्यपि इस पर कर्म का कांदा छाया हुआ है, पर जब बुद्धिपूर्वक कर्म के कीच को दूर कर देखा जाता है, तब पता चलता है कि सुख-समुद्र तो यह स्वयं आप ही है। इस सुख-समुद्र आत्मा में किसी भी प्रकार की अशुद्धता नहीं है, किन्तु परम शुद्धता है। जब कोई परमयोगी इस परम शुद्धता का दर्शन करते हैं, उस ही में तन्मय हो जाते हैं, तब उनको एक आश्चर्यकारी परमानन्द का लाभ होता है।

इस जगत में यदि कोई शान्त भाव को ढूँढना चाहे, तो उसको अपने आप में जाना चाहिये। अपने में ही अपने आत्मप्रभु को देखना चाहिए। यह आत्मप्रभु परम शान्त गुणवाला है। उसमें रागादि विकार का कहीं रंच भी दर्शन नहीं होता है। जगत में आत्मनिधि के बराबर कोई निधि नहीं है। निज तत्त्व जो आत्मा का अनन्त गुणमयी अखंड स्वरूप है, वह यथार्थ में अनुभवगोचर है— उसके लिये समझने-समझाने की चेष्टा करना उन्मत्त चेष्टा मात्र है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी “समाधिशतक” में कहते हैं—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये।

उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥ 19॥

स्वतत्त्व तो स्वतत्त्व में है। जो परतत्त्व से परान्मुख हो कर स्वतत्त्व में स्वयं सन्मुख होता है, वह स्वतत्त्व का अनुभव पाता है। उस स्वानुभव में परद्रव्य के गुण-पर्यायों का व अपने ही गणु-पर्यायों का भेदरूप दर्शन नहीं होता कि ‘ऐसा हूँ, ऐसा नहीं’, यह कल्पना नहीं रहती। स्वरूपासक्तता में क्या झलकता है? सो वही जाने जिसके स्वरूप झलके। एक आम्रफल के स्वाद के अनुभव का यथार्थ कथन जब अशक्य है, तब आत्मा के आनन्द वेदन का कथन कैसे हो सकता है, क्योंकि वह तो अनुभवगोचर है?

जब योगी नेत्र बन्द कर मन-वचन-काय की समस्त क्रियाओं को रोककर अपनी आत्मा का स्वयं अवलोकन करते हैं, तब उन्हें अपने आप ही आत्मा की सिद्धि हो जाती है। आत्मा का ध्यान करने से स्व-स्वभाव जाग्रत हो जाता है।

उस आत्मस्वभाव के जाग्रत होने पर अभ्यास से आत्मबल बढ़ने लगता है। जो भव्यजीव आत्मज्ञान प्राप्त कर उसका अनुभव करते हैं, वे निश्चय ही ज्ञानमात्र आत्मिक भूमि का आश्रय ले, मोह को दूर कर, स्वयंसिद्ध हो जाते हैं। रत्नत्रय प्रगट करने का परम साधन यही है। रत्नत्रय स्वरूप ही मेरा स्वभाव है।

बीज में अंकुरोत्पादन शक्ति विद्यमान है। जब वह बीज गीली मिट्टी का संसर्ग पाता है, तब अंकुरित होकर एक विशाल वृक्ष बन जाता है। ठीक इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान की सामर्थ्य से सम्पन्न यह आत्मा इस शरीर में विद्यमान है। अन्तरंग ध्यान के बिना वह प्रकाशमान नहीं होने पाती। वही आत्मा ध्यान के बल से केवलज्ञान के प्रगट होने पर त्रैकालिक समस्त चराचर पदार्थों को एकसमय मात्र में देख व जान लेती है। जिस प्रकार चतुर स्वर्णकार अशुद्ध स्वर्ण को सुहागादि मसाले सहित प्रचण्ड अग्नि में तपाकर किट्ट कालिमा रहित शुद्ध स्वर्ण बना लेता है, उसी प्रकार योगीन्द्र शरीररूपी साँचे में स्थित मलिन आत्मारूपी स्वर्ण को रत्नत्रयरूपी सुहागादि रख प्रचण्ड ध्यानाग्नि से तपाकर परमोज्ज्वल/शुद्ध कर लेते हैं। 'सामायिक पाठ' में लिखा है—

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शन लक्षणः।

एषाः बहिर्भवा भावा, सर्वे संयोग लक्षणः।।

ज्ञान—दर्शन लक्षणवाला एक शाश्वत्, चिदानन्द, निर्विकार आत्मा मेरा है, शेष बाह्य भाव सब संयोगी लक्षण वाले पराये हैं। जिसे निज स्वरूप मिल गया, वह अनन्तसुखी है। निज स्वरूप प्राप्त होता है अपने आपके लक्ष्य से।

एक बार की बात है जब पांडव व कौरव आश्रम में पढ़ते थे। उनके गुरुजी एक दिन उन सबको लेकर जंगल में धनुर्विद्या सिखाने के लिये ले गये। गुरुजी ने उन लोगों से कहा कि देखो! मैंने वृक्ष पर एक लाल मिर्च को बांधा है। तुम सभी को उस पर निशाना लगाना है। सभी शिष्य धनुष—बाण लेकर निशाना लगाने के लिये तैयार हो गये। किन्तु उन्हें मिर्च दिखाई नहीं दे रही थी। गुरुजी ने पूछा कि तुम्हें क्या दिख रहा है? तो सभी ने कहा पत्तियाँ आदि नजर आ रही हैं। उसी समय गुरुजी ने अर्जुन से पूछा— अर्जुन! तुम्हें वृक्ष दिख रहा है? तो अर्जुन ने कहा— “नहीं।” डाल दिख रही है? तो वह बोला— “नहीं।” पत्ते दिख रहे हैं? तो

वह बोला— “नहीं।” तो फिर तुम्हें क्या दिख रहा है? वह बोला— “गुरुजी! मुझे केवल लाल मिर्च दिख रही है”। इसी प्रकार हमें भी सभी बाह्य पदार्थों से दृष्टि हटाकर केवल एक आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि रखना चाहिये।

यदि यह आत्मा राग—द्वेष, मोह को त्याग कर अपनी ओर देखे—जाने, तो अनुपम आनन्द का अनुभव हो। इस आत्मा में अनन्त शक्ति है। अपनी सामर्थ्य को प्रकट करने भर का विलम्ब है। यह आत्मतत्त्व आत्मनिरीक्षण से किट्ट कालिमा रहित, शुद्ध स्वर्ण सदृश, एकमात्र शुद्ध प्रतीत होता है। न उसका एक परमाणु मात्र अन्य द्रव्य में तथा न अन्य द्रव्य का एक परमाणु मात्र आत्मद्रव्य में मिला है, ऐसा चिन्मय, क्षेमंकर, आनन्दघन आत्मा है। जिस प्रकार वन में दो बांसों के परस्पर घर्षण से अग्नि उत्पन्न होकर समस्त वन को जला देती है अथवा सुन्दर सूर्यकान्तमणि सूर्यरश्मियों के संयोग से पदार्थों को जला देता है या चन्द्रकांतमणि पर चन्द्रमा की किरणें पड़ने से सहसा जल झ्रवित होने लगता है, इसी प्रकार आत्मा में भी समस्त कर्मरूपी वन को जलाकर भस्म कर देने की सामर्थ्य है। उसकी यह अनुपम शक्ति कर्मावरण से ढँकी है। यदि वह ध्यान के बल से व्यक्त हो जाये, तो वह समस्त कर्म क्षण मात्र में बारूद राशि सदृश एकदम नष्ट हो जायें।

परमसार वस्तु जगत में एक आत्मा ही है, जो सर्व परभावों से रहित तथा निज शुद्ध स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न है। इस शुद्ध आत्म में ज्ञानानंदरूपी अमृत ऐसा भरा हुआ है कि जिस अमृत के पान से सर्व संताप मिट जाते हैं, शान्ति और साम्यभाव जाग्रत हो जाता है। इस संसार में यदि कोई मसाला है जिसके द्वारा आत्मा की अशुद्धि दूर होवे, तो वह एक भावशुद्धि है। भावशुद्धि के द्वारा आत्मा अवश्य शुद्ध हो जाता है। भावशुद्धि के प्रताप से साधक को सुख—शान्ति का स्वाद आता है। भावशुद्धि के बल से ही अनेक महात्माओं ने अपनी शुद्धि प्राप्त की है। ज्ञाता—दृष्टा, अविनाशी आत्मा सर्व संकल्प—विकल्पों से रहित होकर जब निश्चिन्त बैठता है, तो यकायक वह एक परमानन्द के समुद्र में डूब जाता है। उस स्थान में जो शान्तिलाभ करता है, उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता।

हे जीव! तू पूर्ण वीतराग, स्वतंत्र, सिद्ध और शान्तिपूर्ण है। तू समतास्वभावी, अपने आप प्रसन्न रहनेवाला और पर से रहित है। बाह्य प्रवृत्तियों की तरंगों से आन्दोलित समस्त विभाव—भावों को त्याग कर निज स्वभाव में स्थिर हो जाओ। अपने सहजानन्द, ज्ञानस्वरूपी अनुभव में सदा स्वाधीन रहो। बाह्य से स्वाधीनता न कभी मिली और न मिलेगी। हे आत्मन्! इष्टानिष्ट संयोगों की भारी भीड़ में रहकर हर्ष—विषाद मत कर। अपने में रहने वाली आत्मा पर मैं निजानन्द को प्राप्त नहीं कर सकती। यह सर्वोत्तम/श्रेष्ठ मान्यता है। अपने स्वभाव से जितना अधिक—से—अधिक लाभ लिया जा सके, ले लो।

समय व्यर्थ मत जाने दो। यह समस्त परद्रव्य तो अपनी—अपनी सम्हाल कर लेंगे। तू स्वद्रव्य में लवलीन होकर उसी में सतत रमण कर। यदि एक बार भी पूर्ण शुद्ध हो जाये, तो फिर कभी भी अशुद्ध न होगा। स्वभाव से तू शुद्ध है, पर्याय से ही तेरी अशुद्ध दशा हो रही है। दृष्टि में संसार है और दृष्टि में ही मोक्ष है। ध्रुव स्वभाव पर जो दृष्टि है, वही सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र की निर्मल दशा का कारण है। यह आत्मा अपने पुरुषार्थ से क्या—क्या नहीं कर सकता। यह आत्मा जब चाहे तब अपना कल्याण का पुरुषार्थ कर सकता है। जो जीव समस्त बाह्य प्रपंचों को त्याग कर, मन—वचन—काय गुप्तियों का पालन कर, वीतराग चारित्र का अवलम्बन लेता है, वह आत्मध्यान में लीन होकर, सुखामृत का पान कर, समस्त कर्म—शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है।

यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य विचार करे कि उसका कर्तव्य क्या है, जिसका साधन उसको करना चाहिए, तो यही कहना होगा कि यह मनुष्य जब निश्चय से आत्माराम है, तब उसका कर्तव्य है कि मिथ्यात्व को छोड़कर बहिरात्मा से अन्तरात्मा बने तथा सुख—शांति का समुद्र स्वयं आत्माराम है, ऐसा श्रद्धान कर उस ही समुद्र में अवगाहन करे। मिथ्यात्व संसार का मूल है। मिथ्यात्व वह कहलाता है कि जो बात जैसी नहीं है, उसको उस प्रकार माने। यह शरीर अपना नहीं है, पर इसे माने कि यह मैं हूँ, तो मिथ्यात्व है। परिजन, परिवार में नहीं हूँ। लेकिन उन्हें माने कि यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, यह मिथ्यात्व है। भीतर में जो राग—द्वेषादिक कल्पनायें उठ रही हैं, सुख—दुःख उत्पन्न होता है, यह भाव भी मेरा स्वरूप नहीं है। पर इन

सब में यह मोही जीव एकमेक हो रहा है, यह उसका मिथ्यात्व है। यही संसारभ्रमण का कारण है। अतः मोह को नष्ट कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना कर्तव्य है।

जिसका मोह दूर हो गया, वह अपने आप में घटित करता है कि मेरे लिये मैं ही सबकुछ हूँ, मेरी ही करतूत मुझे सुख—दुःख देती है। जैसा मेरा ज्ञान होगा, उसी प्रकार का मेरा भविष्य बनेगा। इस बन्धन से मुक्त करने के लिये भी कोई दूसरा न आयेगा, खुद को ही करना होगा। संसार की अनुकूलता—प्रतिकूलता में अपना मन मत लगाओ। आत्मस्वरूप का चिंतन व ध्यान करो, जिससे कर्मबन्ध का अभाव हो और आत्मा में दृढ़ता आ जाये। नेत्र वही हैं जिनमें निज वस्तु देखने की शक्ति हो, अन्यथा उनका होना या न—होना दोनों बराबर हैं। इसी प्रकार ज्ञानी वही है, जो ज्ञान के अनुरूप आचरण करे। अकेले ज्ञानी बनने मात्र से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। तदनुकूल आचरण करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है। आचार्यों ने आचरणानुकूल ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान कहा है—

थावहि सिक्खिदे जिणई बहुसुदं जो चस्ति संपुण्णो।

जो पुण चरत्तिहीणो किं तस्से सुदेण बहुएणा॥ 4॥

जो चारित्र से परिपूर्ण है, वह थोड़ा शिक्षित होने पर भी बहुत धारी को जीत लेता है। किन्तु जो चारित्र से रहित है, उसके अधिक ज्ञान से भी क्या प्रयोजन? “सा विद्या या विमुक्तये।” वही विद्या कहलाती है, जो मुक्ति का कारण हो। चारित्र के बिना मनुष्य मदोन्मत्त हाथी के सदृश होता है। जैसे जंगल में स्वच्छन्द विचरण करते हुये हाथी वृक्षों को उखाड़ फेंकते हैं, वैसे—ही चारित्र से रहित व्यक्ति अपने जीवन को बर्बाद कर लेते हैं। चारित्रविहीन व्यक्ति का ज्ञान कार्यकारी नहीं होता। उसका एक दृष्टांत है—

एक किसी भाई ने तोता पाल रखा था और उसे यह सिखा दिया था कि “इसमें क्या शक है?” एक कोई ब्राह्मण भाई आया। उसे वह तोता बड़ा सुन्दर लगा। पूछा— क्यों, भाई! तोता बेचोगे? वह बोला— हाँ—हाँ बेचेंगे। कितने रुपये लोगे? 100 रुपये लेंगे। अरे! तोते तो 8—8 आने के आते हैं। इसमें 100 रुपये के योग्य कौन—सी खास बात है? उसने बताया कि इस तोते से पूछ लो कि

तुम्हारी कीमत 100 रुपये है या नहीं? उस ब्राह्मण ने तोते से पूछा— कहो तोते! तुम्हारी कीमत 100 रुपये है क्या? तोते ने कहा—इसमें क्या शक? कीमत ब्राह्मण ने सोचा कि तोता योग्य है, सो उसे 100 रुपये में खरीद लिया। ब्राह्मण ने अपने घर लेजाकर उसे खूब अच्छी-अच्छी चीजें खिलाईं। शाम को ब्राह्मण रामचरित्र लेकर बैठ गया। राम की कहानी सुनाने लगा। तो तोता बोला— इसमें क्या शक? अब वह रामचन्द्र जी के गुण गाने लगा। तोते से पूछा— कहो तोते! ठीक है न? तो उसने कहा— इसमें क्या शक? ब्राह्मण ने कहा कि यह तो बहुत विद्वान् मालूम होता है। कुछ आत्मस्वरूप की चर्चा करने लगा। फिर पूछा— कहो ठीक है न? तो तोते ने कहा— इसमें क्या शक? अब तो ब्राह्मण को भी शक हुआ कि यह यही बात बार-बार बोलता है। ब्राह्मण ने पूछा— कहो तोते! क्या मेरे 100 रुपये पानी में चले गये? तोता बोला— इसमें क्या शक?

ज्ञान वही है, जिसको पाकर यह जीव चारित्र को धारण कर अपने स्वरूप में लीन हो जाये। स्वरूप में लीन होने का अर्थ क्या है? यह आत्मा जो परपदार्थों के संबंध में नाना विकल्प मचा रहा है, इष्ट-अनिष्ट, झगड़ा-विवाद, पक्ष, नाना तरंगें उठ रहीं हैं, ये सब तरंगें समाप्त हो जायें और केवल एक जानन मात्र का अनुभव रहे, कोई विकल्प न उठे, ऐसी स्थिति बने, उसे कहते हैं स्वरूप में लीन होना। ऐसी स्थिति जिस ज्ञान को पाकर हो, वही सच्चा ज्ञान है।

आत्मश्रद्धा के अनन्तर आत्मबल के बढ़ने से कर्मशत्रु भाग जाते हैं और आत्मा मुक्त हो जाता है। देखो, कोमलांग सुकुमाल का शरीर श्रगालिनी द्वारा विदीर्ण हुआ, तो भी वे रंचमात्र चलायमान न हुये। अभी कुछ संसार शेष था, इसलिये सर्वार्थसिद्धि विमान प्राप्त किया। आगे मनुष्यभव धारण कर मोक्ष जाएँगे। यह आत्मबल का ही प्रताप है। जहाँ तक बने, समता और शान्ति से मोक्षमार्ग अपने में ही देखो। यही आत्मज्ञान तुम्हें परमपद तक पहुँचा देगा।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से छूटना चाहता है। उसका प्रत्येक प्रयत्न सुख प्राप्ति के लिये ही होता है, परन्तु दुःख के सिवाय उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। हमारी यह धारणा मात्र है कि हमें अमुक पदार्थ सुखी करता है और अमुक दुःखी करता है। सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणमते

हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता। इस जीव के अन्दर ही विकल्पों की चक्की चल रही है। उस चक्की में यह आत्म-भगवान् पिसता जा रहा है, कोई दूसरा इसे दुःखी करने वाला नहीं है। जो संयोग में सुख मानते हैं, वे वियोग में नियम से दुःखी होंगे। अतः शरीर या अन्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना को त्याग कर तथा उनसे मोह छोड़कर ही हम सुखी हो सकते हैं। श्री सहजानन्द वर्णी जी ने 'सहजानन्द गीता' में सुखी होने के उपाय बताते हुये लिखा है—

**रागाभावः स्वयं स्वाप्तावाप्तास्वो हि स्वभाववत् ।
स्वे स्वं परं नमस्कृत्य स्यां सवस्मै स्वे सुखी स्वयं ॥**

निज आत्मा की उपयोग द्वारा प्राप्ति होने पर स्वयं राग-द्वेष आदि क्लेशों का अभाव हो जाता है और प्राप्त किया है स्व आत्मा जिसने, ऐसा वह परमात्मा निज के सहज भाव के समान है। इसलिये उस परमात्मा तथा स्वात्मा को अपने में नमस्कार करके मैं अपने लिये अपने द्वारा सुखी होऊँ।

अनेक कठिनाइयों से प्राप्त हुये इस मनुष्यजीवन को व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। अपनी ही सीधी-सीधी बात न समझकर प्राणी भ्रम करते हैं कि मैं अमुक शहर का रहने वाला हूँ, अमुक जाति का हूँ। इन सब संस्कारों को कभी-न-कभी तो अवश्य ज्ञानरूपी जल से धोना पड़ेगा। मेरा स्वभाव तो भगवान् की तरह है, अतः बाह्य भ्रमों में पड़ना व्यर्थ है। देखो भैया! भगवान् के पास क्या है? केवलज्योतिपुंज आत्मा, फिर भी सब प्राणी उन्हें नमस्कार करते हैं। फिर क्यों न हम भी उनके समान गुण धारण करें? क्यों न वैसे ही बन जावें? इतना जान भी लेना सन्तोषजनक होता है कि मैं सिद्ध भगवान् के स्वरूप के सदृश हूँ। जैसा स्वरूप सिद्धात्मा का है, शक्ति की अपेक्षा से वैसा ही स्वरूप निज आत्मा का है, परंतु संसार में भ्रम से क्लेश को प्राप्त हुआ। अब भ्रमरहित होता हुआ मैं अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

सिद्ध प्रभु की तरह शुद्ध केवलज्ञानमय बनने का क्या उपाय है? अपने आपको केवल निरखना, ज्ञानमय निरखना केवलज्ञानी बनने का उपाय है। हम अपने को जिस रूप में निरखेंगे, उस रूप की प्राप्ति होगी। अतः हम अपने को

यथार्थ सहज, निजस्वरूप जैसा है वैसा ही, चित्स्वभावरूप अनुभवे। मैं स्वतः सत् हूँ, स्वतः परिणामी हूँ, स्वतंत्र हूँ, विज्ञानानन्दघन स्वच्छ अविनाशी हूँ— इस प्रकार अपना अनुभव करो। सत्य सुखी होने का यही एक उपाय है।

ज्ञाता—दृष्टाहमेकोऽस्मि, निर्विकारो निरञ्जनः।

नित्यः सत्यः समाधिस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥ 1-8॥

मैं जाननेवाला व देखनेवाला हूँ, विकार रहित व मलरहित हूँ, अविनाशी केवल की सत्ता में होनेवाली साम्य अवस्था में स्थित हूँ, इसलिए समता परिणाम में ठहर कर मैं अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

ऐसी दृष्टि बनायें कि ये रागादि भाव पौद्गलिक दिखाई देवें या चिदाभास दिखाई देवें, तो भी मैं निर्विकार हूँ, निरञ्जन हूँ, अञ्जनरहित हूँ, अर्थात् उपाधिरहित हूँ। चैतन्य शक्ति ही मेरा सर्वस्व सार है। पदार्थों की ममता के परिणाम न हों, तभी शान्ति प्राप्त होती है। जब तक परपदार्थों में ममता के परिणाम हैं, तभी तक अशान्ति है। इसको मिटानेवाली स्वभावदृष्टि ही है।

यदि गीदड़ों के बीच में पले शेर के बच्चे को किसी प्रकार यह मालूम हो जावे कि मैं शेर हूँ, तभी वह शेर है और जब तक पता नहीं, तभी तक गीदड़ है। इसी प्रकार कोई प्राणी चाहे कितना ही हट्टा—कट्टा क्यों न हो, यदि उसे सन्तोष नहीं, तो वह दुःखी है और दूसरा बूढ़ा, बीमार, कमजोर होते हुए भी यदि यह सन्तोष धारण करता है कि मैं स्वरूप में स्वच्छ हूँ, तो वह निरोग है, सुखी है। अतः अपनी आत्मा की दृष्टि ही सुख दिलानेवाली है।

लोक की देखादेखी पर मुग्ध न होकर अपनी ओर दृष्टि करना चाहिए। एक कथा है कि बाप, बेटा दोनों चले जा रहे थे। बाप घोड़े पर बैठा था और बेटा पैदल चल रहा था। आगे गाँव के आदमी बोले कि यह आदमी कितना बेवकूफ है, कितना स्वार्थी/खुदगर्ज है कि स्वयं तो घोड़े पर बैठा है और लड़के को पैदल चला रहा है? बाप ने कहा कि बेटा! तू घोड़े पर बैठ जा, मैं पैदल चलता हूँ। दूसरे गाँव वाले आदमी बोले कि लड़का कितना मूर्ख है, नालायक है कि स्वयं तो घोड़े पर बैठा है और बाप को पैदल चला रहा है? सुनकर उन्होंने विचार किया कि दोनों ही बैठ जावें। और दोनों घोड़े की पीठ पर बैठ गये। तीसरे गाँव में पहुँचे

तो सब ग्रामवासी बोले— मालूम पड़ता है कि यह घोड़ा इन्होंने किसी से माँगा है, इनका स्वयं का नहीं है, जो दोनों—के—दोनों इसकी पीठ पर लदे हैं, मुफ्त का समझकर बेचारे पर दयाभाव नहीं रखते। बहुत विचारने के पश्चात् वे दोनों पैदल चलने लगे तथा घोड़ा साथ—साथ कर लिया। आगे चौथे गाँव में पहुँचने पर वहाँ के ग्रामवासी बोले कि ये कितने मूर्ख हैं कि स्वयं पैदल चल रहे हैं और घोड़ा ऐसे खाली चल रहा है?

अतः, भैया! दूसरों से प्रशंसा की इच्छा रखना व्यामोह को प्रवृत्त करना है। ये धन, रुपया, ऐश्वर्य आदि अपने में ही परिणमन करते हैं। तब इनमें फिर क्यों मोह रखा जावे? हे प्राणियो! जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा मान लो, तो फिर स्वयं ही सुखी हो जावोगे। भैया! सच्ची बात को सच मानने में क्या बुराई है? रत्नत्रय की पूर्णता क्रमशः होती है। जैसे जीवों को सम्यग्दर्शन होता है तो उन्हें तीन तैयारियाँ करना होती है। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। ये क्रमशः होंगे। चारित्र को विकसित करने के लिए अणुव्रत धारण करना चाहिये। अब अपना ज्ञान इतना निर्मल बनाओ ताकि बाह्य पदार्थों में रागबुद्धि ही न जावे। रत्नत्रय को धारण करो और आत्मा का ध्यान करके सुखी होओ। जैसे जीवों को सम्यग्दर्शन होता है तो उन्हें तीन तैयारियाँ करना होती हैं।

दुस्त्याज्या चेद्रतिस्त्यक्ता मृतत्यक्तकुटुम्बिनाम्।

स्वातन्त्र्यं स्यानि किं स्वस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१-१७१॥

जब मैंने मरे व छोड़े हुए कुटुम्बियों का दुस्त्याज्य (मुश्किल से छूट सकने योग्य) स्नेह छोड़ दिया, तो अब किसमें स्नेह करके अपनी स्वतन्त्रता नष्ट करूँ? अतः सर्व परपदार्थों से राग हटाकर अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

जो आज नहीं हैं अर्थात् मर चुके हैं या अलग हो गये हैं, उनमें मेरा सबसे अधिक स्नेह था, मोह था। अब जब वही छूट गये, तो इन छोटे—छोटे विषयों में क्या राग करना? जिस कुटुम्ब में जिससे भी सबसे अधिक मोह होता है, फिर एक—दो साल बीत जाने पर याद नहीं करते, तब कहाँ गया वह मोह? फिर जब आपने सबसे अधिक मोह को ही, ममता को ही छोड़ दिया, फिर इन अन्य बाह्य पदार्थों की ओर क्यों आकृष्ट होते हो? आखिर छूटेंगे तो ये सब भी एक—न—एक

दिन। तब क्यों इनमें राग बढ़ाकर दुःखी होते जा रहे हो? ऐसी प्रकृति क्यों बना रखी है कि एक छूटकर दूसरे में मोह करने लगे? जैसे आपको सबसे अधिक स्नेह जिस किसी में था, उसकी मृत्यु हो गयी, तब कहाँ गये वे सुख—विलास, कहाँ गयी वह मोह—ममता? जब आपसे इतना बड़ा मोह ही बीत गया, छूट गया, तब इन बाह्य पदार्थों में फिर से क्यों राग—द्वेष की वृद्धि करते हो? छूट तो ये भी जावेंगे एक—न—एक दिन। फिर इनमें पड़कर क्यों स्वतंत्रता खो रहे हो? क्यों न इनके प्रति मोह—ममता की, राग—द्वेष की बुद्धि को नष्ट करूँ? अतः अपने स्वरूप को पहिचानो और परपदार्थों से स्नेह हटाओ।

जब जिससे तीव्र मोह था, उससे ही मोह छूट गया, तब इन छोटी—छोटी बातों में क्यों राग करते हो? जैसे एक सेठ को किसी व्यक्ति से एक लाख रुपये कर्जे के चाहिए थे। वह हो गया गरीब, तो अन्य व्यक्तियों ने सेठजी से कहा कि बेचारे की वह दशा नहीं रही, अतः अब केवल 500 रुपये ही ले लो, 99500 रुपये छोड़ दो। तो सेठजी ने सोचा कि जब सभी छोड़ दिया, तब 500 रुपये के लिये क्यों लेने का नाम करें? इसी प्रकार सोचना चाहिए कि जब हमें जिससे कुटुम्ब में सबसे अधिक राग/मोह था, वही बीत गया, तब इन थोड़ी—थोड़ी बातों में क्या राग करना, क्यों ममता करना?

रामचन्द्र जी को सबसे अधिक मोह लक्ष्मण से था। ऐसा कि उनके मरने पर भी उस मृतक देह को लिये—लिये फिरे। जब उनसे ही उनका मोह छूट गया, तब किसी से मोह न रहा। फिर वे दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि हो गये और मुक्त हो गये। अतः जब सबसे बड़ा मोह ही बीत गया, फिर छोटी—छोटी बातों में क्यों पड़ना? मोही जीवों में ऐसी आदत पड़ी है कि यदि बड़ा राग छूटा, तो भी छोटे में प्रवृत्ति करके राग बढ़ा लेते हैं। आचार्यों ने कहा है कि रागी होगा तो कर्मों से बन्धेगा और वीतरागी होगा तो कर्मों से छूटेगा। कर्ममुक्त होना है तो राग छोड़ दो। जिनकी हम पूजा करते हैं, दर्शन करते हैं, उन्होंने और क्या किया? अपने को निर्मल बनाया, अपना ज्ञान निर्मल रखा, वीतरागी रहे, ज्ञान—दर्शन शक्ति अनन्त प्रकट हुई, स्वच्छ हो गये, कर्मरहित हो गये, परम आनन्द को पाया, तब वे परमात्मा हो गये। अतः उनके दर्शन कर यही विचार पैदा करो कि

जैसा आपने किया है, वैसा ही मैं भी करूँ और वह होगा भेदविज्ञान से। भेदविज्ञान के बल से परपदार्थों से हटकर निज आत्मा में लगो। राग छोड़ दो, तो उपद्रव रहित हो जाओगे अन्यथा क्लेश ही प्राप्त होगा। राग के कारण ही अन्तर में ऐसा भाव का वातावरण बनता है कि मरण के बाद फिर नये शरीर को पाता है जो कि दुःख का मूल है। अब शरीर के भी राग को छोड़कर अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचानो और उसका ध्यान करो।

भैया! यह राग तो एक-न-एक दिन छोड़ना पड़ेगा तथा राग-द्वेषरहित वीतराग अवस्था को एन-न-एक दिन तो अवश्य ही धारण करना पड़ेगा, तभी मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। तब क्यों अपना समय नष्ट करके दुःख में रुलता फिरूँ? इसके लिए कोई अवस्था विशेष निश्चित नहीं कि वृद्धावस्था में ही राग-द्वेष छोड़ना चाहिये या अमुक अवस्था में त्याग करना चाहिये। ये तो जितना शीघ्र छूट जावे उतना ही अच्छा है। जैसे-जैसे रागबुद्धि करोगे, वैसे-ही कर्मबन्ध होते जायेंगे और जैसे-जैसे वीतराग होओगे, तो कर्म स्वयं ही तड़ातड़ टूटते चले जावेंगे। अतः राग को त्याग कर अपने स्वरूप में लीन रहकर मैं स्वयं सुखी होऊँ।

देहे बुद्धि या वपुः स्वस्य बुद्ध्या स्वः प्राप्स्यते मया।

ज्ञानमात्र मतिमेऽस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१-३२॥

“देह में आत्मा या शरीर मैं हूँ” की बुद्धि करने से मेरे द्वारा शरीर प्राप्त किया जावेगा और निज आत्मा में निज आत्मा की बुद्धि करने से निज आत्मा प्राप्त होगा। इसलिए मेरी ज्ञानमात्र बुद्धि हो और अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

स्त्री, पुत्र, माता-पिता आदि सारे नाते शरीर के साथ हैं। मैं आत्मा सबसे निराला ज्ञानमात्र हूँ, विशुद्ध हूँ। जो जगत के मायाजाल से हटकर अपने स्वरूप में दृष्टि देगा, वह संसार से पार हो जायेगा। जो शरीर में आत्मबुद्धि करेगा, उसे शरीर मिलता चला जायेगा और जो आत्मा में आत्मबुद्धि करेगा, उसे ज्ञान मात्र यह आत्मा मिलेगा और शरीर छूट जायेगा। इन सब की अवस्था करने वाला मैं हूँ। यह शरीर रहे या मुक्ति हो, इन सबका जिम्मेदार मैं हूँ। जब केवल बुद्धिमात्र

से, समझने भर से, जानने मात्र से इन दोनों की प्राप्ति होती है, तो शरीर की प्राप्ति कर लो या भगवान् स्वरूप की प्राप्ति कर लो। केवल अपने सोचने से ही अपने प्रभु से मिल सकते हैं। यह आत्मा अपने को समझने पर मिलता है, तब इसके आगे और क्या चाहिए ? कितना बड़ा अवसर प्राप्त है कि जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती। ऐसा करो जिससे संसार के क्लेश सदा के लिये मिट जायें। अपने आपको ज्ञानमात्र स्वयं मानकर अपने आप में रम कर स्वयं सुखी होओ।

महान स्वीभ्रांतिजः क्लेशो भ्रांतिनाशेन नक्ष्यति।

यथात्म्यं श्रद्दैध तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१-३३।

अपने भ्रम से उत्पन्न हुआ क्लेश तो भ्रम के विनाश से नष्ट होगा, इसलिए यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा करूँ और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

जगत में जितना भी क्लेश है, वह सब आत्मा के भ्रम का क्लेश है। जैसे मनुष्य सब एक ढंग से पैदा होते हैं, एक ही ढंग से मरते हैं और एक ही ढंग से राग—द्वेष होते हैं, इसी तरह जगत के समस्त प्राणी एक ही ढंग से दुःखी होते हैं, और वह है भ्रम। बाहरी पदार्थों में आत्मतत्त्व का भ्रम हो गया, इसलिये क्लेश हुआ। जब इस भ्रम को नष्ट करेंगे, तो ये क्लेश नष्ट हो सकते हैं, अन्यथा नहीं होंगे।

इस जगत के प्राणी मोह की नींद में सो रहे हैं और मोह की नींद वह है जहाँ पर सब दुःखी रहते हैं। यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है, यह मेरा परिवार है, इतना मेरा बन गया है, इतने का नुकसान हो गया, अपमान हो गया, इज्जत मिट गयी। सारे अपने मोह को ही देख रहे हैं। देखो, कैसा वह ज्ञानानन्दस्वरूप है। यह जीव अपने आनन्द की सत्ता में है। जिसका स्वरूप भगवान् स्वरूप है, ऐसा ज्ञानानन्दस्वभाव में यह सब है। लेकिन मोह में पड़े हुए हैं और सारा जगत लाभ—हानि मानकर दुःखी हो रहा है। इस जीव के दुःखों को मिटाने में कौन समर्थ है? क्या परिवार के लोग या मित्रजन? क्या भगवान् ऐसे मोह के दुःखों को मिटा सकते हैं? कोई दुःख मिटाने में समर्थ नहीं है।

परमार्थ से देखो तो यह आत्मा केवलज्ञानमात्र है। इसका यहाँ कुछ नहीं है। ये सब कल्पनायें हैं, भ्रमजाल है। भ्रम के कारण दुःख होता है। हमने अपने दुःख को भ्रम से ही पाला है। हम ही अपने ज्ञान का सहारा करके तथा भ्रम को नष्ट करके सारे क्लेशों को दूर कर सकते हैं। आत्मा के भ्रम से पैदा होने वाला दुःख तो भ्रम को नष्ट करने से ही दूर किया जा सकता है। इसका कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि अपने स्वरूप को देखो तो मोक्ष का मार्ग मिलेगा, सर्वकल्याण होगा और यदि अपने स्वरूप को भूलकर बाहरी पदार्थों में दृष्टि लगाई, तो दुःखी होना पड़ेगा।

जितना भी क्लेश होता है, वह सब भ्रम से होता है। तो अपने आप ऐसा अनुभव करो, ऐसा उपयोग बनाओ कि मैं अपने सत्त्वमात्र हूँ, ज्ञान और आनन्द मात्र हूँ, शरीर से न्यारा हूँ, सब पदार्थों से निराला हूँ। केवल मैं आनन्द को करता हूँ और ज्ञानानन्द को ही भोगता हूँ। ज्ञानानन्द में रहने के अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूँ। इसी तरह से आप अपने स्वरूप का अनुभव करें तो वहाँ कुछ क्लेश नहीं है, कोई विपत्ति नहीं है। विपत्ति तो भ्रम से बनती है। भ्रम समाप्त होते ही विपत्ति समाप्त हो जाती है।

बड़े-बड़े महापुरुषों ने राम, हनुमान इत्यादि महापुरुषों ने सबकुछ छोड़ दिया। घर छोड़ दिया, अपने स्वरूप में बसे, आत्मसाधना की। क्या वे कम बुद्धि वाले थे? वे तो बड़े पुरुष थे, आराध्य देव थे। ऐसा ऐसा उन्होंने इसलिये किया कि यहाँ तो सब असार है। इनसे मेरा वास्ता कुछ नहीं है, फिर उन पर दृष्टि क्यों की जाये? सम्यग्ज्ञान हुआ, अतः उन्होंने इन सबको छोड़ दिया। और उन्हें अपने आप आनन्द मिला। उन्होंने सब कुछ छोड़ा, इसलिए उन्हें शुद्ध आनन्द मिला। यह आत्मा खुद स्वतंत्र है। बाहरी पदार्थों से दृष्टि हटाओ और अपने आनन्दस्वरूप में दृष्टि लगाओ। सब विकल्पों को छोड़ अपने आप में रमो, तो वह आनन्द मिलेगा कि जिसके निमित्त से भव-भव के संचित कर्म भी क्षणभर में भस्म हो जावेंगे। आत्मस्वरूप के जानने पर शुद्ध जानना ही रह जायेगा और समस्त विकल्पजाल समाप्त हो जायेंगे। इसी सम्यक् मार्ग में ही मोक्ष का मार्ग है।

भैया! मोह को छोड़ो। जगत में अपना कुछ न मानो। बस, इस एक ही उपाय से चलो कि कहीं मेरा कुछ नहीं है, मेरी तो एक आत्मा है, एक अकेला मैं ही हूँ। हम अपनी सत्ता में हैं, किसी का कोई कुछ नहीं है, फिर भी कोई किसी की प्रशंसा करे तो ऊँट—गधे जैसी बात है।

जैसे कि मानो ऊँट का विवाह हो रहा था। उसकी शादी में गाने—बजाने के लिये गधों को बुलाया गया। गधों की दोहरी आवाज होती है। वे श्वांस भीतर करें तो बोलते, बाहर करें तो बोलते। सो वे गधा—गधी ऊँट को गीत में क्या कहते हैं कि ऊँट! तेरा रूप धन्य है, तू बहुत सुन्दर है। ऊँट की तो गर्दन टेढ़ी, टाँगें टेढ़ी, मुँह टेढ़ा। कुछ भी सीधा नहीं। पर गधा कहता है कि तेरा कितना अच्छा रूप है। तो ऊँट कहता है कि धन्य है तेरा स्वर, धन्य है तेरा राग। गधा और गधी ऊँट की प्रशंसा करते और ऊँट गधा और गधी की प्रशंसा करता है। इसी तरह से ये जगत के जीव एक दूसरे की प्रशंसा कर दिया करते हैं। उसमें सार की चीज कुछ नहीं है। जब अपने आपसे अपने आपके स्वरूप की बात जँचे, संतोष पावे, ज्ञान पावे, तो वह सार की बात है। एक ही बात है कि पर में लगे, सो संसार है और पर से हटे और अपने आपमें लगे, सो मोक्ष का मार्ग है। पर से हटने और स्व को जानने का उपाय है— पर को पर जान लो और स्व को स्व जान लो।

भैया! जिस जीव की दृष्टि बाहर में नहीं रहती है, अपने स्वरूप में उपयोग रहता है, स्व में वृत्ति जगती है, वह पुरुष धन्य है। जिसको अपने प्रभुस्वरूप की लगन लगी है, वह शहनशाह, राजा, महाराजा देव और इन्द्रों का भी राजा है, पूज्य है। जिसको अपने प्रभुस्वरूप की लगन लगी है, उसके संसार के सारे संकट टल जाते हैं। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने अध्यात्म अमृत कलश में लिखा है—

**अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली
सन् अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य
येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥**

हे प्रियतम! किसी प्रकार भी, मर करके भी अथवा बड़े कठिन यत्न करके भी, तन, मन, धन, वचन समर्पित करके भी, तत्त्व का कौतूहली होते हुए भी, एक क्षण मुहूर्त मात्र को भवमूर्ति का पड़ोसी बनकर अपने आपको अनुभव तो कर। संसार की मूर्ति है यह शरीर। इससे ही तो सब समझ में आ रहा है कि यह संसारी है। इस भवमूर्ति के पड़ोसी बनकर अपने आपका अनुभव करो।

भैया! यह आत्माराम, यह चित्स्वभाव यह भीतर में बड़े ही आराम से विराजमान सबसे पृथक् विलस रहा है, शोभायमान हो रहा है। ऐसा इस देह से पृथक् चैतन्यस्वभाव मात्र एक अपने आपको तो देखो। कहाँ हैं संकट? वहाँ तो संकट ही नहीं है। कैसी है पराधीनता? कहीं पर भी पराधीनता नहीं। इस अपने प्रभुत्व का दर्शन कैसे हो? सबसे विरक्त अपने आपके सर्वस्व एक इस अपने आपके पदार्थ को देखो। इसको दूसरे से अटक ही क्या है? यह स्वयं सत् है। इसे कुछ नहीं बनाना है, वह तो आनन्द से पूरा बना-बनाया ही है। अपने आप— मैं विराजमान इस निज को देखो, जिससे इस देह के साथ एकत्व का मोह छूटे। जीवन तभी से है, जबसे इसने अपने आपमें सहज स्वयं की पहिचान की।

एक साधु महाराज थे। एक दिन एक श्रावक के यहाँ भोजन किया। भोजन करके आँगन में बैठ गये। सो सेठ की बहू ने पूछा कि महाराज! आप इतने सवेरे क्यों आ गये? (भैया! आये 10 बजे आहार को। अच्छी कड़ी धूप भी थी।) महाराज बोले कि बेटी! समय की खबर नहीं रही। इतनी बात सुनकर लोग दंग रहे गये कि समय खबर नहीं रही। अब साधु ने पूछा कि बेटी! तेरी क्या उम्र है? (इससे भैया! क्या मतलब? सब बातें लोग सुन रहे और अटपट अनुभव कर रहे हैं।) इतने में बहू उत्तर देती है कि महाराज! मेरी उम्र 4 वर्ष की है। (30 वर्ष की तो उम्र है और 4 वर्ष की।) साधु ने पूछा कि तुम्हारे पति की उम्र कितनी है? वह बोली— 'महाराज! मेरे पति की उम्र 4 महीने की है।' और ससुर की उम्र कितनी है? ससुर अभी पैदा नहीं हुये हैं।' अच्छा, तुम ताजा खाना खाती हो कि बासा? 'महाराज! हम बासा खाना खाते हैं।' इतनी बात के बाद महाराज चल दिये। अब तो सेठ बहू से लड़ने लगे कि तूने हमारे कुल को

खो दिया। लोग क्या कहते होंगे? तूने कितना ऊटपटांग उत्तर दिया। बहू ने कहा कि मैंने ठीक उत्तर दिया है। चलो महाराज के पास, वे बतलावेंगे, सबको समाधान मिल जायेगा। वे साधु महाराज छोटी उम्र के थे। बहू ने पूछा कि इस छोटी उम्र में आप कैसे आ गये? तो साधु ने कहा कि बेटी! समय की खबर मुझे न थी। आज हैं, कल पता नहीं क्या हो जाये? कितने दिन जीना है? इसलिये सवेरे आ गये अर्थात् शीघ्र साधुपने में आ गये। यह प्रथम प्रश्न का उत्तर हुआ। अब 4 वर्ष की उम्र का क्या मतलब? तो उसने स्वयं कहा कि 4 वर्ष हुए तब से मैं धर्मसाधना में आयी। जबसे धर्म की परख हुई, तभी से मैंने अपना जीवन समझा। पति के 4 महिने का अर्थ क्या है कि चार महिने से उनको श्रद्धा हुई। ससुर ने कहा कि हम तो बूढ़े खड़े हैं और मुझे यह बतलाती है कि ससुर पैदा ही नहीं हुये। अब भी ससुर साहब लड़ रहे हैं। पर धर्मदृष्टि से उन्हें पैदा हुआ कैसे कहा जावे, क्योंकि इनके अभी श्रद्धा नहीं हुई? बासी खाने का मतलब क्या था कि पूर्वजन्म में जो पुण्य किया था, उसकी वजह से आज भोग रहे हैं, पर ताजा कोई पुण्य नहीं कर रहे हैं। पूर्वजन्म का जो बनाया सामान है, उसको खा रहे हैं।

इसमें प्रयोजन की बात इतनी जानने की है कि जब से निज आत्मतत्त्व की परख हुई है, तब से समझो कि अपना जीवन है। इससे पहिले का जीवन क्या जीवन है? खाया, पिया, विषय-कषाय किया, अंधेरा-ही-अंधेरा रहा। यह कोई जीवन है क्या? सर्व प्रयत्न करके, आचार्य महाराज बतलाते हैं कि मर करके भी जिसे कहते हैं कि इस काम को करना ही है, जैसा चाहे मरें पचें, तन भी न्यौछावर करें, मन भी न्यौछावर करें, धन इत्यादि सबकुछ त्यागें और सबकुछ न्यौछावर करने के फल में यदि मिल गया आत्मतत्त्व, तो यह नरजन्म सफल है।

भैया! शान्ति तो अपने ज्ञानस्वरूप में है। शान्ति के लिए बाहर लाख प्रयत्न किये जायें, कितने ही पुत्र, परिवार, मित्रजन देख डालें, पर शान्ति कहीं नहीं मिलेगी। शान्ति का संबंध परपदार्थों से है ही नहीं। यदि परपदार्थों से शान्ति होती, तो तीर्थकर आदि बड़े प्रभुत्व, धन-वैभव इत्यादि को क्यों त्याग

देते? इन परपदार्थों की इच्छाओं में तो दुःख ही है। अतः अकल्याण करने वाली आशाओं को छोड़कर मैं आनन्द स्वरूप को देखूँ। अपने अनन्द-स्वरूप को देखने से ही आनन्द मिलेगा, दूसरी जगह आनन्द नहीं मिलेगा। यह प्रभू की शांत मुद्रामय मूर्ति दुनियाँ भर में यह बतला रही है कि विकल्प न करो, इसी प्रकार ज्ञानानुभव करो। इसी में हित है कि कोई विकल्प न करो। अपनी आत्मा में समाधि लगावो, ऐसा उपदेश यह प्रभु की मूर्ति देती है। यहाँ कोई स्थान अपने आने-जाने योग्य नहीं, इससे बद्ध आसन से बैठे रहो। यहाँ कुछ काम करने को नहीं है, सो हाथ पर हाथ रखकर समाधि लगा लो। दुनियाँ में कौन-सी ऐसी चीज है जो देखने लायक है? कोई भी तो नहीं है। इसलिए नेत्रों को बंद कर लो। भगवान् की मूर्ति से हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम यह भावना करें व यत्न करें कि बाह्य पदार्थों से जितना हट सकें, हटें। विकल्पों से निवृत्ति लेकर रहें तो उसमें भला है। सो मैं अब बाह्य पदार्थों की आशा को त्यागकर अपने आप सुखी होऊँ।

पूर्ण व स्यापि कृत्यं की चिकिष्येऽद्वन्द्वता कदा।

न चे त्यक्त्वा हि सर्वाशां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥

किसी ने कोई काम किया तो वह जीव जैसा काम को करेगा, वैसी ही उत्कंठा रहेगी। उन कामों के कदाचित् हो जाने पर भी कुछ-और करने की अभिलाषा जगती है। इस कारण यह बात ठीक रही कि किसी का काम पूर्ण हो गया तो भी उसे शांति नहीं मिलती, इससे ही यह साबित है कि काम पूरा किसी से नहीं होता और मोह अवस्था में काम किसी भी हालत में पूरा हो ही नहीं सकता।

एक किवदन्ती है कि एक बार नारद जी सैर करने के लिए नर्क गये। वहाँ उनको खड़े होने तक को भी जगह न मिली। जैसे कि कभी जेल में खड़े रहने तक की गली नहीं मिलती है, वैसे ही नारद जी को वहाँ पर खड़े होने तक को जगह न मिली। वहाँ से वे भागे और उर्ध्वलोक की सैर करने गये। स्वर्ग की सैर करने गये। वहाँ पर वैकुण्ठ में देखा कि अकेले विष्णु जी महाराज बैठे हैं। नारद जी बोले—हे भगवान्! आप बड़े ही पक्षपाती हैं। नर्क में तो सारे-के-सारे

जीव भेज दिये और यह सारा बैकुण्ठ खाली पड़ा है। विष्णु जी बोले—हम पक्षपाती नहीं हैं। यहाँ कोई आता ही नहीं है। यदि कोई आता हो तो इजाजत है तुम्हें कि उसे ले आओ। वह खुश होकर मृत्युलोक आये और सोचने लगे कि किसे लिवा ले जायें। मार्ग में कोई बूढ़ा आदमी मिला। सोचा कि अब तो यह मरना ही चाहता है, इसे ही लिवा ले जायें। नारद जी ने उस बूढ़े आदमी से कहा कि चलो, तुम्हें स्वर्ग ले चलें। सब लोग जानते हैं कि मरे बिना कोई स्वर्ग नहीं जाता। वह बूढ़ा बोला कि अरे! मैं ही तुम्हें मिला मारने के लिए? मैं नहीं जाऊँगा, किसी दूसरे को जाकर लिवा ले जाओ। दो—चार बूढ़ों को टटोला, पर सबने जबाब दे दिया, तो बूढ़ों से नारद निराश हो गये। जवान से कहा कि चलो, तुम्हें स्वर्ग ले चलें। जवान की बात जानते ही हो। जवान बोला कि अभी लड़की की शादी पड़ी है, दुकान खोलनी है, सारा बन्दोबस्त करना है। तो जवानों ने भी इसी तरह मना कर दिया।

सोचा कि अब किससे कहें? अच्छा, चलो, अब बच्चों के पास चलें। शायद बच्चों में से कोई तैयार हो जाय। एक मंदिर के चबूतरे पर 18—19 वर्ष का बच्चा तिलक लगाये बैठा था। नारद बोले—बेटा! चलो, तुम्हें बैकुण्ठ ले चलें। वह बैकुण्ठ जाने को तैयार हो गया। नारद ने कहा कि वहाँ चलने के लिए सभी झंझट त्यागने होंगे। वह बोला कि नारद जी! हमारी सगाई हो रही है, कल बारात जायेगी। नाते रिश्तेदार भी ज्यादा आ रहे हैं। तो आप कृपा करके 4—5 वर्ष गम खा जाइए। फिर आना, तो चलेंगे। उसका विवाह भी हो गया। 5 वर्ष बाद नारद जी आये, बोले, बेटा! अब चलो। बेटा बोला—महाराज! अभी एक साल हुआ बच्चा हुआ है, तनिक खिला ही लें। अभी तक एक साल तक शर्म के मारे मैं छू भी नहीं सका। अब आप 5 वर्ष गम खावें, फिर आना, तब चलेंगे। 5 वर्ष बीत गये। फिर नारद आये, बोले, बेटा! चलो। बेटा बोला—महाराज! लड़के को पढ़ा लें, योग्य कर लें, यह कम—से—कम अपने पैरों के बल खड़ा तो हो जाय। आपसे निवेदन है कि आप 20 वर्ष के बाद जरूर आना। अब 20 वर्ष के बाद फिर नारद आये, बोले—बेटा! चलो। बेटा बोला—महाराज! लड़के की सगाई हो गई, अब अपने नाती को तो देख लें। कृपा करके आप 10—15 वर्ष के बाद

में जरूर आना। 10-15 वर्ष बीत गये। नारद आए, बोले—चलो, बेटा! अब चलो। बोला—महाराज! मुश्किल से धन कमाया, लाखों की सम्पत्ति जोड़ी, अगर दुर्भाग्य से पुत्र कुपूत निकल गया और अगर मैं चलूँ, तो सारी सम्पत्ति बरबाद हो जायेगी। तो, महाराज! कृपा करके आप अगले भव में जरूर आना। अब तो वह मर गया और मरकर उस घर की कोठरी में साँप हुआ जिसमें वह सम्पदा गाड़ता था। अब वहाँ भी नारद पहुँचे, कहा—चलो, बेटा! दूसरा भव भी आ गया, अब तो चलो। तब वह साँप फन उठाकर कहता है—महाराज! यहाँ पर धन गड़ा हुआ है। यदि मैं इसकी रक्षा नहीं करता, तो सारी सम्पदा बरबाद हो जायेगी। वहाँ से नारद जी विष्णु जी के पास आए। बोले—महाराज! मेरी ही गलती थी, जो मैंने कहा था कि आप किसी को नहीं बुलाते। मैंने बहुत कोशिश की, बूढ़े, जवान, बच्चे सबसे कहा, मगर कोई यहाँ आने के लिए तैयार नहीं हुआ।

किसी का कोई काम पूरा नहीं होता, किसी की कोई बात पूरी नहीं होती। किसी का बच्चों में मोह है, कोई कहता है कि 5 साल बाद जायेंगे, 5 साल भी हो जाते हैं, जीवन भी पूरा हो जाता है, किन्तु विषयों से कोई मुख नहीं मोड़ता। इस तहर से कोई यहाँ आने के लिए तैयार नहीं होता है। भला बतावो किसी का काम भी पूरा होता है क्या? करने को कुछ—न—कुछ पड़ा ही रहता है। अब यह इच्छा है, अब यह इच्छा है, इस तरह से काम पूरे हो ही नहीं पाते हैं, जिन्दगी अगर इच्छाओं से बितायी, तो ऐसा मनुष्यभव पाना व्यर्थ रहा। अब करने की बात क्या है कि अपनी इच्छाओं को त्यागकर अपने स्वरूप को देखो, अपने भगवान् में चित्त लगाओ, अपने आनन्दमय प्रभू की भक्ति में ही रहो और अपने में अपने आप सुखी हो। किसी अन्य से सुख की आशा रखना व्यर्थ है।

इन्द्रोऽप्याशविन्वतो दुःखी गताशोऽसंगकः सुखी।

स्वास्थ्यमेव गताशत्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।। 4-15।।

देखो, इन्द्र भी हो और आशा करे, तो वह दुःखी है। अतः आत्मा में स्थिर रहो और किसी भी पदार्थ की आशा न करो। अपने आत्मा के सहज स्वरूप में, जो कि एक चैतन्यशक्ति मात्र है, ऐसा अनुभव हो जाये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, आनन्दधन हूँ, सबसे निराला हूँ, ऐसा अनुभव हो जाये, तो जीवन सफल हो

सकता है। तभी मनुष्यभव पाने में मुनाफा है, नहीं तो टोटा ही बैठता है। कहते हैं कि जब विषयों की आशा न रहे, आशाओं का त्याग हो, तभी शान्ति मिल सकती है।

निर्वाणं भोगवैरस्यं बन्धो भोगेषु गृद्धता।

स्वायत्तमेव निर्वाणस्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥ 4-20॥

थोड़े ही शब्दों में यदि कहना हो कि निर्वाण क्या है और बंध क्या है? मुक्ति क्या है और बंधन क्या है? इसका उत्तर है कि भोगों में विरक्तता आ जाय, भोगों से राग हट जाय, तो यही मुक्ति है। और भोगों में आसक्ति आ जाय, तो यही बन्धन है और कोई दूसरा बन्धन नहीं है। आप जकड़े हुए हो। अपने बारे में जैसे कोई विचार करता है कि मुझे झंझट लग गई, इतने बाल-बच्चों में फिक्र बन गई और इतने कामों में झंझट बढ़ गया, इन सब कामों ने मुझे फांस लिया, इन बाल-बच्चों ने मुझे फांस लिया, तो जरा सही तो विचारें कि हमें किसने फांस लिया? आप कहेंगे कि हमें बाल-बच्चों ने फांस लिया, स्त्री ने फांस लिया। नहीं, किसी दूसरे ने नहीं फांसा है। विषयों की जो आशा बना रखी है, जिस विषयवृत्ति के भाव से विवाह किया, उस विषय की इच्छा ने फांसा है, स्त्री ने तुझे फांसा नहीं है। आपकी स्त्री ने, आपके बाल-बच्चों ने आपको नहीं फांसा है। आपके विषयकषायों ने ही आपको फांस लिया है।

यदि बंधन हटाना है तो कषायों से वैराग्य हो जाये, तब बंधन सुगमतया ही हट जावेगा। इन विषयकषायों में कुछ सार नहीं है, इनमें कुछ हित नहीं है, ऐसा समझो। यही मुक्ति है। जिसके भोग की इच्छा नहीं है, उसके बंधन नहीं है। भोग विरस लगने लगें, यही निर्वाण है। भोगने की आसक्ति आ जाये, अब यही बंधन है। सब जीव अपनी-अपनी परेशानियाँ अनुभव कर रहे हैं। यह क्यों कर रहे हैं? उनको अपने का पता नहीं कि मैं क्या हूँ? मेरा करने का काम क्या है? यह तो सोचा ही नहीं और इन इन्द्रियों के बहकाने में आ गये, मन के कहने में लग गये, बस, परेशानियाँ हो गयीं। इन परेशानियों को मिटाने वाला केवलज्ञान ही है। ज्ञान से परेशानियाँ मिट जाती हैं। अन्य किन्हीं चीजों से परेशानियाँ न मिटेंगी।

ज्ञानी पुरुष इन विषयसुखों पर लात मार देते हैं। जैसे कोई रईस का बालक है। छोटी ही अवस्था में उसका पिता गुजर जाय तो सरकार उसकी जायदाद को कोर्ट ऑफ वार्ड्स कर लेती है और लड़के को 500 रु. महीना या कुछ भी हो खर्चा बाँध देती है। मानो 50 लाख की सम्पदा सरकार ने ले ली है। उस लड़के का पालन-पोषण सरकार ही करती है। पर लड़का जब 14 वर्ष का हुआ, 16 वर्ष का हुआ तो वह सोचता कि 500रु. महीना खर्च मिलता है, सरकार बड़ी दयालु है। उसे अभी तक पता नहीं कि मेरी लाखों की सम्पत्ति सरकार ने ले ली है। और जब 18—19 वर्ष का हुआ, तो वह यह जानकर कि मेरी लाखों की जायदाद सरकार लिए हुए है, सरकार को नोटिस दे देता है कि मैं बालिग हो गया हूँ, मेरी जायदाद मुझे वापस कर दी जाये। वह सोचता है कि मेरी जायदाद अधिक है। यह जो सरकार 500 रुपये महीना भेजती है, उसकी मुझे जरूरत नहीं है। मेरी जायदाद सरकार मेरे सुपुर्द कर दे। जब वह अपनी जायदाद अपने कब्जे में कर लेता है, तब वह जायदाद को देखकर खुश रहता है।

इसी तरह जगत् के जीवों की अनन्त आनन्द की विभूति है, मामूली नहीं, क्योंकि स्वयं ही आनन्द से भरा इस जीव का स्वरूप है। 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्।' ज्ञानी संत पुण्यकर्म सरकार द्वारा हड़पे गये वैभव को ही चाहता है अर्थात् उन कर्मों के उदयकाल में सुखाभास मिलता है, उसमें रुचि करने से आत्मीय आनन्द सब निकल जाता है। उसका घाटा हो गया विषय-प्रेम में। जब तक उस जीव के मिथ्यादृष्टि है, तब तक वह मानता है कि मुझे कर्मों की कृपा से ही सारा वैभव मिला, सारा सुख मिला।

अगर यह जीव मिथ्यादृष्टि है, तो वह इधर-उधर ही भटकता रहता है। यदि जीव को सम्यग्दृष्टि हो जाती है, तो यथार्थ ज्ञान हो जाता है, कर्मों को नोटिस दे देता है। वे जीव जिनको सम्यग्ज्ञान हो गया, वे विषय-कषायों को नहीं चाहते। उनकी दृष्टि तो आनन्द वैभव में रहती है, बाहर-ही-बाहर उनकी दृष्टि नहीं रहती है।

ज्ञाने रतस्य धर्मार्थकाममोक्षे जनौ मृतौ ।

हेयादेयेऽपि चिंता न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ 4-22 ॥

जो किसी प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव का विश्वास कर लेता है सारे पदार्थों का विकल्प छोड़कर, पर विश्राम से रहकर ज्ञान का अनुभव जिसके हुआ करता है, ऐसा ही यत्न करके जो अपने ज्ञान में रत होगा, उसको फिर किसी प्रकार की चिंता नहीं रहती। चिंता तो तब है, जब ममता है। जिसका शुद्ध ज्ञान होगा, उसको बाहर की चीजों में ममता नहीं रहती है। जब तक ममता रहेगी, तब तक शान्ति नहीं रहेगी, क्योंकि ममता व्यर्थ की है। ममता बरबाद ही करने वाली है, उससे कल्याण नहीं होता है।

भैया! घर-गृहस्थी में रहते हुए सारे काम चलने दो। घर-गृहस्थी के काम करो, दुकान का काम करो, किसी भी काम के लिए अभी से निषेध नहीं किया जा रहा है। मगर भीतर में यह उजेला तो बना रहे कि दुनियाँ में सब धोखा है। यहाँ मेरा कुछ नहीं है। अगर हो सके तो ये सब बातें भीतर से मान लो। भैया! यह सोचो कि यहाँ केवल भ्रमजाल है। ममता के प्रसंग में केवल पाप ही रहेंगे। तो भैया! मोह की बात मोह की है और ज्ञान की बात ज्ञान की ही है। ज्ञानी सभी जीव हो सकते हैं, केवल अपने ज्ञान को जगावें। मनुष्य की तो बात क्या? गाय, भैंस, सुअर, गधा, साँप और नेवला इत्यादि सभी संजीजीव ज्ञानी हो सकते हैं। पुराणों में दृष्टान्त देखो, ये सभी जीव ज्ञानी दिखाये गये हैं।

रागो योगेऽपि हेयश्चेदसम्बन्धे पुनर्न किम् ।

अयोगे रागता चेद्धा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ 4-32 ॥

प्राप्त वस्तु में भी राग न हो, तो यही एक अपना विवेक है। किसी चीज में राग करते हो तो क्या वह चीज तुम्हारी है? तुम एक पदार्थ हो, अपनी सत्ता लिए हुए हो, सो तुम, तुम ही हो, तुम्हारी कोई अन्य चीज नहीं है। फिर राग करना मूर्खता है, क्योंकि तुम्हारी चीज कुछ है ही नहीं। अपने से बाहर में तुम व्यर्थ की दौड़ लगा रहे हो। बाह्य चीजों का आश्रय कर राग हो गया। राग के कारण ही ये सारे दुःख हैं। घर की, स्त्री की, मित्रों की अनुरक्ति रखना ही राग है। इस राग से तो दुःख ही होगा।

सुख तो एक परम समाधि दशा में है। सबसे हट गये, विकल्पों से परे हो गये, ज्ञानज्योति मात्र अपना अनुभव कर लिया, तो समझो कि आनन्द का मार्ग मिल गया। आनन्द परवस्तु से नहीं मिलेगा। राग छोड़ दो, तो आनन्द मिल जायेगा।

तुम्हारे माँ-बाप कितना तुम्हारे पीछे खर्चा कर रहे हैं? वे सारे कष्ट तुम्हारे पीछे उठा रहे हैं, तो उनका तुम्हारे प्रति राग है, इसी से उनमें आकुलताएँ तो राग से ही हैं। यदि राग न हो, तो आकुलताएँ ही क्यों हों?

एक देहाती था। उसका लड़का शहर में किसी कालेज में पढ़ता था। वह लड़का बोर्डिंग हाउस में रहता था। उसके पिता ने सोचा कि चलें, लड़के से मिल आवें, कुछ नाश्ता वगैरा दे आवें, पैसे दे आयें। सो वह घुटनों तक धोती पहिने, तनीदार मिर्जाई पहिने और सिर पर एक साफ़ाँ बाँधकर कालेज गया। बोर्डिंग हाउस के लड़कों से बुलवाया कि फलों नाम का एक लड़का है, उसको बुला दीजिए। अब वह लड़का आ गया। साथ में चार-छः जो दोस्त थे, वे भी आ गये। वे तो सब अच्छे पोशाक से, वेश-भूषा से आए, कोट, पैंट, बूट, टाई लगाकर और उसका पिता उसी देहाती सूरत में मिलने आया। अब दोस्त पूछने लगे कि कहो मित्र! ये तुम्हारे कौन हैं? जो खाना-पीना भी लाये हैं? सो वह शान में आकर बोला कि यह तो हमारा मुनीम है, चाकर है। इतनी बात सुनकर बाप का मन लड़के से हट गया। उसने सोचा कि यह मेरा लड़का होकर भी मुझे नौकर बताता है। तबसे उस बाप ने लड़के की कोई खबर नहीं ली। पिता का तभी से उस लड़के के प्रति जो राग था, वह दूर हो गया।

जब तक राग है, तब तक बंधन है और जहाँ राग छोड़ दिया, तभी बंधन छूट गया। ज्ञान की बातें यदि उपयोग में नहीं आती हैं, मोह/राग के ही चक्कर बने रहे, तो उससे मनोबल मिटता है, वचन बल खत्म होता है, कायबल भी क्षीण होता है और धनबल खत्म होता है। किसी से राग करने में आत्मा की प्रगति नहीं है। सो, भाई! जिन पदार्थों का संयोग है, उसका राग हेय है। जो चीज पास में नहीं है, इसका क्या राग करना? जो चीज पास में है, उनका भी राग नहीं करना चाहिए। पास है, तो होने दो। राग करने से लाभ कोई नहीं है।

राग करने से तो आकुलताएँ ही बनती हैं। पास हुई चीज में भी राग नहीं करना चाहिए। फिर यदि न-हुई चीज में राग-द्वेष बना रहे, तो यह बड़े खेद की बात है। इस मोही जीव को देख लो कि चीज के न होते हुए भी इसे उनसे राग होता है, आकुलताएँ बनी रहती हैं। ऐसी आकुलताओं से हटने का उपाय है वस्तुस्वरूप का सम्यग्ज्ञान करना। मिली हुई चीज हो या न हो, यह जीव तो ख्याल बना करके राग बना लेता है, सो यदि हिम्मत बन सके, तो इन ख्यालों को छोड़ने से ही सुखी हो सकते हो।

शुद्धात्मानं विहायान्यचिन्ता पापोदयस्ततः।

अन्यचिन्तां पृथक्कृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥ 4-33॥

एक शुद्ध निज आत्मा का चिंतन हो, यह तो है विवेक की बात और अपने आत्मतत्त्व को छोड़कर अन्य किसी चीज की चिन्ता न हटी, तो यह है पाप का उदय। चिन्ताओं से आत्मा को कोई लाभ नहीं है। चिन्ताओं से बुद्धि भी बिगड़ती है। सो अन्य चिन्ताओं के वातावरणों से दूर होने पर ही कुछ लाभ मिल सकेगा। यदि चिन्ता ही करना है, तो अपने आत्मस्वरूप की चिन्ता करो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, आनन्दमय हूँ। केवल दृष्टि के फेर से सारे संकट छा गये हैं। सो बाह्यदृष्टि को मिटाओ, शुद्ध दृष्टि करो, तो ये सारे संकट समाप्त हो जावेंगे। सो इस अपने ज्ञानस्वरूप को संभाल कर रखूँ, इस आत्मा को ही अपना रक्षक बनाऊँ, तो इस तरह की भावनाओं से, पुरुषार्थ से चिन्ताएँ दूर हो सकती हैं। यह लड़का अच्छी तरह से रहे, दुकान अच्छी तरह से चले, समाज और राष्ट्र के मैं कुछ काम कर डालूँ तथा अन्य-अन्य विषयक भी चिन्ताएँ होती हैं। ये चिन्तायें सब पाप के उदय के कारण होती हैं व पाप का बंधन कराने वाली हैं, जिससे भविष्य में पापोदय होगा व क्लेश होगा। अतः बाह्य दृष्टि को मिटाओ। बाह्य दृष्टि ही चिन्ताओं का कारण है।

एक गाँव में एक युवक रहता था। वह बड़ा बलवान् था। राजा का हाथी जब निकलता था तो हाथी के पैरों में बंधी हुई साँकल को वह पैरों से दबा देता था, तो हाथी की साँकल पर पैर रखकर हाथी को रोक लेता था। इसको बहुत चिन्ता नहीं है, इससे एक ऐसा बलवान है कि यह हाथी को खड़ा कर लेता है।

अगर इसके चिंतायें बना दूँ, तो इसकी पहलवानी सब रह जायेगी। हाथी फिर न रोका जा सकेगा। राजा ने सोचा कि कोई—न—कोई चिंता इसके लगा दूँ। उस राजा ने उसको बुलाया, उसकी माँ को भी बुलाया। कहा कि उस मन्दिर में रोज चिराग चला दिया करो तो मेरे राज—कोष से तुम दोनों को खाने की अन्न सामग्री मिला करेगी। उसने स्वीकार कर लिया। अब उसे केवल दीपक जलाने की चिंता हो गयी। जब दोपहर हो जाती, तो शाम को चिराग जलाने की चिंता लग जाती है। केवल इतनी ही चिंता से उसका सारा बल घट गया। अब जब राजा का हाथी निकलता तो साँकल पर पैर रखकर वह दाबे तो हाथी झटका देकर चला जाता था। अब उसके पैर से दबाने का कुछ असर नहीं पड़ता।

भैया! चिंता से केवल शारीरिक बल ही नष्ट होता है, ऐसा नहीं है। चिंता से आत्मबल भी क्षीण हो जाता है। सो भैया! चिंताओं को त्यागो। जब तक मोह है, तभी तक चिंता है। इन चिंताओं से छूटने के लिये सब प्रकार के मोह को त्यागकर अपनी आत्मा के निकट रहो, किसी भी चीज में मोह न रखो, क्योंकि वे सब पदार्थ तुमसे बिलकुल जुदा हैं। उनकी आशा न करो। उनमें मोह करने से पूरा न पड़ेगा। इसलिये बाह्य पदार्थों की चिंतायें छोड़कर अपने लिये आप स्वयं सुखी होवो।

मोह में जीव को सर्वत्र मूढ़ता है और मोही जीव को सम्पदा के बीच में भी विपत्ति है। मोह है, इसलिए मोही कहा जाता है। वैसे तो मोह, मूढ़ता व अज्ञान सब एकार्थक हैं, किन्तु लोग मोही सुनकर तो बुरा नहीं मानते, लोग मूढ़ सुनकर बुरा मानते हैं, जबकि बात एक है। मूढ़ तो मोह करने से बना है, कुछ कहने से नहीं।

एक आदमी था बेवकूफ। उसका नाम मूरखचन्द रख दिया लोगों ने। उसे सब लोग मूरखचंद कहते थे। वह गाँव के बाहर चला गया और रास्ते में एक कुँवा था उसमें पैर लटकाकर बैठ गया। इनते में एक आदमी निकला और उसे इस तरह देखा तो बोला—अरे मूरखचन्द! कहाँ बैठा है? उसने प्रेम से उसको गले लगाकर कहा—‘कैसे आपने जाना कि मेरा नाम मूरखचंद है? किसने तुम्हें बताया कि मेरा नाम मूरखचन्द है?’ वह मुसाफिर बोला कि तेरी करतूत ही बताती है कि

तुम्हारा नाम मूरखचंद है। सो भैया! उपादान हम लोगों का अशुद्ध है तो मोही ही हैं। जिनका उपादान जिस-जिस रूप है, उनका नाम वैसा पीछे पड़ा। करतूत है, तब नाम पीछे है। यह नहीं कि नाम पहले रखा है, कर्तव्य पीछे। करतूत पहले, नाम बाद में। जो अपने ज्ञान के स्वरूप को जान जाये, उसका नाम है ज्ञानी और जो अपने ही ज्ञान को स्वयं न जाने और दुनियाँ के सारे पदार्थों को जानता है, उसको कहते हैं अज्ञानी। यह मोक्षमार्ग में ज्ञान और अज्ञान की पद्धति है। कोई कितने ही ठाट-बाट बना ले, कितनी ही सम्पदा जोड़ ले, परन्तु शान्ति तब तक नहीं मिलेगी, जब तक —‘अपने सहज ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ’, इतना स्वयं में ही यह न मान जाय। दूसरों का आश्रय करके जो विकल्प करने वाली वस्तु है, उससे अहित ही होता है। अन्य की ओर दृष्टि करने से विकल्प होते हैं, विकल्प से मलिनता बढ़ती है।

एक कोई ब्राह्मण का लड़का था। पढ़-लिख गया। उसने कहा कि हम शादी करेंगे तो अन्धी लड़की के साथ करेंगे, हमारी अन्धी से शादी हो। शादी हो गयी। उस स्त्री ने पूछा कि तुमने ऐसा क्यों किया? कुछ दिन बाद में दो-तीन लड़के हो गये। बाद में वह अन्धी जिद करने लगी कि मेरी आँख खोल दो, तुम तो मंत्र बहुत जानते हो। उसने आँखें खोल दीं। दो-तीन वर्ष बाद में एक बच्चा और हो गया। एक दिन उस स्त्री ने कहा कि तुम मेरी आँखें पहिले क्यों नहीं खोलते थे? पुरुष बोला— ‘अच्छा, आज एक काम करना, रोटी मत बनाना। लड़के आयें और कहें कि रोटी क्यों नहीं बनायी, तो कहना कि तुम्हारा बाप हमें गाली देता है, नाराज होता है, इस कारण हमने रोटी नहीं बनायी। फिर जो वे उत्तर दें, मुझे बताना।’ उसने रोटी नहीं बनायी। बड़ा लड़का आया, बोला— माता जी! आज रोटी क्यों बनाई? माँ बोली कि तुम्हारे बाप ने हमें गाली दी है, इससे रोटी नहीं नहीं बनाई। लड़का बोला कि आप माता हैं और वे पिता हैं, आप लोगों के बीच में हम क्या कर सकते हैं? किन्तु दुःख नहीं सह सकते, हम भूखे नहीं रह सकते हैं।

दूसरा आया, तीसरा आया, वही बात हुई। चौथा आया और बोला— अम्मा! आज रोटी क्यों नहीं बनाई? माँ ने उत्तर दिया कि हमें तुम्हारे बाप ने

गालियाँ दी हैं, इससे रोटियाँ नहीं बनाईं। तो वह चौथा लड़का बोला कि अम्मा! बाप—माप को हम अभी देख लेंगे, तू तो रोटी बना, हमें तो भूखे लगी है। देखो, भैया! आँख खुलने के बाद स्त्री में चतुराई आयी, लोगों को देखा, विकल्प बढ़े, विकार बढ़ा, उस ही का फल देखो चौथे लड़के ने क्या कहा? भैया! यहाँ कोई आनन्द का साधन नहीं। आपको जो आनन्द आता है, वह लौकिक एवं विनाशीक आनन्द है। आपको चाहे जो समय हो, कुछ भी साधन हों, सर्वत्र जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द स्वयं का ही मिलता है।

इस वास्ते ऐसा निर्णय करके, 'मेरे वास्ते मैं ही जिम्मेदार हूँ। मैं अपने परिणामों को सदा शुद्ध बनाता रहूँ। अपने स्वभाव की दृष्टि कर सकूँ।' ऐसा भाव बनाए रहें। किसी भी प्राणी का अकल्याण मन में न आये, ऐसा भाव बना लें तो बेड़ा पार है अन्यथा दुःख ही है। भैया! मनुष्य कुछ कर तो सकता नहीं, केवल भाव करता है। जैसे बच्चों की पंगत होती है, तो है क्या उनके पास? कुछ नहीं। फिर भी कहते हैं पत्ते परस कर कि रोटी खावो। केवल कंकड़ परोस कर कहते हैं कि गुड़ खावो। अरे! जब कल्पना ही करना है, तो पत्तों को रोटी कहकर क्यों परोसते हो? पूड़ी कहकर परोसो, कंकड़ को लड्डू कह लो। इसी तरह केवल सोचना ही है तो बढ़िया कल्पना करो। वहाँ तो भैया! परमार्थ नहीं, जबकि यहाँ तो परमार्थ है, सत्य है। सो मनुष्य कुछ कर नहीं सकता सिवाय सोचने के, तब बुरा ही क्यों सोचें? अच्छा सोचें। अपनी निधि, अपना भगवान्, अपना स्वामी जो कुछ है, वह मैं ही अपने आप हूँ। मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ। परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं हैं।

ज्ञानी ज्ञान के स्वरूप को जानता है। ज्ञान का जानना, इसी से तो आत्मज्ञान हो जाता है और लगन भी मालूम पड़ जाती है। हमें करना क्या है? क्या जानना है? कहाँ जानना है? जानने का स्वरूप क्या है? जो जानने का स्वरूप जानो, यह यथार्थ ज्ञान कहलाता है। बोधिदुर्लभ भावना में आता है कि सब मिलना सरल है। सोना, चांदी सब मिलना सरल है, परन्तु यथार्थ ज्ञान मिलना कठिन है। और—सब ज्ञान मिल जाता है, परन्तु जानने का जानना कठिन है। जो जानने वाला है, वह क्या है? इस शोध का पता नहीं लगता

अज्ञानियों को। मूल में भूल कर देना, यह कितनी बड़ी भूल होगी? एक कथा है कि एक दामाद अपनी ससुराल गया। उन दिनों में उसका ससुर बाहर शहर में गया था, बीमार पड़ा रहता था, बीमारी की चिट्ठियाँ आ रही थीं। कुछ दिनों में चट्ठी आयी। जब दामाद भी वहाँ था, लोगों ने कहा कि लालाजी से चिट्ठी पढ़वा लें। अब लालाजी मन में पछताने लगे कि अगर हम पढ़े—लिखे होते तो चिट्ठी बांच देते। लालाजी दुःखी होकर बैठ गए और दुःख के आँसू भी आ गये। सास आदि ने जब रोना देखा, तो सब यह समझे कि उनका ससुर मर गया है। ऐसा समझकर घर के लोग रोने लगे, तो पड़ोस के लोग आ गए, वे भी रोने लगे। गाँव में हल्ला मच गया तो जमींदार भी आये, पूछा कि क्यों रोते हो? वह बोला — करम फूट गया है। जमींदार ने पूछा कि खबर आयी है या कोई चिट्ठी आई है? चिट्ठी मँगाई गयी, उसे पढ़ा, तो लिखा था कि हमारी तबियत ठीक है, तीन दिन में आ रहे हैं। अब जड़ का पता किसी ने न लगाया। मूल में था क्या? उसमें लिखी चीज का तो कुछ पता नहीं लगाया, उसका फल यह अनर्थ हुआ। हम मूल में क्या हैं, इसका कुछ पता नहीं लगा। हम ज्ञानमय हैं, सबसे निराले हैं, हम झंझटी नहीं है। मैं एक पदार्थ हूँ, इसमें कोई विवाद का काम ही नहीं है। मैं अपने स्वभाव को भूल गया और स्वरूप को भूलने के कारण दुनियाँ भर में भटकता रहा।

जगत् में जितना भी क्लेश है, वह सब आत्मा के भ्रम का क्लेश है। बाहरी पदार्थों में आत्मतत्त्व का भ्रम हो गया, इसीलिए क्लेश होता है। यह क्लेश स्वयं ने ही तो बनाया है। भ्रम किया, कि दुःख हो गया। धन—वैभव जो कुछ होता है, नाशवान् होता है, उससे दुःख होता है; क्योंकि जो परपदार्थ हैं, उन सबकी सत्ता जुदी है। उसमें यह उपयोग कर लिया कि यह मैं हूँ, ये मेरा है। बस, दुःख होने लगता है। यह तो है अन्याय की बात। अभी जीवन में, घर में, पास—पड़ोस में, समाज में, मित्रों में अधिक तरह से भ्रमों का क्लेश रहा करता है। किसी भी बात का भ्रम हो गया, बस, अलग बैठे—बैठे दुःखी हो रहे हैं। यह भ्रम का क्लेश हमने ही तो स्वयं बनाया है और हम ही इस भ्रम को नष्ट करेंगे तो यह क्लेश नष्ट हो सकते हैं अन्यथा नहीं होंगे। जैसे एक उदाहरण लो कि एक करोड़पति

अपनी हवेली में दोपहर में पलंग पर सो गया। उसे स्वप्न आया कि उसको गर्मी बहुत लगी है, सहा नहीं जाता। इसलिए चलें, समुद्र की ठंडी लहरों में थोड़ा घूम आवें। वह चला नहीं, स्वप्न में देख रहा है। समुद्र के पास गया। नाविक बोला कि हमें एक घण्टे तक इस समुद्र की सैर करा दो। बोला— ठीक है, 5 रु. फीस है। बोले, ठीक है। इतने में स्त्री बोली कि हमें भी ले चलो, हम भी चलेंगे। घर के बच्चे बगैरा भी ऐसा कहने लगे कि हमको भी ले चलो। सब नाव में बैठ कर करीब आधा मील पहुँचे तो समुद्र में भंवर आयी। नाविक ने सेठ से कहा— नाव डूबने से नहीं बचेगी। हम तो तैरकर निकल जावेंगे। सेठ नाविक से बोला कि 5 हजार रु. ले लो, 50 हजार रु. ले लो, परन्तु नाव को पार कर दो, नहीं तो हम सब मर जावेंगे। (इस समय स्वप्न में देखो कि दुःख कितना हो रहा है?)

स्वयं हम भी मरेंगे और हमारे सहायक भी मरेंगे। अब क्या होगा? सारी बातें सोच-सोच कर क्लेशित हो रहे हैं। पर सेठ जी होते तो हैं देखो बंगले में, मित्र लोग देख रहे हैं कि सेठ जी बंगले में सो रहे हैं। कब जागेंगे? नौकर-चाकर भी काम कर रहे हैं। सेठ जी स्वप्न देख रहे हैं। नौकर-चाकर तथा मित्र कोई भी उनके दुःख को मिटाने में समर्थ नहीं है। उनका दुःख केवल एक ही उपाय से मिट सकता है कि जाग जायें, नींद खुल जाए। उनके दुःखों के मिटाने का और कोई दूसरा साधन नहीं है। जाग गये तो देखा कि वहाँ समुद्र नहीं है और न वे सारे दुःख हैं।

इसी तरह इस जगत के प्राणी मोह की नींद में सो रहे हैं और मोह की नींद वह है जहाँ पर सब दुःखी रहते हैं। यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है, यह मेरा परिवार है, इतना मेरा बन गया है, इतने का नुकसान हो गया है, अपमान हो गया है, इज्जत मिट गयी। सारे अपने मोह को ही देख रहे हैं। देखो, कैसा वह ज्ञानानन्द स्वरूप है? यह जीव अपने आनन्द की सत्ता में है, जिसका स्वरूप भगवान्स्वरूप है। ऐसे ज्ञानानन्द स्वभाव में यह सब है। लेकिन मोह में पड़े हुए हैं और सारा जगत लाभ-हानि मानकर दुःखी हो रहा है। इस जीव के दुःखों के मिटाने में कौन समर्थ है? क्या परिवार के लोग या मित्रजन, क्या अपनी चेष्टा करके दुःख मिटा सकते हैं? कोई दुःख मिटाने में समर्थ नहीं है।

यद्यपि यह जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, भगवान् स्वरूप है, ज्ञानानन्दघन है, लेकिन बाहरी पदार्थों में उपयोग कर लिया, इसके फल में महान क्लेश होना ही है। इसके मिटाने का सामर्थ्य है केवल अपने पुरुषार्थ में।

“रत्नकरण्ड श्रावकाचार” में एक कथा आती है मुछमक्खन की। एक व्यक्ति का नाम मुछमक्खन था। वह एक जैन के यहाँ गया। वहाँ मट्ठा पिया। मूँछ पर हाथ फेरा। जब हाथ फेरा तो मूँछ में मक्खन लग गया। सोचा कि यह काम बहुत बढ़िया है। ऐसा रोज करूँगा। रोज किया। एक साल में अच्छा घी, लगभग एक सेर, जुड़ गया। अब जाड़े के दिनों में जनवरी के महीने में डबली को ऊपर लटकाया, नीचे आग जलाई और सो गया। अब वह स्वप्नवत् पड़े-पड़े मन में कल्पनायें करने लगा। घी को दो रुपये में बेचूँगा। दो रुपये से और—कोई सामान खरीदकर 4—5 रु. में बेचूँगा। 5 रु. का सामान खरीदकर 10—20 रु. में बेचूँगा। जब 10—20 रु. हो जावेंगे, तब फिर बकरी खरीदूँगा, गाय खरीदूँगा, बैल खरीदूँगा। बाद में जमींदारी खरीद लूँगा, विवाह करूँगा, बच्चे होंगे। इतने में एक बच्चा आ गया, बोला कि माँ ने रोटी ने खाने के लिए बुलाया है। वह कहता है कि अभी नहीं जाऊँगा। दूसरी बार फिर कहेगा कि माँ ने रोटी खाने के लिए बुलाया है। कहा — अभी नहीं जाऊँगा। तीसरी बार फिर कहेगा कि माँ ने रोटी खाने के लिए बुलाया है। कहा — अबे! कह तो दिया कि नहीं जाऊँगा। ऐसा कहकर लात फटकारी। लात की फटकार से डबली में धक्का लगा, नीचे गिर गई और फूट गई। उसकी झोपड़ी भी जलने लगी। अब तो वह झोपड़ी के बाहर निकलकर चिल्लाने लगा कि स्त्री मरी, बच्चे मर गए, गाय—भैंस खतम हो गये। लोग जो पास में थे, बोले कि कल तक तो भूखों मरता था, आज कहाँ से यह सबकुछ आ गया? बाद में उस मुछमक्खन ने सारा किस्सा सुनाया।

परमार्थ से देखो तो यह आत्मा ज्ञान मात्र है। इसका यहाँ कुछ नहीं है। ये सब कल्पनायें हैं, भ्रमजाल है। भ्रम के कारण दुःख होता है। हमने अपने दुःख को भ्रम से ही पाला है। हम ही अपने ज्ञान का सहारा करके तथा भ्रम को नष्ट करके सारे क्लेशों को दूर कर सकते हैं। यथार्थ स्वरूप ज्ञात होना ही दुःखों को

मिटाने का उपाय है। अभी सामने रस्सी पड़ी है, कुछ अंधेरा और कुछ उजेला है। सामने देखा तो भ्रम हो गया कि यह साँप है। इस भ्रम के कारण उसे डर हो गया, आकुलता हो गई, दिल काँपने लगा कि हाय! यह तो साँप है। है कुछ नहीं, रस्सी पड़ी हुई है। उसने कहा कि आखिर देखें तो कि कौन-सा साँप है? जहरीला है कि और-कोई है? थोड़ा पास गया। कुछ और हिम्मत की। फिर और चला, तो देखा कि यह तो रस्सी है। लो, भ्रम खत्म हो गया, आकुलता खत्म हो गयी, दुःख खत्म हो गये।

जितना भी क्लेश होता है, यह सब भ्रम से होता है। तो अपने आप ऐसा अनुभव करो, ऐसा उपयोग बनाओ कि मैं अपने सत्त्वमात्र हूँ, ज्ञान और आनन्द मात्र हूँ, शरीर से न्यारा हूँ, सब पदार्थों से निराला हूँ, केवल मैं आनन्द को करता हूँ और ज्ञानानन्द को ही भोगता हूँ। ज्ञानानन्द में रहने के अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूँ। इसी तरह से तू अपने स्वरूप का अनुभव करे तो वहाँ कुछ क्लेश नहीं है, कोई विपत्ति नहीं है। विपत्ति तो भ्रम से बनती है, अतः भ्रम समाप्त होते ही विपत्ति समाप्त हो जाती है। बड़े-बड़े महापुरुषों ने राम, हनुमान इत्यादि महापुरुषों ने सबकुछ छोड़ दिया, घर छोड़ दिया तथा आत्मसाधना की। क्या वह कम बुद्धि वाले थे? वे तो बड़े पुरुष थे, पूज्य पुरुष थे, आराध्यदेव थे। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि यहाँ तो सब असार है। उनसे मेरा वास्ता कुछ नहीं, फिर उन पर दृष्टि क्यों की जाये? सम्यग्ज्ञान हुआ, अतः इन्होंने सबकुछ छोड़ा, इसलिए उन्हें शुद्ध आनन्द मिला। यह आत्मा स्वयं ही स्वतंत्र है। बाहरी पदार्थों से दृष्टि हटाओ और अपने आनन्द स्वरूप में दृष्टि लगाओ। सब विकल्पों को छोड़कर अपने आप में रमो, तो वह आनन्द मिलेगा कि जिसके निमित्त से भव-भव के संचित कर्म भी मिट जायेंगे। बड़े-बड़े राग-द्वेषों की आपदायें भी क्षण भर में ही भस्म हो जावेंगी। यह इस ज्ञान की ही सामर्थ्य है, अन्य किसी में सामर्थ्य नहीं है।

हम प्रभु की भक्ति क्यों करते हैं? क्योंकि वे सर्वदृष्टा हैं। जो हमें करना चाहिये, वह उनसे मार्ग मिलता है। इसी कारण हम उन पर बार-बार अनुरक्त हो जाते हैं, सबकुछ न्यौछावर करने को हम तैयार हो जाते हैं। यह जगत् की

इकट्ठी की हुई माया एक विकार है, अनर्थ है, स्वयं लाभ करने वाली नहीं है। अन्य तो अन्य ही है, पर तो पर ही है, अत्यन्त जुदा है। उससे मुझमें (इस आत्मा में) कुछ बन नहीं पाता। प्रत्युत पर की ओर झुकें तो क्लेश ही थोड़ा आता है, क्योंकि पर की ओर झुकना तो अज्ञान है, वहाँ क्लेश—ही—क्लेश हैं।

एक कथानक है कि दो स्त्री—पुरुष थे। जिनके नाम थे बेवकूफ और फजीहत। दोनों में लड़ाई हो जाती थी और थोड़े ही में मेल हो जाता था। उनमें लड़ाई चलती रहती थी, पर उससे कुछ बिगड़ नहीं पाता, क्योंकि जल्दी मेल भी जाता था। एक दिन इतनी लड़ाई हुई कि दोनों ने घर छोड़ दिया। वह बेवकूफ गाँव में जाकर पूछता है कि क्यों, भाई! हमारी फजीहत देखी है? पूछा—‘क्यों ? क्या भाग गई ?’ कुछ उत्तर नहीं दिया। 5 से पूछा, 8 से पूछा, कुछ पता न चला। एक अपरिचित आदमी था। पूछा कि भैया! तुमने हमारी फजीहत देखी है? उसने पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है? बोला कि मेरा नाम बेवकूफ है। उसने कहा कि भाई! बेवकूफ होकर भी तुम्हें क्यों फजीहत की तलाश रहती है? जरा उल्टा बोल लो, उससे ही दूसरे लोग लाठी, घूंसा, जूते इत्यादि मारने के लिए तैयार हो जावेंगे। तुम्हें तो हर जगह फजीहत मिल जावेगी।

इसी तरह यहाँ भी जो अज्ञानी हैं, अपने स्वरूप को नहीं अपनाते, अपनी ओर नहीं झुकते। अपने में वह प्रभु समाया हुआ है— ऐसा जब तक नहीं जानते और बाह्य पदार्थों को तरसेंगे और उनकी तरफ झुकेंगे—ऐसे अज्ञानी बने रहेंगे, ऐसे मोही जब तक बने रहेंगे, तब तक इस मोही को विपत्ति की क्या कमी है? किसी भी स्थिति में रहें, धन बढ़ गया तो क्या? अच्छे कुल वाला बन गया तो क्या ? कुछ भी हो जाये। आत्मा की वर्तमान स्थिति तो पर्याय ही है। कुछ भी बन जाय, मगर विपदा नहीं छूटेगी, चाहे तीनलोक की सम्पत्ति उसके पास एकत्रित हो जाय।

मेरी मदद करने वाला इस लोक में कोई नहीं। मेरी शरण, रक्षक, अधिपति, मालिक इस लोक में कोई नहीं है। अरे! दूसरों की आशा क्या करना? वह दूसरे भी सब मेरी ही तरह असहाय हैं। दुःख में, क्लेश में पैदा होकर चक्कर काट रहे हैं। जैसा मैं हूँ, वैसे ही सब हैं।

जैसे नदी में डूबते हुए चार—छः आदमी हैं, जो तैरना नहीं जानते हैं और इकट्ठे एक जगह आ गए हैं। गहरे पानी में उनमें एक को दूसरे से क्या आशा है ? क्या वे एक दूसरे का हाथ पकड़कर बच सकेंगे? वह तो सब डूबने के लिए हैं। इसी तरह ये जगत के मोही प्राणी स्वयं संसार—सागर में डूब रहे हैं, उनसे सुख की क्या आशा करना ?

अभी आत्मा को बड़ा बनाने का समय है। यह महान बनेगा, तो इसकी सदबुद्धि चलेगी और इसको ऐसे ही रहना होगा, तो मोह में बाह्य पदार्थों में ही जकड़ा रहेगा। यह बड़े सौभाग्य की बात है जो इस आत्मा को अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप में देखें। इससे बढ़कर ऊँचा भवितव्य और कोई को नहीं कहा जा सकता है। स्वप्न में बड़े हो गये, तो क्या वह बड़प्पन आगे रहेगा? बल्कि स्वप्न में देखा हुआ बड़प्पन थोड़े समय बाद में दुःख करेगा। जैसे एक कथानक में कहते हैं कि कोई घसियारा था। वह सिर पर घास का गट्ठा धरे जा रहा था। साथ में 4—5 घसियारे और थे। और एक पेड़ के नीचे बोझ उतार कर आराम से लेट गये। उनमें से एक घसियारे को नींद आ गई। नींद में स्वप्न आ गया। स्वप्न में देखता है कि लोगों ने उसे राजा बना दिया है। एक अच्छा महल है। बड़े हाल में अनेक दरवाजे लग रहे हैं। बड़े—बड़े मुकुटधारी राजा आ रहे हैं। लोगों के द्वारा प्रशंसा हो रही है। गाने—ताने हो रहे हैं। सब झुक रहे हैं। इतने में एक घसियारा जागता है और कहता है कि चलो, समय हो गया, बड़ी देर हो गई है। जब वह जाग गया, तो बोला—‘हाय, हाय! मेरा सबकुछ कहाँ गया?’ रोने—पीटने लगा।

इसी तरह मोह की नींद में जो सोये हुए हैं, उनको जो स्वप्न में बड़प्पन दिखाई दे रहा है, कि मैं ऐसा हूँ, ऐसा बुद्धिमान हूँ, मैं तो सरकार की पहुँच वाला हूँ, आदि जो स्वप्न देख रहे हैं, वह सच्चे लग रहे हैं। घसियारे को स्वप्न—सा नहीं लग रहा था, अब तक स्वप्न में था। पर जब वह जाग गया, तो उसे झूठ लगा। मोह छूट जाने पर यह भी झूठा लगेगा। मोह की नींद खुल जाने पर यह जगत् का बड़प्पन अच्छा नहीं लगेगा।

आत्मीय आनन्द अपने ज्ञानरस से आता है, बाहरी पदार्थों से नहीं आता। अतः बाहरी पदार्थ तो दुःख के ही कारण होते हैं। जैसे कभी-कभी बच्चे दूसरे बच्चे को, जिसके हाथ में लूट का आम हो उसे, आम ले लेने के लिए छेड़ते हैं और पीटते हैं। यदि वह आम को फेंक दे, तो सारे बच्चे पीटना छोड़ देंगे। इसी प्रकार पक्षी दूसरे पक्षी से मांस का टुकड़ा छीनते हैं, उस पर अनेक आक्रमण करते हैं, पर यदि वह उस टुकड़े को छोड़ दे, तो पक्षी आक्रमण करना छोड़ देंगे।

इसी तरह ये जगत के जीव जो दुःखी हो रहे हैं, लोग जो पीट रहे हैं, इसलिये कि पर को अंगीकार कर रहे हैं। इस काम कर लो, पर की तृष्णा छोड़ दो, तो सबसे मिलने वाली विपदा समाप्त हो जायेगी, सारी तृष्णा यहीं खत्म हो जायेगी। जानने मात्र से ही आनन्द है और उसमें ही कर्म की निर्जरा होती है।

आप—हम स्वयं कल्पवृक्ष हैं या चिन्तमणि हैं। जैसा मानो, तैसा बन जाओ। अब बताओ कि शुद्ध बनना चाहते या अशुद्ध बनना चाहते हो? यदि हम अपने को अशुद्ध देखना चाहें, तो अशुद्ध बने रहेंगे और यदि हम अपने को शुद्ध देखना चाहें, तो शुद्ध बन जायेंगे। जैसी मैं उपासना करूँ, तैसा मैं बन जाऊँ। राम, हनुमान, भरत, बाहुबलि भगवान् कैसे बन गये? इन्होंने अपने आप में शुद्ध आत्मा की उपासना की। मैं शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ। मुझमें कोई बखेड़ा नहीं है। मुझमें किसी दूसरे का अस्तित्व नहीं है। मैं अपने ही तत्त्व में हूँ, ज्ञान में हूँ, सबसे निराला हूँ। जहाँ इस 'केवल' की भावना की, तो 'केवल' ही रहोगे। 'केवल' रह जाने का नाम भगवान् है। अपने को 'केवल' देखो तो केवल बन जाओगे। और अपने को दूसरा रूप देखो, तो दूसरा रूप बन जाओगे। जैसा अपने को देखोगे, वैसा ही अपने को बना लोगे।

किसी सेठ से किसी का मुकदमा था। सेठ के विपक्षी वकील ने सलाह दी कि सेठ मुकदमें में जायेगा, वहाँ तुम पहुँच जाओ। 5—10 आदमियों से जैसे टिकट देने वालों से, तांगे वालों से, पुलिस वालों से बता देना कि अगर सेठ जी आवें तो उनसे कहना कि सेठ जी! तुम्हारा चेहरा आज क्यों गिर गया है? आज तो चेहरा बिल्कुल बदल गया है, बीमार थे क्या? सेठ जी टिकट लेने गये, तो

टिकट देने वाले बाबू ने सेठ से कहा कि आज तुम्हारा चेहरा बिल्कुल बदल गया है, बीमार थे क्या? इसी प्रकार से रिक्शे वाले ने, तांगे वाले ने तथा पुलिस वालों ने भी सेठ जी से पूछा—चेहरा तो बिल्कुल बदल गया है। अब सेठ जी का हुलिया बिगड़ गया, बुखार आ गया, आखिर में मुकदमें का ख्याल छोड़कर घर लौट आये।

जैसी उपासना कर ली, वैसा परिणाम कर लिया। अपने आप में अगर शुद्ध चैतन्य की उपासना करो, तो शुद्ध चैतन्य—स्वरूप बन जाओ। यह बड़े मर्म की बात है। केवलज्ञान पैदा होने का उपाय क्या है कि हम अपने को 'केवल' देखें, ज्ञानमय देखें। केवल, सिर्फ, मात्र (एलोन) ही अपने को अनुभव करने का फल है केवलज्ञान हो जाना। तो योगियों ने क्या किया? 'मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ,' यह अनुभव करने में ही जोर दिया और केवल अपने को ज्ञान मात्र ही अनुभव किया। बस, केवल अपने को ज्ञान मात्र अनुभव करना ही शुद्ध तत्त्व का अनुभव है। शुद्ध तत्त्व का ज्ञान करने से शुद्धता मिलती है और अशुद्ध तत्त्व का ज्ञान करने से अशुद्धता मिलती है।

जैसा मैं अपने को देख लेता हूँ, तैसा ही मैं अपने को पा लेता हूँ। जब बालक लोग आपस में खेलते हैं कि मैं चोर बन जाऊँ, तुम बादशाह बन जाओ, वह सिपाही बन जावे, वह जज बन जावे। जब जज के सामने चोर को पकड़कर लाया जाता है तो कभी—कभी इसी में बालकों में झगड़ा हो जाता है, पिटाई हो जाती है। कहीं—कहीं नाटक में तो जैसे अमर सिंह का नाटक बड़ा प्रसिद्ध बतलाया जाता है, उस नाटक में एक बार जो अमरसिंह बना था उसने जवाब—सवाल में ही सलामत खाँ को, याने जो बालक बना था उसको, मार डाला था। अमरसिंह को जोश आ गया। उसने जो सलामत खाँ बना था उसको तलवार से मार दिया था। उसकी भावना ऐसी भर गई कि मैं अमरसिंह हूँ। उसने ऐसा नहीं सोचा कि मैं एक लड़का हूँ। बस, जो जैसी भावनायें करता है, वैसी ही भावनायें अपने में प्राप्त कर लेता है। तो मैं निरन्तर अपने में अशुद्ध भावनायें किया करता हूँ। मैं गृहस्थ हूँ, साधु हूँ, पंडित हूँ, त्यागी हूँ, मैं अमुक हूँ,

इत्यादि नाना प्रकार से अपने को अनुभव करता हूँ, तो अपने को अशुद्ध बनाता चला जाता हूँ। अपने को जो अशुद्ध मानेगा, वह अशुद्ध ही बनता चला जायेगा और जो शुद्ध मानेगा, वह शुद्ध ही बनता चला जायेगा। मनुष्य भावना बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता है। एक बार तू ऐसी हिम्मत किसी क्षण कर ले कि चाहे कितनी ही परिस्थितियों में फँसा हुआ हो चाहे कैसा ही अवसर हो, तो भी किसी का उपयोग ज्ञान में न आवे, मुझे कुछ नहीं सोचना है। सब असार है, सब पर चीजें हैं। इस मुझमें कुछ भी नहीं आता है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा ज्ञानमात्र ज्योतिर्मय अपने को देख, ऐसी हिम्मत तो बन जाय। भीतर से जो आनन्द आयेगा, वह भगवान् के समान है। अपने आप ऐसा अनुभव करने का उपाय करना चाहिए। यदि मैं इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व की उपासना करता हूँ, तो मैं शुद्ध बन जाऊँगा और यदि मैं अपने को अशुद्ध ही अनुभव करता हूँ, तो अशुद्ध ही बना रहूँगा।

यदि अपने को अशुद्ध मानकर परपदार्थों में ही मन लगाये रहेंगे, तो झंझटें ही रहेंगी। एक ब्राह्मणी माँ के तीन लड़के थे—बड़ा, मंझला और छोटा। एक बनिया था। बनिया तो बड़ा चतुर होता है, हर बात में पैसों का हिसाब लगाता है। बनिये से सोचा कि एक ब्राम्हण को जिमाना है, सो ब्राह्मणी माँ के लड़कों को जिमाऊँ। मगर छोटा लड़का सबसे कम खाता होगा, उसी को जिमाऊँ तो अच्छा रहेगा। ब्राह्मणी माँ के पास में बनिया गया, बोला कि माँ जी! आज तुम्हारे छोटे लड़के का निमंत्रण है, मैं उसे जिमाऊँगा। माँ ने कहा—बहुत अच्छा है। हमारे तीनों लड़के तिसेरिया हैं। याने तीन सेर खाने वाले हैं, किसी का निमंत्रण करो, वे सब बराबर हैं।

इसी तरह ज्ञान के कामों को छोड़कर बाकी दुनियाँ के पदार्थों में जितने भी काम हैं, वे सब झंझट हैं, एक—बराबर हैं। झंझट रहित तो केवल एक निज स्वरूप की दृष्टि है, और यही धर्म का पालन है, यही करना है। घर में बैठे हुए यह दृष्टि बन जाय, तो अपना बड़ा काम कर रहे हो। यदि यात्रा में यही बात दृष्टि में आ जाय, तो समझो कि धर्म कर रहे हैं। और यदि मन में कषाय

है, रंज है, सारी बातें हो रही हैं, लड़ाइयाँ हो रही हैं, झगड़े हो रहे हैं, तो वहाँ धर्म नहीं होगा।

इस जीव ने सब व्यवस्थायें कीं, पर यदि अपनी व्यवस्था नहीं की, तो क्या है? यह सब क्षणिक बातें हैं, मिट जाने वाली बातें हैं। इससे आत्मा को क्या मिलेगा? अपनी व्यवस्था करना सर्वप्रथम कर्तव्य है। अपनी व्यवस्था के मायने अपने घर की नहीं, अपने कुटुम्ब की नहीं, अपने परिवार की नहीं, परन्तु अपना रूप पहिचान में आ जाय, यही इसकी व्यवस्था है।

एक कथानक है कि एक बाबू साहब थे। वह शाम के बाद अपने दफ्तर की सुन्दर व्यवस्था में लग गए। जहाँ जो चीज रखना चाहिए, उन्होंने वहाँ पर रखी। घड़ी जहाँ रख दी, तो उस जगह लिख दिया घड़ी। जूते जहाँ रख दिये, तो वहाँ पर जूते लिख दिया। कमीज, कोट इत्यादि जहाँ पर रख दिये, तो वहाँ पर कमीज, कोट लिख दिया। इस तरह सारी व्यवस्था बनाते-बनाते 9 बज गए, नींद आने लगी, परन्तु व्यवस्थाओं का बनाना नहीं छोड़ा। खुद पलंग पर जब जाकर बैठे तो उस पलंग में भी लिख दिया मैं, और उसी पलंग पर सो गए। सुबह सोकर जागे तो घूम-घूम कर देखते हैं कि हमारी सब व्यवस्था ठीक है कि नहीं? घड़ी की जगह पर घड़ी, छड़ी की जगह पर छड़ी तथा अन्य चीजें भी ठीक-ठीक उसी जगह पर रखी हुई हैं जहाँ पर रख दिया था। पर 'मैं' नहीं दिखता। गौर से देखते हैं, पर 'मैं' उस पलंग से नहीं टपका। उन्होंने सोचा कि 'मैं' तो गुम गया है। नौकर को झट बुलाया, बोले—'मनुवा, ओ मनुवा! यहाँ आओ। बड़ा गजब हो गया है। मेरा 'मैं' कहीं गुम हो गया है।' नौकर यह सुनकर हँसने लगा और मन में सोचा कि क्या बाबू जी का दिमाग खराब हो गया है? नौकर बोला—'बाबू जी! घबराओ नहीं। आपका 'मैं' आपको मिल जायेगा। आप थके हुए हैं, जरा—सा आराम कर लें। आपका 'मैं' निश्चित ही मिल जायेगा।' बाबू जी को विश्वास हो गया कि यह पुराना नौकर है, झूठ नहीं बोल रहा है। बाबू जी पलंग पर लेट गए। जब सोकर जागे, तो नौकर बोला कि अब आपका 'मैं' मिला कि नहीं? बाबूजी ने जब अपने आप को टटोला, तो बोले कि हाँ, मिल गया मेरा 'मैं'। तुम्हें धन्यवाद।

इस आनन्द को बनाने वाला यह भगवान्—आत्मा ही है। इस आनन्द को बनाने वाला कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। इस जीव को यह पता ही नहीं है। इसका ही मतलब है कि इसका 'मैं' इसके लिए गुम गया। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इसका भी पता इस जीव को नहीं है। जो बाहरी पदार्थों में अपना ज्ञान मानने की वासना लगाये हुए हैं, उनको 'मैं' का पता नहीं। जो किन्हीं भी विषय—साधनों में आनन्द ढूँढ़ता है, उसको 'मैं' का पता नहीं। मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, निरन्तर परिणमता रहता हूँ, ज्ञानमय हूँ।

ज्ञानी गृहस्थ जहाँ पर रहते हैं, वह अपने कुटुम्ब, परिवार, पुत्र, स्त्री इत्यादि को भिन्न ही समझते हैं। उन्हें यह प्रतीत है कि मेरा कुछ नहीं है, रंच भी इनसे संबंध नहीं है। यह चीजें मेरी हो ही नहीं सकती हैं। और जो कुटुम्ब, परिवार, बच्चों, स्त्री इत्यादि को अपना मानते हैं, अपना ही सबकुछ समझते हैं, तो उनके हाथ केवल पाप का कलंक रहता है। यह तो त्रिकाल में उसके नहीं हो सकते हैं। अगर कुटुम्ब, परिवार, स्त्री, बच्चों को अपना माना, तो मुनाफे में पाप का कलंक आ जायेगा और संसार में रूलने की बात आ जायेगी। अन्य वस्तु तो आ नहीं सकती। अरे! इस संसार में तेरा कुछ नहीं है। जगत् के बाह्य पदार्थों को अपना मानने में कितना मुनाफा है? अपना मान लेने से क्या वह अपने हो गए? वह अपने नहीं हुए। वह तो अपनी सत्ता में हैं। त्रिकाल में भी वह अपने नहीं हो सकते हैं। मिथ्या समझकर अनेक विकार बन गए, अनेक कषायें बन गईं, संसार में बहुत समय तक रूलते रहने की रजिस्ट्री करा ली। जो दुनियाँ में कुछ चाहता है, उसकी ऐसी ही हालत होती है।

एक सेठ थे, हजामत बनवा रहे थे। वह सेठ बहमी था। नाई बाल बना रहा था। अब सेठ ने देखा कि नाई तो बाल बना रहा है, इसमें तो मेरी जिन्दगी नाई के हाथ है, तो सेठ डरता है। वह सोचता है कि कहीं बाल बनाते में गला न कट जाय। इस डर से वह नाई से कहता कि बहुत बढ़िया सम्हलकर बनाना, तुमको हम कुछ देंगे। जब नाई बाल बना चुका, तो सेठ जी ने एक चवन्नी निकालकर नाई को दी। नाई ने कहा कि हम चवन्नी नहीं

लेंगे, हम तो 'कुछ' लेंगे। सेठ जी एक अशर्फी, दो अशर्फी, दस अशर्फी देते हैं, पर नाई कहता है कि हम यह नहीं लेंगे, हम तो 'कुछ' लेंगे। सेठ जी को कुछ भूख-प्यास लगी थी। नाई से कहा कि आले में जो गिलास रखा है, ले आओ। दूध पी लें। हम भी पी लें और तुम भी पी लो। नाई ने गिलास में जो देखा तो उसमें कुछ काला था। नाई ने कहा—सेठ जी, इसमें तो 'कुछ' पड़ा हुआ है। सेठ बोला कि 'कुछ' है, तो वह 'कुछ' तू ही ले ले। तू 'कुछ' के लिए अड़ा भी था। उठाया तो क्या निकला? कोयला। जो 'कुछ' की जिद में पड़ा, उसको क्या मिला? कोयला। इसी तरह यहाँ के प्राणी 'कुछ' में ही पड़े हुए हैं। उनको मुनाफे में मिलता क्या है? मिथ्यात्व, अज्ञान।

यदि पर को छोड़कर अपने स्वभाव में आओ, तो कोई कष्ट नहीं होगा। देखो, एक जानवर है कछुआ, उसे कोई सताए तो वह अपना मुँह भीतर दबा लेता है। और यदि वह अपना मुँह भीतर दबा ले, तो वह भीतर पड़ा रहता है। कछुवे का बाकी शरीर तो कड़ा रहता है, अतः उसको चाहे ठोकते रहो, पीटते रहो, परन्तु वह सुरक्षित रहता है। यह तो उदाहरण की बात है। इसी प्रकार हमारे ऊपर चाहे जितनी आपत्तियाँ आयें, आने दो। हमारे पास तो ताकत है, हम अपना विक्रम करें, अपने विक्रम को हम भीतर ले जायें और विचार करें कि मैं तो स्वरूप मात्र, आनन्द भाव मात्र, अपने ज्ञान मात्र हूँ। क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि मेरे में नहीं हैं, परन्तु मेरे हो जाते हैं। कर्म का विक्रम है, होने दो। मैं अपना विक्रम करूँ अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा रहूँ।

करने का एक यह ही काम है कि मैं अपना विक्रम करूँ, परन्तु वह करने में नहीं आ रहा है। अपनी कमजोरी से अपने भावों को ढीला कर दिया, मन को ढीला कर दिया, तो हम स्वच्छन्द हो गए। अपने स्वभाव के दर्शन कर लिए, तो उत्साह हो गया। मुझे क्या करना है? मैं तो कृतकृत्य हूँ। मेरा तो कृतकृत्य के अतिरिक्त और काम ही नहीं पड़ा है। कौन-सा काम पड़ा है? अमुक-अमुक। अरे! वह तो मेरा काम ही नहीं है। वे प्रत्येक द्रव्य तो अपने आप में परिणमते हैं। अपनी शूरवीरता से हटे, तो दुनियाँ के सभी

पदार्थों से मुझे दुःख है, हम दुःख के कारण बन जावेंगे और यदि हम प्रबल रहे, तो दुनियाँ के कोई भी पदार्थ मुझे दुःखी नहीं कर सकते हैं।

कभी देखा होगा कि जब बच्चे अथवा कोई भी कहते हैं कि पीठ पर मुक्के लगाओ। जितने लगा सकते हो, लगाओ। उस बच्चे की हिम्मत बड़ी हो जाती है। वह पीठ कड़ी कर लेता है और सांस भर लेता है, वह मुक्के लगवा लेता है, सह जाता है, उसे क्लेश नहीं होता है। उनकी बात क्या कहें? जो व्यायाम दिखाने वाले होते हैं, अपनी छाती पर से हाथी का पैर रखवाकर निकलवा देते हैं। वे भीतर से तैयारी कर लेते हैं, इस कारण उन्हें दुःख नहीं होता। उनका दिल कड़ा बन जाता है। वे क्लेश महसूस नहीं करते हैं। इसी प्रकार यदि भीतर के मन को कड़ा बना लिया जाय, संयम कर लिया जाय, तो यह जानना ही तो है कि अरे! मैं तो जान गया। जानना ही को जान गया। ऐसी कड़ी हिम्मत कर लो, तो जो विपदायें भी आयेंगी, वे चली जायेंगी, इन विपदाओं का मुझ पर असर नहीं होगा। अपने विक्रम में रहे, तो कर्म के विक्रम से विपदाओं का असर न होगा। ढीले-ढाले बैठे हैं, भीतर से कोई तैयारी नहीं है और यदि कोई मुक्का लगा देवे, तो अत्यन्त दुःख होगा। इसी तरह ढीला-ढाला शिथिल पड़ा हुआ है तो यह असर करता है। यह आत्मा स्वयं ही बाहरी चीजों का निमित्त पाकर अपने आप में आपका असर डाल लिया करता है। जैसे कहते हैं कि खुद तो जगते नहीं, खुद तो स्वाधीन नहीं होते और कहते हैं कि स्टेशन लुटेरा है। अरे! खुद जगते रहो, तो कौन लूटेगा? इसी तरह हम खुद स्वाधीन नहीं होते, नाम लगता है घर का, गृहस्थी का, धन का, वैभव का। इन चीजों ने तो उसे लूट लिया, बरबाद कर दिया, फांस लिया। नाम बदनाम करता है परपदार्थों का और पर को अपना मानने की कल्पना स्वयं करता है, इसीलिये दुःखी भी होता है।

तीन चोर थे। चोरी करने जा रहे थे। रास्ते में एक नया आदमी मिला, बोला—कहाँ जा रहे हो? बोले—चोरी करने जा रहे हैं। उसने कहा कि इससे क्या होगा? बोले—धन लूटेंगे। अगर धन लेना है, तो तुम भी चलो।

नया व्यक्ति साथ में चल देता है। वह यह नहीं जानता है कि घर में कैसे घुसा जाता है और कैसे बाहर निकला जाता है? घर के अन्दर सब घुस गए। एक बूढ़े आदमी ने खांस दिया तो वे तीनों भाग गए। अब वह नया आदमी भागना नहीं जानता था, तो उसने और कुछ न सोचा, घर में जो ऊपर कड़ी लगी हुई थी, उस पर जाकर बैठ गया। गाँव के बहुत से लोग एकत्रित हो गये, हल्ला मच गया। वहाँ दसों आदमी थे, तरह-तरह के सवाल कर रहे थे। घर के मालिक ने कहा कि हम सब बातों को क्या जानें, ऊपर वाला जाने। उसके कहने का तात्पर्य 'भगवान्' से था कि भगवान् जानें। पर छिपे हुये नये चोर ने यही समझा कि यह मेरे लिए कह रहा है। उसने सोचा कि मैं पकड़ा न जाऊँ, इसलिए बोला कि क्या मैं ही जानूँ? वे तीन आदमी क्यों न जानें? अब वह नया चोर पकड़ लिया गया, बांधा गया, मारा-पीटा गया, बन्द हो गया।

यहाँ पर उसने केवल कल्पना ही तो की थी कि यह मेरे लिए कह रहा है, इसलिए पकड़ा गया, मारा गया और बन्द कर दिया गया। इसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी परपदार्थों को अपना मानने की कल्पना करता है और व्यर्थ ही दुःखी होता है। अतः परपदार्थों से भिन्न आत्मा का श्रद्धान कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो। सम्यग्दर्शन के बिना मुक्ति होने वाली नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने 'रयणसार' ग्रंथ में लिखा है—

सम्मत्तगुणार्ई सुगदी, मिच्छादो होदि दुग्गदी णियमा।

इदि जाण किमिह बहुणा, जं रुच्चदे तं कुज्जा।।62।।

सम्यग्दर्शन से सद्गति की एवं मिथ्यादर्शन से दुर्गति की प्राप्ति होती है। कितना कहूँ, हम कह-कहकर थक गये, इसलिये आपको जो रुचिकर लगे, वो करो। हमने तो आपको दोनों के परिणामों के बारे में बता दिया है।

श्री अमृतचन्द स्वामी ने कहा है—'सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः।' सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्रकट होती है। वह अपनी दृष्टि को अंतर्मुख रखता है। मैं अनंतज्ञान का पुंज, शुद्ध, रागादि विकार से रहित, चेतन द्रव्य हूँ। मुझमें अन्य द्रव्य नहीं

हैं, मैं अन्य द्रव्य में नहीं हूँ, और आत्मा के अस्तित्व में दिखने वाले रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं। इस प्रकार स्वरूप की ओर दृष्टि रखने से सम्यग्दृष्टि जीव अनंत संसार के कारणभूत बंध से बच जाता है। वह अपनी वैराग्यशक्ति के कारण सांसारिक कार्य करता हुआ भी जल में रहने वाले कमल के समान निर्लिप्त रहता है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वर्णन करते हुए पंडित श्री दौलतराम जी ने लिखा है—

जिन-वच में शंका न धार, वृष भव-सुख-वांछा भानै।
मुनि-तन मलिन न देख घिनावै, तत्त्व कुतत्त्व पिछानै।
निज-गुण अरु पर-औगुण ढाँकै, वा निजधर्म बढ़ावै।
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-पर को सु दिढ़ावै।
धर्मी सौं गो-वच्छ प्रीति सम, कर निज धर्मदिपावै॥

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। इन आठ अंगों का वर्णन करते हुये श्री प्रमाणसागर जी महाराज ने “अंतस् की आँखें ” नामक ग्रंथ में लिखा है— इन आठ अंगों के पूर्ण होने पर ही हमारा सम्यक्त्व निर्दोष/सही रह पाता है, अन्यथा वह तो विकलांग की तरह अक्षम रहता है।

1. निःशंकित अंगः— शंका का अर्थ है संदेह। सम्यग्दर्शन से अभिभूत जीव निःशंक होता है। उसे मोक्षमार्ग पर किसी भी प्रकार की शंका या संदेह नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि को परमार्थभूत देव, गुरु तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य—सिद्धांत, सन्मार्ग और वस्तुतत्त्व पर अविचल श्रद्धा रहती है। वह किसी प्रकार के लौकिक प्रलोभनों से विचलित नहीं होता। यह अविचलित श्रद्धा ही निःशंकित अंग है।

2. निःकांक्षित अंगः— विषयभोगों की इच्छा को “आकांक्षा” कहते हैं। सम्यग्दृष्टि किसी प्रकार की लौकिक व पारलौकिक आकांक्षा नहीं रखता। उसके मन में इन्द्रियभोगों के प्रति बहुमान नहीं होता। वह बाहरी सुविधाओं को क्षणिक

संयोग मात्र मानता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता रहती है कि संसार के सारे संयोग कर्मों के आधीन हैं, साथ ही नाशवान भी हैं। पापोदय होते ही एक ही क्षण में धनवान से निर्धन, रूपवान से कुरूप, विद्वान् से पागल, राजा से रंक हो सकता है। संसार में किसी का भी सुख शाश्वत नहीं होता। वह संसार के सभी सुखों को विष— मिश्रित मिष्टान्नवत् अत्यंत हेय समझता है। यह सब समझकर वह कभी भी धर्म के फल में लौकिक सुखों की आकांक्षा नहीं करता। यह उसका निःकांक्षित अंग है।

3. निर्विचिकित्सा अंगः— विचिकित्सा का अर्थ ग्लानि या घृणा होता है। सम्यग्दृष्टि शरीर की बुरी आकृतियों को देखकर घृणा नहीं करता, अपितु हमेशा व्यक्ति के गुणों का आदर करता है। उसका विश्वास रहता है कि शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है। परन्तु गुणों के द्वारा इस अपवित्र शरीर में भी पवित्रता (पूज्यता) आ जाती है। वह पदार्थ के बाहरी रूप पर दृष्टि न देकर आंतरिक रूप पर दृष्टि देता है। इस अन्तर्मुखी दृष्टि के कारण उसे मुनिराजों के गुणों के प्रति प्रीति होती है, वह उनके मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करता। यह उसका निर्विचिकित्सा अंग है।

4. अमूढदृष्टि अंगः— मूढ़ता मूर्खता को कहते हैं। मूर्खतापूर्ण दृष्टि मूढदृष्टि कहलाती है। सम्यग्दृष्टि विवेकी होता है। वह अपने विवेक व बुद्धि से सत्य—असत्य, हेय—उपादेय और हित—अहित का निर्णय कर ही उसे अपनाता है। वह अंध— श्रद्धालु नहीं होता। परमार्थभूत देव, शास्त्र और गुरु को वह पूर्ण बहुमान देता है। इनके अतिरिक्त अन्य कुमार्गगामियों के वैभव को देखकर प्रभावित नहीं होता, न ही उनकी निंदा या प्रशंसा करता है, अपितु उनके प्रति राग—द्वेष से ऊपर उठकर माध्यस्थ भाव धारण करता है। यही उसका अमूढदृष्टित्व है।

5. उपगूहन अंगः— सम्यग्दृष्टि गुणग्राही होता है। वह सतत अपनी साधना के प्रति जागरूक रहता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थितिवश, अज्ञान या प्रमाद के कारण किसी व्यक्ति से कोई अपराध हो जाये, तो वह उसे सबके बीच प्रकट नहीं करता, अपितु एकांत में समझाकर उसे दूर करने का प्रयास करता

है। जैसे बाजार में अनेक वस्तुयें रहते हुए भी हमारी दृष्टि वहीं जाती है जिसकी हमें जरूरत है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि को गुण—ही—गुण दिखाई पड़ते हैं। अपने अंदर अनेक गुणों के रहने के बाद भी वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता, अपितु अपने दोषों को ही बताता है। दूसरों के दोषों की उपेक्षा कर उनके गुणों को प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि वह अपने दोषों को सदा देखता है तथा दूसरों के गुणों को। अपने गुणों को छिपाता है तथा दूसरे के दोषों को। अपनी निंदा करता है तथा दूसरों की प्रशंसा। दूसरों के दोषों तथा अपने गुणों को छुपाने के कारण इस गुण का नाम उपगूहन है। अपने गुणों में निरंतर वृद्धि करते रहने के कारण उसके इस गुण को उपवृंहण गुण भी कहते हैं।

6. स्थितिकरण अंगः— सम्यग्दृष्टि कभी किसी को नीचे नहीं गिराता। वह सभी को ऊँचा उठाने की कोशिश करता है। अपने आपको भी वह हमेशा मोक्षमार्ग में लगाये रखता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थितिवश वह उससे स्खलित होता है, तो बार—बार अपने को स्थिर करने में तत्पर रहता है। उसी तरह किसी अन्य धर्मात्मा को किसी कारण से अपने मार्ग से स्खलित होते देखकर, उसे बहुत पीड़ा होती है। वह येन—केन—प्रकारेण उसे सहायता देकर उसकी धार्मिक आस्था दृढ़ करता है। यह उसका स्थितिकरण अंग है।

7. वात्सल्य अंगः— “वात्सल्य” शब्द “वत्स” से बना है। “वत्स” का अर्थ है “बछड़ा”। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के प्रति निःस्वार्थ, निष्कपट तथा सच्चा प्रेम रखती है, उसमें कोई बनावटीपन नहीं होता, उसे देखकर उसका रोम—रोम पुलकित हो जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने साधर्मी बन्धुओं के प्रति निश्छल, निःस्वार्थ और सच्चा प्रेम रखता है। उसमें कोई दिखावटी या बनावटीपन नहीं रहता। उन्हें देखकर उसे उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी कि किसी आत्मीय मित्र से मिलकर होती है। वह सबके प्रति सहयोग और सहानुभूति की भावना रखता है। यह उसका वात्सल्य अंग है।

8. प्रभावना अंगः— सम्यग्दृष्टि की यह भावना रहती है कि जिस प्रकार हमें सही दिशा (दृष्टि) मिली है, सत्य धर्म का मार्ग मिला है, उसी प्रकार सभी लोगों का अज्ञानरूपी अंधकार दूर हो, उन्हें भी दिशा मिले, वे भी सत्य धर्म का पालन

करें। इस प्रकार की जगत्हितकरी भावना से अनुप्राणित होकर वह सदा अपने आचरण को विशुद्ध बनाये रखता है। उसका आचरण ऐसा बन जाता है कि उसे देखकर लोगों को धार्मिक आस्था उत्पन्न होने लगती है। वह परोपकार, ज्ञान, संयम आदि के द्वारा विश्व में अहिंसा के सिद्धांतों का प्रचार करता है तथा अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सवों को भी करता है, जिसमें हजारों लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर सद्भावनापूर्वक विश्वक्षेम की भावना भाते हैं, जिसे देखकर लोगों को अहिंसा धर्म की महिमा का भान होता है। यह उसका प्रभावना अंग है।

सम्यग्दर्शन के इन आठ अंगों की तुलना हम अपने शरीर के आठ अंगों से कर सकते हैं। शरीर के भी आठ अंग होते हैं— दो पैर, दो हाथ, नितंब, पीठ, वक्षस्थल और मस्तिष्क। जब हम चलते हैं, तो चलते वक्त एक बार रास्ता देख लेने के बाद बिना किसी संदेह के अपना दाँया पैर बढ़ा लेते हैं। दाँया पैर बढ़ते ही बिना किसी आकांक्षा के अपना बाँया पैर स्वयं बढ़ जाता है, यही तो निःशंकित और निःकांक्षित अंग का लक्षण है। अतः दाँया और बाँया पैर क्रमशः निःशंकित और निःकांक्षित अंग के प्रतीक हैं।

बाँया हाथ निर्विचिकित्सा अंग का प्रतीक है। जिस प्रकार बाँये हाथ को ग्लानि नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मुनिराजों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करता।

जब हमें किसी बात पर जोर देना होता है, जब हम कोई बात आत्मविश्वास से भरकर कहते हैं, तब हम अपना दाँया हाथ उठाकर बताते हैं तथा अन्य किसी की बात पर ध्यान नहीं देते। यह अमूढदृष्टि अंग का प्रतीक है, क्योंकि इस अंग के होने पर वह अपनी श्रद्धा पर अटल रहता है तथा उन्मार्गियों और उन्मार्ग से प्रभावित नहीं होता।

शरीर का पाँचवाँ अंग नितम्ब है। इसे सदैव ढक कर रखा जाता है। इसे खुला रखने पर लज्जा का अनुभव होता है, यही तो उपगूहन अंग है, क्योंकि इसमें अपने गुण और पर के अवगुण को ढाँका जाता है। नितम्ब उपगूहन अंग का प्रतीक है।

सम्यग्दर्शन का छठा अंग है स्थितिकरण। पीठ सीधी हो, तभी व्यक्ति

दृढ़ता का अनुभव करता है। जब हमें किसी वजनदार वस्तु को उठाना होता है, तो उसे अपनी पीठ पर रख लेते हैं। इससे हमें चलने में सुविधा हो जाती है। पीठ स्थितिकरण अंग का प्रतीक है, क्योंकि गिरते हुये को सहारा देना ही तो स्थितिकरण है।

हृदय शरीर का सातवाँ अंग है। जब हम आत्मीयता और प्रेम से भर जाते हैं, तब अपने आत्मीय को हृदय से लगा लेते हैं। हृदय वात्सल्य अंग का प्रतीक है।

मस्तिष्क शरीर का आठवाँ अंग है। यह प्रभावना अंग का प्रतीक है, क्योंकि इसे हमेशा ऊँचा रखा जाता है। इसी प्रकार अपने आचरण और व्यवहार से जिनशासन की गरिमा और महिमा बढ़ाना, उसका प्रचार-प्रसार करना प्रभावना अंग है। इस प्रकार इन आठ अंगों के पूर्ण होने पर ही हमारा सम्यग्दर्शन निर्दोष रह पाता है, अन्यथा वह तो विकलांग की तरह अक्षम रहता है। श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार ग्रंथ में लिखा है—

नाङ्गहीन-मलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।

न हि मन्त्रोऽक्षर-न्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम्॥ 21॥

निःशंकित आदि किसी एक भी अंग के कम रहने पर सम्यग्दर्शन संसार परिपाटी का नाश करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि अक्षरहीन मन्त्र विष की पीड़ा का नाश नहीं करता है। आठों अंग पूर्ण होने पर ही सम्यग्दर्शन अपना सही-सही कार्य करता है।

सम्यग्दृष्टि में संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, प्रशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण पाये जाते हैं।

1 **संवेग**— रत्नत्रय रूप धर्म, जिनेश्वर कथित तथा गणधरादि प्रणीत शास्त्र, परिग्रह रहित रत्नत्रयधारक मुनिराज इनमें जो स्थिर अनुराग उत्पन्न होता है, उसे संवेग कहते हैं।

2 **निर्वेग**— विविध दुःखमय चतुर्गतिरूप संसार से डरना निर्वेग है। संसार से विरक्त भाव का होना निर्वेग कहलाता है।

3 **निन्दा**— जब आत्मा कषाय से व्याकुल होता है, तब वह निन्द्य कार्य

करता है, परन्तु जब कषाय का वेग कम होता है, तब मैंने अयोग्य कार्य किया है, ऐसा जो मन में पश्चाताप होता है, उसे 'निन्दा' कहते हैं। यह निन्दा नामक गुण निन्द्य पाप का नाश करने वाला है।

4 **गर्हा**— रागद्वेषादि दोषों के अधीन होकर जब घोर पाप उत्पन्न होता है, तब गुरु के आगे आलोचना करना, यह सम्यक्त्व का 'गर्हा' नामक गुण है। अपने दोषों के लिये स्वयं पश्चाताप करना निन्दा है, तथा गुरु के आगे अपने दोषों का पश्चातापपूर्वक वर्णन करना गर्हा है।

5 **प्रशम**— कोई दुर्निवार तथा महान कलुषता का कारण उत्पन्न होने पर जिसका मन क्षुब्ध नहीं होता, वह भव्यजीव 'प्रशम' गुण का धारक होता है।

6 **भक्ति**— जिनेन्द्र भगवान्, रत्नत्रयधारक मुनि, गर्भ—जन्मादि कल्याणकों का महोत्सव, इत्यादि प्रसंगों में सम्यग्दृष्टि अंतः—करण पूर्वक इच्छा और कपट रहित जो आराधना करता है वह उसका भक्ति नामक गुण कहा जाता है। यह गुण पुण्यफल रूप संपत्ति की प्राप्ति कराने वाला है। परिणामों की निर्मलता से जो देवादिकों पर अनुराग किया जाता है, उसे भक्ति कहते हैं।

7 **वात्सल्य**— अन्न औधषि आदि के द्वारा मन, वचन काय से चार प्रकार के संघ की जो प्रशंसनीय सेवा सुश्रुषा की जाती है, उसको वात्सल्य गुण कहते हैं।

8 **अनुकम्पा**— असातावेदनीय और अंतरायादि अशुभ कर्मों के उदय से प्रकट हुए दारिद्र, रोग, चिन्ता, वगैरह दुःखों से पीड़ित हुए जीवों पर दयाद्र भाव उत्पन्न होने को अनुकम्पा भाव कहते हैं। पर पीड़ा को देखकर मानों वह पीड़ा अपने को ही हो रही है ऐसा समझकर उसे दूर करना अनुकम्पा गुण है। महाकति श्री वीरनन्दि जी ने आचारसार ग्रंथ में लिखा है—

गुणः प्रशमनिर्वेग संवेगास्तिकदयः।

स्वदोषगर्हानिन्दाद्याः सम्यक्त्वमणिरश्मयः।।49।।

सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग और आठ गुण सम्यक्त्वरूपी मणि की किरणें हैं। इन आठ अंग और आठ गुण रूपी अंजन के प्रयोग से सम्यग्दर्शनरूपी नेत्र जब निर्मल होता है, तब वह जीव को अभिलषित स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करा देता है।

निःशंकित अंग

‘पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय’ ग्रंथ में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है—

सकलमनेकान्तात्मक—मिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।

किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केतिकर्तव्या॥२३॥

सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया समस्त वस्तुस्वरूप अनेकान्त स्वभाव रूप है, वह क्या सत्य है अथवा असत्य है? ऐसी शंका कभी नहीं करना चाहिए।

सर्वज्ञ भगवान् ने जैसा कहा है, वैसा ही जीवादि तत्त्वों का स्वरूप है। उनमें सम्यग्दृष्टि को शंका नहीं होती। शंका का अर्थ है संदेह। सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होता है। उसे मोक्षमार्ग पर किसी भी प्रकार की शंका या संदेह नहीं रहता।

श्रद्धा के अभाव में की गई उपासना, सेवा, भक्ति आदि मात्र लौकिक पुण्य की वृद्धि में कारण हैं, आत्मिक विकास में कारण नहीं हैं। श्रद्धा तो संदेह रहित होती है। ‘तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा’ तत्त्वार्थों के विषय में उन्मुख बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। संसार के चक्रव्यूह से निकालने के लिये तत्त्वों पर, देव—शास्त्र—गुरु पर, मोक्षमार्ग पर श्रद्धा का होना आवश्यक है। द्रव्यसंग्रह गाथा 41 की टीका करते हुये ब्रह्मदेव सूरि जी ने लिखा है— **रागादि दोषा अज्ञानं वासत्वचने कारणं तदुभयमपि वीतराग सर्वज्ञानां नास्ति ततः कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेय तत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे। च भव्यैः संशयः संदेहो न कर्तव्यः।**

राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों असत्य बोलने में कारण हैं और ये दोनों ही वीतराग जिनेन्द्रदेव में नहीं हैं। इस कारण उनके द्वारा बताये गये हेयोपादेय तत्त्वों, में मोक्षमार्ग में भव्यजीवों को संशय नहीं करना चाहिये।

तत्त्वों में शंका करना मिथ्यात्व है, पर जिज्ञासा व्यक्त करना सम्यक्त्व को पुष्ट करने का साधन है। जिज्ञासा व्यक्त करना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है, जो ज्ञान के विकास एवं तत्त्वनिर्णय में कारण है। भगवान् महावीर स्वामी से राजा श्रेणिक ने 60 हजार (साठ हजार) शंकायें नहीं की थीं अपितु जिज्ञासाएँ व्यक्त की थीं। देव-शास्त्र-गुरु के अनुसार जो अपने जीवन को अपनी श्रद्धा को यथाशक्ति उस साँचे में ढालने का प्रयास करता है, वही निःशंकित अंग का धारी होता है। निःशंकित अंग का धारी प्रत्यक्ष को प्रमाण, अप्रत्यक्ष को अप्रमाण न मानता हुआ जिनागम के अनुसार ही सभी वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार करता है और निर्भय होकर मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता चला जाता है, पीछे मुड़कर कभी नहीं देखता है।

चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, साधक को मोक्षमार्ग पर निःशंक होकर अविरल आगे बढ़ते जाना चाहिए। एक व्यक्ति था, जिसने 21वें वर्ष में वार्ड मेम्बर का चुनाव लड़ा और हार गया। 22 वें वर्ष में शादी की, पर असफल रहा। 24 वें वर्ष में व्यवसाय करना चाहा, पर नाकामयाब रहा। 27 वें वर्ष में पत्नी ने तलाक दे दिया। 32वें वर्ष में सांसद पद के चुनाव के लिए खड़ा हुआ, पर हार गया। 37वें वर्ष में काँग्रेस की सीनेट के लिये खड़ा हुआ, किन्तु हार गया। 42वें वर्ष में पुनः सांसद पद के चुनाव के लिये खड़ा हुआ और फिर हार गया। 47वें वर्ष में उपराष्ट्रपति पद के चुनाव के लिए खड़ा हुआ, पर परास्त हो गया। लेकिन वही व्यक्ति 51 वर्ष की उम्र में अमेरिका का राष्ट्रपति बना। उसका नाम था अब्राहिम लिंकन।

सम्यग्दृष्टि को सन्मार्ग तथा तत्त्वों पर अविचल श्रद्धा होती है। 'रत्नकरण्ड श्रावकचार' ग्रंथ में श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

इदमेवदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।

इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥११॥

जिस प्रकार तलवार पर चढ़ाया हुआ लोहे का पानी अकम्प/निश्चल होता है, उसी तरह सन्मार्ग के विषय में तत्त्व, आगम और तपस्वी का स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है, और अन्य प्रकार नहीं है। ऐसी जो

अकम्प/निश्चल श्रद्धा होती है, उसे सम्यग्दर्शन का निःशंकित अंग कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि निःशंक/बेधङ्क सन्मार्ग में चलता है। सत्य पथ पर चलने वाला यह कभी नहीं सोचता कि मैं इस पर चलूँगा तो ऐसा हो जायेगा, तब क्या होगा? अगर उसके मन में इस प्रकार का व्यर्थ विकल्प है, तो वह सम्यक् पथ का पथिक नहीं है। निःशंकित सम्यग्दर्शन ही संसार का उच्छेदक होता है। सम्यग्दृष्टि निःशंक होकर अपने आपको देव-शास्त्र-गुरु के चरणों में समर्पित कर देता है ।

जैसे बालक अपनी माँ की गोद में निःशंक रहता है कि यह मेरी माँ मेरा भला ही करेगी, उसको कोई संदेह नहीं होता कि कोई मुझे मारेगा तो मेरी माँ मुझे बचायेगी कि नहीं?, वैसे ही जिनवाणी माता की गोद में धर्मी जीव निःशंक रहता है कि यह जिनवाणी माँ मुझे सत्य स्वरूप दिखाकर मेरा हित करने वाली है। देव, शास्त्र व गुरु के विषय में उसे संदेह नहीं रहता। मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए श्रद्धा पहली आवश्यकता है।

प्रभु के प्रति समर्पण के अभाव में सत्य की ओर बढ़ा नहीं जा सकता। जिसके हृदय में श्रद्धा और समर्पण है, संसार की बड़ी-से-बड़ी बाधाएँ भी उसका बिगाड़ नहीं कर सकतीं। जो श्रद्धा से बंध गया, उसे अब कोई भय नहीं रहता।

एक वनस्पतिशास्त्री अपने बेटे के साथ गहरी घाटी में कुछ विशिष्ट वनस्पतियों की खोज में गया। नीचे से कुछ वनस्पतियों को तोड़कर लाना था। उसने अपने बेटे से कहा— “बेटा! मैं तुझे इस रस्सी के सहारे नीचे उतारता हूँ, रस्सी अच्छी तरह मजबूती से बांध ले, नीचे से वनस्पतियाँ तोड़ लेना, फिर मैं तुझे ऊपर खींच लूँगा। खाई बहुत गहरी है, बेटा! संभलकर काम करना”। बेटा रस्सी बांधकर नीचे उतर गया और अपना काम करने लगा। ऊपर पिता चिंतित होकर विचार कर रहा है— “व्यर्थ मैं इतनी गहरी खाई में बेटे को उतार दिया। कहीं कोई गड़बड़ न हो जाये। बस! सकुशल ऊपर आ जाये तो जान में जान आये।”

नीचे गहरी खाई में भी बेटा मजे में अपना कार्य पूरा करता रहा। काम

पूरा हुआ तो पिता ने धीरे-धीरे, डरते-डरते रस्सी को संभालकर ऊपर खींचा। पुत्र सकुशल वापिस आ गया। पिता ने देखा कि पुत्र का चेहरा पूर्व की भांति खिला हुआ है। चिंता की लेशमात्र छाया भी नहीं है। पिता से रहा नहीं गया, वह पूछ बैठा—“बेटा! मैं तो यहाँ बहुत डरता रहा, पर तू इतना निश्चित कैसे रहा?” पुत्र ने उत्तर दिया—“मैं निश्चित इसलिये था कि मेरी डोर आपके हाथ में थी। जिस पुत्र की डोर उसके पिता के हाथ में हो, उसे कैसी चिन्ता ? सम्यग्दृष्टि ऐसा ही प्रगाढ़ श्रद्धावान् होता है, उसे शंका एवं भय नहीं होता।

“सप्त भय विष्णुमुक्ता, जम्हा तम्हा दु णिस्संका।”

सम्यग्दृष्टि निःशंक होता है। निःशंक होने से ही वह निर्भय होता है। उसे इहलोक भय आदि नहीं सताते। जिसके अन्दर इहलोक आदि का भय होता है, वह दिगम्बर मुद्रा धारण कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाता।

अंदर विषय वासना वरते, बाहर लोकलाज भय भारी।

तातें परम दिगंबर मुद्रा, धर न सके दीन संसारी।।

मन में विषय-वासनायें हैं, लोकलाज का भय बाहर लगता है, लोग क्या कहेंगे— इसकी चिन्ता है, ऐसा व्यक्ति मुनिमुद्रा ग्रहण नहीं कर पाता, मोक्षमार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाता। इस मार्ग पर तो सच्चा सम्यग्दृष्टि जो लोक भय से मुक्त हो, वही लग पाता है। आज के लोगों के मन में किसी भी अच्छे कार्य के प्रति—“लोग क्या कहेंगे?” इसका भय बना रहता है। “लोग क्या कहेंगे?” इसका विचार करना फैशन है, तथा “भगवान् क्या कहेंगे” इसका विचार करना कर्तव्य है। सम्यग्दृष्टि अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहता है। उसे लोक की बड़ी-से-बड़ी बाधाएँ भी प्रभावित नहीं कर पातीं। भय तो दुर्बल मन की परिणति है।

इहलोक और परलोक की बहुत चर्चा की जाती है। मन में उत्सुकता, जिज्ञासा होती है कि परलोक क्या है? वहाँ क्या होगा? इहलोक में जो कर्म किये उन्हीं के फल तो परलोक में होंगे। जो सम्यग्दृष्टि है, अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन करता है, उसे इहलोक और परलोक दोनों का भय नहीं होता। तीसरा मरण का भय है, जिसका नाम ही संसारी प्राणी को कँपा देता है। मरण की बात अच्छी नहीं लगती।

एक राजा को अपना भविष्य जानने की उत्सुकता हुई। बहुत बड़े ज्योतिष शास्त्री को बुलाया गया। उसने गणना कर बताया कि “राजन् ! आपकी उम्र तो इतनी लम्बी है कि आपके परिवार के सभी लोग आपके जीते जी मर जायेंगे।” ज्योतिष शास्त्री ने सीधा भविष्य बता दिया। राजा को क्रोध आ गया, ज्योतिषी दंड का भागी हुआ। दूसरा ज्योतिषी बुलाया गया। उससे भी वही प्रश्न किया। यह भविष्यदर्शी ज्ञानी होने के साथ-साथ समझदार भी था। विद्वान् होना अलग बात है और समझदार होना अलग बात है। विद्वान् कभी-कभी घाटे में रह जाता है, लेकिन समझदार कभी घाटे में नहीं रहता। इस ज्योतिषी ने बताया— “हे राजन् ! आपकी जैसी आयु का योग विरले भाग्यवानों को ही मिलता है। अपने परिवार में आप सबसे अधिक दीर्घायु हैं। पूरे परिवार के सदस्यों की आयु मिला देने पर भी आपकी आयु की बराबरी नहीं हो सकती। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और ज्योतिषी को अपने गले का रत्नहार पुरस्कार में दे दिया।

भविष्य दोनों ज्योतिषियों ने एक ही बताया था, पर एक ने मरण की बात कही तो दण्ड का भागी बना। जबकि दूसरे ने सबसे अधिक समय तक जीने की बात कही, तो उसने पुरस्कार पाया। इसका कारण यह है कि संसारी प्राणी को मरण के नाम से भय लगता है। किन्तु संसार में सबसे ज्यादा निश्चित यदि कुछ है, तो वह “मृत्यु” है और सबसे अनिश्चित भी “मृत्यु” ही है। होगी मृत्यु, यह निश्चित है, पर कब होगी यह अनिश्चित है।

युधिष्ठिर ने जलदेवी के प्रश्न, कि दुनियाँ में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है?, के उत्तर में कहा था—“बस, इससे बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है कि नित्य-प्रति लोग मर रहे हैं और शेष बचे हुए लोग ऐसे जीते हैं जैसे कि उन्हें मरना ही नहीं है। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है?”

चौथा अत्राण भय है— “मेरा कोई सहायक नहीं है।” सहायक की अपेक्षा ही क्यों? जिसे देव, गुरु और धर्म का सहारा मिल गया, वह असहाय कहाँ? फिर संसार में कौन किसका सहायक है? यहाँ की हर वस्तु, यहाँ का हर व्यक्ति अनाथ/असहाय है। वह तुम्हें क्या सहारा देगा? तुम स्वयं सम्राट होकर भिखारी क्यों बनते हो? सम्यग्दृष्टि को अपनी असुरक्षा का भय नहीं रहता।

किसकी सुरक्षा? आत्मा तो सदा सुरक्षित है, फिर भय कैसा? वेदना का भय भी बड़ा भय होता है। हे भगवान्! मुझे कोई रोग न हो जाये, मैं बीमार न पड़ जाऊँ। प्रायः इसी चिन्ता में लोग बीमार पड़ जाते हैं। “कहीं कुछ गड़बड़ी न हो जाये” इस प्रकार का आकस्मिक भय भी सम्यग्दृष्टि को नहीं सताता।

अज्ञानी को अशरणपने का भय बना रहता है। मेरे को कहीं कोई शरण नहीं है, यों शंकित होता हुआ दुःखी रहता है। वह चाहता है कि सब मेरे अनुकूल हो। पर बताओ सब लोग किसी एक के अनुकूल हुए हैं क्या आज तक? एक भी उदाहरण बताओ। भगवान् को ‘यह इन्द्रजालिया है, यह अपनी शान बघार रहा है।’ ऐसा कहने वाले लोग भगवान् के समय में भी न थे क्या? फिर कितने आश्चर्य की बात है कि यह अज्ञानी मोही प्राणी यह चाहता है वैसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, इस कारण यह दुःखी होता है, मरण समय पर मणि, तन्त्र—मन्त्र, बड़े राजपाट, परिजन, सबकुछ धरे रहे जाते हैं। कोई बचाने में समर्थ नहीं होता। मरण की भी बात छोड़ दो, कोई पेटदर्द या सिरदर्द या बुखार किसी के हो तो उसको भी कोई बाँट नहीं सकता। साधारण भी चिन्ता हो, उसे भी बाँट लेने वाला कोई नहीं है। यह जगत् अशरण है। यहाँ मेरा कोई शरण नहीं है।

एक सभा भरी हुई थी। राजा भोज के समय की बात है। राजा ने एक पंडित के बाप से कहा, जो पास में बैठा हुआ था, कि पंडित जी! कोई कविता सुनाओ। मेरी इस समस्या की पूर्ति कर दो” क्व यामः किं कुर्मः हरिणशिशु रेवं विलपति’। तो यह तो जरूरी नहीं है कि पंडित का बाप भी पंडित हो, वकील का बाप भी वकील हो। तो उस पंडित का बाप पढ़ा — लिखा न था, वह देहाती भाषा में, टूटी—फूटी भाषा में, बोलता है ‘पुरा रे बापा।’ ‘बापा’ कहीं—कहीं बच्चों को भी बोलते हैं। तो पुरा रे बापा मायने ‘ऐ बच्चे! तू इसकी पूर्ति कर दे।’ वह तो देहाती भाषा में बोला था ‘पुरा रे बापा।’ तो कवि ने उन्हीं शब्दों को (पुरा रे बापा) मिलाकर कविता बना दी, ताकि लोगों को यह विदित न हो कि बाप मूर्ख है। क्या कविता बनायी?

पुरा रे बापा रे गिरिरतिदुरारोहशिखरे,
 गिरौ सव्येघ्सव्ये दवदहनज्वालाव्यतिकरः ।
 धनुःपाणिः पश्चान्युग युशतकं धावति मृशं,
 क्व यामः किं कुर्मः हरिण शिशुरेवं विलपति ।

इसमें समस्या का पद अन्त के चरण में कह दिया और 'पुरा रे बापा' यह शब्द पहिले ही बोल दिया। इस छन्द का अर्थ यह है कि रेवा नदी के तट पर समीप में आगे तो नदी बह रही है और अगल-बगल पर्वत में बड़ी आग लग गयी है और पीछे से 100 शिकारी धनुषवाण लिये हुये हिरण के बच्चे को जान से मारने के लिये पीछे लगे हैं, ऐसी स्थिति में हिरण का बच्चा कह रहा है कि कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? इस प्रकार वह हिरण का बच्चा विलाप कर रहा है।

भैया ! ऐसी ही स्थिति हम-आपकी है। मोह में पड़े हैं, अज्ञान का अंधेरा छाया है। शांति, सन्तोष की बात मिल नहीं पाती। विषय-कषायों की अग्नि दहक रही है। आगे दुर्गतियों के गड्ढे पड़े हुए हैं और यह मृत्यु पीछे से इसे मारने दौड़ रही है। जैसे एक बांस की पोल में कीड़ा घुसा हो और दोनों ओर आग लग जाय, तो कीड़े की जो हालत है, ऐसी ही हम- आप जंतुओं के दोनों छोर पर संतान लग रहा है। इसके दोनों छोर क्या हैं? जन्म और मरण। जन्म से शुरू हुआ और मरण में अन्त है एक भव का। यह जो जीवन है, वह 'ओर' है और इसका जो अन्त है यह 'छोर' है। इसके ओर-छोर हैं जन्म और मरण। इसके बीच पड़े हुए हैं हम-आप कीड़ा। जन्म-मरण के आगे दोनों ओर आग लगी है। अब इस कीड़ा की क्या दशा है? विलाप करता है, संताप करता है, पर हाय रे मोही सुभट! तू इतना बलवान है और पहलवानी जता रहा है कि चाहे कितने ही उपद्रव हों, हम तो स्त्री, धन, वैभव में मस्त हैं, कोई फिक्र नहीं। क्या शरण है जगत् में, इसका भी तो ध्यान कर।

इस अशरण जगत् में अज्ञानी ने बाह्य पदार्थों को शरण माना है, इस कारण उसे भय है। जो बाह्य पदार्थों से अपनी शरण नहीं मानता, अपने आपके स्वभाव की उपासना में ही अपना शरण समझता है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं है। भय होता है ममता में। वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञानी को बाह्य पदार्थों में

ममता नहीं है, इसलिये ये सब ज्ञानकलायें प्रकट हुई हैं। गुरु—शिष्य वाली कथा प्रसिद्ध है। गुरु को मिली कहीं सोने की ईंट, सो शिष्य के सिर पर रख दिया। गुरु आगे चले और पीछे शिष्य चले। सम्भव है कि वह ईंट आधे मन की होगी। मारे भार के वह मरा जाय। चलते हुये मार्ग में एक जंगल मिला। गुरु शिष्य से कहता है कि ऐ शिष्य! यहाँ सम्हलकर चलना, पैर की आवाज से पत्ते न खड़कने पायें। तो शिष्य कहता है—महाराज! अब खूब निःशंक चलो, डर की चीज तो मैंने खतम कर दी। वह डर की चीज थी ममता, अहं बुद्धि। यह मेरी चीज है, ऐसा मानने से सारे भय लग जाते हैं।

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि निर्भय रहता है। सम्यग्दृष्टि को अपने कर्म पर विश्वास रहता है। वह यह समझता है कि जो मेरे कर्म हैं, उसका फल मुझे भोगना ही पड़ेगा। इसी श्रद्धा के बल पर वह अपने जीवन में आनेवाली प्रतिकूलताओं को समतापूर्वक सहन कर लेता है।

सम्यक्पथ का पथिक अपनी आत्मा को अजर—अमर अविनाशी मानता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा का घात कोई नहीं कर सकता, फिर मैं शरीर की चिंता क्यों करूँ? शरीर तो एक वस्त्र के समान है, जो आज नहीं तो कल अवश्य छूटेगा। जो छूटनेवाला है, वह मेरा नहीं है और जो मेरा है, वह कभी छूटेगा नहीं। इस प्रकार का विचार करके वह परिवार, मकान, दुकान आदि बाह्य वस्तुओं के प्रति निर्ममत्व हो जाता है और निःशंक जीवन व्यतीत करता है। निःशंक जीवन व्यतीत करने वाला देव—शास्त्र—गुरु के वचनों को प्रमाणभूत मानकर सप्त भयों से रहित हो जाता है।

श्री सहजानन्द वर्णी जी ने 7 प्रकार के भयों का वर्णन करते हुये लिखा है— सम्यग्दृष्टि जीव को इसलोक का भय नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि मेरा लोक यह नहीं है। मेरा समागम, मेरे ठाठ ये कहीं कुछ नहीं हैं। यह एक आफत है और इसमें जो चित्त फंसा रहता है, उससे तो मेरे आत्मा का घात है, कुछ रक्षा नहीं है। जो लोग धन—वैभव या इज्जत/प्रतिष्ठा आदि के लिये बड़ी अपनी कमर कसे रहते हैं, ऐसे अनेक लोग हैं, तो उनका क्या लक्ष्य है? बेकार श्रम है।

अज्ञानीजन ऐसा विचार करते हैं कि वैभवशाली बनें, विद्यावान बनें, बड़े ऊँचे नेता बनें। इन सबके होने में मूलभाव उनका यह है कि लोग मुझे अच्छा समझें। धनवान क्यों बनते हैं ? लोग मुझे अच्छा समझें, इस बात के लिए। संस्कृत, अंग्रेजी आदि बड़ी विद्यायें सीखना इसी बात के लिये है कि लोग मुझे अच्छा समझें। इस परिणाम में तो उसने लोगों से भीख माँगी कि नहीं? ये लोग मुझे अच्छा जानें, ऐसा जो परिणाम है, यह भीख माँगने की तरह ही तो है। कोई किसी से पैसे की भीख माँगता है, कोई रोटी की। रोटी की भीख माँगना, उस अच्छा कहलवाने की अपेक्षा ठीक है। भला रोटी की भीख माँगने पर पेट तो भरेगा, तबियत शान्त रहेगी, मगर लोगों से अपने को अच्छा कहलवाने की भीख माँगना एक बड़ी गन्दी बात है। यदि विषय—कषाय से मलिन दुःखी जीवों ने मुझे कुछ अच्छा कह दिया, तो इससे इस आत्मा को क्या लाभ मिला? अरे! अपने में कुछ विवेक जगाना चाहिए और फिर देखो कि नाम की चाह करने से लाभ क्या? इस मुझ आत्मा का तो कुछ नाम ही नहीं है। सभी लोग दीन बनकर दुःखी हो रहे हैं। दुःखी नहीं हैं, पर कल्पनायें करते हैं, इच्छा करते हैं और खुद दुःखी बनते हैं। इच्छा बढ़ती हो तो दुःखी होते हैं। लौकिक लाभ की इच्छा न करें। आज जीव मनुष्यभव में है, कल मरण करके अन्य भव में पहुँच गया, तो फिर इस दुनियावी लाभ से क्या लाभ रहा? राजा भी मरण करके कीड़ा हो सकता है। मुनिव्रत धारण करके कोई तीव्र कषाय के कारण खोटी गति भी पा सकता है। जहाँ इतना हेर—फेर चल रहा है, ऐसे विकट संसार में किसी परद्रव्य की कुछ भी आशा रखना आत्मा का घात है। परद्रव्यों की उपेक्षा करके अपने आपके आत्मा में लगन लनाना, इससे आत्मा की रक्षा है। इस जगत में कोई किसी का सगा नहीं। किसी की आशा रखना व्यर्थ है।

इस जगत में सार कुछ नहीं है। अगर जगत में सार होता, तो ये बड़े—बड़े पुरुष चक्रवर्ती, तीर्थकर इस वैभव को त्यागकर अकेले क्यों वन में तपश्चरण करते? सच जानो, किसी से कुछ न चाहो और अपने आपके आत्मा में अपने प्रभु के दर्शन करके खुश रहना, इसमें मनुष्यजीवन की सफलता है। बाहर में किसी के आश्रय और शरण में इस आत्मा को कुछ प्राप्त नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि के अंगों में प्रथम अंग का नाम है निःशंकित अंग। इहलोक का भय न करना कि मेरा कैसे गुजारा हो, क्या हो। जो हो, सो हो। हमारा आत्मा तो इस अपने आत्मा के चैतन्य रस का पान किया करे, तो उससे तृप्ति है। विषय-भोगों से तृप्ति नहीं है। इस वैभव से, ठाठबाट से इस आत्मा का कुछ भी लाभ नहीं है। अतः सम्यग्दृष्टि को इहलोक का भय नहीं होता। इसी प्रकार उसे परलोक का भय भी नहीं रहता। 'हाय! परलोक में क्या होगा? हमको स्वर्ग मिले। कहीं खोटी गति न मिले, कहीं खोटे भव न मिल जायें, फिर क्या होगा? इन सूकरों को, गधों को, कुत्तों को देखो, कितना दुतकारे जाते हैं, कितने कष्ट में हैं? कहीं ऐसी कोई खोटी गति न मिल जाए।' इस तरह का भय नहीं होता। उसका कारण यह है कि जिसका आचार-विचार पवित्र है, जो सम्यक्त्व से विभूषित है, उसको खोटे भव का संदेह क्यों होगा? जो हीन आचरण वाले हैं, वे अपने हीन आचरण को याद करके संदेह करने लगते हैं कि कहीं कोई खोटा भव न मिल जाये। सम्यग्दृष्टि को परलोक का भय नहीं होता।

एक कथन है कि किसी तीर्थंकर के समवसरण में एक श्रावक जा रहा था। उस श्रावक को एक मुनिराज के प्रति बड़ा धर्मानुराग था। रास्ते में उसे वे मुनिराज एक पलास (छेवला) के पेड़ के नीचे बैठे मिले। वह श्रावक मुनिराज के पास गया, तो मुनिराज ने उससे कहा कि तुम भगवान् के समवसरण में जा रहे हो, जरा हमारे सम्बन्ध में भी पूछ लेना कि इन मुनिराज के कितने भव शेष रह गये हैं अर्थात् कितने भवों के बाद मुक्ति होगी? श्रावक पहुँचा, वहाँ प्रश्न किया, तो उत्तर मिला कि जिस पेड़ के नीचे मुनिराज बैठे हैं, उस पेड़ में जितने पत्ते हैं, उनके उतने भव शेष हैं, इसके बाद मोक्ष होगा।

वह श्रावक जब लौटने लगा, तो खुश हुआ कि अब मुनिराज के थोड़े ही भव शेष रह गये हैं। पलास के वृक्ष में कम पत्ते होते हैं, करीब 50 पत्ते होंगे। वह बड़ा खुश हुआ और जब आकर देखा कि वे मुनिराज तो इमली के पेड़ के नीचे बैठे हैं। यह देखकर वह श्रावक बड़ा दुःखी हुआ। जब मुनिराज ने पूछा कि ऐ श्रावक! क्या बात है? तो वह माथा ठोककर बोला कि महाराज! उत्तर तो बड़ा अच्छा मिला था कि जिस पेड़ के नीचे मुनिराज बैठे हैं, उसमें जितने पत्ते हैं,

उनके उतने भव शेष हैं, पर आप तो इमली के पेड़ के नीचे बैठे हैं, इसमें तो अनगिनत पत्ते हैं। तब मुनिराज ने उसे समझाया, अरे! इसमें घबड़ाने की क्या बात है? आखिर इन पत्तों का भी अंत है। अतः यह तो निश्चित हो गया कि इतने भवों के बाद मोक्ष प्राप्त होगा। अनन्त भवों के सामने ये भव तो न के बराबर हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषों को परभव का भी भय नहीं रहता। वे तो अपने चैतन्य रस का पान कर तृप्त रहते हैं।

सम्यग्दृष्टि को वेदना का भय भी नहीं रहता। शरीर में कोई वेदना हो तो जिसे शरीर में जैसी ममता है, उसको वैसी वेदना होती है। ज्ञानी पुरुष शरीर से अपना हित मानते नहीं, बल्कि अपने घात का कारण समझते हैं। यदि यह शरीर न होता, तो आत्मा कितने आनन्द में रहता? इस शरीर के सम्बन्ध से ही तो आत्मा विपत्ति में पड़ा है। यह शरीर आत्मा का मित्र नहीं है, यह तो विपदा का कारण है। ज्ञानी पुरुष समझते हैं कि हमारी आत्मा इस शरीर में फँसी है, इतनी भर वेदना है, इसके आगे इस मुझ आत्मा में कोई वेदना नहीं है। शरीर की वेदना देखकर अज्ञानी जीव घबड़ा जाते हैं कि हाय! अब क्या होगा, अभी कितनी सदी अथवा गर्मी बढ़ेगी? यह दृष्टि होने से उसको बड़ी वेदना रहती है, पर ज्ञानीजीव को वेदना नहीं रहती। ज्ञानीपुरुष को शरीरादि की वेदना का भय नहीं रहता।

एक सनतकुमार चक्रवर्ती हुए हैं। वे रूप में इतने सुन्दर थे कि इनकी चर्चा स्वर्गों में होने लगी कि इस समय मनुष्यलोक में सनतकुमार से बढ़कर और किसी का रूप नहीं है। अतः दो देव परीक्षा करने आये। उन्होंने सनतकुमार को कभी नहीं देखा था। सनतकुमार उस समय अखाड़े में कुश्ती लड़कर धूल से भरे हुए वैसे ही शरीर से बैठे थे। दोनों देवों ने देखा तो वे आश्चर्य करने लगे कि इनका शरीर कितना सुन्दर है? जब दोनों देव सनतकुमार की सुन्दरता पर आश्चर्यचकित थे, तब एक—दो मनुष्यों ने कहा कि तुम अभी इनका रूप क्या देखते हो? जब दरबार लगेगा, श्रंगार करके ये सिंहासन पर विराजेंगे तब इनका रूप देखना। दोनों देव फिर दोपहर में आये, जबकि दरबार लगा हुआ था। उस समय सनतकुमार के उस रूप को देखकर देवों ने माथा धुना। लोगों

ने कहा कि माथा क्यों धुनते हो? वे देव कहते हैं कि अब वह रूप नहीं रहा। लोगों ने पूछा कि कैसे नहीं रहा वह रूप? देवों ने बताया कि ज्यों-ज्यों समय गुजरता है, त्यों-त्यों रूप, यौवन सब ढलते जाते हैं। हमें तत्काल पता नहीं पड़ता, पर महिनों, वर्षों बाद देखने पर पता पड़ता है। देवों ने पानी से भरी एक गगरी मँगायी, जो खूब लबालब भरी थी। उसमें एक सींक डुबोकर निकाल ली और एक बूँद अलग टपका दी तथा पूछा कि बताओ इस गगरी में पानी कम हुआ या नहीं? तो दिखने में कम नहीं लगता, पर कम तो हुआ ही। यों ही यह रूप क्षण-क्षण क्षीण होता जाता है। सनतकुमार विरक्त होकर मुनि हो गये, पूर्व कर्म का ऐसा उदय आया कि उनके शरीर में कुष्ठ रोग हो गया। फिर वह देव उनकी परीक्षा लेने आया और वैद्य का रूप धारण कर उनके सामने घूमने लगा कि मेरे पास बड़ी अच्छी-अच्छी औषधियाँ हैं। चाहे जो रोग हो, ठीक हो जाता है। सनतकुमार मुनिराज ने कहा कि तुम हमारे सामने बार-बार क्यों घूम रहे हो? वह देव बोला, 'महाराज! हम बहुत अच्छी औषधियों द्वारा उपचार करते हैं। हम चाहते हैं कि आपके रोग की दवा हो जाये।' मुनिराज बोले, 'मुझे शरीर के इस रोग की कोई चिन्ता नहीं है। मुझे तो जन्म-मरण का एक विकट रोग लगा है। यदि आपके पास उसकी कोई दवा हो तो बताओ।' वह देव अपने असली रूप में प्रगट होकर बोला, 'आप धन्य हैं। इस रोग की दवा तो आपके पास ही है।' तो ज्ञानी पुरुष इस शारीरिक वेदना को वेदना नहीं समझते, किन्तु आत्मा की पवित्रता न रहे, खोटे परिणाम हों, तो इसे वे बहुत विडम्बना समझते हैं। सम्यग्दृष्टि को वेदना का भय नहीं रहता।

सम्यग्दृष्टि को असुरक्षा का भय भी नहीं होता। रक्षा सम्बन्धी भय होना असुरक्षा भय कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि जो सत् है, अस्तित्व रखता है, उसका (पदार्थ का) कभी विनाश नहीं होता, रहता ही है। भले ही पानी का भाप और भाप का पानी बन जाए, पर कोई भी वस्तु मूल से नष्ट हो जाए, ऐसा नहीं किया जा सकता। ज्ञानी जानता है कि मैं एक सत् वस्तु हूँ, अतएव अनन्तकाल तक रहूँगा, सदा रहूँगा, मेरा विनाश नहीं हो सकता। मेरी असुरक्षा कहाँ है? अज्ञानी लोग तो ममता के कारण अनुकूल बात न होने से अपनी

असुरक्षा समझ बैठते हैं। यहाँ अरक्षित कोई नहीं है, सब स्वरक्षित हैं। अपने से बाहर की बात पर दृष्टि दी और वह अनुकूल न जँची, उसी पर झगड़ने लगे तो यह तो उसकी कल्पना की बात है। जिस चाहे प्रसंग में अपने को अरक्षित समझने लगे, पर स्वरूप देखो तो यह मैं आत्मा कभी भी रक्षारहित नहीं होता। सदा स्वरक्षित हूँ। इसमें किसी भी अन्य पदार्थ का प्रवेश नहीं है। ज्ञानीजीव को असुरक्षा का भय नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि को अगुप्ति का भय भी नहीं होता। एक भय लोगों को लगा रहता है अगुप्ति भय कि मेरी गुप्त बातों का किसी को पता न लग जाय। इस प्रकार का भय नहीं रहता, क्योंकि वह ऐसी कोई गुप्त बात नहीं रखता जिसके खुल जाने पर पर भय हो। ज्ञानीजीव सोचता है कि यह नियम है कि किसी भी वस्तु में किसी अन्य वस्तु का प्रवेश नहीं होता। मेरा चैतन्य—स्वरूप—दुर्ग इतना दृढ़ है कि इस स्वरूप में किसी परपदार्थ का प्रवेश नहीं होता, इसलिये मैं स्वरक्षित हूँ। किसी ने गाली दी तो वह मुझमें कहाँ घुस गई? वैभव गिर गया तो क्या हुआ? वह तो पर था। मेरे में कुछ नहीं हुआ। और वैभव के प्रति ममता हो तो ममता के कारण वह दुःखी हो। जिसे निश्चय से आत्मा की और व्यवहार से देव—शास्त्र—गुरु की शरण प्राप्त हो गई, ऐसे सम्यग्दृष्टि को असुरक्षा का भय नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि को मरण का भय नहीं होता। संसारी जीवों को मरण का बड़ा भय रहता है। मरण का भय उन जीवों को होता है जिन्हें मूर्छा, ममता, ममत्व लगा है कि 'हाय! हमने लाखों का वैभव जोड़ा और अब यह छूटा जा रहा है।' ऐसी कल्पना उठती है तो उस ममता के कारण उनको क्लेश होता है। पर ज्ञानीजीव को परपदार्थों में ममता नहीं है, वह तो अपने आप में अपने स्वरूप को निहार कर अपने चैतन्य रस से तृप्त रहता है। और रही मरण की बात तो यह एक शरीर छूट गया, नई जगह पहुँच गया, मैं तो वही—का—वही हूँ। जैसे कोई नया मकान बनाये और पुराने मकान को छोड़कर नये मकान में पहुँच गया, ऐसी ही इस आत्मा की बात है। ज्ञानीपुरुष को मरण के समय भी भय नहीं रहता। वह अपने स्वरूप की वास्तविक संभाल बनाये रहता है। ये सब बातें अपने काम

की हैं— अपने पर घटाना है, जिससे अपने को अशान्ति न आये, ऐसा ज्ञान करना अपना परम कर्तव्य है। मरण का भय अज्ञानी मोही जीवों को सताता है, 'हाय! मैं मरा, मेरा लड़का छूटा, मेरे नाती—पोते छूटे। कितने आराम का घर बनाया था जो छूट रहा है। कितनी घबड़ाहट की स्थिति है उस समय अज्ञानी के लिए। पर ज्ञानीजीव सोचता है कि मरण क्या है? मैं तो यहाँ हूँ, लो यहाँ से दूसरी जगह चला। मेरा तो अन्य कुछ न था और न ही हो सकता है। मैं ही अपने स्वरूप में सदा परिणमता रहता हूँ। ऐसे जाननहार योगी पुरुष को मरण का भय नहीं रहता।

यदि भय से और संक्लेश से छुटकारा पाना है, तो कर्तव्य यह है कि हम अपने आपके यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करें और उसकी ही श्रद्धा रखें।

ज्ञानी पुरुष को मरणभय नहीं है। क्यों नहीं है? वह जानता है कि जो मेरा है, वह मेरे से कभी बिछुड़ नहीं सकता और जो मेरा नहीं है, वह इस जीवन में भी मुझसे बिछुड़ा हुआ ही है। एक घर में 10 आदमी रहते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं कि एक दूसरे का मन बिल्कुल नहीं मिलता है, अत्यन्त विपरीत विचार रहते हैं। वे घर में रहते हुए भी बिछुड़े हुए ही हैं जबकि रह रहे हैं एक घर में। जब स्वरूप नहीं मिलता, विचार नहीं मिलता, तब संयोग क्या? यों ही यद्यपि इस समय शरीर भी लगा है, किन्तु इस आत्मा का स्वरूप इससे मिलता ही नहीं है। यह मैं अत्यन्त भिन्न हूँ अन्य सब चेतन—अचेतन पदार्थों से। तो निकट रहता हुआ भी यह सब बिछुड़ा ही है। इसमें आता ही नहीं कुछ। फिर जो बिछुड़ गया, उसका क्या खेद?

एक कुँजड़ा—कुँजड़ी थे। दोनों बूढ़े थे। कुँजड़ा ऊँट पर सवार होकर रोजगार को जाया करता था। वह बुढ़िया उस बुढ़े से जला करती थी। उस बुढ़िया का मन उस बुढ़े से न मिलता था, सो रोज—रोज दोनों में लड़ाई हुआ करती थी। अचानक ही एक दिन बुढ़ा गुजर गया, तो लोग कहते हैं कि ऐ बुढ़िया! अब तो तेरा बुढ़ा गुजर गया। अब क्या करेगी? बुढ़िया कहती है—'अरे! वह सरग में तो चढ़ा ही रहता था, थोड़ा—सा और ऊपर चला गया।' सरग के मायने है ऊँट। ऊँट पर तो चढ़ा ही रहता था, थोड़ा—सा और चढ़

गया। यों ही समझो कि मेरे आत्मा को छोड़कर अन्य समस्त पदार्थ इस समय जुदे तो हैं ही। किसी समय क्षेत्र की अपेक्षा और जुदे हो गए, जुदे तो दोनों जगह बराबर हैं। किसी चीज के वियोग होने का फिर विवाद क्या? यह मैं आत्मतत्त्व ज्ञान—दर्शन से परिपूर्ण हूँ। मेरा तो मात्र ज्ञान और दर्शन है। ये 10 प्राण द्रव्यप्राण हैं। इनका वियोग होता है, ये मेरी चीज ही नहीं हैं। मैं तो ज्ञान—दर्शनस्वरूप हूँ, तो फिर काहे का मरण ? मरण का भय ज्ञानी को नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टि को आकस्मिक भय नहीं होता। एक भय होता है, आकस्मिक भय। ऊटपटांग कल्पनायें करने का भय। कहीं ऐसा न हो कि बिजली तड़क जाये और मैं मर जाऊँ। कहीं छत न गिर जाये और मैं मर जाऊँ। कहीं बैंक फ़ैल न हो जाये और मेरे 10 लाख रुपये चले जायें। यों अज्ञानी लोग व्यर्थ का भय बना लेते हैं। ज्ञानी पुरुषों को इस प्रकार का भय नहीं होता। वे जानते हैं कि किसी भी अन्य पदार्थ से मेरे में कोई बाधा नहीं हो सकती। मैं ही व्यर्थ की कल्पनायें करके खेद—खिन्न होऊँ, पर किसी अन्य पदार्थ में यह सामर्थ्य नहीं कि मुझे खेद उत्पन्न कर सके। ज्ञानीजीव को आकस्मिक भय नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को भय न होने का कारण व प्रयोजन बताते हुए 'समयसार' की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने कलश 155 में कहा है —

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मनः,

चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यंलोकयत्येकः।

लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो,

निःशङ्क सततं स्वयं सः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।

यह चिद्स्वरूप ही इस विविक्त आत्मा का शाश्वत, एक और सकल व्यक्त लोक है, क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है, अनुभव करता है। यह चिद्स्वरूप लोक ही तेरा है, उससे भिन्न कोई तेरा दूसरा लोक नहीं है, ज्ञानी ऐसा विचार करता है, जानता है और सदा निःशंक रहता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि 7 प्रकार के भयों से रहित होता है तथा उसे जीवादि सात तत्त्वों तथा मोक्षमार्ग पर कभी शंका नहीं होती।

निःशंकित अंग में अंजन चोर प्रसिद्ध हुआ है।

तत्त्व यही है, ऐसा ही है, नहीं और, नहीं और प्रकार।

जिनकी सन्मारग में रुचि हो, ऐसी मानों खड्ग की धार।।

है सम्यक्त्व अंग यह पहला, 'निःशंकित' है इसका नाम।

इसके धारण करने से ही, 'अंजन चोर' हुआ सुख धाम।।

अंजन चोर कोई मूल में चोर नहीं था, वह तो उसी भव में मोक्ष जाने वाला राजकुमार था। उसका नाम ललित कुमार था।

उस राजकुमार ललित को राजा ने दुराचारी जानकर राज्य से बाहर निकाल दिया। उसने एक ऐसे अंजन (काजल) को सिद्ध कर लिया, जिसके लगाने से वह अदृश्य हो जाता था। वह काजल उसे चोरी करने में सहायक बना था, इसलिये वह अंजन चोर नाम से प्रसिद्ध हो गया। चोरी करने के उपरान्त वह जुआ और वेश्या सेवन जैसे महापाप भी करने लगा।

एक बार उसकी प्रेमिका ने रानी के गले में सुन्दर हार देखा और उसे पहनने की उसके मन में तीव्र इच्छा हुई। जब अंजन चोर उसके पास आया तो उसने उससे कहा— “हे अंजन! अगर तुम्हारा मुझ पर सच्चा प्रेम है तो रानी के गले का रत्नहार मुझे लाकर दो।”

अंजन ने कहा— “देवी! यह बात तो मेरे लिये बहुत ही आसान है।” ऐसा कहकर वह चतुर्दशी की अन्धेरी रात में राजमहल में गया और रानी के गले का हार चुराकर भागने लगा। रानी का अमूल्य रत्नहार चोरी होने से चारों ओर शोर मच गया। सिपाही दौड़े। उन्हें चोर तो दिखाई नहीं देता था, लेकिन उसके हाथ में पकड़ा हुआ हार अन्धेरे में जगमगाता हुआ दिखाई दे रहा था। उसे देखकर सिपाही उसे पकड़ने के लिये पीछे भागे। पकड़े जाने के भय से अंजन चोर हार दूर फेककर भाग गया और श्मशान में पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने एक आश्चर्यकारी घटना देखी।

एक मनुष्य को उसने पेड़ के ऊपर एक सींका बाँधकर उसमें चढ़ते — उतरते देखा, जो कुछ बोल भी रहा था। कौन था वह मनुष्य? और इतनी अंधेरी रात में यहाँ क्या कर रहा था?

अमितप्रभ और विद्युतप्रभ नाम के दो देव पूर्व भव में मित्र थे। अमितप्रभ जैनधर्म का भक्त था और विद्युतप्रभ कुधर्म को मानता था। एक बार वे दोनों धर्म की परीक्षा करने निकले। रास्ते में एक अज्ञानी तपस्वी को तप करते देखकर उन्होंने उसकी परीक्षा करनी चाही। उस तपस्वी से विद्युतप्रभ ने कहा—“अरे बाबा! पुत्र के बिना सद्गति नहीं होती — ऐसा शास्त्र में कहा है।” ऐसा सुनकर वह तपस्वी तो झूठे धर्म की श्रद्धा से उत्पन्न हुआ वैराग्य छोड़ कर संसार के भोग भोगने चला गया। यह देखकर विद्युतप्रभ की कुगुरुओं की श्रद्धा तो छूट गई। लेकिन बाद में उसने कहा—“अब जैन गुरु की परीक्षा करेंगे।”

तब अमितप्रभ ने उससे कहा—“हे मित्र! जैन साधु तो परम वीतरागी होते हैं, उनकी तो बात ही क्या करें ? अरे ! उनकी परीक्षा तो दूर रही, देखो सामने यह जिनदत्त नामक एक श्रावक सामायिक की प्रतिज्ञा करके अन्धेरी रात में यहाँ श्मशान में अकेला ध्यान कर रहा है, तुम उसी की परीक्षा कर लो।

तब उस देव ने अनेक प्रकार से उपद्रव किया, परन्तु जिनदत्त सेठ तो सामायिक में पर्वत के समान अटल रहे, अपनी आत्मा की शान्ति से जरा भी डगमगाये नहीं। अनेक प्रकार के भोग—विलास बताये, तो भी वे लालायित नहीं हुए। एक जैन श्रावक की ऐसी दृढ़ता देखकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सेठ जी को आकाशगामिनी विद्या प्रदान की।

आकाशगामिनी विद्या के बल से जिनदत्त सेठ प्रतिदिन मेरु पर्वत पर जाते और वहाँ के अद्भुत रत्नमय जिनबिम्बों के तथा चारणऋद्धिधारी मुनिवरों के दर्शन करते, जिससे उन्हें बहुत आनन्द आता।

एक बार सोमदत्त नामक माली ने सेठ जी से पूछा—“सेठ जी! आपने आकाशगामिनी विद्या सम्बन्धी बहुत—सी बातें कहीं और रत्नमय जिनबिम्बों का बहुत वर्णन किया, उसे सुनकर मुझे भी वहाँ के दर्शन करने की भावना जागी है। आप मुझे आकाशगामिनी विद्या सिखाइये, जिससे मैं भी वहाँ के दर्शन करूँ।”

सेठ जी ने माली को वह विद्या सिखाई। सेठ जी के बताये अनुसार अन्धेरी चतुर्दशी की रात के समय श्मशान में जाकर उसने पेड़ पर सींका लटकाया

और नीचे जमीन पर तीक्ष्ण नोंकदार भाले लगाये। आकाशगामिनी विद्या की साधना करने के लिए सींके में बैठ कर, पंच णमोकार मंत्र बोलते हुए सींके की रस्सी काटनी थी, परन्तु नीचे लगे भालों को देखकर उसे डर लगता था, और मन्त्र में शंका होती थी कि कदाचित् मन्त्र सिद्ध नहीं हुआ और मैं नीचे गिर पड़ा, तो मेरा शरीर छिद जायेगा। ऐसी शंका से वह नीचे उतर जाता। थोड़ी देर पश्चात् उसे ऐसा विचार आता कि सेठ जी ने कहा, वह सच्चा होगा तो? अतः फिर सींके में जा बैठता।

इस प्रकार वह बारम्बार सींके से चढ़ता—उतरता, लेकिन वह निःशंक होकर उस रस्सी को काट नहीं सका।

इतने में अंजन चोर भागते—भागते वहाँ पहुँचा। माली को ऐसी विचित्र क्रिया करते हुये देखकर उसने पूछा—“अरे भाई! ऐसी अन्धेरी रात में तुम यह क्या कर रहे हो?”

सोमदत्त माली ने उसे सब बात बताई। उसे सुनते ही अंजन चोर को णमोकार मंत्र पर परम विश्वास बैठ गया। उसने माली से कहा—“लाओ, मैं इस मंत्र को सिद्ध करता हूँ।”

ऐसा कहकर उसने श्रद्धापूर्वक मन्त्र बोलकर निःशंकपन से सींके की रस्सी काट दी। अहो आश्चर्य! नीचे गिरने के पहले ही देव—देवियों ने उसे ऊपर ही झेल लिया और कहा—“मन्त्र के ऊपर तुम्हारी निःशंक श्रद्धा से तुम्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गई है, उसकी वजह से आकाशमार्ग से तुम्हें जहाँ भी जाना हो, जा सकते हो।”

तब से अंजन चोर ने चोरी करना छोड़ दिया और जैनधर्म का भक्त बन गया। वह बोला— “जिनदत्त सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या प्राप्त हुई है, अतः जहाँ जिनदत्त सेठ हैं, मैं भी वहीं जाकर जिनबिम्बों के दर्शन करना चाहता हूँ।”

जिसकी जैसी गति होनी होती है, उसकी मती भी वैसी ही हो जाती है। अंजन चोर को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई, तो उसे चोरी का धन्धा करने के लिये उस विद्या का उपयोग करने दुर्बुद्धि नहीं हुई, परन्तु जिनबिम्बों के दर्शन इत्यादि धर्मकार्य में उसका उपयोग करने की सद्बुद्धि सूझी। यह बात उसके

परिणाम पलटने की सूचना देते हैं।

विद्या सिद्ध होने पर अंजन ने विचार किया—“अहो! जिस जैनधर्म के एक छोटे से मन्त्र के प्रभाव से मेरे जैसे चोर को यह विद्या सिद्ध हुई तो वह जैनधर्म कितना महान होगा ? उसका स्वरूप कितना पवित्र होगा ? चलूँ, जिस सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या मिली, उन्हीं सेठ के पास जाकर जैनधर्म के स्वरूप को समझूँ, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके। ऐसा विचार कर विद्या के बल से वह मेरुपर्वत पर पहुँचा। वहाँ पर रत्नमयी अरहन्त भगवन्तों की वीतराग प्रतिमाओं को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उस समय जिनदत्त सेठ वहाँ मुनिराज का उपदेश सुन रहे थे। अंजन ने उनका बहुत उपकार माना और मुनिराज के उपदेश को सुनकर आत्मा के स्वरूप को समझा। आत्मा की निःशंक श्रद्धा करके उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और पूर्व के पापों का पश्चात्ताप करके मुनिराज के पास दीक्षा ले ली, वे मुनि बनकर आत्मध्यान करते हुए अपनी साधना करने लगे। उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और बाद में कैलाशगिरि से मोक्ष पाकर सिद्ध हुये, अंजन से निरंजन बन गये।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— निःशंकित अंग के दो अर्थ होते हैं, एक संदेह का न होना और दूसरा भय का न होना। ये दोनों अर्थ साथ-साथ भी चल सकते हैं। अर्थात् निःशंकित अंगधारी अभय और संदेह रहित होता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भय का कोई प्रश्न ही नहीं। केवल अब तक चल रहे संसारमार्ग को छोड़कर एक छलांग मात्र मारनी है और बस, फिर बेड़ा पार है। मंजिल पर पहुँचने में देरी न होगी, किन्तु यदि पैर लड़खड़ा गये, तो मंजिल पर पहुँच नहीं सकते। मृग सिंह से भी तेज दौड़ता है, किन्तु वह पकड़ा क्यों जाता है? क्योंकि शेर की गर्जना सुनते ही उसके पैर आगे बढ़ नहीं पाते, वह एक जगह ठहर जाता है। इसीलिये शेर उसे पकड़ लेता है।

एक बार यह विश्वास गले उतर जाये कि “मैं अजर—अमर हूँ, मैं शाश्वत हूँ, तो काम बन जाये। जैसे किसी गम्भीर रोगी को देखकर डाक्टर कहे—“बस, यह दवा गले से नीचे उतर जाये तो काम बन जाये” यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र

में है। इसलिये आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' में कहते हैं कि गुरु साधक को केवल यही विश्वास हृदयंगम करावे कि तू तो शाश्वत है, यही है, तत्त्व ऐसा ही है, दूसरा नहीं है, अन्य प्रकार से नहीं है। तभी कार्य की सिद्धि संभव है। सम्यग्दृष्टि जीव सभी सात प्रकार के भयों से रहित होता है और निःशंक हो अपना जीवन व्यतीत करता है। यद्यपि भयप्रकृति का उदय मुनि तथा श्रावक दोनों को होता है, क्योंकि भयप्रकृति का उदय अष्टम गुणस्थान तक है, फिर भी सम्यग्दृष्टि के कर्मउदय का स्वामीपना एवं मोहबुद्धि नहीं होती है। वह परद्रव्य द्वारा स्वद्रव्य का नाश हो, ऐसा नहीं मानता है। वह पर्याय की विनाशीकता को भली-भांति जानता है। इसलिये चारित्रमोह सम्बन्धी भय होते हुये भी दर्शनमोह सम्बन्धी भय नहीं होता। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ़ श्रद्धा उसे निःशंक बना देती है। यद्यपि तत्क्षण उठी पीड़ा के सहने में अशक्त होता है, फिर भी श्रद्धा से कभी नहीं डिगता है।

एक बार राजकुमार वर्द्धमान की निर्भयता और वीरता की चर्चा सुनकर संगमदेव ने उनकी परीक्षा लेना चाही। वर्द्धमान वृक्षों पर एक-दूसरे को छू लेने का खेल-खेल रहे थे। वे अपने मित्रों के साथ वृक्षों पर यहाँ से वहाँ दौड़ रहे थे। वहीं पर संगमदेव भयंकर विषधर नाग का रूप धारण कर वृक्ष से लिपट गया और फुफकारने लगा। सभी अन्य मित्र उस भयंकर नाग को देखकर वृक्ष से कूद-कूदकर डर के मारे यहाँ से वहाँ भागने लगे। वर्द्धमान उस नाग को वृक्ष से लिपटा हुआ देखकर रंचमात्र भी भयभीत नहीं हुए। उन्होंने वृक्ष से उतरकर नाग के फण पर दोनों पैर रख दिये और मित्रों से कहा— 'तुम इस सर्प से मत डरो। जब अपनी आत्मा अजर-अमर है, तब उसे कौन मार सकता है?' ऐसा लग रहा था जैसे बालक वर्द्धमान उस सर्प के साथ खेल, खेल रहे हों।

नाग ने वर्द्धमान की निर्भयता से प्रभावित होकर अपना असली देव का रूप धारण कर क्षमा याचना कर कहा— 'भगवन्! आप महान् ज्ञानी एवं निःशंक हैं। आपकी वीरता धन्य है। मैंने आपकी परीक्षा करने का असफल दुःसाहस किया, उसके लिये आप मुझ दीन को क्षमा प्रदान करें।' सम्यग्दृष्टि अपनी आत्मा को पहचानता है, वह विचार करता है—

शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनंत, अतुल अविचल सरूप मम॥
चिद्विलास परगास, वीत-विकल्प सुख थानक।
जहाँ दुविधा नहीं कोई होई, वहाँ कहु न अचानक॥
जब यह विचार उपजंत तब, अकस्मात् भय नहीं उदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित॥

मेरी आत्मा शुद्ध ज्ञान तथा वीतरागभावमय है। सिद्ध भगवान् के समान परमात्मारूप है। ज्ञान लक्षण से विभूषित है। आत्मा सिर से पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, उसका कभी नाश नहीं होता। शरीर आदि पर पदार्थ हैं। संसार का सब वैभव और कुटुम्बियों का समागम क्षणभंगुर है। जिसकी उत्पत्ति है, उसका नाश है। जिसका संयोग है, उसका वियोग है। परिग्रहसमूह जंजाल के समान है। आत्मा ज्ञानप्राण से संयुक्त है। उसका कभी तीन काल में भी नाश नहीं हो सकता। आत्मा सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप है। उसमें कर्मों की वेदना का प्रवेश नहीं हो सकता। मेरा स्वरूप अरूपी, अनादि, अनंत, अनुपम, चैतन्यज्योति, निर्विकल्प, आनंदकंद और निर्द्वंद्व है। उस पर कोई आकस्मिक घटना नहीं हो सकती। इस प्रकार चिन्तन करने से सम्यग्दृष्टि को इहलोक आदि का भय नहीं होता। वे तो अपनी आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं। यह सम्यग्दृष्टि का निःशंकित अंग है। इस अंग का पालन करने से अनादिकाल से लगा हुआ मिथ्यात्व छिन्न-भिन्न होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्ति का उपाय श्री जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्व और जिनेन्द्र भगवान् के प्रति श्रद्धा और तदनुसार चारित्र धारण करना ही है। अतः सभी को जिनेन्द्र-कथित आगम, जिनेन्द्रदेव और वीतराग गुरु पर दृढ़ श्रद्धा रखना चाहिये।

निःकांक्षित अंग

धर्मात्मा जीव धर्म के फल में सांसारिक सुखों की बांछा नहीं करते।
'रत्नकरण्ड' श्रावकाचार' ग्रंथ में श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।

पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाक्षणा स्मृता ॥१२॥

धर्म के फल में सांसारिक सुखों की आकांक्षा नहीं करना, 'निःकांक्षित' अंग है। इस अंग का धारक जीव विचार करता है कि ये सांसारिक सुख मेरे अधीन न होकर कर्मों के अधीन हैं। कर्मों के तीव्र—मंद उदय के अनुसार घटते—बढ़ते रहते हैं। अन्त से सहित हैं। इन्द्र और चक्रवर्ती का सुख भी अवधि पूर्ण होने पर नष्ट हो जाता है। इन सुखों के बीच—बीच में दुःख भी आते रहते हैं। ये पापबन्ध के कारण हैं। ऐसे इन्द्रियसुखों की आकांक्षा सम्यग्दृष्टि नहीं करता। यह उसका निःकांक्षित अंग कहलाता है। सम्यग्दृष्टि किसी भी प्रकार की लौकिक व पारलौकिक आकांक्षा नहीं रखता। वह जानता है कि संसार में किसी का भी सुख शाश्वत् नहीं है। वह संसार के सभी सुखों को विष—मिश्रित मिष्टान्नवत् अत्यन्त हेय समझता है और समस्त प्रलोभनों से दूर रहता है। जिस जीव को दुर्लभ सम्यग्दर्शन रूपी रत्न की प्राप्ति हो जाती है, वह धर्म के फल में सांसारिक सुखों की आकांक्षा नहीं करता।

वह जानता है कि भौतिक सम्पदा, पद, धन, शारीरिक सुख, स्त्री—पुत्र, भाई सभी कर्मानुसार मिले हैं, सो निश्चित बिछुड़ेंगे। इन सबका संबंध

आत्मा को अशुद्ध करने वाला है। इन सबकी आकांक्षा कर मैं अपनी आत्मा को मलिन नहीं करूँगा। मैं शुद्ध तत्त्व, चैतन्य पिण्ड आत्मा की प्राप्ति के लिए ही धर्म करूँगा, सम्यक्त्व धारूँगा, मेरा लक्ष्य कर्मों के बन्धन को तोड़ना है। जो सम्पदा कर्म के कारण प्राप्त होती है, वह नियमतः संसारवृद्धि में कारण है। इस प्रकार विचार करता हुआ निःकांक्षित गुण धारक साधक कर्माधीन सुखों की आकांक्षा न कर कर्मातीत सुखों की आकांक्षा करता है। जो कर्माधीन सुख है, वह शाश्वत नहीं है। उस पर आस्था करना कागज की नाव से नदी पार करना है। संसारी प्राणी अनादिकाल से अपनी भूल के कारण इन्द्रियसुख को ही शाश्वत सुख मान रहा है और उसी को प्राप्त करने में सदा प्रयत्नशील रहता है। इस जीव ने आत्मिकसुख को प्राप्त करने का आज तक प्रयत्न नहीं किया। जब तक मिथ्यात्व प्रकृति का उदय रहता है, तब तक कर्माधीन सुखों की आकांक्षा बनी रहती है और जब तक कर्माधीन सुखों की आकांक्षा है, तब तक संसार में अटकाव है, भटकाव है। जब जीव का मिथ्यात्व भाव समाप्त हो जाता है, तब स्वतः आत्मिकसुख की रुचि जागृत होने लगती है। आचार्य समंतभद्र स्वामी अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि—

लक्ष्मी विभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्र लाछनम्।

साम्राज्यं सर्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत् ॥८८॥

सम्यग्दृष्टि जीव के लिए लक्ष्मी, वैभव, चक्र, साम्राज्य, पृथ्वी आदि जीर्ण तृण के समान हैं अर्थात् साररहित हैं, कर्माधीन हैं, विनाशिक हैं। इन्द्रियजन्य सुख आत्मा का विभाव परिणाम है। परपदार्थ के संयोग से उत्पन्न हुआ सुख अधिक काल तक नहीं रहता है। अतः ऐसे इन्द्रियसुख की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

निष्कांक्षित अंग का धारक “दुःखैरन्तरितोदये” संसारसुख को मिर्च के समान मानता है। जिस प्रकार मिर्च पदार्थ में मिलकर स्वाद प्रदान करती

है, चरपराहट उत्पन्न करती है, पर खाने के कुछ समयोपरान्त पेट में जलन आदि दुःखों को प्रदान करती है, उसी प्रकार इन्द्रियसुख भोगते समय सुखदायी महसूस होते हैं, पर अन्त इसका दुःखरूप ही होता है। संसारी प्राणी की बड़ी विचित्र मनोदशा है। वह बाह्य वस्तुओं के संयोग को सुख समझकर उसे अंगीकार करता है और दुःख को निमंत्रण देता है। जिस प्रकार कुत्ता हड्डी को चबाकर छिले तालु से बहे रक्त को चूसकर स्वयं को आनन्दित महसूस करता है और थोड़ी देर बाद वेदना से परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक सुख हैं। जिस प्रकार चाकू पर लगी चासनी को चाटने पर सुख होता है, परन्तु जीभ कटने पर, दुःख प्राप्त होता है, उसी प्रकार विषयों की स्थिति है। सम्यग्दृष्टि गृह में रहकर इन सब विषयों से यथाशक्ति विरक्त रहता है। कदाचित् मजबूरन किसी वस्तु का उपभोग भी करना पड़े, तो उदासीन भाव से करता है। जैसे मरीज कड़वी औषधि को जबरदस्ती पीता है और सोचता है कि वह दिन कब आयेगा जब मैं औषध रहित हो जाऊँगा।

द्रव्यसंग्रह गाथा 13 की टीका करते हुए आचार्य ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं— **“मारण निमित्तं तलवरगृहीत तस्करवदात्मनिन्दा सहितः सन्निन्द्रिय सुखमनुभवतीत्य विरतिसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्।”** मारने के लिए कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भाँति आत्म निन्दादि सहित इन्द्रियसुख का अनुभव करता है। जिस प्रकार किराये के मकान में रहनेवाला मकान को अपना नहीं मानता, फिर भी जब तक रहता है, जब तक उसकी सफाई—सुधार व्यवस्था करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भी क्रिया होती है, क्योंकि सम्यक्दृष्टि जानता है कि कर्माधीन सुख सावधिक है। जितना कर्माधीन सुखों को भोगा जायेगा, आत्मा उतनी ही कर्माधीन हो पुनः बन्धती चली जायेगी।

वह समस्त संसारिक भोगसामग्री को ‘पापबीजे सुखेऽनास्था’ पाप का बीज समझता है और आस्था रहित हो जाता है। जिस प्रकार बीज को

भूमि में बो दिया जाता है तो वह वृद्धि को प्राप्त होता है, नये बीज को जन्म देता है, उसी प्रकार आकांक्षा नये पाप को जन्म देती है, जिससे इसकी सन्तति चलती रहती है। सांसारिक पुण्य के उदय से नारायण, प्रतिनारायण आदि पद की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, पर नरकादि का दुःख अवश्यमेव भोगना पड़ता है। पाप से मिली संपदा पाप को ही बढ़ाती है। इसलिए निष्कांक्षित गुणधारी कर्माधीन सुख को अन्त में दुःखकारी पाप—बीजरूप मानकर इस पर श्रद्धा नहीं करता है। उसीके निष्कांक्षित गुण पनपता है।

वास्तव में देखा जाये तो धर्म धारण कर, त्याग तपस्या कर, पूजा—पाठ यात्रा वन्दना आदि कर पुण्यफल की चाहना के रूप में सांसारिक वस्तु की आकांक्षा करना अपने घर में स्थित कल्पवृक्ष को काटकर धतूरे के वृक्ष को लगाना है और अपनी अज्ञानता प्रगट करना है। देव—शास्त्र—गुरु के चरणों में उपासक बनकर जाना चाहिए, याचक बनकर नहीं जाना चाहिए। आराध्यत्रय के चरणों में पुजारी बनकर जाना चाहिए, भिखारी बनकर नहीं जाना चाहिए। माँगने से प्रार्थना दूषित हो जाती है।

निष्कांक्षित अंग का धारक परमात्मा की भक्ति करके कहता है—अब मेरी कोई इच्छा नहीं है, कोई भी भाव नहीं है। मैंने अपनी सब आकांक्षाओं को तिरोहित कर दिया, सब कामनाओं को दफना दिया। अब मैं उपासना एवं साधना करना चाहता हूँ। मैं आपके पास झोली फैलाने नहीं, झोली छोड़ने आया हूँ। अब मैं सांसारिक भोग को माँगूँगा नहीं, भोग को छोड़ कर जाऊँगा। इस प्रकार की भावना से मिले हुए सांसारिक पदार्थ की उपेक्षा करता है, त्याग करता है, बचता है या उदासीन भाव से भोगता है। वह यह सोचता है कि परमात्मा ने पहले इन्हें छोड़ा है, फिर ये भगवान् बने हैं। जिन्हें आराध्यदेव ने छोड़ा है, उसे उन्हीं से माँगना तो संसारबन्धन का कारण है, दुःख का कारण है, जन्म—मरण का कारण है। अगर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के उपरान्त पुनः दुःखी होना हो तो आकांक्षा

से भरना। परमसुख को उपलब्ध होना हो तो निष्कांक्ष भाव से पूजा-भक्ति, आराधना, त्याग, तपस्या को अपनायें और भीतर से एकदम खाली हो जायें। तब आत्मा अपने आप परमात्मा की अमर अनन्त सम्पदा से भर जायेगी।

इस लोक में ऐश्वर्य सम्पदा आदि को और परलोक में नारायण आदि पदों को चाहना, यह है दोष और इनकी चाह न करना, सो निःकांक्षित अंग है। पंडित भूधरदास जी ने लिखा है—

**भोग बुरे, भव-रोग बढ़ावें, बैरी हैं जग-जी के।
नीरस होय विपाक-समय अति, सेवत लागें नीके॥
बज्र अग्नि विष से विषधर से, हैं अधिके दुखदाई।
धर्म-रतन के चोर चपल अति, दुर्गति-पंथ सहाई॥**

ये पंचेन्द्रिय के विषय-भोग संसारी जीवों का महान अहित करने वाले महाशत्रु हैं। जिस प्रकार खुजली को खुजाते समय बड़ा आनन्द आता है, परन्तु खुजा लेने के बाद जलन होती है जिससे बहुत कष्ट होता है। उसी प्रकार ये भोग भोगते समय तो जीव को अच्छे लगते हैं, परन्तु भोग लेने के बाद, शक्ति क्षीण हो जाने पर बहुत नीरस प्रतीत होते हैं। बज्र, विष या विषधर सर्प से भी अधिक दुःख ये विषय-भोग संसारी जीवों को दिया करते हैं। क्योंकि बज्र, अग्नि, विष आदि तो जीव के इस भौतिक शरीर का ही नाश कर सकते हैं, परन्तु ये विषय-भोग जीव की आध्यात्मिक सम्पत्ति-धर्म निधि को चुरा लेते हैं और जीव को नरक, पशु गति के मार्ग पर पहुँचा देते हैं।

**मोह-उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले करि जाने।
ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन माने॥
ज्यों-ज्यों भोग संयोग मनोहर, मनवांछित जन पावे।
तृष्णा-नागिन त्यों-त्यों डंके, लहर जहर की आवे॥**

आत्मा का इतना अनिष्ट करने वाले इन पंचेन्द्रिय विषयों को यह

संसारी जीव मोह के कारण सुखदायी समझता है, जैसे कि यदि किसी मनुष्य ने धतूरा खा लिया हो तो उसको अपनी आँखों से सभी वस्तुयें सोना दिखाई देती हैं। ये मनोहर प्रतीत होने वाले विषयभोग भोगने के लिये ज्यों-ज्यों इस जीव को प्राप्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों लोभवश इसकी लालसा और अधिक बढ़ती चली जाती है, इसे तृप्ति नहीं होती।

सागर में एक सिपाही था। वह एक वेश्या में आसक्त था। जो कुछ धन-दौलत उसके पास थी, वह सब उसने धीमे-धीमे वेश्या को दे दी। वह अब बड़ा दरिद्र अवस्था का हो गया। निर्धन हो जाने के कारण अब वेश्या ने उसे अपने घर आने से मना कर दिया। तो वह सिपाही उसके घर के सामने ही रात-दिन पड़ा रहता था। किसी ने पूछा— आप यहाँ क्यों पड़े रहते हो? तो वह बोला— मुझे इस वेश्या से प्रेम है, पर यह मुझे अपने घर तो आने नहीं देती, लेकिन जब कभी वह घर से बाहर निकलती है, तो मैं उसे देख लेता हूँ।

हम मन के गुलाम न बनें। विषयभोगों में आसक्त—मन ही संसार-बंधन का कारण है। आचार्यों ने लिखा है—

मनएव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः।

बंधाय विषयासक्तं, मुक्तयै निर्विषयं स्मृतम्॥

मन ही मनुष्य के बंधन तथा मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन बंधन का तथा निर्विषय मन मुक्ति का कारण बनता है।

जिस मनुष्यशरीर से हमें मोक्ष प्राप्त करने की साधना करनी चाहिए थी, उसे विषय-भोगों में बरबाद कर रहे हैं। पर ध्यान रखना, इन इन्द्रिय-विषयों से आज तक किसी का भी भला नहीं हुआ। यह विषयों का भोग भोगते समय तो भला लगता है, परन्तु इसका परिणाम नियम से खराब होता है। विषयभोगों की इच्छा से सुख कभी नहीं मिल सकता। सीता ने स्वर्ण मृग को प्राप्त करने की इच्छा की, तो रावण के चंगुल में फँसना पड़ा। रावण ने सीता के अपहरण की इच्छा की, तो नरक जाना

पड़ा। इन इन्द्रियविषयों की चाह तो दुःख का ही कारण है। निःकांक्षित अंग का सरल अर्थ है— चाह का अंत होना। जो उपलब्ध है, उसमें संतुष्ट रहना। निःकांक्षित अंग कहता है— तुम्हारे पास जो उपलब्ध है, उसका आनन्द उठाओ।

एक अंग्रेजी विचारक ने लिखा है—

"A man who is not contented with what he has, would not be contented with what he like to have."

अर्थात् एक मनुष्य यदि उससे संतुष्ट नहीं है जो उसके पास है, तो वह उससे कैसे संतुष्ट हो सकता है, जिसे कि वह चाहता है?

एक कोयल का बच्चा अपनी माँ से हठ करने लगा— “मेरे पंख काले हैं, अच्छे नहीं हैं, मुझे मोर के जैसे सुन्दर पंख चाहिये।” कोयल ने बहुत समझाया, पर वह मचलता रहा। बालहठ के आगे कोयल विवश हो, मोर के पास गई। प्रार्थना की— “आपके पंख बहुत सुन्दर हैं, इनमें से एक दो मेरे बच्चे के लिये दे दो।” मोर दयालु था। उसने पंख झड़ाये। कोयल का बच्चा यह देख हर्षित हो कूकने लगा। उसकी मधुर कूक सुन मोर का बच्चा मचल गया और मोर से कहने लगा— बोला—“मेरी आवाज कितनी कर्कश है, बेसुरी है। क्या स्थिति है? मोर का बच्चा कोयल की आवाज कितनी मधुर है, मुझे तो कोयल—जैसी आवाज चाहिये। कोयल का बच्चा मोरपंख की चाहत में है। जो जिसके पास है, उससे वह संतुष्ट नहीं है। सभी एक दूसरे में सुख देख रहे हैं। रविन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है—

छोड़कर निःश्वास कहता है, नदी का यह किनारा,

उस पार ही क्यों जमा है, जगतभर का हर्ष सारा।

किन्तु लम्बी श्वास लेकर, वह किनारा कह रहा है,

हाय रे! हर एक सुख, उस पार ही क्यों बह रहा है।।

आज मनुष्य अनुपलब्ध के पीछे भाग रहा है। उसे अपने पास की चीज पर संतोष नहीं। वह जितना—जितना पाता है, उसकी प्यास उतनी

ही बढ़ती जाती है। लोभ की यह प्रकृति है कि जितना—जितना लाभ बढ़ता है, उतना—उतना लोभ बढ़ता जाता है। अतः जो प्राप्त है, उसमें संतोष करना, संतुष्ट रहना ही गृहस्थ का निःकांक्षित अंग है।

संसार में परिग्रह को पाप की जड़ कहा गया है, क्योंकि यही समस्त पापों को कराने वाला है। वर्णी जी हमेशा कहा करते थे—भैया! और कोई व्रत लो या न लो, पर अपने परिग्रह का परिमाण कर लो, अपनी इच्छाओं को मर्यादित कर लो। सम्यग्दृष्टि जितना आवश्यक है, उसी में संतोष रखता है, अधिक की आकांक्षा नहीं रखता।

आचार्यों का कहना है कि गृहस्थ को जीवननिर्वाह के लिये धन की आवश्यकता है, रखो, पर उतना ही, जितना कि आवश्यक है। तभी तुम सुख—शांतिपूर्वक रह सकोगे। यदि अधिक की चाह में उलझे, तो गये।” लेकिन आज मनुष्य गोरखधंधा में इतना उलझ गया है कि उसे दौलत के अलावा कुछ सूझता ही नहीं। वह दौलत का दीवाना होकर रात—दिन, उसकी चाह में मशीन की तरह दौड़ता रहता है।

ऐसे लोगों को देखकर कबीरदास जी ने लिखा है—

बेड़ा दीनों खेत को, बेड़ा खेती खाय।

तीनलोक संशय पड़ा, काउ करे समझाय।।

खेती की फसल की सुरक्षा के लिये बाड़—बागड़ आवश्यक है, पर बाड़ इतनी बढ़ जाये कि खेत की फसल खा जाये, यह बुद्धिमानी नहीं होगी। जो बुनियादी आवश्यकताएँ हैं, उनका प्रबन्ध कर लिया, उतने में संतोष रखना चाहिये। इससे अधिक की लालसा/तृष्णा नहीं करना चाहिये।

जैसे मकड़ा दूसरे कीड़ों को पकड़ने के लिये जाल बुनता है और स्वयं ही उसमें फँस जाता है, यही स्थिति आज निर्मित हो रही है। अपने सुख के लिये जो संग्रह किया, वह परिग्रह ही सबसे अधिक चिंता का कारण बन जाता है। व्यक्ति धन कमाने में इतने व्यस्त हैं कि न उन्हें घर

के लिये समय है और न ही धर्म के लिये। प्रायः सुनने में आता है— ‘क्या करें, एक अकेली जान, सौ झमेले। किसके भरोसे छोड़कर जायें?’ अर्थात् बागड़ ही खेत हो गई। बागड़ को बागड़ तक ही सीमित रखना निःकांक्षिता है। मुझे धर्म के फल में स्वर्गादिक का सुख मिले—ऐसी वाँछा भवसुख वाँछा कहलाती है। आत्मिक सुख का वेदन करके भवसुख की वाँछा छोड़ देना निःकांक्षित अंग कहलाता है। इस अंग में अनन्तमती प्रसिद्ध हुई।

अनन्तमती चम्पापुरी के प्रियदत्त सेठ की पुत्री थी। अनन्तमती को अपने माता—पिता द्वारा उत्तम संस्कार विरासत में ही मिले थे, क्योंकि उनके माता—पिता एक जिनभक्त तथा संसार के विषयों से विरक्तचित्त सदगृहस्थ थे। अनन्तमती सात—आठ वर्ष की बाल्यावस्था में जब अन्य बालक—बालिकाओं के साथ खेलकूद किया करती थी, तब एक बार अष्टाह्निका के समय उनके नगर में धर्मकीर्ति मुनिराज पधारे। उन्होंने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का उपदेश दिया। निःकांक्षित अंग का उपदेश देते हुये उन्होंने कहा—

हे जीवो! संसारसुख की आकांक्षा छोड़कर धर्म की आराधना करो। धर्म के फल में जो संसारसुख की इच्छा करता है, वह अज्ञानी है। सम्यक्त्व के या व्रत के बदले में मुझे देवों की अथवा राज्य की विभूति मिले, ऐसी जो इच्छा है, वह तो संसारसुख के बदले में सम्यक्त्वादि धर्म को बेचना है। यह तो छाछ के बदले में चिन्तामणि रत्न को बेचने जैसी मूर्खता है।

अनन्तमती के माता—पिता भी मुनिराज का उपदेश सुनने के लिये आये थे और अनन्तमती को भी साथ में लाये थे। उपदेश के पश्चात् उन्होंने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया और मजाक में अनन्तमती से कहा कि तू भी ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर ले। तब बालिका अनन्तमती ने कहा— ठीक है, मैं भी शीलव्रत अंगीकार करती हूँ।

इस प्रसंग के बाद अनेक वर्ष बीत गये, अनन्तमती अब युवती हो गई, उसका यौवन सोलह कलाओं के समान खिल उठा। रूप के साथ उसके धर्म के संस्कार भी वृद्धिगत हो गये। एक बार सखियों के साथ वह बगीचे में घूमने गई। वह एक झूले पर झूल रही थी, उसी समय आकाश मार्ग से एक विद्याधर राजा जा रहा था। वह अनन्तमती के अद्भुत रूप को देखकर मोहित हो गया, इसलिये वह उसे उठाकर विमान में ले गया, परन्तु इतने में उसकी रानी वहाँ आ पहुँची तो घबराकर विद्याधर ने अनन्तमती को एक भयंकर वन में छोड़ दिया। ऐसे घोर वन में पड़ी हुई अनन्तमती भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगी और कहने लगी— 'अरे! इस वन में कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? यहाँ कोई मनुष्य भी तो दिखाई नहीं देता।' दुर्भाग्य से उस वन का भील राजा शिकार करने के लिये वहाँ आया। उसने अनन्तमती को देखा और वह उस पर मोहित हो गया। उसके मन में विचार आया कि यह कोई वनदेवी दिखाई देती है। ऐसी अद्भुत सुन्दरी मुझे दैवयोग में मिली है। वह उसे घर ले गया।

घर पहुँचकर वह कहने लगा— "हे देवी! मैं तुझ पर मुग्ध हो गया हूँ और मैं तुझे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ.....। तू मेरी आशा पूरी कर।"

निर्दोष अनन्तमती उस कामी भील राजा की बात सुनकर बहुत घबरायी। वह विचार करने लगी— "अरे! मैं शीलव्रत की धारक और मुझ पर यह क्या हो रहा है? पूर्व में किन्हीं गुणीजनों के शील पर अवश्य मैंने झूठा कलंक लगाया होगा अथवा उनका अनादर किया होगा। उस दुष्टकर्म के कारण जहाँ भी जाती हूँ वहाँ मेरे ऊपर ऐसी विपत्ति आ रही है। परन्तु अब मैंने धर्म की शरण ली है। इसके प्रताप से शीलव्रत से मैं डगमगाऊँगी नहीं। भले ही प्राण चले जायें, परन्तु मैं अपने शील को नहीं छोड़ूँगी।

तब उसने भील से कहा— अरे दुष्ट! अपनी दुर्बुद्धि को छोड़। तेरे

वैभव से मैं ललचानेवाली नहीं हूँ। तेरे वैभव को मैं धिक्कारती हूँ।

अनन्तमती की यह दृढ़ बात सुनकर भील राजा को गुस्सा आया और वह निर्दयतापूर्वक उस पर बलात्कार करने को तैयार हुआ। इतने में अचानक मानों आकाश फाड़कर एक महादेवी वहाँ प्रगट हुई। उस देवी का तेज वह दुष्ट सहन नहीं कर सका। उसके होश उड़ गये और वह हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करने लगा।

देवी ने कहा— “यह महान शीलव्रतवती सती है। यदि तू इसे जरा भी सतायेगा तो तेरी मौत आ जायेगी।”

भयभीत होकर उस भील ने अनन्तमती को गाँव के एक सेठ को बेच दिया। वह सेठ प्रथम तो कहने लगा कि वह अनन्तमती को उसके घर पहुँचा देगा, परन्तु वह भी अनन्तमती का रूप देखकर कामान्ध हो गया और और कहने लगा— “हे देवी! अपने हृदय में मुझे स्थान दे और यह अपार वैभव तू भोग।” उस पापी की बात सुनकर अनन्तमती स्तब्ध रह गई..... अरे! अब यह क्या हो रहा है ?

वह सेठ को समझाने लगी— अरे सेठ! आप तो मेरे पितातुल्य हैं। दुष्ट भील के पास से यहाँ आयी तो समझने लगी थी कि मेरे पिता मुझे मिल गये और आप मुझे मेरे घर पहुँचायेंगे। अरे; आप भले आदमी होकर भी ऐसी नीच बात कर रहे हो? यह आपको शोभा नहीं देता, इसलिये इस पापबुद्धि को छोड़ दीजिये।

बहुत समझाने पर भी दुष्ट सेठ नहीं समझा तो अनन्तमती ने विचार किया कि इस दुष्ट पापी का हृदय विनय प्रार्थना से नहीं पिघलेगा, इसलिये क्रोधित होकर उस सती ने कहा— “अरे दुष्ट कामान्ध! दूर हो जा मेरी आँखों के सामने से। मैं तेरा मुख भी नहीं देखना चाहती।”

उसका क्रोध देखकर सेठ भी भयभीत हुआ और उसकी अकल ठिकाने आ गई। परन्तु बदले की भावना से क्रोधित होकर उसने अनन्तमती

को कामसेना नामक वेश्या को सौंप दिया।

‘अरे! कहाँ उत्तम संस्कार वाला माता—पिता का घर और कहाँ निकृष्ट वेश्या का घर।’ अनन्तमती के अन्तःकरण में वेदना का पार नहीं रहा, परन्तु अपने शीलव्रत में वह अडिग रही। संसार के वैभव को देखकर वह बिलकुल ललचायी नहीं।

ऐसी सुन्दरी प्राप्त होने से कामसेना वेश्या अत्यन्त खुश हुई और अब मैं बहुत धन कमाऊँगी— ऐसा समझकर वह अनन्तमती को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करने लगी। उसने अनन्तमती से अनेक प्रकार कामोत्तेजक बातें कीं, बहुत लालच दिखलाया तथा न मानने पर बहुत दुःख दिया। परन्तु अनन्तमती अपने शीलधर्म से रंचमात्र भी डिगी नहीं।

अनन्तमती ने शीलगुण की दृढ़ता से संसार के सभी वैभव की आकांक्षा छोड़ दी थी, अतः किसी वैभव से ललचाये बिना वह शीलव्रत में अटल रही। जब कामसेना ने जान लिया कि अनन्तमती उसको किसी प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकती, तब उसने बहुत धन लेकर उसे सिंहरत नामक राजा को सौंप दिया।

अब बेचारी अनन्तमती मानों मगर के मुँह से निकलकर सिंह के जबड़े में जा पड़ी। वहाँ उस पर और नई मुसीबत आ गई। दुष्ट सिंहरत राजा भी उस पर मोहित हो गया। परन्तु अनन्तमती ने उसका तिरस्कार किया।

तब विषयान्ध बनकर वह पापी सिंहरत राजा अभिमानपूर्वक उस सती पर बलात्कार करने को तैयार हुआ, परन्तु एक क्षण में उसका अभिमान चूर—चूर हो गया। सती के पुण्य प्रताप से वनदेवी वहाँ प्रगट हुई और दुष्ट राजा को फटकारते हुये कहने लगी— खबरदार! भूलकर भी इस सती को हाथ मत लगाना।

सिंहरत राजा तो वनदेवी को देखकर ही पत्थर—जैसा हो गया। उसका हृदय भय से काँपने लगा। उसने क्षमा माँगी और तुरंत ही सेवक

को बुलाकर अनन्तमती को सम्मानपूर्वक वन में छोड़कर आने को कहा।

ऐसे अनजान वन में कहाँ जाऊँ, इसका अनन्तमती को कुछ पता नहीं था। इतने सारे अत्याचार होने पर भी अपने शीलधर्म की रक्षा हुई, इसलिये संतोषपूर्वक घने वन में वह पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुये आगे बढ़ने लगी। महान भाग्य से थोड़ी देर पश्चात् उसने आर्यिका माताओं का संघ देखा। अत्यंत उल्लसित होकर आनंदपूर्वक वह आर्यिका माता की शरण में गई।

अहो! विषय—लोलुप संसार में जिसे कहीं शरण नहीं मिली, उसने वीतराग मार्गानुगामी माताजी के पास शरण ली। उनके आश्रम में आँसू भरी आँखों से उसने अपनी बीती कहानी सुनायी। उसे सुनकर भगवती माता ने वैराग्यपूर्वक उसे आश्वस्त किया और उसके शील की प्रशंसा की। भगवती माता के सानिध्य में रहकर अनन्तमती शांतिपूर्वक आत्म—साधना करने लगी।

इधर चम्पापुरी में जब अनन्तमती को विद्याधर उठा कर ले गया था तभी से उसके माता—पिता बहुत दुःखी थे। पुत्री के वियोग में खेद—खिन्न होकर मन को शान्त करने के लिये वे तीर्थयात्रा करने निकले और यात्रा करते—करते तीर्थकर भगवन्तों की जन्मभूमि अयोध्या नगरी में पहुँचे। प्रियदत्त का साला (अनन्तमती का मामा) जिनदत्त सेठ यहीं रहता था। वहाँ उसके घर आने पर आँगन में एक सुन्दर रंगोली देखकर प्रियदत्त कहने लगे— हमारी पुत्री अनन्तमती भी ऐसी ही रंगोली निकाला करती थी।

उन्हें अपनी प्रिय पुत्री की याद आई, जिससे उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। सचमुच यह रंगोली निकालने वाली और कोई नहीं थी, बल्कि स्वयं अनन्तमती थी। भोजन करने जब वह यहाँ आयी थी, तब उसने यह रंगोली निकाली थी। बाद में वह आर्यिका संघ में वापस चली गई। अतः वे संघ में पहुँचे और वहाँ अपनी पुत्री को देखकर

और उस पर बीती हुई कहानी को सुनकर अत्यंत दुःखी हुये और कहने लगे— बेटी! तुमने बहुत कष्ट भोगे हैं, अब हमारे साथ घर चलो। हम तुम्हारी शादी बड़ी धूमधाम से रचायेंगे।

शादी की बात सुनते ही अनन्तमती आश्चर्य में पड़ गयी और बोली— पिताजी! आप यह क्या कह रहे हो? मैं तो ब्रह्मचर्य व्रत ले चुकी हूँ। आप तो यह सब जानते हो। आपने ही मुझे यह व्रत दिलवाया था।

पिताजी ने कहा— बेटी! यह तो बचपन की बात थी। ऐसी मजाक में ली हुई प्रतिज्ञा को तुम सत्य मानती हो? वैसे ही उस वक्त सिर्फ आठ दिन के लिये प्रतिज्ञा लेने की बात थी, इसलिये अब तुम शादी कर लो।

तब अनन्तमती ने दृढ़तापूर्वक कहा— पिताजी! आप भले ही आठ दिन के लिये समझे हों, परन्तु मैंने तो मेरे मन में आजीवन के लिये प्रतिज्ञा धारण कर ली थी। अपनी प्रतिज्ञा मैं प्राणान्त होने पर भी नहीं तोड़ूंगी इसलिये आप शादी का नाम न लें।

अन्त में पिताजी ने कहा— अच्छा बेटी! जैसी तुम्हारी मर्जी। परन्तु अभी तो तुम हमारे साथ घर चलो, वहीं धर्मसाधना करना।

उस पर अनन्तमती कहती है— पिताजी! इस संसार की लीला मैंने देख ली है। संसार में भोग—लालसा के अलावा अन्य क्या है? इसलिये अब बस करो। पिताजी! इस संसारसंबंधी भोगों की मुझे आकांक्षा नहीं रही। मैं तो अब दीक्षा लेकर आर्यिका बनूंगी और इन धर्मात्मा आर्यिका माता के साथ रहकर आत्मिक सुख को साधूंगी।

पिताजी ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जिसके रोम—रोम में वैराग्य छा गया हो, वह इस संसार में क्यों रहे ? संसारसुखों की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करने वाली वह अनन्तमती निःकांक्ष भावना के दृढ़ संस्कार के बल से मोह—बन्धन को तोड़कर वीतराग धर्म की साधना में तत्पर हो गई। पश्चात् उसने पद्मश्री आर्यिका के समीप दीक्षा अंगीकार कर ली और धर्म्यध्यानपूर्वक समाधिमरण करके स्त्रीपर्याय को छेदकर

बारहवें स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुई।

अज्ञान अवस्था में लिये हुये शीलव्रत का भी जिसने दृढ़तापूर्वक पालन किया और स्वप्न में भी संसारसुख की तथा अन्य ऋद्धि की कामना न करते हुये आत्मध्यान किया, उस अनन्तमती को देवलोक की प्राप्ति हुई।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' ग्रंथ में लिखा है—

जो दुण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेषु।

सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।230।।

अर्थात् सब धर्म एवं कर्मफल की ना करें आकांक्षा।

वे आत्मा निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि हैं— यह जानना।।

सम्यग्दृष्टि कभी भी भोगों की आकांक्षा नहीं करता। भोगों की आकांक्षा रखने वाले असंयमी जनों का जीवन नष्ट हो जाता है। असंयमी का जीवन एक कटी पतंग के समान होता है—

आसमान में एक पतंग उड़ रही थी। यह देख ऊपर आसमान में हवा पतंग का स्वागत करती है। कहती है— 'अरी पतंग! अब तुम हमसे मिलकर रहो, जो तुम्हारी डोर पकड़े है, उसका साथ छोड़ दो। फिर तुम पूर्ण स्वतंत्र होकर हमारे साथ रहना।' पतंग कहती है—'हमारा उससे छूटना कैसे बन पायेगा?' हवा कहती है— 'हम तुम्हारा साथ देंगे, तुम्हारी मदद करेंगे। बोलो, तुम्हें हमारे साथ रहना स्वीकार है?' हाँ—हाँ स्वीकार है पतंग ने उत्तर दिया। अब हवा बहुत तेज चलने लगती है, जिससे डोर टूट जाती है। अब पतंग स्वच्छन्द हो जाती है, किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं रह जाता। जब तक पतंग डोर के आश्रय में थी, तब तक तो वह सुरक्षित थी, किन्तु स्वच्छन्द हो जाने से असुरक्षित हो जाती है। अब हवा की तेज चाल से पतंग फटने लगती है, तब पतंग कहती है कि 'हवा बहिन! जरा धीरे—धीरे चलो, थोड़ी देर के लिये बन्द हो जाओ, हमें इस तरह न सताओ।' हवा कुछ ध्यान नहीं देती। थोड़ी ही देर में ऊपर से

बादल गरजने लगते हैं, पानी बरसने लगता है, पतंग भीग जाती है और नीचे कीचड़ में गिरकर नष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार असंयमी का जीवन कटी पतंग के समान स्वच्छन्द होता है। पंचेन्द्रियों के विषय और मन हवा के समान हैं, जो इसको लुभाते हैं और संसार रूपी कीचड़ में फँसा देते हैं। संसार के वैभव और विषय—भोग तो केवल पापास्रव के ही कारण हैं। अतः सम्यग्दृष्टि कभी भी विषय—भोगों की आकांक्षा नहीं करता। वह जानता है कि चक्रवर्ती का वैभव भी रत्नत्रय के बिना महत्वहीन होता है। इन्द्र, चक्रवर्ती, राजा आदि भी विषयों की चाह के कारण दुःखी हैं। जिनके पास रत्नत्रय नहीं है, उनके जीवन का कोई महत्व नहीं है। जीवन की महत्ता वस्तु से नहीं, धन से नहीं, भोगोपभोग से नहीं, पुण्य के ढाढ से भी नहीं है। जीवन का सबसे बड़ा ऐश्वर्य, वैभव यदि कोई है तो वह है रत्नत्रय। क्योंकि आत्मा की अनुभूति बिना रत्नत्रय के नहीं होती। राजसत्ता, वैभव, पद एवं इन्द्रिय—विषयों में सुख नहीं है। ये तो महाविष हैं, जो केवल संसार में भटकाने वाले हैं। अतः सम्यग्दृष्टि धर्म के फल में कभी भी सांसारिक सुखों की आकांक्षा नहीं करता। आचार्य कार्तिकेय महाराज ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ग्रंथ में लिखा है—

जो सग्सुहणिमित्तं, धम्मं णायरदि दूसह—तवेहिं।

मोक्खं समीहमाणो, णिक्खंखा जायदे तस्स।।416।।

जो सम्यग्दृष्टि दुर्द्धर तप से भी मोक्ष की ही बांछा करता हुआ स्वर्ग—सुख के लिये धर्म का आचरण नहीं करता है, उसके निःकांक्षित अंग होता है। आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने 'अष्ट पाहुड़' ग्रंथ के अनुवाद में लिखा है—

जो एक बार विष—सेवन ही करेगा, तो एक बार वह जीवन में मरेगा।

धिक्कार है विषय—सेवन जो करेगा, सो बार—बार भव—कानन में मरेगा।।

जो वासना विषय की जबलों रखेगा, शुद्धात्म को न नर वो तब लों लखेगा।

योगी जभी विषय से अति दूर होता, शुद्धात्म को निरखता सुन मूढ़ श्रोता।।

चाहो भयंकर भवार्णव तैर जाना, चाहो यहाँ अब नहीं भव-दुःख नाना।

ध्याओ उसे, शुचि निजातम है सुहाता, जो शीघ्र कर्ममय ईधन को जलाता॥

आदि— अन्त से रहित तथ्य दुःखदायी इस संसार में भ्रमण करते हुये वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहा हुआ धर्म बड़ी कठिनता से प्राप्त किया है। जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न प्रमाद से समुद्र में गिर जाये तो उसका प्राप्त होना दुर्लभ है, उसी प्रकार आत्मकल्याण के सहकारीभूत सम्पूर्ण कारणों का मिलना अत्यन्त कठिन है। इसलिये इस समय जिनेन्द्रोपदेश का लाभ होने पर शीघ्र मोह, राग, द्वेष का क्षय कर दोगे तो सर्व दुःखों से छुटकारा पा लोगे।

देखो बड़ी दुर्लभता से यह मनुष्यजन्म, उत्तम संगति, जिनवाणी का पठन—पाठन, जिनेन्द्र भगवान् की शरण मिली है। यदि इस जन्म में भेदविज्ञान की कला नहीं सीखी और विषय—कषायों में ही फँसे रहे, तो अनन्तकाल तक दुःखों के सागर इस जन्म—मरणरूप संसार में ही भटकना पड़ेगा। यह जीव अपने अपराध से ही दुःखी हो रहा है। कोई बाहरी पदार्थ इसे दुःखी करने के लिये कमर नहीं कसे हुये है। यह स्वयं ही बाह्य पदार्थों में इष्ट—अनिष्ट की बुद्धि करता है और दुःखी होता है। यहाँ लगे, वहाँ लगे बाह्य में ही, साथ ही उन्हें सबकुछ माने, तो इससे कुछ नहीं मिलता। देखो बाहर अपना कुछ नहीं है। जो इच्छा है, उसी का नाम दुःख है। यदि दुःखों से बचना चाहते हो तो लौकिक सुखों की आकांक्षा छोड़कर धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत करो।

इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी, अथिर और तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं। इनके भोगने से किसी को भी तृप्ति नहीं हो सकती। जैसे जलरहित वन में मृग प्यासा होता है, वहाँ जल तो है नहीं; परन्तु उसको दूर से चमकती घास या बालू में जल का भ्रम हो जाता है। वह जल समझकर जाता है, परन्तु वहाँ जल को न पाकर और अधिक प्यासा हो जाता है। फिर दूर से

देखता है तो दूसरी तरफ जल के भ्रम से जाता है, पर वहाँ भी जल नहीं मिलता। इस तरह बहुत बार भ्रम में भटकते रहने पर भी उसको जल नहीं मिलता है। अन्त में वह प्यास की बाधा से तड़प-तड़प कर प्राण दे देता है। यही हाल संसारी प्राणियों का है। सभी जीव सुख चाहते हैं, निराकुलता चाहते हैं। भ्रम यह हो रहा है कि इन्द्रियों के भोग करने से सुख मिल जायेगा, तृप्ति हो जायेगी। इसलिये यह प्राणी पाँचों इन्द्रियों का भोग बार-बार करता है, परन्तु उसे तृप्ति नहीं मिलती।

जैसे खाज को खुजाने से खाज का कष्ट और बढ़ जाता है, वैसे ही इन्द्रिय-भोगों को जितना भोगा जाता है उतनी ही अधिक तृष्णा बढ़ जाती है। तृष्णा ही क्लेश है, बाधा है, चिंता का कारण है। मनुष्य का शरीर तो पुराना पड़ता जाता है, इन्द्रियों की शक्ति घटती जाती है, परन्तु भोगों की तृष्णा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जाती है।

जब यह प्राणी तृष्णा होते हुये भोगों को असमर्थता के कारण भोग नहीं सकता है तो उसे बड़ा दुःख होता है। वृद्धों से पूछा जावे कि जन्म भर तक आपने इन्द्रियों के भोग भोगे, इनसे अब तो तृप्ति हो गई होगी? तब वे वृद्ध यदि सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं, तो यही जवाब देंगे कि यद्यपि विषयों के भोग की शक्ति नहीं है, शरीर निर्बल है, दांत गिर गये हैं, आँखों से दिखता नहीं है, कानों से सुनाई नहीं देता, हाथ-पैरों में शक्ति नहीं है, तथापि पाँचों इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा तो पहले से बहुत बढ़ी हुई है।

यह वस्तु का स्वभाव है कि इन्द्रियों के भोगों से तृष्णा बढ़ती ही जाती है, कभी तृप्ति नहीं होती है। यह जीव अविनाशी है, अनादि-अनन्त है। चारों गतियों में भ्रमण करते हुये इसने अनन्त जन्म कभी एकेन्द्रिय के, कभी द्विन्द्रिय के, कभी त्रीन्द्रि के, कभी चौन्द्रिय के, कभी पंचेन्द्रिय के, पशु के, मानव के, देव के, नारकी के धारण किये हैं तथा नरक के सिवाय तीन गतियों में यथासंभव पाँचों इन्द्रियों के भोग भी भोगे हैं, परन्तु आज तक

इस मानव की एक भी इन्द्रिय की तृष्णा शांत नहीं हुई।

इन्द्रियों के भोग रोग के समान हैं, असार हैं। जैसे केले के खम्भे को छीला जावे तो कहीं भी गूदा या सार नहीं मिलेगा, वैसे ही इन्द्रियों के भोगों से कभी भी कोई सार नहीं निकलता है। इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा से कषाय की अधिकता होती है, लोलुपता बढ़ती है, धर्म से च्युति हो जाती है, अतएव पापकर्म का बंध होता है। एक धनिक मरकर सर्प हो जाता है, श्वान हो जाता है, एकेन्द्रिय वृक्ष हो जाता है, ऐसी नीच गति में पहुँच जाता है कि फिर उन्नति करके मानव होना बहुत ही कठिन हो जाता है।

इन्द्रियों के दासत्व में प्राणी ऐसे अन्धे हो जाते हैं कि वे धर्म, अर्थ, काम तीनों गृहस्थ के पुरुषार्थों के साधन में कायर, असमर्थ व दीन हो जाते हैं। वे चाह की दाह में जलते रहकर शरीर को रोगाक्रान्त व दुर्बल बनाकर शीघ्र ही इसको छोड़कर चले जाते हैं। जिस मानवजन्म से आत्मकल्याण करना था, उसको उसी तरह व्यर्थ गँवा देते हैं, जैसे कोई अमृत के घड़े को पीने के काम में न लेकर पैर धोने में बहा दे, चन्दन के वन को ईंधन समझकर जला डाले, आम के वृक्षों को उखाड़ कर बबूल बो देवे। हाथ का रत्न काक के उड़ाने के लिये फेंक देवे, हाथी पाकर भी उस पर लकड़ी ढोवे, राजपुत्र होकर भी एक मदिरावाले की दुकान में नौकरी करे।

इन्द्रियों के सुख को सुख मानना भ्रम है, मिथ्यात्व है, भूल है, अज्ञान है, धोखा है। बुद्धिमान को उचित है कि इन इन्द्रियों और मन को अपने अधीन उसी तरह रखें, जैसे मालिक घोड़ों को अपने अधीन रखता है। वह जहाँ चाहे वहाँ उनको ले जाता है। उनकी लगाम उसके हाथ में रहती है। जो अपनी इन्द्रियों के दास हो जाते हैं, वे भव-भव में दुःखों को पाते हैं। सम्यग्दृष्टि धर्म के फल में कभी भी भोगों की आकांक्षा नहीं करता, यह उसका निःकांक्षित अंग है।

निर्विचिकित्सा अंग

सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रय से पवित्र मुनिराजों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करता। वह उनके शरीर की सेवा—सुश्रुषा ग्लानि—रहित होकर करता है। वह जानता है कि शरीर पूज्य नहीं है अपितु शरीर के भीतर आत्मा में रत्नत्रय विद्यमान है वही पूज्य है, ग्रहणीय है। अतः जिस प्रकार मल में पड़े हीरे को नहीं छोड़ा जाता है, उसी प्रकार मलिन शरीर रूपी तिजोरी के भीतर रत्नत्रय रूपी खजाना भरा है, उसे छोड़ा नहीं जाता। वही उपादेय है। उन्हीं गुणों के प्रति प्रीति करता है, उन्हीं गुणों को प्राप्त करने की चाहना सम्यग्दृष्टि को होती है।

इस संसार में देवों का शरीर मलरहित पवित्र होता है, पर रत्नत्रय को धारण करने की अयोग्यता होने से पूज्य नहीं है। केवल मनुष्य का ही शरीर है, जो मलों से युक्त होकर भी रत्नत्रय धारण कर सकने की योग्यता होने से पूज्य है, प्रीति योग्य है। अतः शरीर की अपवित्रता का ख्याल न करते हुये मुनिराजों के प्रति ग्लानि—रहित आदर व्यक्त करना ही निर्विचिकित्सा नाम का अंग है। यदि कदाचित् रत्नत्रयधारी मुनिराजों के शरीर में रोग हो जाये, शरीर से मलादि बहने लगे, शरीर से अत्यन्त दुर्गन्ध आवे कि पास बैठना, खड़ा होना भी दूभर हो जाये, ऐसी गंभीर स्थिति में भी सम्यग्दृष्टि जीव उनकी सभी प्रकार से सेवा करता है। मन में ग्लानि का भाव नहीं लाता, उनकी सेवा को अपना सौभाग्य समझता है और उनके थूक—लार, मल—मूत्र, वमन आदि को उठाने में, सफाई में

ग्लानि रहित होकर, सेवा कर अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ करता है। जिसने आत्मा और शरीर को भिन्न जान लिया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि होने के कारण बाह्य रूप व मलिनता को न देख करके अन्दर के रूप व स्वच्छता को देखता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रते ।

निर्जुगप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सा ॥

मनुष्य का अपवित्र शरीर भी रत्नत्रय के द्वारा पूज्यता को प्राप्त हो जाता है। यह विचार कर मुनिराजों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना 'निर्विचिकित्सा' अंग है। मुनिराजों के शरीर में मलिनता हो, रोगादि हो, कभी कोढ़ भी हो जाये, तो उसे देखकर धर्मात्मा विचार करते हैं कि उनकी आत्मा तो अन्तर में सम्यग्दर्शन आदि गुणों से अलंकृत है, देह के प्रति उन्हें कोई ममत्वबुद्धि नहीं है, रोगादि तो देह में होते हैं और देह तो स्वभाव से ही अशुचिरूप है, इस प्रकार देह और आत्मा के भिन्न-भिन्न धर्मों का विचार करके धर्मीजीव देह को मलिन देखकर भी धर्मात्मा के प्रति ग्लानि नहीं करते। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

सम्यग्दर्शन सम्पन्नम् अपि मातङ्ग देहजम् ।

देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गरान्तरौजसम् ॥

चांडाल के देह में रहा हुआ भी सम्यग्दृष्टि आत्मा देव के समान शोभता है, जिस प्रकार भस्म से ढका हुआ अंगार अन्दर ओज से चमकता रहता है। इस प्रकार आत्मा के स्वभाव को पहचानने वाले जीव शरीरादि को अशुचि देखकर भी धर्मात्मा के प्रति घृणा, तिरस्कार नहीं करते, किन्तु उनके पवित्र गुणों के प्रति आदर करते हैं। यह सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अंग है।

गुणों के प्रति प्रीति रखने वाले ही निर्विचिकित्सा भाव को उपलब्ध कर पाते हैं। जो गुणों का मूल्यांकन नहीं कर सकते, उनकी कद्र नहीं जानते, वे इसे प्राप्त नहीं कर सकते। अपने गुणों का बखान करना विचिकित्सा है। इसी तरह दूसरे के दोष ढूँढ़ना, उनको प्रचारित करना भी विचिकित्सा भाव जागृत करना है। यह घृणित कार्य है, ग्लानि का कारण है। इसे हम जान नहीं पाते और दोष ढूँढ़ने की वृत्ति अपनाते रहते हैं। इस वृत्ति के रहते निर्विचिकित्सा भाव प्रकट नहीं हो सकता।

दो प्रकार की अशुचिता है— एक शारीरिक अशुचिता, दूसरी काषायिक अशुचिता। घृणा—मात्सर्य सबसे बड़ी अशुचिता है। यह जिसके जीवन में हो वह तो भगवान् के समक्ष जाकर भी खाली हाथ लौट आता है। उसे तो भगवान् में भी भगवान् नहीं दिखते। घृणा ही होती है। घृणा भाव के रहते गुणों के प्रति अनुराग हो पाना संभव नहीं है। घृणा भाव का अभाव होने पर ही गुणानुरागी दृष्टि जागती है।

संसार में कोई गुणहीन नहीं है। गुण सबमें होते हैं। देखनेवाले में दृष्टि होना चाहिए। धूलशोधक स्वर्णमिश्रित धूल से भी सोना निकाल लेता है। उसकी दृष्टि स्वर्ण के कणों पर रहती है, धूल पर नहीं। वह धूल को छान—छान कर स्वर्ण उपलब्ध कर लेता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी सबमें गुणों को देखने की दृष्टि रखता है। उसे गुणों से अनुराग होता है, अवगुणों से नहीं, क्योंकि जो जिसका अभीष्ट है, वह उसकी ही उपासना करता है।

हम कुछ सामान खरीदने बाजार जाते हैं। बाजार में बहुत दुकानें हैं। हम हर किसी दुकान में नहीं जाते। ध्यान रहता है कि वह सामान किस दुकान में मिलेगा, उसी में जाते हैं। उस दुकान में और—भी बहुत—सी वस्तुएँ होती हैं, फिर भी हमारी दृष्टि उसी वस्तु पर पड़ती है, जो लेनी होती है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी गुणग्राही होता है। गुण ही उसे अभीष्ट है, अवगुणों की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती। यदि दोष ही देखने जायें

तो दोषरहित तो कोई नहीं है। चन्द्रमा में भी कलंक है। दोषदर्शन की वृत्ति बनी रही तो लोग भगवान् को भी सदोष सिद्ध कर देंगे और उनके समक्ष जाकर भी कुछ उपलब्ध नहीं कर पाएँगे।

गुणग्राही व्यक्ति हर किसी में गुण खोज लेता है और ग्रहण करता है। चींटी—जैसे छोटे जीव से पंक्तिबद्ध, अनुशासित तरीके से चलना सीखना चाहिये। गुणों को देखने की भावना होनी चाहिये। पर हमारी दृष्टि दूसरों के दोषों पर ही रहती है।

एक व्यक्ति हमेशा अपने पड़ोसी के दोष ढूँढता था। उसमें एक दोष दिखाई देता, तो वह एक पत्थर अपने घर के बाहर रख देता। उसका यह प्रतिदिन का काम था। अवगुण देखो और घर के बाहर पत्थर रखो। काफी दिन बीत गये। एक समय ऐसा आया जब उसका घर पत्थरों से ढँक गया। घर में आना—जाना कठिन हो गया। इसी तरह दूसरों के अवगुण देखते—देखते, एक—एक पत्थर हमारे अंतस् में जमा होता जा रहा है। हम अपने ही घर—आत्मा में प्रवेश नहीं कर पा रहे हैं।

दोषदर्शन की चाह/वृत्ति रहेगी, तो देवदर्शन, निज आत्मा के दर्शन नहीं होंगे। स्वयं को देखना है तो, गुणों के दर्शन की प्रवृत्ति उत्पन्न करो।

अपने पूर्वभव में रुक्मिणी एक समय, दर्पण के सम्मुख बैठकर, अपना श्रंगार कर रही थी। उसी समय दर्पण में किन्ही मुनिराज की आकृति दिखाई पड़ी। उसके मन में घृणा उमड़ पड़ी— “यह कौन बदसूरत मेरे सौंदर्य—श्रंगार में उपस्थित हो गया?” धर्मात्मा के प्रति घृणा का परिणाम ये हुआ कि वह मरकर सूकरी, गध्नी और कुतिया की पर्याय में गई। एक के बाद एक तीन भवों में दुर्गति को प्राप्त हुई। फिर एक धीवर के परिवार में दुर्गधा नामक बालिका के रूप में जन्म हुआ। भाग्य से पुनः वे ही मुनिराज मिले। उन्होंने अवधिज्ञान से सारा वृत्तांत जान लिया और उसे सम्बोधित किया— “कहाँ तू रानी की पर्याय में थी, पर धर्मात्मा से घृणा कर अपनी दुर्गति का कारण बनी है। यदि तू संयम अंगीकार कर ले तो

सद्गति प्राप्त कर सकती है।” महाराजश्री की वाणी सुनकर उसे जाति-स्मरण हो गया और उसने श्रावकधर्म ग्रहण कर सद्गति प्राप्त की।

ऐसे कई आख्यान हैं, जो बारंबार सावधान करते हैं कि घृणा मत करो। वे बताते हैं कि जो मुनियों की मन से निंदा करता है, उसकी मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है। जो वाणी से निंदा करता है, वह गूँगा हो जाता है। काया से निंदा करने वाले का शरीर कुत्सित हो जाता है। मन और वचन से हम जो कर्मबंध कर लेते हैं, उसका हमें भान नहीं हो पाता। ये कर्मबंध कभी-कभी जन्म-जन्मान्तरों तक रुलाते हैं।

जो को वि धम्मसीलो, संजम तवणियम जोय गुणधारी।

तस्य य दोस कहंता, भग्गा भग्गतणं दिंति।।

संयम से, नियम से, योग से, गुणों से युक्त किसी भी धर्मशील/धर्मात्मा में जो दोष देखता है, वह स्वयं भग्न है, भ्रष्ट है तथा दूसरों को भी भ्रष्ट करता है।

सम्यग्दृष्टि तो मात्र गुणों पर दृष्टि रखता है। वह अर्जुन के समान लक्ष्य-भेद के लिये मात्र आँख पर ही दृष्टि रखता है अर्थात् गुणों पर ही दृष्टि रखता है। जो ग्लानि से युक्त होता है, वह कदापि गुणग्राही नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि सीप की नहीं, मोती की, दीप की नहीं, ज्योति की आराधना करता है। वह बाह्य शरीर को देखकर घृणा नहीं अपितु अन्तरंग के गुणों को देखकर उनके गुणों की प्राप्ति की, हर्षातिरेक के साथ उसे पाने की भावना करता है और आत्मस्वभाव की प्राप्ति की साधना में रत रहता है।

आचार्यों का कहना है—यदि किसी की प्रशंसा नहीं कर सकते तो उसकी निंदा करने का भी अधिकार नहीं है। दूसरों पर दोषारोपण करने से स्वयं का ही जीवन दूषित होता है। ज्ञानीजन इसीलिये कहते हैं—अपना लोटा छानो, दूसरे को देखने से क्या? अपने अंतर को टटोलो।

अंतर में जितनी विकृति, अवगुण हैं, उन्हें देखकर दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। दूसरे के अवगुण देखने से तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। दूसरे के घर की सफाई करने से अपने घर की गंदगी नहीं मिटती। अतः दृष्टि मर्म पर डालो, चर्म पर नहीं। जब तक चर्म पर दृष्टि है, तब तक मर्म की पहचान नहीं हो सकती।

रुक्मणि की दृष्टि चर्म पर थी। मुनिराज का बाहरी रूप देखकर उसने घृणा की, उसका परिणाम कई भवों में भुगतना पड़ा। आज भी रास्ते में ये प्राणी दिखते हैं। उन्हें देखकर विचार करना चाहिये कि इन्होंने कभी खोटे कर्म किये होंगे, जिसके परिणामस्वरूप यह हीन पर्याय मिली है। उन्हें कभी हीन आचरण करने का यह दण्ड मिला है, तो आज जो हीन आचरण करेगा, वह उसके परिणाम से कैसे बच सकेगा? फल तो कर्म के अनुसार ही मिलेगा। सम्यग्दृष्टि अपने परिणामों को संभाल कर रखता है।

जैनधर्म में राग—द्वेष दोनों वर्जित हैं। राग भी वर्जित है, द्वेष भी वर्जित है। यदि किसी से मतैक्य नहीं है, सैद्धांतिक मतभेद है, उससे राग नहीं कर सकते, कोई बात नहीं, किन्तु उससे द्वेष भी नहीं रखना चाहिये। किसी से मन नहीं मिलता, मतभेद है, तो उसकी ओर न देखें, लेकिन वह सामने पड़ जाये तो तिरस्कार भी न करें। तिरस्कार कर रहे हैं तो समझना कि धर्म का मर्म नहीं समझ पाये हैं। धर्म में यदि विधर्मी से राग का निषेध है, तो विधर्मी से द्वेष का भी निषेध है।

गाँधी जी कहते थे— “मैं अपने विरोधियों को भी सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि मुझमें विरोधियों की नजर से देखने की क्षमता आ गई है, मुझे अनेकांत के सिद्धांत पर विश्वास हो गया है। उनकी दृष्टि से वो ही सही हैं और मेरी दृष्टि से मैं सही हूँ।”

एक ग्लास “आधा भरा है” कह सकते हैं। वह “आधा खाली है” यह भी कहा जा सकता है। जो स्वयं अंदर से खाली है, वह “आधा खाली है”

कहता है। जो अंदर से पूर्ण है, “वह आधा भरा है” कहता है। यह स्वयं की परिणति का द्योतक है। अंतर में जो होता है, वह ही ध्वनित होता है। इसलिए मर्म को देखने की प्रवृत्ति होनी चाहिये। चर्म पर तो चर्मकार की नजर जाती है। अभी ऊपर का चर्म सुंदर लग रहा है, अगले क्षण कैसा होगा, इसका किसको पता?

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— धर्म पवित्र है, अनादि—अनिधन है। धर्म शरीर के पीछे नहीं, धर्म आत्मा के पीछे है। धर्म में आत्मा है, आत्मा में धर्म है। शरीर में आत्मा होते हुये भी शरीर को कभी भी धर्म नहीं माना है। यह शरीर धर्म का साधक तब बन सकता है, जब वह विषय—कषाय से ऊपर उठ जाता है, तो धर्म के साथ—साथ उसकी भी पूजा हो जाती है। रत्नत्रय धारण करने पर शरीर भी पवित्र हो जाता है। स्वभाव से तो यह काया अशुचिमय है, अपवित्र है। भले ही आप इसको लाइफबॉय लगाओ, पियर्स सोप लगाओ, लक्स, हमाम आदि तमाम साबुनों लगाओ, लेकिन एक घन्टे के बाद यह अपना गुणधर्म बता देगा और आपका जीवन इसी में बीत गया है।

“देह परसतें होय अपावन, निशदिन मल जारी।” देह तो अपावन है। यदि इसे पावन बनाने का लक्ष्य है, तो रत्नत्रय को धारण करना आवश्यक है। रत्नत्रय को धारण कर लेने पर यह अशुचि शरीर भी पूज्यता को प्राप्त हो जाता है। अतः कभी भी मुनिराजों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना।

सीता जी के जीव वेदवती ने ब्राह्मण की अवस्था में नगर में आकर कहा था कि जंगल में मैंने मुनिराज को अकेली आर्यिका से बात करते देखा है। अहो! एक निर्ग्रथ योगी का अपवाद किया था, फलस्वरूप आज सारे विश्व में सीता का अपवाद हो गया, कि रावण के यहाँ होकर आई है सीता। कुलवंती होने पर भी कर्म किसी को नहीं छोड़ते हैं। जीवन में ध्यान रखना, कभी ग्लानि का भाव मत रखना, किसी धर्मात्मा के मलिन

शरीर को देखकर ग्लानि मत करना। उनकी रत्नत्रय से मंडित आत्मा को देखकर अपने सिर को झुका देना। यह सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अंग है।

एक बार एक दम्पति आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के पास आये। बाबू साहब गोद में बच्चे को लिये हुये थे। पत्नी भी पास में आकर बैठ गयी। थोड़ी देर बाद उस बच्चे ने बाबूजी की गोद में पेशाब कर दी। बच्चे को क्या मालूम कि यह बाबूजी की गोद है या माता जी की। बस, बाबूजी ने तुरन्त बच्चे को फेंक दिया अपनी पत्नी की ओर। “सम्भालो जी अपने बच्चे को। सारे कपड़े खराब कर दिये।” किन्तु माँ ने उस बच्चे को फेंका नहीं। थोड़ी देर बाद उस बच्चे ने टट्टी भी कर ली। बाबूजी नाक सिकोड़ने लगे, किन्तु माँ ने उसको साफ किया और फिर आकर बैठ गयी। माँ ने कभी अपने बच्चे को आज तक फेंका क्या? और आचार्य श्री तो निस्पृह होकर बैठे थे। साधु तो सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों में समभाव रखते हैं। वे तो मल—परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

घ्राणेन्द्रिय का विषय तो गन्ध लेना है। उसमें तो सुगन्ध और दुर्गन्ध का कोई भेद नहीं। “जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थ” अर्थात् इस शरीर का तो स्वभाव ही ऐसा है, फिर इस शरीर से क्या ग्लानि करना? अतः कम से कम साधु के शरीर से तो ग्लानि न करो। उनका शरीर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप अखण्ड रत्नत्रय के द्वारा पवित्र बन चुका है। “गुणप्रीतिः” अर्थात् गुणों के कारण इस शरीर से प्रेम करना। ध्यान रखो, इस मल—मूत्रमय शरीर में ही रत्नत्रय से संयुक्त आत्मा विराजमान है। यदि यह शरीर न होता, तो क्या आत्मा परमात्मा बन पाता? अतः कभी भी मुनिराजों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना। इसी को आचार्य समन्तभद्र महाराज ने निर्विचिकित्सा अंग कहा है। हमें कुत्सित व मलिन शरीर को नहीं बल्कि उनके ज्ञान व गुणों को देखना चाहिये।

अष्टावक्र ऋषि का शरीर आठ जगह से टेढ़ा था। एक बार उनका राजा जनक की सभा में जाना हुआ। उनका टेढ़ा-मेढ़ा शरीर देखकर उपस्थित राजकुमार हँसने लगे। राजकुमारों के साथ जब ऋषि अष्टावक्र भी हँसने लगे, तो राजा जनक को बहुत आश्चर्य हुआ। वे ऋषि के पास आये और वंदन कर हँसने का कारण पूछने लगे।

ऋषि ने कहा— “राजन्! तुम मुझसे पूछ रहे हो ? इन राजकुमारों से क्यों नहीं पूछ रहे?”

जनक— “ऋषिवर! ये राजकुमार अज्ञानी हैं, भोले हैं। आपकी शारीरिक वक्रता को देखकर हँस रहे हैं।”

ऋषि— “राजन्! मैं भूल से पंडितों की सभा में न पहुँचकर चमारों की सभा में पहुँच गया। मुझे इसी बात की हँसी आ रही है।”

सारे राजकुमार खड़े-खड़े राजा और ऋषि का संवाद सुन रहे थे। जब उन्होंने अपनी सभा को “चमारों की सभा” सुना, तो आश्चर्य का पार नहीं रहा। ऋषि ने अपनी ज्ञान-रश्मि से उनके अभिमान का अंधकार दूर करते हुये कहा— “चाम को सँवारने का काम चमारों का होता है। जिस सभा में चाम के आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन होता है, क्या वह चमारों की सभा नहीं है?” हमें मनुष्य के रूप और आकार का नहीं, ज्ञान और गुणों का महत्व समझना चाहिये।

कुमारों को अपनी त्रुटि का अनुभव हुआ और वे ऋषि के चरणों में गिरकर क्षमायाचना माँगने लगे। निर्विचिकित्सा अंग में उद्दायन राजा प्रसिद्ध हुये हैं।

सौधर्म स्वर्ग में देवसभा चल रही थी और इन्द्र महाराज देवों को सम्यग्दर्शन की महिमा समझा रहे थे— अहो देवो! सम्यग्दृष्टि मुनिराजों को आत्मा का कोई अपूर्व सुख होता है। इस सुख के सामने स्वर्ग के वैभव की कोई गिनती नहीं है। इस स्वर्गलोक में साधु-दशा नहीं हो सकती, परन्तु सम्यग्दर्शन की आराधना तो यहाँ भी हो सकती है।

मनुष्य तो सम्यग्दर्शन की आराधना के पश्चात् चारित्र दशा भी प्रकट करके मोक्ष पा सकते हैं। सच में जो जीव निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा इत्यादि आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं वे धन्य हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवों की हम यहाँ स्वर्ग में भी प्रशंसा करते हैं। इस समय कच्छ देश में उद्दायन नामक राजा अभी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं और निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने में बहुत दृढ़ हैं।

राजा के गुणों की ऐसी प्रशंसा सुनकर वासव नामक एक देव के मन में उन्हें देखने की इच्छा हुई और वह स्वर्ग से उतरकर मनुष्यलोक में आया। इधर उद्दायन राजा एक मुनिराज को देखकर भक्तिपूर्वक आहार—दान के लिए पड़गाह रहे हैं। हे स्वामी! हे स्वामी!! हे स्वामी !!! पश्चात् रानी सहित उद्दायन राजा नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने लगे।

अरे! लेकिन यह क्या? बहुत से लोग मुनिवेषधारी वासवदेव से दूर भागने लगे। बहुतों ने तो अपने चेहरे को कपड़ों से ढक लिया, क्योंकि मुनि के कुबड़े शरीर में भयंकर कोढ़ रोग हुआ था और उसमें दुर्गन्ध आ रही थी, हाथ—पैर से पीप बह रही थी।

परन्तु राजा का इस पर कोई लक्ष्य नहीं था, वे तो प्रसन्न होकर परम भक्ति से एकग्राचित होकर आहारदान दे रहे थे और स्वयं को धन्य मान रहे थे— “अहो! रत्नत्रयधारी मुनिराज मेरे आँगन में आये हैं। इनकी सेवा से मेरा जीवन सफल हो गया।”

इतने में मुनिराज के पेट में अचानक गड़बड़ी हुई और उनको एकाएक उल्टी हुई। वह दुर्गन्ध भरी उल्टी राजा—रानी के शरीर पर जा गिरी। अचानक दुर्गन्ध भरी उल्टी उनके शरीर पर गिरने से राजा—रानी को किंचित् भी ग्लानि नहीं हुई और मुनिराज के प्रति जरा भी घृणा नहीं आई, बल्कि अत्यन्त सावधानीपूर्वक वे मुनिराज के दुर्गन्धमय शरीर को साफ करने लगे और उनके मन में ऐसा विचार आया— “अरे रे! हमारे

आहारदान में अवश्य कोई भूल हुई होगी, जिस कारण से मुनिराज को इतना कष्ट हुआ, मुनिराज की पूर्ण सेवा हमसे नहीं हो सकी।”

यहाँ तो राजा ऐसा विचार कर ही रहे थे कि वे मुनि अकस्मात् अदृश्य हो गये और उनके स्थान पर एक देव दिखने लगा। अत्यन्त प्रशंसापूर्वक वह कहने लगा— “हे राजन्! धन्य है आपके सम्यक्त्व को और धन्य है आपके निर्विचिकित्सा अंग को। इन्द्र महाराज ने आपके गुणों की बहुत प्रशंसा की थी, वह तो एक ही गुण से ध्यान में आ गई। मुनि का वेष धारण करके मैं ही आपकी परीक्षा करने आया था। धन्य है आपके गुणों को.....। ऐसा कहकर देव ने उन्हें नमस्कार किया।

वास्तव में किसी मुनिराज को कष्ट नहीं पहुँचा— ऐसा जानकर राजा का चित्त प्रसन्न हो गया और वे कहने लगे— “हे देव! यह मनुष्यशरीर तो स्वभाव से ही मलिन है और रोगों का घर है। यह अचेतन शरीर मलिन हो तो भी उसमें आत्मा का क्या? धर्मी का आत्मा तो सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों से ही शोभित होता है। शरीर की मलिनता देखकर धर्मात्मा के गुणों के प्रति जो ग्लानि करते हैं, उन्हें आत्मा की दृष्टि नहीं होती, परन्तु देह की दृष्टि होती है। अरे! चमड़े के शरीर में ढका हुआ आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शोभायमान हो रहा है, वह प्रशंसनीय है।”

राजा उद्दायन की यह उत्तम बात सुनकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा को अनेक विद्यायें दीं, वस्त्राभूषण दिये, परन्तु उद्दायन राजा को उनकी आकांक्षा कहाँ थी। वे तो सम्पूर्ण परिग्रह छोड़कर वर्द्धमान भगवान् के समवसरण में गये और वहाँ उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष पाया।

हमें पापी व्यक्ति को देखकर भी उससे ग्लानि नहीं करना चाहिये। आचार्यों का कहना है ‘पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।’ यदि कोई पाप को छोड़कर धर्म की ओर वापस आता है, तो उसका स्वागत किया जाना चाहिये।

एक पिता के दो बेटे थे। एक दिन उसने बड़े बेटे को अत्यधिक सम्पत्ति देकर अलग कर दिया और स्वयं छोटे बेटे के साथ रहने लगा। बड़ा बेटा आचरणहीन था। वह सप्तव्यसनी हो गया, इसलिये उसकी सारी सम्पत्ति व्यसनों में समाप्त हो गई। खाने-पीने के लाले पड़ने लगे, भूखों मरने लगा। एक दिन उसकी पत्नी ने कहा, 'पिताजी बहुत धर्मात्मा और दानी हैं, गरीबों के मसीहा हैं, जाओ तुम अपने पिता से कुछ माँग लाओ।' उसने अपने पिता को पत्र लिखा कि मैंने अपनी सारी बुरी आदतें सुधार ली हैं और भिखारी बनकर आपके पास दान लेने आ रहा हूँ।

पत्र पढ़ते ही पिता बहुत खुश हुआ। उसने बड़े पुत्र के आगमन पर नगर सजाया, घी के दीपक जलवाये, बैण्ड बाजे बजवाये। एक विघ्न-संतोषी ने छोटे भाई के कान भर दिये कि तुम्हारे पिता जी तुम्हारे साथ अन्याय कर रहे हैं। तुम्हारे आचरणहीन भाई के आगमन पर उसके स्वागत में हजारों रुपये खर्च कर रहे हैं और तुम्हारे लिए आज तक एक फूटी कौड़ी भी खर्च नहीं की, यह तो तुम्हारे साथ सरासर अन्याय है।

छोटा बेटा खेत पर काम कर रहा था। वह सुनते ही पिता के पास आया और आवेश में बोला, 'पिता जी! यह नगर क्यों सजाया गया है? यह हजारों रुपयों का अपव्यय किसलिये किया गया है?' पिता ने कहा, 'बेटा! तुम्हारा बड़ा भाई आ रहा है, उसके लिये।' बेटा बोला— 'जिसने आपकी इज्जत मिट्टी में मिलाई, आपको कहीं का नहीं रखा, वो बड़ा भाई ? जो वेश्यागामी है, दुराचारी है, जुआरी है, शराबी है, उसके स्वागत में इतना आयोजन ? और मुझ आचरणवान् के लिये कोई स्वागत नहीं। पिता जी! यह तो मेरे साथ अन्याय हो रहा है।'

किसी ने पूछा कि 'जब कोई दीक्षा लेता है, तब उसका विनोला क्यों निकाला जाता है, इतना स्वागत-सम्मान क्यों करते हैं?' उसका स्वागत-सम्मान इसलिये करते हैं कि वह पाप को छोड़कर धर्म की ओर आ रहा है। यही बात उसके पिता ने कही। 'बेटा! वह भटक गया था,

धर्म से दूर चला गया था, पर अब वह पाप को छोड़कर धर्म की ओर वापस आ रहा है इसलिये यह हमारा कर्तव्य है कि हम उसका स्वागत करें।’

संसारी जीव अपनी आत्मा को नहीं पहचानते और शरीर की सेवा करने में ही अपना सारा जीवन लगा देते हैं। जिस मनुष्यभव का एक-एक क्षण अमूल्य है, वह मनुष्यभव भी शरीर की सेवा में व्यतीत हो जाता है। स्वभाव से तो यह शरीर अपवित्र है, लेकिन इसके अन्दर यदि रत्नत्रय प्रकट हो जाये, तो यह शरीर भी पवित्र माना जाता है। यदि इस शरीर में भगवान् आत्मा दिख जाये, तो यह शरीर मंदिर है, अन्यथा अशुचि पदार्थों का पिटारा है। चमड़ी से लेकर हड्डी तक चले जाइये, अशुचि पदार्थों के अलावा दूसरी चीज मिलनेवाली नहीं है।

यह शरीर केवल ऊपर से ही सुन्दर प्रतीत होता है, किन्तु उसमें भीतर सुन्दरता नहीं है। मुलम्मा (पालिश) दूर से इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है कि उसके सामने सोना भी हेय दिखाई देता है, परन्तु कुछ ही समय में वह काला पड़ जाता है। काँच का बना हुआ नकली रत्न हीरे से भी ज्यादा चमक देता है, परन्तु उसकी वह चमक कुछ ही दिन रहती है। गुड़िया देखने में कितनी सुन्दर दिखाई देती है, परन्तु उसके भीतर चिथड़े भरे हुये होते हैं। भीतर की बदसूरती छिपाने के लिये ही ऊपर चमक-दमक की पालिश की जाती है। “मात-पिता रजवीरज सों उपजी, सब सात कुघातु भरी है।” मनुष्य का यह शरीर, जिस पर मुग्ध होकर मनुष्य अपने आपको भूल गया है, महा अशुचि मलिन पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। यदि यह चमड़े की चादर इस शरीर पर नहीं होती तो नेवले, कौये, गिद्ध, कुत्ते, बिल्ली आदि उसे घड़ी भर भी न रहने देते। जिस शरीर की जड़ ही अशुद्ध है, उसे कितना ही शुद्ध करो, सजाओ, पर वह कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता।

एक बार सर्दी के दिनों में कश्मीर में दो बच्चों ने विचार किया कि

मिट्टी के बर्तन में पानी भरकर छत पर रख दें तो रात में ठण्डक से पानी जमकर बर्फ बन जायेगा, तब उस जमाई हुई बर्फ को दूसरे दिन खायेंगे। ऐसा निश्चय करके वे एक मिट्टी का छोटा—सा बर्तन ढूँढ लाये। फिर इधर—उधर पानी देखने लगे। जल्दी में उन्हें पानी नहीं मिला। तब दोनों ने पेशाब करके उस बर्तन को भर दिया और उसको छत के ऊपर रख आये। रात की ठण्डक में पेशाब जमकर सफेद बर्फ बन गयी।

दूसरे दिन दोनों बच्चे उस बर्फ को छत पर से उठा लाये और उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुये। वे उस बर्फ को खाने का विचार करने लगे। तब उनमें से एक बोला कि भाई! यह पेशाब की बर्फ है, पहले इसे धोकर शुद्ध कर लेना चाहिये। जब वे बर्फ को धोने लगे, तो इतने में उनमें से एक बच्चे के पिता जी आ गये। उन्होंने पूछा कि तुम लोग क्या कर रहे हो? तब उन बच्चों ने बर्फ दिखाकर कहा कि हम लोगों ने अपनी पेशाब की यह बर्फ जमाई थी, उसे खाने के लिये पानी से धोकर शुद्ध कर रहे हैं। पिताजी बोले, 'बेटा! यह बाथरूम की बर्फ धोने से शुद्ध नहीं हो सकती, इसकी तो जड़ ही अशुद्ध है, उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। ऐसी ही बात शरीर के विषय में है। वज्रनाभि चक्रवर्ती की 'वैराग्य भावना' में पंडित भूधरदासजी ने लिखा है—

देह अपावन, अथि र घिनावन, या में सार न कोई।

सागर के जल सों शुचि कीजे, तौहू शुद्ध न होई।।

यह शरीर अपवित्र, अस्थिर, घिनावना है। इसमें श्रेष्ठ वस्तु कोई भी नहीं है। यदि इस शरीर को समुद्र के अपार जल से भी धोकर शुद्ध किया जावे, तो भी यह शरीर पवित्र नहीं हो सकता। पंडित दौलतराम जी ने लिखा है— “जे—जे पावन वस्तु जगत में, ते इन सर्वबिगारी।” यानी—संसार में कपूर, इत्र आदि जो—जो पवित्र पदार्थ हैं, इस शरीर ने स्पर्श करते ही उन सबको विकृत करके बिगाड़ डाला है, उनको अपवित्र कर

दिया है। पंडित भूधरदास जी रहस्य की बात कहते हैं—

पोषत तो दुःख दोष करै अति, शोषत सुख उपजावे।

दुर्जन देह सरूप बराबर, मूर्ख प्रीति बढावै॥

राचन योग्य सरूप न याकौ, विरचन योग्य सही है।

यह तन पाय महातप कीजे, यामें सार यही है॥

जिस तरह सर्प आदि दुष्ट जीवों को दूध आदि पिलाकर पुष्ट करो तो उनमें विष आदि की ही वृद्धि होती है। दुष्ट मनुष्यों का पालन—पोषण करने पर वे अपने पालन—पोषण करनेवाले को ही दुःखदाता बन जाते हैं और यदि दुष्टों को दण्ड देकर दबा दिया जावे, तो वे सीधे होकर सुखकारी बन जाते हैं। इसी प्रकार यह शरीर पुष्ट हो जाने पर धर्म्यध्यान, पूजन, स्वाध्याय में प्रमाद उत्पन्न करता है। कामवासना, अभिमान आदि की वृद्धि करता है और यदि उपवास, कायोत्सर्ग, आत्मध्यान आदि द्वारा इस शरीर को दण्डित किया जावे तो यही शरीर आत्मा को सुखदायक बन जाता है। इस तरह शरीर और दुर्जन मनुष्य का स्वभाव प्रायः एक—समान है। अतः शरीर से प्रीति अज्ञानी ही किया करते हैं। यह शरीर रुचि या अनुराग करनेयोग्य नहीं है, विरक्ति करनेयोग्य है। इसलिये इस शरीर को पाकर महान् तपश्चरण करना चाहिये।

संसार में प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा से लाभदायक है और किसी दृष्टिकोण से वह हानिकारक भी है। यही सिद्धान्त शरीर पर भी लागू होता है। जिस संयम का पालन देव नहीं कर सकते, उस संयम को इस औदारिक शरीर द्वारा ही धारण किया जा सकता है। जिस ध्यान के द्वारा यह आत्मा समस्त कर्मपुंज को भस्म करके परमात्मा बन जाता है, वह धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान भी इसी शरीर के द्वारा ही हो सकता है। इस आत्मा का पूर्ण अभ्युदय इस शरीर के सहारे सम्पन्न होता है, अतः यह अपवित्र शरीर भी आत्मा की पवित्रता का परमसाधन है।

अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने शरीर का आवश्यकतानुसार

पालन—पोषण भी करे। रोग आदि व्याधियों से भी उसकी सुरक्षा करे। परन्तु अपनी सारी शक्ति इसी की सेवा में न लगा दे, इस नौकर से आत्मकल्याण का काम अवश्य लेवे। मन से आत्मचिन्तन करे। नेत्रों से भगवान् का दर्शन, शास्त्रों का स्वाध्याय, गुरु का दर्शन करे। मुख से भगवान् की स्तुति करे, शास्त्र पाठ करे, गुरु स्तवन करे। हाथों से भगवत् पूजन, दान, पर—उपकार करे। पैरों से प्रतिदिन मंदिर जावे, गुरु के पास जावे, तीर्थयात्रा करे। कानों से शास्त्र का उपदेश, गुरु की शिक्षा का श्रवण करता रहे। शरीर को जड़ पौद्गलिक समझकर उससे मोह—ममता न करे, बल्कि इसके माध्यम से रत्नत्रय की साधना करे। रत्नत्रय धारण कर लेने पर यह अपवित्र शरीर भी पूज्यता को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि हंस की भांति दूध को ही ग्रहण करता है। वह रत्नत्रय के धारी मुनिराजों की विनय करता है और अपने मलिन तन में चारित्र का कमल खिलाने का प्रयास करता है। शरीर की अपवित्रता को लक्ष्य में न रखकर जो शरीर के माध्यम से आत्मा का हित करता है, वही अपने मनुष्य—जन्म को सफल व सार्थक करता है। अतः रत्नत्रयधारी मुनिराजों को देखकर ग्लानि रहित होकर उनके चारित्र की प्राप्ति की भावना करनी चाहिये। जुगुप्सा करने से आत्मा की सम्पदा छिन जाती है। निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने से आत्मा की सम्पदा सुरक्षित रहती है। जीवन में कभी किसी से ग्लानि नहीं करनी चाहिये, बल्कि मुनिराजों की महिमा—गरिमा, साधना, तपस्या को जानकर उसे स्वीकार कर उस रूप ढलने का पुरुषार्थ करके स्वयं के परमात्मा को प्रगट करना चाहिये।

अमूढदृष्टि अंग

सम्यग्दृष्टि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, धर्म और झूठे देव, गुरु, धर्म को अच्छी तरह पहचान कर असत्य मार्ग की प्रशंसा करना छोड़ देता है। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेपि सम्मतिः।

असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढां दृष्टिरुच्यते॥

लौकिक चमत्कारपूर्ण कुमार्ग और कुमार्ग में स्थित होने पर भी फूलते हुये किसी कुमार्गस्थ—मिथ्यादृष्टि जीव को देखकर उसके विषय में मन में ऐसा भाव नहीं लाना कि यह मार्ग अच्छा है अथवा इस मार्ग का पालन करने वाला मनुष्य अच्छा है। शरीर से उसकी प्रशंसा नहीं करना और वचन से उसकी स्तुति नहीं करना, अमूढदृष्टि अंग है।

कभी—कभी मनुष्य कुमार्ग में भीड़ व चमत्कार आदि को देखकर उस धर्म की प्रशंसा कर देता है कि देखो! फलाने मन्दिर में कितने यात्री जाते हैं, फलाना साधक कितना अच्छा बोलता है, फलाने शास्त्र में कितनी अच्छी बात कही। पर मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करने से मिथ्यात्वी के अभिमान की पुष्टि होती है और वह प्रशंसा में फूलकर कभी भी मिथ्यात्व को छोड़ने को तैयार नहीं होता। अतः गलत करना भी नहीं और गलत का समर्थन भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि मिथ्यामार्ग में चलना, दूसरों को चलाना या चलते हुये की प्रशंसा करना तो स्वयं को दुःखों के मार्ग में ढकेलना है।

सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धालु तो होता है, परन्तु अन्धश्रद्धालु नहीं होता।

वह प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक ही करता है। कुमार का सेवन बहुत लोग करते हैं, बड़े-बड़े राजा भी उसका सेवन करते हैं, तो धर्मात्मा को संदेह नहीं होता कि उसमें भी कुछ सच्चा होगा। वह तो अपने जिनमार्ग में निःशंक रहता है। वीतराग-सर्वज्ञ अरहन्त व सिद्ध भगवान् को छोड़कर अन्य किसी देव को वह नहीं मानता। रत्नत्रयधारी निर्ग्रन्थ मुनिराज को छोड़ कर अन्य किसी कुगुरु को वह नहीं मानता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप जो मोक्षमार्ग है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी धर्म को वह मोक्ष का कारण नहीं मानता और उसका सेवन नहीं करता। सम्यग्दृष्टि जिनवचन के विरुद्ध किसी बात को नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि को देव-गुरु-धर्म के प्रति मूढ़ता नहीं होती। वह जानता है कि जो वीतराग हो गये हैं, सर्वज्ञ हैं, वे भगवान् ही संसाररूपी समुद्र को सुखाने वाले हैं। कुदेवादि जो स्वयं रागी-द्वेषी हैं, वे हमारे संसारभ्रमण का अन्त नहीं कर सकते।

एक बार अकबर शिकार खेलने को निकला, परन्तु मार्ग में भटक गया। गर्मी का मौसम था, अतः कण्ठ सूख गया। पानी की तलाश करते हुये सम्राट गन्ने के खेत में पहुँच गया। किसान ने देखा कि यह तो कोई सम्राट जैसा दिखता है। वेशभूषा तो सम्राटों-जैसी है, हीरे-जवाहरातों की माला कण्ठ में पड़ी है। सम्राट ने किसान से कहा, प्यास लगी है, पानी पीना है, पानी है क्या?' उसने कहा-‘आप इस चबूतरे पर सुखपूर्वक बैठिये, आराम कीजिये, मैं आपके के लिये गन्ने का रस लेकर आता हूँ।’ वह गया, दो-चार गन्ने तोड़े और उनका रस निकाल लाया। सम्राट को आदर के साथ पीने को दिया। गन्ने का मीठा रस पीकर सम्राट बड़ा प्रसन्न हुआ। सम्राट ने कहा कि बड़ा अहसान है तुम्हारा मुझ पर, कभी शहर आओ तो महल में पधारना। उसने सोचा कि मुझे क्या लेना- देना सम्राट से। जंगल में रहता हूँ, चैन की बाँसुरी बजाता हूँ, आराम की नींद सोता हूँ। सम्राट ने कहा कि ‘मेरा पता लिख लो। जब मेरी मदद की

आवश्यकता पड़े, तो महल में आ जाना। लाओ पेन कागज, उस पर मैं अपना पता लिख दूँ।' उसने कहा कि 'यहाँ कहाँ से पेन—कागज आये? उसने एक टूटा घड़ा और कोयले का टुकड़ा उठाकर दिया। सम्राट ने कोयले से टूटे घड़े पर अपना नाम व पता लिख दिया और कहा— 'जब आप आओ, तो महल में मेरे पास ले आना।' सम्राट चला गया।

एक साल खेती नहीं हुई, सूखा पड़ गया। किसान सम्राट के पास मदद माँगने गया, साथ में जिस टूटे घड़े पर उसने पता लिखा था वह भी ले गया। दरबारियों ने उसे महल में घुसने से मना किया। उसने वह टूटा घड़ा दिखाया और कहा 'अकबरिये से जाकर कहो कि जिसने तुम्हें गन्ने का रस पिलाया था, वह किसान आया है।' उसे अकबर के पास ले जाया गया। अकबर ने उसे आदरसहित महल में बिठाया, लेकिन नमाज अदा करने का समय हो रहा था, तो अकबर ने कहा कि तुम पाँच मिनट बैठो मैं नमाज अदा कर लूँ, उसके बाद चर्चा करूँगा।

अकबर ने सफेद कपड़ा बिछाया और नमाज अदा करने लगा, ऊपर की तरफ हाथ उठाकर खुदा से प्रार्थना करने लगा। किसान गौर से अकबर की नमाज अदायगी देखता रहा। अकबर ने नमाज अदा की और किसान से कहा — 'माँगो, क्या चाहिये।' उसने कहा — आप आसमान की तरफ हाथ फैलाकर क्या कर रहे थे? अकबर ने कहा — मैं खुदा से दुआ माँग रहा था कि मेरे राज्य में खैरियत रखना, सबको सुखी रखना। उसने कहा 'एक भिखारी दूसरे भिखारी को क्या दे सकता है ? जब तुम स्वयं हाथ फैलाकर माँग रहे हो, तब मैं क्यों तुम्हारे सामने अपना हाथ फैलाऊँ ? इतना कहकर वह चला गया।

इसी प्रकार जो स्वयं रागी—द्वेषी हैं, संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, वे कुदेवादि हमारे दुःखों व संसारभ्रमण का अन्त नहीं कर सकते। वीतराग भगवान् ही संसारसमुद्र को सोखनेवाले तथा दुःखों के हर्ता हैं। यदि हमें

संसारबन्धन से मुक्त होने की अभिलाषा है, तो सबसे पहले 'हम कौन हैं? हमारा स्वरूप क्या है?' यह जानने का प्रयास करें।

स्वभाव का बोध न होने के कारण यह संसारी प्राणी पर-पदार्थों को पाने के लिये लालायित हो रहे हैं। अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है। जब इसे अपने स्वभाव का बोध होगा, तब यह बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होना प्रारम्भ कर देगा। यह संसारी प्राणी भटकता-भटकता किसी तरह मनुष्ययोनि में आया है। इसे बोध है, किन्तु पर का बोध है। अभी तक इसने जो बोध पाया है, वह सब जड़ का है, बाहरी है। सही अर्थों में इसने अभी तक अपने-पराये का बोध नहीं पाया और जिसे अपने-पराये का बोध नहीं है, उसकी दृष्टि मूढ़ है।

भगवान् वीतराग होते हैं। भगवान् की राह और भक्त की राह एक होनी चाहिये। यह बात अलग है कि भगवान् पूर्ण वीतराग हो गये हैं और भक्त चल रहा है। वर्णी जी ने लिखा है — “सागर दूर, सिमरिया नीरी।” भले ही आप सागर में खड़े हों, पर यदि आपने अपना मुख सिमरिया की ओर कर लिया और चलना प्रारम्भ कर दिया, तो सागर दूर और सिमरिया को पास समझना चाहिये। गंतव्य दूर हो, कोई बात नहीं, किन्तु लक्ष्य निश्चित होना चाहिए। लक्ष्य निर्धारित होते ही मुक्ति दूर नहीं। लक्ष्य का निर्धारण हो और फिर उसी तरफ कदम बढ़ायें, तो मंजिल पा जाते हैं।

कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्र को माननेवाले अज्ञानी (मूढ़) जीव गृहीत मिथ्यात्व का सेवन कर संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि सच्चे वीतरागी देव, शास्त्र व गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी को नमस्कार नहीं करते।

दशांगपुर नगर में जन्म से ही बलवान राजा वज्रकर्ण राज्य करता था। एक दिन जब वह जंगल में शिकर खेलने गया, तब वहाँ मुनिराज को देखकर उसका मन कुछ शांत हुआ और उसने उन मुनिराज के समक्ष

प्रतिज्ञा की कि मैं जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी और जिनगुरु के अतिरिक्त अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। साथ ही उन्होंने श्रावक के व्रत लिये।

बाद में वज्रकर्ण ने सोचा कि मैं तो उज्जयिनी के राजा सिंहोदर का सेवक हूँ। यदि मैं उन्हें नमस्कार नहीं करूँगा, तो वे मुझे दण्ड देंगे। नमस्कार करके मैं अपनी प्रतिज्ञा भी भंग नहीं करना चाहता। अब मुझे क्या करना चाहिये? इस प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने एक अँगूठी में मुनिसुव्रत नाथ भगवान् की प्रतिमा बनवाकर उसे दाहिने हाथ में पहन ली तथा सिंहोदर के पास जाते समय वे उस अँगूठी को आगे रखते थे। एक दिन यह भेद राजा सिंहोदर को किसी ने बता दिया। तब उन्होंने क्रोधित होकर राजा वज्रकर्ण को मारने का विचार बनाया। अतः उन्होंने राजा वज्रकर्ण को मिलने के बहाने बुलावाया।

सिंहोदर की कूटिलता से अनभिज्ञ वज्रकर्ण जब राजा से मिलने के लिये जा रहे थे कि रास्ते में ही विद्युदंग नामक एक व्यक्ति ने राजा वज्रकर्ण को बताया कि राजा ने तुमको मारने के लिये बुलवाया है, क्योंकि उनको किसी ने तुम्हारी अँगूठी वाली बात बता दी है। जब वज्रकर्ण को उस पर विश्वास नहीं हुआ, तो उसने पूरी कहानी बताई। तब वज्रकर्ण ने उस पर विश्वास कर लिया।

इतने में सिंहोदर सेना सहित राजा वज्रकर्ण की ओर आ गया। यह देखकर वज्रकर्ण और वह व्यक्ति दोनों वज्रकर्ण के महल में जाकर छिप गये। तब सिंहोदर ने कहा 'वज्रकर्ण! मैंने तुझे यह राज्य देकर राजा बनाया और अब तू मुझे ही नमस्कार नहीं करता? तब वज्रकर्ण कहता है कि सब कुछ ले जाओ, लेकिन मैं सच्चे देव, शास्त्र व गुरु के अलावा और किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। तब सिंहोदर ने क्रोधित होकर वज्रकर्ण पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उसकी सेना वज्रकर्ण के अभेद्य किले में प्रवेश न कर सकी। इससे बौखलाये हुये सिंहोदर ने बाहर का सब गाँव जला डाला।

कुछ समय के पश्चात् वहाँ पर राम, छोटे भाई लक्ष्मण और सीता के साथ आये। जब राम को सिंहोदर की करतूत का पता चला, तो राम ने लक्ष्मण से कहा कि जाओ, वज्रकर्ण—जैसे धर्मात्मा को शीघ्र ही सिंहोदर के चंगुल से छुड़ाओ। लक्ष्मण सीधे सिंहोदर को बन्दी बनाकर राम के पास ले आये। राम ने वज्रकर्ण से पूछा कि इसको क्या दण्ड दें ? वज्रकर्ण ने कहा कि मैं किसी को भी दुःख नहीं देना चाहता, अतः इन्हें छोड़ दिया जाये।

यह संसारी प्राणी अज्ञान के कारण अपने स्वभाव को नहीं पहचानता, इसलिये आज तक दुःखी बना हुआ है। एक 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक है, उसमें लिखा है कि एक सभाभवन में नट और नटी आये। नट ने नटी से कहा कि आज इन श्रोताओं को कोई एक अपूर्व नाटक सुनाओ। अपूर्व ऐसा जो कभी इन्होंने सुना न हो। नटी बोली 'आर्य! ये संसारी प्राणी रात्रि—दिवस विषयों में लीन, परिग्रह की चिन्ताओं से भयाक्रांत तथा चाह की दाह से दग्ध हैं। इनको ऐसी अवस्था में सुख कहाँ?' तब नट कहने लगा प्रिये! ऐसी बात नहीं है।

आत्मस्वभावोऽस्तु शान्तः केनापि कर्ममलकलंककारणेन अशान्तो जातः।

अर्थात् आत्मा स्वभाव से शान्त है, किन्तु किन्हीं कर्ममल कलंक कारणों से वह अशान्त हो गया है। अतः इन उपद्रवों को हटाकर शान्त बन जाओ, क्योंकि शान्तता (सुख) उसका सहज स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव में रहकर ही शोभा पाता है। किन्तु अज्ञान के कारण हम लोगों की प्रवृत्ति बाह्य विषयों में लीन हो रही है। विषय—सुख की प्राप्ति में सारी शक्ति लगा रहे हैं। विषय—भोगों में सुख मानना मूढ़ता है।

जो बाह्य पदार्थों की अभिलाषा करता है, उस जीव को कहते हैं बहिरात्मा और जो जीव अंतरंग में बाह्य पदार्थों की रुचि नहीं करता है, किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव की रुचि करता है, उसे कहते हैं अन्तरात्मा ज्ञानी जीव। ऐसा ज्ञानीजीव घर में रहता हुआ भी जल में कमल के समान भिन्न

रहता है। वह इन पर-पदार्थों को अपना नहीं मानता। जैसे कोई मुनीम दुकान का सर्व भार संभालकर भी अंतरंग में उसे धन के प्रति यह विश्वास है कि यह मेरा नहीं है। वह जानता है कि यह सब धन सेठ का है। गृहस्थ घर में रहता हुआ भी यह जानता है कि यह धन-वैभव सब कुछ मेरा नहीं है। मेरा तो मात्र ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा है। मैं चेतन सत् हूँ। ऐसी जिसकी दृष्टि होती है, उसको अन्तरात्मा कहते हैं। जो भी समागम मिला है, वह साथ नहीं जायेगा। जो चीज तुम्हारे साथ जायेगी नहीं, उसे अभी से समझ लो कि यह मेरी नहीं है। केवल भावों का फेर है। मिथ्यादृष्टि भी घर में रह रहा हो, सम्यग्दृष्टि भी घर में रह रहा हो, खाना-पीना भी साथ चल रहा हो, पर अंतर में इन दोनों में महान अन्तर है। वह मुनीम दूसरे लोगों का हिसाब बताता हुआ कहता है कि तुम पर मेरा इतना है, तुम्हारा हमारे पास इतना आया, पर भीतर में श्रद्धा यह है कि मेरा तो इसमें कुछ नहीं है, यह सब सेठ का है। परंतु वचनों से बोल रहा है कि मेरा तुम पर इतना निकलता है। वचनों से ऐसा कहते हुये भी मुनीम की श्रद्धा यह है कि मेरा कुछ नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष भी, जिसने यह निर्णय किया है कि एक अणुमात्र भी मेरा नहीं है, मेरा निज स्वरूप ही मेरा है, वह घर में रहता हुआ यह मेरी स्त्री है, यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है, यह मेरी दुकान है कहता हुआ भी श्रद्धा यही रखता है कि यहाँ मेरा कुछ नहीं है।

जैसे आप मुसाफिरी में दिल्ली गये। किसी धर्मशाला में एक कमरा मिल गया, आपके प्रेमियों को भी अलग-अलग कमरे मिल गये। क्या आप उस समय यह नहीं कहते कि यह मेरा कमरा है और यह आपका कमरा है अथवा यह मेरा कमरा है, अतः आप दूसरा कमरा ढूँढ लें? पर श्रद्धा में क्या बसा है कि मेरा तो कमरा है नहीं, क्योंकि कल चले जायेंगे। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहता हुआ जान रहा है कि मेरी तो मात्र मेरी आत्मा ही है, जो मेरे साथ सदा से है और सदा तक रहेगी।

पर को अपना मानने से नाना प्रकार के विकल्प उठते हैं और दुःख होता है। जैसे स्वप्न आ जाये कि मैं जंगल में फँस गया। जंगल में कहीं तालाब दिखा, वहाँ पानी पीने चला गया, मगर ने पैर पकड़ लिया, मगर खींच रहा है, तो उस समय वह स्वप्न देखने वाला कितना दुःखी हो रहा है, बेचैन हो रहा है? उसी बेचैनी में नींद खुल जाये तो कितना आनन्द मानता है ? अरे! यहाँ तो कुछ भी नहीं है। वह तो झूठा स्वप्न था। कहाँ हमें मगर खींच रहा है ? आदिक बातें सोच-सोचकर उसका दुःख दूर हो जाता है। ऐसे ही समझिये कि जहाँ मोह की नींद में ये नाना विकल्प आ गये, भार अनुभव किया, तो दुःखी हो गये। और जिस समय पर को पर व स्व को स्व जाना, अपने अन्तस्तत्त्व की ओर दृष्टि की, यह तो मैं केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, हमने अभी तक जानने का ही काम किया, आगे भी जानने का ही काम कर सकूँगा।

जब तत्त्वज्ञान की आँख खुलती है, तो वह अपने को उसी प्रकार निर्भार अनुभव करता है, जैसे स्वप्न में फँसा हुआ पुरुष जाग जाने पर निर्भार अनुभव करता है। मेरे को कहाँ दुःख है? कहाँ है विपत्ति? कहाँ धन बिगड़ा? कहाँ लोग बिगड़े? कहाँ व्यापार बिगड़ा? यह मैं ज्ञान मात्र आत्मा तो पूरा-का-पूरा सुरक्षित हूँ। जिसने अपने जीवन को शान्त रखने के लिये इतना काम कर लिया, वही वास्तव में ज्ञानी है। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने 'निजामृतपान' में लिखा है—

**मोह-मद्य का पान किया चिर, अब तो तज जड़मति भाई,
ज्ञान-सुधारस एक घूँट ले, मुनिजन को जो अति भायी।
किसी समय भी किसी तरह भी, चेतन तन में ऐक्य नहीं,
ऐसा निश्चय में धारो, धारो मन में दैन्य नहीं।।22।।**

मूढ़ता मूर्खता को कहते हैं। मूढ़तापूर्ण दृष्टि मूढ़ कहलाती है। सम्यग्दृष्टि विवेकी होता है। वह अपने विवेक व बुद्धि से सत्य-असत्य,

हेय—उपादेय और हित—अहित का निर्णय कर ही उसे अपनाता है। वह अंधश्रद्धालु नहीं होता। परमार्थभूत देव, शास्त्र और गुरु को वह पूर्ण बहुमान देता है। इनके अतिरिक्त अन्य कुमार्गगामियों के वैभव को देखकर प्रभावित नहीं होता, न ही उनकी निन्दा या प्रशंसा करता है, अपितु उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखता है।

मिथ्यामार्गी के अनायतन का किसी भी रूप में सम्मानादि नहीं करना चाहिये। मन—वचन—काय तीनों से छः अनायतनों से बचे रहना चाहिए और इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए— ‘कापथस्थेऽप्य—सम्मतिः’ कुमार्ग में स्थित मिथ्यादर्शनादि के आधारभूत किसी जीव का समर्थन नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो धर्म के विरुद्ध है, उनका समर्थन करने से अधर्म का विस्तार होता है। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु एवं कुदेव सेवक, कुशास्त्र सेवक, कुगुरु सेवक की मान्यता करना तो दुःखों को निमंत्रण देना है, क्योंकि ये कुपथ में स्थित हैं। ये अनायतन हैं। ये बाहर से चमत्कारपूर्ण नजर आते हैं, पर भीतर से शून्य होते हैं। स्वयं दुःख पाते हैं और दूसरों को भी दुःख के मार्ग पर ढकेल देते हैं। सम्यग्दृष्टि कभी भी कुदेवादि को नमस्कार आदि नहीं करता।

यह सम्यग्दर्शन का चौथा अंग है— अमूढदृष्टि। एक ऐसी दृष्टि, जिसके प्रकट होते ही मन का सारा भय मिट जाता है। मन की शंकायें निःशेष हो जाती हैं। समस्त आकांक्षायें समाप्त होने लगती हैं। सम्यक्त्व के होने पर मूढ़ता कैसे रहेगी? जिसकी दृष्टि में समीचीनता आ गई, जिसकी दृष्टि सम्यक् हो गई, यथार्थतः ज्ञानी तो वही है। मूढ़ तो अज्ञानी को कहते हैं। मूढ़ वह है, जो मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति करे। सम्यग्दृष्टि यथार्थमूलक जीवन जीता है, अतः उसके जीवन में मूढ़ता नहीं रहती। अमूढदृष्टि अंग का लक्षण बताते हुये कुंदकुंद आचार्य कहते हैं—

जो होदि असंमूढ़ो, चेदा सब्बेसु कम्मभावेसु।

सो खलु अमूढ़दि,सम्माइडि मुणेयब्बो।।

अर्थात् जो ज्ञानवान् आत्मा समस्त परभावों में असंमूढ़ होता है, वह सच्चा अमूढ़दृष्टि अंग का धारी है। पर यह मूढ़ता है क्या? पर से प्रभावित हो जाना मूढ़ता है। वह मूढ़ है, जिसकी दृष्टि पर से प्रभावित है। तुमने आत्मा के स्वभाव को जान लिया, फिर पर का सत्कार क्यों कर रहे हो ? अपनी पहचान कर ली, तो पर की परिचर्या में क्यों लगे हो ? यही तो सबसे बड़ी अज्ञानता है।

मैं कौन हूँ? मेरा क्या है? इसका ज्ञान हो जाने, इसकी पहचान हो जाने के बाद भी यदि दूसरों के प्रति लगाव है, तो यह है कि या तो तुमने अभी जाना नहीं, या जाना है तो माना नहीं है। जान लेना सहज है, किन्तु जानने के बाद उसे मान पाना बहुत कठिन है।

कुंदकुंद आचार्य इस विषय में कहते हैं—

जो जानने के बाद उसे मानने भी लगे, वही सच्चा अमूढ़दृष्टि है। 'समयसार' के आरंभ में ही मूढ़ता का विवेचन करते हुये उन्होंने तीन गाथायें दीं और स्पष्ट किया है कि इस भूमिका तक जो जीव है, वह मूढ़ है।

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।

अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तामिस्सं वा।। 20।।

आसि मम पुव्वमेदं एदस्य अहंपि आसि पुव्वंहि।

होहिदि पुणोवि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि।।

एदं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।

भूदत्थं जाणंता ण करेदि दु तं असंमूढो।।

यह मेरा है, मैं इसका हूँ, मैं इसका हो जाऊँगा, यह पहले मेरा था, मैं भी पूर्वकाल में इसका था, प्रकार का अवास्तविक आत्मविकल्प मूढ़

व्यक्ति करता है। वास्तविकता को जानने वाला ऐसा विकल्प नहीं करता है। वह यह जानता है कि मैं चेतन हूँ, यह देह अचेतन है, मैं ज्ञानवान् आत्मा हूँ, शेष सब जड़ हैं। मैं एक ज्ञाता आत्मा हूँ, इसके बाहर और जो कुछ भी है, वह मुझसे पृथक् है। यह जानने और मानने से ही वास्तविक अमूढ़ता प्रगट होती है। यह हम जान तो कई बार लेते हैं। जब—जब हमारे जीवन में ऐसे प्रसंग घटित होते हैं, उस अवसर पर यह अनुभव होता है कि “हाँ, यह शरीर मेरा नहीं है, शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर नश्वर है, एक दिन नष्ट होगा, औरों के भी शरीर नष्ट हुये हैं, ये भी होगा।” किसी को जब श्मशान पहुँचाते हैं, उस समय श्मशान में विचार आता है कि यह शरीर भी एक दिन वहीं जायेगा। यह श्मशान का वैराग्य क्षणिक ही होता है। यह प्रतीति हर क्षण कहाँ हो पाती है कि शरीर तो श्मशान पहुँचाने के लिये ही है ? इसका अंतिम परिणाम तो वहीं घटित होना है। यह काया जिसे जीवनपर्यंत सजाता—सँवारता रहा हूँ, एक दिन जलकर राख में परिणत होकर समाप्त होने वाली है।

यह अनुभूति, ऐसी प्रतीति ज्ञानी को प्रतिक्षण होती है। वह अपनी दृष्टि शरीर के भीतर, अशरीरी पर ले जाता है और विचार करता है कि जब तक यह विदेह आत्मतत्त्व इस देह में है, तभी तक इस शरीर का कुछ मूल्य है। इस विदेह के निकलते ही इस शरीर की उपयोगिता समाप्त हो जायेगी। तब घर—परिवार के लोग भी इस शरीर को रखना नहीं चाहते। जल्दी—से—जल्दी इसके आखिरी पड़ाव श्मशान पहुँचा देते हैं। जब शरीर ही मेरा नहीं है, तो फिर ये घर—द्वार, कुटुम्ब — परिवार, धन—वैभव ये सब मेरे कैसे हो सकते हैं? ये तो स्पष्टतः पराये ही हैं। मेरे अंदर जो हर्ष—विषाद हो रहा है, जो भाँति—भाँति के विचार उत्पन्न हो रहे हैं, ये भी मेरे नहीं हैं। मेरा स्वभाव तो मात्र जानना और देखना है। यह तथ्य जो जान लेते हैं और अपने स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं, वे ही वास्तविक अमूढ़दृष्टि हैं।

आजकल यह दृष्टि हमारी चर्चा में तो होती है, किन्तु चर्चा में नहीं होती। यह जब तक चर्चा में नहीं आती, तब तक आत्मा के आनंद का अनुभव नहीं होता। यह तीनलोक की संपदा एक ओर हो और सम्यक्त्व दूसरी ओर, तो अमूढ़दृष्टि तीनलोक की संपदा को गौण कर सम्यक्त्व को स्वीकार करता है। आँखों को खोकर तीनलोक का वैभव पा भी लिया, तो क्या? जैसे अंधे को साम्राज्य भी दे दिया जावे, तो क्या अर्थ है? उसके लिये तो अर्थहीन ही है, किन्तु आँखवाला, भिक्षापात्र भी उसके हाथ में हो, तो भी साम्राज्य सुख का अधिकारी बन सकता है। इसी तरह सम्यक्त्व जिसके पास नहीं है, वह सब कुछ होने के बाद भी भिखारी के समान है। परन्तु जिसने सम्यक्त्व की दृष्टि उपलब्ध कर ली है, वह अकिंचन् होते हुये भी सम्राट होता है।

बड़ी मुश्किल होती है जब अंधों के बीच कोई आँखवाला पहुँच जाता है। मेक्सिको सिटी के पास एक घाटी की एक बस्ती में सब अंधे—ही—अंधे रहते थे। वह अंधों की नगरी थी। एक दिन एक आँखवाला व्यक्ति वहाँ पहुँचा। घाटी के प्राकृतिक सुंदर दृश्यों को देख वह रोमांचित हो गया। इतना सुन्दर स्थान उसने पहले नहीं देखा था। पर यह देखकर कि वहाँ सारे लोग ज्योतिहीन हैं, उसका मन करुणा से भर गया। इतने सुन्दर स्थान में रहते हुये भी ये लोग प्रकृति के इस अप्रतिम सौंदर्य से अपरिचित हैं। इन्हें प्रकृति की शोभा से परिचय कराना चाहिए। उसने वहाँ के सब लोगों को एकत्र किया और बताने लगा— ये सुंदर फूल हैं, ये प्यारी हरियाली है, ये आकाश में इन्द्रधनुषी छटा बिखरी है। नेत्रहीन जिसने कभी कुछ देखा ही नहीं, वे क्या जानें हरियाली, क्या समझें इन्द्रधनुष की छटा। सब एकसाथ कहने लगे कि यह सब क्या बकवास कर रहे हो? हमें दिखाओ कि फूल कैसे सुंदर हैं ?

अंधों को फूलों की सुंदरता कैसे दिखायें? वो बोले—“हमें छूकर

दिखाओ, हम स्पर्श से ही जानते हैं।” पेड़ को, पत्तों को तो छूकर बताया, समझाया जा सकता है, किन्तु हरियाली को छूकर कैसे बताया जाये? सुंदर दृश्य को स्पर्श से नहीं बताया जा सकता। वह नहीं बता पाया। सब उसे पागल कहने लगे। सच है— अंधों को आँखवाला पागल ही दिखेगा। सब अंधे कहने लगे “हरियाली, सुंदरता कुछ नहीं है। तुम व्यर्थ का अपना राग अलाप रहे हो। यहाँ से चले जाओ।” वह व्यक्ति तो घाटी के प्राकृतिक सुन्दर दृश्य, मनोरम छटा और सौंदर्य पर मुग्ध था, मोहित था। वह अंधों से प्रार्थना करने लगा कि उसे वहाँ रहने दें। अंधों ने कहा— “तुम यहाँ रह सकते हो। यदि तुम्हें यहाँ रहना हो तो हमारी रीति के अनुसार तुम्हारी आँखें निकाल दी जायेंगी।” अंधे उसकी आँखों के आपरेशन की तैयारी करने लगे।

वह व्यक्ति सोचने लगा—“इन अनुपम प्राकृतिक दृश्यों को देखते रहने की लालसा में ही तो मैं यहाँ रहना चाहता था, पर जब आँख ही नहीं रहेगी, तो फिर देखूँगा कैसे? यदि आँखें रहीं, तो ऐसा सौंदर्य कहीं अन्यत्र भी खोज लूँगा।” वह अपनी आँखें किसी भी कीमत पर गँवाना नहीं चाहता था। अतः जान बचाकर भागा। इसलिये तो कहते हैं— “दृष्टि हो, तो भिखारी भी साम्राज्य प्राप्त कर सकता है और दृष्टिहीन सम्राट भी भिखारी के समान है।”

ऐसी दृष्टि की अमूर्तता जिसके जीवन में आ जाती है, वह संसार के बड़े—से—बड़े प्रलोभन से भी अप्रभावित रहता है। अपने को जिसने जान लिया, वह पर से प्रभावित नहीं होता। अज्ञान के रहने तक मोह और प्रलोभन का प्रभाव होता है। आँखें खुलीं, अज्ञान मिटा, फिर मोह का प्रभाव नहीं रहता।

आचार्य समंतभद्र स्वामी ने तीन प्रकार की मूर्तताओं का उल्लेख किया है— एक लोकमूर्तता, दूसरी देवमूर्तता और तीसरी गुरुमूर्तता। सम्यग्दृष्टि इन तीनों मूर्तताओं से रहित होता है।

लोकमूढ़ता— इस लोक में धर्म के नाम पर बहुत—सी रूढ़ियाँ चली आ रही हैं, जिनका धर्म से किंचित् भी संबंध नहीं है। जैसे जल में स्नान करने से सारे पाप धुल जायेंगे। कैसी विचित्र बात है? आत्मा अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है और जल मूर्त पदार्थ है, अब आत्मा को जल से कैसे धोया जा सकता है? लोग कहते हैं— “यह जल बहुत पवित्र है। इसमें स्नान करने से पवित्र हो जायेंगे, सारे पाप धुल जायेंगे।” यदि ऐसा है, तो उस पानी में रहनेवाले समस्त जीवों के पाप तो बचना ही नहीं चाहिये ? उन्हें निष्पाप हो जाना चाहिए ? तो फिर उन्हें भगवान् की मूर्तियों के स्थान पर वेदियों पर बिठा देना चाहिये? कैसी मूढ़दृष्टि है यह?

शीतल शुद्ध जल में स्नान करने से शरीर का ताप तो मिट सकता है, शरीर का मैल दूर हो सकता है, किन्तु आत्मा में निर्मलता तो ज्ञानरूपी जल में स्नान से ही आयेगी। कुछ लोग यहाँ शंका करते हैं— तो क्या स्नान बन्द कर दें?’ जल में स्नान बन्द करने को नहीं कहा जा रहा है। गृहस्थ के लिये शरीर की बाह्य स्वच्छता के लिये स्नान करना जरूरी है, पर जल में स्नान करने से धर्म होता है, पाप धुल जाते हैं, यह मानना छोड़ दो। यह मूढ़ता है, अज्ञानता है। सागर—स्नान, सरिता—सरोवर—स्नान, कुंड—स्नान और भी न जाने कितनी और कैसी पूजा की रूढ़ियाँ बनी हुई हैं। ये लोकमूढ़ता है।

कोई आदमी जब आर्थिक संकट में होता है, परिवार में कोई असाध्य बीमारी से परेशान होता है या अन्य कोई विषम परिस्थिति आ जाती है, तब इससे छुटकारा पाने वह “येन—केन—प्रकारेण” कहीं भी जाता है। जहाँ भी बता दिया जाये, भटकता है। वीतराग भगवान् के मंदिर जाकर भी लोग कामना करते हैं— ‘भगवन्! अमुक कार्य यदि हो जायेगा, तो सोने का छत्र चढ़ायेंगे। अमुक पर चाँदी का छत्र चढ़ायेंगे।’ यह तो रिश्वत देना है। क्या कोई सच्चा ईमानदार अधिकारी रिश्वत लेता है? भगवान् जो तीनलोक के स्वामी हैं, उच्चतम अधिकारी हैं, वे कैसे रिश्वत स्वीकार

करेंगे?

भीड़ जो करती आ रही है, लोकलाज के लिये मूढ़ जन उसे दुहराते जाते हैं और इसे धर्म की संज्ञा देते हैं। भीतर एक भय बना है। सम्यक्त्व का पथ निर्भीक पुरुषों का पथ है।

जैनदर्शन में मानव को देवताओं से श्रेष्ठ स्थान दिया है, क्योंकि जो विषय-विकार मानव में हैं, वे देवों में भी होते हैं, कदाचित् अधिक ही हों। जैनदर्शन में विषयानुरागी देव भी आराध्य नहीं है, चाहे वह कोई भी देव हों। इस प्रकार के देवता की उपासना करना “देवमूढ़ता” है। वह देव तो तुम्हारा कुछ भी कल्याण कर ही नहीं सकता। यदि करने में सक्षम भी हों तो अनेकजन उसकी उपासना कर रहे हैं, वह किस-किसकी इच्छा पूर्ण करेगा?

धन, पद, जलवृष्टि, बीमारी आदि के निवारण हेतु नदी, वृक्ष, इन्द्र आदि अनेक प्रकार के देवी-देवताओं की पूजा चलती है। देवी-देवता स्वर्ग में मनुष्य से अधिक सुखी होंगे, लेकिन आकांक्षा रहित नहीं हैं। ध्यान रखना, जो स्वयं आकांक्षारहित नहीं है, वह दूसरों की आकांक्षा की पूर्ति का हेतु नहीं बन सकता।

तीन आदमी थे। एक दूसरे के दुश्मन, घोर विरोधी। तीनों अपनी मनोकामना पूरी करने के लिये एक देव की आराधना करने लगे। कड़ी साधना की। देव उनके तप से प्रसन्न हो गया। देव पहले के पास प्रगट हुआ, कहा— “मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ। माँगो, क्या वर चाहिये?” वह बोला— “बस, इतनी कृपा करें कि सामने मेरा विरोधी रहता है, उसका विनाश कर दें।” देव अब दूसरे के पास पहुँचे, उससे वर माँगने को कहा। वह बोला— “भगवन्! मेरी तो एक ही कामना है कि मेरे सामने जो रहता है, उसका अंत हो जाए।” देव अब तीसरे के पास गया, उससे भी वर माँगने को कहा। वह बोला, “बस, भगवन्! उन दोनों की इच्छायें पूरी कर

दो।”

देव से कामना करने की अज्ञानता सम्यग्दृष्टि में नहीं होती। उसे ज्ञान है कि अच्छी या बुरी जैसी भी परिस्थिति बनी है, संयोग प्राप्त हुआ है, वह स्वयं के कर्मों से प्राप्त हुआ है। यह संयोग तब टलेगा, जब कर्म कटेंगे।

“भगवान् न किसी पर नाराज होते हैं, न किसी पर प्रसन्न होते हैं। सच्चे भगवान् तो वो हैं, जो न तो निंदा से अप्रसन्न होते हैं, न ही पूजा-भक्ति से प्रसन्न। वे सभी परिस्थितियों में तटस्थ भाव रखते हैं। उसे जानने की कोशिश करो। वह भगवान् तुम्हारे अंतर में विराजमान है।” सम्यग्दृष्टि किसी तरह की मूढ़ता जीवन में नहीं आने देता। कुदेवों की नहीं, स्वयं में विराजित दिव्यत्व की पूजा करो।

तीसरी है गुरुमूढ़ता। मिथ्यावादी, तंत्र-मंत्र, कान फूँकनेवाले चमत्कारों, सम्मोहन आदि विद्या से युक्त व्यक्तियों को गुरु बनाने की मूढ़ता में व्यक्ति स्वचेतना की गरिमा से वंचित हो जाता है। जिन्हें कुछ भी नहीं मिला, जिन्होंने कुछ नहीं जाना, कुछ भी नहीं पाया, उनके समक्ष भिखारी बन कर खड़े होने से बड़ी मूढ़ता क्या हो सकती है? गुरु की खोज में देखना होगा कि जिसे तुम गुरु बना रहे हो या मान बैठे हो, वह तुमसे श्रेष्ठ है भी या नहीं।

इस भरतक्षेत्र में विजयार्ध पर्वत है। उस पर विद्याधर मनुष्य रहते हैं। उन विद्याधरों के राजा चन्द्रप्रभ का चित्त संसार से विरक्त हुआ और वे राज्य का कार्यभार अपने पुत्र को सौंप कर तीर्थयात्रा करने निकल पड़े। वे कुछ समय दक्षिण देश में रहे। दक्षिण देश के प्रसिद्ध तीर्थों के और रत्नों के जिनबिम्बों का दर्शन करके उन्हें बहुत आनन्द हुआ। दक्षिण देश में उस समय गुप्ताचार्य नाम के महान् मुनिराज विराजमान थे। वे विशेष ज्ञान के धारक थे और मोक्षमार्ग का उत्तम उपदेश देते थे। चन्द्रप्रभ

राजा ने कुछ दिन वहाँ मुनिराज का उपदेश सुना और भक्ति पूर्वक उनकी सेवा की और उनके समीप क्षुल्लक हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने मथुरा नगरी की यात्रा पर जाने का विचार किया, क्योंकि वहाँ से जम्बूस्वामी ने मोक्ष पाया था और उस समय अनेक मुनिराज वहाँ विराजमान थे। उनमें भव्यसेन नाम के एक मुनि बहुत ही प्रसिद्ध थे। उस समय मथुरा में वरुण राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम था रेवती।

एक समय उन क्षुल्लक जी ने मथुरा जाने की अपनी इच्छा गुप्ताचार्य के सामने प्रगट की और आज्ञा माँगी तथा वहाँ विद्यमान संघ के लिए कोई सन्देश देने के संबंध में पूछा। उस पर आचार्य श्री ने सम्यक्त्व की दृढ़ता का उपदेश देते हुये कहा— “आत्मा का सच्चा स्वरूप समझने वाला जीव वीतराग अरहन्त देव के अलावा अन्य किसी को भी देव नहीं मानता है। जो देव नहीं है, उसे देव मानना देवमूढ़ता है— ऐसी मूढ़ता धर्मी को नहीं होती। मिथ्यामत के देवादिक बाहर से देखने में कितने भी सुंदर दिखते हों, ब्रह्मा, विष्णु या शंकर भले कोई भी हों, परन्तु धर्मी जीव उनके प्रति आकर्षित नहीं होते। मथुरा की राजरानी रेवती देवी अभी सम्यक्त्व की धारक है, जिनधर्म की श्रद्धा में वह बहुत ही दृढ़ है। उसे धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहना तथा वहाँ विराजमान सुरत मुनि को, जिनका चित्त रत्नत्रय में रत है— उन्हें वात्सल्यपूर्वक नमस्कार कहना।”

इस प्रकार आचार्यभगवान् ने सुरत मुनिराज को तथा रेवती रानी के लिए संदेश कहा, परन्तु भव्यसेन मुनि को तो याद भी नहीं किया। इस पर क्षुल्लक जी को बहुत आश्चर्य हुआ, फिर भी आचार्य महाराज को याद दिलाने के उद्देश्य से पूछा— “क्या और किसी को कुछ कहना है? परन्तु आचार्य श्री ने इस पर विशेष कुछ नहीं कहा। क्षुल्लक जी को ऐसा लगा— “क्या आचार्यदेव भव्यसेन मुनि को भूल गये हैं? नहीं, नहीं। वे तो भूलेंगे नहीं। वे तो विशेष ज्ञान के धारक हैं, इसलिए उनकी इस आज्ञा

में अवश्य कोई रहस्य होगा। ठीक है, जो होगा वह प्रत्यक्ष दिखेगा।”

मन—ही—मन में ऐसा समाधान करके क्षुल्लक जी ने आचार्यदेव के चरणों में नमस्कार किया और वे मथुरा की तरफ निकल पड़े।

मथुरा में आते ही प्रथम उन्होंने सुरत मुनिराज के दर्शन किये। वे बहुत ही शान्त और रत्नत्रय का पालन करने वाले थे। क्षुल्लक जी ने उन्हें नमस्कार किया और उन्हें गुप्ताचार्य का सन्देश कहा।

क्षुल्लक जी की बात सुनकर सुरत मुनिराज ने प्रसन्नता व्यक्त की और स्वयं भी विनयपूर्वक हाथ जोड़कर श्री गुप्ताचार्य के प्रति परोक्ष नमस्कार किया। मुनिवरों का एक—दूसरे के प्रति ऐसा वात्सल्य भाव देखकर क्षुल्लक जी बहुत प्रसन्न हुए। शास्त्र में सच ही कहा है—

ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः।

सधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले॥

अहो! जो भव्यजीव धर्म से प्रीति होने के कारण साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य करते हैं, उनका जन्म जगत में सफल है।

प्रसन्नचित्त से भावपूर्वक बारम्बार मुनिराज को नमस्कार करके क्षुल्लक जी वहाँ से निकले और भव्यसेन मुनिराज के पास आये। उन्हें बहुत शास्त्रज्ञान था और लोगों में वे बहुत प्रसिद्ध थे। क्षुल्लक जी उनके साथ थोड़े समय रहे, परन्तु उन मुनिराज ने न तो आचार्यसंघ का कोई समाचार पूछा और न कोई उत्तम धर्मचर्चा की। मुनि के योग्य आचार—व्यवहार भी उनका नहीं था। यद्यपि वे शास्त्र पढ़ते थे, फिर भी शास्त्रानुसार उनका आचरण नहीं था। मुनिराजों को नहीं करने योग्य प्रवृत्ति वे करते थे। यह सब अपनी आँखों से देखकर क्षुल्लक जी की समझ में आ गया— “ये भव्यसेन मुनि चाहे जितने प्रसिद्ध हों, परन्तु वे सच्चे मुनि नहीं हैं, तो फिर गुप्ताचार्य उन्हें क्यों याद करेंगे?

इस प्रकार क्षुल्लक जी ने सुरत मुनि और भव्यसेन मुनि की स्वयं आँखों से देखकर परीक्षा की। रेवती रानी को भी आचार्य महाराज ने

धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहा है, इसलिए इनकी भी परीक्षा करनी चाहिए—
ऐसा मन में विचार आया।

अगले दिन मथुरा नगरी के उद्यान में अकस्मात् साक्षात् ब्रह्मा प्रगट हुए। इस सृष्टि के कर्त्ता ब्रह्माजी साक्षात् आये हैं। वे कह रहे हैं— “मैं इस सृष्टि का कर्त्ता हूँ और दर्शन देने के लिए आया हूँ।” यह बात नगरजनों में फैल गई। नगरजनों की टोलियाँ उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ीं और उन्हें गाँव में लाने की चर्चा हुई।

मूढ़ लोगों का तो क्या कहना? बहुभाग लोग इन ब्रह्माजी के दर्शन करने आये। जैसे—ही राजा ने साक्षात् ब्रह्मा की बात की, वैसे ही महारानी रेव ने निःशंकपने कहा— ‘महाराज! ये कोई ब्रह्मा हो ही नहीं सकते। किसी मायाचारी ने इन्द्रजाल खड़ा किया है। क्योंकि कोई ब्रह्मा या कोई इस सृष्टि का कर्त्ता है ही नहीं। भरतक्षेत्र में भगवान् ऋषभदेव ने इस युग में सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का प्रवर्तन किया, इसलिए उन्हें आदिब्रह्मा कहते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई ब्रह्मा है ही नहीं, कि जिसे मैं वन्दन करूँ।’

दूसरे दिन मथुरा नगरी में एक अन्य दरवाजे से नागशय्या पर विराजमान विष्णु भगवान् प्रगट हुए, जिन्होंने अनेक अलंकार पहने हुए थे और उनके चारों हाथों में शस्त्र थे। लोगों में फिर हलचल मच गई। लोग बिना कोई विचार किये पुनः उस तरफ भागे। वे कहने लगे— “अहा! मथुरा नगरी का महाभाग्य खुल गया है जो कि कल साक्षात् ब्रह्मा ने दर्शन दिये और आज विष्णु भगवान् पधारे हैं।”

राजा को ऐसा लगा कि आज तो रानी अवश्य जायेगी, इसलिए उन्होंने स्वयं रानी से बात की, परन्तु रेवती जिसका नाम था, जो वीतराग देव की शरण में समर्पित थी, उसका मन जरा भी डिगा नहीं।

“श्री कृष्ण आदि नौ विष्णु (वासुदेव) होते हैं और वे तो चौथे काल में हो चुके, दसवाँ विष्णु या नारायण होता नहीं। इसलिए अवश्य ये सब

बनावटी है, क्योंकि जिनवाणी मिथ्या नहीं होती।” इस प्रकार जिनवाणी की दृढ़ श्रद्धापूर्वक अमूढ़दृष्टि अंग से वह जरा भी विचलित नहीं हुई।

तीसरे दिन वहाँ नई बात हुई। ब्रह्मा और विष्णु के बाद आज तो पार्वती सहित जटाधारी महादेव शंकर प्रगट हुए। गाँव के बहुत लोग उनके दर्शन करने चल दिये। कोई भक्ति से गया तो कोई कौतुहल से गया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वीतराग देव बसे हैं— ऐसी रेवती रानी पर तो कुछ भी असर नहीं हुआ, उसे कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ। उल्टे उसे तो लोगों पर दया आई। रेवती रानी सोचने लगी— “अरे रे! परम वीतराग सर्वज्ञदेव, मोक्षमार्ग को दिखाने वाले भगवान् को भूल कर मूढ़ता से लोग इन्द्रजाल में कैसे फँस रहे हैं ? सच में, भगवान् अरहन्तदेव का मार्ग प्राप्त होना जीवों को बहुत दुर्लभ है।”

अहो आश्चर्य! अब चौथे दिन तो मथुरा के विशाल प्रांगण में साक्षात् तीर्थंकर भगवान् प्रगट हुए। अद्भुत समवसरण की रचना, गंधकुटी जैसा दृश्य और उसमें चतुर्मुख सहित विराजमान तीर्थंकर भगवान् लोग फिर दर्शन करने दौड़े।

राजा ने सोचा— इस बार तो तीर्थंकर भगवान् आये हैं, इसलिए रेवती रानी अवश्य जायेगी। परन्तु रेवती रानी ने कहा— “हे महाराज! अभी इस पंचमकाल में तीर्थंकर कैसे? भगवान् ने इस भरतक्षेत्र में एक कालखण्ड में चौबीस तीर्थंकर होने का ही विधान कहा है और वे आदिनाथ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर मोक्ष चले गये हैं। यह पच्चीसवाँ तीर्थंकर कैसा? यह तो कोई कपटी का मायाजाल है। मूढ़ लोग देव के स्वरूप का विचार किये बिना ही एक के पीछे एक दौड़े चले जा रहे हैं।”

बस, परीक्षा हो चुकी। क्षुल्लक जी को निश्चय हो गया कि रेवती रानी की जो प्रशंसा श्री गुप्ताचार्य ने की थी, वह यथार्थ ही है। यह तो सम्यक्त्व के सर्व अंगों से शोभायमान है।

क्या पवन से कभी मेरु हिलता है? नहीं। उस सम्यग्दर्शन में मेरु जैसा अकम्प सम्यग्दृष्टि जीव कुधर्म—पवन से जरा भी डिगता नहीं। देव—गुरु—धर्म सम्बन्धी मूढ़ता उसे होती नहीं। उनकी उचित पहिचान करके सच्चे वीतरागी देव—गुरु—धर्म को ही वह नमन करता है।

रेवती रानी की ऐसी दृढ़ धर्म—श्रद्धा देखकर क्षुल्लक जी को बहुत प्रसन्नता हुई, तब अपने असली स्वरूप में प्रगट होकर उसने कहा— “हे माता! क्षमा करो। चार दिन से इन ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि का इन्द्रजाल मैंने ही खड़ा किया था। पूज्य श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा की थी, इसलिए आपकी परीक्षा करने के लिए मैंने यह सब किया था। अहा! धन्य है आपके श्रद्धान को, धन्य है आपके अमूढ़दृष्टि अंग को। हे माता! आपके सम्यक्त्व की प्रशंसापूर्वक श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके लिए धर्मवृद्धि का आशीर्वाद भेजा है।”

अहो! मुनिराज के आशीर्वाद की बात सुनते ही रेवती रानी को अपार हर्ष हुआ। हर्ष से गद्गद् होकर उन्होंने यह आशीर्वाद स्वीकार किया और जिस दिशा में मुनिराज विराजित थे उस तरफ सात कदम चल कर मस्तक नवा कर उन मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया। विद्याधर राजा ने रेवती माता का बहुत सम्मान किया और उनकी प्रशंसा करके सम्पूर्ण मथुरा नगरी में उनकी महिमा फैला दी। राजमाता की ऐसी दृढ़ श्रद्धा और जिनमार्ग की ऐसी महिमा देख कर मथुरा नगरी के कितने ही जीव कुमार्ग छोड़ कर जिनधर्म के भक्त बन गये और बहुत से जीवों की श्रद्धा दृढ़ हो गई। इस प्रकार जैनधर्म की महान प्रभावना हुई।

सम्यग्दृष्टि सच्चे देव—शास्त्र—गुरु को छोड़कर अन्य कुदेवादि को नमस्कार नहीं करता। यदि उसके सामने एक हजार सिर वाला कोई यक्ष खड़ा हो जाये और कहे कि आप मुझे नमस्कार करिये, अन्यथा मैं आपको मार डालूँगा, आपका भक्षण कर लूँगा, तब वह सम्यग्दृष्टि कहता है ‘मृत्यु

तो निश्चित है, एक—न—एक दिन तो होना ही है। यदि मृत्यु होगी तो पुनः जन्म मिल जायेगा, परन्तु यदि सम्यक्त्व चला गया तो पुनः मिलना कठिन है। अतः मैं मृत्यु को वरण करूँगा, परन्तु आपको नमस्कार नहीं करूँगा। आचार्य समंतभद्रस्वामी ने लिखा है—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।

प्रणामं विनयं चैव न कुर्यः शुद्धदृष्टयः॥३०॥ र.क.श्रा.॥

शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय से, आशा से, राग से, स्नेह से और लोभ के वश होकर वीतरागी देव—शास्त्र—गुरु को छोड़कर अन्य कुदेवादि को नमस्कार नहीं करता।

भारत के सम्राट का एक नौकर बहुत ईमानदारी से काम करता था। उसके लिये सम्राट ने प्रसन्न होकर अपनी पगड़ी उतारकर दे दी। वह नौकर पगड़ी को लेकर घर आ गया। कुछ समय पश्चात् वह नौकर विदेश में अन्य राजा के यहाँ जाकर नौकरी करने लगा। विभिन्न देशों की परम्परा भिन्न—भिन्न होती है। जिस देश में वह नौकर गया था, वहाँ राजसभा में प्रवेश करता है। उसने अपनी पगड़ी उतारकर हाथ में ले ली, फिर राजा को नमस्कार किया। राजा आग—बबूला हो गया और बोला—‘तुमने राजसभा की गरिमा को समाप्त कर दिया। तुमने बंधी पगड़ी को उतारकर नमस्कार करने की हिम्मत कैसे की?’ नौकर खड़ा होकर कहता है— राजन्! मैं आपका सेवक हूँ, परन्तु ये पगड़ी आपकी नौकर नहीं है। मुझे क्षमा करना, मुझे अभयदान दो। ये भारत देश के सम्राट की पगड़ी है, यह पगड़ी आपके चरणों में नहीं झुकेंगी। मैं आपका सेवक हूँ, मैं आपके चरणों में झुक सकता हूँ, परन्तु यदि मेरी पगड़ी झुक जायेगी तो मेरा भारत देश झुक जायेगा। मैं अपने देश को सेवक के रूप में नहीं देख सकता। राजा यह सुनकर दंग रह गया। इतनी देशभक्ति कि सिर झुका लिया, परन्तु पगड़ी नहीं झुकने दी।

अपने सिर को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अलावा और कहीं भी नहीं झुकाना चाहिये। विचार करो, जब आप किसी चबूतरे के चक्कर काटने जाते हो, वहाँ किसी ने आपसे पूछ लिया— भैया! कहाँ से आये हो? कौन हो? आपने कहा— ‘मैं जैन हूँ।’ अहो! आपने भगवान् अरहंतदेव की श्रद्धा कहाँ पटक दी? एक नौकर ने अपने देश की पगड़ी को नहीं झुकने दिया और एक आप हो जो अरहंतदेव के भक्त होकर इस सिर को कहाँ-कहाँ टेकने पहुँच जाते हो। ध्यान रखना, सम्यग्दृष्टि सभी मूढ़ताओं से दूर रहता है।

एक सज्जन ने आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज से पूछा— “क्या सम्यक्त्व में सुख की व्याप्ति है? सम्यक्त्व को इतना महत्व क्यों दिया जाता है?” उन्होंने कहा— “सम्यक्त्व में सुख की व्याप्ति नहीं हो सकती। हाँ सम्यक्त्व के साथ जो प्रयास जुड़ा हुआ है, उसमें सुख की व्याप्ति है। सम्यक्त्व होने पर सुख का विश्वास हो जाता है। अतः सम्यक्त्व का बड़ा महत्व है।”

एक व्यक्ति मरुस्थल में फँसा हुआ है। प्यास के कारण बेचेन है। कहीं पानी के दर्शन नहीं। एक व्यक्ति उसके हाथों में एक लोटा थमा देता है। उस प्यासे की आँखें खुली हुई हैं। झाँककर देखता है, लोटे में पानी तो है, किन्तु जहर मिश्रित है। पीकर तृप्ति तो मिलेगी, किन्तु आपत्ति आ जायेगी। वह आदमी मना कर देता है, क्योंकि पदार्थ तरल दिखता है, किन्तु भिन्न है। “मैं नहीं पिऊँगा” वह आदमी कह देता है। थोड़ा आगे चलता है। सोचता है कहीं छायादार पेड़ मिल जाये तो थोड़ा विश्राम कर लूँ।” आगे चलकर फिर एक आदमी मिलता है। कंधे पर हाथ रखकर कहता है “चिंता न करो, दो कि.मी. और, फिर एक बहुत अच्छा सरोवर है। खूब जल पीना।” उस प्यासे पथिक को विश्वास हो गया पानी मिलने का। एक चित्र खिंच गया आँखों के सामने। विश्वास हो गया सुख का,

किन्तु तृप्ति का सुख तो मिलेगा जल पीकर ही। सुख तो सम्यक्चारित्र के साथ जुड़ा हुआ है। अनुभव में सुख है। उस प्यासे पथिक को जो पहला आदमी मिला था, वह प्राणघातक था। ऐसे लोग होते हैं कापथस्थ, जो संसारमार्ग में प्रवृत्त कराते हैं।

क्या हमें माता—पिता की बात मानना चाहिये? क्या भगवान् महावीर ने अपने माता—पिता की बात मानी? त्रिशला माँ की आकांक्षा हुई कि पुत्र मुझे सासू बना दे, किन्तु पुत्र ने कहा, “नहीं। माँ ही रखूँगा, सासू नहीं बनाऊँगा।” माता—पिता की बात मानना सांसारिक व्यवस्था तो ठीक है, किन्तु जहाँ पुत्र अलौकिक सुख की खोज करना चाहता हो, जहाँ वह आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हो, वहाँ संसार—मग्न माता—पिता की आज्ञा नहीं मानना। सामाजिक व्यवस्थाओं में माता—पिता का महत्व हो सकता है, किन्तु पारमार्थिक क्षेत्र में उनका कोई महत्व नहीं है। ऐसे लोग जो “कापथस्थ” हैं, उन की सेवा न करें, ऐसे लोगों के विषय में सम्मति न दें और इनका कीर्तन न करें। संसारमार्ग में स्थित सभी लोग “कापथस्थ” हैं। इनसे बचो, इनके कीर्तन से बचो, इनको साथ लेकर न चलो। यही अमूढदृष्टि है।

जिस प्रकार किंपाक फल दिखने में सुंदर दिखता है, परन्तु भक्षण करने के बाद प्राणों को हरण करने वाला है, उसी प्रकार बाह्य में मनोज्ञ प्रतीत होने वाले मिथ्या धर्म अंत में मोह, क्लेश को देने वाले हैं। मिथ्यादृष्टियों के ज्ञानादि की प्रशंसा को छोड़कर अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञान से अबाधित जिनेन्द्र—कथित धर्म में रुचि होना ‘अमूढदृष्टि’ अंग है।

सम्यग्दृष्टि अमूढ (ज्ञानी) होता है, उसे स्व व पर में भ्रम नहीं होता। वह शरीर, स्त्री, पुत्र आदि को अपना कहता हुआ भी जानता है कि मैं तो चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ, ये पर—पदार्थ कभी भी मेरे नहीं हो सकते। वह मन, वचन व काय से लौकिक व्यवहार चलाता है, परन्तु उसका मन सदा चेतना से ही जुड़ा रहता है। वह संसार को नाटकवत् देखता है। नाटक

में जिस समय अभिनेतागण अभिनय कर रहे हैं, उसी समय वे स्वयं अपने उस अभिनय के दर्शक भी होते हैं। अभिनय करते हुये भी वे लगातार यह जान रहे हैं कि यह तो अभिनय है। वहाँ भी दो धारायें एक—साथ चल रही हैं। हम कह सकते हैं कि वे रोते हुये भी रोते नहीं हैं और हँसते हुये भी हँसते नहीं हैं। चाहे गरीब का अभिनय कर रहे हों, चाहे करोड़पति का, दर्शकों को अपनी उस भूमिका के दुःख—सुख को दिखाते हुये भी वे वास्तव में दुःखी—सुखी नहीं होते, क्योंकि अपने असली रूप का उन्हें ज्ञान है। अभिनय करते हुये भी निरन्तर अपनी असलियत उन्हें याद है। उसे वे भूले नहीं हैं, भूल सकते भी नहीं हैं। और यदि उन्हें कहा जाय कि तुम जिसका अभिनय कर रहे हो, उस रूप ही अपने आपको वास्तव में देखने लगे, तो वे यही उत्तर देंगे कि यह तो नितान्त असम्भव है, किसी हालत में भी यह नहीं हो सकता, क्योंकि मुझे अपने मूल स्वरूप का ज्ञान है। अमिताभ बच्चन पिक्चर में किसी भिखारी का रोल कर रहा हो और कोई उससे कहे कि तुम अपने को भिखारी ही समझो, तो वह कहेगा कि यह कभी भी संभव नहीं है, क्योंकि मुझे मालूम है कि मैं अरबपति अमिताभ बच्चन हूँ, भिखारी नहीं हूँ।

यही स्थिति उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की है। उसे परद्रव्यों से भिन्न अपने असली स्वरूप का दृढ़ श्रद्धान व ज्ञान हुआ है, अतः शेष सब नाटक दिखने लगा। अभी उसे अभिनय करना पड़ रहा है, क्योंकि अभी वह स्व में ठहरने में असमर्थ है। परन्तु इस समस्त अभिनय के बीच वह जान रहा है कि इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। उपयोग चाहे उसका बाहर जाये, परन्तु भीतर श्रद्धा यही रहती है कि मैं पर से भिन्न अकेला शुद्ध चेतन हूँ। यदि उससे यह कहा जाये कि तू इस शरीर को या कर्म को अपने रूप देख, तो वह कहेगा—कैसे देखूँ ? जब मैं उन रूप हूँ ही नहीं, तो उस रूप स्वयं को देखना तो सर्वथा असम्भव ही है। मैं तो अब अपने को अपने रूप

ही देख सकता हूँ।

जिस प्रकार नाटक के बाद अभिनेता अपने अभिनय के वेश को उतारकर अपने असलीरूप में आ जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी सारा दिन संसार का नाटक करके सामायिक के समय अपने सांसारिक वेश को उतारकर समस्त परद्रव्यों से भिन्न अपने असली आत्मस्वरूप का चिंतन, मनन व ध्यान करता है।

सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा जिनमार्ग में सुमेरु पर्वत की तरह अचल रहती है। उसके मन में एक ही धारणा होती है कि जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा बताया गया धर्म ही मुक्ति को प्रदान करने वाला है, दुःखों से निकालने वाला है, आत्मा के लिये हितकारक है, बाकी सभी धर्म संसार—परिभ्रमण के कारण हैं। मिथ्याधर्म सुखमार्ग के कंटक हैं, भ्रमजाल में फँसानेवाले हैं। जो मनुष्य वीतराग धर्म को पाकर भी अन्य धर्म को स्वीकार करता है, वह जड़बुद्धि का धारक जीव महल में लगे कल्पवृक्ष को उखाड़कर धतूरे के पेड़ को बोता है। चिन्तामणि रत्न को दूर फेंककर काँच का टुकड़ा स्वीकार करता है। पर्वत सदृश ऊँचे हाथी को बेचकर गधे को खरीदता है। जो मिथ्यादृष्टि जीव सर्वधर्म समन्वय भावों को लेकर जैनधर्म की समानता अन्य धर्मों के साथ करता है, वह अमृत को विष तुल्य, चिन्तामणि रत्न को पत्थर के समान समझता है। सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्याधर्म की न श्रद्धा करता है, न स्वीकारता है, न तदनुकूल आचरण करता है, बल्कि उसे हेय मानकर छोड़ देता है। मूढ़ता को छोड़कर, दम्भी लोगों के आडम्बर को स्वीकार न करना, मूढ़ लोगों की बातों की प्रशंसा न करना, कृत—कारित—अनुमोदना न करना तथा उनके बहकाने में कदापि न आना, यह अमूढ़दृष्टि अंग है।

उपगूहन अंग

अपने गुणों की प्रशंसा न करना, दूसरों की निंदा न करना, साधर्मि में कोई दोष लग जाए तो उसे ढँकना और उस दोष को दूर करने का प्रयत्न करना तथा गुणों में वृद्धि हो ऐसा उपाय करना, सम्यग्दृष्टि का उपगूहन अथवा उपवृंहण अंग है।

उपगूहन अंग का पालन करने वाला जीव कभी किसी की कमी नहीं देखता है, न कमी खोजता है। वह न किसी की बुराई करता है, न बुराई सुनता है। वह मात्र स्वयं के चित्त के दर्पण को माँजता है, घिसता है, स्वच्छ करता है और स्वयं के परमात्मा के प्रतिबिम्ब को उभारता है। जब चित्त साफ हो जाता है, तो पर के दुष्कृत्य नजर भी नहीं आते, बुराइयाँ दिखती ही नहीं हैं। मात्र अच्छाइयाँ—ही—अच्छाइयाँ नजर आती हैं।

हम कभी भी दूसरों के दोष न देखें और न कहें। दोषों से सदा दूर रहना चाहिये। एक बार किसी व्यक्ति ने लुकमान हकीम से पूछा कि आपने तमीज कहाँ से सीखी? उन्होंने जवाब दिया 'बदतमीजों से।' वह व्यक्ति आश्चर्य से बोला 'वह कैसे?' उन्होंने जवाब दिया कि मैंने बदतमीजों की प्रवृत्ति देखी और उसने परहेज किया। इसका परिणाम निकला कि मैंने तमीज सीख ली।

हमें कभी भी दूसरों के अवगुणों को नहीं देखना चाहिये। हमारी दृष्टि गुण ग्रहण की रहना चाहिये। "गुण—ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे।"

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है—“चाहे कितनी ही ऊँची अट्टालिका हो या गरीब की छोटी-सी झोपड़ी, कम-से-कम उसमें प्रवेश करने का एक द्वार तो जरूर ही होगा। इसी प्रकार कोई कितना भी अवगुणी हो, उसमें एक-न-एक गुण तो अवश्य होगा।

धर्मात्मा कभी भी दूसरों के दोषों को और अपने गुणों को नहीं कहता। धर्मात्मा को ‘मेरे गुण जगत में प्रसिद्ध हों, मेरी पूजा हो’ ऐसी भावना नहीं होती तथा किसी साधर्मी के दोष प्रसिद्ध करके उसे हल्का दिखाने की भावना नहीं होती, परन्तु धर्म की वृद्धि कैसे हो— यही भावना रहती है। जैसे माता को अपना पुत्र प्यारा है, अतः वह उसकी निन्दा नहीं सह सकती, इसलिये उसके दोष छिपाकर गुण प्रगट करना चाहती है, वैसे ही साधर्मी जीव को अपना रत्नत्रय धर्म प्यारा है, अतः वह रत्नत्रय मार्ग की निन्दा को सह नहीं सकता, इसलिये वह ऐसा उपाय करता है कि जिससे धर्म की निन्दा दूर हो और धर्म की महिमा प्रसिद्ध हो। सम्यग्दृष्टि गुणग्राही होता है। वह अपने गुणों और दूसरों के दोषों को छिपाता है। वह अपनी निन्दा करता है और दूसरों की प्रशंसा।

आचार्यश्री ने लिखा है— “दोषों की ओर दृष्टि होने से पर में स्थित श्रेष्ठगुण भी दृष्टिगोचर नहीं होते तथा गुणों की ओर दृष्टि होने पर दोष दिखना संभव नहीं है। अतएव पर में स्थित दोषों का नहीं, बल्कि गुणों का अवलोकन करके अपने में स्थित दोषों की शुद्धि करना ही सफलता है।”

उपगूहन के विषय में कहा गया है— “निज गुण औ पर औगुन ढाँके।” उपगूहन की उपलब्धि के लिये अपने गुणों का प्रचार करना, उनको प्रकट करना बंद करो तथा दूसरों के अवगुणों को ढाँको, उनके गुण प्रगट करना प्रारंभ करो। अपने ही गुणों का बखान करना तो स्वयं के विकास की राह अवरुद्ध करना है। अपने गुणों को प्रचारित करने वालों को अहंकार हो जाता है कि उन्हें सब ज्ञान है। अहंकार की उत्पत्ति पतन

के मार्ग की शुरुआत है। तभी तो कहा— “निज गुण ढाँको।”

अपने गुणों को प्रच्छन्न रखना तभी संभव है, जब व्यक्ति अपने दोष देखने का यत्न करे। जो अपने अवगुणों पर दृष्टि रखता है, वह अपने गुणों का बखान नहीं करता। उसे अभी क्या और सुधार करना है, इसका ध्यान रहता है। सम्यग्दृष्टि अपनी उपलब्धियों को नहीं गिनता। उसका ध्यान अपनी कमजोरियों पर रहता है। वह उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। सम्यग्दृष्टि यह नहीं कहता कि मैं कितना आगे बढ़ चुका, वह तो यह देखता कि अभी आगे और कितना बढ़ना है। दो चार कदम चलकर उसे प्रचारित करनेवाले सही प्रगति नहीं कर पाते। वे अपनी उपलब्धियों के अहंकार में डूबे रहते हैं। उनका यह अहंकार ही उनके विकास का अवरोधक बन जाता है, किन्तु जिन्हें अपने ध्येय का ध्यान रहता है, वे एक—एक कदम चलकर अपनी दूरी को समाप्त कर लेते हैं। इसी भाँति सम्यग्दृष्टि यह नहीं गिनता कि कितने गुण आ गये। वह यह गिनता है कि कितने अवगुणों से अभी मुक्त होना है। जब तक एक भी अवगुण शेष है, गुणी नहीं हूँ— यह आत्म—परिणति सतत बनी रहती है। तभी तो कहा है— अपने अवगुण, अपने दोष देखो। उन्हें दूर करने के लिए दूसरों के गुणों से अपना परिशीलन करो। अपने दोष दिखते हैं तो अपने अंतर में गुणों का विकास होता है। पर के यदि दोष दिखेंगे तो वही ग्राह्य हो जायेगा, गुण नहीं उपलब्ध होंगे।

चुम्बक के पास बहुत—सी वस्तुयें रखी हों, तब भी वह सबको आकर्षित नहीं करता, किन्तु लोहे का सूक्ष्मकण भी हो तो उसे आकर्षित कर लेता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि किसी व्यक्ति में बहुत अवगुण भरे पड़े हों, उनको नहीं देखता, पर एक भी गुण दिखाई पड़ता है तो उसे ग्रहण कर लेता है। भावना हो तो गुण सबमें ढूँढे जा सकते हैं। धूलशोधक स्वर्ण मिश्रित धूल से स्वर्ण के बारीक कण निकाल लेता है।

हम भी ध्येय रखें तो मानव के अंतर में विराजित परमात्मा को क्यों नहीं देख सकते? अर्थात् देख सकते हैं। आवश्यकता है अंतर्दृष्टि की। यदि अंतर्दृष्टि प्रकट हो गई, तो उपगूहन हो गया।

कहा जाता है कि जिसकी जैसी रुचि होती है, वह वैसा ही ग्रहण करता है। दुष्ट को सब दुष्ट और गुणी को सब गुणी दिखते हैं।

द्रोणाचार्य पाण्डवों और कौरवों को धनुर्विद्या सिखा रहे थे। शरसंधान चल रहा था। बीच में द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से कहा कि देखकर आओ कि ये पास के गाँव के लोग कैसे हैं? दुर्योधन गया और वापस लौट कर उसने कहा— “गुरुदेव! आपने मुझे कैसे गाँव में भेज दिया? यह गाँव तो बहुत बेकार है। यहाँ दंड के लोगों के मन में न कोई शिष्टता है, न ही सभ्यता। सबके सब उद् और अहंकारी लोग हैं। मुझे तो पूरे गाँव में एक भी विनम्र आदमी नहीं दिखा।

द्रोणाचार्य ने थोड़ी देर बाद युधिष्ठिर को भेजा। युधिष्ठिर ने लौट कर कहा— “गुरुदेव! इस गाँव के लोग तो बड़े सभ्य, सरल और सुशील हैं। अतिथि के सत्कार में बहुत आगे हैं। प्रत्येक व्यक्ति विनम्रता की मूर्ति प्रतीत होता है। मुझे तो एक भी व्यक्ति गुणहीन दिखाई नहीं पड़ा।”

कितना अंतर है दोनों के कथनों में? यह दृष्टियों का अंतर है। यही अंतर होता है एक सम्यग्दृष्टि और एक मिथ्यादृष्टि में। अभिमानी को सब घमंडी और विनम्र को सब सरल प्रतीत होते हैं।

नजरें तेरी बदलीं, तो नजारे बदल गये।

किशती ने बदला रुख, तो किनारे बदल गये।।

युधिष्ठिर धर्म का प्रतीक है। धर्म की दृष्टि में अवगुण दिखते ही नहीं। वहाँ केवल गुणों पर दृष्टि होती है। अवगुण तो अधर्म की आँखों से दिखाई पड़ता है। अतः जब कभी अवगुण दिखने लगें, तो समझ लेना कि हृदय में अधर्म आ रहा है, शीघ्रता से दृष्टि बदलने का प्रयास करना।

स्वर्ण तो स्वभाव से शुद्ध होता है, पर बाहरी किट्ट-कालिमा के कारण

उसमें दोष उत्पन्न हो जाता है। अग्नि स्वर्ण की अशुद्धि को दूर करने के उपरान्त वह स्वर्ण के किट्ट कालिमा को लेकर ढिंढोरा नहीं पीटती कि इस स्वर्ण में इतना मैल था, मैंने शुद्ध किया है। अपितु उस मैल को जलाकर राख कर देती है, ताकि किसी को इस मैल का ज्ञान न हो। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी मूढ़ता से रहित हो वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का उपासक हो जाता है। वह वीतरागी सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत मार्ग पर चलते वाले हजारों साधकों को देखता है। कदाचित् स्वर्ण सदृश शुद्ध मोक्षमार्ग पर चलने वक्त पूर्व कर्मवशात् अथवा स्वार्थवशात् अज्ञानी, अशक्त जीवों द्वारा कोई दूषण आ जाये, कोई कलंक लग जाये तो, सम्यग्दृष्टि जीव उनके दोषों को समाप्त करने की चेष्टा करता है, उसके दोषों को पी जाता है, उन दोषों को छुपा देता है। किसी भी प्रकार का विज्ञापन नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि अग्नि के समान बनकर दोषयुक्त स्वर्ण को निर्दोष स्वर्ण अर्थात् मोक्षमार्गी बनाने का प्रयास करता है। अथवा उस दोष को ढकने का प्रयास करता है।

स्वभाव से पवित्र मोक्षमार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थजनों के निमित्त से उत्पन्न हुई निन्दा को समाप्त करना, परिमार्जित करना उपगूहन अंग है। यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि धर्म में कभी कोई मलिनता नहीं आती है। लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव धर्मात्मा की मलिनता को देखकर धर्म को नहीं छोड़ता है और न ही धर्मात्मा की निन्दा करता है, अपितु उसे ढकने का प्रयास करता है। सम्यग्दृष्टि जीव दोषों का समर्थक नहीं होता है। वह मात्र धर्म की सुरक्षा के लिए धर्मात्मा के दोषों को ढकता है। कदाचित् धर्मात्मा में दोषों की वृद्धि हो जाती है तो उसे न ढाककर अव्यक्त रूप से उसी धर्मात्मा के समक्ष प्रगट करता है और धर्म की निन्दा-हँसी न हो, इस प्रकार की शिक्षा देता है। अगर आप जिन-मार्ग-मूलक वेश को धारण करके दुष्कृत्य करेंगे, तो जिनधर्म की बहुत बड़ी हानि होगी। अतः आप सावधान रहकर धर्मक्रिया करें, ताकि

जिनधर्म की वृद्धि हो सके। धर्म की हानि बाल और अशक्त जनों से ही होती है। बाल का अर्थ है— क्रिया के विवेक से रहित व्यक्ति और अशक्त का अर्थ है क्रिया को सही ढंग से न करने में प्रवृत्त अशक्त व्यक्ति। इनका बाल व वृद्ध उम्र से सम्बन्ध नहीं, अपितु कृत्य से सम्बन्ध है। ऐसा समझना चाहिए।

संसार में अनेक जीव हैं। सभी की शारीरिक सामर्थ्य भिन्न-भिन्न है, अतः जिनधर्मावलम्बियों के क्रिया-कलापों को देखकर उनके मोहनीय कर्म का उदय अथवा अनुत्साह, दुर्बलता, परिस्थियाँ धर्म के प्रति अरुचि समझकर, उसकी हानि कर, चेष्टाओं को देखते हुए भी अनदेखा कर देना चाहिए। यही वास्तविक उपगूहन है; क्योंकि संसार में प्रत्येक जीव का कर्म भिन्न-भिन्न है। व्यक्ति के कौन-से कर्म का उदय आ जाये और वह कर्मोदय में कौन-सा कृत्य कर बैठे, कहा नहीं जा सकता। अन्तरंग परिणाम और बहिरंग कृत्य सदा एक-से नहीं रहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार सतत् जीवों के भावों में, परिणामों में परिवर्तन आ रहा है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं धर्म की निन्दा से बचता है और बाल व अशक्त जीवों द्वारा धर्म की होती हुई निन्दा-हानि को बचाने का प्रयास करता है। वह स्वयं दोषों से रहित होता हुआ अन्य को भी दोषों से रहित करने का प्रयास करता है।

जो सम्यग्दृष्टि जीव पर के दोषों को छिपाता है, दूर करता है, दोषों को गुप्त रखकर धर्म की निन्दा होने से बचाता है। वह स्वयं के सम्यक्-दर्शन को निर्मल करता है। वह जानता है कि संसार का प्रत्येक मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ से भरा हुआ है। उसके गलत कदम जल्दी पड़ जाते हैं। मन उसी प्रकार विषयों को देखकर फिसल जाता है, जैसे केले के छिलके पर पैर पड़ने पर आदमी फिसल जाता है। मन गिद्ध की भाँति विषयों को ही पकड़ता है, क्योंकि अनादि सम्बन्ध है। इसलिये अच्छाई सीखनी पड़ती है, बुराई छोड़नी पड़ती है। बुराई को छोड़ना-छुड़वाना

मेरा कर्म है। मुझे न किसी की निन्दा करनी है, न किसी से बैर लेना है। मुझे तो फिटकरी की भाँति बनना है और सम्यक्त्व रूपी जल में उठते हुये कचरे को दबाना है।

कदाचित् कोई बाल या अशक्त जीव सम्यक्चारित्र को छोड़कर शिथिल क्रिया करे, तो भी उसके दोषों को दबा देना ही उपगूहन है। जैसे एक माँ अपनी पुत्री के अनेक दोषों को देखकर भी उसे अपनी पुत्री समझकर उसके दोषों को छिपा लेती है। एकान्त में ताड़ना आदि देकर उसे उसके दुष्कृत्य को छोड़ने की प्रेरणा देती है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पहले दोष को देखकर जिनमार्ग में अपनत्व की बुद्धि रखते हुये दोष को छुपाता है तथा एकान्त में दोषी को विनय, भय या ताड़ना आदि देकर मार्ग मलिन न हो, इस प्रकार का कार्य करता है। उपगूहन अंग के सम्बन्ध में “कार्तिकेयानुप्रेक्षा” ग्रन्थ में एक गाथा आती है—

जो परदोसं गोवदि णियसुकयं जेणपयडदे लोए।

भवियव्व—भावणरओ उवगूहन—कारओ सो हु॥ 4119॥

जो सम्यग्दृष्टि दूसरे के दोष को ढाँकता है और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता है, भवितव्यता की भावना में रत रहता है, उसके उपगूहन अंग होता है। वर्तमान में हमारा अधिकतम समय दूसरों की निन्दा व अपनी प्रशंसा करते हुए बीत रहा है। आज हमारी कुबुद्धि में दूसरों के सरसों बराबर दोष पहाड़ व अपने पहाड़वत् दोष सरसों के समान प्रतिभासित होते हैं। हम दूसरों के दोषों का व अपने गुणों का ढिंडोरा पीटते हैं तो यह प्रवृत्ति अत्यन्त घातक व सम्यक्त्व की समाप्ति का कारण है।

यह बात अनुभवसिद्ध है कि अज्ञानी असमर्थ व्यक्ति या परिस्थिति में फँसे हुए व्यक्ति में यदि कोई दोष है, अगर उसे प्रगट कर दिया जाता है तो व्यक्ति में सुधार की अपेक्षा बिगाड़ की सम्भावना अधिक हो जाती है;

क्योंकि दोषी व्यक्ति में अहंकार उत्पन्न हो जाता है। अतः दोष के न प्रगट करने में ही भला है। सम्यग्दृष्टि तो चाहता है कि किसी भी माध्यम से धर्म का लोप न हो, धर्ममार्ग में धब्बा न लगे। वह येन—केन—प्रकारेण दूषित हृदय युक्त मिथ्यादृष्टियों से धर्म को बचाता है और सद्मार्ग में चलने वाले जीवों के दोषों को गुप्त रखता है। जिनमार्ग तो शुद्ध है, निन्दा योग्य नहीं है, फिर भी मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के द्वारा अज्ञान या प्रमाद से शारीरिक, मानसिक, वाचिक कोई दोष उत्पन्न हो जावे या दुराग्रही द्वारा द्वेषवश लगाये गये दोषों के कारण जिनेन्द्रोक्त पवित्र धर्म की निन्दा उत्पन्न हो जाये, तो सम्यग्दृष्टि को सामर्थ्यानुसार उसे दूर करना चाहिए और जिनमार्ग की रक्षा करनी चाहिए। यदि सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करेंगे, तो अन्य जीव जिनधर्म से विमुख हो जायेंगे और धर्म का मार्ग लोप हो जायेगा। इसलिए सम्यग्दृष्टि धर्मवृद्धि हेतु प्रसंगानुसार ही कार्य करता है। जहाँ दोष को ढाँकने की बात होती है, वहाँ दोषों को ढाँक देता है। ढाँकना और बढ़ाना विवेकपूर्ण कार्य है। अगर किसी में गुण अधिक और दोष एकाध नजर आये, ऐसे व्यक्ति से विशेष प्रभावना होती हो, तो सावधान चित्त से दोषों को न देखकर प्रभावी व्यक्ति के गुणों की ओर दृष्टि रखकर अपना कार्य करना चाहिए अन्यथा धर्म की भारी निन्दा होने की सम्भावना रहती है। उपगूहन अंग आत्मा की सुरक्षा का कवच है। उप का अर्थ है 'पास'। गूहन का अर्थ है— दबा देना, छिपा देना, पीठ कर लेना, मुख फेर लेना, ध्यान नहीं देना। अर्थात् किसी के किसी की कमी दिखे तो उसकी आत्मा तक मत पहुँचना, उस पर पर्दा डाल देना। दृष्टि को वहाँ से हटा देना; क्योंकि गलत वस्तुओं को देखकर मन भी गलत हो जायेगा। यह मन कैमरे की भाँति है। कैमरे को जिस पदार्थ के सामने रखोगे और बटन दबाओगे, वही तस्वीर देखेगी, वैसी सूचना मन तक पहुँच जायेगी, मन विचलित होगा, तनाव से भरेगा, तुम स्वयं परेशान हो

जाओगे। इसलिए न तुम परेशान हो, न दूसरे को परेशान करो, अपितु उपगूहन अंग का पालन करना ही श्रेष्ठ है। अगर उपगूहन अंग की और—भी गहराई में प्रवेश करते हैं तो इसका अर्थ होता है कि किसी की बुराई को देखना ही मत। अपनी दृष्टि को इतना प्रबल विशाल बना लेना कि किसी की कमी नजर न आये, मन में कुविचार उठने ही न पायें। मन को बुराई से बचाना ही असली उपगूहन है। मन के सरोवर में बुराई की काई जमने नहीं देना, चित्त की भूमि पर बुराई की झाड़-झंकार उगने ही नहीं देना, मन के सागर में बुराइयों के मगरमच्छ को तैरने ही न—देने का नाम ही उपगूहन अंग है।

किसी की कमियों पर ध्यान देने से मन गन्दा होता है और आत्मा कर्मों से बन्धती है। आत्मविकास करने के लिए मैत्रीभाव बढ़ाने के लिए यह अंग महत्वपूर्ण अंग है। अगर किसी के दोष नजर भी आयें, तो उसकी बुराई मत करना, उसकी परिस्थिति को समझना, क्योंकि कभी—कभी व्यक्ति गलती नहीं करता है, परिस्थितियाँ गलती करवा देती हैं। इसलिए परिस्थिति को समझकर ही आगे का कार्य करें। परिस्थिति को समझे बिना मात्र कृत्य को देखकर दोषारोपण किया जाता है तो स्वयं को ही कष्टों का सामना करना पड़ता है; क्योंकि ये सभी जानते हैं कि किसी को पत्थर मारना है तो पहले स्वयं को पत्थर लेना होगा, किसी को चाकू मारना है तो सबसे पहले अपने ही हाथों में चाकू लेना होगा। अगर किसी के घर में आग लगानी है तो सबसे पहले स्वयं के हाथ में अग्नि लेनी होगी। इसी प्रकार अगर किसी की निन्दा करनी है तो, सबसे पहले स्वयं के मन को गन्दा करना ही पड़ेगा। मन के गन्दे होने से स्वयं ही कर्मों का आस्रव होगा। अतः दूसरों के दोषों को छिपाने एवं गुणों को देखने पर ही आत्मा का उद्धार होगा। पर गुण देखना अति कठिन है और दोष ढूँढ़ना अति सहज।

एक चित्रकार था। उसने एक चित्र बनाया। उसके नीचे लिखा— “इस चित्र में त्रुटि हो तो बतायें।” चित्र सड़क के किनारे रख दिया। दूसरे दिन चित्र में जगह-जगह निशान/दाग मिले। सैकड़ों लोगों ने त्रुटियाँ निकाल दीं।

चित्रकार ने अगले दिन दूसरा चित्र बनाया। अबकी बार नीचे लिखा— ‘इसमें कमी रह गई है, कृपया उसे सुधार दें।’ चित्र दिन भर रखा रहा। बहुतों ने उसे देखा, पर सुधार किसी ने नहीं किया।

दोष निष्कासन में हर व्यक्ति निष्णात है। पर गुण-ग्रहण बहुत दुर्लभ है। व्यक्ति को जो पसंद होता है, वह वही ग्रहण करता है। जैसी दृष्टि होती है, वह वैसा ही चुनाव करता है। उपगूहन अंग की उपलब्धि के लिये निज में गुणों को विकसित करें। दूसरों के गुणों का मूल्यांकन करें। इसके अतिरिक्त कुछ करने से उपगूहक नहीं बन सकते, उद्घोषक जरूर बन सकते हैं। अन्य किसी के दोषों का प्रचार करने से उसका कुछ अहित नहीं होता, स्वयं का मन दूषित होता है, जिसका परिणाम कई भवों तक भुगतना पड़ता है।

आचार्य समंतभद्र इसलिए समझाते हैं कि— दोष तो सब में है, उनका प्रचार करने से क्या उपलब्ध होगा? आज जो पापी प्रतीत हो रहा है, हो सकता है कि कल शुभयोग मिलने पर अपने ध्यान में लीन हो, आत्म-केन्द्रित होकर अपना कल्याण कर ले। अतः किसी को निंदनीय मत मानो। गुणों पर दृष्टि रखो, उससे ही कल्याण होता है। उच्च कुल में जन्म हो जाने मात्र से स्वयं को गुणवान मानने का दंभ नहीं करना चाहिए। गुणी कोई भी हो सकता है। गुण पर किसी का एकाधिकार नहीं है। पूरी तरह निष्पाप भी कोई नहीं है।

एक बार ईसामसीह के पास गाँव के लोग किसी स्त्री को पकड़कर लाये और कहने लगे— यह स्त्री दुराचारिणी है, इसे दंड देना है। यीशू ने

कहा, “ठीक है, इसे कोड़े मारे जायें।” गाँव के लोग बहुत खुश हुये। सब कोड़े मारने तैयार हो रहे थे, तभी यीशू ने कहा— “किन्तु पहला कोड़ा वही मारे जो निष्पाप हो।” सब के हाथ नीचे हो गये। सब चुप। निष्पाप कौन है? बहुत कठिन है। कोई—न—कोई दुर्गुण तो है ही।

लोग यहाँ प्रश्न करते हैं— “दूसरों में दोष क्यों नहीं देखें, उन्हें प्रचारित क्यों न करें?” इसका निषेध इसलिये किया है कि दोष को प्रचारित करने से उसका दोष दूर हो ही जाये, ऐसा नहीं होता। वरन् ऐसा करने से तीन बातें अवश्य होंगी। पहला कि वह तुम्हारे मार्ग पर आने की अपेक्षा तुमसे और दूर हो सकता है। दूसरा कि जिन दोषों को तुम प्रचारित करते हो, उन दोषों से तुम्हारा मन आच्छादित होने लगता है एवं तीसरा यह कि दूसरों के दोषों के प्रसारण में बीता तुम्हारा मूल्यवान समय वापिस आने वाला नहीं है, जो तुम स्वयं अपने हितार्थ लगा सकते थे।

आचार्य समंतभद्र स्वामी ने लिखा है—

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्त—जनाश्रयाम्।

वाच्यतां यत् प्रमार्जन्ति तद्वदन्ति उपगूहनम्॥१५॥

अर्थात् स्वयं को शुद्ध करो। मार्ग तो पवित्र है। मार्ग पर चलनेवाला अपवित्र हो सकता है, मार्ग नहीं। धर्म का मार्ग, मोक्ष का मार्ग अति पवित्र एवं शुद्ध है। परन्तु यदि किसी ‘बाल’ या किसी ‘अशक्त व्यक्ति’ द्वारा उसकी निंदा हो तो उस निंदा को ढक लेना उपगूहन है।

यहाँ ‘बाल’ का तात्पर्य छोटे नासमझ बच्चे से नहीं है। बाल वह है— जो तप में कच्चा है, जिसकी बुद्धि और अनुभव में प्रौढ़ता नहीं आ पाई है। वह अस्सी साल का वृद्ध भी हो सकता है। अशक्त वह है, जो किन्हीं परिस्थितियों से विवश होकर आचरण में शिथिल हो गया है। ऐसे बाल/अशक्त द्वारा किये गये हीन आचरण को आचार्य कहते हैं कि ढाँक लो। यदि उसका आचरण प्रगट हो गया, तो अन्य लोग उस पथ से दूर

हो सकते हैं। मार्ग की निंदा हो जायेगी। शुभ्र वस्त्र पर एक छोटा-सा दाग भी सबको दिखाई पड़ता है।

बाबा भारती को अपना घोड़ा 'सुल्तान' प्राणों से भी अधिक प्रिय था। उस सुन्दर कद-काठी के घोड़े को डाकू खड्गसिंह हासिल करना चाहता था। उसने उसे मुँहमाँगी कीमत देकर खरीदना चाहा। बाबा को वह घोड़ा प्राण-प्रिय था। वे किसी भी मूल्य पर 'सुल्तान' को देने को तैयार नहीं थे। एक दिन सुल्तान और बाबा भारती सैर करने जा रहे थे। उन्हें एक करुण पुकार सुनाई दी। बाबा रुके, देखा, एक गरीब वृद्ध आदमी करुण अवस्था में पुकार रहा है। पूछा— क्या बात है भाई?

वह बोला— “मैं अस्वस्थ हूँ। चला नहीं जा रहा है, पास के गाँव में जाना है, मदद करो, कृपा होगी।”

बाबा भारती ने उसे घोड़े पर बैठा लिया और स्वयं उसकी लगाम पकड़ कर धीरे-धीरे चलने लगे। अचानक उन्हें झटका लगा और उनके हाथ से लगाम छूट गई। वे सकते में आ गये। उन्होंने देखा कि वह पुरुष घोड़े को भगाता हुआ ले जा रहा है। वह अपरिचित नहीं, वह तो डाकू खड्गसिंह है। एक क्षण हतप्रभ से रह गए और अगले ही क्षण आवाज दी— खड्गसिंह रुको, मेरी बात सुनो।

खड्गसिंह बोला— “जो चाहो माँग लो, लेकिन यह घोड़ा नहीं दूँगा।” बाबा भारती बोले— “खड्गसिंह! घोड़ा तो अब तुम ले लेना, वापस नहीं माँगता, पर मेरी एक प्रार्थना सुन लो। इस घटना की चर्चा किसी से मत करना, बस।” डाकू खड्गसिंह अचंभित रह गया। यह क्या? कुछ समझ नहीं सका, तो पूछा— “ऐसा क्यों कह रहे हो?”

बाबा भारती बोले— “सिर्फ इसलिए कि यदि तुमने इस घटना को प्रचारित कर दिया तो उससे लोगों का गरीब/असहायों पर से विश्वास उठ जायेगा। वे उन्हें ठग/धोखेबाज समझ कभी मदद नहीं करेंगे।

हमेशा के लिये मदद की भावना समाप्त हो जायेगी।”

खड्गसिंह का हृदय परिवर्तित हो गया। वह रात्रि में बाबा के घर घोड़ा वापस बांध गया।

“वाच्यताम् यत् प्रमार्जयन्ति तद्वदन्ति उपगूहनम्।”

किसी सत्य पथ पर चलनेवाले की निंदा करने से उस मार्ग की निंदा होती है। पथ तभी तक सुरक्षित माना जाता है, जब तक कि उस पथ पर चलनेवाले राहगीर सुरक्षित होते हैं। पथ पर चलनेवाले पर कोई आरोप लगा, कोई कलंक लगा, तो वह पथ भी कलंकित होता-ही-होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि को मार्ग की सुरक्षा की चिंता होती है। वह सत्य के पथ को सतत अलंकृत करने का यत्न करता है। मार्ग उसके गुणों से अलंकृत होता है। सम्यग्दृष्टि दूसरों की निंदा नहीं करता—

“परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद् भावनैश्च नीचैर्गोत्रस्य”

अर्थात् दूसरे की निंदा करने और अपनी प्रशंसा करने, दूसरों के सदगुणों को छिपाने और अपने असद्भूत गुणों को प्रगट करने से नीचगोत्र का बंध होता है। यह बंध पहले-दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। अतः वह सम्यक्त्व की भूमिका से बाहर हो जाता है।

निंदा रस में लीन व्यक्ति जीवन-रस से वंचित रह जाता है। इसलिये उपदेश दिया जाता है कि निंदा का प्रसंग आ ही जाये तो उसे टाल दो, उस पथ पर चलने वाले लोग हतोत्साहित होंगे। इस प्रसंग में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सेठ जिनेन्द्रभक्त का स्मरण किया है, जिन्होंने मार्ग को कलंकित होने से बचाया था। जिनेन्द्रभक्त सेठ सही अर्थों में जिनेन्द्रभक्त था।

पादलिप्त नगर में एक सेठ रहता था। वह महान जिनभक्त था, सम्यक्त्व का धारक था और धर्मात्माओं के गुणों की वृद्धि तथा दोषों का उपगूहन करने के लिए प्रसिद्ध था। पुण्य के प्रताप से वह बहुत वैभव-सम्पन्न था। उसका सात मंजिला महल था। वहाँ सबसे ऊपर के भाग में उसने

एक अद्भुत चैत्यालय बनाया था। उसमें बहुमूल्य रत्न से बनाई हुई भगवान् पार्श्वनाथ की मनोहर मूर्ति थी, उसके ऊपर रत्नजड़ित तीन छत्र थे, उनमें एक नीलम रत्न बहुत ही कीमती था, जो अन्धेरे में भी जगमगाता था।

उस समय सौराष्ट्र के पाटलीपुत्र नगर का राजकुमार सुवीर कुसंगति में दुराचारी तथा चोर हो गया था। वह एक बार सेठ के जिनमन्दिर में गया। वहाँ उसका मन ललचाया—भगवान् की भक्ति के कारण नहीं, बल्कि कीमती नीलम रत्न की चोरी करने के भाव से। उसने चोरों की सभा में घोषणा की— “जो कोई उस जिनभक्त सेठ के महल से कीमती नीलम रत्न लेकर आयेगा, उसे बड़ा इनाम मिलेगा।” सूर्य नामक एक चोर उसके लिए तैयार हो गया। उसने कहा “अरे, इन्द्र के मुकुट में लगा हुआ रत्न भी मैं क्षण भर में लाकर दे सकता हूँ, तो यह कौन—सी बड़ी बात है?”

लेकिन, महल से उस रत्न की चोरी करना कोई सरल बात नहीं थी। वह चोर किसी भी तरह से वहाँ पहुँच नहीं पाया। इसलिए अन्त में एक त्यागी का कपटी वेश धारण करके वह उस सेठ के यहाँ पहुँचा। उस त्यागी बने चोर में वक्तृत्व की अच्छी कला थी। जिस किसी से वह बात करता, उसे अपनी तरफ आकर्षित कर लेता। उसी तरह व्रत—उपवास इत्यादि को दिखा—दिखा कर लोगों में उसने प्रसिद्धि भी पा ली, अतः उसे धर्मात्मा समझकर जिनभक्त सेठ ने चैत्यालय की देख—रेख का काम उसे सौंप दिया।

सूर्य चोर तो उस नीलम मणि को देखते ही आनन्द विभोर हो गया और विचार करने लगा— “कब मौका मिले और मैं कब इसे लेकर भागूँ।”

इन्हीं दिनों सेठ को बाहर गाँव जाना था। इसलिए उस बनावटी

त्यागी से चैत्यालय संभालने के बारे में कहकर सेठ चले गये। जब रात होने लगी, तो गाँव से थोड़ी दूर जाकर उन्होंने पड़ाव डाला।

रात हो गई। सूर्य चोर उठा। नीलम मणि रत्न को जेब में रखा और भागने लगा, परन्तु नीलम मणि का प्रकाश छिपा नहीं, वह अन्धेरे में भी जगमगाता था। इससे चौकीदारों को शंका हुई और उसे पकड़ने के लिए वे उसके पीछे दौड़ पड़े।

“अरे !..... मंदिर के नीलम मणि की चोरी करके चोर भाग रहा है। पकड़ो..... पकड़ो पकड़ो।” चारों ओर सिपाहियों ने हल्ला मचाया।

इधर सूर्य चोर को भागने का कोई मार्ग नहीं रहा, इसलिए वह तो जहाँ जिनभक्त सेठ का पड़ाव था, वहीं पर घुस गया। चौकीदार चिल्लाते हुए चोर को पकड़ने के लिए पीछे से आये। सेठ सबकुछ समझ गया कि..... अरे! ये भाईसाहब चोर हैं, त्यागी नहीं।

“लेकिन त्यागी के रूप में प्रसिद्ध यह मनुष्य चोर है— ऐसा लोगों में प्रसिद्ध हुआ तो धर्म की बहुत निन्दा होगी” — ऐसा विचार कर बुद्धिमान सेठ ने चौकीदार को रोककर कहा— “अरे! तुम लोग ये क्या कर रहे हो? यह कोई चोर नहीं है, यह तो धर्मात्मा है। नीलम मणि लाने के लिए तो मैंने उसे कहा था, तुम गलती से इसे चोर समझ कर परेशान कर रहे हो।”

सेठ की बात सुनकर सब लोग चुपचाप वापिस चले गये। इस तरह एक मूर्ख मनुष्य की भूल के कारण होनेवाली धर्म की बदनामी बच गयी। इसे ही उपगूहन अंग कहते हैं। जैसे एक मेंढक के दूषित होने से सम्पूर्ण तालाब गन्दा नहीं होता, उसी प्रकार कोई असमर्थ निर्बल मनुष्य के द्वारा छोटी—सी भूल हो जाने पर पवित्र जिनधर्म मलिन नहीं हो जाता।

जिस तरह माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र उत्तम गुणवान हो, अतः

वह पुत्र में कोई छोटा-बड़ा दोष देखकर उसे प्रसिद्ध नहीं करती, परन्तु ऐसा उपाय करती है कि उसके गुण की वृद्धि हो। उसी प्रकार धर्मात्मा भी धर्म में कोई अपवाद हो— ऐसा कार्य नहीं करते, परन्तु धर्म की प्रभावना हो, वही करते हैं।

यदि कभी किसी गुणवान धर्मात्मा में कदाचित् दोष आ जाय, तो उसे गौण करके उसके गुणों को मुख्य करते हैं और एकान्त में बुलाकर उसे प्रेम से समझाते हैं, जिससे उसका दोष दूर हो और धर्म की शोभा बढ़े।

उसी प्रकार जब सभी लोग चले गये, तब बाद में जिनभक्त सेठ ने भी उस सूर्य नामक चोर को एकान्त में बुलाकर उलाहना दिया और कहा— “भाई! ऐसा पापकार्य तुम्हें शोभा नहीं देता। विचार तो कर कि तू यदि पकड़ा जाता तो तुझे कितना दुःख भोगना पड़ता? तथा इससे जैनधर्म की भी कितनी बदनामी होती? लोग कहते कि जैनधर्म के त्यागी भी चोरी करते हैं। इसलिए इस धन्धे को तू छोड़ दे।”

वह चोर भी सेठ के ऐसे उत्तम व्यवहार से प्रभावित हुआ और स्वयं के अपराध की माफी माँगते हुये उसने कहा— “सेठ जी ! आपने ही मुझे बचाया है। आप जैनधर्म के सच्चे भक्त हो। लोगों के समक्ष आपने मुझे सज्जन धर्मात्मा कह कर पहचान करायी, अतः मैं भी चोरी छोड़ कर सच्चा धर्मात्मा बनने का प्रयत्न करूँगा। सच में जैनधर्म महान है और आपके जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों को ही वह शोभा देता है।

दूसरों के गुणों को प्रकट करना और अपने दोषों के प्रति उदासीन न होना, यह उपगूहन अंग है। दूसरों के गुणों के अवलोकन की हमारी दृष्टि होना चाहिये। यदि हम गुणावलोकन की दृष्टि रखते हैं तो हम अवगुणों में भी गुणों को जाग्रत कर सकते हैं।

एक नगर में एक सेठ जी रहते थे। उनके पास सम्पदा की कोई कमी नहीं थी, किन्तु वे चन्दा न देने के लिये विख्यात थे। कोई भी उनके

पास जाये किन्तु वे लाला चन्दा देते ही न थे। एक बार कुछ लोगों ने निश्चय किया कि वे चन्दा लेकर ही रहेंगे। आखिर वे एक दिन उनके पास पहुँच गये और चन्दा देने की प्रार्थना की, किन्तु उन सेठ पर अनुनय-विनय का कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे बोले- “आप जानते ही हैं, मैं कभी किसी को चन्दा देता ही नहीं। आप लोग व्यर्थ ही आये हैं।” चन्दा लेने वाले बोले- “आप नियम के कितने पक्के हैं, यह सराहनीय है। कम से कम आप किसी नियम का निष्ठापूर्वक पालन तो करते हैं। आप बस इस दस हजार की रसीद पर अपने मात्र हस्ताक्षर कर दीजिये, दीजिये कुछ नहीं, हमारा कार्य सम्पन्न हो जायेगा। सेठ के हस्ताक्षर कर देने पर चन्दा लेनेवाले बड़ी प्रसन्नतापूर्वक बाहर निकले। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, ये लोग कैसे चन्दा ले आये ऐसे आदमी से ? बस, फिर क्या था आशातीत चन्दा हुआ उस अवसर पर।

कुछ दिन बाद चन्दा वसूल करने वाले लोग फिर एक बार सेठ जी के पास आये और दस हजार रुपये ग्रहण करने का आग्रह किया। सेठ पछताने लगा, ओह! मेरा सारा जीवन व्यर्थ ही रहा। जब बिना दिये, केवल हस्ताक्षर मात्र से इतना नाम अर्जन हो सकता है, तो यदि मैं दान देता तो मेरा कितना नाम होता ? सेठ जी उन चन्दा लेने वालों से बोले- ‘आप लोगों को जितना चन्दा मिला है, उससे अधिक मेरा लिख लीजिये।’ इस गुणावलोकन की दृष्टि ने उस सेठ को भी गुणी बना दिया। यदि केवल उसके दोषों को ही उभारा जाता, तो संभवतः वह सेठ और भी दूषित हो जाता।

अतः गुणी लोग दूसरों में केवल गुण ही देखते हैं। दोषों के बीच में भी वे गुण ही ग्रहण करते हैं और दोषों के प्रति पूर्ण निरीह रहते हैं। दूसरों के दोषों को प्रचारित करने से कोई लाभ नहीं होता। पर आज व्यक्ति को जब किसी की कोई कमी मालूम पड़ जाती है, तब वह जब तक उसे फैला

नहीं देता, तब तक उसको चैन नहीं पड़ती।

एक बार तीन विद्वान् इकट्ठे हुये। तीनों एक दूसरे को अपनी कमजोरी बताने लगे। पहले ने कहा— क्या बताऊँ ? मैं बहुत अच्छे प्रवचन देता हूँ, लोग मुझसे बड़े प्रभावित होते हैं, पर मेरी एक कमजोरी है कि मैं जितनी अधिक त्याग की बातें करता हूँ, मेरे अन्दर विलासिता के प्रति उतना ही राग बढ़ता जाता है। मेरा चित्त बहुत विलासी है। मैं भोग और वासना से अपने आपको बचा नहीं पाता। ये मेरी बहुत बड़ी कमजोरी है। दूसरे ने कहा— क्या बताऊँ ? मेरी भी एक बहुत बड़ी कमजोरी है। मैं जब तक मुँह में तम्बाकू नहीं दबा लेता, तब तक उपदेश देने का मूढ़ ही नहीं बनता, और जब मैं तम्बाकू दबाकर उपदेश देता हूँ, तो सारी जनता भाव—विभोर हो जाती है। दोनों की बात सुनकर तीसरा अपना पेट पकड़कर जाने लगा तो दोनों ने कहा— भैया! तुम अपनी कमजोरी तो बताओ। वह बोला— मेरी एक बहुत बड़ी कमजोरी है कि जब मैं किसी की कमजोरी सुन लेता हूँ, तो उसे जब तक दूसरों को सुना नहीं देता तब तक मेरे पेट में दर्द रहता है। मैं अभी सबको बताकर आ रहा हूँ, फिर सब बात समझना। अभी तो मेरे पेट में बहुत तेज दर्द हो रहा है।

यह हमारी कषाय का परिणाम है जो दूसरों के दोषों को कहने में थोड़ा भी संकोच नहीं होता, उल्टा आनन्द आता है। आज व्यक्ति की स्थिति ऐसी हो गई है कि किसी की कमजोरी सुन लेने के बाद जब तक वह उसे चार लोगों को सुना नहीं देता, तब तक उसके पेट में दर्द होता रहता है। परन्तु उपगूहन अंग को धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टि दूसरों के दोषों को नहीं देखता, वह केवल अपने ही दोषों को देखता है। कबीरदास जी ने लिखा है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलया कोय।

जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय॥

एक शिष्य निःस्वार्थ भाव से अपने गुरुजी की सेवा करता था।

उसकी सेवा से प्रसन्न होकर गुरुजी ने उसे एक जादुई दर्पण भेंट किया। उस जादुई दर्पण की ये खूबी थी कि उसे जिस व्यक्ति के सामने रखा जाय तो वह उसके भीतर के भावों को झलकाता था। शिष्य उस दर्पण को पाकर बहुत खुश हुआ।

दूसरे ही दिन गुरुजी के पास आनेवाले सारे श्रद्धालु भक्तों के सामने उसने वह दर्पण रख दिया। वह देखकर हैरान हुआ कि सभी के भीतर क्रोध की ज्वाला है, सभी के मन में अहंकाररूपी पर्वत खड़ा है, सभी के हृदय में घृणा की भावना है, सभी के अन्दर ईर्ष्या की अग्नि भड़क रही है, सभी के भावों में लालच की तीव्रता है। वह यह सब देखकर बड़ा परेशान हुआ कि क्या सत्संग में आने वाले सारे भक्तजनों में इतनी अधिक बुराइयाँ हैं? क्या गुरुजी के उपदेश ने इनके भीतर के विकार एवं कषायों को खत्म नहीं किया? बस, जादुई दर्पण मिल जाने के बाद उसका सारा दिन सबके भीतर की बुराइयों को देखने में ही व्यतीत होता है।

एक दिन शिष्य ने सोचा कि मैंने सभी भक्तों की बुराइयों को तो जान लिया, अब मुझे अपने गुरुजी के हृदय को भी टटोलना चाहिये। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिनकी मैंने वर्षों सेवा की है, उनका मन भी विकारों से मलिन हो? यह सोचकर उसने एक दिन वह जादुई दर्पण अपने गुरुजी के सामने रख दिया। वह देखकर दंग रह गया कि गुरुजी के मन में इतना अहंकार, वही क्रोध की ज्वाला, मोह का जाल, लोभ का आकर्षण। शिष्य तो आश्चर्यचकित हो गया और सोचने लगा कि क्या मेरे गुरुजी के हृदय में भी ऐसे-ऐसे विकार भरे पड़े हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि यह दर्पण झूठी बातें झलकाता हो? नहीं, यह सामान्य दर्पण नहीं है, यह तो जादुई दर्पण है। जो जैसा है भीतर से, वैसा ही तो दिखायेगा। धीरे-धीरे उसका मन गुरुजी से विमुख हो गया। एक दिन मौका पाकर वह अपना दर्पण लेकर वहाँ से चल दिया। अब जहाँ-जहाँ जाता है और जो-जो श्रद्धालु

भक्त उसकी सेवा करने को उत्सुक होते थे, उन सबके समक्ष वह जादुई दर्पण रख देता था। फिर निराश होकर उसके मुँह से शब्द निकलते थे— इस दुनियाँ में किसी का भी दिल साफ नहीं है। यहाँ तो सभी के हृदय में ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, छल—कपट और क्रोध आदि भरा पड़ा है।

यह सब देखकर वह हैरान और परेशान हो गया। उसने दुनियाँ के हर कोने का भ्रमण करके देख लिया, परन्तु उसे कहीं संतुष्टि नहीं हुई। कुछ बरसों बाद वह फिर से गुरुजी के पास आ गया और बोला— गुरुजी! मैं बहुत परेशान हो चुका हूँ। ऐसा क्यों है कि संसार के सभी व्यक्तियों के मन में नाना प्रकार के दोष भरे पड़े हैं? मैंने दुनियाँ के हर व्यक्ति को इस जादुई दर्पण में देखा तो पाया कि किसी का भी हृदय साफ और पापरहित नहीं है। क्या संसार में सभी लोग ऐसे ही होते हैं ? किसी का भी मन पवित्र नहीं है? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि कहाँ जाऊँ और किसके साथ रहूँ? शिष्य को इस प्रकार व्यथित देखकर गुरुजी मुस्कुराये, शिष्य का हाथ पकड़ा और दर्पण का मुख उन्होंने शिष्य की ओर कर दिया। शिष्य ने अब प्रथम बार उस दर्पण में अपने मन के प्रतिबिम्ब को देखा तो वह हक्का—बक्का रह गया कि स्वयं उसके मन में भी कितना कचरा भरा हुआ है। मन का हर कोना क्रोध, मान, माया, लोभ, राग—द्वेष, वासना आदि से भरा पड़ा है। वह अपनी बुराइयों को देखकर इतना घबरा गया कि पसीने—पसीने हो गया।

उसने गुरुजी से पूछा— गुरुदेव! मैं क्या देख रहा हूँ? मेरा हृदय तो सभी के हृदयों से ज्यादा बुरा दिखाई दे रहा है। गुरुजी ने सस्नेह शिष्य की ओर देखते हुये कहा— यह दर्पण मैंने तुम्हें दूसरों के मन की बुराइयों को देखने के लिये नहीं, अपितु अपने स्वयं के मन की बुराइयों को देखने के लिये भेंट किया था, ताकि तुम स्वयं को पवित्र बना सको। परन्तु तुमने इस दर्पण का प्रयोग दूसरों पर किया और दुःखी हुये। आज से इस जादुई दर्पण का प्रयोग तुम्हें स्वयं को देखने के लिये करना होगा।

हमें स्वयं के दोषों को देखकर उनका निवारण करना चाहिये। जो अपनी समस्त शक्ति को औरों की निन्दा/आलोचना करने में व्यर्थ खर्च करते हैं, वे जीवनभर दुःखी रहते हैं। किसी की बुराई करने से परमात्मा नहीं मिलता, अपितु आत्मिकता प्रदान करने से स्वयं का परमात्मा प्रगट होता है। जैसे बाँसुरी को मोड़ने से संगीत पैदा नहीं होता, बल्कि बाँसुरी को फूँकने से संगीत पैदा होता है; उसी प्रकार व्यक्ति की निन्दा करने से जीवन महान् नहीं बनता, बल्कि व्यक्ति को प्रेम की फूँक देने से महान् बनता है। जीवन को पुष्पित—पल्लवित करके दिव्यानन्द से भरने के लिये उपगूहन अंग का पालन करें। दूसरे की कमी कभी न देखें, स्वयं की कमी देखें। यह साधना साँप के सीधे चलने जैसी कठिन साधना है; क्योंकि हमारे मन का दीपक शुद्ध भावना की चिमनी से रहित है, जरा—सी बाहर दोषों की हवा चलती है तो तुरन्त कंपकंपा जाती है, उसी कंपकंपाहट को दूर करने के लिये स्वयं पवित्र होकर अन्यो को पवित्र करें। और कभी भी किसी की बुराई न करें। किसी का दोष देखकर उस दोष की निन्दा करते हुए उस व्यक्ति का तिरस्कार नहीं करना चाहिये। बल्कि उस दोष का उपगूहन करके उसे धर्ममार्ग में लगाना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जानता है कि यह धर्म मेरा है, जिनशासन मेरा है। यदि कोई इसकी निन्दा करता है तो धर्म एवं धर्मात्मा दोनों बदनाम होते हैं और लोगों की धार्मिक आस्था, श्रद्धा, विश्वास समाप्त हो जायेगा। इसलिये धर्म, धर्मात्मा एवं स्वयं की आत्मा की सुरक्षा के लिये इस उपगूहन अंग का पालन करो।

स्थितिकरण अंग

विषय कषायदि के निमित्त से सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र से डिगते हुये पुरुषों को पुनः उसी में स्थित करना स्थितिकरण अंग है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका करते हुये आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है—

मुनि,आर्यिका, श्रावक, श्राविका के भेद से चार प्रकार के संघ में से जब कोई व्यक्ति दर्शनमोहनीय या चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र को छोड़ना चाहता है, तो यथाशक्ति आगमानुकूल धर्म का उपदेश देकर या धन की सहायता देकर यथाशक्ति का प्रयोग करके अथवा अन्य उपाय से भी जो उसे धर्म में स्थित किया जाता है, उसे व्यवहार से स्थितिकरण अंग कहते हैं और मिथ्यात्व, राग—द्वेष आदि समस्त विकल्पजाल को त्यागकर अपने आत्मस्वभाव में स्थिर होना निश्चय से स्थितिकरण गुण है।

संसार में इंसान की प्रवृत्ति अत्यन्त विपरीत है। वह गिरते हुये को तो गिराता ही है, पर चढ़ते हुये को भी गिराने की चेष्टा करता है लेकिन सम्यग्दृष्टि की विशेषता होती है कि वह न तो चढ़ते हुये को गिराता है, न गिरते हुये को और धक्का देता है, अपितु करुणार्द होकर, धर्माभिभूत होकर धर्म से, त्याग से च्युत होते हुये व्यक्ति को ऊपर उठाने की, उसे संभालने की, पुनः धर्म में—त्याग में स्थित करने की चेष्टा करता है, सहारा

देता है, क्योंकि विकलांग मनुष्य को वैशाखी का सहारा मिल जाता है तो वह अशक्त होकर भी सशक्त बनकर वैशाखी के सहारे मीलों की यात्रा तय कर लेता है; उसी प्रकार मनुष्य किसी कारणवशात् या दर्शन व चारित्रमोहनीय कर्मोदय के कारण से दर्शन व चारित्र से च्युत होता है तो उसे धर्मात्माजनों को सहज प्यार, दुलार देकर संभालना चाहिये।

अगर हम किसी गिरते हुये को उठायेंगे तो हमारा पुण्यकर्म हमें संभालेगा। स्थितिकरण अंग कह रहा है कि इस संसार में कोई जानबूझकर पतित हो रहा है, कोई परिस्थितिवशात् हो रहा है, तो कोई मोहवशात् धर्म को छोड़ रहा है, उसे संभालना आवश्यक है। पर आज का व्यक्ति इसके विपरीत चल रहा है। उसकी भावना दूसरे को उठाने की नहीं, मिटाने की, गिराने की है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से बड़े प्रेम से पूछ रहा था कि अगर मैं माउण्ट एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ जाऊँगा, तो तुम मुझे क्या दोगे? दूसरा कहता है— धक्का! हम भी धक्का देने में माहिर हैं। हमारी आदत गिराने की है, उठाने की नहीं है। पर स्थितिकरण का अर्थ है— हृदय की सरलता, मन की सहजता, दया से ओत-प्रोत हो जाना। जिसका हृदय करुणा, से मैत्री से, सहजता से भरा होता है, वही दूसरों को उठा सकता है।

आचार्य बता रहे हैं— किसी कारण या परिस्थितिवश यदि कोई साधर्मी बन्धु अपनी धार्मिक श्रद्धा से डिग रहा हो अथवा अपने व्रत, शील, संयम आदि सदाचार के मार्ग से भ्रष्ट होकर कुमार्गगामी बनने जा रहा हो तो उस समय उसे मार्गभ्रष्ट न होने देकर जिस प्रकार भी हो सके उसकी धार्मिक श्रद्धा शिथिल न होने देना और सदाचारी बनाए रखकर उसे चारित्र भ्रष्ट न होने देना स्थितिकरण अंग है।

शरीर में कोई रोग आ जाये, व्यापार में अचानक बड़ा नुकसान हो जाये, स्त्री-पुत्रादि का वियोग हो जाये, विषयों में मन चलित हो जाये, उस

समय अपने परिणाम को शिथिल होता देखकर धर्मात्मा शीघ्र ही ज्ञान—वैराग्य की भावना के बल से अपनी आत्मा को दृढ़ करे कि 'अरे आत्मा! तेरे को क्या हुआ? ऐसा महान रत्नत्रय धर्म पाकर ऐसी कायरता तुझे शोभा नहीं देती। तू कायर मत हो।' अनेक प्रकार के धर्मचिंतन से अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर करें तथा अन्य साधर्मिजनों को भी धर्म से विचलित होता देखकर उसे पुनः धर्म में स्थिर करें।

सम्यग्दृष्टि हर प्रकार से सहायता देकर उसकी धार्मिक आस्था को दृढ़ करता है। यदि कोई व्यक्ति आर्थिक परेशानियों से अपने मार्ग से विचलित हो रहा है तो उसे आर्थिक सहयोग देकर एवं किसी काम पर लगाकर उसे पुनः धर्म में स्थित करता है। शारीरिक रोग के कारण विचलित हो रहा हो तो औषधि देकर, शारीरिक सेवा करके उसे धर्ममार्ग में लगाता है। यदि कुसंगति या मिथ्या उपदेश के कारण वह अपने धर्म मार्ग से स्खलित हो रहा हो, तो योग्य उपदेश देकर उसे पुनः धर्म में स्थित करने का प्रयास करता है।

मानव मन बहुत चंचल है, अस्थिर है। सांसारिकता में उलझकर अपने पथ से भटक जाता है। इस भटकावयुक्त जीवन को सन्मार्ग पर प्रेरित करना, उसे स्वयं में स्थिर करना स्थितिकरण है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं—

उम्मगं गच्छतं सिवमगे जो ठवेदि अप्पाणं।

सो ठिदि करणेण जुदो सम्मादिट्ठटी मुणेयव्वो।।

जो पुरुष उन्मार्ग की ओर से मन को बचाकर शिवमार्ग में, सन्मार्ग में लगा लेता है, वही स्थितिकरण से युक्त सम्यग्दृष्टि है। चंचल मन को स्वयं में स्थिर कर स्थितप्रज्ञ हो जाने का नाम ही स्थितिकरण अंग है।

जो स्वयं स्थिर नहीं, वह दूसरे को कैसे स्थिर कर सकता है ? इसलिये आचार्य कहते हैं— दूसरे को स्थिर करना है तो पहले स्वयं को

स्थिर करो, दूसरों को विशुद्ध करने के पहले स्वयं को शुद्ध करो। पाश्चात्य दार्शनिक इमर्सन ने सुन्दर वाक्य लिखा है— “तुम किसी को उठाना चाहते हो, तो तुम्हें उससे ऊँचे स्तर पर खड़े होना होगा।”

सम्यग्दृष्टि पहले स्वयं को स्थिर करता है। कभी— कदाचित् उसका मन उसकी श्रद्धा से, उसके ज्ञान से या उसके आचरण से अस्थिर होता है, वह अपने पथ से स्खलित होता है, तब वह अपने मन को सतत सन्मार्ग पर लगाने की चेष्टा करता है। सम्यग्दृष्टि की इस भावना को दर्शाने के लिये ‘रत्नकरण्डक श्रावकचार’ में श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

दर्शनात्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।

प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते॥

दर्शन से, ज्ञान से या आचरण से यदि कोई धर्म के पथ से स्खलित हो जाए, तो उसे पुनः धर्ममार्ग में स्थिर करना स्थितिकरण है। यह स्व व पर के लिये है। सच्चा सम्यग्दृष्टि अपने मन को धर्म की राह पर स्थिर करने का प्रयास करता है। जो स्वयं अस्थिर हैं, वे दूसरों को स्थिर करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अज्ञानी दूसरे का अज्ञान मिटाने का दंभ भर रहे हैं। आचार्यश्री कहते हैं— “यदि संयमी साधु का स्थितिकरण करना ही है, तो पहिले संयम के मार्ग पर स्वयं चलो। असंयमी द्वारा संयमी का स्थितिकरण कैसे हो सकता है?”

किसी गाँव में एक व्यक्ति था। वह ही वहाँ सबकुछ बना हुआ था। विद्वान् पंडित, वैद्य, हकीम सब—कुछ। क्षयरोग/टी.वी. का एक मरीज उसके पास इलाज के लिये आया। उस वैद्य ने उसका निरीक्षण किया और कहा— “ठीक है, चिंता की कोई बात नहीं है, तुम्हारा रोग जल्दी ठीक कर देंगे।” रोगी बड़ा प्रसन्न हुआ। बड़ी उमंग से पूछ बैठा— ‘वैद्य जी! लगता है इस रोग का आपको बहुत अच्छा अनुभव है।’ वह वैद्य

एकदम चमक कर बोला— “अनुभव की क्या बात है? मैं खुद पिछले 20 साल से इसका मरीज हूँ।”

कैसी विडंबना है? जो खुद 20 साल में अपना रोग नहीं मिटा पाया वह दूसरों की चिकित्सा कर रहा है, उसका निदान करने का दावा कर रहा है।

स्थितिकरण अंग कहता है कि पहले स्वयं को निरोग करो, तब अन्य की चिकित्सा करो। अपने जीवन में आरोग्य आये, यह प्रथम शर्त है, फिर अन्य को सहारा देना।

स्थितिकरण अंग संदेश देता है— स्वयं को स्थिर करो। कोई मार्ग से स्खलित हो रहा हो, उसे भी स्थिर करने का यत्न करो। पथ से स्खलन के कई कारण हो सकते हैं, अतः गिरते को गिरने दो, ऐसा मत सोचो। आज वह गिर रहा है तो कोई परिस्थिति आ गई होगी। उसे सहारा दो, कदाचित् वह सँभल जाये। उसे आश्रय देना कर्तव्य मानना चाहिये। उसकी परिस्थिति पर विचार करना चाहिये। आज सहारा देने वालों की कमी हो रही है। इसलिये आचार्य कहते हैं— किसी को आश्रय दो, सहारा दो तो उपगूहन की पृष्ठभूमि में हो। प्रचार—प्रसार से स्थितिकरण नहीं होता। यदि कोई पथच्युत हो रहा है— तो पता करना चाहिये कि इसका क्या कारण है? कोई पारिवारिक समस्या है, कोई आर्थिक कठिनाई है, कोई सामाजिक समस्या या राजनैतिक दबाव के कारण तो वह धर्म से दूर नहीं हो रहा है। परिस्थिति को जानकर उसका समाधान करें, उसे सहयोग दें। उसकी समस्या का निदान करके उसे धर्मपथ पर स्थिर करना चाहिए। यदि कोई शारीरिक कष्ट हो तो उसकी सेवा—सुश्रुषा कर उसकी धार्मिक आस्था को सुदृढ़ करें, उसी का नाम स्थितिकरण है।

सभी को परस्पर एक दूसरे की सहायता करना चाहिये। एक घटना जबलपुर के एक व्यापारी ने सुनाई थी। एक बार कई व्यापारी जबलपुर से

कलकत्ता जा रहे थे। उनमें एक सिंधी व्यापारी भी था। उसके चालीस हजार रुपये ट्रेन में चोरी हो गये। वह बहुत दुःखी हुआ। हताश हो गया। उसी डिब्बे में आठ सिंधी व्यापारी भी थे। उन्हें इस बात का पता चला, तो वे उसे दिलासा दिलाते हुए कहने लगे— “तुम दुःखी मत होओ, हम आठ लोग हैं। प्रत्येक तुम्हें पाँच-पाँच हजार देते हैं, तुम अपना काम करो। जब रुपये हो जायें, तो वापस कर देना। “श्रेष्ठ सहयोग की भावना का यह अनुकरणीय उदाहरण है।”

धर्म तभी तक सुरक्षित है, जब तक धर्मात्मा और धर्मपरायण लोग हों। दोनों को ही संरक्षण देने की आवश्यकता है। यही सच्चा स्थितिकरण है। आचार्य वीरनंदि महाराज ने लिखा है—

**जैनानामापदगतांस्तस्मादुपकुर्वन्तु सर्वथा।
यो समर्थोपि उपेक्षेत स— कथं समयी भवेत्॥**

यदि कोई धर्मात्मा आपत्तिग्रस्त हो, तो उसे सब प्रकार से सहयोग देना चाहिये, क्योंकि “न धर्मो धार्मिकैर्बिना।” धर्मात्माओं के रहते तक ही धर्म है। जो व्यक्ति समर्थ होकर भी किसी आपत्तिग्रस्त धर्मात्मा की उपेक्षा करता है, वह कैसा धर्मात्मा है? विपरीत परिस्थितियों में कोई भी धर्म से डिग सकता है।

अच्छे-अच्छे तपस्वी भी पथ से विचलित हो सकते हैं। शास्त्रों में उल्लेख है कि द्वीपायन मुनिराज के भाव सर्वार्थसिद्धि जाने के योग्य थे। परन्तु अन्त समय में जब उन पर उपसर्ग किया गया, तो वे अपने पथ से च्युत हो गये और मरकर दुर्गति में चले गये। यदि पथच्युत न होते, तो केवल एक भव ही शेष था, सही अर्थ में सिद्धि हो जाती, पर यही तो परिणामों की विचित्रता है कि पथच्युत होने में भी देर नहीं लगती। इसलिये आचार्य कहते हैं कि जहाँ तक बने, ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित न होने दें जिससे कोई स्खलित हो। सच्चा सम्यग्दृष्टि सदा दूसरों को

उठाने का ही प्रयास करता है।

पथ से शिथिलता के कई कारण उत्पन्न हो सकते हैं, कोई परिस्थिति आ सकती है। बीमारी हो, ज्ञान का अभाव हो, मौसम प्रतिकूल हो, चर्या सही नहीं हो पा रही हो तो सहयोग देकर कर्तव्य का पालन करते हुये कारण जानकर पूर्ण सहारा देना चाहिये, लेकिन दुष्प्रचार-प्रसार करते हुये अस्थितिकरण करने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। समस्या को समझकर ही समाधान करना चाहिये, किसी दूसरे से किसी के बार में कुछ सुनकर टीका-टिप्पणी पर एकदम से उतारू नहीं होना चाहिये, शान्तिपूर्वक समझाना चाहिये।

खजुराहो में एक बार कोई मुनिराज आये थे। उनकी चर्या से वहाँ के लोग असंतुष्ट थे। वहाँ उन्हें कपड़े पहनाने की तैयारी हो गई। कटनी पंडित जगन्मोहन लाल जी उन दिनों सतना में थे। उन्हें सूचना मिली कि खजुराहो में इस समय एक पंडित की बड़ी आवश्यकता है।

जगन्मोहन जी तुरन्त खजुराहो रवाना हो गये। वहाँ उन्होंने वस्तुस्थिति का पता किया। बताया गया कि महाराज जी दिन भर अपने शरीर पर पानी डालते रहते हैं, बार-बार घास पर लेट जाते हैं, रात्रि में इधर-उधर चहल-कदमी करते हैं। पंडित जी ने लोगों को समझाया, 'देखो भाई! कपड़ा पहनना-पहनाना तो सरल है, किन्तु कपड़ा उतारना बहुत कठिन है। कई भवों के पुरुषार्थ का फल मिलता है, तब कहीं मुनि अवस्था धारण कर पाते हैं। इतना बड़ा फैसला करने के पहले क्या आपने महाराज जी से कुछ चर्चा की?' सभी ने कहा- "नहीं।"

सभी के "नहीं" कहने पर उन्होंने सब को रोका। स्वयं महाराज जी के पास गए और विनयपूर्वक नमस्कार कर उनसे पूछा- "महाराज जी आपने कितने सौभाग्य से यह मुनिपद धारण किया है। महाव्रतों का पालन तो अत्यंत दुर्लभ है। अनेक जन्मों के पुण्य और पुरुषार्थ के फल से

यह अवस्था मिलती है। अब आपको कौन-सा कष्ट है? कौन सी परिस्थिति बन गई है? आपके विषय में जो सुना है, वह इस पद की गरिमा के अनुरूप नहीं है।”

महाराज जी की आँखों में पश्चाताप के आँसू आ गये। उन्होंने बताया— “पंडित जी। शरीर में बहुत वेदना होती है। सारे शरीर में दाह हो रही है। एक सप्ताह से ठीक से आहारचर्या नहीं हो रही है। इस दाह को शांत करने के लिये शरीर पर बार-बार पानी डालता हूँ। रात्रि में कमंडलु का जल खत्म हो जाने पर घास पर लेटना पड़ता है। मैं स्वयं चिंतित रहता हूँ। पता नहीं कैसे पाप का उदय आ गया? क्या करूँ ? कुछ समझ में नहीं आता।

पंडित जी को वस्तुस्थिति समझ में आ गई। उन्होंने मुनिवर से कहा— “आप महाव्रती हैं। आप यह अच्छी तरह जानते हैं कि तन की दाह को शांत नहीं किया जा सकता, मन की दाह को शांत किया जा सकता है। इस आत्मा ने नरकों की यातनायें भी सही हैं, फिर भी इसका कुछ नहीं बिगड़ा, तो फिर इस थोड़ी-सी वेदना से विचलित होकर आप अपने मार्ग से स्खलित क्यों होते हैं? हमारा कर्तव्य है, हम आपकी ठीक से वैयावृत्ति करेंगे। आप इस ओर से निश्चित रहें।”

बाहर आकर पंडित जी ने वहाँ के लोगों से तेज स्वर में कहा— “कपड़ा पहनाने की कोशिश करने के पहले आप लोगों ने स्थिति को जानने की कोशिश क्यों नहीं की? क्या ठीक से वैयावृत्ति नहीं करना चाहिये? महाराज अस्वस्थ हैं, तो उनकी चिकित्सा कराना भी तो हमारा कार्य है। ठीक से आहारचर्या कराना, अपथ्य न देना क्या आवश्यक नहीं है? तुम कर्तव्य भूलकर साधु को पथ से स्खलित बनाने वाली परिस्थितियाँ बना रहे हो।

पंडित जी की कुशलता से उस दिन एक बड़ी घटना टल गई। यदि

पंडित जी थोड़े भी लेट हो जाते, तो एक मुनिराज को कपड़ा पहना दिये जाते। संसार में किस साधक को कब चारित्रमोहनीय कर्म का उदय आ जाये, कहा नहीं जा सकता। मुनि पुष्पडाल को आया, मुनि माधनन्दि को आया, द्वीपायन मुनि को आया, रथनेमि को आया। कुछ परिणामों की विचित्रता थी। पर सम्यग्दृष्टि जीव तो वारिषेण मुनिराज के समान सदा स्थितिकरण करने का ही प्रयास करता है।

भगवान् महावीर के समय में राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक का राज्य था। उनकी महारानी चेलनादेवी और पुत्र वारिषेण था। राजकुमार वारिषेण की अत्यन्त सुन्दर 32 रानियाँ थीं। इतना होने पर भी वह वैरागी था और उसे आत्मा का ज्ञान था।

राजकुमार वारिषेण एक समय उद्यान में ध्यानस्थ थे। उधर से ही विद्युत नामक चोर एक कीमती हार की चोरी करके भाग रहा था। उसके पीछे सिपाही लगे थे। पकड़े जाने के भय से हार को वारिषेण के पैर के पास फेंक कर वह चोर एक तरफ छिप गया। इधर राजकुमार को ही चोर समझकर राजा ने उसे मौत की सजा सुना दी, परन्तु जैसे-ही जल्लाद ने उस पर तलवार चलाई, वैसे-ही वह वारिषेण के गले में तलवार के बदले फूल की माला बन गई। ऐसा होने पर भी राजकुमार वारिषेण तो ध्यान में मग्न थे।

ऐसा चमत्कार देखकर चोर को पश्चाताप हुआ। उसने राजा से कहा— “असली चोर तो मैं हूँ, यह राजकुमार निर्दोष है।”

यह बात सुनकर राजा ने राजकुमार से क्षमा माँगी और उसे राजमहल में चलने को कहा। परन्तु इस घटना से राजकुमार वारिषेण के वैराग्य में वृद्धि हुई और दृढ़तापूर्वक उन्होंने कहा— “पिताजी! यह संसार असार है। अब बस होओ। राज-पाट में मेरा चित्त नहीं लगता। मैं आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। इसलिए अब तो मैं दीक्षा लेकर मुनि बनूँगा।”

ऐसा कह कर वे तुरन्त ही जंगल में आचार्य भगवन्त के पास गये और उन्होंने दीक्षा ले ली..... और वे आत्मा को साधने लगे।

राज्य के मंत्री का पुत्र, जिसका नाम पुष्पडाल था, बालपने से ही वारिषेण का मित्र था। एक बार वारिषेण मुनि विहार करते-करते पुष्पडाल के गाँव पहुँचे। पुष्पडाल ने उन्हें विधिपूर्वक आहारदान दिया। इस समय अपने पूर्व के मित्र को धर्म-बोध देने की भावना उन मुनिराज को उत्पन्न हुई। आहार के पश्चात् मुनिराज वन की ओर जाने लगे। विनय से पुष्पडाल भी उनका कमंडलु लेकर पीछे-पीछे चलने लगा। कुछ समय चलने पर पुष्पडाल के मन में विचार आया कि गाँव तो अब पीछे छूट गया है और वन भी आ गया है। मुनिराज मुझे रुकने को कहेंगे तो मैं अपने घर वापस चला जाऊँगा, परन्तु मुनि महाराज आगे बढ़े ही जा रहे थे.....। मित्र को वापिस जाने को उन्होंने कहा ही नहीं।

पुष्पडाल को घर जाने की आकुलता होने लगी। उसने मुनिराज को याद दिलाने के लिए कहा— “हे महाराज! जब हम छोटे थे, तब इस तालाब पर आते थे और आम के पेड़ के नीचे साथ-साथ खेलते थे, यह पेड़ गाँव से दो-तीन मील दूरी पर है..... हम गाँव से बहुत दूर आ गये हैं।” यह सुनकर भी वारिषेण मुनि ने उसे वापस जाने को नहीं कहा। परम हितैषी मुनिराज मोक्ष का मार्ग छोड़ कर संसार में जाने को क्यों कहेंगे?

अंत में वे आचार्य महाराज के पास आ पहुँचे। वारिषेण मुनि ने उनसे कहा— “प्रभो! यह मेरा पूर्व का मित्र है।”

आचार्य महाराज ने उसे निकटभव्य जानकर दीक्षा दे दी। सच्चा मित्र तो वही है, जो जीव को भव-समुद्र से बचाये।

अब, मित्र के अनुग्रहवश पुष्पडाल भी मुनि हो गये थे और बाहर में मुनि के योग्य क्रिया करने लग गये थे, परन्तु उनका चित्त अभी संसार से

छूटा नहीं था। भाव—मुनिपना अभी उन्हें हुआ नहीं था। प्रत्येक क्रिया करते समय उन्हें अपने घर की याद आती थी, सामायिक करते समय उन्हें बारम्बार पत्नि का स्मरण होता रहता था। वारिषेण मुनि उनके मन को स्थिर करने के लिए उनके साथ में ही रह कर उन्हें बारम्बार उत्तम ज्ञान—वैराग्य का उपदेश देते थे, परन्तु अभी उनका मन धर्म में स्थिर हुआ नहीं था। ऐसा करते—करते बारह वर्ष बीत गये। एक बार वे दोनों मुनि भगवान् महावीर के समवसरण में बैठे थे। वहाँ इन्द्र प्रभु की स्तुति करते हुये कहते हैं— “हे नाथ! यह राजभूमि अनाथ होकर आप के विरह में रो रही है और उसके आँसू नदी के रूप में बह रहे हैं।”

इन्द्र ने तो भगवान् के वैराग्य की स्तुति की, परन्तु जिसका चित्त अभी वैराग्य में पूरी तरह लगा नहीं था— ऐसे पुष्पडाल मुनि को तो यह बात सुन कर ऐसा लगा— “अरे! मेरी पत्नि भी इस भूमि की तरह बारह वर्ष से मेरे बिना रो रही होगी और दुःखी हो रही होगी। इसलिए अब तो चलकर उससे बात करके आयेंगे।

ऐसा विचार करके पुष्पडाल तो किसी को कहे बिना ही घर की तरफ जाने लगे। वारिषेण मुनि उनकी चेष्टा समझ गये। उनके हृदय में मित्र के प्रति धर्म—वात्सल्य जागा और किसी भी तरह उनको धर्म में स्थिर करना चाहिये— ऐसा विचार करके उनके साथ चलने लगे और पहले राजमहल की ओर गये।

पूर्व मित्र सहित मुनि बने राजकुमार को महल की तरफ आते हुए देखकर चेलना रानी को आश्चर्य हुआ, अरे ! क्या वारिषेण मुनिदशा का पालन नहीं कर सके, इसलिए लौट कर आ रहे हैं?— ऐसा उन्हें सन्देह हुआ। उनकी परीक्षा के लिए उन्होंने एक लकड़ी का आसन और दूसरा सोने का आसन रख दिया, परन्तु वैरागी वारिषेण मुनि तो वैराग्यपूर्वक लकड़ी के आसन पर ही बैठे, और इससे चतुर चेलनादेवी समझ गई कि

राजकुमार का मन तो वैराग्य में दृढ़ है, अतः उनके आगमन में दूसरा ही कोई हेतु होना चाहिये।

वारिषेण मुनि के आते ही उनके गृहस्थाश्रम की बत्तीस रानियाँ भी दर्शन के लिए आईं। राजमहल के अद्भुत वैभव को और अत्यन्त सुन्दर 32 रूप-यौवनाओं को देखकर पुष्पडाल को आश्चर्य हुआ। वे मन-ही-मन में सोचने लगे— “अरे! ऐसा राज-वैभव और ऐसी रूपवती 32 रानियाँ होने पर भी यह राजकुमार उनके सामने भी नहीं जाता, उनको छोड़ने के बाद उन्हें याद भी नहीं करता और आत्मा को ही साधने में यह अपना चित्त लगाये रखता है। और मैं तो एक साधारण स्त्री का मोह भी मन से नहीं छोड़ सका। अरे रे, बारह वर्ष का मेरा साधुपना बेकार चला गया।”

तब वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल से कहा— “हे मित्र! अब भी यदि तुम्हें संसार का मोह हो तो तुम यहीं रह जाओ। इस सारे वैभव को भोगो! अनादि काल से जिस संसार के भोगने पर भी तृप्ति नहीं हुई, अब भी तुम उसे भोगना चाहते हो तो लो, यह सब तुम भोगो।”

वारिषेण की बात सुनकर पुष्पडाल मुनि अत्यन्त शर्मिन्दा हुए, उनकी आँखें खुल गईं, उनकी आत्मा जाग उठी।

राजमाता चेलना भी अब सबकुछ समझ गई और धर्म में स्थिर करने के लिए उन्होंने पुष्पडाल से कहा— “अहो मुनिराज! आत्मकल्याण करने का ऐसा अवसर बारम्बार नहीं मिलता। इसलिए अपना चित्त मोक्षमार्ग में लगाओ। यह संसार तो अनन्तबार भोग चुके हो, उसमें किंचित् भी सुख नहीं है.....। इसलिए उससे ममत्व छोड़ कर मुनिधर्म में अपना चित्त स्थिर करो।” वारिषेण मुनिराज ने भी ज्ञान-वैराग्य का बहुत उपदेश दिया और कहा—

“हे मित्र! अब तुम अपने चित्त को आत्मा की आराधना में स्थिर करो और मेरे साथ मोक्षमार्ग पर चलो।” तब पुष्पडाल ने सच्चे हृदय से कहा— “प्रभो! आपने मुझे जिनधर्म से पतित होने से बचा लिया है और सच्चा

उपदेश देकर मुझे मोक्षमार्ग में स्थिर किया है। सच्चे मित्र आप ही हो। आपने धर्म में मेरा स्थितिकरण करके महान उपकार किया है। अब मेरा मन संसार से और इन भोगों से सच में उदासीन हो गया है और आत्मा के रत्नत्रय धर्म की आराधना में स्थिर हो गया है। स्वप्न में भी अब इस संसार की इच्छा नहीं रही। अब तो मैं भी आपकी तरह अन्तर में लीन होकर अपनी आत्मा का कल्याण करूँगा। इस प्रकार पश्चाताप करके पुष्पडाल फिर से मुनिधर्म में स्थिर हो गये और दोनों मुनिवर वन की तरफ चल दिये।

यदि कोई भी साधर्मी धर्मात्मा कदाचित् शिथिल होकर धर्ममार्ग से डिगता हो तो उसका तिरस्कार नहीं करना, अपितु प्रीतिपूर्वक उसे धर्ममार्ग में स्थिर करना चाहिये। उसकी सर्व प्रकार से सहायता करके, धर्म में उत्साह बढ़ाकर, जैनधर्म की परम महिमा कर, वैराग्यपूर्ण सम्बोधन से, किसी भी प्रकार से धर्म में स्थिर करना चाहिए। उसी प्रकार स्वयं अपने आत्मा को भी धर्म में स्थिर करके, चाहे जितनी भी प्रतिकूलता हो, फिर भी धर्म से थोड़ा भी डिगना नहीं चाहिए।

स्थितिकरण अंग के धारक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा स्व व पर को सन्मार्ग से शिथिल होता जानकर उसका स्थितिकरण करते हैं। रत्नत्रय की साधना में अपनी आत्मा को या पर की आत्मा को स्थिर करना ही वास्तव में सम्यक्त्व का स्थितिकरण अंग है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— जो गिर रहा है वह अपनी यात्रा प्रारम्भ कर चुका है। जो चींटी बार—बार चढ़ती हुई गिर रही है, वह छत पर पहुँचने के लिए सचेष्ट है। इसी तरह साधक भी अपनी मंजिल को पहचान चुका है और वहाँ वह एक दिन पहुँचेगा ही। अतः जो गिर रहा है, जो स्खलित हो रहा है, उससे घृणा न करो। उससे ऐसा कोई शब्द भी न कहो जिससे उसके हृदय को कोई आघात पहुँचे। गिरते हुये को केवल प्रेरण दो, केवल एक हस्तावलम्बन प्रदान करो और बस, फिर

सब ठीक हो जायेगा।

एक मास्टर साहब थे। वे 19-20 लड़कों को पढ़ाते थे। एक दिन दोपहर में खेलते-खेलते बच्चों को प्यास लगी। सब बच्चों ने विद्यालय में प्यास की तृप्ति की। केवल एक लड़का पास के तालाब में प्यास बुझाने चला गया। संयोगवश उसका पैर फिसल गया और वह डूबने लगा। उसकी आवाज लड़कों तथा मास्टर साहब के कानों में पड़ी। सभी दौड़े आये, किन्तु मास्टर साहब बजाय उस बच्चे को बचाने के उसे भाषण पिलाने लगे। लड़का डूबता चला जा रहा है और वे लेक्चर पिलाने में लगे हैं। एक आदमी वहाँ आता है और मास्टर साहब से उस बालक की जान बचाने को कहता है। “नहीं, मैं तो इसे भाषण ही पिलाऊँगा। यही समय है इसको भाषण पिलाने का।” उस आदमी ने उस बालक की प्राणरक्षा की। क्या हम ऐसे मास्टर को प्रज्ञ कहेंगे? नहीं, कभी नहीं। प्रज्ञ वे हैं, जो रक्षा करते हैं, डिगते हुये चरणों को स्थित करते हैं।

सीताजी ने अबला होते हुये भी अपने पति श्रीराम को धर्म में स्थित रहने के लिये कहा था। कृतान्तवक्र जब उन्हें लेकर जंगल पहुँचा और रथ में से उतरने के लिये कहा, तो सीता किञ्चित्मात्र भी आकुलित नहीं हुई। उन्होंने अपने आपको तो धर्म में स्थिर किया ही और सेनापति से कहा— “तुमने अपना कार्य किया और राजाज्ञा का पालन अनुचर होकर करना भी चाहिए। महाराजा राम देशोन्नति/लोकलाज के कारण कहीं अपने धर्म का परित्याग न कर दें, बस इतना उनसे अवश्य कह देना।

दृष्टि और चरण दोनों लड़खड़ाने लगें, उस समय जो सहारा देते हैं, वास्तव में वे ही प्रज्ञ हैं। सीता ने उस असहाय अवस्था में भी राम को सम्बल प्रदान किया था। धर्म में स्थित करने के लिये वे वास्तव में प्रज्ञ थीं। ‘पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय’ में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है—

कामक्रोधमदादिसु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।

श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥

काम, क्रोध, मदादि विकार न्यायमार्ग से अर्थात् धर्ममार्ग से विचलित करने के लिए प्रगट हुये हों, तब शास्त्रानुसार अपनी और पर की स्थिरता करना स्थितिकरण अंग है। कभी भी गलती को दोहराना नहीं चाहिये। गलती करके स्वयं की निन्दा करते हुये स्वयं धर्म में स्थिर हों व दूसरों की गलती दिख जाये तो उन्हें सम्बोधित करें। उसे भी स्थिर करें। सम्यक्मार्ग में आना और लाना ही तो स्थितिकरण है।

यदि हम दूसरों का स्थितिकरण करना चाहते हैं तो पहले स्वयं को धर्म में स्थिर करें। आज जो स्वयं आरम्भ-परिग्रह से सहित हैं वे मुनिराजों का स्थितिकरण करना चाहते हैं। यह तो चींटी द्वारा हाथी की सुरक्षा के लिए खून देने वाली बात है।

एक बार एक चींटी बड़ी तेजी से भागी जा रही थी तभी उसकी सहेली ने उससे पूछा—

“अरी बहन! इतनी जल्दी में कहाँ?”

“खून देने”—सहेली चींटी ने चलते हुये उत्तर दिया,

“किसे?” चींटी ने फिर पूछा।

पता नहीं तुझे? आगे हाथी का एक्सीडेंट हुआ है— सहेली चींटी ने जवाब दिया।

जो स्वयं धर्म में स्थिर हो, वही दूसरों का स्थितिकरण कर सकता है। स्थितिकरण अंग कहता है— पहले अपने जीवन को सुधारो, फिर अन्य को सुधारने के लिये कहो।

एक बार एक माँ अपने छोटे बेटे को लेकर वर्णी जी के पास गई और बोली— मेरा यह बेटा गुड़ बहुत खाता है, आप इसका गुड़ खाना छुड़वा दीजिये। वर्णी जी बोले— आप इसे लेकर 15 दिन बाद आना।

वह माँ 15 दिन बाद पुनः लड़के को लेकर वर्णी जी के पास पहुँची। वर्णी जी ने उस लड़के से कहा, 'तुम गुड़ खाना छोड़ दो।' लड़के ने तुरन्त गुड़ न खाने का नियम ले लिया। वह माँ बोली— जब आपको इतना ही कहना था, तो 15 दिन पहले ही क्यों नहीं कह दिया था ? वर्णी जी बोले— उस समय मैं स्वयं गुड़ खाता था। यदि तब मैं उससे गुड़ न खाने के लिये कहता तो वह गुड़ खाना नहीं छोड़ता। जब मैंने इन 15 दिनों में स्वयं गुड़ खाना छोड़ दिया, तभी मेरे कहने से उस लड़के ने गुड़ न खाने का नियम ले लिया।

स्वयं को धर्म में स्थिर करें और परिस्थितिवश कोई साधर्मी बन्धु धर्म से स्खलित हो रहा हो तो पुनः धर्म में स्थिर करने का प्रयास करें। यह बात निश्चित है कि जिसकी आत्मा में धर्म के प्रति वात्सल्य भाव होगा, वह अपनी प्रज्ञा के माध्यम से स्वयं रत्नत्रयवान् होगा और दूसरों को भी उस मार्ग में स्थिर करेगा। जिसकी आत्मा में सम्यग्दर्शन का सूरज उदित हो जाता है, वह नियम से साधर्मी को बढ़ता, फलता—फूलता देखता है। सरलचित्त व्यक्ति की ही आत्मा से करुणा का झरना फूटता है, वही पतितों का उद्धार करता है, आत्मा के मैल को धोता है। अगर हमने गिरते हुये को नहीं संभाला तो गिरता हुआ व्यक्ति ही बदनाम नहीं होगा, अपितु धर्म भी बदनाम होगा, मार्ग भी कलंकित होगा।

संसार में सभी एक दूसरे के सहारे आगे बढ़ रहे हैं। बिना बीज के वृक्ष नहीं उगता, बिना वृक्ष के बीज नहीं होता। यह परस्पर का सहयोगिता सम्बन्ध है। हम स्वयं सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र को स्वीकारते हुये अन्य को भी उसमें स्थिर करें; यही स्थितिकरण है। यही सोचें कि संसार की बुराइयाँ न मुझे पसन्द हैं, न दूसरों में मैं इन बुराइयों को देखना चाहता हूँ। इसलिये यथाशक्ति मैं इन्हें त्यागता हूँ और दूसरों को भी बुराई से बचाने की चेष्टा करूँगा। मुझे यह संसार पसन्द नहीं है, इसलिये मैं पर

को त्यागता हूँ, निजात्मा में लीन होता हूँ। यही विभाव का त्याग भाव वास्तविक स्थितिकरण अंग है। मनुष्यभव धारण करके मनुष्य को सदा स्थितिकरण अंग की भावना करनी चाहिये।

वात्सल्य अंग

वात्सल्य का अर्थ होता है— प्राणीमात्र के प्रति प्रेम का भाव, करुणा का भाव, मैत्री का भाव, आत्मीयता का भाव। जिस प्रकार एक माँ का प्रेम पुत्र के प्रति होता है, उसी प्रकार यह प्रेम धर्मात्मा का धर्मात्मा के प्रति होता है। वात्सल्यधारी की निगाहें कर्मों की ओर नहीं, गुणों की ओर ही जाती हैं। जिस प्रकार माँ को अपना काला बच्चा भी सबसे सुन्दर नजर आता है; उसी प्रकार वात्सल्यधारी को भी दूसरे के सुन्दर गुण ही नजर आते हैं।

वात्सल्य अंग सम्यग्दृष्टि का एक प्रमुख अंग है। वात्सल्य का आत्मा से गहरा सम्बन्ध है। वात्सल्य की गहराई को समझनेवाला व्यक्ति सभी के प्रति सद्भावना व निश्छल प्रेम रखता है। वह स्वयं को कठिनाई में डालकर भी दूसरों को अपने द्वारा कोई कष्ट नहीं होने देना चाहता।

स्वामी विवेकानन्द विदेश यात्रा के लिये जा रहे थे। उनकी यात्रा अहिंसा सिखाने, प्रत्येक प्राणी को सुख की अनुभूति कराने के प्रयोजन से थी। स्वामी विवेकानन्द यात्रा के पूर्व माँतुल्य गुरुपत्नी शारदा के पास आशीर्वाद प्राप्त करने गये तथा बोले— माँ! गुरु आज्ञा पूर्ण करने जा रहा हूँ। अतः आपका आशीर्वाद परम आवश्यक है। पर माँ ने जैसे विवेकानन्द का एक भी शब्द न सुना हो। आशीर्वाद में विलम्ब देखकर विवेकानन्द ने कहा— माँ! आशीर्वाद में विलम्ब क्यों? माँ ने कहा— विवेक! अभी आशीर्वाद देने का अवसर नहीं है। विवेकानन्द ने कहा— माँ! ऐसी क्या बात है?

आशीर्वाद देने में क्या परिश्रम करना पड़ता है? मात्र इतना ही तो कहना पड़ता है कि पुत्र! तेरी मनोकामना पूर्ण हो। माँ करीब दस मिनट तक सोचती रही, फिर बोली— उस आले में चाकू रखा है, उसे उठा ला। उस समय विवेकानन्द ने विचार किया—क्या रहस्य है? समझ में नहीं आया। वातावरण बदल गया। विवेकानन्द चाकू उठा लाये और ज्यों—ही माँ के हाथ में दिया, त्यों—ही माँ ने कहा— ‘तेरी मनोकामना पूर्ण होगी। मेरा आशीर्वाद तेरे साथ है। सफलता में कोई सन्देह नहीं।’ विवेकानन्द चकित रह गये। माँ ने कहा— मैंने परीक्षा ली थी, जिसमें तुम पास हुये। चाकू का फलक मैंने तुम्हारी ओर देखा और मूठ (लकड़ी का भाग) मेरी ओर। किसी भी जीव की भावना को ठेस (धक्का) न लगे, यही अहिंसा धर्म है, वात्सल्य है। वात्सल्य की गहराई को समझने वाला व्यक्ति स्वयं को कठिनाई में डालकर भी दूसरों को अपने द्वारा कोई कष्ट नहीं होने देना चाहता है। आचार्य समन्तभद्र महाराज ने वात्सल्य अंग का वर्णन करते हुये लिखा है—

स्वयुत्थान प्रति सद्भावः सनाथापेत कैत वा।

प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥

साथ में रहने वालों के प्रति सद्भाव रखना, उनके विकास की भावना रखना, निश्छल प्रेम करना, उनका यथायोग्य आदर करना वात्सल्य अंग कहलाता है।

हमें सभी के प्रति वात्सल्य भाव रखना चाहिये। “भावना भवनाशिनी और भावना भववर्धिनी” होती है। हमारी श्रेष्ठ भावनायें ही सबका कल्याण करने वाली, सुख—शान्ति देने वाली होती हैं। हमारे भावों का प्रभाव वृक्षों आदि पर भी पड़ता है।

एक बार इंग्लैण्ड के बादशाह ने अपनी राजसभा में सभासदों से प्रश्न किया— भारत के बादशाह ज्यादा क्यों जीते हैं? मंत्री आदि ने अनेक

प्रकार से उत्तर देकर बादशाह को संतुष्ट करने का प्रयास किया, लेकिन राजा संतुष्ट नहीं हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि भारत जाकर किसी बादशाह से ही इसका उत्तर पूछा जाये। निर्णय के अनुसार बादशाह ने पाँच सौ सुभटों को भारत के एक बादशाह के पास उत्तर प्राप्त करने के लिये भेज दिया। सुभटों ने आकर यथायोग्य सम्मानपूर्वक बादशाह के सामने अपना प्रश्न रखा। बादशाह ने कहा— “पहले आप अपनी थकान आदि तो दूर कर लें” यह कहकर प्रश्न टाल दिया। सुभटों ने फिर वही प्रश्न किया तो बादशाह ने कहा— “जहाँ आप लोग रुके हैं उस मकान के सामने एक बरगद का वृक्ष है। जिस दिन वह जलकर भस्म हो जायेगा, उस दिन मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे दूँगा।”

सुभटों के मन में यह सुनकर तनाव उत्पन्न हो गया कि हम अपने बच्चों—पत्नी आदि से नहीं मिल सकेंगे, अपने देश नहीं जा सकेंगे। अब हमें भारत में ही मरना पड़ेगा। क्योंकि यह हरा—भरा इतना बड़ा वृक्ष कभी जल नहीं सकता, वृक्ष के जले बिना बादशाह हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं देगा और उत्तर प्राप्त किये बिना हम अपने देश नहीं लौट सकते। इस टेंशन के कारण रात—दिन जब भी वे उस वृक्ष को देखते तो सोचते रहते कि हे भगवान्! यह वृक्ष कब जलेगा.....। आखिर उन पाँच सौ सुभटों की दुर्भावनाओं के कारण छह माह में ही वह वृक्ष जलकर भस्म हो गया। वृक्ष को जला देख सुभट खुशी से बादशाह के पास पहुँचे। बादशाह ने कहा— “यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। भारत की प्रजा अपने बादशाह के प्रति हमेशा सद्भावनाएँ रखती है, उसके अधिक—से—अधिक जीने की कामनाएँ करती है। उसका कारण यह है कि भारत के बादशाह अपनी प्रजा के साथ पुत्र के समान वात्सल्य भाव रखते हैं।

वात्सल्य का अर्थ है सच्चा निःस्वार्थ प्रेम। जिसमें कोई दिखावटी या बनावटीपन नहीं रहता। साधर्मी को एक दूसरे के प्रति सच्चा प्रेम होता है,

जैसा माँ का अपने पुत्र पर, गाय का अपने बछड़े पर।

फ्रांस में एक साधु हुआ है। विश्व इतिहास में उसका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उसका नाम “मंसूर” था। विश्व के अन्य किसी दार्शनिक का ऐसा अन्त नहीं हुआ, जैसा “मंसूर” का। कहते हैं कि सबसे पहिले उसके पैर काटे गये और पूछा गया— “अब तुम्हें कुछ कहना है?” मंसूर ने कहा— “प्रेम ही जीवन है।” फिर उसके हाथ काटे गये। मंसूर ने कहा— “प्रेम ही जीवन है।” सुना है एक-एक अंग काटा जाता रहा और पूछा जाता रहा और अंत में जीभ काटने के पूर्व पूछने पर भी मंसूर ने अन्तिम शब्द “प्रेम” ही कहा। हृदय प्रेम से, वात्सल्य से भर चुका है तो प्राणों की परवाह किसे?

वात्सल्य शब्द “वत्स” से बना है। वत्स का अर्थ है— बछड़ा। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के प्रति निश्छल और सच्चा प्रेम रखती है, उसी प्रकार प्रेम—वात्सल्यभाव धर्मात्माओं के प्रति होना अपने भीतर धर्मभाव के होने की सूचना देता है। गाय का रोम-रोम अपने बछड़े को देखकर पुलकित हो उठता है, मन हर्ष से झूम उठता है। इसी तरह एक सम्यग्दृष्टि का हृदय दूसरे धर्मात्मा को देखकर पुलकित होता है। जिसका मन प्रेम/वात्सल्य से भरा होता है, उसके मन में कभी द्वेष का भाव नहीं आता।

एक कथा है— दो साधु साथ-साथ जीवन यापन करते थे। अनायास एक के मन में द्वेष उत्पन्न हुआ। उसने एक दिन अपने साथ वाले छोटे साधु से कहा— अब हम लोग अलग-अलग भिक्षावृत्ति करेंगे, साथ नहीं रहेंगे। छोटा सरल था, प्रेम से भरा था। उसने सहज उत्तर दिया— “जैसा आप ठीक समझें।” बड़े ने कहा— “हमारे पास एक सोने का बर्तन है, क्या करना है उसका?” छोटे ने फिर दुहरा दिया— “जैसा आप ठीक समझें।” बड़े ने कहा— “इसे तुम रख लो।” छोटे ने कहा— “ठीक है।” बड़ा

साधु बोला— “अजीब हो, मैंने कहा तुम रख लो, तो तुम ही रख लोगे? नहीं, इसे मैं रख लेता हूँ।” “ठीक है”, छोटे ने कह दिया। बड़ा कब मानता? फिर बोला— “अभी कह रहे हो ठीक है, मैं रख लूँ, कल दुनियाँ को बताओगे कि बड़े ने सब रख लिया।” छोटा क्या कहता, फिर कह दिया— “जैसा आप ठीक समझें।” बड़े ने कहा— “इसे आधा-आधा कर लेते हैं।” छोटे ने कहा— “ठीक है।” क्रोध में आकर बड़े साधु ने बर्तन को फेंकते हुए कहा— “अजीब आदमी हो, आधा बर्तन न तुम्हारे काम का न मेरे काम का।” छोटे ने पूर्ववत् संयत भाव से दुहरा दिया कि “कह तो रहा हूँ— जैसा आप ठीक समझें।” बड़े ने कहा— “क्या तुम झगड़ा नहीं कर सकते?” “नहीं, मैं झगड़ा नहीं कर सकता” छोटे ने कहा। तो बड़े ने कहा— “उठाओ बर्तन, हम साथ-साथ रहेंगे।” छोटे साधु के चित्त की वृत्ति निश्छल और वात्सल्य युक्त थी।

स्वार्थयुक्त प्रेम छल होता है। वह प्रेम नहीं, चापलूसी है। चापलूसी में हम बहुत महारत हासिल कर चुके हैं। किसी से काम हो तो उसके प्रति प्रेम-ही-प्रेम दर्शाते हैं। पिता की संपत्ति लेने के समय लड़के श्रवणकुमार बन जाते हैं। माल मिला, जायदाद मिली कि इक्किस्वी सदी के ये श्रवणकुमार हरणकुमार बन जाते हैं। यह चापलूसी है, छल है, स्वार्थ प्रेरित है, कपट है। सात्विक प्रेम तो आत्मा की वस्तु है। निश्छल प्रेम में धर्म होता है। वस्तुनिष्ठ स्वार्थ पर टिका प्रेम यथार्थता को छू नहीं सकता। उसे तो प्रेम का फ्रेम ही कहना चाहिए। यदि प्रेम की जगह फूट आ जाये तो बड़े से बड़ा समाज भी किसी उपयोग का नहीं रहता।

एक बहुत विशाल वृक्ष था, हरा भरा। उसकी घनी छाया राहगीरों की थकान मिटाती, फलफूल से लदी डालें पक्षियों को बसेरा देतीं। सदैव पक्षियों की चहचहाट बनी रहती थी। एकाएक वह पेड़ सूखने लगा। पत्तियाँ पीली पड़ने लगीं, झड़ने लगीं, शाखायें सूख कर टूटने लगीं। गाँव

के लोगों ने खूब पानी डाला, खाद आदि डाली, पर सब व्यर्थ। गाँव के एक अनुभवी वृद्ध को सभी ने अपनी समस्या बताई। वह वृक्ष देखने आया। आसपास की मिट्टी खोदी, तो पाया जड़ में कीड़े लगे हुये थे। इसलिये पानी और खाद से लाभ नहीं हो रहा था। उन्होंने कीड़ों को अलग करने का उपाय करने को कहा। कीड़े अलग हो जायेंगे तो वृक्ष स्वतः हरा-भरा हो जायेगा।

बिल्कुल यही स्थिति समाजरूपी वृक्ष की है। इसमें फूट का कीड़ा लग गया है। समाज भी तभी तक फलता-फूलता है जब तक उसमें फूट न हो। यदि सबके मन में वात्सल्य भाव रहे, तो फूट का कीड़ा लग ही नहीं सकता। वात्सल्य और फूट एकसाथ नहीं रहते। जिसके प्रति वात्सल्यभाव होता है, उसके प्रति ईर्ष्याभाव नहीं होता।

दुर्योधन की महत्वाकांक्षा का परिणाम क्या हुआ? महाभारत हुआ। पूरे कौरववंश और पूरे समाज का विनाश। ऐसा अंत हुआ कि आज कोई अपना नाम दुर्योधन/दुःशासन नहीं रखता। हमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समान रूप से सच्चे हृदय से सम्मान करना चाहिए।

राजा हरजसराय जी के सुपुत्र सेठ सुगनचंद अपार धन-सम्पदा के स्वामी थे। वे बड़े दानी थे। एक बार किसी खुशी के अवसर पर उन्होंने पूरे नगर में मिठाई बाँटवाई। उनके सेवक घर-घर जाकर मिठाई बाँट रहे थे। उसी नगर में एक गरीब किन्तु स्वाभिमानी जैन व्यक्ति रहता था। उसने मिठाई स्वीकार नहीं की। सेठ जी के कारिंदों ने पूछा— “भाई! क्यों इंकार कर रहे हो?” उसने कहा— “भाई! मेरा सेठजी से कोई व्यवहार नहीं है। मैंने उन्हें कभी कुछ दिया नहीं, तो फिर उनकी भेंट कैसे ले सकता हूँ?”

वे लोग लौट गये। सेठ जी ने पूछा “सबको मिठाई बाँट आये ? कोई छूट तो नहीं गया।” सेवकों ने बताया “ केवल एक व्यक्ति ने भेंट

नहीं ली। वह कहता था, कि मेरा सेठजी से कोई व्यवहार नहीं है।” सेठ जी बोले— कोई बात नहीं। चलो, मैं चलता हूँ।” सब लोग आश्चर्य में पड़ गये। इतने बड़े श्रेष्ठि, जो राजा को धन उधार देते हैं, वे एक गरीब को मिठाई भेंट करने स्वयं जा रहे हैं ?

सेठ जी ने कहा— “वह भी हमारे समाज का ही अंग है, उसे कैसे छोड़ दूँ? बग्गी पर सेठजी और पीछे—पीछे सेवक मिठाई लेकर चले। उसकी दुकान से कुछ पहले बग्गी से उतरकर सेठ जी पैदल उसकी दुकान पर गये। वह चने बेचता था। कुछ चने उठाकर फाँक गये। वह बेचारा बहुत दुविधा में पड़ गया, समझ ही नहीं पा रहा था। सेठ जी ने उससे पानी माँगा। उसके पैरों—तले से जमीन खिसक गई। इतने बड़े सम्माननीय व्यक्ति उसकी छोटी—सी दुकान पर आये, चने खाये, अब पानी माँग रहे हैं। कैसे पानी पिलाऊँ ? सुराही तक तो टूटी है। उसे चिंता में देख सेठ जी ने स्वयं टूटी सुराही झुकाई और अंजुली से पानी पी लिया। फिर उनका इशारा पाते ही सेवकों ने मिठाई की टोकरी लाकर उसके सामने रख दी। वह बोला— सेठ जी! मैंने आपको कभी कुछ दिया नहीं, तो मैं आपसे यह कैसे ले सकता हूँ? सेठ जी ने सरलता से कहा— “अरे भाई! मैंने तो तुम्हारा खाया भी और पिया भी है। अब तो गृहण कर लो।” इतना सुनना था कि वह सेठ के चरणों में गिर गया।

यह है वास्तविक वात्सल्यभाव का रूप, सम्यग्दर्शन का अंग—वात्सल्य, जो छोटे—से—छोटे व्यक्ति के भी स्वाभिमान का मान रखना जानता है। जिसके जीवन में धर्म होता है, वह सबको प्रेमभाव से देखता है, किसी की उपेक्षा नहीं करता। वात्सल्यवान् ज्ञानहीन को छोटा नहीं देखता, बलहीन को उपेक्षित नहीं करता, धनहीन से घृणा नहीं करता, रूपहीन को देखकर दूर नहीं भागता। वह सभी के प्रति वात्सल्यभाव रखता है।

हमें प्रत्येक व्यक्ति के प्रति ऐसा ही प्रेम रखना चाहिए। समाज की

एकता और मजबूती के लिए उसके प्रत्येक घटक का सम्मान अनिवार्य है, यदि आज के तथाकथित बड़े लोग सेठ सुगन चंद जी का अनुशरण करने लगें तो समाज की तस्वीर बदल सकती है। वात्सल्य अंग कहता है कि यदि किसी में परिवर्तन लाना चाहते हो तो प्रेम से भरो, प्रेम और वात्सल्य से ही किसी के हृदय में पहुँचा जा सकता है। हृदय में पहुँचे बिना हृदय परिवर्तन संभव नहीं। संत कहते हैं कि अपने हृदय को विशाल बनाओ, सबके प्रति उदार बनो। प्रेम, वात्सल्य और उदारता के बल पर बुरे-से-बुरे व्यक्ति को बदला जा सकता है।

फलटन में एक जैन परिवार था। परिवार के मुखिया सात प्रतिमाधारी थे। वे बहुत सरल और धर्मज्ञ थे। सारा परिवार धर्मपरायण था। दुर्भाग्य से उनका एक पौत्र व्यसनों से ग्रस्त था। वह कुल का कलंक बना हुआ था। वह एक वेश्या के साथ ही रहने लगा था। उसके कारण सारा परिवार बहुत दुःखी था। एक ओर सब सदाचारी-व्रती, जिनधर्म के अनुयायी, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आस्थावान् और दूसरी ओर वह व्यसनों में लिप्त, वेश्यागामी। परिवार के लोगों ने उससे संबंध ही नहीं रखा, वर्षों बीत गये। अब एक शादी का शुभ अवसर आया। परिवार में उमंग उत्साह छा गया। सब नाते-रिश्तेदारों को निमंत्रण भेजे गये। परिवार के प्रमुख दादाजी ने अपने लड़कों से पूछा— “सबको निमंत्रण दे दिया? उस लड़के को बुलाया कि नहीं?” उसके पिता ही कहने लगे— “दादा! उस कुलकलंकी को बुलाने से जग में हँसाई होगी।” दादाजी ने समझाया— “बेटे! खून के रिश्ते ऐसे नहीं भुलाये जाते। जाओ, उसे भी बुला लाओ।”

दादाजी की बात टाली नहीं जा सकती थी। न चाहते हुये भी उसके छोटे भाई को एक निमंत्रणपत्र देकर भेजा गया। वो गया, उसने ऊपर से छोटे भाई को आते देखा, परन्तु नीचे नहीं आया। छोटे भाई ने भी दरवाजे

से ही कार्ड डाल दिया और कह दिया कि शादी में बुलाया है। तिरस्कार का उत्तर भी तिरस्कार से मिला। उसने ऊपर से ही कहा— “फुरसत नहीं है।”

दादाजी ने पूछा— “कौन गया था? क्या कहा उसने?” छोटे ने बताया— वह नहीं आयेगा। उसके मन में पाप है, कैसे आयेगा?

दादाजी— “उससे बात हुई? क्या उसने खुद कहा?”

छोटा— “नहीं, बात नहीं हुई। मैं तो दरवाजे पर कार्ड डाल आया हूँ।”

दादा ने उसे समझाया— “बेटा! कभी भी किसी को बुलाओ, तो मान सम्मान के साथ बुलाना चाहिए। उपेक्षा से, तिरस्कार से नहीं। ठीक है, मैं ही जाता हूँ।”

सारा परिवार स्तब्ध रह गया। 75 वर्ष के बुजुर्ग, सात प्रतिमा के धारी, उस कुलकलंकी को बुलाने एक वेश्या के यहाँ जा रहे हैं, पर उनके अंतस् में वात्सल्य भाव भरा था। उस लड़के को पता चला कि दादाजी उसे बुलाने आ रहे हैं, घबरा गया। दरवाजे पर भागा आया, दादा को सामने देख उनके चरणों में गिर पड़ा। आँखों से अश्रुधार बह चली। दादाजी! आप मुझ अधम के लिये यहाँ क्यों आये? मैं पापी, आपकी मर्यादा और प्रतिष्ठा धूल में मिलाता रहा। अरे, मैं नहीं आता तो क्या अंतर पड़ता था? आज आपके इन पावन चरणों में संकल्प लेता हूँ, सारे व्यसन त्याग कर आपकी बताई राह पर चलूँगा।

इतना सुनना था कि दादाजी ने उसे अपने हृदय से लगा लिया और कहा— “बेटा, सुबह का भूला यदि शाम को घर लौट आता है, तो वह भूला नहीं कहलाता।” जिनागम तो कहता है कि आज जो हीन है, वह कल महान बन सकता है। जो कभी नारकी हुआ है, उन्होंने ही नर से नारायण बनने का मार्ग खोला है। वे नारायण भगवान् हुये हैं। इतिहास गवाह है

कि जितने भी नारायण हुये हैं, वे किसी—न—किसी भव में नारकी भी हुये हैं। अतः आचार्य कहते हैं— “पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। पंक से घृणा करो, पंकज से नहीं। रोग से घृणा करो, रोगी से नहीं।”

इसलिए पं. आशाधर जी ने लिखा है— “नाम का जैनी भी काम का है।” इस वाक्य को ध्यान में रखना चाहिये कि नाम का ही सही, कम—से—कम अहिंसा में आस्था तो रखता है। भले ही आचरण अभी जीवन में न हो। उसके प्रति सद्भावना रखो तो उसमें भी परिवर्तन आ सकता है।

प्रेम में अद्भुत सामर्थ्य है। प्रेम की भाषा में चमत्कारी आकर्षण रहता है। प्रेम और वात्सल्य के बल पर क्रूर—से—क्रूर प्राणी का भी हृदय परिवर्तित किया जा सकता है।

एक गाय चरते—चरते दूर जंगल में निकल गई। शेर की गिरफ्त में फँस गई। शेर उसे खाना चाहता था। गाय ने उससे गिड़गिड़ा कर विनय की— “आपकी क्षुधा की शांति के लिये मैं तैयार हूँ। पर मुझे थोड़ा समय दे दें। शाम हो चली है। मेरा छोटा बछड़ा है। भूखा होगा। उसको अंतिम बार दूध पिला दूँगी तो मन में संतोष रहेगा। मुझे थोड़ी देर के लिये छोड़ दें। मैं उसे दूध पिलाकर तुरंत लौट आऊँगी। फिर आप सहर्ष मुझे खा लेना।” शेर ने उसके गिड़गिड़ाने पर उससे वचन लेकर उसे जाने दिया। गाय अपने बछड़े के पास आई। बछड़े ने देखा कि माँ आज उदास है। उसने पूछा “माँ! क्या बात है ? तू उदास लगती है।”

गाय— “कुछ नहीं, बेटा! तू जल्दी दूध पी ले। मुझे जाना है।

“कहाँ जाना है, माँ?”

“कुछ पूछ मत। आ, जल्दी दूध पी ले।”

“नहीं, माँ! पहले बता, क्या बात है? कहाँ जाना है? इतनी जल्दी क्यों कर रही हो? बता, नहीं तो मैं नहीं पीता। आज भूखा ही रह जाता

हूँ।

गाय को सारा वृत्तांत बताना पड़ा। बछड़ा बोला— “ऐसा कैसे होगा? मेरे जीते जी तू शेर का भोजन बने, असंभव। मैं तेरे साथ चलूँगा, पहले शेर मुझे खायेगा, तब तुझे छू सकेगा।

गाय ने बहुत समझाया, पर बछड़ा नहीं माना। आखिर दोनों शेर के पास पहुँचे।

शेर आश्चर्य में पड़ गया। इतना—सा बछड़ा भी मेरे पास चला आ रहा है। गाय ने कहा— “अपने वचन के अनुसार मैं आ गई हूँ। आप मुझे अपना भोजन बनायें।” पर उसके आगे बछड़ा आ गया और बोला— “मेरे रहते मेरी माँ को नहीं खा सकते। पहले मुझे खाओ।” गाय आगे आ गई— ‘माँ के रहते बेटे पर संकट नहीं आ सकता।’ गाय आगे होती तो बछड़ा आगे हो जाता। बछड़ा आगे होता तो माँ आगे आ जाती। दोनों एक दूसरे के लिये अपने प्राण उत्सर्ग करने को तैयार। माँ—बेटे में निष्ठा और त्याग की उत्कृष्ट भावना ने शेर का हृदय करुणा से भर दिया। शेर ने कहा— “तुम्हारे निश्छल प्रेम/वात्सल्य की भावना ने मेरी भूख मिटा दी है। जाओ, अब तुम दोनों को मैं अभय देता हूँ।” वात्सल्यभाव ने क्रूरता पर विजय पाई।

सम्यग्दृष्टि वही है, जो प्रेम और वात्सल्य की भाषा समझता है। घृणा का उसके हृदय में कोई स्थान नहीं होता। वात्सल्य प्रगट हो जाये तो सम्यक्त्व प्रगट होने में अधिक समय नहीं लगता। बिना किसी स्वार्थ के अपने साधर्मी भाई के प्रति प्रेम की धारा का बहना वात्सल्य है। जिस प्रकार पानी बिना कारण के बहता है, वृक्ष बिना कारण के फल देता है, फूल बिना कारण के सुगन्ध देता है, दीपक बिना कारण के प्रकाश देता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी बिना कारण के अपना वात्सल्य सभी पर बरसाता है। यह वात्सल्य जिह्वा का नहीं, जीवन का विषय है। विचार

नहीं, प्रयोग है। भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। यह बाह्य प्रदर्शन नहीं, आत्मदर्शन है।

माता अपने पुत्र का दुःख देख नहीं सकती। हिरनी अपने बच्चे के प्रेम वश उसकी रक्षा हेतु सिंह के सन्मुख आ जाती है। यदि गाय का बछड़ा कुँए में गिर जाये तो पीछे से आती हुई उसकी माँ भी बछड़े के प्रेम वश उस कुँए में गिर जाती है।

सच्ची माता के प्रेम की बात आती है कि एक बालक के लिये दो स्त्रियों में झगड़ा हुआ। दोनों ने कहा कि यह मेरा पुत्र है। न्यायधीश ने सत्य की परीक्षा हेतु कहा कि बालक के दो टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा दोनों को दे दिया जाये। यह सुनते ही जो सच्ची माता थी वह जोर-जोर से रोने लगी और पुत्र की रक्षा के लिए बोली— उसे ही बालक दे दीजिये, मुझे नहीं चाहिए। अर्थात् सच्ची माता पुत्र का दुःख देख नहीं सकती। माँ का सच्चा प्रेम उमड़ आया और दोनों की परीक्षा भी हो गई कि पुत्र किसका है।

प्रद्युम्न कुमार का जन्म होते ही किसी बैरी ने अपहरण कर लिया था। और जब वे 16 वर्ष की अवस्था में घर पधारे तो उन्हें देखते ही रुकमणी माता के हृदय से वात्सल्य की धारा उमड़ पड़ी। इसी प्रकार साधर्मी का प्रेम भी वास्तविक प्रसंग पर छिपा नहीं रहता। इस अंग में विष्णुकुमार मुनिराज प्रसिद्ध हुये हैं।

उज्जैन नगरी के राजा श्रीवर्मा के बलि इत्यादि चार मंत्री थे। वे नास्तिक थे। उन्हें सच्चे धर्म की श्रद्धा नहीं थी। एक बार उस उज्जैन नगरी में सात सौ मुनियों के संघ सहित आचार्य श्री अकम्पन का आगमन हुआ। सभी नगरजन हर्ष से मुनिवरों के दर्शन करने गये। राजा की भी उनके दर्शन करने की इच्छा हुई और उन्होंने मन्त्रियों को भी साथ में चलने को कहा। यद्यपि इन बलि आदि मिथ्यादृष्टि मन्त्रियों की तो जैन

मुनियों पर श्रद्धा नहीं थी, फिर भी राजा की आज्ञा से वे भी साथ में चले।

राजा ने मुनिवरों को वन्दन किया, परन्तु ज्ञान-ध्यान में तल्लीन मुनिवर तो मौन ही थे। उन मुनियों की ऐसी शान्ति और निस्पृहता देखकर राजा बहुत प्रभावित हुआ, परन्तु मंत्री दुष्ट भाव से कहने लगे— “महाराज! इन जैन मुनियों को कोई ज्ञान नहीं है, इसलिये ये मौन रहने का ढोंग कर रहे हैं, क्योंकि “मौनं मूर्खस्य लक्षणम्”।

इस प्रकार निन्दा करते हुए वे वापस जा रहे थे और उसी समय श्री श्रुतसागर नाम के मुनि सामने से आ रहे थे। उन्होंने मंत्रियों की बात सुन ली। उन्हें मुनिसंघ की निन्दा सहन नहीं हुई, इसलिए उन्होंने उन मंत्रियों के साथ वाद-विवाद किया। रत्नत्रय धारक श्रुतसागर मुनिराज ने अनेकान्त सिद्धान्त के न्याय से मंत्रियों की कुयुक्तियों का खण्डन करके उन्हें चुप कर दिया। इस प्रकार राजा की उपस्थिति में हार जाने से मंत्रियों को अपना अपमान लगा। अपमान से क्रोधित होकर वे पापी मंत्री रात्रि में मुनिराज को मारने के लिए गये। और उन्होंने ध्यान में खड़े मुनिराज के ऊपर तलवार उठा कर जैसे ही उन्हें मारने का प्रयत्न किया, वैसे ही अकस्मात् उनका हाथ खड़ा ही रह गया। तलवार उठाये हुए हाथ वैसे-के-वैसे ही कीलित हो गये और उनके पैर भी जमीन के साथ ही चिपक गये। सुबह होने पर लोगों ने यह दृश्य देखा और राजा को चारों ही मन्त्रियों की दुष्टता की खबर मिली। तब राजा ने उनको गधे पर बैठाकर नगर के बाहर निकाल दिया। युद्धकला में कुशल ऐसे वे बलि आदि मंत्री भटकते-भटकते हस्तिनापुर नगरी पहुँचे और वहाँ राजदरबार में मंत्री बन कर रहने लगे।

हस्तिनापुर भगवान् शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ— इन तीन तीर्थंकरों की जन्मभूमि है। यह कहानी जिस समय घटी, उस समय हस्तिनापुर में राजा पद्मराय राज्य करते थे। उनके एक भाई मुनि हो गये

थे। उनका नाम था विष्णुकुमार। वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते। उन्हें कुछ लब्धियाँ भी प्रगट हुई थीं, परन्तु उनका उन पर ध्यान नहीं था। उनका ध्यान तो आत्मा की केवलज्ञान लब्धि साधने पर था।

सिंहरथ नाम का राजा इस हस्तिनापुर के राजा का शत्रु था और उन्हें बारम्बार परेशान करता रहता था। पद्यराय उसे अभी तक जीत नहीं सका था। अन्त में बलि मंत्री की युक्ति से पद्यराय ने सिंहस्थ को परास्त कर दिया। इसलिए खुश होकर राज ने बलि को मुँहमाँगा वरदान माँगने को कहा, परन्तु बलि मंत्री ने कहा— “हे राजन्! जब आवश्यकता पड़ेगी, तब यह वरदान माँग लूँगा।”

इधर अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि भी देश-विदेश विहार करते हुए भव्यजीवों को धर्म समझाते हुए हस्तिनापुर नगरी पहुँचे। वहाँ अकम्पनाचार्य इत्यादि मुनिवरों को देखकर बलि मंत्री भय से काँप उठा। उसको डर लगा कि इन मुनियों के कारण हमारा उज्जैन का पाप अगर प्रगट हो गया तो यहाँ का राजा भी हमारा अपमान करके हमें यहाँ से निकाल देगा। क्रोधित होकर अपने बैर का बदला लेने के लिए वे चारों मंत्री विचार करने लगे। अन्त में उन पापियों ने सभी मुनियों को जान से मारने की एक दुष्ट योजना बनाई। राजा से जो वचन माँगना बाकी था, वह उन्होंने माँग लिया। उन्होंने कहा— “महाराज! हमें एक बहुत बड़ा यज्ञ करना है, इसलिए सात दिन के लिए यह राज्य हमें सौंप दें।”

अपने वचन का पालन करके राजा ने उन्हें सात दिनों के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं राजमहल में जाकर रहने लगे।

बस, राज्य हाथ में आते ही उन दुष्ट मन्त्रियों ने ‘नरबलि यज्ञ’ करने की घोषणा की और जहाँ मुनिवर विराजे थे, वहाँ चारों ओर से हिंसा के लिए पशु और दुर्गन्धित हड्डियाँ, माँस, चमड़ी तथा लकड़ी के ढेर लगा दिये और उन्हें सुलगाने के लिए बड़ी आग जला दी। मुनियों के

चारों ओर अग्नि की ज्वाला भड़की। मुनिवरों पर घोर उपसर्ग हुआ। लेकिन ये तो थे मोक्ष के साधक वीतरागी मुनि भगवन्त! अग्नि की ज्वाला के बीच में भी वे मुनिराज तो शान्ति से आत्मा के वीतरागी अमृतरस का पान करते रहे। बाहर में भले अग्नि भड़की, परन्तु अपने अन्तर में उन्होंने क्रोधाग्नि जरा भी भड़कने नहीं दी। अग्नि की ज्वालायें धीरे-धीरे बढ़ने लगीं। लोगों में चारों ओर हाहाकार मच गया। हस्तिनापुर के जैन श्रावकों को अपार चिन्ता होने लगी। मुनिवरों का उपसर्ग जब तक दूर नहीं होगा, तब तक सभी श्रावकों ने खाना-पीना त्याग दिया।

अरे! मोक्ष को साधनेवाले सात सौ मुनियों के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर भूमि भी मानो फट गई आकाश में श्रवण नक्षत्र मानों काँप रहा हो। यह सब एक क्षुल्लकजी ने देखा और उनके मुँह से चीत्कार निकली। आचार्य महाराज ने भी निमित्त-ज्ञान से जान कर कहा— “अरे! वहाँ हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों के संघ के ऊपर बलि राजा घोर उपसर्ग कर रहा है और उन मुनिवरों का जीवन संकट में है।”

क्षुल्लकजी ने पूछा— “प्रभो! इनको बचाने का कोई उपाय है?” आचार्य ने कहा— “हाँ, विष्णुकुमार मुनि उनका उपसर्ग दूर कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी विक्रिया ऋद्धि प्रगट हुई है, जिससे वे अपने शरीर का आकार जितना छोटा या बड़ा करना चाहें, उतना कर सकते हैं, परन्तु वे तो अपनी आत्मसाधना में ऐसे लीन हैं कि उन्हें अपनी ऋद्धि की भी खबर नहीं और मुनियों के ऊपर आये हुए उपसर्ग की भी खबर नहीं।”

यह सुनकर क्षुल्लकजी के मन में उपसर्ग दूर करने हेतु विष्णुकुमार मुनिराज की सहायता लेने की बात आई। आचार्यश्री की आज्ञा लेकर वे क्षुल्लकजी तुरन्त ही विष्णुकुमार मुनिराज के पास आये और उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त बता कर प्रार्थना की— “हे नाथ! आप विक्रिया ऋद्धि से यह उपसर्ग तुरन्त दूर करें।”

यह बात सुनते ही विष्णुकुमार मुनि के अन्तरंग में सात सौ मुनियों के प्रति परम वात्सल्य उमड़ आया। विक्रिया ऋद्धि को प्रामाणिक करने के लिए उन्होंने अपना हाथ लम्बा किया तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त सम्पूर्ण मनुष्यलोक में वह लम्बा हो गया। वे तुरन्त हस्तिनापुर आ पहुँचे और अपने भाई को— जो हस्तिनापुर के राजा थे, उनसे कहा— “अरे भाई! तेरे राज्य में यह कैसा अनर्थ?”

पद्मराय ने कहा— “प्रभो! मैं लाचार हूँ, अभी राजसत्ता मेरे हाथ में नहीं है।”

उनसे सम्पूर्ण बात जानकर विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा हेतु अपना मुनिपना थोड़ी देर के लिए छोड़ कर एक बौने ब्राह्मण पण्डित का रूप धारण किया और बलि राजा के पास आकर अत्यन्त मधुर स्वर में उत्तमोत्तम श्लोक बोलने लगे। बलि राजा उस वामन पण्डित का दिव्य रूप देखकर और मधुर वाणी सुन कर मुग्ध हो गया। “आपने पधार कर यज्ञ की शोभा बढ़ाई।” — ऐसा कह कर बलि राजा ने पण्डित का सम्मान किया और इच्छित वर माँगने को कहा।

अहो! अचानक मुनिराज, जगत के नाथ, वे आज स्वयं सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिए याचक बने। ऐसा है धर्मवात्सल्य।

उन ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनि ने राजा से वचन लेकर तीन पग जमीन माँगी। राजा ने खुशी से वह जमीन नाप कर लेने को कहा। बस हो गया विष्णुकुमार का काम।

विष्णुकुमार ने विराटरूप धारण किया। विष्णुकुमार का यह विराट रूप देख कर राजा तो चकित हो गया। उसे समझ ही नहीं आ रहा था कि यह क्या हो रहा है ?

विराट स्वरूप विष्णुकुमार ने एक पग सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रख कर बलिराजा से कहा— “ बोल, अब

तीसरा पग कहाँ रखूँ? तीसरा पग रखने की जगह दे, नहीं तो तेरे सिर पर पग रख कर तुझे पाताल में उतार दूँगा।”

मुनिराज की ऐसी विक्रिया होने से चारों ओर खलबली मच गई, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानों काँप उठा। देवों और मनुष्यों ने आकर श्री विष्णुकुमार की स्तुति कर विक्रिया समेटने के लिए प्रार्थना की। बलि राजा आदि चारों विष्णुकुमार जी मुनिराज के पैरों में गिरकर गिड़गिड़ाने लगे—“प्रभो! क्षमा करो। हमने आपको पहचाना नहीं।”

श्री विष्णुकुमार ने क्षमाभावपूर्वक उन्हें अहिंसा धर्म का स्वरूप समझाया तथा जैन मुनियों की वीतरागी क्षमा बता कर उसकी महिमा समझायी और आत्मा के हित का परम उपदेश दिया। उसे सुनकर उनका हृदय परिवर्तन हुआ और अपने पाप की क्षमा माँग कर उन्होंने आत्मा के हित का मार्ग अंगीकार किया। “अरे! ऐसे शान्त वीतरागी मुनियों के ऊपर हमने इतना घोर उपसर्ग किया। धिक्कार है हमें।”— ऐसे पश्चात्तापपूर्वक उन्होंने जैनधर्म धारण किया।

इस प्रकार विष्णुकुमार ने बलि आदि का उद्धार किया और सात सौ मुनियों की रक्षा की। चारों ओर जैनधर्म की जय-जयकार गूँज उठी। तत्काल हिंसक यज्ञ बन्द हो गया और मुनिवरों का उपसर्ग दूर हुआ। हजारों श्रावक परम भक्ति से सात सौ मुनिवरों की वैयावृत्य करने लगे। बलि आदि मन्त्रियों ने मुनियों के पास जाकर क्षमा माँगी और भक्ति से उनकी सेवा की।

उपसर्ग दूर होने पर मुनिसंघ आहार के लिये हस्तिनापुर नगरी में पहुँचा। हजारों श्रावकों ने अतिशय भक्तिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया, उसके बाद उन श्रावकों ने स्वयं भोजन किया। देखो, श्रावकों का भी कितना धर्मप्रेम। धन्य हैं वे श्रावक। और धन्य हैं वे साधु।

जिस दिन यह घटना घटी, उस दिन श्रावण सुदी पूर्णिमा का दिन

था। विष्णुकुमार द्वारा महान वात्सल्यपूर्वक सात सौ मुनियों की तथा धर्म की रक्षा हुई, अतः वह दिन रक्षापर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह पर्व रक्षाबन्धन के नाम से आज भी मनाया जाता है।

मुनियों पर आया उपसर्ग दूर होने पर विष्णुकुमार ने वामन पण्डित का वेष छोड़कर फिर से मुनिदीक्षा लेकर मुनिधर्म धारण किया और अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पाया।

सभी को धर्मात्मा साधर्मिजनों को अपना समझकर उनके प्रति अत्यन्त प्रीतिपूर्वक वात्सल्य रखना चाहिये, उनके प्रति आदर—सम्मान पूर्वक हर प्रकार की मदद करनी चाहिये और उनके ऊपर कोई संकट आये तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका निवारण करना चाहिए, इस प्रकार धर्मात्मा के प्रति अत्यन्त प्रीति सहित आचरण करना चाहिए। जिसे धर्म की प्रीति होती है, उसे धर्मात्मा के प्रति प्रीति होती है। सच्चे सम्यग्दृष्टि अन्य धर्मात्मा के ऊपर आये संकट को देख नहीं सकते।

संसारि जीवों की जैसी प्रीति अपने स्त्री—पुत्र धनादि में होती है, वैसी प्रीति धर्म, धर्मात्मा एवं धर्मायतनों में होना ही “धर्म वात्सल्य है।” ऐसा यथार्थ धर्मवात्सल्य सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होता है। मुनिराज विष्णुकुमार की भी इसी प्रकार प्रशंसा की गई है।

वात्सल्य का अर्थ है साधर्मियों के प्रति करुणाभाव।

“वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्”

जैसे गाय बछड़े पर स्नेह करती है, उसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह रखना चाहिये। वात्सल्य एक स्वाभाविक भाव है। साधर्मि को देखकर उहवास की बाढ़ आना ही चाहिए। सम्यग्दृष्टि का आचरण सुई के समान होता है, केंची के समान नहीं; जो जोड़ने का कार्य करता है, काटने का नहीं। वात्सल्य की सच्ची उपलब्धि यथायोग्य जोड़ने की है, तोड़ने की नहीं। इसलिये आचार्य सोमदेव महाराज ने लिखा है— धर्मात्मा पुरुषों के प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर—सत्कार

तथा अन्य उचित क्रियायें करना वात्सल्य है।

एक बार दुर्योधन को गन्धर्वों ने बन्दी बना लिया। धृतराष्ट्र ने धर्मराज युधिष्ठिर से निवेदन किया। धर्मराज ने भीम से कहा— “भइया! जाओ दुर्योधन को छोड़ा लाओ। दुर्योधन का नाम सुनकर भीमराज क्रोध से भर उठे, बोले— “उस पापी की मुक्ति की बात कर रहे हो, जिसके कारण हमें वनवास की यातनायें सहनी पड़ीं ? उस अन्यायी, अत्याचारों को छोड़ाने की बात करते हो, जिसने भरी सभा में द्रोपदी को निर्वसन करने का दुस्साहस किया था ? धर्मराज ! अगर आप किसी और की मुक्ति की बात करते तो अनुचित न होता, किन्तु दुर्योधन को मुक्त कराने तो मैं नहीं जाऊँगा।” धर्मराज के हृदय का करुणाभाव आँखों में बहते देखकर, अर्जुन ने उनके वात्सल्यभाव को समझा और गाण्डीव धनुष द्वारा गन्धर्वों से युद्ध किया तथा दुर्योधन को छोड़ा लाये।

यह है सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अंग। तब धर्मराज ने समझाया— “हम परस्पर सौ कौरव और पाँच पाण्डव हैं। लड़-भिड़ सकते हैं, किन्तु बाहर वालों के लिये हम सदा एक-सौ-पाँच भाई ही हैं। धर्मराज के वात्सल्य को देखकर/सुनकर भीम लज्जित होकर नतमस्तक हो गये। साधर्म्य भाइयों में वात्सल्य का होना सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अंग है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों की तुलना में वात्सल्य को सम्यक्त्व का हृदय बताया गया है और हृदय शरीर का मुख्य अंग है। हृदय रुक जाता है तब जीवनलीला समाप्त हो जाती है; उसी प्रकार जब जीव वात्सल्य से रहित हो जाता है, तब वह सम्यक्त्वविहीन हो जाता है। ‘कुरलकाव्य’ में कहा है—

**“अस्थिहीनं यथा कीटं, सूर्योदहति तेजसा।
यथा दहति धर्मश्च प्रेमशून्यनुकीटकम्।”**

जिस प्रकार हड्डी विहीन कीट को सूर्य अपने तेज से सुखा डालता है; उसी प्रकार प्रेमरहित मनुष्य की धर्मशीलता नष्ट हो जाती है। अर्थात् धर्मवान मनुष्य वात्सल्यरहित नहीं होता। इसलिये सभी को इस वात्सल्य अंग का पालन करना अनिवार्य है।

प्रभावना अंग

प्रभावना का अर्थ है— पतन से उत्थान की यात्रा के लिये कदम बढ़ा देना। धर्म की प्रभावना के लिये हमें ऐसा जीवन जीना चाहिये कि वह दूसरों के लिये आदर्श बन जाये। प्रभावना का अर्थ है अपनी भक्ति को, श्रद्धा को, आचरण को इतना निर्मल बना लेना कि दूसरा उसे ग्रहण करने को लालायित हो जाये। हमारा जीने का ढंग इतना श्रेष्ठ हो, भक्ति, श्रद्धा, त्याग दयामय हो कि दूसरा भी उसी प्रकार जीने की आकांक्षा से भर जाये। आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने कहा है— “मिथ्यात्व, विषय—कषाय, हिंसादि पापरूप समस्त विभाव परिणामों के प्रभाव को हटाना व्यवहार प्रभावना है।” जब व्यवहार सुधरता है, तब सहज ही व्यक्ति आकर्षित होता है। प्रभावना तो आचरण से होती है, मात्र व्याख्यान से नहीं होती।

बाह्य प्रभावना करने के लिये पंचकल्याणक, पूजा, विधान आदि कराना, जिनवाणी छपवाना, जिनेन्द्र भगवान् का रथ ठाट—बाट से मुख्य मार्गों में भ्रमण कराना, बेला—तेला आदि उपवास करना, विद्या एवं मंत्र आदि के द्वारा जिनधर्म की महिमा जगत में प्रसिद्ध करना चाहिये। आचार्य विद्यानन्द जी महाराज ने मंत्र के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना की थी।

एक बार मुस्लिम शासकों ने आचार्य विद्यानन्दजी महाराज को पकड़ लिया और सभा के मध्य अपमानित करके कहने लगे कि आप सड़कों पर नग्न घूमते हैं। अहिंसावादी बनकर कमण्डलों में मछलियाँ लेकर ढोंग करते हैं। और उन्हें बन्धन में बाँधकर रख दिया। मन्त्र से मुस्लिम मंत्रियों ने कमण्डलु में मछलियाँ पैदा कर दीं, पर मन्त्र के ज्ञाता विद्यानन्द जी

महाराज ने अपने मन्त्र के प्रभाव से कमण्डलु में फूलों का निर्माण कर दिया। सभी मुसलमान हतप्रभ होकर देखने लगे, चारों तरफ जैनधर्म की जय-जयकार होने लगी। वे मुसलमान भी जैन बन गये ओर जैनधर्म की बड़ी प्रभावना हुई।

जिनमार्ग की महिमा जगत में कैसे प्रसिद्ध हो और संसारी जीव धर्म को कैसे प्राप्त करें, ऐसी प्रभावना का भाव धर्मात्मा को होता है। वह अपनी पूर्ण शक्ति से ज्ञान, वैभव, तप, तन, मन, धन से व जिनमंदिर बनवाकर तथा अनेक महोत्सवों द्वारा धर्म की प्रभावना करता है। श्रीसमन्तभद्र आचार्य, स्वामी अकलंकदेव आदि ने जैनधर्म की बड़ी भारी प्रभावना की थी।

कभी धर्म पर संकट आये, वहाँ धर्मीजीव बैठा नहीं रहता। जिस प्रकार शूरवीर योद्धा युद्ध में छिपा नहीं रहता, उसी प्रकार धर्मात्मा धर्म के प्रसंग में छिपता नहीं है। धर्मप्रभावना के कार्य में वह उत्साह से भाग लेता है।

सम्यग्दृष्टि की सदैव यह भावना रहती है कि— जिस तरह यह मार्ग मुझे उपलब्ध हुआ है, वह सभी को मिले, सभी लोगों का अज्ञानरूपी अंधकार दूर हो और सत्यधर्म का पालन करें। जिसे ज्ञान का प्रकाश मिल जाता है, वह चाहता है कि यह प्रकाश सर्वत्र फैले। प्रभावना अंग के बारे में समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

अज्ञानतिमिर—व्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।

जिनशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात् प्रभावना॥१८॥

अज्ञान के अंधकार को यथासंभव तिरोहित कर जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करना, धर्म की महिमा को सब ओर फैलाना 'प्रभावना' है। अज्ञानरूपी अंधकार सारे लोक में छाया है। उसे अपाकृत दूर करो। यथा—यथम्, जैसे संभव हो वैसे। **'जिनशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्याद् प्रभावना'** — जिनधर्म की महिमा और उसके ज्ञान के प्रकाश का

प्रचार—प्रसार करो, प्रभावना यही है। वचनों की अपेक्षा हमारे सद् आचरण से बहुत जल्दी प्रभावना होती है। इसी तरह सम्यक्त्व यदि हमारे जीवन में हो, उसके अनुरूप हमारा आचरण हो जाय, तो फिर जिनशासन की महिमा क्या है? —यह कहना नहीं पड़ेगा, वह स्वयं प्रकाशपुंज होगा। जहाँ जायेगा, भटकों को राह दिखायेगा। जिनधर्म के अनुयायी कैसे होते हैं?—यह कहकर बताने की आवश्यकता नहीं रहेगी। “वाणी की अपेक्षा आचरण का प्रभाव अधिक पड़ता है।” वचनों की कीमत सदाचरण से है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रंथ में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

दान तपोजिन पूजा— विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥३०॥

यदि तुम यथार्थ प्रभावना चाहते हो तो अपनी आत्मा को सम्यग्दर्शन, समयज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की ज्योति से ज्योतित करो। अपनी आत्मा को आलोकित करो। फिर अपने ज्ञान, तप, दान एवं बड़े-बड़े धार्मिक समारोहों, महामहोत्सवों के द्वारा जिनशासन का प्रकाश फैलाओ। जब तक हमारा जीवन अंधकारग्रस्त है, तब-तक प्रकाश फैलाने की बात करना व्यर्थ है। प्रकाश वही फैला सकता है, जो स्वयं प्रकाशित हो, प्रकाशपुंज बन गया हो। इसलिए आचार्य कहते हैं—

आदहिदं कादव्वं, जं सक्कइ परहिदं—च कादव्वं।

आदहिदं पर हिदादो, आदहिदं सुट्ठ कादव्वं॥

पहले अपनी आत्मा का कल्याण करो। उसके बाद यदि सामर्थ्य हो, तो यथाशक्ति दूसरों का कल्याण करने का पुरुषार्थ करो। जब कभी अवसर आये स्वहित और परहित में एक को चुनने का, तो स्वहित अवश्य चुन लेना, क्योंकि स्वहित से ही जनहित कर सकोगे। जो अपनी आत्मा का हित नहीं कर सकता, वह पर की आत्मा का हित कर ही नहीं सकता।

आज तो लोग “पर उपदेश कुशल बहुतेरे” वाली बात कर रहे हैं। सारी बातें/उपदेश दूसरों को प्रभावित करने के लिये हैं। यदि दूसरों को

प्रभावित करने की दृष्टि है, तो प्रभावना नहीं होती। जो आचरण दूसरों पर प्रभाव जमाने के लिये किया जाता है, वह जीवन का अलंकरण नहीं बन सकता। जो आचरण स्वयं की आत्मा के उत्थान के लिये होता है, वह जीवन को पवित्र और महान् बनाता है। अतः प्रभावना अंग स्वयं को आचरण से अलंकृत करने को कहता है।

सदाचरण ही जीवन का प्रकाश है। सदाचरण अपनाने पर ही भीतर का अंधकार छँटेगा। बड़े-बड़े व्याख्यान देने मात्र से, साहित्य छाप कर बाँटने से अथवा भारी भीड़ वाले आयोजन करने मात्र से हृदय परिवर्तन नहीं होता। क्षणिक प्रभाव कदाचित् उत्पन्न हो जाये। लेकिन स्थायी परिवर्तन तो सदाचारी व्रती पुरुषों के आचरण के दर्शन से होता है। जैसे भगवान् महावीर पर कोई घंटों व्याख्यान दे तो भी वह प्रभाव नहीं होता जो किसी वीतरागी संत के दर्शन मात्र से होता है। महावीर जीवन्त हो उठते हैं। महावीर क्या थे?—इसका सहज परिचय मिल जाता है।

एक समय था जब 'जैन हूँ' इतना कहना ही बहुत हुआ करता था। कचहरी में जैन व्यक्ति की गवाही को सत्य माना जाता था। यह जैनियों के आचरण की प्रतिष्ठा थी। यह प्रतिष्ठा श्रावकों द्वारा सच्चाई के पथ पर चलने से जिनधर्म के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा रखने से बनी थी। आज वह प्रतिष्ठा नहीं रही, क्योंकि आचरण गौण हो गया। पहले प्रत्येक व्यक्ति के आचरण में जैनत्व परिलक्षित होता था। यही उनकी प्रतिष्ठा का आधार था। ऐसे लोगों के पवित्र आचरण से कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था।

पं० गोपालदास जी बरैया पंडिताई करते थे, किन्तु उन्होंने उसे आजीविका का साधन कभी नहीं बनाया। एक छोटी-सी दुकान से उनकी आजीविका चलती थी। पंडिताई के कार्य से जाते तो केवल वास्तविक मार्ग व्यय ही लेते। कभी मार्गव्यय में 10 रुपये भी बच जाते, तो उन्हें

मनीआर्डर से वापस कर देते। वे जीवन में सच्चे अर्थों में पाँच अणुव्रतों का पालन करते थे। एक बार वे अपने छोटे पुत्र के साथ मुंबई गये। वहाँ पहुँचने पर उन्हें ध्यान आया कि पुत्र की उम्र 6 वर्ष से अधिक हो गई हैं उन्होंने उसका आधा टिकट नहीं लिया था। 6 वर्ष तक के बच्चों की टिकट नहीं लगती थी। मन में पश्चाताप होने लगा। घर आकर उसकी टिकिट के रुपये तथा क्षमायाचना पत्र रेलवे के कार्यालय में मनीआर्डर कर दिये। रेलवे का अधिकारी कोई अंग्रेज था। वह इनकी ईमानदारी से बहुत प्रभावित हुआ। उसने एक नोटिस रेलवे में घुमा दिया कि “पंडित गोपालदास बरैया, मुरैना निवासी की रेलयात्रा के दौरान टिकिट आदि देखने की आवश्यकता नहीं है। वे एक ईमानदार व्यक्ति हैं।”

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्येनसांग ने अपनी भारतयात्रा के संस्मरण में लिखा है—

“मुझे भारत में एक ऐसा वर्ग दिखा जिनकी दिनचर्या सूर्योदय से आरंभ होकर सूर्यास्त पर समाप्त होती है। समाज में इस वर्ग को विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है।” आज इस वर्ग का विशेष आदर कहाँ गया? नहीं है। क्योंकि वह आचरण सुरक्षित नहीं रहा। यदि सभी आचरण से जैन बने रहें, कुलक्रमागत आचरण का पालन करते रहें, तो बहुत शाश्वत प्रभावना होगी। इस अंग में बज्रकुमार मुनिराज प्रसिद्ध हुये हैं।

अहिछत्रपुर राज्य में सोमदत्त नामक एक मंत्री था। उसकी गर्भवती पत्नी को आम खाने की इच्छा हुई? उस समय आम पकने का मौसम नहीं था, फिर भी मंत्री ने वन में जाकर आम ढूँढा, तो एक पेड़ पर सुन्दर आम झूलता हुआ दिखाई दिया, उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उस पेड़ के नीचे एक वीतरागी मुनिराज ध्यानस्थ बैठे थे। शायद उन्हीं के प्रभाव से उस पेड़ पर आम पक गया था।

मंत्री ने भक्तिपूर्वक नमस्कार करके मुनि महाराज के सामने विनय

पूर्वक हाथ जोड़कर उपदेश देने का निवेदन किया। तब मुनि महाराज ने उस मंत्री को निकटभव्य जान कर धर्म का स्वरूप समझाया। उसी समय अत्यन्त वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर मंत्री दीक्षा लेकर मुनि हो गये और वन में जाकर आत्मसाधना करने लगे।

उस सोमदत्त मंत्री की पत्नी ने यज्ञदत्त नामक पुत्र को जन्म दिया। पति के मुनि हो जाने का समाचार सुनकर वह अपने भाई के पास चली गई। एक बार वह अपने भाइयों के साथ नाभिगिरि पर्वत पर गई थी। वहाँ उसने अतापन योग में स्थित सोमदत्त मुनिराज को देखा तो वह अत्यधिक क्रोध से भर गई और बोली— “अगर साधु ही होना था, तो मुझसे शादी क्यों की ? मेरा जीवन क्यों बिगाड़ा ? अब इस पुत्र का पालन—पोषण कौन करेगा? ऐसा कहकर उस बालक को वहीं छोड़कर वह चली गई। इस बालक का नाम वज्रकुमार था, क्योंकि उसके हाथ पर वज्र का चिह्न था।

बस, उसी समय दिवाकर नाम के एक विद्याधर राजा तीर्थयात्रा करने निकले थे। जब वे मुनि महाराज की वन्दना करके जाने लगे, तो उन्होंने वहाँ एक अत्यन्त तेजस्वी बालक को पड़ा हुआ देखा। विद्याधर राजा की रानी ने उस बालक को एकदम उठा लिया और बड़े प्यार से उसे वे अपने साथ ले गये। उस वज्रकुमार बालक का पुत्र—जैसा पालन—पोषण विद्याधर राजा के यहाँ होने लगा। भाग्यवान् जीवों को कोई—न—कोई निमित्त अवश्य ही मिल जाता है।

वज्रकुमार के युवा होने पर वनवेगा नामक अत्यन्त सुन्दर विद्याधर कन्या के साथ उसकी शादी हुई। अपने बल पर उसने अनेक राजाओं को जीत लिया।

कुछ समय पश्चात् विद्याधर दिवाकर राजा की पत्नि के स्वयं पुत्र हुआ। अपने इस पुत्र को राज्य मिले— ऐसी इच्छा से उस स्त्री को

वज्रकुमार के प्रति द्वेष होने लगा। एक बार तो वह यहाँ तक कह गई— “अरे! यह किसका पुत्र है जो यहाँ आकर हमें परेशान कर रहा है?” इस बात को सुनते ही वज्रकुमार का मन उदास हो गया। उसे ज्ञात हुआ कि उसके माता-पिता कोई और हैं। तब विद्याधर से उसने सम्पूर्ण हकीकत जान ली, तब उसे मालूम हुआ कि उसके पिता दीक्षा लेकर मुनि हो गये हैं। तुरन्त ही वह विमान में बैठकर उन मुनिराज की खोज में निकल पड़ा।

एक दिन जब वज्रकुमार का विमान एक पर्वत के ऊपर से जा रहा था, तो वहाँ उसने पर्वत की चोटी पर एक मुनिराज को ध्यान-साधना करते हुए देखा। उसने अपना विमान वहाँ उतारा तो देखता है कि वे सोमदत्त मुनिराज ही हैं। ध्यान में विराजमान सोमदत्त मुनिराज को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। इस विचित्र दुःखमय संसार के प्रति उसे वैराग्य हुआ। उसके मन में मुनिदीक्षा लेने के भाव हो गये।

वज्रकुमार ने परम भक्ति से मुनिराज की वन्दना की और कहा— “हे पूज्य देव! मैं इस दुःखमय संसार से घबराया हूँ। मैं जान गया हूँ कि इस संसार में आत्मा के अलावा कुछ भी मेरा नहीं है। मैं सच्चे सुख की प्राप्ति करना चाहता हूँ, इसलिए आप मुझे मुनिदीक्षा दीजिए।”

सोमदत्त मुनि ने उसकी परीक्षा करने के लिये पहले तो उसे दीक्षा न लेने के लिए बहुत समझाया, परन्तु वज्रकुमार के दृढ़ निश्चय को देखकर और उसे निकटभव्य जानकर मुनिराज ने उसे मुनिदीक्षा दे दी।

निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु बन कर वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहने लगे। धर्म की प्रभावना करते हुए वे देश-विदेश में विहार करने निकले। एक बार उनके प्रताप से मथुरा नगरी में धर्मप्रभावना का एक अनोखा प्रसंग बना।

मथुरा नगरी में एक गरीब अनाथ लड़की जूठन खाकर पेट भरती

थी, उसे देख कर एक अवधिज्ञानी मुनि बोले— “देखो, कर्म की विचित्रता! यह लड़की कुछ वर्षों पश्चात् राजा की पटरानी बनेगी।” मुनिराज की यह बात एक बौद्ध भिक्षुक ने सुनी और वे उसे अपने मठ में ले गये। इस लड़की का नाम बुद्धदासी रख कर वहीं उसका लालन—पालन होने लगा। उसे बौद्धधर्म के संस्कार मिले। आगे चल कर जब वह युवा हुई, तब उसका अत्यन्त सुन्दर रूप देखकर राजा मोहित हो गया और उसने उससे शादी करने की माँग की, परन्तु इस राजा की उर्मिला नाम की रानी थी, जो जिनधर्म का पालन करती थी। तब मठ के लोगों ने कहा— “राजा स्वयं बौद्धधर्म स्वीकार करे और बुद्धदासी को पटरानी बनाये। इस शर्त पर ही हम शादी करने की स्वीकृति देंगे।” कामान्ध राजा ने बिना सोचे—समझे ही यह बात स्वीकार कर ली। और बुद्धदासी को पटरानी बना दिया। वह बौद्धधर्म का प्रचार करने लगी।

इधर उर्मिला रानी जिनधर्म की परम भक्त थी। उसने हर साल की तरह इस साल भी अष्टाह्निका पर्व में जिनेन्द्र भगवान् की बहुत बड़ी अद्भुत शोभायात्रा निकालने की तैयारी की, परन्तु बुद्धदासी को यह सहन नहीं हुआ। उसने राजा से कहकर रथयात्रा स्थगित करवा दी और बौद्धों की रथयात्रा पहले निकलवाने को कहा।

जिनेन्द्र भगवान् की रथयात्रा में विघ्न होने से उर्मिला रानी को बहुत दुःख हुआ और रथयात्रा नहीं निकलने से उसने अनशन व्रत धारण करके वन में जाकर सोमदत्त तथा वज्रकुमार मुनियों के सानिध्य में शरण ली। उसने मुनिवरों से प्रार्थना की कि वे जिनधर्म पर आये संकट का निवारण करें।

रानी की बात सुनकर वज्रकुमार मुनिराज के अन्तर में धर्मप्रभावना का भाव उल्लसित हुआ। उसी समय विद्याधर राजा दिवाकर अपने विद्याधरों सहित वहाँ मुनियों के दर्शन—वन्दन करने आये। वज्रकुमार मुनि

ने कहा— “राजन्! आप जैनधर्म के परमभक्त हैं और धर्म के ऊपर मथुरा नगरी में संकट आया है, वह दूर करने में आप समर्थ हैं। धर्मात्माओं को धर्म की प्रभावना का उत्साह होता है। तन से, मन से, धन से, ज्ञान से, विद्या से, सर्व प्रकार से वे जिनधर्म की वृद्धि करते हैं और धर्मात्माओं का कष्ट निवारण करते हैं।”

दिवाकर राजा को धर्म का प्रेम तो था ही, मुनिराज के उपदेश से उसे और भी प्रेरणा मिली। मुनिराज को नमस्कार करके तुरन्त ही उर्मिला रानी के साथ सभी विद्याधर मथुरा नगरी आ पहुँचे। उन्होंने बड़े जोरों की तैयारी के साथ बड़ी धूमधाम से जिनेन्द्र भगवान् की शोभायात्रा निकाली। हजारों विद्याधरों के प्रभाव को देखकर राजा और बुद्धदासी भी आश्चर्यचकित हो गये और जिनधर्म से प्रभावित होकर आनन्दपूर्वक उन्होंने जैनधर्म स्वीकार करके अपना कल्याण किया तथा सत्य धर्म की प्रेरणा के लिए उर्मिला रानी का उपकार माना।

उर्मिला रानी ने उन्हें जिनधर्म की एवं वीतरागी देव—शास्त्र—गुरु की अपार महिमा समझायी। मथुरा नगरी के हजारों जीव भी ऐसी महान धर्म प्रभावना देखकर आनन्दित हुए और बहुमानपूर्वक जिनधर्म की उपासना करने लगे। इस प्रकार वज्रकुमार मुनि और उर्मिला रानी द्वारा जिनधर्म की महान् प्रभावना हुई। हमें भी सर्व प्रकार तन—मन—धन से, ज्ञान से, श्रद्धा से, धर्म पर आये हुये संकट का निवारण करके, धर्म की महिमा प्रसिद्ध करना चाहिए।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है— प्रभावना का मतलब वचन मात्र नहीं। प्रभावना माने ‘प्रकृष्ट भावना’। ऐसी भावना, जो जीवन में उतर जाये, जो जीवन का अभिन्न अंग बन जाये। यही प्रभावना है और ऐसी प्रभावना पाषाण को भी भगवान् बना देती है। पाषाण—मूर्ति मुक्तिपथ में हमारी प्रेरणास्रोत बन जाती है।

वाचन हो, किन्तु वाचन से भी अधिक महत्वपूर्ण पाचन हो। ऐसा वाचन, जो हमारे जीवन के रग-रग में उतर जाये, उसके साथ एकीभूत हो जाये। जो छेदने से छिदे नहीं, भेदने से भिदे नहीं, तोड़ने से टूटे नहीं, फोड़ने से फूटे नहीं, ऐसा वाचन कार्यकारी है। भोजन वही लाभकारी है, जो पच जाये। यदि एक किलो घी खा लिया जाये और व्यायाम न किया जाये, तो मृत्यु का साक्षात् निमंत्रण है। भोजन से पाचन हो, वह भोजन विभिन्न धातुओं रूप बनता हुआ वीर्यरूप परिणत हो जाये, तभी श्रेष्ठ है।

द्रोणाचार्य कौरव और पाण्डवों के गुरु थे। सभी को शिक्षा देने के उपरान्त उन्होंने एक दिन परीक्षा लेनी चाही। बोले— “मुझे गुरुदक्षिणा दो।” सभी कौरव और पाण्डव तैयार थे गुरुदक्षिणा देने के लिए बोले— “माँगो, महाराज।” गुरु द्रोणाचार्य ने कहा— “गुरुदक्षिणा के रूप में एक पाठ मुझे सुनाओ, जो मैं तुम्हें देता हूँ।” कई राजकुमार तुरन्त ही यह पाठ सुनाने को तैयार हो गये। बोले, “सुन लो महाराज! अभी।” दूसरे दिन सभी कौरव और पाण्डव यह पाठ सुनाने के लिये तैयार थे, किन्तु धर्मराज युधिष्ठिर ने समय माँगा। सबने पाठ सुना दिया, किन्तु गुरु महाराज का मुखकमल मुरझाया हुआ था।

धर्मराज छः माह तक समय माँगते रहे और तब उन्होंने कहा, “अब मैं पाठ सुना सकता हूँ गुरुवर।” द्रोणाचार्य की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। उन्होंने धर्मराज की पीठ थपथपायी और बोले, “तू ही केवल एक शिष्य है। तूने ही विद्या के मर्म को समझा है।” तो वाचन इतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना पाचन है। वाचन जीवन में उतरना चाहिए, यही सच्ची प्रभावना है।

वही मार्ग, जिसके द्वारा आदमी शुद्ध-बुद्ध बने। उस सत्यमार्ग, मोक्षमार्ग की प्रभावना ही “मार्गप्रभावना” या “धर्मप्रभावना” कहलाती है।

“मग्यते येन यत्र वा सः मार्गः, अर्थात् जिसके द्वारा खोज की जाये

उसे मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग के द्वारा अनादि से भूली वस्तु का परिज्ञान हो जाये, जिस मार्ग से उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाये, आत्मा शुद्ध-बुद्ध बन जाये, उस मार्ग की प्रभावना ही “मार्गप्रभावना” कहलाती है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने ‘समयसार’ प्राभृत में एक गाथा लिखी है, जिसका अर्थ है— “विद्यारूपी रथ पर आरुढ़ होकर, मन के वेग को रोकते हुये जो व्यक्ति चलता है, वह बिना कुछ कहे जिनेन्द्र भगवान् की प्रभावना कर रहा है। अपने आचरण को आगम के अनुरूप बनाओ, विषय-कषायों पर नियन्त्रण करो।

एक उदाहरण है— एक के बाद एक सैकड़ों भेड़ें चली जा रही थीं। एक गड्ढे में एक भेड़ गिरी तो पीछे चलने वाली दूसरी गिरी, तीसरी भी गिरी और इस तरह सभी भेड़ें उस गड्ढे में गिर गईं। उनके साथ एक बकरी भी थी, किन्तु वह नहीं गिरी, क्योंकि वह भेड़ों की सजातीय नहीं थी। इसी तरह झूठ हजारों हैं, जो एक-न-एक दिन गिरेंगे, किन्तु सत्य केवल एक है, अकेला है। उस सत्य की प्रभावना के लिये कमर कसकर तैयार हो जाओ। सत्य की प्रभावना तभी होगी, जब हम स्वयं अपने जीवन को सत्यमय बनायेंगे। वास्तव में निर्दोष रूप से मोक्षमार्ग पर चलते जाना ही मोक्षमार्ग की प्रभावना है।

धर्म की प्रभावना करना सम्यग्दर्शन का एक अंग है। सभी को अपनी शक्ति अनुसार ज्ञान, वैभव, तप आदि के माध्यम से जिनधर्म की प्रभावना अवश्य करना चाहिए।

जटायु पक्षी ने सीता जी को रावण के चंगुल से बचाने का पूरा प्रयास किया। अन्तिम समय तक रावण से संघर्ष किया। पंख कट जाने से जमीन पर गिर गया। जटायु अच्छी तरह जानता था, कि एक मच्छर एक हाथी का क्या बिगाड़ सकता है ? लेकिन परेशान तो कर ही सकता है।

यही संकल्प लेकर सीता की रक्षा करने रावण से जूझ पड़ा। घायल अवस्था में भी उसने राम को सीता के अपहरण की कहानी सुनाई। एक पक्षी भी धर्मप्रभावना कर सकता है, तो क्या हम मनुष्य होकर धर्म की प्रभावना नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं।

अकलंक और निकलंक मान्यवरवेट नगरी के राजमंत्री के पुत्र थे। निकलंक ने धर्म की रक्षा के लिये अपना बलिदान दे दिया था और अकलंक ने एकान्तवादियों को वाद-विवाद में हराकर जैनधर्म की महान प्रभावना की थी।

उज्जैन के राजा हिमशीतल की दो रानियाँ थीं। उनमें से एक जैन-धर्म की अनुयायी थी और दूसरी बौद्धधर्म की अनुयायी थी। एक बार पहले किसका रथ निकले इस पर विवाद हो गया। तब राजा ने कहा— जैनों और बौद्धों का राज्यसभा में वाद-विवाद हो और उसमें जो जीत जाये, उसकी रथयात्रा पहले निकाली जायेगी।

बौद्धों की ओर से संघश्री तथा जैनों की ओर से अकलंक के बीच वाद-विवाद हुआ। जब संघश्री हारने लगे, तो उन्होंने कहा 'महाराज! मेरे सिर में चक्कर आ रहे हैं, इसलिए यह वाद-विवाद कल के लिये रखा जाये।

दूसरे दिन संघश्री ने एक पर्दे के पीछे बैठकर वाद-विवाद किया। अकलंक ने प्रश्न किया और संघश्री ने उसका जवाब दिया।

अकलंक ने पुनः कहा— संघश्री! आपने जो कहा है, उसे ये उपस्थित नागरिक साफ-साफ नहीं सुन सके हैं, अतः इसी बात को पुनः कहिये। परन्तु अन्दर से किसी के बोलने की आवाज नहीं आई। तब अकलंक ने पर्दे को हटाकर मटका हाथ में उठाकर कहा— कल वाद-विवाद में संघश्री जवाब न दे सके थे, इसलिये परेशान होकर सिर में चक्कर आने का झूठा बहाना बनाया था और फिर उन्होंने किसी भी प्रकार से विजय प्राप्त

करने के लिये रात्रि में विद्या द्वारा एक देवी को साधा है। पर्दे के पीछे से संघश्री नहीं बोल रहे थे, अपितु उनके स्थान पर इस मटके में स्थित देवी जवाब दे रही थी, परन्तु जिनशासन के प्रभाव से जिनधर्म की भक्त देवी ने रात्रि में आकर मुझे यह बात बता दी थी, अतः आज संघश्री से एक बात पुनः दूसरी बार पूछी, परन्तु देव एक ही बात दूसरी बार नहीं बोलते हैं, इसलिए ये संघश्री का भेद खुल गया है।

राजा ने कहा— अरे रे रे! धर्म के नाम पर इतना कपट। अकलंक कुमार मैं आपकी विजय की घोषणा करता हूँ। आपके विद्वत्ता भरे न्याय—वचन सुनकर मुझे बहुत ही आनन्द हुआ है। अनेक युक्तियों द्वारा आपने अनेकान्तमय जिनधर्म को सिद्ध किया है। उससे मैं प्रभावित होकर जिनधर्म को स्वीकार करता हूँ और जिनेन्द्र भगवान् की रथयात्रा में मैं ही भगवान् के रथ का सारथी बनूँगा। मंत्री जी! जिनेन्द्र भगवान् की रथयात्रा की तैयारी धूम—धाम से करो। बहुत से एकान्तवादियों ने कहा हमारे आचार्य ने जो अयोग्य कार्य किया है, उससे हमें दुःख हो रहा है। यह वाद—विवाद सुनकर हम भी जिनधर्म से प्रभावित हुये हैं, इसलिये एकान्त धर्म को छोड़कर हम भी जैनधर्म अंगीकार करते हैं। हाथी घोड़े आदि वैभव के साथ जिनेन्द्र भगवान् की भव्य रथयात्रा निकाली गयी, जिसे देखकर नगर के लाखों लोग प्रभावित हुये तथा जिनधर्म की महान प्रभावना हुई।

सम्यग्दृष्टि इस प्रकार अपने ज्ञान, वैभव, तप व अनेक महोत्सवों द्वारा धर्म की प्रभावना करता है। यह सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अंग है।

सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष

सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर उसे शुद्ध और निर्मल बनाना अनिवार्य है। निर्मल सम्यग्दर्शन ही संसारभ्रमण को नष्ट करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार आटे में जरा-सी धूल मिलने पर आटे की रोटी का स्वाद नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार 25 दोष धूल के समान होते हैं। इन्हें न करना ही निर्मल सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना है। अतः उनसे बचने के लिये उन्हें जानना आवश्यक है।

मूढत्रयं मदश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।

अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः॥

अष्ट महामद अष्ट मल, षट् अनायतन विशेष।

तीन मूढता संजुगत, दोष पचीसों एष॥

तीन मूढता (देव मूढता, गरु मूढता, लोक मूढता), आठ मद, छह अनायतन, आठ शंकादि दोष— ये सब मिलाकर 25 दोष होते हैं। सम्यग्दर्शन 25 दोषों से रहित होता है।

छह अनायतन व तीन मूढता:

छह अनायतनों व तीन मूढताओं का वर्णन करते हुये पंडित श्री दौलतराम जी ने लिखा है—

कुगुरु कुदेव कुवृष सेवक की, नहिं प्रशंस उचरै है।

जिनमुनि जिनश्रुत बिन, कुगुरादिक तिन्हें न नमन करे है।

खोटे गुरु, खोटे देव और खोटे धर्म तथा इनके सेवकों की प्रशंसा

नहीं करना चाहिये तथा जिनेन्द्र भगवान्, दिगम्बर मुनि और जिनवाणी के अतिरिक्त जो कुगुरु आदि हैं, उन्हें कभी नमस्कार नहीं करना चाहिये। यही षट् अनायतन त्याग है।

अनादिकाल से खोटे गुरुओं के उपदेश सुनकर वैसा आचरण करने से, कुदेवों की सेवा—भक्ति करने से और खोटे धर्म रूप आचरण करने तथा इन तीनों को मानने वालों की संगति तथा प्रशंसा करके अहर्निश संसार को बढ़ाया है। खोटे/कुदेवों को देव मानना देवमूढ़ता, कुगुरुओं को गुरु मानना गुरुमूढ़ता तथा मिथ्याधर्मी लोगों का आचरण देखकर नदी, समुद्र आदि में स्नान करने से, पाषाण के ढेर लगाने से, पर्वत से गिरने से, अग्नि में गिरने से आदि मिथ्या क्रियाओं से धर्म मानना लोकमूढ़ता है। खोटे देव—शास्त्र—गुरु इन तीन और इन तीनों को मानने वालों की प्रशंसा करना इन छह आदि का स्वरूप बताते हुये पंडित श्री दौलतराम जी ने 'छहढाला' ग्रंथ में लिखा है—

जो कुगुरु—कुदेव—कुधर्म सेव, पोषें चिर दर्शनमोह एव।

अन्तर रागादिक धरें जेह, बाहर धन अम्बरतैं सनेह॥

घारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्म—जल उपल—नाव।

जे राग—द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन॥

ते हैं कुदेव, तिनकी जु सेव शठ करत, न तिन भव—भ्रमण छेव।

रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत॥

जे क्रिया तिन्हैं जानहुँ कुधर्म, तिन शरधैं जीव लहैं अशर्म।

जो राग—द्वेष रूपी मोहमैल से मलिन हैं, स्त्री, गदा, मुकुट आदि रखते हैं, वे कुदेव हैं। जो मूर्ख लोग ऐसे कुदेवों की सेवा करते हैं, उनके भव भ्रमण का अन्त नहीं आता।

जो अन्तर में मिथ्यात्व और रागादिक सहित हैं तथा बाह्य में धन—वस्त्रादिक का स्नेह रखते हैं, शुद्ध दिगम्बर दशा के अतिरिक्त अन्य

कुलिंग को धारण कर अपने महंत भाव को पुष्ट करते हैं, वे कुगुरु हैं। वे कुगुरु जन्मजल से भरपूर इस संसार-समुद्र में पत्थर की नौका के समान हैं। जैसे पत्थर की नौका स्वयं तो डूबती है और उसमें बैठने वाले भी डूब जाते हैं, वैसे ही कुगुरु भी स्वयं भवसमुद्र में डूबते हैं और सेवन करने वाले भी भवसमुद्र में डूबते हैं।

जो रागादि भावहिंसा तथा त्रस व स्थावर जीवों की द्रव्यहिंसा से सहित क्रियायें हैं, उन्हें कुधर्म कहते हैं। ऐसे कुधर्म का सेवन करने से जीव को संसार में भ्रमण करते हुये चतुर्गति के दुःखों को सहन करना पड़ता है। अतः उसे छोड़ना चाहिये।

‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ ग्रंथ में पं. टोडरमल जी ने लिखा है—

यह जीव अनादि से ही मिथ्यात्व सहित है और यदि वह यहाँ आकर भी ग्रहीत मिथ्यात्व का ही पोषण करे, तो उस जीव का दुःख से मुक्त होना अति दुर्लभ होता है।

जैसे कोई पुरुष रोगी है और वह कुपथ्य का सेवन करे, तो उस रोगी का स्वस्थ होना कठिन ही होगा। उसी प्रकार यह जीव मिथ्यात्वादि सहित है, वह कुछ ज्ञानशक्ति को पाकर विशेष विपरीत श्रद्धानादिक के कारणों का सेवन करे, तो इस जीव का मुक्त होना कठिन ही होगा।

इसलिये जिस प्रकार वैद्य कुपथ्यों को विष बतलाकर उनके सेवन का निषेध करता है, उसी प्रकार यहाँ कुदेव, कुगुरु व कुधर्म का स्वरूप बतलाकर उन्हें छोड़ने के लिये कहा है।

येषां रागानते देवा येषां मार्या न तेर्षयः।

येषां हिंसा न तेऽग्रन्थाः कथयन्तीति योगिनः॥

जिनके राग हैं, वे देव नहीं हैं। जिनके स्त्री हैं, वे ऋषि नहीं हैं और जिनके हिंसा का कथन है, वे ग्रंथ (शास्त्र) नहीं हैं। ऐसा योगिराज कहते हैं।

अन्य धर्मावलम्बियों के द्वारा माने गये देव संख्यात भेदवाले होते हैं। जिनमें से कितने ही तो देहधारी हैं और कर्मफल भोगने में रत हैं। कितने ही कर्मचेतना से युक्त हैं। परन्तु ज्ञानचेतना वाले कोई देव नहीं। अन्य मतावलम्बी अपने-अपने कर्म के अनुसार अवतारों का कथन करते हैं। कोई मतावलम्बी राम, रामचन्द्र, कृष्ण, वामन, बुद्ध, कलकी आदि ये दस देव हैं और विष्णु के अवतार हैं। परन्तु इनमें से एक भी देव 'सर्वज्ञ' नहीं है, क्योंकि मीन और कछुआ तो जल में विचरण करने वाले पंचेन्द्रिय प्राणी हैं। सूकर यह एक पंचेन्द्रिय तिर्यच प्राणी है। अब शेष सात बचे, वे भी मनुष्य हैं सो सदोष ही हैं।

अज्ञानी मोहांधकार में फँसे हुये मनुष्य तीन मूढ़ताओं और छह अनायतन में फँसकर संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं। रागी-द्वेषी देवों की सेवा करना देवमूढ़ता है। बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से सहित कुगुरुओं को नमस्कार करना गुरुमूढ़ता है। सूर्य को अर्ध देना, चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण में गंगास्नान करना, अग्नि की पूजा करना, मकान की पूजा करना, गाय के पृष्ठ-भाग में देवताओं का निवास मानकर उसके पृष्ठ भाग को नमस्कार करना, गौमूत्र का सेवन करना, पृथ्वी, वृक्ष, शस्त्र, पहाड़ आदि को पूजना, धर्म समझकर नदियों और समुद्रों में स्नान करना, बालू और पत्थर ढेर लगाकर पूजना, पहाड़ से गिरकर मरना, आग में जलकर मरना लोकमूढ़ता है। अज्ञानी/मूढ़बुद्धि जीव जब अपने घर से किसी की मृत्यु हो जाती है और मृतक शरीर को श्मशान भूमि में जला देते हैं, जलने के दूसरे दिन श्मशान में भस्म हुये शरीर की हड्डियों को भस्म में से चुनकर एकत्र करते हैं तथा राख को एकत्र करते हैं, उसके पश्चात् घर से साथ में लाये चावल, दूध, घी, शक्कर की खीर भात बनाकर तीन स्थानों पर पत्तर रखकर उनमें उस खीर भात को रख देते हैं और कहते हैं कि हे मृतक! अब अन्तिम यह खीर का भोजन करो। जो श्मशान में एकत्रित हुये हैं, वे कहते हैं कि इस भोजन को करके मेरे पित्र तृप्त हो

जावेंगे। जब जीवित था, तब बेचारा रोटी के लिये तरसता था। अब तिया के दिन खीर खिलाते हैं। यह भोजन क्या मृतक के या पितृ के पास पहुँच जावेगा? नहीं पहुँचेगा। कोई अज्ञानी आश्विन कृष्ण पक्ष में ब्राह्मणों को खिलाकर मानते हैं कि यह दान—पुण्य हमारे जो पूर्वज मर गये हैं उनके पास पहुँच जावेगा और कष्ट से छुटकारा प्राप्त कर लेवेंगे। यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो जिस जीव का तिया किया जा रहा है वह जीव पूर्व शरीर को छोड़ने के पीछे एक, दो या तीन समय में नवीन शरीर को अवश्य ही धारण कर लेता है। फिर विचार कीजिये कि वह तुम्हारे दिये हुये भोजन को कैसे ग्रहण कर सकता है? नहीं कर सकता। कई अज्ञानी अपने मृतक पिता के शरीर के टुकड़े कर चील, गिद्ध और कौवों को खिलाने में धर्म मानते हैं। कई लोग मांस, शराब, गांजा, भांग, तंबाकू इत्यादि दान देने से तथा सेवन करने से उसमें धर्म मानते हैं। कोई गाय की पूजा करने में, तलवार बन्दूक आदि शस्त्रों की पूजा करने में, दीपावली की पूजा करने में, रुपया, पैसा, चाँदी, सोना, इत्यादि की पूजा करने में धर्म मानते हैं। यह सब लोकमूढ़ता है।

इन मूढ़ताओं में फँसे हुये अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के कारण संसार में ही भटकते रहते हैं। तीन मूढ़ताओं का वर्णन करते हुये आचार्य समन्तभद्र महाराज ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ग्रंथ में लिखा है—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।

देवता यदुपासीत, देवता मूढमुच्यते॥ 23॥

जो स्वयं को अच्छा लगता है, उसे वर कहते हैं। वर की इच्छा करके आशावान् होकर जो राग—द्वेष से मलिन देवताओं की सेवा करता है, पूजन करता है, उसे देवमूढ़ता कहते हैं।

सग्रन्थाऽरम्भ—हिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।

पाषण्डिनांपुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥ 24॥

परिग्रह, आरम्भ और हिंसा सहित संसार—भवरों में प्रवर्तन करने

वाले पाखण्डियों को गुरु मानकर उनके वचनों में आदरपूर्वक प्रवर्तन करना गुरुमूढ़ता (पाखण्ड मूढ़ता) है। जो हीन आचरण वाले हैं, आरम्भ—परिग्रह में मस्त हैं, विषयों के लोलुपी हैं, उनको मानना कि ये बड़े करामती हैं, ये प्रसन्न हो जायें तो मनोवांछित कार्यों की सिद्धि हो, ऐसी विपरीत मान्यता करके उनका संग करना, उनकी सेवा—सुश्रुषा करना, अपने को कृतार्थ मानना, यह सब पाखण्डमूढ़ता है।

आपगा—सागर—स्नान—मुच्चयः सिकताश्मनाम् ।

गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ 20क0श्रा ॥

जो लौकिक मिथ्याधर्मी लोगों का आचरण देखकर, नदी में स्नान करने में धर्म मानते हैं, समुद्र में स्नान करने में धर्म मानते हैं, रेत का ढेर अथवा पाषण का ढेर लगाने में धर्म मानते हैं, पर्वत से गिरने में या अग्नि में जलने में धर्म मानते हैं, उसे लोकमूढ़ता कहते हैं। व्यक्ति योग्य—अयोग्य, हित—अहित, सत्य—असत्य का विचार नहीं करते और लौकिक मिथ्यादृष्टि जीवों की देखा—देखी ये मूढ़ता के कार्य करने लगते हैं और उसमें धर्म मानते हैं।

एक जगह 8—10 दिन का मेला—जैसा लगा था। अन्दर पूजा—भक्ति भी हो रही थी। खाना फ्री था। एक युवक ने सोचा, चलो 8—10 दिन वहीं रहेंगे, खाना तो फ्री है ही। उसने नये कपड़े, नये जूते पहने और प्रोग्राम देखने चला गया। गेट पर पहुँचा तो उसने सोचा कि मैं जूता उतार दूँगा तो मेरे जूते कोई उठा ले जायेगा। अतः उसने गेट के पास एक पेड़ के नीचे गड्ढा खोदा और उसमें अपने जूते रख दिये, ऊपर से मिट्टी भी डाल दी। उसने सोचा कि कहीं जगह न भूल जाऊँ, सो एक पत्थर भी उस धूल पर रख दिया और निशान के लिये उस पर लाल—लाल रोली लगा दी, जो वह पूजा के लिये लाया था और गेट के अन्दर चला गया। उसके पीछे आने वालों ने सोचा इस पत्थर पर रोली क्यों लगी है, सो उन्होंने भी पत्थर को रोली लगाना शुरू कर दिया। कुछ लोगों ने सोचा

कि ये भगवान् हैं, सो उन्होंने नारियल फोड़ना भी शुरू कर दिये। अब जो भी आये, सो वहाँ नारियल चढ़ाकर पूजा आदि करने लगे। धीमे-धीमे वहाँ सुरक्षा के लिये पुलिस की व्यवस्था भी करनी पड़ी। अब लोग लाइन लगाकर दर्शन करने लगे। पंडों ने देखा कि यहाँ तो खूब भोग चढ़ रहा है, सो वे भी वहीं अपना फट्टा बिछाकर बैठ गये। वहाँ की कमेटी के अध्यक्ष आदि भी बन गये।

8 दिन बाद वह युवक आया और उसने देखा कि जिस पेड़ के नीचे मैंने अपने जूते रखे थे, वहाँ तो नारियलों का ढेर लगा है। यहाँ तो लोग पूजा कर रहे हैं। वह वहाँ के अध्यक्ष के पास गया और कहा कि यहाँ तो मेरे जूते रखे हैं और ये लोग पूजा कर रहे हैं। अध्यक्ष ने कहा कि चुप रहो, नहीं तो ये लोग तुम्हारी पिटाई कर देंगे। जब ये प्रोग्राम समाप्त हो जाये, तब रात में आकर तुम अपने जूते उठा ले जाना।

इस प्रकार अज्ञान के कारण लोग कुछ भी उल्टे-सुलटे काम कर उसमें धर्म मानते हैं। जब नई गाड़ी लाते हैं तो उसकी पूजा करते हैं। बताओ, उसमें भगवान् कहाँ हैं? ब्रेक में हैं या टायर में हैं? जो तथ्यों की सच्चाई से अनभिज्ञ होता है, वह अन्धानुकरण करता है। उसको कभी इष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

किसी नगर में एक राजा एवं उनकी रानी रहती थी। एक दिन नगर में एक बहुत सुन्दर मेले का आयोजन हुआ। रानी राजा से कहती है कि आज मैं बाजार घूमने जाना चाहती हूँ। नगर में मेला भी बहुत सुन्दर लगा है। राजा यह सुन स्वीकृति नहीं देते। रानी हठ कर बैठती है कि मैं तो आज अवश्य जाऊँगी। अब राजा कहते हैं कि ठीक है, अगर तुम जाना ही चाहती हो तो जाओ, किन्तु मेले में यदि तुम्हें कोई गधा मिल जाये तो उसका एक बाल तोड़ लेना और महल में ले आना। रानी सेवकों के साथ बाजार घूमती हुई मेले में पहुँच जाती है। मेले में उसे एक गधा मिल जाता है। उसे राजा की कही बात तुरन्त याद आ जाती है। राजा के कहे

अनुसार वह गधे का एक बाल तोड़ लेती है। यह आने-जाने वाले भी देखते हैं। अब यह देख दर्शक विचारने लगते हैं कि अगर रानी ने गधे का एक बाल तोड़ा है तो हम भी तोड़ेंगे। परिणाम यह निकलता है कि गधा गंजा हो जाता है। किन्तु अब भी कुछ लोग ऐसे रह जाते हैं जिन्हें एक भी बाल नहीं मिलता। उनको तो गधा करामती दिख रहा था, इसलिये वे अब गधे की खाल नोंचने लगते हैं। खाल नोंचते-नोंचते आखिर क्या होता है कि बेचारे गधे के प्राण निकल जाते हैं।

इसी का नाम रूढ़िवाद है और इसी का नाम भेड़चाल है, जिसका फल अनन्त-संसार-रूप दुःख ही है। पंडित श्री टोडरमल जी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रंथ में लिखा है—

जिनके बहुत प्रकार मिथ्यात्व का प्रबलपना पाया जाता है तो उनको मोक्ष कैसे हो? झूठे ही भ्रमबुद्धि से मानें, सो प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। दृष्टांत है—जैसे अज्ञानी बालक मिट्टी का हाथी, घोड़ा, बैल आदि बनाता है और उसको सत्य मानकर बहुत प्रीति करता है तथा उस सामग्री को पाकर बहुत प्रसन्न होता है। पश्चात् उसको कोई फोड़े व तोड़े अथवा ले जाये तो बहुत दुःखी होता एवं रोता है। उसको ऐसा ज्ञान नहीं है कि यह झूठा/कल्पित है। वैसे ही अज्ञानी मोही पुरुष बालक के समान कुदेवादिक को तारण-तरण मानकर उनकी सेवा (उपासना) करता है। उसे ऐसा ज्ञान नहीं है कि ये स्वयं तरने में असमर्थ हैं तो मुझे कैसे तारेंगे? पुनः और दृष्टांत कहते हैं—कि किसी पुरुष ने काँच का टुकड़ा पाया तथा उसमें चिंतामणि रत्न की बुद्धि की और यह जाना कि यह चिंतामणि रत्न है, सो मुझे यह बहुत सुख देने वाला होगा, यह मुझे मनोवांछित फल देगा, सो भ्रमबुद्धि से काँच के टुकड़े को पाकर ही प्रसन्न हुआ, तो क्या वह चिंतामणि रत्न हुआ? और क्या उससे मनवांछित फल की सिद्धि होगी? कदापि नहीं होगी। काम पड़ने पर उसकी आराधना करे तथा उसको बाजार में बेचे, तो दो कौड़ी की प्राप्ति होगी।

इसी प्रकार कुदेवादि को अच्छा जान अनेक जीव सेवा करते हैं, किन्तु उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और पूरी तरह परलोक में नरकादिक दुःख ही सहन करना पड़ते हैं। इसलिए कुदेवादि का सेवन तो दूर ही रहो, किन्तु उनके स्थान पर रहना भी उचित नहीं है। जिस भाँति सर्पादि क्रूर जीवों का संसर्ग उचित नहीं, उसी भाँति कुदेवादि का संसर्ग उचित नहीं, सो सर्पादि और कुदेवादि में इतना विशेष है कि सर्पादि के सेवन से तो एक बार ही प्राणों का नाश होता है तथा कुदेवादि के सेवन से पर्याय में अनंतवार प्राणों का नाश होता है तथा जीव नाना प्रकार के नरक—निगोद के दुःख को सहते हैं। इसलिए सर्पादि का सेवन श्रेष्ठ है, किन्तु कुदेवादि का सेवन श्रेष्ठ नहीं है। इस प्रकार कुदेवादि का सेवन अनिष्ट जानना। इसलिए जो ज्ञानीपुरुष अपना हित चाहते हैं, वे शीघ्र ही कुदेवादि का सेवन छोड़ें। देखो, संसार में तो यह जीव ऐसा सयाना (चतुर) है और ऐसी बुद्धि लगाता है कि दमड़ी की हांडी खरीदे तो उसे भी तीन टाकोरे देकर फूटी, साबुत देखकर खरीदता है। तथा धर्म के समान उत्कृष्ट वस्तु जिसके सेवन करने से अनंत संसार के दुःख से छूटता है उसे अंगीकार करने में अंश मात्र भी परीक्षा नहीं करता। सो लोक में तो भेड़चाल जैसा प्रवाह है। जैसे अन्य लोग पूजा करें तथा सेवन करें, उसी भाँति यह भी पूजा तथा सेवन करता है। सो कैसी है भेड़ की चाल? भेड़ को ऐसा विचार नहीं है कि आगे खाई है या कुँआ है, कि सिंह है या व्याघ्र है— इस प्रकार बिना विचार के एक भेड़ के पीछे सर्व भेड़ चली जाती हैं। जो अगली भेड़ खाई या कुँआ में पड़ जाए, तो सभी पीछे की भेड़ें भी खाई व कुआँ में पड़ जाती हैं अथवा अगली भेड़ सिंह या व्याघ्रादि के स्थान में जाकर फँस जाये तो पिछली भेड़ें भी आकर फँस जाती हैं। उसी प्रकार यह संसारी जीव है, जो बड़ों (पूर्वजों) के कुल में खोटा मार्ग चला आया हो, तो यह भी खोटे मार्ग में चलता है अथवा अच्छा मार्ग चला आया हो तो भी इसके ऐसा विचार नहीं है कि अच्छा मार्ग कैसा और खोटा मार्ग

कैसा है? ऐसा ज्ञान हो तो छोटे मार्ग को छोड़े और अच्छे को ग्रहण करे। जिसमें रागद्वेष पाया जाये, तथा सर्वज्ञपने का अभाव पाया जाये, उन सबको कुदेवादि जानो। सो कहाँ तक इसका वर्णन करें? दो-चार, दस-बीस हों तो कहने में भी आये। इसलिए ऐसा निश्चय करना कि सर्वज्ञ वीतराग ही देव हैं और उन्हीं के वचनानुसार शास्त्र तथा आचरण वही धर्म है। तथा उन्हीं के वचनों के अनुसार दस प्रकार के बाह्य व चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी, तुरन्त के उत्पन्न हुए बालकवत्, तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहित, वीतराग स्वरूप के धारक, वे ही गुरु हैं। वे स्वयं भवसमुद्र से तिरते हैं तथा औरों को तारते हैं। धर्म का सेवन कर इस लोक में वे यश, बड़ाई नहीं चाहते हैं और परलोक में स्वर्गादिक भी नहीं चाहते हैं, एक मुक्ति ही चाहते हैं। इस प्रकार देव, शास्त्र, गुरु के अलावा जो भी अवशेष रहे, वे सर्व कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म जानना चाहिए।

कृष्ण जी की प्रभुत्वशक्ति का वर्णन जैसा जैन सिद्धान्त में किया है, अन्यमत में वैसा वर्णन नहीं है। वह कृष्णजी तो तीनखण्ड के स्वामी थे, तथा बहुत देव, विद्याधर और हजारों मुकुटबद्ध राजा जिनकी सेवा करते थे और कोटिशिला उठाने में समर्थ थे। नाना प्रकार की विभूति से संयुक्त थे। निकटभव्य हैं। शीघ्र ही तीर्थकर पद को धारण कर मोक्ष जायेंगे, तो भी राज-अवस्था में नमस्कार करने योग्य नहीं हैं। नमस्कार करने योग्य तो केवल दो ही पद हैं—या तो केवलज्ञानी भगवान् या निर्ग्रन्थ गुरु। इसलिए मोक्ष के अर्थ राजा को नमस्कार कैसे संभव है? जगत का यह स्वभाव है, कि जैसा देखता है वैसा ही मानने लगता है। लाभ-हानि नहीं गिनता। सो अज्ञानवश यह जीव क्या-क्या अयथार्थ श्रद्धान नहीं करता?

आगे और कोई यह कहते हैं कि हरि की ज्योति है, उसमें से चौबीस अवतार निकले हैं। कोई यह कहता है कि बड़ी-बड़ी भवानी है। कोई यह कहते हैं कि चौबीस तीर्थकर, चौबीस अवतार और चौबीस पीर एक ही हैं।

कहने मात्र नामभेद है, वस्तु-भेद नहीं है। कोई गंगा, सरस्वती, यमुना, गोदावरी इत्यादि नदियों को तारण-तरण मानते हैं। कोई जल, पृथ्वी, पवन, वनस्पति इनमें परमेश्वर का रूप मानते हैं। कोई भैरो, क्षेत्रपाल, हनुमान को मानते हैं, कोई गणेश को पार्वती का पुत्र मानते हैं। चन्द्रमा को समुद्र का पुत्र मानते हैं। ऐसा विचार नहीं करते कि गंगादि नदी जड़-अचेतन हैं, वे कैसे तारेंगी? गाय तो पशु है, सो कैसे तारेगी? और उसकी पूँछ में तैंतीस करोड़ देव कैसे रहेंगे? तथा समुद्र तो एकेन्द्रिय जल है, इसलिए इसके चन्द्रमा पुत्र कैसे होगा? तथा हनुमान को पवन (वायु) का पुत्र कहते हैं, सो एकेन्द्रिय पवन के पंचेन्द्रिय महापराक्रमी देव सदृश मनुष्य कैसे उत्पन्न हुआ? हनुमान पवनन्जय नाम के महामंडलेश्वर राजा का पुत्र है, सो यह बात संभावित होती है तथा बालि, सुग्रीव, हनुमान आदि वानरवंशी महापराक्रमी विद्याधरों के राजा हैं। वे बंदर का रूप बना लेते हैं। तथा और भी अनेक प्रकार के रूप बना लेते हैं। सो उनके इस प्रकार की हजारों विद्यायें थीं, उनसे अनेक आश्चर्यकारी चेष्टाएँ बनाते रहते थे।

तथा कोई यह कहते हैं कि यह तो बन्दर हैं, तो ऐसा विचार नहीं करते कि तिर्यच (बंदर) के ऐसा बल और पराक्रम कैसे होगा, जो संग्राम में लड़ाई करें, तथा राम-चन्द्र जी आदि राजा को बताने (बोलते रूप, बात करने) का ज्ञान कैसे होगा? तथा वे (बंदर) मनुष्य के समान कैसे भाषा बोलते होंगे? इसी प्रकार रावण आदि राक्षसवंशी विद्याधरों का राजा अपनी राक्षसी विद्या आदि हजारों विद्याओं से बहुत प्रकार के रूप आदि (धारण कर) नाना प्रकार की क्रियाएँ करते थे। तथा यदि लंका स्वर्ण (कंचन) के समान थी तो अग्नि से कैसे जली? तथा कोई इस प्रकार कहता है कि शेषनाग ने फण के ऊपर धरती को धारण किया है, तो धरती सदा अचल है तथा सुमेरु भी अचल है, किन्तु कृष्ण जी ने सुमेरु की मथानी बनाई और शेषनाग (वासुकि) को निमंत्रित किया तथा समुद्र का मंथन किया और

मथ कर उसमें से लक्ष्मी, कौतुभ मणी, पारिजात (फूल) और सुरा (मदिरा) धन्वंतरि वैद्य, तथा चन्द्रमा, कामधेनु, गौ (गाय), ऐरावत हाथी, रंभा अर्थात् देवांगना, सात मुख का घोड़ा, अमृत, पंचानन शंख, विष और कमल, ये चौदह रत्न निकाले। तब यह विचार नहीं करता कि वासुकि राजा को धरती के नीचे से निकाल लाया, तो धरती फिर किसके आधार से रही? तथा सुमेरु को उखाड़ दिया, तो उसे शाश्वत कैसे कहें? और जब तक चन्द्रमा आदि चौदह रत्न समुद्र में थे, तो बिना आकाश के चन्द्रमा किस भांति गमन करता था? चाँदनी कौन करता था ? तथा एक—दो आदि पन्द्रह तिथियाँ तथा उजाला व अँधियारा पक्ष, महीना और वर्ष इनकी प्रवृत्ति किससे थी? लक्ष्मी के बिना धनवान पुरुष कैसे थे? सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है, सो यह सत्य कैसे संभावित हो सकता है? तथा कोई कहते हैं—कोई राक्षस धरती को पाताल में ले गया, पश्चात् वाराह (सुअर) का रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार किया। तब ऐसा विचार नहीं करता कि, यह पृथ्वी शाश्वत थी, तो राक्षस कैसे हर ले गया? तथा कोई यह कहते हैं—सूर्य कश्यप राजा का पुत्र है, बुध चन्द्रमा का पुत्र है, तथा शनिश्चर सूर्य का पुत्र है, तथा हनुमानजी अंजली के कान के मैल का पुत्र है। सो इस तरह विचार नहीं करता कि इतना गर्म सूर्य कश्यप राजा के गर्भ में कैसे रहा होगा? तथा सूर्य, चन्द्रमा के शनिश्चर व बुध पुत्र कैसे होंगे? कुँआरी स्त्री के कान के मैल से पुत्र कैसे? प्रत्यक्ष विरुद्ध है, तो यह बातें सत्य कैसे संभव हो सकती हैं? इत्यादि भ्रमबुद्धि से जगत भ्रम रहा है, उसका वर्णन कहाँ तक करें? सो यह बात न्यायसंगत ही है कि संसारी जीवों के ही भ्रमबुद्धि न हो तो किसको हो? कोई पंडित या ज्ञानी पुरुषों के होती नहीं है। तथा इसी प्रकार पंडित/ज्ञानीपुरुषों में भ्रमबुद्धि हो तो, संसारी जीवों में और पंडित/ज्ञानी में विशेषता क्या रही? धर्म तो लोकोत्तर है। भाव यह है कि लोकरीति से लोक की प्रवृत्ति और धर्म की

प्रवृत्ति में परस्पर विरोध है, ऐसा जानना चाहिए। तथा आगे और भी जगत् की विडम्बना दिखाते हैं। कोई तो बड़, पीपल, आँवला आदि नाना प्रकार के एकेन्द्रिय वृक्षों को मनुष्य पंचेन्द्रिय होकर पूजता है तथा उनको पूजकर फल की वांछा करता है, सो अधिक फल पायेगा तो पंचेन्द्रिय से पूर्ण उल्टा फल एकेन्द्रिय होगा, सो यह बात युक्त ही है कि कोई हजार रुपयों का धनी है और कोई इसकी बहुत सेवा करे और बहुत प्रसन्न हो जाये तो वह निकालकर हजार रुपया दे दे। तथा जो देने में समर्थ नहीं, ऐसे एकेन्द्रिय (वृक्ष) की पूजा करे, तो मरकर एकेन्द्रिय ही हो। तथा गाय, हाथी, घोड़ा, बैल की पूजा करे तो इनके समान हो। इनसे बढ़कर और कुछ अधिक मिलने का नियम नहीं है। तथा कोई व्यक्ति हाथ से लकड़ी काटकर, उसको जलाकर, उसी के चारों ओर चक्कर लगाकर, उसी के ही गीत गाता है तथा उसी को माता कहता है और मस्तक में धूल, राख (भस्म) लगाकर विपरीत चेष्टा रूप प्रवर्तन करता है और माता—पिता, बहन—भौजाई आदि की लज्जा अर्थात् शर्म छोड़ता है। स्वयं छोटे भाई की स्त्री इत्यादि परस्त्री से नाना प्रकार जलक्रीड़ा आदि अनेक क्रीड़ाएँ करता है तथा कुचेष्टा से आकुल—व्याकुल होकर महा नरकादि के पाप उपार्जन करता है और आपको धन्य मानता है, फिर भी परलोक में ऐसे महापाप से शुभ फल को चाहता है? ऐसा कहता है— मैंने होली माता की पूजा की है, सो मुझे अच्छा फल देगी। ऐसी विडम्बना जगत् में आँखों से देखी जाती है। सो संसारी जीव ऐसा विचार नहीं करता, कि ऐसा महापाप करके उसका अच्छा फल कैसे लगेगा? तत्त्वचिंतामणि में कहा है—समाज में अभी तक नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास और बहम फैले हुए हैं। भूतयोनि है, परन्तु बहमी नर—नारी तो बात—बात में भूत—प्रेत की आशंका करते हैं। हिस्टीरिया बीमारी हुई तो प्रेत बाधा, मृगी या उन्माद हो गया तो प्रेत का सन्देह और न मालूम कहाँ—कहाँ बहम भरे हैं। इसीलिए ठग और धूर्त लोग झाड़—फूँक, टोना, जादू, जन्त्र और मन्त्र के नाम पर नाना प्रकार से

लोगों को ठगते हैं। पीरपूजा, कब्रपूजा, ताजियों के नीचे से बच्चों को निकालना, गाजीमियाँ की मनौती आदि पाखण्ड इसी बहम के आधार पर चल रहे हैं।

अशिक्षित जनता में अज्ञानता का प्रवाह यहाँ तक बढ़ गया है कि प्राचीन टूटे ध्वस्त मंदिरों का कोई भी टुकड़ा किसी को मिल गया तो उसने उस टुकड़े को किसी स्थान पर रखकर देवी-देवता मान लिया और उसको तेल-सिन्दूर चढ़ा कर पूजना आरम्भ कर दिया। उस पत्थर के टुकड़े पर चाहे किसी देवी-देवता की मूर्ति उकेरी हुई हो अथवा न हो, किन्तु उसे देवी-देवता मान लिया। ऐसे देवी-देवता हजारों स्थानों पर पुज रहे हैं। इतना अवश्य है कि उन पाषाणखण्डों के कुछ-न-कुछ नाम उन पूजनेवालों ने अवश्य गढ़ लिये हैं, किन्तु उस नाम का कोई देव था भी? उसका कुछ इतिहास या शास्त्रीय मान्यता अथवा वास्तविकता भी कुछ है या नहीं? इस विषय पर अन्ध श्रद्धालु जनता ने कुछ भी विचार नहीं किया।

इस अज्ञानता के प्रवाह में अनेक स्थानों पर प्राचीन जैन तीर्थकरों की वीतराग मूर्तियों को भैंरो, जखैयाँ आदि नाम दे दिया गया है और उनके सामने विभिन्न पशुओं को निर्दयता के साथ मारकर बलि देने की प्रथा चालू हो गई। उस भोली जनता में अभी तक इतना विवेक जाग्रत नहीं हो पाया कि जिन तीर्थकरों ने संसार को “अहिंसा धर्म” का संदेश दिया था, प्राणीमात्र पर दया करना तथा अहिंसा पालन करने का व्यापक प्रचार किया था, धर्म के नाम पर भूल से या स्वार्थवश किये जाने वाले पशुवध या पशुबलि को त्याज्य घोषित किया था, उन अहिंसा प्रचारक तीर्थकरों के सम्मुख हिंसाकार्य करके उल्टा कार्य किया जा रहा है। महान् पापकार्य एक पवित्र वीतरागीदेव की प्रतिमा के समक्ष किया जा रहा है।

इस अन्धश्रद्धा की पराकाष्ठा यहाँ तक देखी जाती है कि लोग अनेक जगह सड़कों पर गड़े हुए मीलों की संख्यासूचक पत्थरों के सामने हाथ

जोड़कर नमस्कार करते हैं, दीपक से आरती उतारते तथा फल-फूल चढ़ाते हैं और उन मील के पत्थरों के सामने अपने मन की अनेक कामनाएँ करते हैं।

प्रयाग में जो कुम्भ का मेला हुआ था, उसकी एक अन्धश्रद्धा का आँखों-देखा दृश्य एक विद्वान् ने पत्रिका में प्रकाशित करवाया था। उसने लिखा था कि मैंने एक स्थान पर तिलक लगाये हुए एक व्यक्ति को पुरोहित गुरु का रूप बनाये देखा। उसके साथ एक अच्छी सजी-सजायी गाय थी। उसने लोगों की भीड़ में पहले संस्कृत श्लोक बोलते हुए गाय की आरती उतारी, उसको तिलक लगाया, फिर संस्कृत श्लोक गुनगुनाते हुए उसकी पूजा की। तदनन्तर उस गौपूजा का क्रियाकाण्ड को देखने वाले भोले यात्री स्त्री-पुरुषों से कहा कि यह गौ माता मृत्यु के बाद नरक की वैतरणी से पार कर देगी। अभी जो व्यक्ति पाँच रुपये भेंट करके इसकी पूँछ पकड़ लेगा, मृत्यु के बाद यह गौ उस मनुष्य को वैतरणी नदी के किनारे पर खड़ी हुई मिलेगी। उस समय भी इसकी पूँछ पकड़ लेना। यह गौ माता वैतरणी नदी में कूद कर तुमको दूसरे किनारे पहुँचा देगी।

उपस्थित लोगों में से अनेक अन्धश्रद्धालु स्त्री-पुरुष सामने आ गये और पाँच-पाँच रुपये उस गाय के मालिक उस पुरोहित-रूप-धारी व्यक्ति को देकर उस गाय की पूँछ पकड़ने लगे। सबसे पहले जिस मनुष्य ने गाय की पूँछ पकड़ी ली, उसने अधिक भेंट दी थी, बाद में 5-5 रुपये भेंट देने वालों में से एक मनुष्य ने उस मनुष्य के कन्धे पर हाथ रख लिया, तदनन्तर उसके पीछे-पीछे क्रम से भेंट करने वाले स्त्री-पुरुष एक दूसरे के कन्धे पर अपना हाथ रखते गये, इस तरह उस गाय की पूँछ से परम्परा संबंध जोड़ कर खड़े होने वाले स्त्री-पुरुषों की एक लम्बी लाइन लग गई।

उस समय एक करीब अन्धश्रद्धालु के हृदय में भी वैतरणी नदी पार करने की भावना जाग्रत हुई और उसने भी प्रयागराज पर इस अवसर से

लाभ उठाना चाहा, किन्तु दुर्भाग्य से उसके पास पाँच रुपये की व्यवस्था न थी। उस बेचारे के पास सारा जोड़-तोड़ ढाई रुपये का ही था, अतः उसने वैतरणी पार कराने वाले उस गौ मालिक पुरोहित से नम्रतापूर्वक ढाई रुपये भेंट देकर उस वैतरणी पार होने के इच्छुकों की पंक्ति में लग जाने की प्रार्थना की, परन्तु उस पुरोहित ने इतना भाव गिरा देना उचित न समझा, क्योंकि अन्य लोग 5-5 रुपये दे रहे थे, तब आधे मूल्य पर वह नये ग्राहक को वैतरणी पार करने का प्रमाणपत्र क्यों देता ? अतः धर्माधिकारी ने उस भोले ग्रामीण गरीब भक्त को झिड़क दिया कि ढाई रुपये में वैतरणी पार नहीं हो सकती। वैतरणी पार होने का यह दृश्य लोगों की अन्धश्रद्धा का इस युग में जीता-जागता उदाहरण मिलता है।

धर्मसाधना की ऐसी अन्धश्रद्धा में अपने घरवालों के दुराग्रह के कारण अच्छे शिक्षित पढ़े-लिखे बुद्धिमान लोगों को भी कभी-कभी बुरी तरह फँस जाना पड़ता है। उस अन्धश्रद्धा के मूर्खतापूर्ण धर्माचरण में फँस कर ऐसे शिक्षित समर्थ समझदार लोगों को आत्मग्लानि होती है, उनका मन उस जाल से निकलना चाहता है, परन्तु रूढ़ि के दास उनके घरवाले दुराग्रह से उन्हें नहीं निकलने देते।

बहुत वर्ष पहले कलकत्ता से एक 'मतवाला' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होता था। उसके समाचार, सम्पादकीय लेख, कहानी, लेख यहाँ तक कि विज्ञापन भी हास्यरस में ही प्रकाशित हुआ करते थे। वह राष्ट्रीय तथा हिन्दूधर्म का समर्थक तथा पोषक था, किन्तु पाखण्ड का खण्डन करने में न चूकता था। उसमें एक समाचार लगभग सन् 1924 या 1925 में के किसी अंक में प्रकाशित हुआ था कि संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) का एक छोटा देशी राजा, जो कि हिन्दू विश्वविद्यालय का ग्रेजुएट (बी.ए.) था, अपनी वृद्ध माता तथा नवविवाहिता नवयुवती पत्नी के साथ बनारस में तीर्थयात्रा करने आया। उसके कुल क्रम का निश्चित पण्डा उस राजपरिवार को गंगास्नान कराने तथा विविध मन्दिरों के दर्शन कराने के लिये उसके

साथ लग गया। उस राजा ने जब गंगास्नान करके विश्वनाथ के दर्शन कर लिये, तब पण्डे ने अपनी भेंट उस राजा से माँगी।

राजा उसको 100 रुपये देने लगा, पण्डे ने कहा कि नहीं, राजा साहब! प्रथा के अनुसार भेंट में आप मुझे अपनी रानी दे दें। पण्डे की ऐसी अनुचित बात सुनकर उस युवक राजा ने पण्डे की मरम्मत करने के लिये अपना हण्टर उठाया। उसी समय उसकी माता ने अपने पुत्र का हाथ पकड़ कर कहा कि तू तीर्थ में आकर यह क्या अनर्थ करता है? पण्डा ठीक तो कह रहा है, तू पहले अपनी बहू को उसे भेंट कर दे, फिर इससे रकम ठहरा कर अपनी बहू को वापिस ले लेना। तेरे पिता के साथ जब मैं यहाँ तीर्थयात्रा करने आई थी, तब तेरे पिता ने भी मुझे इस पण्डे के पिता को दान कर दिया था, पीछे रुपये देकर मुझे वापिस ले लिया था। तुझे भी इस धर्मप्रथा का पालन करना पड़ेगा।

युवक राजा ने कहा कि मैं ऐसी अन्धश्रद्धा को नहीं मानता। तब उसकी माता बोली कि यदि तुझे यह अन्धश्रद्धा दिखती है, तो यहाँ तीर्थयात्रा करने क्यों आया था और मुझे क्यों लाया था ? यदि इस तीर्थधर्मप्रथा का पालन न करेगा, तो मेरा भी अन्न-पानी का त्याग है।

वृद्ध माता की हठ के सामने उसको झुकना पड़ा। उसने अनिच्छा से पण्डा से कहा कि अच्छा, मैंने तुझे अपनी रानी दान की। तदनन्तर उसने पांच सौ रुपये पण्डे को दिखलाते हुए रानी को वापिस माँगा। पण्डा था निर्लज्ज, वह बोला कि मैं तो दान में मिली हुई चीज नहीं लौटाता। राजा को क्रोध तो बहुत आया, परन्तु माता के डर से उस क्रोध को पी लिया और उसने दान की हुई रानी को लौटाने के लिये क्रम से पण्डे को रकम बढ़ानी शुरू की और 10 हजार रुपये तक कह दिये, पर पण्डा न माना। अन्त में राजा ने कहा कि रानी के समस्त आभूषण लेकर रानी वापिस कर दे। पण्डा इस पर भी राजी न हुआ। तब वह राजा और अधिक रकम का प्रबन्ध करने के बहाने मोटर में बैठकर सीधा कलेक्टर के

पास पहुँचा और अपनी माता की मूर्खतापूर्ण हठ के कारण आई हुई उलझन—सुलझाने के लिये कलेक्टर की सहायता माँगी। अंग्रेज कलेक्टर हँसा और उसने फोन उठाकर पुलिस सुपिरिन्टेन्डेन्ट से उस पण्डे को हवालात में बन्द कर देने को कहा।

पण्डा हवालात में पहुँच कर रानी के आभूषण लेने पर राजी हो गया, परन्तु पुलिस सुपिरिन्टेन्डेन्ट ने कहा कि अब सौदे का रुख पलट गया है, अब जरा तुम यहाँ की वायु सेवन करो। तब पण्डा रकम क्रम से 10 हजार, 5 हजार, 2 हजार, आदि घटाता गया और रात भर हवालात में रहने पर 500 रुपये लेने पर राजी हो गया। पुलिस सुपिरिन्टेन्डेन्ट ने कलेक्टर की अनुमति लेकर उस राजा से पण्डे को 500 रुपये दिलाकर हवालात से बाहर किया।

इस तरह धर्म के नाम पर स्वार्थी लोगों ने अनेक प्रकार की अन्ध परम्परायें चालू कर रखी हैं। अन्धविश्वासों के कारण ठग लोग जन्त्र—मन्त्र के नाम पर नाना प्रकार से लोगों को ठगते हैं।

एक व्यक्ति बहुत दुःखी था, क्योंकि उसके घर में दीमक बहुत लगती थी। यहाँ तक कि कपड़ों में, खाने—पीने की वस्तु में भी दीमक लग जाती थी। एक दिन उस गाँव में एक ढोंगी पंडित आया और कहने लगा कि किसी भूत—प्रेत का प्रकोप है, मैं उसे दूर भगा देता हूँ। वह व्यक्ति बोला— “पंडित जी! पता नहीं किसका प्रकोप है ? मेरे घर में दीमक बहुत लगती है। कृपाकर आप चलकर देख लें।” वह गया, वहाँ जाकर कहता है कि किसी जिन्द का प्रकोप है।

वह व्यक्ति कहता है — “अब क्या होगा पंडित जी?” पंडित बोला आप चिंता न करें। मैं जैसा कहूँ, वैसा करें। आप सब अपनी आँखें बन्द कर लें, तब मैं उस जिन्द को घर से निकाल लूँगा, सबने अपनी—अपनी आँखें बन्द कर लीं। पंडित घर में गया और जितना भी सोने—चाँदी का जेवर था, वह एक मटके में भर लिया। बाहर आया तो उन लोगों से

कहता है—“अभी आप आँखें मत खोलना, नहीं तो सब करी—कराई मेहनत पर पानी फिर जायेगा। मैंने जिन्द को इस मटके में बन्द कर लिया है। इसे इतनी दूर छोड़कर आऊँगा, ताकि फिर यह कभी भी यहाँ पर न आवे।” यह कहकर वह पंडित चलता बना। वे सब लोग आँखें ही बन्द किये रहे। जब बहुत देर हो गई पंडित लौटकर नहीं आया, तब उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और घर में जाकर देखा तो सब बिखरा पड़ा था। जब उस व्यक्ति ने जाकर ने सन्दूक में अपनी जिन्दगी भर की कमाई देखी, तो वहाँ फूटी कौड़ी भी नहीं थी। वह माथे पर हाथ लगाकर रोने लगा और कहने लगा, ‘अरे! मैं लुट गया—मैं लुट गया।’ अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत ?

मूढ़तायें ही हैं। ऐसी अनेक लौकिक कथायें हैं जिनमें दिखता है कि लोगों में कितनी मूढ़तायें भरी हुई हैं। कहीं पेड़ पर धज्जी बाँधते हैं, जहाँ कहीं चार—छः धज्जियाँ बँधी हैं तो लोग सोचते हैं कि यह देव इस धज्जी में ही बँधा हुआ है। धज्जी मायने फटा कपड़ा, वह फटा कपड़ा कहीं बाँध दिया, तो धज्जी देवता हो गये।

यह त्रिशूल की पूजा कबसे चली है? एक पौराणिक घटना है कि कुछ चोर लोग चोरी करने जा रहे थे, तो रास्ते में कोई साधु ध्यान लगाये बैठा था। तो वहाँ यह बोली करके गये कि हमें यदि चोरी में खूब लाभ होगा तो आधी भेंट आपको चढ़ायेंगे। इतने में कोई सिंह वगैरह क्रूर जानवर आया और उसने साधु का भक्षण कर लिया। अब वहाँ कुछ न रहा, केवल साधु का त्रिशूल रह गया। जब चोर लोग चोरी करके आये तो देखा कि साधु गायब, अब धन किसे दें ? तो वहाँ तीन अंगुली पड़ी थीं उसी को आधा धन चढ़ा दिया। लो, तबसे त्रिशूल की पूज्यता हो गयी।

लोकमूढ़ता में धर्म नहीं है। लोक की परम्परा से जो चलता आया है तो मान लिया, लेकिन वह धर्म नहीं है। कहते हैं कि कोई साधु महाराज

यमुना नदी में नहाने गये। उनके पास था कमण्डल। उन्होंने सोचा कि नहाते समय कोई कमण्डल ही न उठा ले जाये, सो पास में ही रेत में एक छोटा—सा ढेर बनाकर उसमें कमण्डल गाड़ दिया। अब बहुत दूर—दूर के लोग स्नान करने आ रहे थे, सोचा यह तो कोई ऊँचा सन्यासी है, यह रेत का भटूना बनाकर फिर स्नान करने गया। सो उन सबने भी एक—एक रेत का भटूना उसी जगह पास—पास ही बना दिया। अब तो बहुत से रेत के ढेर उसी जगह हो गये। जब वह साधु महाराज स्नान करके लौटे, तो देखा कि उसी जगह आसपास 50, 60, 70 रेत के भटूने बने हुये थे। लो, अब उनका कमण्डल ही गायब हो गया। तो यह क्या है? मूढ़ता ही हुई ना। देहातों में रास्ता चलते किसी जगह 10—5 पत्थर रख लो तो प्रत्येक यात्री एक पत्थर उठाये और उस ढेर में उस पत्थर को डाल दे। लो, वह तो परम्परा चल गयी। बहुत बड़ा ढेर बन गया। अब लोग समझे कि यहाँ तो कोई देवता रहता है, उसकी मान्यता हो गयी।

फुल्लन देवी का एक कथानक सुनने में आता है कि कोई साधारण सन्यासी था। उसे कहीं भिक्षा में लड्डू मिल गया। वह लिये जा रहा था, अचानक ही हाथ से छूटकर वह लड्डू मैला में गिर गया। खाने की तेज आसक्ति में उसने उस मल से उस लड्डू को उठा लिया और पोंछ डाला और उसी जगह कुछ फूल डाल दिये। फूल तो इसी हेतु डाले कि कोई मैला की बात न समझ पाये। तब लोगों ने सोचा कि यहाँ साधु महाराज निहुरे क्यों? वहाँ जाकर देखो तो कुछ फूल पड़े हुये मिले। फूल तो इसलिये डाल दिये कि पोल न जान पायें पर लोगों ने समझा कि यहाँ कोई देव है। सो सबने उस स्थान पर फूल डालना शुरू किया। वहाँ थोड़ी ही देर में फूलों का बहुत बड़ा ढेर लग गया। लो, सब लोग फुल्लन देवी मानने लगे। थोड़ी देर बाद एक विवेकी ने सोचा कि आखिर किस बात पर फूल चढ़ाये जा रहे हैं, जरा समझ तो लें। उसने उन फूलों को

हटाया हटाने के बाद जो निकला, उसको देखकर ग्लानि के मारे भग गया। तो यह लोकमूढ़ता की ही बात है।

लोकमूढ़ता की कितनी बातें बतायें। कोई पुरुष मुर्दा का हाड़, नख आदि नदी तक पहुँचाने में उसकी मुक्ति मानते हैं। अब देखो लोकमूढ़ता की बात कि वह तो मरने के बाद जहाँ जन्म लेना था ले लिया। हाड़, नख आदि तो जुदी चीजें हैं। उन्हें किसी नदी में सिराने से क्या होगा? नदी में सिरवा देने से उस मरे हुये व्यक्ति की मुक्ति हो जायेगी ? यह लोकमूढ़ता है।

लोकमूढ़ता में फँसा प्राणी कभी संसार से पार नहीं होता। सत्य या झूठ का पता लगाये बिना भीड़ का अनुसरण करना ही लोकमूढ़ता है। यह लोकमूढ़ता सभी सम्प्रदाय में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है, किसी-न-किसी रूप में इसकी अभिव्यक्ति होती है, चाहे कोई कारण हो या नहीं और लोग भी उसे बड़ी सहजता से व श्रद्धा से स्वीकरते हैं।

एक बात बड़ी प्रसिद्ध है। एक कुम्हार अपने गधे को लेकर कहीं जा रहा था। रास्ते में अत्यधिक भार से परेशान होकर वह गधा मरण को प्राप्त हो गया। कुम्हार बड़ा परेशान हुआ क्योंकि एक ही गधा था, बड़ा प्यारा था, सभी काम करता था। वह भी बीच रास्ते में दगा दे गया, क्या किया जाये? फिर सोचा कि चलो, पहले इसका दाह-संस्कार कर दिया जाये। उसने दाह-संस्कार कर दिया और उसकी स्मृति में वहाँ एक चबूतरा बनवा दिया। वहीं अगरबत्ती-दीपक चढ़ाकर शोक व्यक्त करने बैठ गया। कोई पथिक वहाँ से गुजरा, शोकसंतप्त कुम्हार को वहाँ अशान्त बैठा देखा, तो वह भी दीप-धूप जलता देख सोचने लगा कि यहाँ किसी देवता का पवित्र स्थान है, क्यों न मैं भी दो क्षण यहाँ पूजा करूँ और आगे बढ़ूँ। वह भी पास के बगीचे से दो फूल तोड़ लाया और आँखें बंद करके वहाँ चढ़ा दिये, साथ में कुछ रुपया भी चढ़ा दिया और श्रद्धाभाव से नमन

कर वहाँ से चलता बना। कुम्हार चुपचाप यह दृश्य देखता रहा और मन—ही—मन प्रसन्न होने लगा और कहने लगा—अरे! यह गधा बड़ा प्यारा है। जीते जी भी मुझे कुछ रुपयों की जुगाड़ करा देता था, मरने के बाद भी आज दो रुपये का जुगाड़ करवा दिया। धन्य है गधा और वह खुशी से उछल पड़ा कि चलो, रोजी—रोटी का मामला जम गया और वह प्रतिदिन अगरबत्ती, धूप, फल—फूल चढ़ाकर बैठ जाता। कुछ समय के बाद वहाँ से दूसरा पथिक निकला। देखा, कुम्हार बैठा है, दीप—धूप जल रहे हैं, फूल—पैसे भी चढ़े हुए हैं। क्या बात है ? यहाँ कौन—से देवता विराजमान हैं ? कुम्हार कहता है—यहाँ पहुँचे हुए देवता श्री गर्दभसेन महाराज की समाधि है। ये बड़े चमत्कारी बाबा हैं। ‘अच्छा! क्या चमत्कार है यहाँ?’ अरे साहब! यहाँ बेरोजगारों को रोजगार मिल जाता है, मन्तों माँगने से गुमी (खोई हुई) चीजें मिल जाती हैं, भेंट देने से बीमारी चली जाती है, गहना चढ़ाने से कन्या का विवाह शीघ्र हो जाता है, अच्छा तो इतना बड़ा चमत्कार है इसका ? तो भाई! मेरी भी गायें खो गई हैं, क्या मिल जायेंगी? हाँ, प्रसाद चढ़ाओ, मनौती माँगो, फिर देखो चमत्कार। उसने उसी समय फल—फूल, प्रसाद—पैसे चढ़ाई, मनौती माँगी और आगे बढ़ा। इत्तफाक से कुछ दूर जंगल में ही गायें चरती हुई दिखाई पड़ी। जैसे—ही गायें मिली, वह तो गर्दभसेन महाराज की जयकार लगाते हुए वहाँ पहुँचा। छप्पर बनवा दिया, प्रतिदिन किलो भर दूध का चढ़ावा देने लगा और नगर में ढिंढोरा पीट दिया कि रास्ते में गर्दभसेन महाराज का चबूतरा है, जो भी वहाँ मन्तों माँगेगा, वह अवश्य ही पूरी होगी। बस, क्या था, दुःखी भक्तों की भीड़ लग गई, खूब चढ़ावा आने लगा। कुम्हार का गधा ‘गर्दभसेन महाराज’ बन गया और कुम्हार उसका परम भक्त पुजारी बन गया। उसके ठाठ रहने लगे। उसने काम करना छोड़ दिया।

कुछ दिनों बाद उसे खुद भी विश्वास होने लग गया कि गर्दभसेन

मेरा गधा नहीं, कोई महात्मा था और उसने स्वयं भी गर्दभसेन महाराज की जय बोलकर जिन्दगी गुजारना प्रारंभ कर दिया। इसे ही कहते हैं लोकमूढ़ता। अचानक ही गधे को देवता मानकर बिना सोचे-समझे, उचित-अनुचित का विचार किये बिना, लोगों की देखा-देखी काम करना, पूजा-आराधना करना ही मूढ़ता है। मूढ़तायें कई रूपों में विभक्त होती हैं।

ढेर लगावें पत्थर का, या गिरि से कूदे मर जावे।

अग्निकुण्ड प्रवेश करे और धर्म मानकर नदी नहावे।।

किसी ने 7 पत्थर लिए और नज़र उतारकर फेंक दिये, दूसरे ने भी पत्थर उठकर फेंका तो वृक्ष प्रसिद्ध हो गया पत्थर वाले देवता के नाम से। जो भी जाये, पत्थर फेंके और सफलता की कामना करे। यह है मूढ़ता।

जिन्दगी से ऊबकर यह विचार करना कि ऊँचाई से आत्मा का नाम लेकर कोई गिरकर प्राण छोड़ता है, तो परमात्मा उसे बैकुण्ठ की यात्रा कराते हैं, क्योंकि शंकर जी ने पर्वत से ही बैकुण्ठ की यात्रा की थी। यह भी मूढ़ता है।

धर्म मानकर अग्नि में मरना, पति की मृत्यु होने पर स्वयं भी चिता में जलकर मरना, सती कहलाना, अग्नि को देवता मानकर उसे स्वयं को समर्पित कर देना, मूढ़ता है।

मन में धारणा बना लेना कि—गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि नदियों में स्नान कर लेने से सारे पाप धुल जायेंगे, तो यह भी मूढ़ता है।

काँटों की शैय्या पर लेटते हैं, महीनों बीत जाते हैं, शरीर बिंध जाता है। पट्टे से शरीर को मारकर लहू-हुहान कर देते हैं और मातम मानते हैं। तीर को गाल के एक जबड़े से पार कर दूसरे जबड़े तक ले जाते हैं, जिह्वा में लोहे के तार पार कर धर्म मानते हैं। ये सब मूढ़तायें हैं।

भैया! धर्म और अधर्म की कसौटी केवल एक है। जिस प्रवृत्ति में

अपने आपकी ओर आने का मौका मिलता है, वह प्रवृत्ति तो है धर्म और जिस प्रवृत्ति में हम आत्मा से और उल्टा दूर भाग जाते हैं, वह सब है अधर्म। पहाड़ों से गिरने, नदी में नहाने, अग्नि में जलने, पेड़ों को पूजने, पेड़ में धागा बाँधना, चीथड़े बाँधना कौन-कौन-सी बातें कहें, ये सब लोकमूढ़तायें हैं।

परिणाम होना चाहिये शुद्ध तत्त्व के दर्शन का और उस शुद्ध तत्त्व के आलम्बन के प्रसाद से संसार के समस्त संकटों से छूटने का। अपने आपकी करुणा करो। यह विश्व एक लुटेरी जगह है। यहाँ किसी भी बाह्य तत्त्व में दृष्टि देकर शान्ति/सन्तोष नहीं हो सकता। यदि अपने आप पर कृपा करनी हो तो इन मूढ़ताओं को छोड़कर अन्तरंग में साहस बनाना होगा कि मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं अकिंचन हूँ, केवल ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा बनानी होगी, अन्यथा जैसे भटकते आये हैं, वैसे ही भटकते रहेंगे।

जैनत्व का बोध जिसे हो जाता है, वह इन सब फालतू के चक्कर में नहीं फँसता। कुदेव, कुशास्त्र व कुगुरु को मानने वाले चाहे अपने रिस्तेदार हों, चाहे कुटुम्ब के लोग हों, चाहे मित्रमंडली के लोग हों, वे सब धर्म के अनायतन हैं। जीव के अनादि संसारभ्रमण के कारण ये छः अनायतन और तीन मूढ़तायें ही हैं। सभी को इनसे सदा दूर रहना चाहिये।

आठ शंकादि दोष

निःशंकित आदि आठ अंगों के विपरीत निम्न आठ दोष होते हैं—

1. शंका —जिनधर्म में शंका का होना ।
2. कांक्षा —धर्म का सेवन करके लौकिक सुखों की बांछा करना ।
3. विचिकित्सा —अशुभ कर्म के उदय से प्राप्त हुई अशुभ सामग्री में ग्लानि करना । मुनिराजों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि करना ।
4. मूढदृष्टि — खोटे शास्त्रों से, व्यन्तर आदि देवकृत विक्रिया से, मणि—मंत्र, औषधि आदि के प्रभाव से अनेक वस्तुओं का विपरीत स्वभाव देखकर सच्चे धर्म से चलायमान होना ।
5. अनुपगूहन — अन्य जीवों के अज्ञान से, अशक्तता से लगे हुये शेष सबको बताना ।
6. अस्थितिकरण— धर्म से विचलित होते हुये जीवों को धर्म में न लगाना और धर्म से विचलित करना ।
7. अवात्सल्य — अपने साधर्मी भाइयों से द्वेष रखना, प्रीति न रखना ।
8. अप्रभावना — धार्मिक कार्यों की प्रभावना न करना, प्रमाद करना ।

आठ मद

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतसमयः॥

‘रत्नकरण्ड श्रावकाचार’ ग्रंथ में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है— जिनका मद नष्ट हो गया है, ऐसे गणधर देव ने मद आठ प्रकार के कहे हैं — (1) ज्ञान (2) पूजा (3) कुल (4) जाति (5) बल (6) ऋद्धि (7) तप (8) शरीर। इन आठों का आशय कर जो मान होता है, उसे स्मय (मद) कहते हैं। ‘छहढाला’ ग्रंथ में पंडित श्री दौलतराम जी ने लिखा है—

पिता भूप व मातुल नृप जो, होय न तो मद ठानै।

मद न रूप को, मद न ज्ञान को, धन बल को मद भानै॥

तप को मद न, मद जु प्रभुता को करै न, सो निज जानै।

मद धारै तो यही दोष वसु, समकित को मल ठानै॥

1. ज्ञानमद — शास्त्रज्ञान, श्रुतज्ञान का गर्व नहीं करना चाहिये। इस इन्द्रियजनित ज्ञान का क्या गर्व करना ? एक क्षण में वात, पित्त, कफ आदि के घटने—बढ़ने से चलायमान हो जाता है। जो यथार्थ ज्ञानी होते हैं, वे कभी ज्ञान का मद नहीं करते। जो अपने चैतन्य स्वभाव को नहीं जानते और परपदार्थों में यह मानते हैं कि ‘यह मैं हूँ’ और ‘यह मेरा है’, वे जीव शास्त्रज्ञान होने पर भी अज्ञानी ही हैं। ‘पर’ में अहम्बुद्धि होना मोक्षमार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। ज्ञान के अहंकार से न तो पारमार्थिक और न ही लौकिक उन्नति होना संभव है।

2. **पूजामद** — ऐश्वर्य पाकर उसका मद कैसे किया जा सकता है? यह ऐश्वर्य तो अपनी आत्मा का स्वरूप भुलाने, बहुत आरम्भ, राग—द्वेष आदि में प्रवृत्ति कराकर चतुर्गति में परिभ्रमण कराने का कारण है। निर्ग्रन्थपना तीनलोक में ध्याने योग्य है, पूज्य है। यह ऐश्वर्य क्षणभंगुर है। बड़े—बड़े इन्द्र—अहमिन्द्रों का ऐश्वर्य भी पतन सहित है। बलभद्र, नारायण का भी ऐश्वर्य क्षणमात्र में नष्ट हो गया, अन्य जीवों का तो कितना—सा ऐश्वर्य है? ऐसा जानकर यदि दो दिन के लिये ऐश्वर्य पाया है तो दुःखित जीवों के उपकार में लगाओ, विनयवान् होकर दान दो। अपना परमात्म स्वरूप ऐश्वर्य जानकर इस कर्मकृत ऐश्वर्य से विरक्त होना ही योग्य है।
3. **कुलमद**— पिता के वंश को 'कुल' कहते हैं। ऊँच—नीच कुल भी अनन्तबार प्राप्त हुआ है। संसार में जाति का, कुल का मद कैसे किया जा सकता है? स्वर्ग के महान ऋषिधारी देव मरकर एकेन्द्रिय में आकर उत्पन्न हो जाते हैं। श्वान आदि निंद्य तिर्यचों में उत्पन्न हो जाते हैं तथा उत्तम कुल के धारी होकर भी चांडाल आदि में उत्पन्न हो जाते हैं। हे आत्मन्! तुम्हारा जाति/कुल तो सिद्धों समान है। ऐसा जानकर कभी भी कुल का मद नहीं करना चाहिये।
4. **जातिमद** — सम्यग्दृष्टि के ऐसा सच्चा विचार होता है—हे आत्मन्! यह उच्च जाति है, वह तुम्हारा स्वभाव नहीं है। यह तो कर्म का परिणामन है। परकृत है, विनाशशील है, कर्माधीन है। माता के वंश को 'जाति' कहते हैं। संसार में अनेक बार अनेक जातियाँ पाई हैं। यह जीव अनेक बार चांडाली, भीलनी, म्लेच्छनी, चमारिन, धोबिन, नाईन, वैश्या, दासी आदि मनुष्यनी के गर्भ में अनन्त बार उत्पन्न हुआ है। सूकरी, कूकरी, गर्दभी, स्यालनी इत्यादि तिर्यचनी के गर्भ में अनन्त बार नीच जाति पाता है। इसी प्रकार अनन्तबार उच्च जाति भी पायी जाती है, तो भी संसार—परिभ्रमण ही करता रहा। इसलिये जाति का मद नहीं करना चाहिये।

5. बल मद — जिस आत्मिक बल से कर्मरूपी बैरी को जीता जाता है, काम—क्रोध—लोभ को जीता जाता है, वह बल प्रशंसायोग्य है। इस शारीरिक बल का क्या अहंकार करना? आज शरीर तगड़ा है, पर जोर का बुखार आ जाये, चार—छः लंघन हो जावे, तो सूरत बदल जाये, उठते न बने। साता कर्म के उदय से शरीर हृष्ट—पुष्ट हो, तो जीव मान लेता है कि मैं बलवान् हूँ। पर ध्यान रखना, शरीर दोनों भिन्न—भिन्न हैं। बीस साल का युवक, जो अपने दोनों हाथों से दो व्यक्तियों को ऊपर उठा लेता था, वही जीव मरण के सम्मुख हुआ, उसमें कुछ बोलने, अपने शरीर को हिलाने तक की भी शक्ति न रही और दूसरे दो व्यक्तियों ने उसे उठाया। देह का बल आत्मा का कहाँ है? और देह के निर्बल होने पर आत्मा कहाँ निर्बल हो जाता है? देह के बल को पाकर यदि कोई दुराचारों में प्रवर्तन करे, तो वह बल प्रशंसायोग्य नहीं है। वह बलमद तो नरकादि दुर्गतियों के दुःख भोगकर अन्त में एकेन्द्रियों में समस्त बलरहित कर देगा। अतः बल का मद छोड़कर संयम धारण करके उत्तम तप करना योग्य है।

ज्ञानी पुरुष शरीर बल से विशिष्ट भी हों, तो भी उनके बल का मद नहीं होता है। शरीर का बल तो बल का विकार है। आत्मा का बल अनन्त बल है। वह बल यदि ढक गया और शरीर बल के रूप में कुछ—कुछ प्रकट हो रहा है, यह विकार है। इस बल का क्या गर्व करना ? वह बल क्या चीज है ? यहाँ के दो—चार दुबले फोकस लोगों के मुकाबले में कुछ बल हो गया तो क्या हो गया ? सर्वोत्कृष्ट बल तो नहीं कहलाया। और जिसमें सर्वोत्कृष्ट बल है, उनके तो अभिमान ही नहीं होता।

सबसे अधिक बल बताया है तीर्थकरदेव की अँगुली में। देखो 19—20 बकरों में जितना बल है, उतना बल शायद एक गधा में होगा। 10—5 गधों में जितना बल है, उतना बल एक घोड़े में होता होगा। 10—5 घोड़ों में जितना बल है, उतना बल एक भैंसा में होता होगा। 10—5 भैंसों

में जितना बल है, इतना बल एक हाथी में होता होगा। 10—5 हाथियों में जितना बल है, उतना बल एक कोट सुभटबल वाले मनुष्य में होता होगा, और अनेक कोटि सुभटों में जितना बल है, उतना बल एक नारायण में होता होगा। ऐसे ही अनेक नारायणों में जितना बल है, उतना बल एक देव में होता है। जितना बल ऐसे अनेक देवों में होता है, उतना बल एक इन्द्र में होता है और जितना बल अनेक इन्द्रों में होता है, उतना बल तीर्थंकर की अँगुली में होता है।

पुरानी बात है, एक समय जब सभा भरी हुई थी नेमिनाथ स्वामी के समय में और वहाँ कुछ पुरुषों को गर्व आने लगा था, जो कुछ शान की बातें कर रहे थे, तब एक विवेकी ने यह ही कहा था कि कोई भी सुभट नेमिनाथ स्वामी की अँगुली को टेढ़ी कर दे। तो हैरान हो गये बड़े-बड़े सुभट, पसीने से लथपथ हो गये थे, पर एक अँगुली को टेढ़ी नहीं कर सके। तो यह थोड़ा-सा बल क्या बल है ? अपने उस अनन्त बल को तो देखो, जिस बल के विस्मरण में यह देह का बल मिला है। ज्ञानी पुरुष को देह के बल का अभिमान नहीं होता है। और देह ही जब मैं नहीं हूँ, तो यह बल मेरा कहाँ से है ? और फिर शरीर का बल शरीर की जगह है, उस बल से आत्मा को बल और शान्ति नहीं मिलती है। ज्ञानी अन्तरात्माओं को देह के बल का मद नहीं होता। बल्कि देह के संबंध से कुछ भी विभाव आये, यह मेरा है, कैसा अच्छा है, कितना बल है, ऐसा चिन्तन यदि आये, तो उन्हें लाज आती है, कि मैं क्या सोचने लगा हूँ। मैं तो देह से पृथक् ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ।

प्रशंसा योग्य बल तो वह है जिस बल के द्वारा कर्म—बैरी दबा दिया जायें। जीव के बैरी हैं— 6 काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह। यह जीव इन 6 शत्रुओं के हमले के कारण कायर दुर्मत बन रहा है। इन शत्रुओं को जो बल नत कर सके, वही बल प्रशंसा के योग्य है। इस शरीर

के बल का अभिमान अज्ञानी के ही होता है। और शरीर का भी बल है क्या ? आत्मा में जो बल है, उस बल का एक औपचारिक विकृत रूप है। सदा अपने आत्मीय बल की भावना करना चाहिये। जिस बल के विकास के प्रसाद से यह आत्मतत्त्व निर्दोष आनन्दमय हो जाता है। ज्ञानीपुरुष देह के बल का अभिमान नहीं करता है और आत्मबल का आदर करके अपने को उस आत्मबल में विभोर करके तृप्त हुआ करता है। यह देह का बल, जवानी का बल, ऐश्वर्य का बल, प्रतिष्ठा का बल अनेक अज्ञानी जीवों को पीटनेवाला होता है।

किसी कवि ने कहा है कि **‘यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।’** जवानी, धन—सम्पदा, प्रभुत्व—प्रतिष्ठा और अज्ञान, इन चारों बातों में से एक ही बात हो तो वह आत्मा की बरबादी के लिये पर्याप्त होता है। और किसी संसारी सुभट में ये चारों ही बातें इकट्ठी हो जायें तो फिर अनर्थ का वर्णन कौन कर सकता है ? अगर कोई मूढ़ अपने बल का दुरुपयोग करे, तो उसका परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। नरकगति में उत्पन्न होकर असंख्यात काल प्रमाण दुःख भोगता है। पशु तिर्यचों में जन्म ले तो मारना, ताड़ना, लदना, अनेक प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं। भूख, प्यास, ठंडी, गरमी आदि के दुःख सहने पड़ते हैं। और फिर एकेन्द्रिय आदिक जीवों में जन्म ले लिया तो फिर दुःखों का ठिकाना ही नहीं रहा। कौन—सा बल पाया जाये, जिसका अहंकार रखा जाये। विवेकी योगी/संत शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व का ध्यान किया करते हैं।

6. ऋद्धिमद — ज्ञानी को ऋद्धि अर्थात् धन—सम्पत्ति पाने का गर्व नहीं होता। सम्यग्दृष्टि तो धन आदिक परिग्रह को महाभार मानता है। वह विचारता है कि — ऐसा दिन कब आयेगा जब मैं समस्त परिग्रह के भार को छोड़कर अपने आत्मधन की सम्भाल करूँगा? धन—परिग्रह के भार का

महाबन्ध हैं। राग, द्वेष, भय, संताप, शोक, क्लेश, बैर, हानि महाआरम्भ के कारण हैं, मद उत्पन्न करने वाले हैं और दुःख रूपीदुर्गति के बीज हैं। किस बात का अभिमान करना ? ये ऋद्धियाँ, ये सिद्धियाँ आत्मवैभव के सामने न-कुछ चीजें हैं। ज्ञानीपुरुष अनेक ऋद्धियों से सम्पन्न होकर भी किसी भी ऋद्धि पर, किसी भी सिद्धि पर अहंकार नहीं करता।

7. तपमद— ज्ञानीपुरुष तप का मद नहीं करता। किन्ही अज्ञानियों की ऐसी प्रकृति रहती है कि धर्म का, संयम का, व्रत का, तप का थोड़ा भी काम करें तो उसको दिखावा का रूप देता है। अरे! किसके लिये शान बघारते हो ? कौन तुम्हारा सहाय है ? धर्म तो चुपके से करने का काम है, गुप्त ही करने का काम है। जो दूसरे जीवों को अपने बारे में कुछ प्रदर्शित कर देना चाहते हैं, वे तो मोही पुरुष हैं। तुम्हारा यहाँ कौन शरण है जिसको तुम अपनी कला बताना चाहते हो ?

सम्यक्त्व के बिना मिथ्यादृष्टि का तप निष्फल है। संयम व तप तो आत्मकल्याण करने के साधन हैं, पर आज तो लोगों को तप का भी अभिमान हो जाता है। अपने अन्दर कुछ तपश्चरण की शक्ति होने पर यह कहना कि मेरे समान तपस्वी कोई नहीं है, मैं महीनों-महीनों का उपवास कर लेता हूँ, मैं छहों रसों का त्यागी हूँ, मैं गर्मी में धूप में बैठकर घंटों ध्यान लगाता हूँ, मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ। यह सब तप का अभिमान है जो सब किये-कराये पर पानी फेर देता है। जो सच्चे तपस्वी होते हैं, वे कभी भी तप का मद नहीं करते। विष्णुकुमार मुनिराज को ऋद्धि होते हुये भी उन्हें उसका पता तक नहीं था। असंयमी सम्यग्दृष्टि भी मद नहीं करता। 'त्रिमूढा पोढमष्टांगम् सम्यग्दर्शनमस्मयम्।' सम्यग्दर्शन में मद नहीं होता। अतः कभी भी तप का अभिमान नहीं करना चाहिये।

8. रूपमद — सम्यग्दृष्टि को शरीर के रूप का गर्व नहीं होता, क्योंकि वह अपना रूप तो ज्ञानमय जानता देखता है, जिसमें सभी पदार्थों का

यथार्थ स्वरूप दिखाई देता है। इस चमड़े के शरीर का रूप मेरा रूप नहीं है। इस देह का रूप क्षण—क्षण में विनाशशील है। एक दिन आहार—पान नहीं करे तो महाविरूप दिखने लगता है। इस देह का रूप समय—समय विनशता रहता है। यदि बुढ़ापा आ जाये तो अभद्र/भयकारी दिखने लगता है। यदि रोग आदि आ जाये तो किसी के देखने लायक, छूने लायक भी नहीं रह जाता है। इस रूप का गर्व कौन ज्ञानी करता है? यह तो एक ही क्षण में अंधा हो जाये, काना हो जाये, कुबड़ा, लूला, विद्रूप हो जाये, इसका कौन ठिकाना? यहाँ रूप का गर्व करना बड़ा अनर्थ है।

शरीर बलवान हो, सुन्दर हो या कुरूप हो, उन सबसे आत्मा भिन्न है। आत्मा का चेतन—स्वरूप ही सुन्दर है। परन्तु अपने सुन्दर निजरूप को न देखकर अज्ञानी शरीर की सुन्दरता से अपनी शोभा मानते हैं और शरीर के कुरूप होने पर अपने को हीन समझते हैं। उसे आचार्य समझाते हैं। कुरूप शरीर केवलज्ञान प्राप्त करने में कोई विघ्न नहीं करता। सुन्दर रूप वाले होकर भी अनेक जीव पाप करके नरक चले गये। शरीरादि संयोग और संयोगी रागादि को अपना मानना इस जीव की बहुत बड़ी भूल है। यदि सुन्दर व स्वस्थ शरीर मिला है, तो उसका अहंकार मत करो, बल्कि उस शरीर के माध्यम से रत्नत्रय धर्म की साधना करके आत्मा का कल्याण करो।

ये आठ प्रकार के मद सम्यग्दर्शन को दूषित कर नष्ट कर देते हैं, अर्थात् मलिन कर देते हैं। इसलिये कभी भी किसी प्रकार का अहंकार मत करना। रावण ने अहंकार कर पूरे परिवार सहित सोने की लंका को नष्ट कर दिया। दुर्योधन अहंकार से राजसत्ता पाने के लिये अपने पिता धृतराष्ट्र की आँखों से स्पृष्ट देखता रहा और उस स्वप्न को बल देने के लिये गांधार नरेश शकुनी मामा के रूप में मिल गये, जिनके लिये कंधे पर हाथ रखकर हाँ—में—हाँ मिलाने वाला अंगराज कर्ण भी जुड़ गया। इन

सबने मिलकर दुर्योधन को राज नहीं दिया, राजा नहीं बनाया। इन सबने मिलकर हस्तिनापुर को कुरुक्षेत्र बना दिया। जिस कुरुक्षेत्र में कौरव और पाण्डव एक ही परिवार के सदस्य होकर भी एक दूसरे के सामने खड़े होकर महाभारत कर बैठे। ये सब अभिमान का परिणाम था।

श्रीकृष्ण जी ने आकर धृतराष्ट्र से कहा, 'राजन्! अभी भी हम तुम्हारे पास शान्ति का संदेश लेकर आये हैं। तुम से यदि बन सके तो पाण्डवों का राज्य पाण्डवों को लौटा दो। यदि नहीं लौटा सकते हो, तो कम-से-कम उन पाँच भाइयों को पाँच गाँव ही दे दो, जहाँ वे शांति और प्रेम से रह सकें।' किन्तु धृतराष्ट्र के बोलने से पहले, भीष्म पितामह के बोलने से पहले, कुलगुरु के बोलने से पहले दुर्योधन जो अपने आपको सबकुछ मान बैठा था, वह श्रीकृष्ण के शांति संदेश को हँसी में उड़ाकर बोला—'पाण्डवों को जहाँ जगह हो, चले जायें। हस्तिनापुर मेरा है। मैं सुई की नोक के बराबर भी जगह नहीं दूँगा।' सुई की नोक के बराबर जमीन नहीं देने वाले अभिमानी ने स्वयं अपने आपको जमीन पर लिटा दिया और पूरे कुरुवंश का नाश किया। महाभारत का युद्ध केवल अहंकार के कारण हुआ। अहंकार की अंतिम परिणति तो पतन ही होती है। जिसने भी अहंकार किया, अन्त में निश्चित रूप से उसका पतन हुआ। इन आठ मर्दों का सदा के लिये छोड़ देना चाहिये। पच्चीस दोषों से रहित निर्मल सम्यग्दर्शन को दर्शनविशुद्धि भावना कहते हैं। दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का वर्णन आगे किया जा रहा है।

सोलहकारण भावनार्ये

सोलहकारण भावनाओं का जैन आम्नाय में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। बार—बार हितरूप तत्त्व का विचार करने को “भावना” कहते हैं। भावशुद्धि के बिना भेदविज्ञान, सुख—शान्ति और वीतरागता नहीं आ सकती। “भावना भवनाशिनी, भावना भववर्धिनी।” दूषित भावना के द्वारा संसार की वृद्धि होती है और निर्मल भावना के द्वारा संसार का नाश होता है।

समस्त धर्म का मूल ‘भावना’ है। भावना से ही परिणामों की उज्ज्वलता होती है, भावना से ही मिथ्यादर्शन का अभाव होता है, भावना से व्रतों में परिणाम दृढ़ होते हैं, भावना से वीतरागता की वृद्धि होती है। भावना से अशुभ ध्यान का अभाव होकर शुभ ध्यान की वृद्धि होती है, ऐसा जानकर प्रत्येक श्रावक को सोलहकारण भावनाओं को अवश्य भाना चाहिये।

सोलहकारण भावना भाने का फल तीर्थकरपना है। इनके द्वारा ही तीर्थकरप्रकृति का बंध अव्रती सम्यग्दृष्टि को भी होता है, देशव्रती श्रावक को भी होता है, तथा प्रमत्त—अप्रमत्त संयत मुनिराज को भी होता है। तीर्थकरप्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति है, इससे ऊँची पुण्यप्रकृति तीन—लोक में दूसरी नहीं है। गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है—

पठमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि।

तित्थयर बंध पारं भया णरा केवलिदुगंते॥ 93॥

तीर्थकरप्रकृति के बंध का प्रारंभ कर्मभूमि के मनुष्य पुरुषलिंगधारी के ही होता है, अन्य तीन गतियों में आरंभ नहीं होता। केवली—श्रुतकेवली के

चरणारविंद के समीप में ही होता है। केवली—श्रुतकेवली की निकटता के बिना तीर्थकरप्रकृति के बंध के योग्य परिणामों की विशुद्धि नहीं होती है।

तीर्थकर प्रकृतिबंध की कारण ये सोलह भावनायें समस्त पापों का क्षय, भावों की अशुद्धिरूप मल को विध्वंस करनेवाली, श्रवण—पठन करते—करते संसार के बंध को छेदनेवाली हैं, ये निरंतर ही भाने योग्य हैं।

जिसके सोलहकारण भावनायें हो जाती हैं, वह नियम से तीर्थकर होकर संसारसमुद्र से तिर जाता है, ऐसा नियम है। सोलहकारण भावनायें जिसके होती हैं, उसका कुगति गमन नहीं होता है, उसका अधिक—से—अधिक तीसरे भव में निर्वाण होता ही है, अतः ये 'शिव' का कारण हैं।

कोई तो विदेहक्षेत्र में गृहस्थपने में सोलहकारण भावना केवली—श्रुतकेवली के निकट भाकर उसी भव से देवों द्वारा तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक एवं निर्वाणकल्याणक मनाये जाकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। कोई पूर्वजन्म में केवली—श्रुतकेवली के निकट सोलहकारण भावना भाकर सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के अहमिन्द्रों में उत्पन्न होकर, फिर मनुष्य होकर तीर्थकर होकर, निर्वाण प्राप्त करते हैं। किसी ने पूर्वजन्म में मिथ्यात्व अवस्था में नरक की आयु का बंध किया, फिर केवली—श्रुतकेवली की शरण पाकर सम्यक्त्व ग्रहण करके सोलहकारण भावना भाते हुये नरक जाकर, वहाँ से निकलकर तीर्थकर होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

जो पूर्वजन्म में सोलहकारण भावना भाकर तीर्थकरप्रकृति बांधते हैं, उनके पाँच कल्याणक होते हैं। जो विदेहक्षेत्रों में गृहस्थपना में तीर्थकर प्रकृति बांधते हैं, वे उसी भव में तप, ज्ञान, निर्वाण इन तीन कल्याणकों की इन्द्रादि द्वारा पूजन पाकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। कोई विदेहक्षेत्रों में मुनिराज के व्रत धारण करने के बाद केवली—श्रुतकेवली के निकट सोलहकारण भावना भाकर उसी भव में तीर्थकर होकर ज्ञान, निर्वाण दो

कल्याणक की पूजा को प्राप्त होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने 'भाव पाहुड़' ग्रंथ में लिखा है—

विसय विरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण।

तित्थयरणामकम्मं बंधई अइरेण कालेण।।77।।

विषयों से विरक्त रहनेवाले जो साधु सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन करते हैं, वे अल्प ही समय में उस तीर्थकर नाम की प्रकृति का बन्ध करते हैं, जिससे पंचकल्याणकरूप लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं, अनन्तकाल तक अनन्तसुख का अनुभव करते हैं और अनायास ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

समस्त पापों का क्षय करनेवाली सोलहकारण भावनाओं का बार—बार चिन्तन, मनन, स्मरण करने से परिणामों में उज्ज्वलता आती है, मिथ्यात्व का अभाव होता है, व्रतों में दृढ़ परिणाम बनते हैं। इसलिये श्रवण—पठन करते—करते संसार के बंध को छेदनेवाली इन भावनाओं को निरन्तर भाना चाहिए।

हे भव्य जीवो! इस दुर्लभ मनुष्यजन्म में पच्चीस दोषरहित दर्शन—विशुद्धि नाम की भावना भावो। तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष— ये सच्चे श्रद्धान को मलिन करने वाले पच्चीस दोष हैं, इनका दूर से ही त्याग करो। 1।

पाँच प्रकार की विनय, जैसी भगवान् के परमागम में कही है उस प्रकार करना चाहिये। दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय, उपचार विनय— पाँच प्रकार की विनय को भगवान् जिनेन्द्र ने जिनशासन का मूल कहा है। जहाँ पाँच प्रकार की विनय नहीं है, वहाँ जिनेन्द्र के धर्म की प्रवृत्ति ही नहीं है। इसलिये जिनशासन का मूल विनयरूप ही रहना योग्य है। 2।

अतिचार रहित शील को पालना चाहिये। शील को मलिन नहीं करना

चाहिये। उज्ज्वल शील ही मोक्षमार्ग का बड़ा सहायक है। जिसके उज्ज्वल शील है। उसको मोक्षमार्ग में इन्द्रियाँ, विषय—कषाय, परिग्रह आदि विघ्न नहीं कर सकते हैं। 3।

इस दुर्लभ मनुष्यजन्म में प्रतिक्षण ज्ञानोपयोगरूप ही रहना चाहिये। सम्यग्ज्ञान बिना एक क्षण भी व्यतीत नहीं करो। जो अन्य संकल्प—विकल्प संसार में डुबोने वाले हैं, उनका दूर ही से परित्याग करो। 4।

धर्मानुरागपूर्वक संसार, शरीर, भोगों से वैराग्यरूप संवेगभावना का हमेशा मन में चिंतवन करना चाहिये। इससे सभी विषयों में अनुराग का अभाव होता है तथा धर्म के फल में अनुरागरूप दृढ़ प्रवर्तन होता है। 5।

अंतरंग में आत्मा के घातक लोभादि चार कषायों का अभाव करके अपनी शक्ति अनुसार सुपात्रों के रत्नत्रयादि गुणों में अनुराग करके चार प्रकार के दान में प्रवृत्ति करनी चाहिये। 6।

अंतरंग—बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह में आसक्ति छोड़कर समस्त विषयों की इच्छा का अभाव करके अत्यन्त कठिन तप को अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिये। 7।

चित्त में रागादि दोषों का निराकरण करके परम वीतरागतारूप साधु के समान समाधि धारण करना चाहिये। 8।

संसार के दुःख व आपदाओं का निराकरण करनेवाला दश प्रकार का वैयावृत्य करना चाहिये। 9।

अरहन्त के गुणों में अनुरागरूप भक्ति को धारण करते हुये अरहन्त के नामादि का ध्यान कर भक्ति करनी चाहिये। 10।

पाँच प्रकार के आचार का जो स्वयं आचरण करते हैं, अन्य शिष्यों—मुनियों को कराते हैं, दीक्षा—शिक्षा देने में निपुण, धर्म के स्तंभ, ऐसे आचार्य परमेष्ठी के गुणों में अनुराग करना वह 'आचार्य भक्ति' है। 11।

निरन्तर ज्ञान में प्रवर्तन करनेवाले, करानेवाले, चारों अनुयोगों के

ज्ञान के पारगामी अंगपूर्व श्रुत के धारी उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना, वह 'बहुतश्रुत भक्ति' है। 12।

जिनशासन को पुष्ट करनेवाला, संशय आदि अंधकार को दूर करने में सूर्य के समान जो भगवान् का अनेकान्तरूप आगम है, उसके पठन, श्रवण, प्रवर्तन, चिंतन में भक्तिपूर्वक प्रवर्तन करना, वह 'प्रवचन भक्ति' भावना है। 13।

अवश्य करने योग्य जो षट् आवश्यक हैं, वे अशुभ कर्मों के आस्रव को रोककर महान निर्जरा करनेवाले हैं। अशरण को शरण हैं, ऐसे आवश्यकों को एकाग्रचित्त से धारण कर निरंतर उनकी भावना भाना चाहिये। 14।

जिनमार्ग की प्रभावना में नित्य प्रवर्तन करना चाहिये। जिनमार्ग की प्रभावना धन्यपुरुषों द्वारा होती है। अनेक लोगों की वीतराग धर्म में प्रवृत्ति व कुमार का अभाव प्रभावना द्वारा ही होता है। 15।

धर्म में, धर्मात्मा पुरुषों में, धर्म के आयतनों में, परमागम के अनेकान्तरूप वाक्यों में परम प्रीति करना 'वात्सल्य भावना' है। यह वात्सल्य भावना सभी भावनाओं में प्रधान है। वात्सल्य अंग सभी अंगों में प्रधान है, महामोह तथा मान का नाश करनेवाला है। 16।

इस कारण निर्वाणसुख को देनेवाली इन सोलहकारण भावनाओं को जो भव्य स्थिर चित्त से भाता है, चिंतन करता है, बहुत सन्मान करता है, उनमें रच-पच जाता है, वह सभी जीवों के हितरूप तीर्थकरपना पाकर पंचमगति जो निर्वाण है, उसे प्राप्त करता है। सोलहकारण भावनाओं की महिमा का वर्णन करते हुये कवि ने लिखा है—

सोलहकारण भाय, तीर्थकर जे भये।
हरषे इन्द्र अपार, मेरु पर ले गये॥
पूजा कर निज धन्य लखो बहुचाव सों।
हमहूँ षोडशकारण भावें भाव सों॥

तीर्थकर की महिमा का क्या कहना ! यह त्रिलोकपूज्य पद है। सब मनुष्य, नारायण, चक्रवर्ती एवं इन्द्र उन्हें नमस्कार करते हैं। तीर्थकर धर्मतीर्थ के प्रवर्तक माने जाते हैं। तीर्थकर कौन होते हैं? वे कौन से परिणाम हैं जिसके कारण तीर्थकर होते हैं ? वे परिणाम सोलहकारण भावनायें हैं।

भगवान् महावीर के जीव ने दो भव पूर्व नन्द चक्रवर्ती की पर्याय में मुनि अवस्था धारण की और उस मुनि अवस्था में अनेक प्रकार के व्रतादि के साथ सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन किया, जिसके प्रभाव से वे तीर्थकर बने।

राजा श्रेणिक ने मिथ्यात्व अवस्था में सातवें नरक की आयु का बंध किया था, लेकिन बाद में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सोलहकारण भावनायें भाकर तीर्थकरप्रकृति का बंध किया। जिसके कारण सातवें नरक से घटकर पहला नरक हो गया। अगली चौबीसी में वे 'पद्म' नाम के प्रथम तीर्थकर होंगे।

इन भावनाओं के चिन्तन से लौकिक और पारलौकिक समस्त सुख मिलते हैं। आत्मा के विकास के लिये सभी को इन सोलहकारण भावनाओं को अवश्य भाना चाहिये।

ए ही सोलह भावना, सहित धरै व्रत जोय।

देव—इन्द्र—नर—वन्द्य—पद दानत शिव—पद होय।।

दर्शनविशुद्धि भावना

सम्यग्दर्शन के साथ जो लौकिक कल्याण की भावना होती है, उसे दर्शनविशुद्धि कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के बिन प्राणी, मिथ्यादृष्टि कहलाता।
दीर्घकाल तक फिरता रहता, दुर्गति के चक्कर खाता।।
दर्शनविशुद्धि उनकी होती, दोष पचीसों जो तजता।
जल से भिन्न कमलवत् रहता, स्व आत्म को वह भजता।।

(सिद्धान्त शतक)

सम्यग्दर्शन के बिना यह प्राणी मिथ्यादृष्टि कहलाता है और दीर्घकाल तक दुर्गतियों में चक्कर खाता रहता है। इस संसार में जिस जीव का सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है, वह जीव पच्चीस दोषों को त्याग देता है तथा संसार में जल से भिन्न कमलवत् रहता है और आत्मा की भावना भाता रहता है। सम्यग्दर्शन का नाश करनेवाले दोषों का त्याग करने में ही सम्यग्दर्शन की उज्ज्वलता है। आठ शंकादि दोष, तीन मूढ़ता, छह अनायतन और आठ मद — ये सच्चे श्रद्धान को मलिन करने वाले पच्चीस दोष हैं, इनको दूर से ही त्याग करना चाहिये।

हे भव्य जीवो! यदि इस मनुष्यजन्म को सफल करना चाहते हो तो सम्यग्दर्शन की विशुद्धता धारण करो। यह सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकधर्म भी नहीं होता है, मुनिधर्म भी नहीं होता है। सम्यग्दर्शन के बिना जो ज्ञान है, वह कुज्ञान है; जो चारित्र्य है, वह

कुचारित्र है; जो तप है, वह कुतप है।

इस जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्व नाम के कर्म के वश होकर अपने स्वरूप की और परद्रव्यों के स्वरूप की पहिचान नहीं की। जो पर्याय कर्म के उदय से प्राप्त की उसी पर्याय को अपना स्वरूप जान लिया। अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान करने में अंधा होकर, अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर, चारों गतियों में भ्रमण करता आ रहा है। यह जीव देव-कुदेव को, धर्म-कुधर्म को, सुगुरु-कुगुरु को नहीं जानता। पुण्य-पाप का, इस लोक-परलोक का, त्यागने योग्य — ग्रहण करने योग्य का, भक्ष्य-अभक्ष्य का, शास्त्र-कुशास्त्र का विचार ही नहीं करता। कर्म के उदय के रस में तन्मय होकर सदाकाल ही कष्ट उठाता रहा है।

कोई अकस्मात् काललब्धि के योग से मनुष्यपर्याय जिनधर्म प्राप्त हुआ, तब इसने जाना कि मैं एक जाननेवाला ज्ञायक रूप, अविनाशी, अखण्ड, चेतना लक्षण, देहादि समस्त परद्रव्यों से भिन्न आत्मा हूँ। देह, जाति, कुल, रूप, नाम इत्यादि मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभादि कर्म के उदय से उत्पन्न हुये मेरे ज्ञायकस्वभाव में विकार हैं। जैसे स्फटिक मणि स्वयं तो स्वच्छ श्वेत है, उसमें डांक के संसर्ग से काला, पीला आदि रंग दिखता है; इसी प्रकार मैं आत्मा तो स्वच्छ, ज्ञायकभाव, निर्विकार, टंकोत्कीर्ण हूँ, मोहकर्म के उदय से राग-द्वेष आदि उसमें झलकते हैं, वे मेरा रूप नहीं हैं, पर हैं। इस प्रकार विचार कर पच्चीस दोषों से रहित दर्शनविशुद्धि भावना का चिन्तन करना चाहिये। सम्यदर्शन एवं उसके पच्चीस दोषों का वर्णन इस ग्रंथ में विस्तार से किया जा चुका है।

जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता, नींव के बिना मकान नहीं बनता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का बीज है। 'छहढाला' में पं. दौलतराम जी ने कहा है कि—

मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
 सम्यक्ता न लहे सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥
 “दौल” समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै।
 यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै॥

सम्यग्दर्शन की प्रप्ति न होने से अनन्तानन्त काल से यह जीव संसार में परिभ्रमण करता आ रहा है। अब यदि चतुर्गतिरूप संसार के परिभ्रमण से भयभीत हो, जन्म-मरण से छुटकारा चाहते हो और अविनाशी अपनी सुखमय आत्मा की इच्छा हो, तो अन्य समस्त परद्रव्यों की अभिलाषा छोड़कर सम्यग्दर्शन को उज्ज्वल करो, क्योंकि सम्यग्दर्शन संसार के दुःखरूपी अंधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है, भव्यजीवों को परम शरण है। अगर दर्शनविशुद्धि भावना नहीं हुई, तो शेष पन्द्रह भावनाएँ नहीं हो सकतीं।

एक बार एक राजा किसी कार्यवश विदेश गया। वहाँ का कार्य होने के बाद जब वह राजा अपने देश वापस लौटने लगा तो उसने सोचा कि जब विदेश आये हैं तो यहाँ से अपनी रानियों के लिए कुछ सामान ले जाना चाहिए। राजा ने अपने मंत्री से पूछा कि क्या ले जाना चाहिए, तो मंत्री ने कहा कि एक-एक पत्र सभी रानियों को लिख दें कि उन्हें क्या-क्या चाहिये। उसने ऐसा ही किया और सभी रानियों को पत्र लिख दिये। पत्र पढ़कर सभी रानियाँ प्रसन्न हुईं। सबने अपनी-अपनी पसन्द पत्र में लिख दी। राजा ने सब के पत्र पढ़े। सब रानियों ने साड़ी जेवर आदि लाने के लिए लिखा था। छोटी रानी ने अपने पत्र में एक (1) का अंक लिखा था जिसका अर्थ था कि मैं आपको चाहती हूँ। आपको घर से यहाँ आये हुए मर्यादित समय से अधिक समय हो गया है, इसलिए मैं आपको देखना चाहती हूँ। इस प्रकार पत्र का आशय सुनकर राजा बहुत

प्रसन्न हुआ। सब रानियों के लिए उनकी पसन्द की वस्तुएँ राजा ने ले लीं और छोटी रानी के लिए कुछ विशेष ले लिया। वापस जाकर सभी रानियों का सामान नौकरों से भिजवा दिया और छोटी रानी के पास राजा स्वयं गये और छोटी रानी से पूछा कि तुमने क्या लिखा था ? उसने कहा, 'हे स्वामिन्! आपकी चाह थी। आप हैं, तो सबकुछ है और आप नहीं, तो इन वस्तुओं की कोई कीमत नहीं।' उसी प्रकार अगर दर्शनविशुद्धि भावना नहीं, तो शेष पंद्रह भावनाओं की कोई कीमत नहीं। इसलिए हे भव्य प्राणियो! सबसे पहले दर्शन शुद्ध करो, तभी कल्याण होगा अन्यथा बिना सम्यग्दर्शन के सारी क्रियाएँ यथेष्ट फलदायी नहीं होतीं।

दरश विशुद्धि धरै जो कोई, ताको आवागमन न होई॥

विनयसम्पन्नता भावना

रत्नत्रयधारी मुनियों के, चरणों में जो झुकता है।
देव धरम संयमी, विनय से, कर्मास्रव झट रुकता है॥
विनय मोक्ष का द्वार कहा, यह निराकार तन का दाता॥
विनय से सम्पन्न जीव ही, अतिशय जन्म के दस पाता॥

जो रत्नत्रयधारी मुनियों के चरणों में झुकता है और देव, धर्म, संयमी की विनय करता है, उस जीव का कर्मास्रव तुरन्त रुक जाता है, क्योंकि विनय को मोक्ष का द्वार कहा है। यह विनय निराकार तन अर्थात् सिद्ध पद को प्रदान करनेवाला है। विनय से सम्पन्न जीव ही जन्म के दश अतिशय को प्राप्त करता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (मोक्षमार्ग) और देव-शास्त्र-गुरु के प्रति विनय रखना 'विनयसम्पन्नता' है। विनय पाँच प्रकार की कही गई है— दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय।

दर्शन विनय— सम्यक् श्रद्धान में विनय होना, सो दर्शन विनय है। संसार में रुलनेवाले जीवों को एक सम्यक्त्व का ही सहारा है। सम्यक्त्व के बिना संकटों से मुक्ति पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। जहाँ सम्यक्त्व हो जाता है, शुद्ध आशय बन जाता है, यथार्थ श्रद्धान हो जाता है, यह कि मैं ज्ञानानन्द-स्वभाव मात्र हूँ, मैं अपनी सत्ता से अपने आप में स्वयं वैसा हूँ, इस बात का जिन्हें श्रद्धान हो जाता है, ऐसे पुरुषों को यह

बात ध्यान में आती है—अहो! सम्यग्दर्शन ही हमारा शरण है। इस सम्यक्त्व के बिना अनादिकाल से अब तक कुयोनियों में भ्रमण करते हुए चले आये हैं। यों सम्यक्त्व के प्रति विनय जगाना, यह है दर्शन विनय। अपने श्रद्धान में शंकादि दोष नहीं लगाना तथा सम्यग्दर्शन की विशुद्धता से ही अपना जन्म सफल मानना, सम्यग्दर्शन के धारकों में प्रीति रखना, स्व व पर का भेदविज्ञान करना दर्शन विनय है।

ज्ञानविनय— सम्यग्ज्ञान की आराधना में उद्यम करना, सम्यग्ज्ञान के कारण जो चारों अनुयोगों के शास्त्र हैं, उनके श्रवण—पठन में बहुत उत्साहरूप होना तथा वन्दना—स्तवनपूर्वक बहुत आदरपूर्वक पढ़ना, वह ज्ञानविनय है। ज्ञान के आराधक ज्ञानीजनों का तथा जिनागम के ग्रंथों के प्राप्त रूप संयोग का बड़ा लाभ मानना, सत्कार—आदर आदि करना, यह सब ज्ञानविनय है।

चारित्रविनय— अपनी शक्तिप्रमाण चारित्र धारण करने में हर्ष मानना, दिनों—दिन चारित्र कि उज्ज्वलता के लिये विषय—कषायों को घटाना तथा चारित्र के धारकों के गुणों में अनुराग, स्तवन, आदर करना, वह चारित्रविनय है।

तपविनय— इच्छाओं को रोककर, प्राप्त हुए विषयों में संतोष करके, ध्यान—स्वाध्याय में उद्यमी होकर, काम को जीतने के लिये तथा इंद्रियों की विषयों में प्रवृत्ति रोकने के लिये अनशन आदि तप में उद्यम करना, तप विनय है।

उपचार विनय— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप—इन चार आराधनाओं का उपदेश देकर मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले, तथा जिनका स्मरण करने से परिणामों का मैल दूर होकर विशुद्धता प्रकट हो जाती है, ऐसे पंचपरमेष्ठी के नाम की स्थापना की विनय, वन्दना, स्तवन करना, वह उपचार विनय है। उपचार विनय के लोक विनय,

व्यवहार विनय और—भी बहुत भेद हैं।

जिनेन्द्र भगवान् ने मनुष्यजन्म का सार विनयधर्म को कहा है। यह विनय संसाररूपी वृक्ष को जलाने के लिये अग्नि है। यह विनय तीनलोक के जीवों के मन को उज्ज्वल करनेवाली है। मिथ्याश्रद्धान के छेदने को विनय 'शूल' है। विनय बिना मनुष्यरूप चमड़े का वृक्ष मानरूप अग्नि द्वारा भस्म हो जाता है। मानकषाय द्वारा यहीं पर घोर दुःख सहता है तथा परलोक में निंद्यजाति, निंद्यकुल में बुद्धिहीन—बलहीन होकर उत्पन्न होता है। विनयरहित को जिनेन्द्र भगवान् की शिक्षा ग्रहण नहीं होती है। विनयरहित अहंकारी जीव समस्त दोषों का पात्र होता है।

अहंकार के कारण व्यक्ति गुरुओं तक की निंदा कर देते हैं। जो व्यक्ति बचपन में विनय करना नहीं सीखते, वे अपने जीवन में अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करते हैं। शास्त्रों में तो ऐसा लिखा है कि देव, धर्म या गुरु की निंदा करने से निकाचित कर्मों का बन्ध होता है, जिसका फल बिना भोगे नहीं छूटता। इसलिये सदा गुरुओं की भक्ति और विनय करना चाहिये।

गुरुओं की विनय के बल पर ही अर्जुन विशेष धनुर्धारी प्रसिद्ध हुये हैं। अनेक मुनि व श्रावकों ने भी विनय के बल से मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया है।

एक तापसी जलस्तंभिनी विद्या के बल से यमुना के मध्य ध्यान करता था। एक बार एक विद्याधर की पत्नी अपने पति से उसकी प्रशंसा करने लगी। विद्याधर ने कहा कि यह मिथ्यातपसी है। देखो ! इसकी अज्ञानता मैं तुम्हें दिखाता हूँ। विद्याधर युगल ने चांडाल का वेश बनाकर नदी किनारे बड़ा—सा महल बनाया और भी अनेक चमत्कार करने लगे। साधु ध्यान छोड़कर उनके पास चला गया और बोला, 'महाशय! यह विद्या हमें दे दीजिये।' विद्याधर ने कहा कि मैं चांडाल हूँ। तुम ब्राह्मण हो। फिर

कैसे गुरु—शिष्य का संबंध बन सकेगा? खैर उसके अनुनय—विनय पर विद्याधर ने उसे वह विद्या दे दी। उस तापसी ने राजा के पास अपना चमत्कार दिखाना चाहा। इसी बीच ये विद्याधर युगल चांडाल वेष में उसके सामने पहुँचे। साधु ने मन में सोचा ये नीच इस समय मेरा चमत्कार घटाने के लिये क्यों आ गये? गुरु की अविनय के भाव आते ही उसकी विद्या समाप्त हो गई। तब लज्जित होकर तापसी ने सारी बातें बता दीं। राजा ने उन चांडाल दंपत्ती को नमस्कार कर विद्या माँगी। चांडाल ने कहा कि यदि आप कहीं भी मुझे देखें तो ऐसा कहें कि 'मैं आपकी ही चरण कृपा से जीता हूँ।' तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ। राजा ने स्वीकार कर लिया, चांडाल ने उसे विद्या दे दी।

एक दिन राजा सिंहासन पर बैठे थे। उनके पास बहुत मंत्रीगण व सभासद बैठे थे। उसी समय ये चांडाल युगल आये, राजा ने सिंहासन से उतरकर नमस्कार करके बड़ी विनय से कहा — प्रभो! मैं आपके चरणों की कृपा से ही जीता हूँ। इतना सुनते ही वह सम्यग्दृष्टि विद्याधर बहुत प्रसन्न हुआ। राजा की विनय से प्रभावित होकर वे अपने असली विद्याधर के रूप में प्रगट हो गये और राजा के विनय गुण की प्रशंसा कर राजा को और भी अनेक विद्यायें देकर विजयार्ध पर्वत पर चले गये।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जब लौकिक कार्य भी गुरु की विनय के बिना सिद्ध नहीं होते, तो परमार्थ कार्य की सिद्धि होना तो असंभव ही है। अतः सभी को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य व इनके धारी गुरुओं की विनय अवश्य करना चाहिए। विनय के बिना मनुष्य अपनी उन्नति कभी नहीं कर सकता। जो गुरुओं की विनय करता है, उसमें अनेक गुण अपने आप आ जाते हैं।

संसार में सभी जगह दुःख ही है। अभी आपने इस संसार को पहचाना नहीं। आप श्रीराम को भगवान् मानकर पूजते हैं, पर इसी संसार

ने इन्हें वनवास दिया था। ये वही संसार है, वही संसार के लोग हैं, जिन्होंने श्रीराम को वनवास भेज दिया था और आप इस संसार में सुख ढूँढ़ रहे हो, इन मोही स्वार्थी जीवों में अपनी मान बढ़ाई चाहते हो। जो आपके भगवान् का नहीं हुआ, वह आपका कैसे हो सकता है?

एक सेठ के पास अपार धन—संपत्ति थी। सेठ की एकमात्र इच्छा थी कि प्रचुर धनराशि का प्रदर्शन कुछ इस ढंग से किया जाये कि दुनियाँ सदा उसका यशोगान करती रहे। उसके जीवन के पचास वर्ष इसी उधेड़-बुन में बीत गये थे, किन्तु अभी तक उसे कोई उचित अवसर नहीं मिल पाया था।

आखिर समय ने उसे मौका दे दिया। उसकी इकलौती बेटी की शादी का प्रसंग था। वह मन—ही—मन सोचने लगा कि धन—प्रदर्शन के माध्यम से यश पाने का यह उत्तम अवसर है। उसने दूसरे दिन अपने सभी मित्रों को बुलाकर कहा— मित्रो! मैं अपनी लाड़ली बेटी की शादी ऐसे अनूठे ढंग से करना चाहता हूँ जैसे आज तक किसी ने कहीं न देखी हो, न सुनी हो। चाहे जितना खर्चा हो जाये, उसकी मुझे परवाह नहीं है। मैं यही चाहता हूँ कि सभी मेरी प्रशंसा मुक्तकंठ से करते रहें। शादी इतनी शानदार हो जिसे लोग युग—युगान्तर तक याद करते रहें।

सेठ के उन मित्रों में से एक बुजुर्ग मित्र ने अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा— मित्र! इस दुनियाँ में किसी को भी यश नहीं मिलता। तुम चाहे कितने भी अच्छे से अच्छा कार्य करो, किन्तु ये दुनियाँ किसी को यश नहीं देती। दुनियाँ की तो ये रीति है कि अच्छे—से—अच्छे कार्य में भी लोग त्रुटियाँ निकाल देते हैं।

यह सुनकर सेठ ने झल्लाकर कहा— दुनियाँ त्रुटियाँ तो तब निकालेगी जब मैं किसी कार्य में कुछ कमी रखूँगा। जब शादी के आयोजन में कोई कमी रहेगी ही नहीं, तो दुनियाँ दोष भी कैसे निकालेगी? उस अनुभवी

मित्र ने अंत में भी यही कहा— मित्र! याद रखना कि आदमी की प्रकृति कुछ ऐसी ही है जो दोष देखना ही जानती है।

सेठ ने शादी की तैयारियाँ छह महीने पूर्व ही प्रारंभ कर दीं। मन में यश की आकांक्षा को लेकर सेठ ने शादी की रूपरेखा खूब सोच-विचारकर तय कर ली। उसने सोचा, आनेवाले सभी बारातियों की खातिरदारी इस तरह करूँगा कि प्रत्येक बराती स्वयं को धन्यभागी समझेगा। विवाह की प्रशंसा ऐसी होगी कि जो विवाह में नहीं आयेंगे वे अपने को दुर्भाग्यशाली महसूस करेंगे। समय पर बारात आई। सेठ ने पहले से ही आगत-स्वागत की ऐसी तैयारियाँ कर रखी थीं कि सारे बाराती देखकर दंग रह गये। फिर उनके खान-पान, आमोद-प्रमोद, हास्य-विलास और सुख-सुविधाओं के समस्त साधन प्रचुर मात्रा में जुटाये हुए थे। एक-एक बाराती को इतना प्रेम, आदर और आग्रहपूर्वक सम्मान दिया जा रहा था कि सभी मन-ही-मन सेठ की प्रशंसा कर रहे थे।

विवाहकार्य ठाठ-बाट से सम्पन्न हुआ। जब बेटी की विदा होने का समय आया तो सेठ ने समस्त बारातियों को एक बड़े सभागृह में बैठाया। सबसे नम्र निवेदन करते हुये कहा— आदरणीय महानुभावो! आपके आगत-स्वागत और खातिरदारी में कोई त्रुटि रह गई हो तो मैं आप सबसे हाथ जोड़कर क्षमायाचना करना चाहता हूँ। मुझे इस बात का अफसोस है कि हम जितना चाहते थे उतनी आपकी सेवा नहीं कर सके।

अंत में सेठ ने कहा— आज आप यहाँ से प्रस्थान कर रहे हैं। अतः जाते-जाते सभी से मेरा सविनय निवेदन है कि इस सभागृह के बाहर दोनों ओर घड़े रखे हैं, जो सच्चे मोतियों से भरे हुए हैं। जिसकी जितनी मर्जी हो, उतना वह उपहार के रूप में अवश्य लेकर जाए।

सारे बाराती यह कथन सुनकर दंग रह गये। मन-ही-मन सेठ की सराहना करने लगे—क्या दरियादिल आदमी है ये! कुछ व्यक्ति सोचने लगे

ऐसी शादी तो हमने न कहीं देखी है और न सुनी है कि आनेवाले बारातियों को सच्चे मोती मुक्त हाथों से बाँटे जाएँ। सबने मनमर्जी के मुताबिक अपनी जेबें भर लीं और बारात विदा हो गई।

सबके जाने के बाद सेठ ने अपने अंतरंग मित्रों को बुलाकर कहा कि तुम्हें उन बारातियों के पीछे-पीछे जाना है। रास्ते में इनकी भोजन व्यवस्था का पूरा ध्यान रखना और अपने कानों को भी सतर्क रखना। क्योंकि आते हुए बाराती कुछ नहीं बोलते, परन्तु जाते हुये बाराती बहुत कुछ बोलते हैं। अतः तुम कान खोलकर उनकी बातें सुनना। इस तरह सेठ ने अपने मित्रों को बारातियों की प्रतिक्रिया जानने के लिए भेजा, ताकि पता लगे कि लोग सेठ के बारे में क्या-क्या कहते हैं।

सेठ के कहे अनुसार मित्र पूरा ध्यान रख रहे थे। जहाँ भी दो-चार बाराती इकट्ठे होकर बैठ जाते, वहीं वे मित्र भी पहुँच जाते। इतने में बारात का एक प्रमुख व्यक्ति ठहाका मारते हुए कह रहा था—यारो! कुछ भी कहो, सेठ ने शादी तो बहुत बढ़िया की, परन्तु सारे काम बनियाबुद्धि से हुए थे। सेठ ने प्रदर्शन तो इतना किया कि मोती बाँटे जा रहे हैं, किन्तु घड़े का मुँह इतना छोटा रखा कि कोई पूरी मुट्ठी भरकर मोती निकाल ही न सके। मोती बाँटने का तो सिर्फ दिखावा ही किया था।

सेठ के मित्र इस बात को सुनकर दंग रह गये। जब मित्र लौटकर सेठ के पास पहुँचे, तो सेठ उनसे बहुत कुछ सुनने को उत्सुक था। मित्रों की बात सुनकर सेठ ने कहा — मित्रो! दुनियाँ के लोग सिर्फ दोष ही निकाल सकते हैं, प्रशंसा नहीं करते। अच्छा होता मैं तुम्हारी बात मान लेता। आज से संकल्प करता हूँ कि यश पाने के लिये कोई भी कार्य नहीं करूँगा।

यह संसार असार है, यहाँ मान करना मूढ़ता की बात है। विनय से रहित घमंडी व्यक्ति अन्त में नष्ट हो जाता है।

विनय से सहित मनुष्य सभी को अपनी ओर मोहित कर लेता है। विनय से ही स्व व पर के स्वरूप का प्रतिभास होता है। जो विनयवान् होता है, जिसकी कषायें समाप्त हो गईं, उसी व्यक्ति को बोलते हैं सहजानंद सत्यस्वरूपी।

‘सहजानंद’ किसी वस्तु का नाम नहीं है। जो योगों की वक्रता/कठिनता को समाप्त कर देगा, वह सहजानंद में जाकर डूब जायेगा। जो आनंद में डूब जाता है, वह अपने लिए संसार की सारी विपरीतताओं से बचाता है। सबसे ज्यादा यदि दुनियाँ में झगड़े हो रहे हैं तो जिह्वा के कारण से। यह जिह्वा कुछ बोलकर अन्दर चली जाती है, इधर तलवारें खिंच जाती हैं। हजारों साल पूर्व जिह्वा ने कितना बड़ा अत्याचार किया था? इस जिह्वा ने दो शब्द बोले थे, वे भी कौतूहलवश। लेकिन ये दो शब्द बोलने का परिणाम यह निकला कि यह नीति चरितार्थ हो गई कि ‘गोली चूक जाए, लेकिन बोली नहीं चूकती।’ गोली का घाव भर जाता है, लेकिन बोली का घाव जन्म—जन्म तक बना रहता है। पत्थर की चोट के घाव सूख जायेंगे, डंडे के घाव सूख जायेंगे, उनका आपरेशन हो जायेगा, लेकिन कभी किसी के प्रति बोल के घाव पड़ जायें, तो उसके हृदय में जन्म—जन्म तक वह घाव नहीं सूखता। रिसता रहता है, हरा बना रहता है। जन्म—जन्म तक हरा बना रहता है। गोली तो एक ही जीव को मारती है, लेकिन बोली न जाने कितने जीवों का संहार कर देती है। एक गोली एक ही जीव को मार सकती है, दो जीवों को मारने की क्षमता नहीं। लेकिन बोली में इतनी क्षमता है कि सारे वंश का विनाश कर सकती है।

द्रोपदी के मुख से मजाक में दो शब्द निकल गये कि अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते हैं। इतना ही तो कहा था। बेचारी द्रोपदी दुर्योधन की भाभी थी। उसे देवर से मजाक करने का अधिकार समाज ने दिया है। एक वचन बोल दिया था कि अंधे के पुत्र अन्धे होते हैं। कब बोला था यह

वचन? पांडवों के लिये कौरवों ने राज दिया था खांडप्रस्थ का। इसका अर्थ है खण्डहर का स्थान। यह दे दिया था। घृतराष्ट्र के कहने पर कुछ तो देना पड़ेगा। लेकिन पांडव तो कर्मठ जीव थे, अकर्मण्य जीव नहीं थे। भाग्य पर भरोसा नहीं रखते थे, अपने बाहुबल पर भरोसा रखते थे। पांडवा तो जैन थे, क्षत्रियपुत्र थे। वे तो कहते थे कि बाहुबल से हम सबकुछ कर लेंगे, और कर दिखाया उन्होंने, खांडप्रस्थ को परिवर्तित कर दिया और इन्द्रप्रस्थ बना दिया। इन्द्र का अर्थ होता है माया और प्रस्थ यानि स्थान। उस स्थान को मायावी बना दिया और दुर्योधन को भी इन्द्रप्रस्थ महल के उद्घाटन समारोह में बुलाया।

नांगल (गृह प्रवेश) करने की परंपरा आज की नहीं, बहुत पुरानी है। मकान बनने के बाद सारे रिश्तेदारों को बुलाकर नांगल करवाया जाता है। जिसमें धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है। पांडवों ने भी खाण्डप्रस्थ को इन्द्रप्रस्थ बनाकर नांगल किया। उसमें दुर्योधन भी आया। ओ हो! दुर्योधन तो देखते ही दंग रह गया। कहीं पर जाता, सोचता कि जहाँ जल होगा, वह अपना चूड़ीदार पैजामा ऊपर को खींचता है कि गीला न हो जाये, लेकिन वहाँ देखता है कि वहाँ तो जमीन है और जहाँ जमीन देखने में आती है वहाँ पर स्वीमिंग पूल जैसा जलकुण्ड था, अतः धड़ाम से गिर जाता है। यही तो संसार है। संसार में सारा—का—सारा माया का जल भरा है। जिसे हम सत्य मानते हैं, वह असत्य है और जिसे हम असत्य मानते हैं, वह सत्य है। पारमार्थिक सुख ही सत्य है। जिस—जिस में हमें दुःख मिला, उसको हमने सत्य कहा और दूसरे को भी वही मार्ग बताया। जिस गृहस्थी के जाल में मकड़ी का जाल बन रहा है, उसमें क्या 24 घण्टे में एक समय के लिए भी निराकुल परिणाम कर पाए? नहीं। फिर भी हम दूसरों को उसी में फँसाने का उपदेश देते हैं।

द्रोपदी के दो शब्दों ने कमाल कर दिया—‘अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते

हैं।' हँसी तो होगी ही, और जब तुम्हारी कोई हँसी करेगा तो क्रोध आयेगा।

कठिन वचन मत बोल। हँसी-हँसी में भी अपने मित्र को कठिन वचन मत बोलो। बहुत अन्याय हो सकता है। द्रोपदी के दो शब्दों ने इतना अन्याय कर दिया। दुर्योधन कहता है— बता दूँगा तुम्हें कि अन्धों के पुत्र अन्धे कैसे होते हैं। एक कठिन वचन ने भरी सभा में चीर-हरण की नौबत ला दी। दुर्योधन कहता है कि द्रोपदी! हम लोग अन्धे हैं, अन्धों के पुत्र अन्धे होते हैं। अन्धों के सामने नग्न होकर भी चली जाओ तो क्या फर्क पड़नेवाला है। एक वाक्य से एक स्त्री के सतीत्व के लुटने की नौबत आ गयी थी। एक वाक्य ने महाभारत जैसा युद्ध खड़ा कर दिया था। कितना संग्राम हुआ, कितना खून-खच्चर हुआ?

सारा झगड़ा महाभारत में मात्र बातों-बातों का है। महाभारत को खोजो तो कोई सार नहीं। प्याज की पर्तें हैं महाभारत में। राम और रावण युद्ध तो फिर भी ठीक प्रतीत होता है, लेकिन महाभारत में केवल प्याज की पर्तें लगी हैं। छिलके निकालते जाओ, निकालते जाओ, अन्त तक छिलके निकलते जायेंगे, कोई सार नहीं। बातों-बातों का युद्ध है। उसने कहा कि मुझे अन्धा क्यों कहा? उसने कहा कि मुझे नग्न होने को क्यों कहा?

सदा विनयपूर्ण वचन बोलना चाहिये। कभी किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। मीठे वचन बोलना, यथायोग्य आदर-सत्कार करना— ये ही विनय है। महापापी, द्रोही, दुराचारी को भी कुवचन नहीं कहना चाहिए।

जब तक नम्रता नहीं आयेगी, तब तक शान्ति और सन्तोष का मार्ग नहीं मिल सकेगा। अभिमानी पुरुष का आत्मप्रभु से मिलन नहीं हो पाता। अतः कभी भी गर्व (घमण्ड) नहीं करना चाहिये। भैया! किस पर गर्व करना? कौन-सा यहाँ सारभूत है, कौन शरण है ? स्वप्नवत् यह असार

संसार है। जब यह शरीर भी मेरा साथी नहीं है, मेरा शरण नहीं है जो हमारे बहुत निकट का है, तब फिर अन्य पदार्थों से क्या आशा की जाय? अभिमान छोड़कर विनयशील बनना और अपने आपके स्वभाव की ओर झुकनेरूप नम्रता आना, विनय से ओत-प्रोत होकर पंचपरमेष्ठियों की आराधना करना, यह है विनयसम्पन्नता। इस मनुष्यजन्म की शोभा विनय से ही है। अतः विनय बिना मनुष्यजन्म की एक घड़ी भी नहीं बितानी चाहिए।

विनय महाधारे जो प्राणी, शिव-वनिता की सखी वखानी।

शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

सहस्र अठारह दोष रहित, जो शील व्रतों को अपनाता।
इन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्र आदि से, वह आदर को है पाता।।
अग्नि पानी शूली सिंहासन, अजगर माला बन जाता।
शीलव्रत की महिमा न्यारी, अपयश यश में ढल जाता।।

अठारह हजार दोषों से रहित शीलव्रतों को जो जीव धारण करता है, वह इन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्र आदि से आदर को प्राप्त करता है। शीलव्रत के प्रभाव से अग्नि, पानी, शूली, सिंहासन, अजगर फूलों की माला हो जाती है। शीलव्रत की महिमा अचिन्त्य है, अनुपम है। शीलव्रत के कारण से अपयश भी यश में परिवर्तित हो जाता है।

अहिंसा आदिक व्रतों में और उनके पालने के अर्थ कषायों के त्याग कर देने रूप शीलों में जो निर्दोषता की प्रकृति है, उसको कहते हैं—शीलव्रतेष्वनतिचार। शील में और व्रत में कोई दोष नहीं लगाना, ऐसा यत्न होना और ऐसी भावना बनी रहनी चाहिए। स्वानुभूति के लिए पदार्थों का यथार्थ परिज्ञान हो जाना, इतना ही मात्र कार्यकारी नहीं है, किन्तु वास्तविक चारित्र होना स्वानुभूति के लिए कारण पड़ता है।

जब तक यह आत्मा यथार्थ परिज्ञान करके अपनी इन्द्रियों व मन को संयत नहीं करता और निजस्वभाव में उपयोग को स्थिर नहीं करता, तब तक स्वानुभूति प्रकट नहीं होती। स्व का अनुभव होना और स्व का ज्ञान होना, इन दो बातों में अन्तर है। स्व का ज्ञान करना ज्ञानसाध्य बात है, परन्तु स्व का अनुभव होना अपने आपको अंतःसंयम में ढाले बिना नहीं

होता। इस कारण स्वानुभव के अर्थ, आत्मकल्याण के अर्थ, संतोष के अर्थ, शील और व्रत में दोष न लगाना, ऐसा यत्न करना आवश्यक है। उपयोग ही तो है यह। जो उपयोग पापों में लगता है, उस उपयोग में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने ब्रह्मस्वरूप का अनुभवन कर सके। इसके लिए तो बड़ी सावधानी की जरूरत है।

शीलव्रतेष्वनतिचार का अर्थ 'राजवार्तिक' में ऐसा कहा— अहिंसादि पांच व्रत तथा इन पांच व्रतों को पालने के लिये क्रोधादि कषायों के त्यागरूप शील में मन—वचन—काय की जो निर्दोष प्रवृत्ति है, वह शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है। आत्मा के स्वभाव का नाम शील है। आत्म—स्वभाव का घात करनेवाले हिंसादि पाँच पाप हैं। उनमें कामसेवन नाम का एक ही पाप हिंसादि सभी पापों को पुष्ट करता है तथा क्रोधादि सभी कषायों को तीव्र करता है।

यह शील दुर्गति के दुःख को हरनेवाला है, स्वर्गादि शुभगति का कारण है, व्रत—तप—संयम का जीवन है। शील बिना तप करना, व्रत धारण करना, संयम पालना, मृतक के शरीर—समान देखने मात्र का है, कार्यकारी नहीं है। शीलरहित का तप—व्रत—संयम धर्म की निंदा कराने वाला है। ऐसा जानकर शील नाम के धर्म के अंग का पालन करो, चंचल मनरूपी पक्षी का दमन करो, अतिचार रहित शुद्ध शील पुष्ट करो।

मन हाथी के समान है। धर्मरूपी वन को विध्वंस करने वाले मनरूपी मदोन्मत्त हाथी को रोकना चाहिये। चलायमान होकर मनरूपी हाथी महान अनर्थ करता है। जैसे मतवाला हुआ हाथी अपने स्थान से निकल भागता है उसी प्रकार काम से उन्मत्त हुआ जनरूपी हाथी अपने समभावरूपी स्थान से निकल भागता है, कुल की मर्यादा, संतोष आदि छोड़ देता है। मदोन्मत्त हाथी तो सांकल तोड़कर भाग जाता है, यह मनरूपी हाथी सुबुद्धिरूपी सांकल तोड़कर घूमता है। हाथी तो मार्ग में चलानेवाले

महावत को गिरा देता है, कामी का मन सम्यग्धर्म के मार्ग में प्रवर्तानेवाले ज्ञान को दूर कर देता है। हाथी तो अंकुश को नहीं मानता है, मनरूपी हाथी गुरुओं के शिक्षाकारी वचनों को नहीं मानता है। हाथी तो फल व छाया देनेवाले बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकता है, काम से उद्दीप्त मन स्वर्ग—मोक्षरूप फल को देनेवाले तथा यशरूपी सुगन्ध को फैलानेवाले, समस्त विषयों की आतप को हरनेवाले ब्रह्मचर्यरूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकता है।

इसलिये इस काम से उन्मत्त मनरूप हाथी के लिए वैराग्यरूप खम्भे से बांधो यदि यह खुला रहा, तो महान अनर्थ करेगा। ये काम अनंग है, इसके पास अंग नहीं है। यह तो मनसिज है, मन में ही इसका जन्म होता है। मन का मथन करनेवाला है, इसलिये इसे मनमथ कहते हैं। संवर का अरि अर्थात् वैरी है, इसीलिये इसे संवरारि कहते हैं। काम से खोटा दर्प अर्थात् गर्व उत्पन्न होता है, इसलिये इसे कंदर्प कहते हैं। इसके द्वारा अनेक मनुष्य—तिर्यच परस्पर लड़कर मर जाते हैं, इसलिये इसे मार कहते हैं। इसी कारण मनुष्यों में अन्य इंद्रियों के अंग तो प्रगट हैं, काम के अंग ढके हुए हैं। उत्तम पुरुष तो काम के अंग का नाम का भी उच्चारण नहीं करते हैं। इसके समान दूसरा पाप नहीं है। धर्म से भ्रष्ट करनेवाला काम ही है। इस काम ने ऋषि, मुनि, देवता, हरि, हर, ब्रह्मा, आदि को भ्रष्ट करके अपने आधीन किया है। इसलिये सारे जगत को जीतनेवाला एक काम को ही कहा जाता है। इसको जीतनेवाला मोह को सहज ही जीत लेता है। इसलिये काम का त्याग करने के लिये मनुष्यनी, देवांगना, तिर्यचनी का संसर्ग—संगति कामविकार को उत्पन्न करनेवाली जानकर दूर से ही त्याग करो।

शीलव्रत का पालन करने के लिए मन, वचन, काय से स्त्रियों में राग का त्याग करना, स्वयं कुशील के मार्ग पर नहीं चलना, अन्य दूसरे को

कुशील के मार्ग का उपदेश नहीं देना, कोई अन्य जो कुशील के मार्ग पर चलता हो, उसकी अनुमोदना नहीं करना, बालिका स्त्री को देखकर उस पर पुत्रीवत् निर्विकार बुद्धि करना। यौवनरूप हाथी पर बैठी, सौंदर्यरूप जल में जिसके सभी अंग डूब रहे हों, ऐसी रूपवती स्त्री में बहिन के समान निर्विकार बुद्धि करना चाहिए।

जो शीलवान हैं, उनकी दृष्टि स्त्रियों पर जाते ही उनके नेत्र बंद हो जाते हैं। जो स्त्रियों से वचनालाप करेगा, स्त्रियों के अंगों को देखेगा, उसका शील अवश्य भंग होगा। इसलिये जो विवेकी गृहस्थ हैं, उनके तो एक अपनी स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों की संगति, अवलोकन, वचनालाप का त्याग होता है तथा अन्य स्त्रियों की कथा का विचार स्वप्न में भी नहीं आता है। एकान्त में माता, बहिन, पुत्री के साथ भी नहीं रहते हैं।

यदि हम शीलव्रत की साधना करना चाहते हैं, तो हमारी दृष्टि में मात्र तीन ही नाते रहना चाहिये। माता का, बहिन का और पुत्री का।

शिवाजी के जीवन की एक घटना है। शिवाजी के दरबार में एक युवा महिला आई। उसने कहा — ‘मेरी प्रार्थना पर ध्यान दिया जाय। आप राजा हैं। मैं एक कामना लेकर आई हूँ ‘कि मुझे आपके—जैसा एक पुत्र प्राप्त हो।’ शिवाजी ने क्षणभर विचार किया, फिर तुरन्त सिंहासन से उठे और उम्र में स्वयं से छोटी होने के बावजूद उस महिला के चरण स्पर्श करके कहा कि — ‘माँ! आज से आप मुझे ही पुत्ररूप में स्वीकार करें। आज से मैं आपका पुत्र हूँ। यही चाहती थीं न आप, मेरे—जैसा पुत्र? मैं ही हूँ आपका पुत्र।’

साहित्यकार जैनेन्द्रकुमार ने अपने एक उपन्यास में लिखा है—‘हम अपने पिता की जीवनसाथी को माँ मानते हैं और अब तो अपने बच्चों की माँ भी “माँ” मालूम पड़ने लगी है।’ यह ही हमारा शीलव्रत है। हम अपने पिताजी की जीवनसाथी को माँ मानते हैं, जिस दिन अपने बच्चों की “माँ”

को अपनी माँ मानने का भाव आ जाये, यही भाव प्राणीमात्र के प्रति हो जाये, तो समझिये शीलव्रत घटित हो गया।

पाण्डवों को जब बनवास मिला, तो एक बार पाँचों पाण्डव और कुन्ती एक भयानक जंगल में रुके। वहाँ रात में सभी को एक-एक करके पहरा देने को कहा गया। जब भीम पहरा दे रहे थे, तो वहाँ एक बहुत सुन्दर अप्सरा के समान महिला आई और भीम को देखकर मोहित हो गई। वह भीम के पास गई और उनसे रागभरी बात करने लगी और बातचीत में ही उसने भीम के सामने शादी का प्रस्ताव रख दिया।

भीम बोले—वास्तव में आप बहुत सुन्दर हैं। पर मेरे से एक बहुत बड़ी गलती हो गई, यदि मुझे पहले पता होता कि आप उनसे भी अधिक सुन्दर हैं, तो मैं आपके गर्भ से जन्म लेता। देखो, भीम ने उसे भी माँ की दृष्टि से देखा। जो व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में आसक्त नहीं होता, वही इस शीलव्रत का पालन कर सकता है। इस व्रत को धारण करने से आत्मशक्ति बढ़ती है, परिग्रह की तृष्णा घटती है, इन्द्रियाँ वश में होती हैं, ध्यान में अडिग चित्त लगता है और अतिशय पुण्यबन्ध के साथ-साथ कर्मों की निर्जरा होती है।

शीलव्रत के पालन के लिये मन, वचन, काय से स्त्रियों में राग का त्याग करें। कुशील के मार्ग पर न तो स्वयं चलें, न दूसरों को चलने का उपदेश दें और कुशील के मार्ग में चलनेवालों की अनुमोदना न करें।

हम यह जानते हैं कि गृहस्थी में सुख नहीं, शांति नहीं। स्वयं ऐसा अनुभव भी कर रहे हैं। लेकिन मोह की विचित्र महिमा है कि हम अपने पुत्र-पुत्रियों को त्याग के मार्ग पर बढ़ने से रोकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अब भी शीलव्रत से हमारा प्रेम नहीं है।

यदि मातायें कुन्दकुन्द की माँ-जैसी बन जायें, जिन्होंने 5 वर्ष के पुत्र को वन में भेज दिया था पढ़ने के लिये और कहा था कि यह बच्चा

पढ़-लिखकर लौटकर घर न आये, तो हम अपनी कोख को सार्थक समझेंगे। जब वे बच्चे को झूले में झुलाती थीं, तब कहती थीं –

शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि।

संसार माया परिवर्जतोऽसि॥

अर्थात् हे पुत्र! तू शुद्ध है, निरंजन है, संसार की ओर से तू सो जा। यह है माँ की उत्कृष्ट भावना।

यदि हम वास्तविक सुख-शान्ति चाहते हैं, तो इतना संकल्प करे लें कि जहाँ तक हो सकेगा वहाँ तक शीलव्रत का पालन करेंगे। व्रत धारण करना नरपर्याय का सार है और समस्त व्रतों का सार शीलव्रत में है। संस्कृत में एक श्लोक आता है—

अंकस्थाने भवेच्छीलं, शून्याकार व्रतादिकम्।

अंकस्थाने पुनर्नष्टे, सर्वशून्यं व्रतादिकम्॥

शून्य किसी भी अंक को दशगुणा कर देता है, परन्तु अंक के बिना शून्य का कोई महत्व नहीं होता। इसी प्रकार शीलव्रत के बिना अन्यव्रत अंकरहित शून्य के समान ही हैं। किन्तु शीलसंयुक्त होते ही कई गुणे महत्व को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे ही शील की प्रशंसा करते हुये लिखा है—

शीलेन हि त्रयो लोकाः, शक्या जेतुं न संशयः।

न हि किञ्चिद्साध्यं त्रैलोके, शीलवतां भवेत्॥

शील के द्वारा तीनलोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है, इसमें कोई संशय नहीं। शीलवानों के लिये संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। जिसने अपने ब्रह्मस्वरूप को पहचान लिया, उसका मनोबल जागृत हो जाता है। वह अपने मन व इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

राजा का एक हाथी था, जिसे राजा बहुत प्रेम किया करता था। सारी प्रजा का भी वह प्रियपात्र था। उसकी प्रियपात्रता का कारण यह था कि उसमें अनेक गुण थे। वह बुद्धिमान एवं स्वामीभक्त था। अपने जीवन में

उसने बड़ी यशोगाथा प्राप्त की थी। अनेक युद्धों में अपनी वीरता दिखाकर उसने राजा को विजयी बनाया था। अब वह हाथी धीरे-धीरे बूढ़ा हो गया था। उसका सारा शरीर शिथिल हो गया, जिससे वह युद्ध में जाने लायक नहीं रहा।

वह एक दिन तालाब पर पानी पीने गया। तालाब में पानी कम होने से हाथी तालाब के मध्य में पहुँच गया। पानी के साथ तालाब के बीच में कीचड़ भी खूब था। हाथी उस कीचड़ के दल-दल में फँस गया। वह अपने शिथिल शरीर को कीचड़ से निकाल पाने में असमर्थ था। वह बहुत घबराया और जोर-जोर से चिंघाड़ने लगा। उसकी चिंघाड़ सुनकर सारे महावत दौड़े। उसकी दयनीय स्थिति को देखकर वे सोच में पड़ गये कि इतने विशालकाय हाथी को कैसे निकाला जाय? आखिर उन्होंने बड़े-बड़े भाले भौंके, जिसकी चुभन से वह अपनी शक्ति को इकट्ठा करके बाहर निकल जाये। परन्तु उन भालों ने उसके शरीर को और भी पीड़ा पहुँचाई, जिससे उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

जब यह समाचार राजमहल में राजा के कानों में पड़ा, तो वे भी शीघ्र गति से वहाँ पहुँचे। अपने प्रिय हाथी को ऐसी हालत में देखकर राजा की आँखों से आँसू बह निकले। बूढ़े महावत ने राजा को सलाह दी कि हाथी को बाहर निकालने का एक ही तरीका है कि बैंड लाओ, युद्ध का नगाड़ा बजाओ और सैनिकों की कतार इसके सामने खड़ी कर दो। राजा ने तुरन्त आदेश दिया कि युद्ध का नगाड़ा बजाया जाए और सैनिकों को अस्त्र-शस्त्र के साथ सुसज्जित किया जाए। कुछ ही समय में सारी तैयारियाँ हो गईं। जैसे ही नगाड़ा बजा और सैनिकों की लम्बी कतार देखी, तो हाथी को एकदम से स्फुरणा हुई और वह एक ही छलांग में बाहर आ गया। नगाड़े की आवाज ने उसे भुला दिया कि मैं बूढ़ा हूँ, कमजोर हूँ और कीचड़ में फँसा हूँ। नगाड़े की आवाज ने उसके सुप्त

मनोबल को जगा दिया। युद्ध के बाजे बज जायें और वह रुका रह जाये, ऐसा कभी नहीं हुआ था।

जीवन में मनोबल ही श्रेष्ठ है। जिसका मनोबल जागृत हो गया, उसको दुनियाँ की कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती। वास्तव में शीलव्रत के धारी ही सच्चे वीर हैं। भर्तृहरि ने एक श्लोक में लिखा है—

मत्तेय—कुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः।

केचित्प्रचण्ड मृगराज वधेपि दक्षाः॥

किन्तु ब्रवीम वलिनां पुरतः प्रसङ्गः।

कन्दर्प दर्प दलने विरला मनुष्यः॥

इस संसार में ऐसे शूर हैं, जो मत्त हाथियों के कुम्भस्थल को दलन करने में समर्थ हैं। कितने ही शूरवीर ऐसे हैं जो मृगराज अर्थात् सिंह का बध करने में दक्ष हैं, किन्तु मैं भर्तृहरि उन बली व्यक्तियों से कहता हूँ कि कामदेव का दलन करने वाले मनुष्य विरले होते हैं। जिसने कन्दर्प के दर्प का दलन कर दिया, उसने अपना संसार मिटा दिया।

शीलव्रत को इन्द्र भी नमस्कार करते हैं। शीलवान् पुरुष रत्नत्रयरूप धन को लेकर कामादि लुटेरों के भय से रहित निर्वाणपुरी की ओर गमन करते हैं। शील नाम स्वभाव का है। कामी मनुष्य का शील जो आत्मा का स्वभाव है, वह खोटा हो जाता है, इसलिए इसको कुशील कहते हैं। ऐसे कुशील से सदा दूर रहना चाहिये। जिसने अपने शील की रक्षा की, उसने शान्ति, दीक्षा, तप, व्रत, संयम सब पाल लिया।

अपने स्वभाव से चलायमान नहीं होना, उसे मुनीश्वर 'शील' कहते हैं। शील गुण सभी गुणों में बड़ा है। शील सहित पुरुष का थोड़ा भी व्रत, तप प्रचुर फल देता है तथा शील बिना बहुत भी व्रत—तप हो वह निष्फल है। अतः यदि अपना यह मनुष्यभव सफल करना चाहते हो तो शील की ही उज्ज्वलता करो। शील सदा दृढ़ नर पालै, सो औरन की आपद टालै।

अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना

आलस तज कर, मन प्रसन्न कर, जो जिन आगम पढ़ते हैं।

लोकालोक का ज्ञान करें, और आगम हिय में धरते हैं॥

केवलज्ञान की प्राप्ति हेतु, करते ज्ञानाभ्यास हैं।

दिव्यध्वनि प्रकटाने का तो, यही सफल प्रयास है॥

जो आलस्य को छोड़कर, मन को प्रसन्न करके, जिनेन्द्रदेव कथित आगम को पढ़ते हैं, वे लोक-अलोक का ज्ञान प्राप्त करते हैं और आगम को अपने हृदय में धारण करते हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति हेतु पुण्यात्मा प्रतिक्षण ज्ञान का अभ्यास करते हैं। क्योंकि अभीक्षण ज्ञानोपयोग ही दिव्य ध्वनि प्रकटाने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है।

हे आत्मन्! यह मनुष्यजन्म पाकर निरन्तर ज्ञानाभ्यास ही करो। ज्ञान का अभ्यास किये बिना एक क्षण भी व्यतीत नहीं करो। ज्ञान के अभ्यास के बिना मनुष्य पशु के समान है। अतः योग्य काल में जिनागम का पाठ करो। जब समभाव हो, तब ध्यान करो। शास्त्रों के अर्थ का चिंतन करो। बहुत ज्ञानी गुरुजनों में नम्रता-वंदना-विनयादि करो। धर्म के सुनने के इच्छुक को धर्म का उपदेश दो। इसी को अभीक्षण ज्ञानोपयोग कहते हैं।

ज्ञानोपयोग द्वारा ज्ञान का अभ्यास करने से विषयों की वांछा नष्ट हो जाती है, कषायों का अभाव हो जाता है। माया, मिथ्यात्व, निदान— इन तीन शक्तियों का ज्ञानाभ्यास से नाश हो जाता है। ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है, अनेक प्रकार के विकल्प नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानाभ्यास से ही धर्म्यध्यान में, शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा

जाता है। ज्ञानाभ्यास से ही व्रत—संयम से चलायमान नहीं होते हैं, जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है, अशुभ कर्मों का नाश होता है, जिनधर्म की प्रभावना होती है। ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप ऋण नष्ट हो जाता है। अज्ञानी जितने कर्मों को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उतने कर्मों को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।

जिनधर्म का स्तम्भ ज्ञान का अभ्यास ही है। ज्ञान के प्रभाव से ही समस्त जीव विषयों की वांछा रहित होकर संतोष धारण करते हैं। ज्ञान के अभ्यास से ही उत्तमक्षमादि गुण प्रकट होते हैं, भक्ष्य—अभक्ष्य का, योग्य—अयोग्य का, त्यागने योग्य—ग्रहण करने योग्य का विचार होता है। ज्ञान बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानरहित राजपुत्र का भी निरादर होता है। ज्ञान समान कोई धन नहीं है, ज्ञान के दान समान कोई दान नहीं है। दुःखित जीव को सदा ज्ञान ही शरण हैं। ज्ञान ही स्वदेश व परदेश में आदर कराने वाला परम धन है। ज्ञानधन को कोई चोर चुरा नहीं सकता है, लूटनेवाला लूट नहीं सकता है, किसी को देने से घटता नहीं है। जो देता है, उसका ज्ञान बढ़ जाता है।

ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, ज्ञान से ही मोक्ष प्रकट होता है। सम्यग्ज्ञान आत्मा का अविनाशी स्वाधीन धन है। ज्ञान बिना संसार—समुद्र में डूबनेवाले को हस्तावलंबन देकर कौन रक्षा कर सकता है? विद्या के समान कोई आभूषण नहीं है। निर्धन को भी परम निधान प्राप्त कराने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है।

हे भव्यजीवो! भगवान् वीतराग करुणानिधान गुरु तुम्हारे लिये यह शिक्षा दे रहे हैं कि — अपनी आत्मा को सम्यग्ज्ञान के अभ्यास में ही लगाओ तथा मिथ्यादृष्टियों के द्वारा कहे गये मिथ्याज्ञान का दूर से ही

परित्याग करो। सम्यग्ज्ञान की परीक्षा करके ग्रहण करो, अपनी संतान को पढ़ाओ, अन्य लोगों को भी विद्या का अभ्यास कराओ।

भगवान् के परमागम के सेवन के प्रभाव से मेरी आत्मा राग—द्वेष आदि से भिन्न अपने ज्ञायकस्वभाव में ठहर जाय, रागादि के वशीभूत नहीं हो, वही मेरी आत्मा का हित है। 'परमात्मप्रकाश' ग्रंथ में श्री योगीन्दुदेव ने आत्मा के बारे में लिखा है—

जो अनादि है, अनन्त है, जो देहरूपी मंदिर में बसता है, जिसका केवलज्ञान से चमकता हुआ शरीर है, वह दिव्य आत्मा ही परम आत्मा है। यह बात सन्देहरहित है।

जो देह में रहता हुआ भी अनिवार्यतः देह को बिलकुल ही नहीं छूता है तथा जो देह के द्वारा भी नहीं छुआ जाता है, वह परम आत्मा है, ऐसा तुम जानो।

जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति सूर्य को नहीं देख पाता, उसी प्रकार ज्ञानहीन व्यक्ति जिसे स्व—पर का भेदज्ञान नहीं है, वह अपनी आत्मा को नहीं पहचान पाता। वह हितमार्ग को छोड़कर अहितमार्ग को अंगीकार करता है। इसलिये सभी को निरन्तर अन्तरोन्मुखी दृष्टि से स्वाध्याय करते रहना चाहिये। जिस प्रकार गाय को बाँधने का खूँटा एक ही चोट में गहरा नहीं जाता है, उसी प्रकार ज्ञान को स्थिर करने के लिये निरन्तर स्वाध्याय करना अनिवार्य है। विद्या (ज्ञान) के विषय में किसी ने लिखा है — विद्या (ज्ञान) सौ बार के अभ्यास से आती है और हजार बार के अभ्यास से स्थिर रहती/होती है। यदि उसे हजार बार हजार से गुणित किया जा सके, तो वह इस जन्म में तथा जन्मान्तर में भी साथ ही नहीं छोड़ती। अन्य मत में आता है—'जो सतत स्वाध्याय करते हैं, उनका मार्गदर्शन स्वयं सरस्वती करती है।' न्यायशास्त्र के वैदिक विद्वान् 'कणाद' महर्षि के विषय में कहा जाता है कि वे हर समय स्वाध्याय (ग्रन्थावलोकन) में दत्त—चित्त रहते थे।

वे एक दिन रास्ते में चलते-चलते पुस्तक पढ़ रहे थे, तो किसी कुँये में गिर पड़े, परन्तु वहाँ भी गिरते ही उठ बैठे और पुस्तक पढ़ने लगे। उनकी विद्यानिष्ठा से सरस्वती प्रसन्न हुई और प्रकट होकर बोली — क्या चाहते हो? महर्षि ने कहा — मार्ग में चलते हुये पढ़ सकूँ, इसलिये पैरों में दो आँखें लगा दो। तब से उनका नाम अक्षपाद हो गया।

ऐसे ही एक अन्य विद्वान् हुये हैं, जिनका नाम 'वाचस्पति' था। वे बीस वर्ष तक एक दार्शनिक व्याख्या-ग्रन्थ लिखते रहे और उन्हें घर में उपस्थित पत्नी का पता भी नहीं चला। 20 वर्ष के बाद ग्रन्थ पूर्ण होने पर उन्हें याद आया कि मेरी पत्नी ने 20 वर्ष तक साध्वी की तरह जीवन बिताया और ग्रन्थलेखन में मुझे निराकुलता प्रदान की। उन्होंने पत्नी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुये अपने उस ग्रन्थ का नाम 'भामती' रखा, जो उनकी उस साध्वी पत्नी का नाम था और उसे अमर कर दिया। आज वैदिक दर्शनधारा के विद्वान् 'वाचस्पति' को कम और 'भामती' को अधिक जानते हैं। ज्ञानाराधना में डूबे हुये लोग भोजन का स्वाद भूल जाते हैं, दिन-रात का भान भूल जाते हैं।

पं. टोडरमल जी जब एक ग्रंथ लिख रहे थे, तो वे भोजन का स्वाद भी भूल गये थे। जब उनका ग्रंथ पूर्ण हुआ और वे भोजन करने बैठे, तो माँ से कहते हैं—माँ! आज भोजन में नमक नहीं डाला, तो माँ बोली—बेटा! लगता है आज तुम्हारा ग्रन्थ पूरा हो गया। मैं तो भोजन में पिछले छः माह से नमक नहीं डाल रही थी, परन्तु तू ग्रन्थ लिखने में इतना तल्लीन था कि भोजन का स्वाद ही भूल गया।

एक बार श्री गणेशप्रसाद वर्णी जी को एक फोड़ा हो गया, जिसका आपरेशन करना जरूरी था। डाक्टरों ने कहा कि बेहोश किये बिना आपरेशन संभव नहीं है। वर्णीजी बोले—मैं बेहोश होकर तो आपरेशन नहीं करवाऊँगा, क्योंकि यदि आपरेशन करते समय ही मेरे प्राण निकल गये तो

मैं अन्त समय में अपने भगवान् का नाम भी नहीं ले पाऊँगा। आप चिन्ता न करें, जब मैं 'समयसार' जी का स्वाध्याय करूँगा, तब आप आपरेशन कर लेना। वे 'समयसार' जी का स्वाध्याय करने लगे और डाक्टरों ने आपरेशन शुरू कर दिया। जब उनका स्वाध्याय पूरा हो गया, तो वे बोले—अरे! क्या कर रहे हो? डाक्टर बोले — कुछ नहीं कर रहा हूँ, आपरेशन तो पूरा हो चुका है, अब तो आखरी टाँका लगा रहा हूँ।

इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। निरन्तर पढ़ने—सुनने में ही मनुष्यजन्म का समय व्यतीत करो। यह अवसर बीतता चला जा रहा है। जब तक आयु, काय, इंद्रियाँ, बुद्धि, बल ठीक है, तब तक मनुष्यजन्म की एक घड़ी भी सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं खोओ।

निरन्तर ज्ञान में उपयोग रहे, ऐसी भावना और ऐसी कोशिश रहती है इस ज्ञानी पुरुष की। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का क्या वर्णन करें, कितना निर्दोष अनुष्ठान है यह, निरन्तर ज्ञान की आराधना करना। जीव का धन, जीव का प्राण ज्ञान है, जो जीव का साथ नहीं छोड़ता है। ऐसे इस ज्ञान की उपासना के कारण जगत में अन्य कुछ व्यवसाय ही नहीं है।

धन का अर्जन सहज थोड़े पुरुषार्थ से जैसा होता है तो होने दो, किन्तु ज्ञान के अर्जन में अपना तन, मन, धन, वचन सबकुछ भी समर्पित कर दिया जाए और एक ज्ञान प्राप्त हो जाये तो सबकुछ पा लिया समझिये। धन तो उदय अनुकूल हो तो मिलता है, न अनुकूल हो तो कितना ही श्रम करें, नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि मिल भी जाय तो भी उसमें रागभाव करके आकुलता ही बढ़ाई जाती है, और अंत में तो यह धन साथ जाता ही नहीं है। मृत्यु हो गयी, लो सारा धन छोड़कर चले जाना होता है। कौन—सा लाभ लूट लिया इस धन—वैभव से ? और आकुलता व चिंताएँ जो मोल ली हैं वे सब व्यर्थ ही मोल ली हैं। किन्तु ज्ञानधन ऐसा

धन है कि जिसे चोर न चुरा सके, राजा न बाँट सके, मरने पर भी साथ जाए, संस्काररूप में जाये। ज्ञान जागृत है तो संतोष रहता है, शांति रहती है।

भैया! कितना दुर्लभ यह जन्म है, फिर भी ऐसे कठिन मनुष्यभव को पाकर गप्पों में लगाना, मोहियों में ही अधिक समय बिताना और असार भिन्न, जड़, पौद्गलिक धन-वैभव के संचय में, उनकी कल्पना में समय गुजारना और जो अपना परमार्थ शरण है, सारभूत है, ऐसे ज्ञान के लिए समय न देना, इससे बढ़कर खेद की बात और क्या हो सकती है? जहाँ श्रेष्ठ मन मिला है, जहाँ इन्द्रियाँ व्यवस्थित हैं, बुद्धि भी काम करती है, ज्ञान का सुयोग भी मिला है, ऐसे अवसर को पाकर हे आत्मन्! तुम ज्ञानाभ्यास ही करो। ज्ञान के अभ्यास बिना एक क्षण भी व्यतीत मत करो। ऐसी भावना अभीक्षण ज्ञानोपयोग में होती है।

भैया! कुछ अपना परिचय भी प्राप्त करके देख लो कि जितना समय ज्ञान की दृष्टि में व्यतीत होता है उतना समय कितना सुन्दर सफल आनन्दमय व्यतीत होता है और जितना समय किसी से मोह/राग करने में, व्यर्थ की गप्प-सप्प में व्यतीत होता है, उतना वहाँ किस प्रकार परिणाम जाता है? मिला क्या ? और बल घटा, आत्मशक्ति घट गयी। अतः एक ध्यान रखो, यदि इस संसार के संकटों से छूटना है तो भावना बनावो कि मेरा ज्ञान की अर्जना में विशेष उपयोग रहे। जैसे समय मिलेगा तो शास्त्र स्वाध्याय करेंगे, ऐसा प्रोग्राम रहता है, बजाय इसके यह प्रोग्राम हो जाय कि मुझे समय मिलेगा तो दुकान, धन अर्जन या विषयवार्ता में चलेंगे। मेरे पास इनके लिये समय ही नहीं है। अब धर्मसाधना करना, पूजन करना, घंटा दो घंटा शास्त्र स्वाध्याय करना, चर्चा करना, इनमें ही समय विशेष लगेगा, ऐसा गृहस्थजनों को सोचना चाहिए।

भैया! निरन्तर ज्ञान में उपयोग रहे, ऐसी अपनी भावना रखनी

चाहिए। अरे ! अन्य पदार्थों में उपयोग देकर कौन-सी सिद्धि कर ली जायेगी? चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के ही तो परिग्रह हैं। बाहर में किसमें उपयोग देकर कौनसी आत्मा की सिद्धि कर ली जायेगी और एक निज ज्ञानस्वरूप में उपयोग बने तो कर्म भी कटेंगे, संकट टलेंगे, मोक्षमार्ग मिलेगा, शाश्वत आनन्द मिलेगा। ऐसे ज्ञान के उपयोग की निरन्तर भावना बनावो। अपना उपयोग अपने ज्ञायकस्वरूप में ही ठहर जाय, रागादिक के वशीभूत न हो, तो इसमें ही अपना हित है। यही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। जो शिष्यजन हैं और जो कम पढ़े-लिखे हैं, उनको भी ज्ञान की बातें सिखाना, उपदेश करना, पढ़ाना, यह सब भी ज्ञानोपयोग है। संसार का यथार्थस्वरूप, शरीर का यथार्थस्वरूप, भोगों का यथार्थस्वरूप चिंतन में रहना, यह भी ज्ञानोपयोग है। कोई ज्ञानोपयोग उत्कृष्ट ज्ञानोपयोग का सहायक है और कोई ज्ञानोपयोग साक्षात् ज्ञानोपयोग है। सर्वद्रव्यों के बीच में पड़ा हुआ भी, मिला हुआ भी यह निज आत्मा भिन्न प्रतीति में आये, अनुभव में आये, यह है उत्कृष्ट ज्ञानोपयोग। ज्ञानाभ्यास करने से, इस ज्ञानस्वरूप उपयोग के होने से विषयों की वांछा नष्ट हो जाती है।

‘ज्ञानाभ्यास करे मन माहीं, ताके मोह महातम नाहीं।’ ज्ञान एक प्रकाश है। जैसे सूर्य का और अन्धकार का एक जगह निवास नहीं हो सकता है, जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहाँ अंधेरा नहीं है, ऐसे ही जहाँ ज्ञानप्रकाश है, वहाँ मोहांधकार का एक आत्मा में निवास नहीं हो सकता है। जिस आत्मा में ज्ञानप्रकाश है उस आत्मा में मोहांधकार नहीं ठहर सकता है। दुःख है तो मात्र मोहांधकार का है। एक भी जीव दुःखी नहीं है, किन्तु सबके चित्त में जुदे-जुदे प्रकार का मोह है। किसी का किसी वस्तु में राग है, किसी का किसी वस्तु में राग है। इस मोह/राग के कारण सभी जीव परेशान हैं। यह परेशानी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के प्रसाद से मिट सकती है।

जिसने ज्ञानाभ्यास नहीं किया, पर्याय को ही निजस्वरूप माना, ऐसा पुरुष कोई भेष रखकर भी, वह घोर तप करके भी कर्म खिरा नहीं पाता है। अज्ञानी जीव उदीरणा कर—करके करोड़ों भवों में कर्मों को खिरा नहीं पाता है और ज्ञानीजीव इन कर्मों को अन्तर्मुहूर्त में भी सेकेन्डों में ही ज्ञानाभ्यास के बल से, ज्ञानस्वरूप की अनुभूति के बल से खिरा देता है, नष्ट कर देता है। ज्ञान की बड़ी महिमा है। ऐसा निरन्तर ज्ञान का उपयोग करने वाले महापुरुष चाहे अविरत सम्यग्दृष्टि हों, चाहे सप्तम गुणस्थानवर्ती साधु हों, जब विश्व पर परमकरुणा की झलक होती है, तब तीर्थकरप्रकृति का बंध होता है।

भैया! ज्ञान का सहारा लिए बिना शांति का पथ मिल ही नहीं सकता है। कौन काम करने योग्य है, कौन नहीं है, यह जब तक विदित नहीं होता, तो मोक्ष के मार्ग में कैसे आ सकते हैं? अपने पाये हुए इस समागम चतुष्टय को ज्ञान के लिए ही लगावो। यह तन पाया है तो ज्ञान के लिए इस तन का श्रम करो। ज्ञानवंत गुरुजनों की सेवा में अब तन का श्रम करो। मन पाया है तो ज्ञान की उपासना के लिए उत्सुकता रखो और ज्ञानवंत पुरुषों की मन से सराहना करो। धन पाया है तो ज्ञान की साधना के प्रसार में इसका व्यय करो। अपने शिक्षण के लिए भी व्यय करो। दूसरे भी धर्मविद्या पढ़ें, उसके लिए व्यय करो। विद्वानों का समागम बनावो, उनके आने—जाने, आहार आदि में व्यय करो अथवा पहिले शास्त्र लिखने की पद्धति थी, लोग शास्त्र लिखवाने में व्यय करते थे। अब शास्त्र प्रकाशन की पद्धति है। यदि न होते वे लिखे हुए शास्त्र या प्रकाशित शास्त्र, तो हम—आप कहाँ—से इनका ज्ञान विकास पाते? तो इसमें व्यय करें। ज्ञान के प्रसार के अनेक साधन हैं। धन पाया है तो ज्ञान के लिए व्यय करें, वचन पाया है तो इसको भी उपयोग में लें, जिससे ज्ञान—प्रकाश मिले, ज्ञान विकास के लिए प्रेरणा मिले, अथवा ज्ञानवंतों की सेवा—शुश्रूषा

रूप वचन निकलें, यों वचनों का सदुपयोग करें।

तन, मन, धन, वचन ज्ञान के लिए न्यौछावर हो जायें, ऐसी जिसके भावना जगती है और यत्न होता है, वह इस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की प्राप्ति कर लेता है। ज्ञान की चर्चा में, पठन—पाठन में, उपदेश में, ज्ञानमय वचनों के प्रोग्राम में अपना तन, मन, धन, वचन का व्यय करें तो यह भी ज्ञानोपयोग की परम्परया सेवा है।

इस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की महिमा का कोटि जिह्वा द्वारा भी वर्णन नहीं किया जा सकता है। ज्ञानोपयोग बिना आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। इस जीव के उद्धार का तथा कष्टों से मुक्त होने का मूल उपाय आगम—ज्ञान ही है। अतः जिनवाणी के अध्ययन, मनन—चिंतन में हमें अपना अधिक—से—अधिक समय देना चाहिये।

ज्ञानाभ्यास करे मनमाहीं, ताके मोह—महातम नहीं।

संवेग भावना

संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति का नाम संवेग है। यह ही शांति का कारण है। ऐसा जानकर संवेग का आदर होना, संवेग की भावना करना, यह है संवेग भावना। संवेग का दूसरा अर्थ यह भी है कि धर्म में अनुराग करना। और धर्म के फल में अनुराग करना, यह भी संवेग कहलाता है अथवा इन दोनों को जोड़कर यह अर्थ करना कि संसार, शरीर व भोगों से विरक्त होकर धर्म व धर्म में अनुराग करना, इसका नाम है संवेग भावना।

वैराग्य भाव से भरे हुए हैं, माता भ्राता पर माने।
तन से मोह ममत्व तर्जे, वे अन्तर आतम प्रकटाने॥
पर से प्रीति विशेष करें, और धर्मध्वजा फहराते हैं।
कल्याणक वे पंच प्राप्त कर, सिद्धशिला बस जाते हैं॥

(सिद्धान्त शतक)

जो वैराग्यभाव से परिपूर्ण हैं, माता—पिता, भाई—बहिन आदि को पर मानते हैं तथा स्वयं के परमात्मा को प्रगट करने के लिये तन से मोह और ममत्व को छोड़ते हैं, समस्त संसारी जीवों के प्रति प्रीति भाव रखते हैं, वे जीव पंचकल्याणक से सुशोभित हो सिद्धशिला पर विराजमान हो जाते हैं।

संसार का स्वरूप— यह संसार दुःख का दावानल है। संसार में नाममात्र को भी सुख नहीं है, क्योंकि यहाँ का हर प्राणी जन्म—जरा—मृत्यु रोगों से

घिरा हुआ है। इस संसार में जीव पंचपरावर्तन करता है और नरक गति में मार—काट का दुःख, पशुगति में छेदन—बन्धन का दुःख तथा मनुष्य और देवगति में विपत्तिमय जीवन व्यतीत करता है। जैसे गरम अधन (उबलते पानी) में चावल के दाने चारों तरफ दौड़ते हुए पकते हैं, उसी प्रकार संसारी जीव कर्मों से तपाया हुआ चारों गतियों में परिभ्रमण करता हुआ दुःख उठाता है।

पुत्र का स्वरूप— पुत्र के मोह से परिग्रह में बड़ी मूर्च्छा बढ़ती है। यदि वह समर्थ हो जाये, किन्तु अपनी आज्ञा में नहीं चले, तो परिणाम बहुत आर्त्तरूप हो जाते हैं। यदि अपने जीवित रहते हुये युवा पुत्र का मरण हो जाय तो अपनी मृत्युपर्यन्त महादुःखी रहता है, कष्ट नहीं मिटता है। जब तक पुत्र पिता को अपना काम करने वाला समझता है, तब तक पिता से प्रेम करता है, जब पिता काम करने में असमर्थ हो जाता है, तो उनसे प्रेम नहीं करता है, लेकिन यदि पिता धनरहित हो तो उनका निरादर करता है। इसलिए पुत्र का स्वरूप समझकर पुत्र से राग छोड़कर परम धर्म से राग करो। पुत्र के लिये अन्याय से धन परिग्रह आदि को ग्रहण करने का परित्याग करो।

स्त्री का स्वरूप— स्त्री भी मोह नाम के ठग की बड़ी फाँसी है, ममता उपजानेवाली है, तृष्णा को बढ़ानेवाली है। स्त्री में तीव्रराग होने से वह धर्म में प्रवृत्ति का नाश करनेवाली है, लोभ को बहुत अधिक बढ़ानेवाली है, परिग्रह में मूर्च्छा बढ़ानेवाली है, ध्यान—स्वाध्याय में विघ्न करनेवाली है, झगड़े की जड़ है, दुर्ध्यान का स्थान है, मरण बिगाड़नेवाली है इत्यादि दोषों का मूलकारण जानकर स्त्री के प्रति रागभाव छोड़कर वीतराग धर्म से अपना राग बढ़ाओ।

मित्र का स्वरूप— इस कलिकाल के मित्र भी विषयों में ही उलझाने वाले हैं, सभी व्यसनों में फँसानेवाले सहायक हैं। जिनको धनवान् देखते

हैं, उनसे अनेक लोग मित्रता करते हैं, निर्धन से कोई बात भी नहीं करता है। अधिक कहाँ तक कहें ? मित्रता तो व्यसनों में डुबोने के लिये ही है।

इसलिये हे ज्ञानीजनो! यदि संसार में डूब जाने का भय लगता है तो अन्य सभी से मित्रता छोड़कर परमधर्म में अनुराग करो। यह संसार तो निरन्तर जन्म—मरणरूप ही है। प्रत्येक जीव जन्म के दिन से ही मृत्यु की ओर निरन्तर प्रयाण करता है। अनंतानंत काल जन्म—मरण करते हो गया है, अतः पंचपरावर्तरूप संसार से विरागता भावो।

इंद्रियों के विषयों का स्वरूप— ये जो पाँच इंद्रियों के विषय हैं वे आत्मा के स्वरूप को भुलानेवाले हैं, तृष्णा को बढ़ानेवाले हैं, असंतोष को बढ़ानेवाले हैं। विषयों के समान पीड़ा तीनलोक में अन्य नहीं है। विषय तो नरकादि कुगति के कारण हैं। धर्म से पराङ्मुख करनेवाले हैं, कषायों को बढ़ानेवाले हैं, ज्ञान को विपरीत करनेवाले हैं, विष के सामान मारनेवाले हैं, विष और अग्नि के समान दाह उपजानेवाले हैं। इसलिये विषयों में राग छोड़ने में ही परम कल्याण है। जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें विषयों को दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

शरीर का स्वरूप— शरीर रोगों का स्थान है। महामलिन, दुर्गन्धित, सप्त धातुमय है, मल—मूत्रादि से भरा है वात—पित्त—कफमय है, वायु के निमित्त से हलन—चलन आदि करता है, सदा ही भूख—प्यास का कष्ट लगाये रहता है, सब प्रकार की अशुचिता का पुंज है, दिन—प्रतिदिन जीर्ण होता चला जाता है, करोड़ों उपायों द्वारा रक्षा करते रहने पर भी मरण को प्राप्त हो जाता है। ऐसे शरीर से विरक्त होना ही श्रेष्ठ है।

भैया! इस लोक में आपका क्या है? अच्छी तरह निर्णय कर लो। शरीर तो आपका होगा नहीं, यह भी धोखा दे देता है। यह आत्मा चली जाती है और शरीर यहीं—का—यहीं रह जाता है। जब तक यह शरीर है, तब तक दुःख है। अपने इस शरीर से बड़ा प्रेम करते हैं। लड्डू भी खूब

खिलावें, मिठाइयाँ भी खूब खिलावें, सब कुछ करते, मगर अंत में खाँसी में आकर, बीमारियाँ आकर दुःखी बन जाते हैं। इस शरीर से इतना प्रेम करते और यही दुखों का कारण बनता है। इस शरीर पर भी क्या कोई अपना अधिकार है? नहीं। कोई नहीं चाहता कि बाल सफेद हो जायें, शरीर में झुर्रियाँ पड़ जायें। खिजाव लगा कर बालों को काला करते हैं। कुछ भी करें, पर इस शरीर पर अपना कोई अधिकार नहीं है। संसार, शरीर व भोगों की आसक्ति ही दुःख का कारण है।

जंगल में एक नग्न दिगम्बर साधु महाराज ध्यानस्थ थे। गर्मी के दिन थे। वहाँ से एक राजा निकला। उस साधु की तकलीफ को देखकर राजा वहीं बैठ गया। जब साधु का ध्यान टूटा, तो राजा बोला— महाराज! आप इस प्रकार की धूप इस प्रकार से क्यों परेशान हो रहे हैं? आपके पास यहाँ खाने—पीने का भी प्रबन्ध नहीं। आपको धूप भी बहुत लग रही होगी। कम—से—कम एक छतरी तो आपको दे ही दूँ जिससे आप ऊपर की धूप तो बचा सकेंगे। साधु बोला— ऊपर की धूप बच जायगी, पर नीचे की तपन कैसे मिटेगी? राजा बोला— महाराज! जूते बनवा दूँगा। साधु ने कहा— भाई! नीचे से जूते, ऊपर से छाता और शरीर नंगा, यह भी तो ठीक नहीं है। राजा बोला— महाराज! मैं वस्त्र बनवा दूँगा, सुन्दर वस्त्र मँगा दूँगा। साधु बोला— जब मैं वस्त्र पहनकर रहूँगा, वेशभूषा में रहूँगा तो फिर मुझे कौन पूछेगा? तब राजा बोला— महाराज! तीन चार गाँव मैं लगा दूँगा, जिससे खूब खाना—पीना और आराम से रहना। साधु ने कहा— अच्छी बात है। साधु ने कहा— फिर खाना कौन बनायेगा? राजा ने कहा— महाराज! आप चिंता न करें, दुःख न उठावें, मैं आपकी शादी करा दूँगा तथा घूमने के लिये एक मोटर दे दूँगा, सब ठीक हो जायगा। साधु ने कहा— महाराज! मोटर दे दोगे, तो मोटर का खर्च कैसे चलेगा? राजा ने कहा— महाराज! मोटर के खर्च के लिए मैं 5 गाँव लगा दूँगा। साधु ने

कहा— फिर बच्चे होंगे तो उनकी शादी वगैरा कौन करेगा? राजा ने कहा— अच्छा 10 ग्राम और लगा दूँगा। साधु ने कहा—अगर घर में कोई मर गया तो फिर कौन रोवेगा? राजा ने कहा—महाराज! मैं और सबकुछ तो कर सकता हूँ, पर मैं रो नहीं सकता। रोना तो आपको ही पड़ेगा। जिसके ममता है, वही रोवेगा। सो भैया! मुफ्त की इस ममता से दुःख ही रहेंगे, तत्त्व की वृत्ति कुछ भी नहीं रहेगी।

इस प्रकार पुत्र, मित्र, कलत्र, संसार, शरीर, भोगों का दुःखकारी स्वरूप जानकर विरागभाव को प्राप्त होना ही संवेग है। संवेग भावना का निरंतर चिंतन करना ही श्रेष्ठ है। अतः मेरे हृदय में निरन्तर संवेग भावना रहे, ऐसा चिंतन करते हुये संसार—शरीर—भोगों से विरक्ति होने पर ही परम धर्म में अनुराग होता है।

धर्म का स्वरूप— 'धर्म' शब्द का अर्थ ऐसा जानना— जो वस्तु का स्वभाव है, वह धर्म है, उत्तमक्षमादि दशलक्षण 'धर्म' है। रत्नत्रय 'धर्म' है, तथा जीवों की दया 'धर्म' है। जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये धर्म में अनुराग होना 'संवेग' है। रत्नत्रयधर्म में कपटरहित अनुराग होना 'संवेग' है। मुनीश्वरों के तथा श्रावकों के धर्म में अनुराग होना 'संवेग' है। जीवों की रक्षा करने रूप जीवदया के परिणाम होना, उसे भगवान् ने 'संवेग' कहा है।

तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि होना धर्म ही का फल है। बाधारहित केवली होना, स्वर्गादि में महान ऋद्धिधारी देव होना, इन्द्र होना, अनुत्तर आदि विमानों में अहमिन्द्र होना, वह सब पूर्व जन्म में आराधन किये धर्म का ही फल है।

भोगभूमि आदि में उत्पन्न होना, राज्य—संपदा पाना, अखण्ड ऐश्वर्य पाना, अनेक देशों में आज्ञा चलना, प्रचुर धन—संपदा पाना, रूप की अधिकता पाना, बल की अधिकता, चतुरता, महान पंडितपना, सर्वलोक में

मान्यता, निर्मल यश की विख्यातता, बुद्धि की उज्ज्वलता, न्यायमार्ग में प्रवर्तना, वचन की मिष्टता इत्यादि उत्तम सामग्री का पाना है, वह कभी धर्म से प्रेम किया होगा, धर्मात्माओं की सेवा की होगी, धर्म तथा धर्मात्माओं की प्रशंसा की होगी, उसका फल है।

कल्पवृक्ष, चिंतामणि रत्न सभी धर्मात्मा के दरवाजे पर खड़े समझो। धर्म के फल की महिमा कोई कोटि जिह्वाओं द्वारा भी कहने में समर्थ नहीं हो सकता है। प्राणी को जितने भी सुख प्राप्त होते हैं, सब धर्म का ही फल है।

एक बालक मेले में अपने पिता की अंगुली पकड़कर घूम रहा था। मेले में दुकानों व अन्य सभी वस्तुओं को देखकर वह अत्यंत आनन्दित व खुश हो रहा था। अचानक पिता की अंगुली छूट गई। बालक पूरे मेले में घबराया हुआ रोता हुआ घूमता रहा। यद्यपि मेले में वे ही वस्तुएँ अब भी विद्यमान थीं जो पहले थीं, जिन्हें देखकर वह बालक पहले प्रसन्न हो रहा था, पर अब पिता की अंगुली छूटने मात्र से वह दुःखी हो रहा था। वे वस्तुएँ भी उसे प्रसन्न नहीं कर पा रही थीं। इसी प्रकार सब वैभवादि होते हुये भी यदि धर्म का आश्रय छूट गया, तो कोई सुखी नहीं रह सकता। उन वैभवादि में कोई सुख नजर नहीं आयेगा। जो वैभव पहले धर्म का अवलम्बन रहने से सुख का कारण बना हुआ था, वही दुःख का कारण बन जायेगा। जितने भी लौकिक व पारलौकिक सुख प्राप्त होते हैं, उनका कारण धर्म ही है।

ऐसे धर्म के फल को जो तीनलोक में उत्कृष्ट जानता है, उसके संवेग भावना होती है। धर्मसहित साधर्मी जीवों को देखकर आनन्द उत्पन्न होना, धर्म की कथनी में आनन्दमय होना तथा संसार, शरीर व भोगों से विरक्त हो जाना संवेग भावना है। संवेग को आत्मा का हितरूप समझकर निरन्तर इसकी भावना भावो।

इस संवेग भावना के फल में अपने आपके शुद्ध आनन्द का बार—बार अनुभव होता है। और जब—जब साधर्मीजन होते हैं तो उनको देखकर प्रमोदभाव होता है। धन्य है साधर्मीजन मिलने की घड़ी। वे उस क्षण को धन्य मानते हैं जिस क्षण रत्नत्रय के धारी मोक्षमार्ग के रुचिया जन मिलते हैं। जरा ही तो अपने उन्मुख होना है, कि सारे संकट इसके टल जाते हैं। केवल एक मुख के मोड़ में ही संसार और मुक्ति का अन्तर है। जहाँ इस समय पीठ है, वहाँ मुख करना है और जिन परपदार्थों की ओर मुख किए हैं, वहाँ पीठ करना है। इतना ही करने के पश्चात् कल्याण के लिए जो संवेग भावना हो जाती है उस भावना का आदर करें। अपने चित्त से यह श्रद्धा हटावो कि धन वैभव ही मेरे सबकुछ हैं। अरे! वे तो धूल की तरह हैं। क्या तत्त्व उन में रखा है? वे सब भिन्न हैं, पुद्गल हैं, अहितरूप हैं, जिनका विषय करने से तृष्णा का रोग उत्पन्न होता है। यों भोगों से विरक्त होकर, निजस्वरूप में अनुरक्त होकर संवेगभावना को धारण करें जिससे निकट काल में ही इस संसार के सारे संकटों से मुक्ति मिल सकेगी।

जो संवेग—भाव विस्तारै, सुरग—मुक्ति—पद आप निहारै।

शक्तितत्याग भावना

मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका, को नित देते चारों दान।
निज शक्ति के अनुसार ही, करते पात्रों का सम्मान॥
भोगभूमि सु प्राप्त करें वे, और स्वर्गों में राज करें।
देवगति से चयकर प्राणी, नरभव धर स्वराज वरें॥

अपनी शक्ति अनुसार मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका को चारों प्रकार का दान देना तथा उनका सम्मान करना चाहिये। जो शक्ति के अनुसार दान देते हैं, त्याग करते हैं, वे देवगति को प्राप्त करते हैं तथा स्वर्गों में राज करते हैं और वहाँ से च्युत होकर मनुष्य होते हैं तथा संयम साधकर स्वराज (मोक्ष) प्राप्त करते हैं। बाह्य व अन्तरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से ममता छोड़ने से त्यागधर्म होता है। मोक्षमार्ग में त्याग का बहुत महत्व है। इससे सर्व संकट दूर हो जाते हैं। यह मेरा है, इस प्रकार का जो विकल्प है, उसको छोड़ना है। त्याग और दान के बिना न व्यक्ति का जीवन चलता है और न समाज का। जो बुरा है, उसे त्यागो। राग—द्वेष का त्याग और औषधि, शास्त्र, अभय और आहार का दान करना, यही धर्म है। इसके बिना न जीवन चल सकता है, न धर्म पल सकता है, न साधना हो सकती है और न साध्य की प्राप्ति हो सकती है। 'बारस अणुवेक्खा' ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने त्याग की परिभाषा बताते हुये लिखा है—

णिव्वेगतियं भावइ, मोहं चरइऊण सव्वदव्वेस।

जो तस्स हवेचागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं॥७८॥

जो मुनि समस्त परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, शरीर और भोगों से

उदासीन भाव रखता है, उसके त्याग धर्म होता है। धन्य हैं वे ज्ञानी, जो सोचते हैं कि मेरा हिती तो मेरा ही स्वरूप है, अन्य नहीं। मेरा इस चैतन्यस्वरूप के अलावा अन्य कुछ नहीं है। बाह्य पदार्थों से जितना वैराग्य होता है, उतना त्याग बढ़ता जाता है, उतनी ही महत्ता है। त्याग का ही तो महत्व है। यदि अन्तरंग से त्याग के भाव आ जावें, तो अनन्तचतुष्टय के दर्शन हो जावें और यदि ऐसा ज्ञान आ गया, तो समझो कि उसका बेड़ा पार है।

शक्ति के अनुसार त्याग करने की भावना होना, लोक में जितने भी क्लेश हैं वे सब ग्रहण—ग्रहण के हैं। अपना घर समझा, अपना धन—वैभव समझा, विवाह किया, पुत्र हुए, मित्रगोष्ठी बनायी, लोक में इज्जत चाही, ग्रहण—ही—ग्रहण तो यह संसारीजीव करता है, जबकि शांति त्याग में है। सो शांति के उपाय का यह उद्यम नहीं करता। यह जीव बाहर में तो सबसे, बाहर की वस्तुओं से तो अलग है ही, त्याग किसका करना है? पर वस्तुओं को तो यह जीव ग्रहण ही नहीं कर सकता है। जिसको ग्रहण नहीं किए हुए है उसके त्याग की क्या बात कहें? पर अपने आपके अंतरंग में जो विषय—कषायों की इच्छा का परिग्रहण किए हुए है, उसका त्याग करना होता है। जो अन्तर के विभावों का त्याग नहीं करता, वह परपदार्थों का त्याग करके भी परिग्रह में रहता है। उसने घर छोड़ा, वस्त्र भी छोड़े, त्यागी भी बने, साधु भी हुए, पर चैन नहीं पड़ रही है। अरे! पर चीजों के त्याग मात्र से चैन मिले, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु अंतरंग में जो विभावों का परिग्रहण किया है, उसका भी त्याग हो, तो नियम से चैन हो।

भैया! पर वस्तुओं को अपना मान लेना, यह तो है ग्रहण और पर वस्तुओं को अपना न—मानना, यह है त्याग। पदार्थ तो जहाँ पड़े हैं, उन्हें छोड़कर भागें कहाँ? लो, घर को छोड़कर चले आये, दूसरी जगह अथवा जंगल में आ जाय, धन—वैभव रुपया—पैसा भी छोड़ा, इन सबको छोड़कर

बाहर आ गये, क्योंकि वे सब परद्रव्य हैं और शरीर यह भी तो परद्रव्य है। जब जीव चला जाता है, तो यह शरीर इस जीव के साथ कहाँ जाता है? शरीर तो यहीं पड़ा रहता है। यह शरीर तो नियम से छूटेगा। इसका क्यों नहीं त्याग करके आता? खैर, यह शरीर छोड़ा नहीं जाता तो कुछ परवाह नहीं, पर अंतरंग में ज्ञानप्रकाश तो लावो कि यह शरीर मेरा नहीं है, यह शरीर मैं नहीं हूँ। मैं तो आकाशवत्, अमूर्त, निर्लेप, शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। तुझे शांति चाहिये तो तू इस दुनियाँ से आँखें मीच ले। ऐसा जान जा कि इस दुनियाँ में मेरा पहिचानहार दूसरा कोई नहीं है।

अरे! किन से तू अपने को भला कहलवाना चाहता है? क्या है कोई संसार में ऐसा व्यक्ति जिसको शतप्रतिशत सभी मनुष्य भला कहने वाले उसके जमाने में हों या आगे पीछे भी हों ? भगवान् तक को तो भला कहने वाले शत-प्रतिशत नहीं हैं, हम-आप लोगों की बात तो दूर रही। किसको ग्रहण करते हो, किसके लिए ग्रहण करते हो? अपने आपके स्वरूप को देखो और जो विभावों को ग्रहण किया है उनको तजो।

जिसके पास जितना जोकुछ परिग्रह है, उस परिग्रह के सम्बन्ध से क्या हाल हो रहा है? अन्तर में कितनी आकुलता मचाये हुए हैं? इन सब बातों का अपने आपसे परिचय पा लो कि परिग्रह शांति का कारण है अथवा अशांति का कारण है। जब तक अंतरंग में मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग नहीं होता, तब तक इस जीव को शांति प्राप्त नहीं हो सकती है और ऐसा करने के लिए परिग्रह का त्याग करना होगा। गृहस्थावस्था में परिग्रह का परिमाण करना होगा। परिग्रह का परिमाण नहीं है तो तृष्णा के रोग में ग्रस्त होकर वर्तमान में भी जो कुछ मिला है, उससे सुख नहीं पाया जा सकता है क्योंकि दृष्टि तो जो अनागत है उसकी ओर लगी है। इतना और बन जाये, इतना और मिल जाये, इस ओर दृष्टि लगी है। इस कारण वर्तमान में जो कुछ समागम मिला है, उस

समागम का भी यह सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। विकल्पों को त्यागें, परिग्रह का परिमाण करें, परिग्रह को त्यागें और अंतरंग में अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करें। धर्मचर्चा में समय बितायें। ज्ञान की बात अपने उपयोग में बसायें। ये सब ही तो त्यागधर्म है। त्यागधर्म किए बिना शांति के स्वप्न देखना केवल एक बेहूदापन है। हो ही नहीं सकती है शांति इस तरह से।

गृहस्थावस्था में अपनी शक्ति के अनुसार दान करना, यह भी त्याग है। इस मोही जीव को त्याग करने में उत्साह नहीं है या दान करने में उत्साह नहीं जगता। छोटी-छोटी बातों का अथवा रोज-रोज की प्रयोग में आनेवाली बातों में कुछ-कुछ त्याग करते रहना, यह बहुत महत्त्व रखता है। त्याग कहो अथवा दान कहो, श्रावकों के करने योग्य चार प्रकार के दान कहे गये हैं— आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदान और अभयदान। अविरत सम्यग्दृष्टि तो जघन्यपात्र हैं और देशव्रतीजन मध्यमपात्र हैं और मुनिजन उत्तमपात्र हैं। जो मोक्षमार्ग में लगे हुए हैं, ऐसे पात्रों को चार प्रकार का दान करना, यही है मोक्षमार्ग विषयक उत्तम त्यागधर्म। त्याग भावना में शक्तितस्त्याग व दान करते हुए बड़ा विवेक होना चाहिए। हम पात्र को आहार दें तो ऐसा दें कि आहार का प्रयोजन है शरीर स्वस्थ रहे। यह पात्र अपने धर्म स्वाध्याय सबमें सावधान रह सके। केवल स्वाद दिलाने का प्रयोजन नहीं है, अथवा बहुत ऊँचे-ऊँचे पकवान 10-20 बनवायें और खूब खिलायें, यह प्रयोजन नहीं है। इस प्रयोजन से देखिए कि शरीर स्वस्थ रहे, बल बढ़े, सावधानी रहे, अपने काम में यह सावधान रह सके, ऐसी सब बातों को निरख कर आहार दान दिया जाता है।

दूसरा दान शास्त्रदान, ज्ञानदान है। उससे बढ़कर और क्या दान कहा जाये, जिस दान के प्रताप से यह जीव अज्ञानांधकार को दूर करे और ज्ञानप्रकाश पाये, जिससे संसार के बंधन अनन्तकाल तक के लिए

छूट जायें, फिर कभी बंधन में न आ सके, ऐसी बात किसी के बनने में निमित्त पड़े अर्थात् ज्ञानदान दे, शास्त्रदान दे, तो इस दान की महिमा को कौन बता सकता है ? जो सदा के लिए संकट से छुटा दे, उसकी महिमा कौन कह सकता है? औषधिदान और अभयदान भी आहारदान की तरह प्रयोजनभूत हैं।

यों श्रावक तो परिग्रह का परिमाण करके और पाए हुए समागम से यों परोपकार में वितरण करके धर्म की ओर अपनी दृष्टि बढ़ायें। यह है उनका शक्तितस्त्याग और साधु संत बाह्य तथा अभ्यंतर समस्त परिग्रहों को छोड़कर अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप की भावना में लगें, यही है साधुओं का शक्तितस्त्याग। ज्ञानीपुरुष इस शक्तितस्त्याग की भावना करता है और यदि कोई विधि से विपरीत त्याग का ढोंग करे तो वहाँ विडम्बना ही होती है।

एक पुरुष था, जाड़े के दिन थे। जाड़े से ठिठुरती हुई एक बुढ़िया को देखकर जो वह रजाई ओढ़े था वह दे दी। और आगे चला तो एक खेत में किसान की झोपड़ी बनी थी, सो जाड़े के मारे उस झोपड़ी को नोच-नोचकर तापने लगा। वह किसान मालिक आया और पूछा कि तुम कौन हो? सो वह बोला कि हम हैं दानी के बाप। अभी जाड़े से ठिठुरती हुई बुढ़िया को देखकर उसे मैंने अपनी रजाई ओढ़ने को दे दी। उस किसान ने वहाँ पर उसकी खूब मरम्मत की। अरे! वहाँ तो त्याग किया और यहाँ उस किसान की झोपड़ी उजाड़ते हैं। तो त्याग भी विधि सहित हो जो बराबर चल सके और जिससे हम अपनी ओर आ सकें। सत्यस्वरूप त्यागवृत्ति के स्रोत त्यागमूर्ति निजतत्त्व की भावना करने वाले सम्यग्दृष्टि के जगत के जीवों पर करुणा का भाव होने से तीर्थकरप्रकृति का बंध होता है।

ये मकान, दुकान आदि बाह्य पदार्थ तेरे कुछ भी नहीं हैं। जहाँ से

कोई निकाल न सके, उसे घर कहते हैं। ये ईंटों के घर क्या घर हैं? इनमें रहने का कुछ ठेका है क्या? एक साधु जा रहा था। उसे आगे एक हवेली मिली। बाहर उसका चौकीदार बैठा हुआ था। साधु ने पूछा— यह धर्मशाला किसकी है? चौकीदार बोला— महाराज! यह धर्मशाला नहीं है। साधु बोला— हम यह नहीं पूछ रहे हैं। हम तो यह पूछ रहे हैं कि यह धर्मशाला किसकी है? यह सब वातावरण देख नौकर मालिक के पास भागा। मालिक बोला कि महाराज ! यदि आपको धर्मशाला में जाना है, तो हम नौकर को साथ भेज देते हैं, वह बता देगा। साधु जी मालिक से बोले— यह धर्मशाला किसकी है? मालिक ने दिमाग से सोचा, इसमें कुछ—न—कुछ राज अवश्य है, बिना मतलब के यह नहीं कह रहे हैं। सेठ ने साधु जी को गद्दी के पास बुलाया और कहा— महाराज! यह धर्मशाला नहीं है, मेरी हवेली है। साधु ने पूछा— इसे किसने बनवाया था? सेठ बोला— महाराज! मेरे दादा ने इसको बनवाना शुरू किया था, फिर वे तो पूरी न बनवा सके, मेरे पिता जी ने इसे पूरा कराया। साधु बोला— फिर पिताजी कितने दिन इसमें रहे ? सेठ बोला कि 3 वर्ष रह सके, फिर गुजर गये। साधु बोला कि तुम कितने दिन इसमें रहोगे? सेठ सहम गया। साधु बोला कि जिसे तू हवेली समझ रहा है, इसके छोड़ने के समय तुझे एक मिनट भी ठहरने की अनुमति न मिलेगी। हाँ, उस धर्मशाला में भले ही अनुमति मिल जावे मंत्री से कह कर। फिर यह धर्मशाला ही तो है। इस प्राणी को ऐसा मोह लगा है, ऐसे मोहजाल में फँसा हुआ है कि यह मेरा है, यह उसका, आदि की रट लगाये हुए यह दुःख भोग रहा है। सोचो तो, जब पूर्वभव का हमें कुछ ज्ञान नहीं कि हम कहाँ थे, कौन हमारे माता—पिता थे, तब इस जन्म की ही अगले भव में क्या याद रहेगी? अतः मैं अपने चेतन के घर को पहिचानकर अपनी आत्मा के कल्याण के मार्ग पर लगूँ। सदा यही भावना भानी चाहिए। विषय—कषाय आदि का जल

जिसमें नहीं चूता, उस निज चेतनगृह को छोड़ अन्यत्र संसार की इस बरसात में कहाँ घूमूँ? अतः इससे बचने के लिए चेतनरूपी घर में रहकर सुखी होओ और त्याग धर्म का पालन करो।

परिग्रह के समान भार अन्य नहीं है। जितने भी दुःख, दुर्ध्यान, क्लेश, बैर, शोक, भय, अपमान हैं, वे सभी परिग्रह के इच्छुक के होते हैं। जैसे-जैसे परिग्रह से परिणाम भिन्न होने लगते हैं, परिग्रह में आसक्ति कम होने लगती है, वैसे-वैसे ही दुःख कम होने लगते हैं। समस्त दुःख तथा समस्त पापों की उत्पत्ति का स्थान यह परिग्रह ही है। जिन्होंने इस परिग्रह को त्याग दिया, वे त्यागी पुरुष ही वास्तव में सुखी हैं और भविष्य में अनन्तसुख के धारी बनेंगे।

एक नगर का राजा मर गया। मंत्रियों ने सोचा कि अब किसे राजा बनाया जाये? सभी ने तय कर लिया कि सुबह के समय अपना राज-फाटक खुलेगा, तो जो व्यक्ति फाटक पर बैठा हुआ मिलेगा, उसको ही राजा बनायेंगे। फाटक खुला, तो वहाँ मिले एक साधु महाराज। वे लोग उस साधु का हाथ पकड़कर ले गये, बोले—तुम्हें राजा बनना है। अरे! नहीं, नहीं। हम राजा नहीं बनेंगे। तुम्हें राजा बनना ही पड़ेगा। उतारो यह लंगोटी और ये राज्याभूषण पहनो। साधु कहता है कि अच्छा, अगर हमें राजा बनाते हो तो हम राजा बन जायेंगे, पर हमसे कोई बात न पूछना, सब काम—काज आज से आप लोग ही चलाना। हाँ—हाँ, यह तो मंत्रियों का काम है, आपसे पूछने की क्या जरूरत है? हम लोग सब काम चला लेंगे। उसने अपनी लंगोटी एक छोटे-से संदूक में रख दी और राजवस्त्र पहिन लिये। दो चार वर्ष गुजर गये। एक बार शत्रु ने चढ़ाई कर दी। मंत्रियों ने पूछा— राजन्! अब क्या करना चाहिए? शत्रु एकदम चढ़ आये हैं। अब हम लोग क्या करें? साधु बोला— अच्छा हमारी पेट्टी उठा दो। सब राज्याभूषण उतारकर लंगोटी पहिन ली और कहा—

“हमें तो यह करना चाहिये और तुम्हें जो करना हो, करो। ऐसा कह कर चल दिया। क्योंकि साधु जी को राज्य के प्रति कोई ममत्व नहीं था।

त्याग का अर्थ है कि वस्तु के त्याग के साथ उसके प्रति ममत्व—भाव का भी त्याग करना। यह ममत्व—भाव ही दुःख का कारण है।

एक बार एक व्यक्ति के घर में आग लग गई। वह छाती पीट—पीटकर रोने लगा। आस—पास लोगों की भीड़ जमा हो गई। भीड़ में से एक व्यक्ति उसके पास आया और कहने लगा— सेठ जी! घबराईये मत, यह मकान तो आपके बेटे ने कल ही दूसरे को बेच दिया है। लिखा—पढ़ी हो गई है। पैसे भी शायद मिल गये हैं, अब यह मकान आपका नहीं है। मकान मालिक एकदम चुप हो गया, आँखों के आँसू सूख गये। वह पूर्ण स्वस्थ हो गया, लोगों से कहने लगा— अरे! मैं कितना मूर्ख था, व्यर्थ रो रहा था। तभी अचानक सेठ जी का लड़का दौड़ता हुआ आया और कहने लगा— पिता जी! मकान जल रहा है और आप खड़े—खड़े देख रहे हैं? जल्दी बुझाइये। सेठ जी कहते हैं कि मकान बिक चुका है न? लड़के ने कहा— ‘मकान बिकने की केवल बात ही हुई है। अभी तो लिखा पढ़ी भी नहीं हुई है। अरे! यह अपना ही मकान जल रहा है।’ सेठ जी फिर छाती पीटकर रोने लगे।

यह ममत्व—भाव ही दुःख का कारण है। जितना—जितना हमारा ममत्व बढ़ेगा, उतना—उतना दुःख भी बढ़ता जायेगा और जितना ममत्व—भाव कम होगा, उतना दुःख भी कम हो जायेगा।

जिन्हें संसार के स्वरूप का बोध हो जाता है, उन्हें यह सारी संपदा जीर्ण तृण के समान लगने लगती है। त्याग करते समय और त्याग करने के बाद भी उन्हें उसके प्रति ममत्व—भाव नहीं रहता।

‘त्यागो विसर्गः’ त्याग का अर्थ है छोड़ना या देना। त्याग करते समय अहंकार या विषाद का भाव नहीं होना चाहिये। त्याग अत्यन्त सहजभाव

से होना चाहिये, जैसे अपने घर को साफ—सुथरा रखने के लिये हम कूड़ा—कचरा घर से बाहर सहज भाव से फेक देते हैं। कूड़ा—कचरा घर से बाहर फेकते समय हमारे मन में संक्लेश नहीं होता और न ही अहंकार का भाव होता है कि मैंने इतना ढेर—सारा कचरा त्याग दिया। मन में भाव आता भी है तो इतना ही कि कचरा फेकना जरूरी था, सो मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया। ऐसे ही अपने जीवन को अच्छा और सुन्दर बनाने के लिये सहज भाव से विकारों का, धन—सम्पदा का त्याग करना चाहिए। अहंकार और संक्लेश से रहित होकर अपना कर्तव्य मानकर त्याग करना चाहिये। वैराग्य भावना में आता है—

छोड़े चौदह रतन, नवो निधि, अरु छोड़े संग साथी।

कोटि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी॥

इत्यादि सम्पति बहु तेरी, जीरण तृण—सम त्यागी।

नीति विचार नियोगी सुत को, राज दियो बड़भागी॥

संसार, शरीर और भोगों की वास्तविकता जानकर अत्यन्त वैराग्य भाव से भरत चक्रवर्ती ने अपार सम्पदा का, जीर्ण तृण के समान, त्याग कर दिया। सूखी घास का तिनका भी उपयोगी जान पड़ता है, इसलिये उसके प्रति भी ममत्व रह सकता है, परन्तु जीर्ण—शीर्ण तिनके के प्रति ममत्व भाव सहज ही छूट जाता है। इसलिये त्यागी हुई वस्तु को जीर्ण—तृण के समान समझकर छोड़ना चाहिये।

जिसे अपनी निजी सम्पदा का बोध हो जाता है, उससे बाह्य सम्पदा का त्याग सहज रूप से हो जाता है। एक बार पड़ोसी राज्यों में परस्पर युद्ध हुआ। जो राजा जीत गया, उसने दूसरे के राज्य पर अपना अधिकार कर लिया और घोषणा करा दी कि आज से यह राज्य हमारा है, इस राज्य में पहले से रहने वाले लोग इसे खाली कर दें और अपनी जितनी सम्पत्ति सिर पर रखकर ले जायी जा सके, उतनी ले जायें। उस राज्य के लोग

बड़े दुःखी हुये। सब एक-एक करके राज्य छोड़ने लगे। रास्ते में सैकड़ों लोग सिर पर अपना-अपना सामान उठाये पैदल जा रहे थे। सभी के चेहरे उदास थे। जो सम्पदा छोड़कर जाना पड़ रहा था, उसके लिये सभी दुःखी थे और मजा ये था कि जो सम्पदा अपने सिर पर रखे थे उसका बोझ भी कम पीड़ादायक नहीं था, पर जो छूट गया था, उसकी पीड़ा ज्यादा थी।

हम सभी के साथ भी ऐसा ही है। हमें जो प्राप्त है, उसका बोझ इतना है कि झेला नहीं जाता, परन्तु जो प्राप्त नहीं है, उसकी पीड़ा बहुत है। अचानक लोगों ने देखा कि उस भीड़ में एक व्यक्ति ऐसा भी है जो सबकी तरह दुःखी नहीं है, बल्कि आनंदित है। लोगों ने सोचा कि शायद कोई बेशकीमती सामान साथ में लाया होगा, इसलिये खुश है। पर मालूम पड़ा कि वह तो खाली हाथ है। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और दया भी आई कि बेचारे के पास कुछ भी नहीं है। किसी के पास कुछ भी न हो और वह आनंदित हो, तो लोगों को सहसा विश्वास नहीं होता। लोगों ने पूछा कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। तुम कुछ भी नहीं लाये? उसने कहा कि जो मेरा है, वह सदा से मेरे साथ है। लोग जरा मुश्किल में पड़ गये। लोगों ने सोचा कि सम्पदा छूट जाने से शायद इसका दिमाग गड़बड़ा गया है। सचमुच, अगर कोई सब छोड़ दे और आनंदित होकर जीवन जिये, तो अपन को लगता है कि इसका दिमाग ठिकाने नहीं है। त्याग बगैरह की बातें पागलपन-सी लगती हैं। और मजा ये है कि आवश्यक चीजों का संचय करना और उसके संरक्षण की चिंता रखना बुद्धिमानी जान पड़ती है।

उस व्यक्ति ने कहा— मेरी निजी सम्पदा आत्मशान्ति और संतोष है, जो सदा मेरे साथ है। जिसके छिन जाने, लुट जाने या खो जाने का भय मुझे जरा भी नहीं है। जो खो जाये या जिसे छोड़ना पड़े, वह निजी

सम्पदा नहीं है। जिसे अपनी निजी सम्पदा का बोध हो जाता है, उसका बाह्य-सम्पदा के प्रति ममत्व अपने-आप घट जाता है। उसे यह बाह्य सम्पदा, जिसे वह अज्ञान दशा में सुख का कारण मान रहा था, अब दुःख का कारण मालूम पड़ने लगती है, और तब उस बाह्य सम्पदा का त्याग सहजरूप से हो जाता है, तथा त्याग करते समय उसे न त्याग का अहंकार होता है और न ही त्याग का संक्लेश।

त्याग के बिना न तो आज तक किसी का उद्धार हुआ है और न आगे होगा। चाहे कोई कभी भी त्याग के मार्ग पर बढ़े, पर कल्याण होगा त्याग से ही। यह प्राणी जब तक त्याग नहीं करता, तब तक विपत्तियों में ही तो रहेगा। जैसे किसी पक्षी को कोई भोजन मिल जाये, कोई टुकड़ा मिल जाये, तो उस पर अनेक पक्षी टूट पड़ते हैं। वह पक्षी परेशान हो जाता है। यदि वह पक्षी टुकड़े को छोड़ दे, तो एक भी पक्षी उसे परेशान न करे। इसी प्रकार यह मोही प्राणी अपने परिणामों में बाह्य वस्तुओं को पकड़े हुए हैं और आकुल-व्याकुल बने हैं। मिथ्यात्व मोह में तो व्यर्थ ही अनेकों की गुलामी करनी पड़ती है। यदि हम इन बाह्य पदार्थों का त्याग करके आत्मसाधना करें, तो सदा के लिये सुखी बन जायें। कहा भी है—

त्याग बराबर तप नहीं, जो होवे निरदोष।

भविजन कीजे त्याग अब, मिले बड़ा संतोष॥

त्याग का अर्थ होता है वस्तु के त्याग के साथ उसके प्रति ममत्व भाव का भी त्याग करना। त्याग करने के बाद त्यागी हुई वस्तु का ध्यान नहीं आना चाहिए। त्याग दिया तो त्याग दिया, अब उससे लगाव/जुड़ाव नहीं रहना चाहिये। व्यक्ति किसी पदार्थ से दो प्रकार से जुड़ता है, एक तो उसमें आसक्त होकर और दूसरा उन पदार्थों को छोड़ दिया फिर भी मैंने छोड़ा है, इस बात का अभिमान करके। एक तो पकड़कर जुड़ा है और एक छोड़कर जुड़ा है। तो इस जुड़ने-को-छोड़ने का नाम त्याग है।

जिसका त्याग कर दिया, फिर उसका विकल्प भी छूट जाना चाहिये। त्याग करने के बाद उस त्याग का गुरुर भी अंदर नहीं रखना चाहिए।

एक मुनिराज अपने प्रवचन में बार—बार कह रहे थे कि मैंने लाखों की सम्पत्ति पर लात मार दी। दूसरे मुनिराज पास में बैठे थे। जब उन्होंने यही बात उनके मुख से बार—बार सुनी तो वे बोले—‘महाराज जी! लगता है अभी आपकी लात अच्छे से नहीं लगी, नहीं तो छोड़ने के बाद उसका ख्याल भी नहीं आना चाहिये। त्याग करने के बाद भी यदि अंदर से राग बना रहा तो त्याग से कोई लाभ नहीं।

एक बार आचार्य शान्तिसागर जी मुनिराज जंगल के रास्ते से जा रहे थे। एक सन्यासी उनसे आग्रह करता है, महाराज! मेरी झोपड़ी में आपके चरण पड़ जायें तो मेरी झोपड़ी पवित्र हो जायेगी, आप मेरी झोपड़ी पर अवश्य चलें। मुनिराज उसकी झोपड़ी में ठहर गये। थोड़ी देर पश्चात मुनिराज ने विहार किया, तो सन्यासी भी साथ हो गया। सन्यासी बड़ा प्रसन्न था कि मुनिराज के साथ चल रहा हूँ। रास्ते में उसने पूछा—महाराज! आपको हमारी झोपड़ी कैसी लगी? महाराज ने कहा— तुमने घर—परिवार छोड़ दिया, किन्तु एक झोपड़ी बना ली, आखिर क्या किया? मोह का परिवर्तन ही किया और कुछ नहीं। उस सन्यासी को लगा कि महाराज सही कह रहे हैं। वह वापिस आया और झोपड़ी में आग लगा दी। झोपड़ी को जलाकर वह मुनिराज के पास पहुँचा और बोला, महाराज! न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। इसलिये मैंने झोपड़ी जला दी। पर महाराज! यह तो बतला दो कि वह झोपड़ी कैसी थी?

महाराज ने कहा— हे सन्यासी! बाहर की झोपड़ी तो जल गई, किन्तु अंदर की नहीं। अंतरंग में अभी भी झोपड़ी बनी हुई है अर्थात् उसके प्रति मोह बना हुआ है। बाहरी त्याग के साथ अंतरंग में आसक्ति नहीं होनी चाहिये। अंतरंग में विरक्ति नहीं और बाहर से घर छोड़ दिया, फिर भी

अंदर झोपड़ी बनी रही, तो उससे कोई लाभ नहीं। त्याग करने के बाद “मैंने त्यागा” इस विकल्प का भी त्याग कर देना चाहिए। कषायों के त्यागने से त्यागधर्म होता है। इंद्रियों को विषयों में जाने से रोकने से त्यागधर्म होता है। रसों का त्याग करने से त्यागधर्म होता है। रसना इन्द्रिय की लोलुपता पर विजय प्राप्त करने से सभी पापों का त्याग सहज ही हो जाता है। सभी को शक्ति अनुसार त्याग अवश्य करना चाहिये।

दान देय मन हरष विशेखै, इह भव जस परभव सुख देखै॥

शक्तितप्तप भावना

भव अर्णव के पार करन को, शक्तितः अपनावे।
अनशन आदि बारह तपकर, भव अर्णव से तर जावे।।
ग्रीष्म ऋतु पर्वत के ऊपर, शीत ऋतु में नदी समीप।
वर्षा में वृक्ष तले, तप करे जलाते केवलदीप।।

शक्ति के अनुसार तपश्चरण करने की भावना होना, सो शक्तितः तप भावना है। भवसमुद्र से पार होने के लिये अनशन आदि बारह प्रकार के तपों को अपनाना चाहिये, तपस्या संसार से पार उतारने के लिये नौका के समान है। जो साधक ग्रीष्म ऋतु में पर्वतों के ऊपर, शीत ऋतु में नदी के समीप बैठकर तथा वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे तपस्या करते हैं, वे केवलज्ञान का दीप जलाते हैं।

यह शरीर दुःख का कारण है, अनित्य है, अस्थिर है, अशुचि है, कृतघ्न के समान है। करोड़ों उपकार करने पर भी जैसे कृतघ्न अपना नहीं होता है, उसी प्रकार शरीर का भी अनेक प्रकार से उपकार करने पर भी यह अपना नहीं होता है, अतः चाहे— जैसे उपायों से इसे पुष्ट करना उचित नहीं है, तप द्वारा कृष करने योग्य ही है, तो भी गुण रूपी रत्नों के संचय करने में कारण है।

शरीर के बिना रत्नत्रय धर्म नहीं होता। रत्नत्रय धर्म बिना कर्मों का नाश नहीं होता। इसलिये अपने प्रयोजन के लिये, विषयों में आसक्ति रहित होकर, सेवक के समान योग्य भोजन देकर अनशन, अवमौदर्य,

वृत्ति—परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्याशन कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य यथाशक्ति करना चाहिये।

तप किये बिना इन्द्रियों के विषयों से लोलुपता नहीं घटती है, तप किये बिना तीनलोक को जीतनेवाले काम को नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं होती है। तप बिना आत्मा को अचेत करने वाली निद्रा नहीं जीती जा सकती है। तप बिना शरीर का सुखिया स्वभाव नहीं मिटता है। यदि तप के प्रभाव के द्वारा शरीर को वश में रखा होगा तो क्षुधा, तृषा, उष्ण आदि परीषहों के आने पर कायरता उत्पन्न नहीं होगी, संयमधर्म से चलायमान नहीं होगा। तप करना कर्मों की निर्जरा का कारण है, अतः तप करना ही श्रेष्ठ है।

जो विषय—कषायों का त्याग करके इन बारह प्रकार के तपों को करते हैं, उन्हीं का जीवन सार्थक है। तप की महिमा अचिन्त्य है, वर्णनातीत है। तपश्चरण का कितना चमत्कार है, इसका एक जीता—जागता उदाहरण है।

एक रूपलक्ष्मी नाम की महिला थी। वह पंचमी के दिन से 5—5 दिन के उपवास किया करती थी। वह बड़ी भोली—भाली थी। उसने अपने जीवन में कभी रोना नहीं सुना था। एक बार वह अपने घर से कहीं बाहर जा रही थी। उसे रास्ते में एक रोती हुई महिला दिख गई। उसका बेटा मर गया था। जब रूपलक्ष्मी ने उसका रोना सुना, तो समझा कि यह स्त्री कोई गीत गा रही है। उसने कभी रोना सुना ही न था, इसलिये उसे गीत समझ लिया। वह उस रोने वाली स्त्री से कह उठी कि, बहिन! तुम तो बहुत अच्छा गा रही हो। उस महिला को बुरा लग गया कि देखो, हमारा तो पुत्र मर गया, जिससे हम रो रहे हैं और यह कह रही है कि तुम बड़ा अच्छा गीत गा रही हो। उसने यह प्रतिज्ञा की कि मैं भी इसको इसी तरह रुलाकर रहूँगी।

उसने एक सकोरे में जहरीला सर्प रखकर उसे बन्द करके रूपलक्ष्मी को दिया और कहा कि इस सकोरे के अंदर बड़ी कीमती रत्नों की माला है उसे तू अपने बेटे को पहना देना। उसने घर जाकर अपने बेटे से कहा कि बेटा! तुम नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर इस सकोरे के अंदर से रत्नमाला निकालकर पहन लो। बेटे ने वैसा ही किया। उसने उस सकोरे के अन्दर से रत्नमाला को निकालकर पहन लिया और फिर उसी सकोरे में रखकर बन्द कर दिया।

दूसरे दिन वही स्त्री जो कि सकोरा दे गयी थी, आती है। वह सोच रही थी कि उसका बेटा तो सर्प के काटने से मर चुका होगा। पर वहाँ जाकर देखा तो बात कुछ और ही थी। उसने पूछा— बहन! पहनाई थी रत्नों की माला अपने बेटे को? हाँ, बहिन! पहनाई थी। वह तो बहुत सुन्दर रत्नों की माला है। कहाँ रखी है? उसी प्रकार सकोरे में। जब उस स्त्री ने उस सकोरे में हाथ डाला तो उस जहरीले सर्प ने उसको डस लिया और उसकी मृत्यु हो गयी। रूपलक्ष्मी पंचमी के पांच-पांच उपवास करती थी, जिससे उसकी व उसके पुत्र की रक्षा हुई।

यह शरीर तो अशुचि है, दुःखों को उत्पन्न करने वाला है और विनाशीक भी है। इसको कितना ही खिलाओ, पिलाओ, सेवा करो, पर अन्त में यह नियम से धोखा ही देगा। इस शरीर का सदुपयोग तो तप करने में ही है। इससे जितना बन सके उतना इन बारह प्रकार के तपों को अत्यन्त हितकारी समझकर करते रहना चाहिए। पर हमारा तप किसी लौकिक इच्छा से नहीं होना चाहिये।

दो राजपुत्र थे। एक दिन दोनों बैरागी हो गये और तप करने घर से निकल गये। छोटा भाई तो एक तापसी से दीक्षित हो गया और बड़े भाई ने दिगम्बरी मुनिदीक्षा ले ली। छोटे भाई को 12 वर्ष बाद स्वर्ण रस की सिद्धि हो गई, तो उसने अपने बड़े भाई के पास शिष्यों को भेजकर

आधी तुम्बी स्वर्णरस की भेज दी। पर वीतरागी को क्या आवश्यकता थी। कहा— इसे मिट्टी में डाल दो। जब शिष्यों ने यह समाचार उसके भाई को सुनाया, तो बड़ा दुःखी हुआ। अब वह शेष आधी तुम्बी लेकर स्वयं भाई के पास पहुँचा। पर भाई ने उसे भी गिरा दिया, तो वह बहुत दुःखी हुआ, बोला— तुमने यह क्या किया? 12 वर्ष की तपस्या यों ही बरबाद कर दी। लगता है कि दरिद्रता ने तुम्हारी बुद्धि को हर लिया है। अब बरसने लगा अमृत शुभचन्द्र मुनिराज के मुख से—भाई! जब स्वर्ण ही चाहिये था, तो राज क्यों छोड़ा था? शान्ति लेने निकला था कि स्वर्ण? स्वर्ण ही चाहिए तो ले भर ले जितना चाहे। और एक चुटकी रज अपने पैर के नीचे से निकालकर फेंक दी पहाड़ पर। पर्वत स्वर्ण का बन गया। भर्तृहरि लज्जित हो गये। ‘ज्ञानार्णव’ ग्रन्थ की रचना हो गई।

तप तो इच्छा—निरोध को कहते हैं। हमारा तप लौकिक इच्छाओं से रहित केवल आत्मकल्याण के लिए होना चाहिए।

तप का मुख्य उद्देश्य मोहरूप अंधकार को दूर करके दुःखान्त संसार का उच्छेदन करना है। जब तक प्राणी के हृदय से मोह का विनाश न होगा, तब तक उसका संसारोच्छेद होकर मोक्ष प्राप्ति भी नहीं होगी। अतः मोह को छोड़कर अभिलाषाओं को दूर करना तप का मुख्य प्रयोजन है।

तप की महिमा जिनागम में पद—पद पर गाई है। ‘भगवती आराधना’ में लिखा है कि जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो निर्दोष तप से पुरुष प्राप्त न कर सके। जैसे—जैसे सोने में लगा हुआ मैल आग में सोने को तपाने से दूर हो जाता है, उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा के ऊपर जो मलिनता चढ़ी हुई है, वह तपस्या की आग से नष्ट हो जाती है। उत्तम प्रकार से किये गये तप के फल का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। उत्तम तप ही सब प्रकार से सुख देनेवाला है। कहा भी है—

**जो तप तपै खपै अभिलाषा,
ते जन इह—भव पर—भव सुख चाखा।**

अर्थात् जो अभिलाषायें छोड़कर तपस्या करता है, उसको इस लोक एवं परलोक में सुख की प्राप्ति होती है।

आत्मकल्याण के इच्छुक जनों को अपनी शक्ति के अनुसार तप अवश्य करना चाहिये।

“जं सक्कई तं कीरइ, जं च ण सक्कई तहेव सद्धणं।

सद्धमाणो जीवो पावई अजरामर ठाणं।।”

अपनी शक्ति को न छिपा कर सभी को तपस्या करनी चाहिए। यदि शक्ति न हो, तो पूर्णरूप से श्रद्धान करना चाहिए। जो मनुष्य तप का श्रद्धान भी करते हैं, वे जीव अजर—अमर पद को प्राप्त करते हैं। संयम की साधना तपस्या से होती है। स्वेच्छापूर्वक कष्ट को सहन करना तपस्या है। कष्टों और कठिनाइयों को सहन किये बिना संयम की साधना संभव नहीं है। भगवान् महावीर जन्म से ही अवधिज्ञानी थे। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें मनः—पर्यय—ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। वे जानते थे और दुनियाँ को पता लग गया था कि वे तीर्थंकर हैं, उन्हें मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा। फिर भी उन्होंने दीक्षा लेकर बारह वर्ष तक घोर तप किया। अतः आत्मकल्याण के लिये तप करना अनिवार्य है।

सभी तपों में प्रधान तप तो दिगम्बरपना है। यदि संसार के बंधन से छूटना चाहते हो तो दिगम्बर दीक्षा धारण करो। उस तप से शरीर का सुखियापना नष्ट हो जाता है, उपसर्ग—परीषह सहने में कायरता का अभाव हो जाता है। मुनिराज के अट्ठाइस मूलगुणों का निर्दोष पालन करना बहुत बड़ा तप है। रत्नत्रय के साथ बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के तपों का आलंबन लेकर साधना करनेवाला ही मुक्ति को प्राप्त करता है। यही एक मुक्ति का मार्ग है। अतः सभी को प्रमाद को छोड़कर

अपनी शक्ति—प्रमाण इन बारह तपों को करने का अभ्यास शुरू कर देना चाहिये, जिससे एक दिन पूर्ण तपस्वी बनकर मुक्ति को प्राप्त करें। जिन्होंने भी तप के मार्ग को अपनाया, वे नर से नारायण बने। बिना तप के आज तक किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई।

तपश्चरण का एक प्रयोजन यह भी रहता है कि कदाचित् कर्मों का उदय ऐसा आये कि अनेक दिनों तक भोजन न मिल सके अथवा अनेक व्याधियाँ, विपत्तियाँ आ जायें, तो उन विपत्तियों के समय में यह साधक ज्ञान से विचलित न हो जाय, क्योंकि इसने आराम में रहकर ज्ञान का अर्जन किया है, सो कदाचित् कभी कष्ट आ जाय तो यह बहुत कुछ सम्भव है कि यह अपने ध्येय से चलित हो जाये। तो मैं कभी उपसर्ग, उपद्रवों के आने पर अपने ध्येय से विचलित न हो जाऊँ, इसके अर्थ तपश्चरण का उद्यम करना अनिवार्य है।

तप करने का साक्षात् लाभ तो यह है कि जिस समय शक्ति अनुसार तपश्चरण किया जाता है, उस समय इसकी भावना पवित्र रहती है। कायक्लेश की ओर उपयोग नहीं रहता, किन्तु स्वतः ही सहज ऐसी वृत्ति जगती है कि जिससे यह अपने स्वभाव की ओर ही प्रवृत्त होता है। सो गंदे विचार, खोटे ध्यान ये सब समाप्त हो जाते हैं तपश्चरण में। जिन ज्ञानियों का उद्देश्य निर्मल है, मोक्षमार्ग के अनुकूल उद्देश्य जिसने बना लिया है, उनका यह तपश्चरण समता और शांति का साधक होता है। जिसे मोक्षमार्ग के रहस्य का पता ही नहीं है, व्रत, तप आदिक भी कर रहा हो, किन्तु मैं क्या हूँ, इसका जिसने ठीक भान नहीं किया है, ऐसे पुरुषों को उन तपश्चरणों के करने पर या तो यश के पोषण का भाव रहेगा या पद—पद पर क्रोधादिक कषायें जगेंगी। इस कारण अपना विशुद्ध उद्देश्य बना लेना सर्वप्रथम कर्तव्य है।

एक बार एक राजा के यहाँ दो चित्रकार आये। मान लो दो

भिन्न-भिन्न देशों के दो चित्रकार थे। जैसे नाम ही रख लो कोई एक जापान का, एक जर्मन का। दोनों चित्रकारों ने राजा से कहा कि हम लोग बड़े सुन्दर चित्र बनाते हैं। आप अपने किसी महल में या हाल में बनवाकर हमारी चित्रकला देखें। तो राजा ने एक बड़े हाल में चित्रकारी के लिए दोनों को कहा और यह भी कहा कि जिसका चित्र बहुत अच्छा होगा उसको खूब पारितोषिक मिलेगा। एक भीत जापानी चित्रकार को दी और एक भीत जर्मनी चित्रकार को दी। उन दोनों के बीच में एक काठ का पर्दा लगा दिया जिससे वे चित्रकार एक दूसरे की कला को न देख सकें। अब मानों जापानी चित्रकार ने रंग-बिरंगे बहुत से बाह्य साधन जुटाये और छह महीनों तक बहुत-बहुत सुन्दर-सुन्दर चित्रों को रंगना प्रारम्भ कर दिया और इस जर्मनी चित्रकार ने साफ करने वाले मसाले, जैसे पहिले कौड़ी का चूना होता था, उससे भीत को खूब रगड़ना शुरू किया। वह 6 माह तक भीत को रगड़ता ही रहा और भीत को साफ उजला स्वच्छ चमकदार बना दिया। जब 6 माह व्यतीत हो गये तो राजा ने कहा कि अब हम तुम दोनों के चित्रों को देखेंगे। ठीक है महाराज! चित्रों को देखिये और उनका मुकाबला करिये कि कौन-सा चित्र उत्तम है। बीच का पर्दा हटवा दिया गया। अब राजा चित्र देखने लगा तो जिस भीत पर चित्र लिखे गये थे, रंगे गये थे, उसे देखा तो ऐसे ही रूखे, कांतिहीन सब चित्र नजर आये। जब उस दूसरी भीत पर नजर डाली तो वह भीत चमकीली थी, उसमें उस पहली भीत के सारे चित्र प्रतिबिम्बित हो गये। राजा उसको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उस चित्र बनाने वाले को बहुत-सा पुरस्कार दिया।

यों ही समझो भैया! कि इस जीवन में हम धर्म की चित्रकारी कर रहे हैं, वर्षों हो गये, करते जा रहे हैं, पर इस चित्रकारी में सर्वप्रथम यह ध्यान देना चाहिए कि हम अपनी आत्मा को शुद्धभावना से, ज्ञानभावना से,

स्वरूप परिचय से, स्वतंत्रता के निर्णय से बिल्कुल स्वच्छ बना डालें, जिस उपयोग में कषायों का रंग न जमें, जिस उपयोग में गर्व न ठहरे, विपरीत आशय न आये, परके प्रति ममता न जगे। बिल्कुल स्वच्छ उपयोग बना दिया जाय, तो फिर थोड़ा भी कष्ट आप करोगे, धर्मपालन की चेष्टा करोगे, प्रवृत्ति करोगे, तो वे सब कई गुणा फल देंगे। एक उपयोग को स्वच्छ बनाये बिना धर्मपालन का भी फल न मिलेगा और व्यर्थ में समय भी गँवा दिया जायेगा। वह मात्र थोड़ा पुण्य का कार्य रह जायेगा। लोग सोचते हैं कि हम जितनी चालाकी से चलेंगे, जितना हम दूसरों की आँख में धूल डालेंगे, उतना ही अधिक अपने वैभव का कार्य साध लेंगे। सच पूछो तो वह पुरुष उतना ही अधिक टोटे में रहता है। कारण यह है कि जब मूल में भावना ही अशुद्ध है तो उस अशुद्ध भावना के निमित्त से पापकर्म का बंध होगा। पुराने पाप उदीरणा में आकर सामने आयेंगे। पुण्य का रस घट जायेगा। क्या तत्त्व पाया?

शुद्ध स्वच्छ उपयोग रहे तो धर्मरस की प्राप्ति होगी। अपने उपयोग को स्वच्छ, शुद्ध, सत्य, प्रमाणिक बनायें तो उससे हित की सिद्धि है। ये सब तप हैं। उपसर्गों से विचलित न होना, अपने मोक्षमार्ग के उद्देश्य में दृढ़ रहना, उपद्रवों का सामना कर सकना और जान बूझकर भी अनेक कायक्लेश करना, ये सब हैं शक्तितस्तप।

एक बार अकबर ने बीरबल से कहा— बीरबल! तुम्हें काला कोयला सफेद कर दिखाना है। बीरबल तो जरा सकते में आ गये। कोयला और सफेद? असंभव—सी बात लगी। वह सोचते रहे कि यह काला—कलूटा कोयले सफेद कैसे होगा? बीरबल बोले—हुजूर! कुछ समय दिया जाय, फिर कोयला को सफेद करके दिखाऊँगा। बीरबल के निवेदन पर उन्हें एक सप्ताह का समय दे दिया गया। सभी सोचने लगे कि बीरबल शायद पानी व साबुन से कोयला सफेद करेंगे। सातवें दिन बीरबल दरबार में

पहुँचे। बीरबल की चतुराई देखने के लिए लोगों का जमघट लग गया। बीरबल ने काले कोयले को सबके सामने रखा और उसमें आग लगा दी। कोयला धू-धू करके जलने लगा और जलकर सफेद राख बन गया। यह देखकर सभी ने बीरबल की प्रशंसा की।

जिस प्रकार कोयले को सफेद करने का उपाय संसार में अग्नि में जलाने के अलावा दूसरा नहीं है, उसी प्रकार कर्मों से मलिन आत्मा को शुद्ध व पवित्र बनाने का उपाय उत्तम तप के अलावा दूसरा कोई नहीं है। अतः हम सभी को इन बारह प्रकार के तपों को अत्यन्त कल्याणकारी जानकर अवश्य ही करना चाहिये। जैसे सोने में लगा हुआ मैल सोने को आग में तपाने से दूर हो जाता है, उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा के ऊपर जो कर्मों की मलिनता लगी हुई है, वह तप के माध्यम से दूर हो जाती है।

आचार्य श्री विशुद्धसागर जी मुनिराज ने लिखा है—

मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, पर बिना क्रिया किए मिट्टी घड़ा नहीं बन सकती। दुग्ध में घृत है, लेकिन घृत प्राप्त करने के लिये प्रक्रिया पूरी करनी पड़ेगी। बिना प्रक्रिया के दुग्ध से घृत संभव नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में परमात्मा की शक्ति मौजूद है, यानी आत्मा में परमात्मा विराजमान है, पर जैसे बिना छैनी के पाषाण से प्रतिमा नहीं निकलती, वैसे ही बिना तप के आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। जो तप जाता है, वह चमक जाता है। यदि स्वर्ण—पाषाण को तपाया नहीं जाए, तो स्वर्ण प्राप्ति संभव नहीं। स्वर्ण—पाषाण को तपाने से ही स्वर्ण की प्राप्ति होगी।

अपनी शक्ति को छिपाये बिना, जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग से विरोध रहित हो, उसी प्रकार तप करो। तप नामक सुभट की सहायता के बिना अपने श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप धन को, क्रोध, प्रमाद आदि लुटेरे

एक क्षण में लूट लेंगे, तब रत्नत्रय रूप संपत्ति से रहित होकर चतुर्गतिरूप संसार में दीर्घकाल तक भ्रमण करना पड़ेगा। अतः सभी को अपनी शक्ति अनुसार तप अवश्य करना चाहिए। तप के द्वारा दूर रहने वाला तथा अत्यन्त परोक्ष दिखने वाला मोक्ष भी तुम्हारे निकट आ जाता है।

जो तप तपै खपे अभिलाषा, चूरे करम—शिखर गुरु भाषा।

साधु समाधि भावना

भाव समाधि का इस जग में, बड़े पुण्य से होता है।
साधुसमाधि जब भी धारे, रहित कर्म से होता है॥
दो या तीन भवों को पाता, जो करता समाधिमरण।
देवी-देवता झट आ करके, सर धरते हैं उनके चरण॥

समाधि का भाव इस संसार में बहुत पुण्य के उदय से होता है। जब कोई साधु समाधि को धारण करता है, तब कर्मों से रहित होता है। समाधिमरण करने वाला जीव अधिक-से-अधिक सात-आठ भव और कम से कम दो-तीन भव संसार में रहता है। समाधिमरण करने वाले जीव के चरणों में देवी-देवता भी आकर प्रणाम करते हैं।

उपाधिरहित समाधि को ग्रहण करना अथवा समाधि ग्रहण करने वाले साधक की सेवा करना, 'साधुसमाधि भावना' है। जैसे भंडार में लगी हुई आग को गृहस्थ अपनी उपकारी वस्तुओं का नाश होना जानकर बुझाता ही है, क्योंकि अपनी उपकारी वस्तुओं की रक्षा करना बहुत आवश्यक है, उसी प्रकार व्रत, शील आदि अनेक गुणों सहित जो व्रती-संयमी को किसी कारण से विघ्न आ जाये, तो विघ्नों को दूर करके व्रत-शील की रक्षा करना, वह साधुसमाधि है। रोग होने पर, वृद्धावस्था में, देव-मनुष्य-तिर्य्यच आदि कृत उपसर्ग होने पर, शरीर की शक्ति क्षीण होने पर धर्म एवं संयम की रक्षा के लिए समाधिमरण ग्रहण किया जाता है। समाधिमरण तीन प्रकार का होता है—

1. प्रायोपगमन समाधिमरण
2. इंगिनी समाधिमरण,
3. भक्त

प्रत्याख्यान समाधिमरण ।

स्व और पर के द्वारा सेवा— सुश्रुषा का त्याग करना “प्रायोपगमन समाधिमरण” है । प्रायोपगमन समाधिमरण करनेवाला साधक एक स्थान पर खड़गासन, पद्मासन, शवासन आदि में स्थित रहता है । मल—मूत्र का भी त्याग नहीं करता है तथा कोई देव—दानव आदि उपसर्ग करें, फेंक दें, तो भी निश्चल, निस्पृह बने रहते हैं ।

पर के द्वारा किये गये सेवा—सुश्रुषा का त्याग करना “इंगिनी समाधिमरण” है । इंगिनी समाधिमरण करने वाला वैयावृत्ति, चलना, उठना, मलमूत्र आदि विसर्जन करना, आहारादि में प्रवृत्ति आदि क्रिया को स्वयं ही करता है, अन्य किसी से नहीं करवाता है ।

मरण का समय निकट जानकर खाद्य, स्वाद, लेह्य, पेय चार प्रकार के आहार का त्याग करके समता भाव से शरीर का त्याग करना “भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण” है ।

सम्यग्ज्ञानी ऐसा विचार करता है— हे आत्मन्! तुम अखण्ड, अविनाशी, ज्ञान—दर्शन स्वभावी हो, तुम्हारा मरण नहीं हो सकता । जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होगा । पर्याय का विनाश होता है, चैतन्य द्रव्य का विनाश नहीं होता है । हे ज्ञानी! हजारों कृमि से भरे, हाड़—मांसमय, दुर्गन्धित, प्रकट विनाशीक देह के नाश होने से तुम्हारा क्या होता है? तुम तो अविनाशी ज्ञानमय हो । यह मृत्यु तो बड़ी उपकारी मित्र है जो तुम्हें सड़े—गले शरीर में से निकालकर देव आदि की उत्तम देह धारण कराती है । यदि मृत्यु मित्र नहीं आता तो इस देह में अभी कब तक और रहना पड़ता? रोग तथा दुःखों से भरे शरीर में से कौन निकालता? समाधिमरण करके आत्मा का उद्धार कैसे होता? व्रत—तप संयम का उत्तम फल मृत्यु नाम के मित्र के उपकार किये बिना कैसे पाता? पाप से कौन भयभीत होता? मृत्युरूप कल्पवृक्ष के बिना चार आराधनाओं की शरण ग्रहण कराकर संसार रूपी

कीचड़ में से कौन निकालता ?

जिनका चित्त संसार में आसक्त है तथा देह को अपना रूप जानते हैं, उन्हें मरण का भय होता है। सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को देह से भिन्न जानकर भयभीत नहीं होते हैं, उन्हीं के साधुसमाधि होती है। मरण के समय में जो कभी रोग, दुःख आदि आता है, वह भी सम्यग्दृष्टि को देह से ममत्व छुड़ाने के लिये आता है, त्याग-संयम आदि के सन्मुख कराने के लिये आता है, प्रमाद को छुड़ाकर सम्यग्दर्शन आदि चार आराधनाओं में दृढ़ता के लिये आता है।

ज्ञानी विचार करता है — जिसने जन्म धारण किया है, वह अवश्य मरेगा। यदि कायर हो जाऊँगा, तो मरण नहीं छोड़ेगा और यदि धीर बना रहूँगा, तो मरण नहीं छोड़ेगा। इसलिये दुर्गति का कारण जो कायरतारूप मरण है, उसे धिक्कार हो। अब ऐसे साहस से मरूँगा कि देह मर जायेगी किन्तु मेरे ज्ञान-दर्शन स्वरूप का मरण नहीं होगा। ऐसा मरण करना उचित है। अतः उत्साहसहित सम्यग्दृष्टि के मरण का भय नहीं होना, वह साधुसमाधि है।

देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत उपसर्ग होने पर जिसको भय नहीं होता, पूर्व में बांधे हुए कर्म की निर्जरा ही मानता है, उसके साधु समाधि है। ज्ञानी को रोग से भय नहीं होता है। वह तो अपने शरीर को ही महारोग जानता है, क्योंकि शरीर ही तो क्षुधा, तृषा आदि महारोगों को उत्पन्न करानेवाला है। यह मनुष्यशरीर वात, कफादि त्रिदोषमय है। असातावेदनीय कर्म के उदय से, त्रिदोषों के घटने-बढ़ने से ज्वर, खांसी, श्वास, अतिसार, पेटदर्द, सिरदर्द, वातादि की पीड़ा होने पर ज्ञानी ऐसा विचार करता है— मुझे यह रोग उत्पन्न हुआ है, उसका अंतरंग कारण तो असातावेदनीय कर्म का उदय है, बहिरंग कारण द्रव्य-क्षेत्र-कालादि हैं; कर्म के उदय का उपशम होने पर रोग का उपशम हो जायेगा।

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरा अनंतानंत काल बीत गया है। समस्त समागम अनेक बार पाया, परन्तु समाधिमरण प्राप्त नहीं हुआ है। यदि समाधिमरण एक बार भी मिल गया होता, तो फिर जन्म-मरण का पात्र नहीं होता। संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने भव-भव में अनेक नये-नये देह धारण किये हैं। ऐसी कौन-सी देह है जो मैंने धारण नहीं की? अब इस वर्तमान देह में क्यों ममत्व करूँ? मुझे भव-भव में अनेक स्वजन-कुटुम्बीजनों का भी संबंध हुआ है। आज पहली बार ही स्वजन नहीं मिले हैं, अतः किस-किस स्वजन में राग करूँ? मुझे भव-भव में अनेक बार राजऋद्धि प्राप्त हुई है। अब मैं इस तुच्छ वर्तमान सम्पदा में क्या ममता करूँ? भव-भव में मेरे अनेक पालन करने वाले माता-पिता भी हो गये हैं, अभी ये प्रथम बार ही नहीं हुए हैं?

इस तीनलोक में सुख-दुःख की सभी सामग्री इस जीव ने अनन्तबार पाई है, कुछ भी दुर्लभ नहीं है! एक साधुसमाधि रूप जो रत्नत्रय की लब्धि है उसे निर्विघ्न परलोक तक ले जाना दुर्लभ है। जो रत्नत्रय सहित होकर देह को छोड़ता है, उसके जो साधुसमाधि होती है, उसकी प्राप्ति दुर्लभ है।

साधुसमाधि चतुर्गति में परिभ्रमण के दुःख का अभाव करके निश्चल, स्वाधीन, अनन्तसुख को प्राप्त कराती है। जो पुरुष साधुसमाधि भावना को निर्विघ्न रूप से प्राप्त करने के लिये इस भावना को भाता है, वह शीघ्र ही संसारसमुद्र को पार करके अष्टगुणों का धारक सिद्ध बन जाता है। जो जीव जीवनपर्यन्त व्रत-संयम का पालन करते हैं, उनके भाव अन्त समय में समाधिमरण धारण करने के होते हैं। जो अपने जीवन में संयम धारण कर लेता है, मन को सदा शुभ कार्यों में लगाये रखता है, उससे कभी गलत कार्य नहीं हो सकता।

एक व्यक्ति सरकस में काम करता था। काम क्या करता था, खेल

दिखाता था। वह एक निशानेबाज था। वह अपनी पत्नी को एक बोर्ड के सामने खड़ा करके तीर चलाता था। उसे तीर चलाने का इतना अच्छा अभ्यास हो गया था कि देखनेवाले घबड़ा जाते थे। वे दिल थामकर देखते थे, पर सभी तीर उसकी पत्नी के आसपास जाकर लगते थे, उसे कभी एक भी तीर नहीं लगा।

एक बार दोनों में झगड़ा हो गया। झगड़ा इतना बढ़ गया कि उस व्यक्ति के भाव अपनी पत्नी को जान से मारने के हो गये। उसने सोचा कि इस तरह मारेंगे तो पकड़े जायेंगे, अतः अभी मारना ठीक नहीं है। रोज ही तो खेल दिखाते हैं। खेल दिखाते समय एक बाण ही तो चूकना है, अपना काम भी जायेगा और कोई कुछ कहेगा भी नहीं। सभी यही कहेंगे कि इतने वर्ष हो गये थे बाण चलाते, एक बाण चूक गया तो क्या करें?

उस व्यक्ति ने अपनी जीवनगाथा में लिखा है—उस दिन मैंने सभी बाण गलत चलाये, पर उसकी जीवनसाथी को एक भी बाण नहीं लग सका। जीवन भर का अभ्यास था, अतः चाहकर भी वह एक भी बाण गलत नहीं चला सका। जो जीवनभर संयम का निर्दोष पालन करता है, उसका समाधिमरण अच्छा होता है। सभी को सदा समाधिमरण की भावना भाना चाहिये और अपने नियम—संयम का निर्दोषतापूर्वक पालन करना चाहिये।

निरतिचार सल्लेखना का फल बताते हुए आचार्य समन्तभद्र महाराज कहते हैं कि—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।

निः पिबति पीतधर्मा सर्वेर्दुःखैरनालीढः॥

धर्म रूपी अमृत का पान करनेवाला सल्लेखनाधारी समस्त दुःखों से रहित होता हुआ अपार दुस्तर, उत्कर्षशाली सुख के सागर स्वरूप मोक्ष को पाता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में सल्लेखना के पाँच अतिचार बताये हैं।

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।

सल्लेखनातिचारः पंच जिनेन्द्रैः समुदिष्टाः॥

जीने की इच्छा करना, मरने की इच्छा करना मरने से डरना, मित्रों की याद करना और आगामी भोगों की इच्छा करना— ये पांच जिनेन्द्र भगवान् ने सल्लेखना के अतिचार बताये हैं।

यह जीव अज्ञानतावश मनुष्यशरीर के जन्म को जन्म तथा शरीर के मरण को अपना मरण मानता हुआ दुःखी होता है।

तन उपजत अपनी उपज जान,

तन नशत आप को नाश मान।

जिनकी पर्यायदृष्टि रहती है, उनकी सच्ची समाधि नहीं हो सकती। एक जगह गुरु और शिष्य रहते थे। उसमें से गुरु समाधि के स्वरूप को जानते थे। शिष्य पूछने लगा कि कैसी होती है समाधि? हमें सिखा दो। गुरु ने कहा— 'जाओ, सामने एक मकान खाली पड़ा है, उसमें बैठकर ध्यान लगाओ, समता रखना। अगर तुम्हारे अन्दर समाधि आ गई, तो उपसर्ग आने पर भी तुम ध्यान नहीं छोड़ोगे, तब समझ लेना तुम्हें समाधि की जानकारी हो गयी।' गुरु ने परीक्षा लेने के लिए एक मेहतरानी को भेज दिया कि उसके पास खूब धूल उड़ा दे। मेहतरानी ने वैसा ही किया। उसे तुरन्त क्रोध आ गया और उठकर गुरु जी से आकर बोला— गुरुजी! अभी तो समाधि का स्वरूप जाना ही नहीं। गुरु बोले कि फिर ध्यान लगाओ। वह जाकर ध्यान लगाने लगा। फिर परीक्षा के लिए किसी को भेज दिया। उसने उसके पास जाकर खूब गालियाँ दी। उसे कुछ कम क्रोध आया अब। वह सच्ची समाधि लगाकर आत्मा का चिन्तन करने लगा। गुरु ने उसके पास फिर मेहतरानी को भेजा। मेहतरानी ने उसके

सिर पर विष्टा डाल दी, उसने तब भी समाधि नहीं छोड़ी। इसका नाम ही सच्ची समाधि है। जब इतनी समता आ जायेगी, तो हमारा मरण सच्चा मरण हो जायेगा।

दूसरे रूप में साधुसमाधि से मतलब साधुओं के उपसर्ग को दूर करना अथवा धर्मात्मा को संबोधित करके समाधि नहीं बिगड़ने देना। जैसे भण्डार में लगी हुई अग्नि को बुझाते हैं, क्योंकि वस्तुओं की रक्षा करना उपकारक है। इसी प्रकार अनेक गुणों सहित व्रती/संयमी के किसी कारण से विघ्न आते हैं तो उनको दूर कर व्रत-शील की रक्षा करना, साधुसमाधि है। सम्यग्ज्ञानी ऐसा विचारता है कि हे आत्मन्! तुम्हारा अखण्ड अविनाशी ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। तुम्हारा मरण नहीं है। जो जन्मा है, उसका विनाश भी होगा। सुकुमाल महामुनि को देखो, कैसे स्यालनी ने बच्चों सहित उनके शरीर को खाया, लेकिन उपसर्ग सहा और धीरज नहीं छोड़ा। सुकोशल मुनि को व्याघ्री ने खाया, गजकुमार के ऊपर विप्र ने अंगीठी रख दी, तो भी ध्यान नहीं छोड़ा। सनतकुमार मुनि के तन में कुष्ठ हो गया, वे विचारते रहे कि ये रोग पुद्गल में हैं, मेरे में नहीं। समन्तभद्र मुनि के तन में क्षुधावेदना हुई, लेकिन सम्यक्त्व को नहीं छोड़ा। दंडक राजा ने अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनियों को घानी में पिरवाया, लेकिन मुनियों ने समता नहीं छोड़ी। सात सौ मुनियों के ऊपर बलि राजा ने घोर उपसर्ग किया, लेकिन वे अपनी आत्मा में रहे। पाँचों पाण्डव मुनियों के तन में आभूषण तपा-तपा कर पहनाये, फिर भी वे ध्यान में ही खड़े रहे। जब ऐसे पुरुषों पर भी उपसर्ग आये और उन्होंने उपसर्ग को समता से जीत लिया, तब तुम्हारे ऊपर तो कोई उपसर्ग नहीं है। अब तो तुम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप की आराधना करो। तुम्हें तप का फल मिलेगा। अगर समाधि के समय कुटुम्बी रोने लगें तो अपशकुन होता है, इसलिए उस समय सब को समाधिमरण, वैराग्य भावना, बारह भावना

ही सुनानी चाहिए और कहना चाहिए— मृत्यु तो मित्र उपकारी है, इसमें तुम घबराओ नहीं। शरीर मिट्टी है, पाषाण है। एक या दो मन पाषाण बांध करके जाओगे तो बेचने पर एक या दो पैसा मिलेगा, जिससे एक समय का भी पेट नहीं भरेगा और मणि को ले जाओगे तो बेचने पर काफी पैसा मिल जायेगा, जिससे समस्त जीवन की दरिद्रता नष्ट हो जायेगी। उसी प्रकार समता धारण कर शास्त्र का ज्ञान और चारित्र अथवा घोर तप करो। सम्यक्त्व सहित तप संसारपरिभ्रमण का नाश करके मोक्ष दिलाता है। जो प्राणी मुनियों के उपसर्ग दूर करता है, वह भी सातिशय पुण्य का उपार्जन करता है। जैसा सेठ सुदर्शन के जीव ने पूर्व भव में किया था।

सेठ सुदर्शन का जीव पहले भव में एक ग्वाला था। जो जंगल में गाय चराया करता था। वहाँ पर एक मुनिराज ध्यान में बैठे थे। जाड़ा पड़ रहा था, ठण्डी—ठण्डी हवा शरीर को बाधा पहुँचा रही थी। ग्वाले को उन पर दया आती है और वह सोचता है— कि ये साधु जंगल में बैठे हैं, नग्न हैं, इनका कोई प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे इन्हें ठंड न लगे। ग्वाले ने चारों ओर घास—फूस जला दिया। वैसे मुनिराज पर उपसर्ग था, लेकिन ग्वाले के भाव तो उनकी रक्षा करने के थे। उसी भाव के बल पर वह सेठ सुदर्शन बना जो तपस्या करके मोक्ष चले गये। इसलिए मुनिराज के उपसर्ग का निवारण करना साधुसमाधि है।

एक गुफा में बैठे हुए आत्मलीन मुनिराज की गंध पाकर जब सिंह उनको भक्षण करने के लिए गुफा की ओर झपटा, तब वहीं पर बैठे हुए एक शूकर ने उस सिंह का अभिप्राय जानकर मुनिराज के प्राण बचाने के लिए सिंह को गुफा में जाने से रोका। सिंह अपने बल मद में चूर था, अतः शूकर के रोकने पर गुफा में घुसने लगा, तब मुनिराज को आँच न आने पावे इस विचार से शूकर सिंह से भिड़ने लगा। इस प्रकार शूकर और सिंह का युद्ध प्रारम्भ हो गया। सिंह ने अपने पंजे से शूकर को घायल कर

दिया। अन्त में दोनों परस्पर लड़ते-लड़ते मर गये। शूकर ने मुनिराज की रक्षा के लिए प्राण दिये, इसलिए मरकर देव हुआ और सिंह ने मुनिराज को मारकर खाने के भाव से प्राणों को त्यागा, इसलिए नरक गया।

इसलिए रत्नत्रय के भण्डार, शान्तिपूँज, परम दयालु मुनिराज पर आये उपसर्ग को दूर करने में यदि प्राण भी चले जायें, तो धार्मिक पुरुष को पीछे नहीं हटना चाहिए। साधुसमाधि का एक अभिप्राय यह भी है।

जीवन्धरकुमार ने एक मरणोन्मुख कुत्ते को णमोकार मंत्र सुनाया तो तत्काल देव आयु का बन्ध कर वह पशु पर्याय को छोड़कर देव हो गया। पार्श्वकुमार ने जलते हुए नाग-नागिन का अन्त समय देखकर उनको णमोकार मंत्र सुनाया तो दोनों मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती हुए।

इससे स्पष्ट होता है कि समाधिमरण में सहायक होना महान उपकार है। अपने मित्र को शुभगति प्राप्त कराने के लिए उसके समाधिमरण में अवश्य सहायता देनी चाहिए। मरते समय न तो मनुष्य बोल सकता है और न कुछ स्मरण कर सकता है। अतः उसके हितैषी मित्रों का परम कर्तव्य है कि वे उस समय उसको वैराग्यवर्द्धक श्लोक, पद्य, गद्य, पाठ आदि सुनायें।

समाधिभाव के प्रेमीजीव जब कभी दूसरे धर्मात्माजनों पर संकट आया देखते हैं तो उन सब संकटों को दूर करने का उनका यत्न चला करता है। अपने आपको समाधिरूप बनाने का यत्न करें और यथाशक्ति अन्य जीवों के चित्त को समाधानरूप बनाने का यत्न करें, समाधि का परिणाम रखें, यह साधुसमाधि भावना है। इस भावना के प्रताप से यह ज्ञानीपुरुष ऐसी विशिष्ट पुण्यप्रकृति का बंध कर लेता है जिसके उदय में यह त्रिलोकाधिपति तीर्थंकर महापुरुष होता है।

साधु समाधि सदा मन लावै, तिहुँ जग भोग भोगि शिव जावै।

वैयावृत्य भावना

कर्म उदय से व्याधि उपजि, तन—मन से सेवा करना।
पत्थ्य—अपत्थ्य विचार करके, औषधि वैयावृत्य करना।
दश विध मुनियों के चरणों में, जा सर्व रोग को दूर करो।
वैयावृत्ति उनकी करके, निरोगता को शीघ्र वरो॥

कर्म के उदय से किसी साधक के शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जाये तो पत्थ्य—अपत्थ्य का विचार करके औषधि आदि के माध्यम से तन—मन से उनकी वैयावृत्ति करनी चाहिये। जो जीव दस प्रकार के मुनियों के चरणों में जाकर उनकी वैयावृत्ति आदि करके रोग को दूर करते हैं, वे सदैव निरोग रहते हैं।

कर्म के उदय से रोगों से पीड़ित मुनि तथा श्रावक को निर्दोष आहार, औषधि, वसतिका आदि देकर सेवा—शुश्रूषा करना, विनय करना, आदर करना, दुःख दूर करने का यत्न करना, यह सब वैयावृत्य है। जो तप द्वारा तपे हुए हों, किन्तु रोग सहित शरीर हो, उनका दुःख देखकर उनके लिए प्रासुक औषधि तथा पत्थ्य आदि द्वारा रोग का उपशम करना वैयावृत्य भावना है। साधुसमाधि भावना में अभ्यस्त पुरुष वैयावृत्य करने का सदा भाव रखता है। कितना प्रेम भरा होता है एक धर्मात्मापुरुष में? जो हो गये ज्ञानी पुरुष, वे वह सबकुछ स्वयमेव करते हैं जो उचित है।

बुन्देलखण्ड का एक पुराना चरित्र है। एक राजा मर गया, तो राजमाता को थोड़ा राज्यभार दिया गया और बाकी भाग बादशाह ने अपने हाथ में ले लिया। जब वह राजपुत्र बड़ा हुआ तो राजमाता ने निवेदन किया कि अब मेरा लड़का बड़ा हो गया, इसे राज्यभार दिया जाय। तो

बादशाह ने उसको बुलाया। राज्यमाता ने पहिले ही उसको खूब सिखा दिया था। बेटा! बादशाह यों पूछे, तो यों जवाब देना, यों पूछे तो यों जवाब देना, यों पूछे तो यों जवाब देना। राजपुत्र बोला—माँ! यदि बादशाह इनमें से एक भी बात न पूछे, तो क्या जवाब देंगे? राजमाता बोली—बेटा! अब तुम जरूर सभी प्रश्नों का उत्तर दे लोगे, जब तुम इतना तर्क उपस्थित कर सकते हो, तो तुम जरूर उत्तर दे लोगे। बादशाह के यहाँ जब राजपुत्र पहुँचा, तो बादशाह ने कुछ न पूछा, केवल दोनों हाथ राजपुत्र के पकड़ लिए और कहता है कि बोलो, अब तुम क्या कर सकते हो? तो राजपुत्र झूठ बोल उठा कि 'अब क्या है, अब तो मैं पूर्ण रक्षित हो गया। विवाह में भांवर के समय पुरुष स्त्री का एक हाथ पकड़ लेता है तो उसे उसकी जीवन भर रक्षा करनी पड़ती है। मेरे तो दोनों ही हाथ आपने पकड़ लिए, अब मुझे क्या डर है, मैं तो पूर्ण रक्षित हो गया। तो जिस ज्ञानी पुरुष में स्वयमेव ही कला प्रकट हुई, उसे अब व्यवहार की कलाओं को क्या समझाना है? ऐसे पुरुष दूसरे धर्मात्मा पुरुषों की योग्य वैयावृत्य करते हैं।

एक ऐसा कथानक है कि गौतम ऋषि ने एक बार बाण से बिंधे हुए पक्षी को अपनी गोद में पाया तो वह शिकारी आकर लड़ने लगा कि यह मेरा शिकार है, इसे तुम मुझे दे दो। तो गौतम बोले कि यह हंस तुम्हारा नहीं है, हमारा है। शिकारी बोला कि तुम्हारा कैसे है? हमने ही तो इसका शिकार किया है, हमारे ही द्वारा मारा हुआ बाण इसके बिंधा है। तो हमारा ही तो हुआ, तुम्हारा कैसे हुआ? गौतम बोले कि इस हंस का मालिक इसका मारनेवाला है या इसकी रक्षा करने वाला है? न्याय हेतु केस राजा के पास गया। वहाँ बात आयी कि इस हंस का मालिक कौन है? जो प्राण ले वह मालिक है या जो प्राणों की रक्षा करे वह मालिक है? आप सब भी अपने-अपने अनुभव से बतावो। जो प्राणी की रक्षा करे वह मालिक है। जो प्राण ले, वह मालिक नहीं है। तो यों ही जानो कि इस विश्व का नेता

कौन बन सकता है? जो सर्वविश्व की रक्षा का भाव करे, वही तो विश्व का नेता बन सकता है। चाहे कोई जानकर सेवा करे, चाहे किसी से दूसरे की सहज सेवा बन जाय, किन्तु जो सेवक है, उसी को ही स्वामी कहा जा सकता है। जो सेवक नहीं है, वह स्वामी नहीं है।

घर में रहने वाला बड़ा बूढ़ा आदमी जो घर का मालिक कहलाता है, घर में 10-5 बच्चा-बच्ची सभी हैं, उनका यह मालिक कहलाता है, स्वामी कहलाता है, तो वह घर का स्वामी यों ही हो गया क्या? घर के उन 10-5 लोगों की सेवा के लिए उनका दिल रखने के लिए अहर्निश परिश्रम करता है वह बड़ा-बूढ़ा। उनकी सेवा करता है, यों कहो। उस सेवा के बदले में वह घर का स्वामी कहलाता है। स्वामी वह होता है जो सेवा करता है। ज्ञानी अन्तरात्मा के विश्व के समस्त प्राणियों की सेवा का भाव रहता है और भावना ही नहीं, किन्तु उस तरह का आचरण भी होता है कि जिससे विश्व के प्राणियों का कल्याण हो। तो ऐसी वृत्ति में, ऐसे भाव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

मुनियों के दश भेद होने से वैयावृत्य के भी दश भेद हैं। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ— इन दश प्रकार के मुनियों की परस्पर में वैयावृत्य होती है। काय की चेष्टा द्वारा अन्य द्रव्यों से दुःख/वेदन आदि दूर करने का कार्य— व्यापार करना, वह वैयावृत्य है।

पँचाचार पालने में तत्पर, शास्त्रों के ज्ञाता, प्रायश्चित्त देने में कुशल, संघ के नायक, छत्तीस मूलगुणों के धारी मुनिराज को 'आचार्य' कहते हैं। जिनका सामीप्य प्राप्त करके आगम का अध्ययन करते हैं ऐसे व्रत, शील, श्रुत के आधार उपाध्याय हैं। जो महान अनशनादि तप करने वाले हैं, वे तपस्वी हैं। जो निरन्तर श्रुत के शिक्षण में तत्पर तथा व्रतों की भावना में तत्पर रहते हैं, वे 'शैक्ष्य' हैं। रोगादि के द्वारा जिन का शरीर दुःखी हो, वे 'ग्लान' हैं। जो वृद्ध मुनियों की परिपाटी के हों, वे 'गण' हैं। अपने को

दीक्षा देनेवाले आचार्य के जो शिष्य हैं, वे 'कुल' हैं। ऋषि, यति, मुनि, अनगार इन चार प्रकार के मुनियों का जो समूह है, वह 'संघ' है। बहुत समय से जो दीक्षित हों, वे 'साधु' हैं। जो पण्डितपने द्वारा, ऊँचे कुल द्वारा (प्रसिद्ध गुरु का शिष्य होना) लोगों में मान्य होकर धर्म का, गुरुकुल का गौरवपना उत्पन्न करनेवाले हों— बढ़ानेवाले हों, वे 'मनोज्ञ' हैं।

इन दश प्रकार के मुनियों को रोग आ जाय, परीषहों से दुःखी होकर तथा श्रद्धानादि बिगड़ जाने से मिथ्यात्व आदि को प्राप्त हो जाँय, तो प्रासुक औषधि, भोजन—पानी, योग्य स्थान, आसन, तखत, तृणादि की बिछावन करके, पुस्तक—पीछी आदि धर्मोपकरण द्वारा प्रतिकार—उपकार करना, तथा पुनः सम्यक्त्व में स्थापित करना इत्यादि उपकार करना वह वैयावृत्य है। यदि बाह्य में भोजन—पानी—औषधि देना सम्भव नहीं हो तो अपने शरीर द्वारा ही उनका कफ, नाक का मैल, मूत्रादि दूर कर देने से तथा उनके अनुकूल आचरण करने से वैयावृत्य होती है।

इस वैयावृत्य में संयम की स्थापना, ग्लानि का अभाव, प्रवचन में वात्सल्यता, सनाथपना इत्यादि अनेक गुण प्रकट होते हैं। वैयावृत्य ही परम धर्म है। वैयावृत्य नहीं हो तो मोक्षमार्ग बिगड़ जायेगा। आचार्य आदि अपने शिष्य, मुनि, रोगी इत्यादि की वैयावृत्य करने से बहुत विशुद्धता व उच्चता को प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार श्रावक भी मुनियों की वैयावृत्य करें, तथा श्राविकायें आर्यिकायों की वैयावृत्य करें।

औषधिदान द्वारा भी वैयावृत्य करें, भक्तिपूर्वक युक्ति से देह का आधार आहारदान देकर वैयावृत्य करें। कर्म के उदय से कोई दोष लग गया हो तो उसे ढाँकना, श्रद्धान से चलायमान हो गया हो तो उसे सम्यग्दर्शन ग्रहण कराना, जिनेन्द्र के मार्ग से बिछुड़ गया हो तो उसे मार्ग में स्थापित करना इत्यादि उपकार द्वारा भी वैयावृत्य होती है।

जो आचार्य आदि गुरु शिष्य को श्रुत के अंग पढ़ाते हैं तथा

व्रत—संयम आदि की शुद्धि का उपदेश देते हैं, वह शिष्य की वैयावृत्य है। शिष्य भी गुरुओं की आज्ञा के अनुसार प्रवर्तता हुआ गुरुओं के चरणों की सेवा करे, वह आचार्य की वैयावृत्य है।

रोगी मुनियों के तथा गुरुओं के प्रातः एवं संध्याकाल (आथण) शयन, आसन, कमंडलु, पीच्छि, पुस्तक अच्छी तरह नेत्रों से देखकर मयूर पीच्छि से शोधना; अशक्त रोगी मुनियों का आहार—औषधि आदि द्वारा संयम के योग्य उपचार करना, शुद्ध ग्रन्थ को बांचकर, धर्म का उपदेश देकर परिणामों को धर्म में लीन कराना, तथा बैठाना, मल—मूत्र कराना, करवट लिवाना इत्यादि सब वैयावृत्य है।

कोई साधु रास्ते में दुःखी हुआ हो, भील, म्लेच्छ, दुष्ट राजा, दुष्ट तिर्यचों द्वारा दुःखी हुआ हो, उपद्रव रूप हुआ हो, दुर्भिक्ष, मरी—व्याधी, इत्यादि उपद्रवों से पीड़ा होने से परिणाम कायर हुए हों, तो उसे स्थान देकर कुशल पूछकर आदर से सिद्धान्त की शिक्षा देकर स्थितिकरण करना, वह वैयावृत्य है।

जो समर्थ होकरके भी अपने बल—वीर्य को छिपाकर वैयावृत्य नहीं करता है, वह धर्मरहित है। उसने तीर्थकरों की आज्ञा भंग की, श्रुत द्वारा उपदेशित धर्म की विराधना की, अपना आचार बिगाड़ लिया, प्रभावना नष्ट की, धर्मात्मा का आपत्ति में भी उपकार नहीं किया, तब धर्म से विमुख हुआ, श्रुत की आज्ञा लोपने से परमागम से पराङ्मुख हुआ।

वैयावृत्य से ऐसे परिणाम होते हैं कि अहो! मोह अग्नि से जलते हुए जगत में एक दिगम्बर मुनि ही ज्ञानरूप जल के द्वारा मोहरूप अग्नि को बुझाकर आत्मकल्याण करते हैं। वे धन्य हैं जो काम को मारकर, रागद्वेष को त्यागकर, इंद्रियों को जीतकर आत्मा के हित में उद्यमी हुए हैं। ये लोकोत्तर गुणों के धारी हैं। मुझे ऐसे गुणवंतों के चरणों की शरण ही प्राप्त हो। इस प्रकार के गुणों में परिणाम वैयावृत्य से ही होते हैं। जैसे—जैसे

गुणों में परिणाम मग्न होते हैं, वैसे-वैसे श्रद्धान बढ़ता है और जब श्रद्धान बढ़ता है, तब धर्म में प्रीति बढ़ती है, जिससे धर्म के नायक अरहन्तादि पंच परमेष्ठी के गुणों में अनुरागरूप भक्ति बढ़ती है। पाँच महाव्रतों सहित, कषायों से रहित, राग-द्वेष को जीतनेवाले श्रुतज्ञानरूप रत्नों के विधान, ऐसे पात्र का लाभ वैयावृत्य करने वाले को होता है। जिसने रत्नत्रयधारी की वैयावृत्य की, उसने स्वयं को तथा दूसरों को मोक्षमार्ग में स्थापित कर लिया।

अर्द्धचक्री नारायण श्रीकृष्ण की राजधानी द्वारिका में एक मुनिराज पधारे। कृष्ण को उनका रोग देखकर बड़ा दुःख हुआ। वे इस चिंता में पड़ गये कि इनका यह रोग कैसे दूर किया जाए? उन्होंने एक वैद्य से बहुत से औषधियुक्त लड्डू बनवाकर सारे नगर में बाँट दिये, जिससे कि मुनिराज चाहे नगर के किसी भी घर में आहार करें, वहाँ लड्डू का आहार दिया जाये। सारे नगर में यह सूचना करवा दी। अब मुनिराज जिस घर में जावें, उसी घर लड्डू मिलें। फल यह हुआ कि उनका रोग आठ दिनों में ही मिट गया। जैसे-जैसे रोग दूर होता था, वैसे ही श्री कृष्ण का हर्ष बढ़ता था। वे निरंतर षोडशकारण भावना भाते थे। फलतः उन मुनिराज की वैयावृत्ति के कारण उन्हें तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध हुआ।

धन खर्च कर देना सुलभ है, किन्तु रोगी की टहल-सेवा करना दुर्लभ है। वैयावृत्य भावना भाने से तीर्थंकर नाम की प्रकृति का बंध होता है। जो कोई श्रावक या साधु वैयावृत्य करता है, जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार छःकाय के जीवों की रक्षा करने में सावधान रहते हैं, उनसे समस्त प्राणियों की वैयावृत्य होती है।

वैयावृत्य के विवरण से मूल शिक्षा — इस 'वैयावृत्य' शब्द के ही अर्थ से दो काम तो अपने समझ लीजिये — (1) निजशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप अन्तस्तत्त्व की दृष्टि रखिये, उसके निकट रहिये, आश्रय करिये, सबको भूल जाइये, सबसे ऊँचा यह काम है, महान् पुरुषार्थ की बात है यह। इस

का संस्कार रखिये। और यदि ऐसा उपयोग न बनाया जा सके, तो पर के उपकार में अपनी वृत्ति रखिये। पर का उपकार भी हम अपने भले के लिए कर रहे हैं कि मेरा परिणाम शुभ रह जाय, विषय—कषायों में न बह जाय। इसके लिए परोपकार धर्म अंगीकार किया जा रहा है। दूसरों पर ऐंठ बगराने के लिए, दूसरों को ताना मारने के लिए परोपकार नहीं होता। किसी को बढ़िया भोजन खिला दिया जाय और खा चुकने पर यों कहा जाय कि कितना बढ़िया भोजन खिलाया तुम्हें ? हाँ, साहब! बहुत अच्छा खिलाया। ऐसा तो तुम्हारे बाप ने भी कभी न खाया होगा। अहो! इस ताने से उसके चित्त में यह आ जाता है कि कोई ऐसी दवा पी लें कि अभी मरण हो जाये। परोपकार ताना देने के लिए होता है क्या? परोपकार तो इस विवेकी ने अपनी रक्षा के लिए किया है। इस कारण परोपकार करके भूल जाना चाहिए कि मैंने किसी का परोपकार किया।

भैया! करते जावो परोपकार और भूलते जावो इस बात को कि मैंने परोपकार किया। यों निष्कपट भाव से, शुद्ध आशय सहित, जीवों की सेवा करना, उनको संकटों से बचाना, धर्म में उन्हें स्थिर करना, यह सब वैयावृत्य है। ऐसी भावना ज्ञानीपुरुष में होती है और इस भावना के प्रसाद से वह ऐसी महती पुण्यप्रकृति का बंध करता है कि जिससे अगले भव में उत्पन्न होने से पहिले ही दुनियाँ में आनन्द की खलबली मचने लगती है। जन्म के समय में भी और उनके जीवन के अनेक विशेष समयों में भी। कुछ भी हो, इसकी भी आशा न करना, किन्तु अपना प्रथम बचाव करना है और आत्मतत्त्व का शुद्धस्वरूप निहारना है। इसके प्रयोजन में वैयावृत्य की भावना रखनी चाहिए।

निशदिन वैयावृत्य करैया, सो निहचै भव—नीर तिरैया।

अरहन्त भक्ति भावना

ओम ध्वनि जिनकी खिरती है, केवलज्ञान से पूर्ण हैं।
दोष अठारह रहित हुये, और किये कर्म को चूर्ण हैं॥
आठ प्रातिहार्यों से शोभित, अनन्तचतुष्टय धारी हैं।
ऐसे अरहन्त की पूजा कर, सुख मिलता अति भारी है॥

जिनकी ओम रूपी दिव्यध्वनि खिरती है, जो केवलज्ञान से पूर्ण हैं, जो अठारह दोषों से रहित हैं, चार घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है, जो आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं, अनन्तचतुष्टय के धारी हैं, ऐसे अरहन्त भगवान् की मन, वचन, काय द्वारा भक्ति करना, 'अरहन्त भक्ति' है।

जिसने पूर्वजन्म में सोलहकारण भावना भाई थी, वह तीर्थंकर अरहन्त होता है। उनके सोलहकारण भावना से उत्पन्न अद्भुत पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग के देव यहाँ आकर गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष कल्याणक मनाते हैं। भगवान् का उपदेश होने के लिए देव रत्नमयी समवसरण की रचना करते हैं। पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचा, जिसकी बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं, उसके ऊपर बारह योजन प्रमाण इन्द्रनील मणिमय गोल भूमि, उसके ऊपर अप्रमाण महिमा सहित समवसरण की रचना होती है। जहाँ समवसरण की रचना होती है व भगवान् का विहार होता है, वहाँ अंधों को दिखने लगता है, बहरे सुनने लग जाते हैं, लूले चलने लग जाते हैं, गूँगे बोलने लग जाते हैं।

पूज्य के गुणों के प्रति विशेष अनुराग होना 'भक्ति' कहलाती है। कहा है— 'पूज्येषु गुणानुरागो भक्ति।' और भी कहा है—

**मनसा कर्मणा वाचा जिननामाक्षरक्ष्यम् ।
सदैव स्मर्यते यत्र सार्हद्भक्तिः प्रकीर्तिते ॥**

अरहंत भक्ति वह है, जिसमें मन, वचन, काय द्वारा जिननाम के अक्षरों का निरंतर स्मरण किया जाता है। जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति द्वारा हृदय के परिपूर्ण होने पर वह भव्यात्मा निरंतर जिनेश्वर के पुण्य नाम को जपता है, उनकी आध्यात्मिक अमृत को वर्षाने वाली पावन जीवनी को पढ़ता है और उनके सर्वोच्च गुणों का विचार करता है।

भीषण वन में छोड़ी गई सती शिरोमणि सीता ने राम को संदेश में कहा था—

‘जिनधर्मे मा मुंचो भक्तिं यथा त्यक्ताहमहिशी’

जैसे लोकापवाद से तुमने मेरा परित्याग किया है, इस प्रकार कहीं जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति का परित्याग नहीं कर बैठना, क्योंकि—

‘सम्यग्दर्शन रत्नं तु साम्राज्यदीप सुदुर्लभम् ।’

‘सम्यग्दर्शन रूपी रत्न साम्राज्य की अपेक्षा अधिक दुर्लभ है। जिन भक्ति के द्वारा यह जीव सप्त परम स्थानों का स्वामी होता है।

सज्जातिः सद्गृस्थत्वं परिव्रज्यं सुरेन्द्रता ।

साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने ‘भावपाहुड़’ में लिखा है—

जिनवर चरणंबरुहं णमंति जे परमभक्तिरायेण ।

ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥153॥

जो सत्पुरुष श्रेष्ठ भक्तिरूप प्रशस्त रागभाव से जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों को प्रणाम करते हैं, वे श्रेष्ठ भावरूप शस्त्र से संसाररूप बेल की जड़ का उच्छेद करते हैं।

मुक्ति का कारण राग—द्वेष का अभाव होकर वीतरागता की ओर प्रवृत्ति करना है। जिसके हृदय में वीतराग जिनेन्द्र बस जाते हैं, उसके

दुष्ट कर्मों का क्षय बहुत शीघ्रता से आरंभ हो जाता है। कल्याणमंदिर स्तोत्र में कहा है—

**हृद्वर्तिनि त्वयि विभो! शिथिली-भवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः।**

सद्यो भुजङ्गमचया इव मध्यभागम—

भ्यागते वन शिखण्डिनि चन्दनस्य॥४१॥

हे प्रभो! आपके हृदय में विराजमान होने पर जीव के अत्यंत सुदृढ़ कर्मों के बन्धन उसी प्रकार शिथिलता को प्राप्त हो जाते हैं जिस प्रकार मयूर के आने पर चंदन वृक्ष के मध्यभाग में लिपटे हुए सर्पों के बंधन तत्काल ढीले हो जाते हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है—

अव्याबाधमचिन्त्य सारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं।

सौख्यं त्वच्चरणारविन्द युगलं स्तुत्यैव संप्राप्यते॥४१॥

भगवन्! सम्पूर्ण बाधाओं से विमुक्त अचिन्त्य रूप, अतुल, अनुपम तथा अविनाशी सुख की प्राप्ति आपके चरणारविंदों की स्तुतिद्वारा ही होती है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति का प्रत्यक्ष फल स्वयं अपने जीवन में अनुभव किया था। एक बार उनके नेत्रों की ज्योति चली गई थी, उस समय उन्होंने शांतिनाथ भगवान् की स्तुतिरूप 'शान्त्यष्टक' की रचना कर भक्ति की थी—

‘कारुण्यान्मम भक्तिकस्य विभो! दृष्टिं प्रसन्नां कुरु।’

भगवन्! करुणा करके मुझ भक्त की दृष्टि को निर्मल कर दीजिए। तत्काल कर्मों का तीव्र उदय मंद हो गया और नेत्रों में ज्योति आ गई। पूज्यपाद स्वामी ने बाल्यकाल में ही दिगंबर मुद्रा धारण कर संघनायक आचार्य का पद प्राप्त किया था। वे सदा हृदय में यही अध्यात्म भावना प्रदीप्त रखते थे— मयाहमेव उपास्यः (समाधिशतक ३१) मेरे द्वारा मेरी

आत्मा ही उपास्य है, आराधना के योग्य है, क्योंकि जो परमात्मा है, वह मैं हूँ।

यः परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥३१॥

इस उच्च अध्यात्म चिंतन की देशना करनेवाले महर्षि वृद्धावस्था में अपनी आराधना के फलस्वरूप भगवान् से यह प्रार्थना करते हैं— जिनेश्वर! आपकी बाल्यकाल से अब तक की गई आराधना का मुझे यही प्रसाद चाहिए कि परलोक प्रयाण काल में मेरा कण्ठ स्पष्ट रूप से आपका पावन नाम स्मरण करने की शक्ति से समन्वित रहा आवे।

महान् महिमाशाली समंतभद्र स्वामी, जिनकी भक्ति की श्रेष्ठता के कारण पाषाण पिण्ड के भीतर से भगवान् चंद्रप्रभु तीर्थंकर की दिव्य प्रतिमा प्रादुर्भूत हुई थी, ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में कहा है— 'पंच नमस्कार मनास्तनुंत्यजेत् सर्व—यत्नेन'। (128)पूर्ण सावधानीपूर्वक पंचनमस्कार मंत्र में चित्त को लगाकर अपने शरीर का परित्याग करें। यह सच्ची जिनेन्द्र भक्ति सम्यक्त्व रूप है। यह भक्तिरूप सम्यग्दर्शन की ज्योति जिस आत्मा को प्रकाशित करती है, उसका अद्भुत, विकास और उन्नति हुआ करती है।

जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने से सातिशय पुण्य की प्राप्ति होती है। संसार के रंगमंच पर प्रत्येक प्राणी अनादिकाल से पुण्य—पापानुसार नाना प्रकार के अभिनय करता आ रहा है। "शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है। पुण्य की व्याख्या करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'प्रवचनसार' ग्रंथ में लिखते हैं— 'सुह परिणामो पुण्यम्' शुभ परिणाम पुण्य है। शुभ भावों द्वारा होने वाली क्रियाओं से जो पुण्य होता है, वह जीव को आपत्तियों से बचाता है। पुण्य से ही चक्रवर्ती, नारायण, तीर्थंकर आदि पदवियों को प्राप्त करता है। पुण्य

क्रिया के व शुभ परिणामों के बल पर ही अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व का खण्डन करने में समर्थ होता है। सम्यक्त्व के सन्मुख होनेवाला जीव करणलब्धि की प्राप्ति रूप योग्यता को उससे पूर्व होनेवाली प्रायोग्यलब्धि में ही करता है, जहाँ प्रतिसमय असंख्यात गुणी अशुभ कर्मों की हानि व शुभ कर्मों की वृद्धि के बल पर ही कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को नाश कर अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति में करता है। जब तक जीव को प्रयोग्य लब्धि की प्राप्ति व उसके द्वारा होनेवाली उत्कृष्ट कर्मस्थिति का छेदन नहीं होता, तब तक यह जीव करणलब्धि की योग्यता को प्राप्त नहीं कर सकता, जो सम्यक्त्व संसार की अनन्त स्थिति को काटकर अधिकाधिक अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन काल को प्राप्त करता है, यानि सम्यग्दृष्टि जीव का संसारकाल अधिकाधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन मात्र शेष रह जाता है।

सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, व्रतादि रूप परिणाम तथा कषाय निग्रह रूप गुणों से परिणत आत्मा पुण्यजीव है, इसीलिए पुण्य की परिभाषा करते हुये आचार्य पूज्यपाद स्वामी 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखते हैं—

“पुनात्यात्मानं पूयते—पवित्री क्रियते नेनेति वा पुण्यम्” जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, उसे पुण्य कहते हैं। पुण्यात्मा का हर जगह आदर-सत्कार होता है। जब तक उसका पुण्य है। तब तक उस पूर्व पुण्य के आधार पर गलत कार्य करते हुये भी उसे सम्मान प्राप्त होता है।

एक नगर में पूर्व पुण्य की पूँजी से युक्त एक सेठ निवास करता था। सेठ के पास अपार धन-संपत्ति थी, परन्तु पुत्ररत्न की कमी थी। समय अपनी गति से गुजरता गया। चिर प्रतीक्षा के पश्चात् सेठ जी के पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र का जन्मोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। सुख की घड़ियाँ कैसे व्यतीत हो जाती हैं, पता नहीं चलता। बालक ने बाल्यावस्था

से कुमारावस्था में प्रवेश किया। एक दिन पिताजी किसी कार्य हेतु बाहर गये हुए थे, तब सेठानी ने पुत्र से दुकान पर जाकर बैठने को कहा। बालक मुनीम जी को साथ लेकर दुकान पर जाता है उसे सामने से गुजरते हुए 4-5 व्यक्ति नजर आते हैं। उसमें एक अपराधी है, चार पुलिस वाले उसकी हथकड़ी पकड़े जा रहे हैं। बालक ना-समझ था। उसने प्रथम बार ऐसा दृश्य देखा था। पुण्य के वैभव में पला बालक पाप या अपराध क्या होता है, नहीं जानता है। वह उत्सुकतावश मुनीम जी से पूछता है— मुनीम जी! ये कैसा सुख है ? ऐसा सुख तो मैंने जीवन में कभी नहीं देखा।

सेठ के पुत्र की जिज्ञासा शान्त करने हेतु मुनीम विचार करता है कि इसे भी कुछ सबक सिखाया जाये। वह पुत्र से कहता है— देख, बेटा! तुझे भी यह सुख चाहिये तो एक काम करना, राज्य दरबार में जाना व राजा को प्रणाम करने के बाद राजा के मुकुट में हाथ का एक झटका देकर उसे गिरा देना, बस, तुझे भी ऐसा सुख मिल जायेगा। पुत्र ने मुनीम की बात को सत्य मानकर वैसा ही किया। जब राजा का मुकुट राजा के मस्तक से नीचे गिरा तो उसमें सांप का एक छोटा बच्चा दिखाई दिया, जिसे देखकर राजा का क्रोध हर्ष में परिवर्तित हो गया। राजा सोचने लगा कि इसे कैसे ज्ञात हुआ यह सबकुछ ? उसने तो आज मेरा जीवन ही बचा लिया। ऐसा सोच राजा ने उसे बहुत-सा धन देकर सम्मान कर विदा कर दिया। पुत्र ने आकर मुनीम जी से कहा, वाह मुनीम जी! आप भी हमें बच्चा समझ बहका देते हो। आपके कहे अनुसार मैंने कार्य किया, फिर भी मुझे वह सुख नहीं मिला। अरे! धन मिला, तो क्या मिला ? यह तो हमारे पिताजी के पास अपार है।

सेठ के पुत्र की ऐसी अजब निराली बात को सुनकर मुनीम ने कहा— अच्छा, एक काम करना, एक दिन शनिवार को सायंकाल राजभवन में

पहुँचना। उस दिन राजा कुछ समय मनोविनोद के लिए एक झरोखे में बैठते हैं। तू पूर्ववत् नमस्कार करना और राजा को नीचे गिरा देना। तुझे वह सुख इस बार अवश्य ही मिल जायेगा। बालक हेयोपादेय का विचार न कर उस सुख को पाने की जिज्ञासा में ठीक समय पर राजभवन में प्रवेश करता है। राजा अपने महल के झरोखे में बैठे हुए थे। वह जाकर प्रणाम करता है और सड़क की ओर देखने लगता है। राजा भी उस पुत्र से परिचित तो था ही, वह भी खड़े होकर नीचे की ओर देखने लगता है। पुत्र मौका पाकर धक्का दे देता है। उस झरोखे के नीचे रुई का ढेर लगा हुआ था, अतः राजा को कोई चोट नहीं लगती। वह एक तरफ खड़े होकर कुछ सोचना ही चाहता है कि इतने में उस झरोखे की दीवार गिर जाती है। अब तो राजा बिना सोचे ही सबकुछ समझ गया कि यह बालक कोई बालक नहीं, देवता है या ज्योतिषी है। सामान्य मनुष्य को तो ज्ञान हो ही नहीं सकता। यह कैसे ज्ञात करता है ? दो बार इसने मेरे जीवन की रक्षा की है। इस बार राजा ने राजसभा में उसका विशेष सम्मान कर बहुत-सा धन देकर विदा किया।

पुत्र के घर आने पर पुत्र द्वारा बताई वार्ता से सभी आश्चर्यान्वित होते हैं, लेकिन पुत्र की जिज्ञासा शान्त अब भी नहीं हुई, क्योंकि उसे वह सुख प्राप्त नहीं हो सका। मुनीम जी से मिलने पर अपनी बात पूर्ववत् मुनीम जी से कहता है। मुनीम जी समझ जाते हैं कि इसका पुण्य सेठ जी से भी अधिक है, जिससे इसके गलत कार्य को भी सभी सम्मान देते हैं। मुनीम जी समझाते हैं — देखो, बेटा! यह सुख नहीं, दुःख है। मैंने जो कार्य बताये वह गलत थे, अपराध स्वरूप थे, जिससे राजा तुम्हें उस अपराधी से भी अधिक दण्डित करता, लेकिन तुम्हारे तीव्र पुण्योदय ने तुम्हें अपमान की जगह सम्मान दिलाया है। यह सब तुम्हारे पुण्य की महिमा है।

अरहन्त भगवान् की भक्ति ही संसारसमुद्र में डूबते हुए लोगों को

हस्तावलम्बन देनेवाली है। हमारे लिये भव—भव में जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति ही शरण है। भगवान् की भक्ति से पापों का क्षय तथा पुण्य का संचय होता है। यह अरहन्त भक्ति संसारसमुद्र से तारनेवाली है, उसका निरन्तर चिंतवन करो। अरहन्त भक्ति नरकादि गति को हरनेवाली है। जो अरहन्त भक्ति भावना भाते हैं, वे देवों के सुख भोगकर, फिर मनुष्य का सुख भोगकर अविनाशी सुख के धारी अक्षय अविनाशी सिद्धों के जैसे सुख को प्राप्त करते हैं।

जो अरहंत—भगति मन आनै, सो जन विषय कषाय न जानै।

आचार्य भक्ति भावना

धर्मोपदेशक धर्मधुरन्धर, मेघावी आचार्य हैं।
छत्तीस गुणों का पालन करते, शिष्यानुग्रह कार्य है॥
तीर्थकर के प्रतिनिधि हैं, करते परउपकार हैं।
आचार्यों की भक्ति करके, पाते जीवन—सार हैं॥

जो धर्मोपदेशक हैं, धर्म धुरन्धर हैं, मेघावी अर्थात् प्रज्ञा सम्पन्न हैं, छत्तीस गुणों का पालन करते हैं, शिष्यों पर अनुग्रह करते हैं, तीर्थकर के प्रतिनिधि हैं, पर जीवों का उपकार करते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। आचार्यों के गुणों में अनुराग रखना “आचार्य भक्ति” है। जो आचार्यों की भक्ति करता है, वह रत्नत्रय को धारण कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

वे धन्यभाग हैं, जिन्हें वीतरागी गुरुओं के गुणों में अनुराग होता है। धन्य पुरुषों के मस्तक के ऊपर गुरुओं की आज्ञा प्रवर्तती है। आचार्य तो अनेक गुणों की खान हैं। कैसे होते हैं आचार्य? जिनका अनशन आदि बारह प्रकार के उज्ज्वल तपों में निरन्तर उद्यम है, छह आवश्यक क्रियाओं में सावधान हैं, मन—वचन—काय की गुप्ति सहित हैं, ऐसे छत्तीस गुणों के धारी आचार्य होते हैं। सम्यग्दर्शनाचार को निर्दोष धारण करते हैं। सम्यग्ज्ञान की शुद्धता से युक्त हैं। तेरह प्रकार के चारित्र की शुद्धता के धारक हैं। तपश्चरण में उत्साह युक्त हैं, तथा अपनी शक्ति को नहीं

छिपाते हुए बाईस परीषहों को जीतने में समर्थ, ऐसे निरन्तर पंच आचार के धारक होते हैं।

अंतरंग—बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, निर्ग्रन्थ मार्ग में गमन करने में तत्पर हैं, उपवास, पंचोपवास, पक्षोपवास, मासोपवास करने में तत्पर हैं, तथा निर्जन वन में, पर्वतों के दराड़े में, गुफाओं के स्थान में निश्चल शुभ ध्यान में मन को धारते हैं।

शिष्यों की योग्यता को अच्छी तरह से जानकर दीक्षा देने में व शिक्षा देने में निपुण हैं, युक्ति से सब प्रकार के नयों के जाननेवाले हैं, अपने शरीर से ममत्व छोड़कर रहते हैं, सदा संसार—कूप में पतन हो जाने से भयवान् रहते हैं। जिन्होंने मन—वचन—काय की शुद्धता सहित नासिका के अग्रभाग में नेत्रयुगल को स्थापित किया है, ऐसे आचार्य को मस्तक सहित अपने सभी अंगों को पृथ्वी में नवाकर वंदन करना चाहिए। इस प्रकार संसार परिभ्रमण के क्लेश को नष्ट करनेवाली आचार्यभक्ति है।

जो आचार्य हैं वे समस्त धर्म के नायक हैं। आचार्यों के आधार से समस्त धर्म है। अतः उन्हें ही आचार्य बनना चाहिए जो उच्च कुल में उत्पन्न हुए हों। जिनके स्वरूप को देखते ही परिणाम शांत हो जायें, ऐसे मनोहर रूप वाले हों; जिनका उच्च आचार जगत में प्रसिद्ध हो; पहले गृहस्थ अवस्था में भी कभी हीन आचार निंद्य व्यवहार नहीं किया हो; वर्तमान भोग सम्पदा छोड़कर विरक्तता को प्राप्त हुए हों। लौकिक व्यवहार तथा परमार्थ के ज्ञाता हों। बुद्धि की प्रबलता तथा तप की प्रबलता के धारक हों।

संघ के अन्य मुनियों से जैसा तप नहीं बन सके वैसे तप के धारक हों। बहुत काल के दीक्षित हों। बहुत काल तक गुरुओं का चरणसेवन किया हो। वचन में अतिशय सहित हों। जिनके वचन सुनते ही धर्म में दृढ़ता हो। संशय का अभाव हो। जो संसार—शरीर—भोगों से दृढ़—निश्चल

विरागता वाले हों। सिद्धान्त सूत्र के अर्थ के पारगामी हों। इंद्रियों का दमन करके इसलोक—परलोक संबंधी भोग—विलास रहित हों। देहादि में निर्ममत्व हों। महाधीर हो। उपसर्ग—परीषहों से जिन का चित्त कभी चलायमान नहीं हो।

स्वमत—परमत के ज्ञाता हों। अनेकान्त विद्या में क्रीड़ा करनेवाले हों, अन्य के प्रश्न आदि का कायरता रहित तत्काल उत्तर देनेवाले हों, एकान्त पक्ष का खंडन कर सत्यार्थ धर्म की स्थापना करने की जिनमें सामर्थ्य हो, धर्म की प्रभावना करने में उद्यमी हों। गुरुओं के निकट प्रायश्चित आदि शास्त्र पढ़कर छत्तीस गुणों के धारक हों। उन्हें समस्त संघ की साक्षीपूर्वक गुरुओं का दिया आचार्य पद प्राप्त होता है।

आचार्य के आठ गुण : आचार्य के अन्य अष्ट गुण हैं, जिनका धारण करनेवाला ही आचार्य होना चाहिए। आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकर्त्ता, अपायोपायविदर्शी, अवपीडक, अपरिस्रावी, निर्यापक— ये आठ गुण हैं।

आचारवान् : जो पाँच प्रकार का आचार धारण करता है, उसे आचारवान् कहते हैं। भगवान् सर्वज्ञ वीतराग देव ने अपने दिव्य निरावरण ज्ञान द्वारा जीवादि तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखकर कहा है, उनमें सम्यक्श्रद्धान रूप परिणति होना, वह दर्शनाचार है। स्व—पर तत्त्वों का निर्बाध आगम और आत्मानुभव से जाननेरूप प्रवृत्ति, वह ज्ञानाचार है। हिंसादि पाँच पापों के अभावरूप प्रवृत्ति, वह चारित्राचार है। अंतरंग—बहिरंग तप में प्रवृत्ति, वह तपाचार है। परीषह आदि आने पर अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर धीरतारूप प्रवृत्ति, वह वीर्याचार है। और भी दश प्रकार के स्थिति कल्प आदि आचार में तत्पर हों।

पाँच प्रकार का आचार आप स्वयं निर्दोष पालें तथा अन्य शिष्यों को भी निर्दोष आचरण कराने में उद्यमी हों, वही आचार्य हैं। यदि आचार्य स्वयं

ही हीनाचारी हों, तो वह शिष्यों से शुद्ध आचरण नहीं करा सकेंगे। जो हीनाचारी होगा, वह आहार, विहार, उपकरण, वसतिकादि अशुद्ध ग्रहण करा देगा। जो स्वयं ही आचारहीन होगा, वह शुद्ध उपदेश नहीं कर सकेगा। इसलिये आचार्य को आचारवान् ही होना चाहिये।

आधारवान् : जिनके जिनेन्द्र का कहा चारों अनुयोग का आधार हो, स्याद्वाद विद्या के पारगामी हों, शब्द विद्या, न्याय विद्या, सिद्धान्त विद्या के पारगामी हों। प्रमाण, नय, निक्षेप द्वारा व स्वानुभव के द्वारा भली प्रकार से जिसने तत्त्वों का निर्णय किया हो, वह आधारवान् है। जिसके श्रुत का आधार नहीं हो वह अन्य शिष्यों का संशय, एकान्तरूप हठ तथा मिथ्याचरण का निराकरण नहीं कर सकेगा।

अनंतानंत काल से परिभ्रमण करते आये जीव को अति दुर्लभ मनुष्य जन्म की प्राप्ति, उसमें भी उत्तम देश, जाति, कुल, इन्द्रियों की पूर्णता, दीर्घायु, सत्संगति, श्रद्धान, ज्ञान, आचरण— ये उत्तरोत्तर दुर्लभ संयोग पाकर, यदि अल्पज्ञानी गुरु के पास रहने वाला शिष्य हुआ तो वह सत्यार्थ उपदेश नहीं प्राप्त करने के कारण, अपना स्वरूप यथार्थ नहीं जानकर संशयरूप हो जायेगा तथा मोक्षमार्ग को अतिदूर अतिकठिन जानकर रत्नत्रय मार्ग से विचलित हो जायेगा।

सत्यार्थ उपदेश के बिना वह विषय—कषायों में उलझे मन को निकालने में समर्थ नहीं होगा, तथा रोगकृत वेदना में व उपसर्ग परीषहों से विचलित हुये भावों को शास्त्र के अतिशयरूप के उपदेश बिना वह थामने को समर्थ नहीं होगा; यदि मरण आ जाये, तब सन्यास के अवसर में आहारा—पान के त्याग का यथा अवसर देश—काल सहायक—सामर्थ्य के क्रम को समझे बिना शिष्य के भाव विचलित हो जायें आर्तध्यान हो जाये या तो सुगति बिगड़ जायेगी, धर्म का अपवाद होगा, अन्य मुनि भी धर्म में शिथिल हो जायेंगे, यह तो बड़ा अनर्थ है।

यह मनुष्य आहारमय है, आहार से ही जी रहा है, आहार की ही निरंतर वांछा करता है। जब रोग के कारण या त्याग कर देने से आहार छूट जाता है तथा दुःख से ज्ञान-चारित्र में शिथिल हो जाता है, धर्म्यध्यान रहित हो जाता है, तब बहुश्रुत गुरु ऐसा उपदेश देते हैं, जिससे क्षुधा-तृषा की वेदना रहित होकर उपदेशरूप अमृत से सींचा हुआ समस्त क्लेशरहित हुआ धर्म्यध्यान में लीन हो जाता है। क्षुधा, तृषा, रोगादि की वेदना सहित शिष्य को धर्म के उपदेशरूप अमृत का पानी तथा उत्तम शिक्षा रूप भोजन द्वारा ज्ञानसहित गुरु ही वेदनारहित करते हैं। बहुश्रुती के आधार बिना धर्म नहीं रहता है। इसलिये जो आधारवान् आचार्य हो, उसी की शरण ग्रहण करना योग्य है।

यदि शिष्य वेदना से दुःखी हो रहा हो, तो उसका शरीर सहलाना, हाथ पैर मस्तक दाबना, मीठे शब्द बोलना, इत्यादि द्वारा दुःख दूर करें। पूर्व में जो अनेक साधुओं ने घोर परीषह सहकर आत्मकल्याण किया, उनकी कथा कहकर देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कराकर वेदनारहित करें। हे मुने! अब दुःख में धैर्य धारण करो। संसार में कौन-कौन से दुःख नहीं भोगे? यदि वीतरागी की शरण ग्रहण करोगे तो दुःखों का नाश करके कल्याण को प्राप्त हो जाओगे— इत्यादि बहुत प्रकार से कहकर मार्ग से विचलित नहीं होने दे, ऐसा आधारवान गुरु ही शरण लेने योग्य है।

व्यवहारवान् : आचार्य को व्यवहार प्रायश्चित्तशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिये, क्योंकि प्रायश्चित्तशास्त्र तो जो आचार्य होने के योग्य होता है उसी को पढ़ाया जाता। औरों के पढ़ने योग्य नहीं है। जो जिनागम का ज्ञाता हो, महाधैर्यवान् हो, प्रबलबुद्धि का धारक हो, वही प्रायश्चित्त दे सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, क्रिया, परिणाम, उत्साह, संहनन, पर्याय, दीक्षा का काल, शास्त्रज्ञान, पुरुषार्थ आदि को अच्छी तरह जानकर जो राग-द्वेष रहित होता है, वही प्रायश्चित्त देता है।

जिसमें इतनी प्रवीणता हो कि यह जान सके कि प्रायश्चित लेनेवाले को कितना प्रायश्चित देने पर उसके परिणाम उज्ज्वल हो जायेंगे, दोष का अभाव हो जायेगा, व्रतों में दृढ़ता होगी, ऐसा ज्ञाता हो। जिसे आहार की योग्यता-अयोग्यता का ज्ञान हो, इस क्षेत्र में ऐसे प्रायश्चित का निर्वाह होगा या नहीं होगा, इस क्षेत्र में वात-पित्त-कफ-शीत-उष्णता की अधिकता है या कमपना है, अथवा इस क्षेत्र में मिथ्यादृष्टियों की अधिकता है या मंदता है, धर्मात्माओं की अधिकता है या मंदता है, यह जानकर प्रायश्चित का निर्वाह होता दिखाई दे, तो प्रायश्चित देना चाहिये।

शीत-उष्ण-वर्षाकाल को, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का चौथा, पंचम काल को देखकर, काल के आधीन प्रायश्चित का निर्वाह होता दिखाई दे तो प्रायश्चित दें।

परिणाम देखना चाहिये, यह भी देखना कि तपश्चरण में इसका तीव्र उत्साह है या मंद है। संहनन की हीनता-अधिकता, बल की मंदता-तीव्रता भी देखना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि यह बहुत काल का दीक्षित है या नवीन दीक्षित है, सहनशील है या कायर है, बाल-युवा-वृद्ध अवस्था भी देखना चाहिये; आगम का ज्ञाता है या मंद ज्ञानी, पुरुषार्थी है या मंद उद्यमी है— इत्यादि का ज्ञाता होकर प्रायश्चित देना चाहिए। दोषरूप आचरण जिस प्रकार फिर नहीं करे तथा पूर्व में किये दोष दूर हो जायें, उस प्रकार शास्त्र के अनुकूल प्रायश्चित देना चाहिए।

प्रकर्त्ता : आचार्य को प्रकर्त्ता गुण सहित होना चाहिये। संघ में कोई रोगी हो, वृद्ध हो, अशक्त हो, बालक हो जिसने सन्यास धारण कर लिया हो, उनकी वैयावृत्य में नियुक्त किये गये मुनि तो सेवा करते ही हैं, परन्तु स्वयं आचार्य भी यदि संघ में मुनियों में कोई अशक्त हो जाये तो उसे उठाना, बैठाना, शयन कराना, मल-मूत्र-कफ तथा खून-पीव आदि शरीर से दूर करना, इत्यादि आदरपूर्वक भक्तिसहित वैयावृत्य करें। उनको

देखकर संघ के सभी मुनि वैयावृत्य करने में सावधान हो जाते हैं तथा विचार करते हैं —

अहो! धन्य हैं ये गुरु भगवान्, परमेष्ठी, करुणानिधान, जिनके धर्मात्मा में ऐसा वात्सल्य है। हम महानिन्द्य हैं, आलसी हो रहे हैं, हमारे होते हुए भी गुरु सेवा करें— यह हमारा प्रमादीपना धिक्कारने योग्य है। ऐसा विचार कर समस्त संघ वैयावृत्य करने में उद्यमी हो जाता है।

यदि आचार्य स्वयं प्रमादी हों, तो सकलसंघ वात्सल्य रहित हो जाये। इसलिये आचार्य का कर्तृत्व गुण मुख्य है। समस्त संघ की वैयावृत्ति करने की जिसमें क्षमता हो, वह आचार्य होता है। कोई हीनाचारी हो तो उसे शुद्ध आचार ग्रहण कराते हैं। कोई मंद ज्ञानी हो तो उसे समझाकर चारित्र में लगाते हैं। किसी को प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं, किसी को धर्मोपदेश देकर दृढ़ता कराते हैं। धन्य हैं आचार्य! जिनको उनकी शरण प्राप्त हो गई, उनको मोक्षमार्ग में लगाकर उद्धार कर देते हैं। इसलिए आचार्य का प्रकर्त्तागुण प्रधान है।

अपायोपाय— विदर्शी : अपायोपाय— विदर्शी नाम का आचार्य का पाँचवाँ गुण है। कोई साधु क्षुधा, तृषा, रोग, वेदना से क्लेशित परिणामरूप हो जाये, तीव्र राग—द्वेष रूप हो जाये, लज्जा से, भय से यथावत् आलोचना नहीं करे, रत्नत्रय में उत्साहरहित हो जावे, धर्म में शिथिल हो जाये, उसे अपाय अर्थात् रत्नत्रय का नाश, उपाय अर्थात् रत्नत्रय की रक्षा का प्रकट ऐसा गुण—दोष दिखाये कि वह रत्नत्रय के नाश होने से काँपने लगे तथा रत्नत्रय के नाश से अपना नाश व नरकादि कुगति में पतन साक्षात् दिखाई देने लगे। रत्नत्रय की रक्षा से संसार से ऊपर होकर अनन्तसुख की प्राप्ति उपदेश द्वारा साक्षात् दिखला दें, ऐसा उपदेश देने की सामर्थ्य जिसमें हो, वह अपायोपाय—विदर्शी गुण का धारक आचार्य होता है।

अवपीड़क : कोई मुनि रत्नत्रय धारण करके भी लज्जा से, भय से, अभिमान, गौरव आदि से अपनी शुद्ध यथावत् आलोचना (भूल स्वीकार करना) नहीं करता है तो आचार्य उसे स्नेह से भरी, कानों को मीठी तथा हृदय में प्रवेश करने वाली शिक्षा देते हैं— हे मुने! बहुत दुर्लभ रत्नत्रय के लाभ को तुम मायाचारी द्वारा नष्ट नहीं करो। माता—पिता के समान अपने गुरुओं के पास अपना दोष प्रकट करने में क्या शर्म है? वात्सल्य के धारी गुरु भी अपने शिष्य के दोष प्रकट करके शिष्य का तथा धर्म का अपवाद नहीं कराते हैं। अतः शल्य दूर करके आलोचना करो। जिस प्रकार रत्नत्रय की शुद्धता व तपश्चरण का निर्वाह होगा, उसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार तुम्हें प्रायश्चित्त दिया जायेगा। अतः भय छोड़कर निर्दोष आलोचना करो।

जो ऐसे स्नेहरूप वचनों द्वारा भी माया शल्य नहीं छोड़ता है, तो तेज के धारी आचार्य जबरदस्ती से शिष्य की शल्य को निकालते हैं। जिस समय आचार्य शिष्य से पूछते हैं कि—‘हे मुने! क्या यह दोष ऐसा ही है, सत्य कहो?’ तब उनके तेज व तप के प्रभाव से, जैसे सिंह को देखते ही स्यार खाते हुए मांस को तत्काल उगल देता है, तथा जैसे महान प्रचण्ड तेजस्वी राजा अपराधी से पूछता है तब उससे तत्काल सत्य कहते ही बनता है, उसी प्रकार शिष्य भी माया शल्य को निकाल देता है।

यदि शिष्य सत्य नहीं बोलकर अपना माचायार नहीं छोड़ता है, तो गुरु तिरस्कार के वचन भी कहते हैं—‘हे मुने! हमारे संघ से निकल जाओ, हमसे तुम्हारा क्या प्रायोजन है? जो अपने शरीर का मैल धोना चाहेगा, वह निर्मल जल से भरे सरोवर को प्राप्त करेगा और जो अपने महान रोग को दूर करना चाहेगा, वह प्रवीण वैद्य को प्राप्त करेगा। उसी प्रकार जो रत्नत्रयरूप परमधर्म का अतिचार दूर करके उज्ज्वल करना चाहेगा, वह गुरु का आश्रय लेगा। तुम्हें रत्नत्रय की शुद्धता करने में आदर नहीं है,

इसलिये यह मुनिपना, व्रत धारण करना, नग्न होकर क्षुधादि परीषह सहने की विडंबना द्वारा क्या साध्य है? संवर—निर्जरा तो कषायों को जीतने से होती है। जब माया कषाय का ही त्याग नहीं किया तो व्रत, संयम, मौन धारण करना व्यर्थ है। मायाचारी का नग्न रहना और परीषह सहना व्यर्थ है। तिर्यच भी परिग्रहरहित नग्न रहते हैं। अतः तुम दूरभव्य हो, हमारे वंदने योग्य नहीं हो। तुम्हारे भाव तो ऐसे हैं कि यदि हमारा दोष प्रकट हो जायेगा तो हम निंद्य हो जायेंगे, हमारा उच्चपना घट जायेगा। किन्तु तुम्हारा ऐसा मानना बंध का कारण है। श्रमण तो स्तुति व निंदा में समान परिणाम रखनेवाले होते हैं।' इस प्रकार गुरु कठोर वचन कहकर भी मायाचार आदि का अभाव कराते हैं।

अपरिस्रावी: शिष्य जिस दोष की गुरु से आलोचना करता है, गुरु उस दोष को किसी दूसरे को नहीं बतलाते हैं। जैसे तपाये हुए लोहे के द्वारा पिया हुआ जल बाहर नहीं निकलता है, उसी प्रकार शिष्य से सुने हुए दोष को आचार्य किसी दूसरे को नहीं बताते हैं—वह अपरिस्रावी गुण है। शिष्य तो गुरु का विश्वास करके कहता है, किन्तु यदि गुरु शिष्य का दोष प्रकट कर देता है, दूसरों को बता देता है, तो वह गुरु नहीं है, विश्वासघाती है।

कोई शिष्य अपने दोष को गुरु के द्वारा प्रकट किया गया जानकर दुःखी होकर आत्मघात कर लेता है, कोई क्रोध में आकर रत्नत्रय का त्याग कर देता है, कोई गुरु की दुष्टता जानकर अन्य संघ में चला जाता है। 'जैसे मेरी अवज्ञा की है, वैसे ही तुम्हारी भी अवज्ञा करूँगा'— इस प्रकार समस्त संघ में प्रकट घोषणा कर देता है, जिससे समस्त संघ का आचार्य पर से विश्वास उठ जाता है, आचार्य सभी के त्याज्य हो जाता है, इत्यादि बहुत दोष आते हैं। अतः अपरिस्रावी गुण का धारक ही आचार्य होना चाहिये।

निर्यापक: आचार्य को निर्यापक गुणधारी होना चाहिये। जैसे खेवटिया समस्त बाधाओं को टालकर नाव को पार उतार ले जाता है, उसी प्रकार आचार्य भी शिष्यों को अनेक विधनों से बचाकर संसारसमुद्र से पार करा देता है।

इस प्रकार आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकर्त्ता, अपायोपायविदर्शी, अवपीडक, अपरिस्रावी, निर्यापक—आचार्य के इन आठ गुणों को धारण करनेवालों के गुणों में अनुराग करना, वह 'आचार्य भक्ति' है। ऐसे आचार्यों के गुणों को स्मरण करके आचार्यों का स्तवन वंदन करके अर्घ उत्तारण जो पुरुष करता है, वह पापरूप संसार की परिपाटी को नष्ट करके अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

आचार्य का पद बड़ी जिम्मेदारी का पद है। वे शिष्य की योग्यता देखकर उतनी ही देशना देते हैं जितनी कि वह ग्रहण कर सकता है। घर में माँ ने लड्डू बनाये। बच्चा कहता है कि मैं तो पाँच लड्डू लूँगा। माँ कहती है कि लड्डू तो तेरे लिये ही बनाये हैं, पर तुझे एक लड्डू मिलेगा, क्योंकि तू पाँच लड्डू पचा नहीं सकता। बच्चा कहता है—तुम तो पाँच—पाँच खाती हो, मुझे क्यों नहीं देती? क्या मेरे पेट नहीं है? माँ कहती है—पेट तो है, पर मेरे—जैसा बड़ा नहीं है। तात्पर्य यह है कि माँ बच्चे को उसके ग्रहण योग्य ही लड्डू देती है, अधिक नहीं।

मोक्षमार्ग में आचार्य का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि सिद्ध भगवान् तो बोलते नहीं हैं। साक्षात् अरहन्त भगवान् जो बोलते हैं, उनका इस समय अभाव है। यहाँ पर स्थापना—निक्षेप से जो अरहन्त भगवान् हैं, वे बोलते नहीं हैं। अतः मोक्षमार्ग में गुरु ही सहायक सिद्ध होते हैं। मार्ग पर चलते समय यदि कोई बोलनेवाला साथी मिल जाता है, तो मार्ग तय करना सरल हो जाता है। इनके साथ चलने से हमारा मोक्षमार्ग सरल हो जाता है। अतः हम आचार्य महाराज की उपासना करें और उनके द्वारा

बताये गये मोक्षमार्ग पर चलकर अपनी आत्मा का कल्याण करें।

आज तक धर्म को ऊँचा उठाने का कार्य आचार्यों ने ही किया। महावीर स्वामी के बाद सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी आदि केवलियों द्वारा अनेक वर्षों तक अंगज्ञान सुरक्षित रहा। भद्रबाहु स्वामी एक बार उज्जयिनी में आहार को गये। वहाँ पर एक बालक पालने में झूल रहा था। उसकी आवाज सुनकर उन्होंने कहा कि यहाँ पर बारह साल का अकाल पड़ने वाला है। तभी भद्रबाहु आचार्य कुछ शिष्यों के साथ दक्षिण की तरफ प्रस्थान कर गये और श्रमण धर्म को बचाया। ऐसे आचार्य इस पावन भूमि पर हुए।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने धर्म प्रचार हेतु अनेक शास्त्र लिखे। आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' की रचना की। श्री पूज्यपाद स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका करके 'सर्वार्थसिद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की। श्री अंकलंकदेव ने 'राजवार्तिक' तथा श्री विद्यानन्द स्वामी ने 'अष्टसहस्री' और इसी तत्त्वार्थसूत्र की टीक पर आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'गंधहस्तीमहाभाष्य' लिखा। ऐसे आचार्यों के हम बहुत आभारी हैं, जिन्होंने अपना तो कल्याण किया ही, हमारा मार्ग भी प्रशस्त किया। समय-समय पर आचार्य अनेक अतिशय दिखाकर जैनधर्म का प्रचार करते रहे। आचार्यों पर अनेक उपसर्ग आये, परन्तु समता भाव से सहन करके धर्म को अथवा अपने पद को गिरने नहीं दिया, गरिमा बनाये रखी। अकम्पनाचार्य आदि 700 मुनियों पर राजा बलि ने हस्तिनापुर में उपसर्ग किया। श्री वादिराज मुनिराज ने कोढ़ दूर करके अतिशय दिखाया। श्री मानतुंग आचार्य ने भक्तामर स्तोत्र की रचना कर जंजीरे व 48 ताले तोड़कर अतिशय दिखाया, जिससे धर्म की प्रभावना हुई।

समन्तभद्र स्वामी को भस्मक रोग हो गया था। वे जो खाते, वह भस्म हो जाता। सिद्धान्ततः जैन दिगम्बर मुनिराज 8 पहर में एक बार आहार

लेते हैं। इस कारण समन्तभद्र ने गुरु से समाधि के लिए कहा। गुरु ने जान लिया कि इनके द्वारा धर्म की प्रभावना होगी, इसलिए उन्होंने समाधि के लिए मना कर दिया और कहा कि जाओ, येन—केन—प्रकारेण जैसे बने इस व्याधि का उपचार करो। तब वे वैष्णवी साधु के वेश में बनारस पहुँचे। वहाँ जाकर राजा से कहा कि ये सारा मिष्ठान्न मैं शिव जी को खिला सकता हूँ। इस तरह अकेले, मन्दिर में चारों तरफ से बंदकर जिससे किसी को पता ना चले, वे सारा मिष्ठान स्वयं खा गये। इस बात से राजा बहुत प्रभावित हुए। इस तरह समन्तभद्र वहाँ रहने लगे। कुछ समय बाद जब असातावेदनीय कर्म का क्षय हुआ, धीरे—धीरे क्षुधावेदना शान्त होने लगी, मिष्ठान बचने लगा, तब राजा से एक दिन पुजारी कहने लगा कि ये तो देवता की अविनय करते हैं और मिष्ठान भी बचा पड़ा रहता है। राजा ने इनसे कहा कि तुम शिव जी की अविनय करते हो, इस पिण्डी को नमस्कार करो। तब वे राजा से बोले— यह पिण्डी मेरा नमस्कार नहीं झेल पायेगी। परन्तु जब राजा नहीं माना, तब उन्होंने 'स्वयंभूस्तोत्र' की रचना की। इस स्तोत्र के आठवें श्लोक की रचना के माध्यम से जब नमस्कार किया, तब पिण्डी फट गयी और चन्द्रप्रभु भगवान् की प्रतिमा प्रकट हो गयी। इस अतिशय से प्रभावित होकर राजा ने अपने भाई, मंत्री आदि के साथ जैनधर्म स्वीकार किया। समन्तभद्र स्वामी का भस्मक रोग शान्त हो गया। उन्होंने गुरु के पास जाकर पुनः दीक्षा ग्रहण की और अनेक ग्रन्थों की रचना की। आचार्य शान्तिसागर महाराज ने भी अनेक उपसर्ग झेलकर जनता में धर्म की प्रभावना की। आचार्यों की भक्ति करो और उनका आचरण अपने अंदर उतारने का प्रयास करो।

जो आचारज—भगति करै है, तो निर्मल आचार धरै है।

बहुश्रुत भक्ति भावना

जिन आगम के ज्ञाता हैं, वे ज्ञान के ही पुंज हैं।
विद्यादायक अध्ययन में रत, शान्ति के निकुंज हैं॥
ऐसे साधु उपाध्याय की, निशदिन जो भक्ति करते।
अतिशय केवलज्ञान का पाकर, शिव सिद्धि मुक्ति वरते॥

जो जिनागम के ज्ञाता हैं, ज्ञान के भंडार हैं, विद्या के देनेवाले हैं, अध्ययन में लीन रहते हैं, शान्ति के आलय हैं, ऐसे साधु उपाध्याय परमेष्ठी की निशदिन जो भक्ति करते हैं, वे केवलज्ञान के दश अतिशय पाकर शिव अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

जो अंग-पूर्व आदि के ज्ञाता हैं, चारों अनुयोग के पारगामी होकर निरन्तर स्वयं परमागम को पढ़ते हैं और अन्य शिष्यों को पढ़ाते हैं, वे बहुश्रुती हैं। श्रुतज्ञान ही जिनके दिव्य नेत्र हैं, अपना तथा पर का हित करने में ही प्रवर्तते हैं, अपने जिन-सिद्धांतों तथा अन्य एकान्तियों के सिद्धांतों को विस्तार से जानने वाले, स्याद्वादरूप परम विद्या के धारक हैं, उनकी भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है। बहुश्रुती की महिमा कहने को कौन समर्थ है? जो निरन्तर श्रुतज्ञान का दान करते हों, ऐसे उपाध्यायों की जो विनय सहित भक्ति करते हैं, वे शास्त्ररूप समुद्र के पारगामी हो जाते हैं। जितने भी अंग, पूर्व, प्रकीर्णक जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं, उन समस्त जिनागमों को जो निरन्तर स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य को पढ़ाते हैं, वे बहुश्रुती हैं।

द्वादशांग : प्रथम आचारांग के अठारह हजार (18,000) पदों में

मुनिधर्म का वर्णन है। 1।

सूत्रकृतांग के छत्तीस हजार (36,000) पदों में जिनेन्द्र के श्रुत के आराधन करने की विनयक्रिया का वर्णन है। 2।

स्थानांग के बियालीस हजार (42,000) पदों में छः द्रव्यों के एक—अनेक स्थानों का वर्णन है। 131।

समवायांग के एक लाख चौंसठ हजार (1,64,000) पदों में जीवादि पदार्थों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की समानता की अपेक्षा से वर्णन है। 4।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग के दो लाख अट्ठाइस हजार 2,28,000 पदों में जीव अस्ति है या नास्ति है, एक है या अनेक है इत्यादि गणधर द्वारा तीर्थंकर के निकट किये गये साठ हजार प्रश्नों का वर्णन है। 5।

ज्ञातृधर्मकथा अंग के पांच लाख छप्पन हजार 5,56,000 पदों में गणधर द्वारा किये प्रश्नों के उत्तररूप जीवादि द्रव्यों के स्वभाव का वर्णन है।

उपासकाध्ययनांग के ग्यारह लाख सत्तर हजार (11,70,000) पदों में श्रावक के (ग्यारह प्रतिमा) व्रत, शील, आचार, क्रिया, मंत्रादि का वर्णन है। 7।

अंतकृतदशांग के तेईस लाख अट्ठाइस हजार (23,28,000) पदों में एक—एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में दश—दश मुनि ने उपसर्ग सहित होकर संसार का अन्त करके निर्वाण प्राप्त किया, उनका वर्णन है। 8।

अनुत्तरोपपाद दशांग के बानवै लाख चवालीस हजार 92,44,000 पदों में एक—एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में दश—दश मुनि ने भयंकर घोर उपसर्ग सहकर देवों द्वारा पूजित होकर (समाधिमरण करके) विजय आदि अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए उनका वर्णन है। 9।

प्रश्नव्याकरणांग के तेरानवै लाख सोलह हजार (93,16,000) पदों में लाभ, हानि, सुख, दुःख, जीवन, मरण, (हार, जीत, चिन्ता) के संबंध में किये

गये प्रश्नों का (भूत, भविष्य, वर्तमान, की अपेक्षा से दिये गये उत्तर का) वर्णन है।¹⁰।

विपाकसूत्रांग के एक करोड़ चौरासी लाख (1,84,00,000) पदों में कर्मों का उदय, उदीरणा, सत्ता का वर्णन है।¹¹। (इस प्रकार ग्यारह अंगों का चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार (4,15,02,000) पदों में वर्णन किया है।)

दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग के एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच (108,68,56,005) पदों में मिथ्यादर्शन को दूर करने का वर्णन है। दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं— परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व, चूलिका।¹²। बारह अंगों में कुल एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच (1,12,83,58,005) पद हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी बड़े मधुर शब्दों द्वारा राग छोड़ने की प्रक्रिया बताते हैं। भैया! यह राग तो एक—न—एक दिन छोड़ना पड़ेगा तथा राग—द्वेष रहित वीतराग अवस्था को एक—न—एक दिन तो अवश्य ही धारण करना पड़ेगा, तभी मुक्ति की प्राप्ति हो सकेगी। तब क्यों अपना समय नष्ट करके दुःख में रुलते फिर रहे हो? इसके लिये कोई अवस्था विशेष निश्चित नहीं है कि वृद्धावस्था में ही रागद्वेष छोड़ना चाहिये या अमुक अवस्था में त्याग करना चाहिये। ये तो जितने शीघ्र छूट जावें, उतना ही अच्छा है। जैसे—जैसे राग—बुद्धि करोगे, वैसे—वैसे ही कर्मबन्ध होते जायेंगे और जैसे—जैसे वीतराग होओगे, तो कर्म स्वयं तड़ातड़ टूटते चले जायेंगे। अतः अपना आत्महित पहचानो। आपका स्वभाव पापरूप नहीं है। स्वयं का सहज—स्वभाव चेतन है, ज्ञानपुंज है।

जब यह जीव अपने सहज स्वरूप को पहचान लेता है, तब परम सुखी हो जाता है और जब तक अपने आप को नहीं पहचानता, तब तक दुःखी बना रहता है। सम्यग्दर्शन होने पर इसे दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ और न ही शरीरादि परद्रव्य मेरे हैं। आज तक मैं भ्रम से

शरीर को अपना मानकर व्यर्थ ही संसार में परिभ्रमण करता रहा। अपनी भूल का पता चल जाने से उसका जीवन परिवर्तित हो जाता है। सारे दुःखों का मूलकारण है शरीर में अपनापन। जितना शरीर को अपने रूप देखोगे, उतना-उतना राग-द्वेष-मोह बढ़ेगा और जितना हम शरीर को स्वयं से अलग देखेंगे, तो मोह पिघलने लगेगा। परमार्थ से आत्मशान्ति का उपाय यही है कि सम्यक्चारित्र धारण कर पर-संबंध को छोड़ा जाये और आत्मपरिणति का विचार किया जाय।

आत्मा अपने ही अपराध से संसारी बना है और अपने ही प्रयत्न से मुक्त हो जाता है। जब यह आत्मा मोही, रागी, द्वेषी होता है, तब स्वयं संसारी हो जाता है तथा जब राग, द्वेष, मोह को छोड़ देता है, तब स्वयं मुक्त हो जाता है। अतः जिन्हें संसारबंधन से छूटना है, उन्हें उचित है कि निज को निज व पर को पर जानकर फिर पर को छोड़कर निज में लीन रहें। सच्चा ज्ञान होने पर इस जीव को मोक्ष के निराकुल सुख का ज्ञान व श्रद्धान हो जाता है, राग-द्वेष-मोह मिटता है, समता भाव जागृत होता है, आत्मा में रमण करने का उत्साह बढ़ता है, कर्म का मैल कटता है और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भगवान् महावीर स्वामी के मुक्त हो जाने के पश्चात आत्मकल्याण का पथप्रदर्शन गुरु ही कर रहे हैं। यह गुरुओं का ही उपकार है जो आज हमें जिनवाणी पढ़ने व सुनने को मिल रही है। जैसे एक दीपक से अनेक दीपक जलाये जा सकते हैं, उसी प्रकार एक गुरु से शिष्य से परशिष्य आदि से गुरुपरम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। गुरु का स्वरूप बताते हुये कहा है—

रत्नत्रय विशुद्धः सत्, पात्रस्नेही पदार्थकृत्।

परिपालित, धर्मोही, भावाब्धेस्तारको गुरुः॥

जो रत्नत्रय से विशुद्ध हो, धार्मिकजनों से स्नेह करता हो, परोपकार में रत हो, स्वयं धर्म का आचरण करता हो, ऐसा मनुष्य ही भवसागर से

पार कराने वाला गुरु होता है।

एक सेठ किसी विद्वान् से प्रतिदिन धर्मशास्त्र सुना करता था, परन्तु उसके चित्त में संसार से विरक्ति तो लेशमात्र भी नहीं आती थी। इसका कारण एक दिन सेठ ने साधु से पूछा तो वह साधु उस सेठ और विद्वान् को जंगल में ले गया। वहाँ पर उसने उस सेठ और विद्वान् को अलग-अलग वृक्ष से बाँध दिया, फिर उस पंडित से साधु ने कहा, पंडित जी! सेठ जी पेड़ से बंधे हुए हैं। उनको बंधन मुक्त कर दो। पंडित जी बोले कि मैं स्वयं ही बंधन से युक्त हूँ, तो उन्हें कैसे मुक्त कर सकता हूँ? साधु ने सेठ से कहा कि तुम विद्वान् को बंधनमुक्त कर दो। सेठ जी ने कहा कि मैं स्वयं पहले रस्सी के बंधन से छूट जाऊँ, तब उन्हें छुड़ाऊँ। तब साधु ने दोनों की रस्सी खोलते हुए कहा कि विद्वान् स्वयं ही गृहस्थी में फँसे हैं, वे कैसे दूसरों को निकाल सकते हैं? आरम्भ—परिग्रह से रहित गुरु ही त्याग का उपदेश देकर संसारसागर से तिरा सकता है।

गुरु शिष्य को आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया सिखाते हैं। संसारसागर से पार होने का ज्ञान गुरु के पास ही होता है। जिस प्रकार पानी में तैरनेवाला यदि स्वयं प्रवीण हो, तो वह डूबते हुये को बचा सकता है। उसी प्रकार गुरु जो स्वयं भवसागर से पार होने में दक्ष हैं, वही डूबते हुये शिष्य को संसारसागर से तिरा सकते हैं। शिष्य कैसा होना चाहिये? यह बताते हुए 'क्षत्रचूड़ामणी' में लिखते हैं—

गुरु भक्तो भवादभतो, विनीतो धार्मिकः सुधी।

शान्त वान्तो ह्यन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽप्यभिष्यते॥

जो अपने गुरु की भक्ति करता हो, संसार से भयभीत हो, विनयवान हो, धर्मात्मा तथा बुद्धिमान हो, शान्तचित्त हो, अप्रमादी हो, शालीनता का व्यवहार करता हो, ऐसा व्यक्ति धर्म सीखने का पात्र होता है। मंगलाचरण में लिखा है—

अज्ञान—तिमिरान्धानां, ज्ञानांजन शलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अज्ञान के कारण अन्धे जीवों के नेत्रों को गुरु ज्ञानरूपी अंजन (सुरमा) की सलाई से खोल देते हैं। शिष्य गुरु के बताये मार्ग पर चलकर ही दिव्यज्योति को प्राप्त करता है। गुरु जैसा विश्व में हितकारी अन्य नहीं है। गुरु की महिमा का वर्णन करते हुये किसी ने लिखा है—

सात समन्दर मसि करूँ, लेखन सब वनराय।

सब कागज धरती करूँ, गुरु—गुण लिखा न जाय॥

देव—शास्त्र—गुरु की जायमाला में भी कहा है— गुरु की महिमा का बखान गोविन्द अथवा वृहस्पति भी करने में समर्थ नहीं हैं, तो मुझ—जैसा तुच्छ बुद्धि वाला कैसे कर सकता है ?

गुरु ही ज्ञान की चिन्तामणि शिष्य को प्रदान करते हैं, जिसके प्रकाश में वह सुपथ व कुपथ की पहचान कर अपना स्व—पर विवेक प्रशस्त करता है। मोक्षमार्ग का ज्ञान गुरु की आराधना—भक्ति के बिना नहीं हो सकता। जैसे एक व्यक्ति था, उसे भोजन बनाने की सारी प्रक्रिया मालूम थी। एक दिन उसे भोजन बनाने की आवश्यकता पड़ गई। भोजन बनाने की उसने समस्त सामग्री एकत्र करके भोजन बनाना प्रारम्भ किया। आटा गूँथकर अच्छी गोल—गोल भी बना ली, रोटी तवे पर डाली कि रोटी चिपक गई और कठिनाई से पलटी गई, टुकड़े—टुकड़े होकर बिखर गई। दूसरी रोटी को पुनः तवे पर डाला, लेकिन वही स्थिति उसकी भी हुई, इस तरह 5 —6 राटियों की यही दशा हुई। वह आश्चर्य में था कि ऐसा क्यों हुआ, आखिर उसे उस दिन वैसे ही टुकड़ों को खाकर संतोष करना पड़ा।

दूसरे दिन उसे आफिस के कार्य से अपने आफीसर के साथ गाँव से बाहर जाना था। उसने जल्दी से भोजन बनाना प्रारम्भ किया। जैसे ही वह रोटी तवे पर डालने जा रहा था कि अचानक ही उसका दोस्त जो वहीं बैठकर साथ चलने की प्रतीक्षा कर रहा था, बोला— अरे! अभी रोटी

क्यों डाल रहे हो? तवा थोड़ा गरम हो जाने दो। उसने तवे को गरम होने दिया, तो पाया कि वास्तव में अब रोटी सही और एकदम अच्छी बन रही है। वह बड़ा प्रसन्न हुआ तथा अपने दोस्त को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया कि यदि तुम मुझे यह ज्ञान नहीं देते तो मैं कभी अच्छी रोटी नहीं खा सकता था।

इसी तरह शिष्य को ज्ञान प्राप्त कराने के आधार गुरु ही हैं। गुरु महाराज बड़े ही मीठे शब्दों में धर्माभूत का पान कराते हैं। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर हटने का ढंग और उसका प्रभाव भी पड़ता है, क्योंकि वे स्वयं उसका पालन करते हैं। जो संसार भ्रमण का अन्त कर मोक्षसुख को प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें चाहिये कि वे बहुश्रुतज्ञानी गुरुओं से तत्त्वज्ञान प्राप्त करें। गुरुकृपा के बिना कुछ भी संभव नहीं है।

दुर्लभो विषय त्यागः, दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।

दर्लभा सहजावस्था, सदगुरोः करुणां बिना।।

गुरु की विनय के बिना तत्त्वदृष्टि प्राप्त होनी संभव नहीं है और न ही उनकी शरणापत्ति के बिना सहजावस्था ही संभव है। जो आप स्वयं पढ़ते हैं तथा अन्य शिष्यों को पढ़ाते हैं, उन बहुश्रुतों की भक्ति संसार परिभ्रमण का नाश करनेवाली है। शास्त्रों की भक्ति भी बहुश्रुतभक्ति है। गुणों में अनुराग करना, वह भक्ति है। जो शास्त्रों में अनुराग करके पढ़ते हैं, शास्त्र के अर्थ को अन्य को बतलाते हैं, धन खर्च करके शास्त्रों को छपवाते हैं, पढ़नेवालों को शास्त्र उपलब्ध करा देते हैं, वह ज्ञानावरण कर्म का नाश करने वाली बहुश्रुत-भक्ति है। यह बहुश्रुत-भक्ति संशय आदि रहित सम्यग्ज्ञान उत्पन्न कराकर क्रम से केवलज्ञान प्रकट करा देती है।

बहुश्रुतवन्त-भगति करई, सो नर संपूरन श्रुत धरई।

प्रवचन भक्ति भावना

अरहंत भाषित ग्रन्थ अनुपम, गणधर द्वारा गुंफित हैं।

चारों अनुयोगों से पूरित, संशय रहित वह वंदित हैं॥

भावों से पढ़ता आचरता, भक्ति पूजन है करता।

जिन आगम प्रवचन भक्ति से, सद्बुद्धि बहुश्रुत पाता॥

अरहन्त भगवान् द्वारा कहा गया अनुपम ग्रन्थ गणधरों के द्वारा गुंफित किया गया है। वह चार अनुयोगों से परिपूरित है। वह संशयरहित व वंदित है। जो जीव इस ग्रंथ को भक्तिपूर्वक पढ़ता है, आचरण में उतारता है और पूजन करता है, वह जिन आगम प्रवचनभक्ति के बल पर सद्बुद्धि को प्राप्त करता है।

प्रवचन का अर्थ जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत आगम है। संसार से उद्धार कराने वाले रत्नत्रय के स्वरूप व रत्नत्रय प्राप्त होने के उपाय का वर्णन परमागम में ही है। गृहस्थपने में श्रावकधर्म की चर्या का तथा श्रावकों के व्रत—संयमादि व्यवहार—परमार्थरूप प्रवृत्ति का वर्णन प्रवचन से ही जानते हैं। गृह के त्यागी मुनिराजों के महाव्रत अट्ठाइस मूलगुण, स्वाध्याय, ध्यान, आहार—विहार, सामायिक आदि चारित्र का वर्णन प्रवचन में है। छः द्रव्यों, पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों, नौ पदार्थों का वर्णन तथा कर्मों की प्रकृति के नाश का वर्णन, तीनलोक की रचना का वर्णन सभी आगम में ही है।

चौदह गुणस्थानों का स्वरूप, चौदह जीव समास, चौदह मार्गणाओं का वर्णन प्रवचन से ही जाना जाता है। जीवों के एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुल, चौरासी लाख जाति के योनिस्थान प्रवचन से ही जाने जाते हैं। चार अनुयोग, चार शिक्षाव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार गतियों के भेद, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का स्वरूप भगवान् के कहे आगम से ही जानते हैं।

बारह भावना, बारह तप, बारह अंग, चौदह प्रकीर्णकों का स्वरूप आगम से ही जाना जाता है। उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी काल का चक्र, इसमें छः—छः काल के भेदों में पदार्थ की परिणति के भेदों का स्वरूप आगम से ही जाना जाता है। कुलकर, चक्रवर्ती, तीर्थकर, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव इत्यादि की उत्पत्ति, प्रवृत्ति, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन, चक्री का साम्राज्य, वासुदेव आदि के वैभव, परिवार, ऐश्वर्य आदि आगम से ही जानते हैं। भगवान् सर्वज्ञ वीतराग देव ने समस्त लोक—अलोक के अनंतानंत द्रव्यों को भूत, भविष्य, वर्तमान कालवर्ती पर्यायों सहित एक समय में युगपत् क्रमरहित, हस्त की रेखा समान, प्रत्यक्ष जाना—देखा है, उसी सर्वज्ञकथित समस्त वस्तु के स्वरूप को सात ऋद्धि व चार ज्ञान के धारी गणधरदेव ने द्वादशांगरूप में रचना की है।

इस पंचमकाल में साक्षात् अरहंत भगवान् का अभाव है। इस समय हम सब अल्पज्ञों को मोक्षमार्ग का रास्ता दिखाने वाले शास्त्र ही हैं। यद्यपि देव (अरहंत भगवान्) की प्रतिमा से मूक उपदेश प्राप्त होता है, पर वह भी मंदिर में रहकर कितनी देर तक प्राप्त किया जा सकता है? गुरु के द्वारा भी मौखिक उपदेश दिया जाता है, किन्तु वह भी कितनी बार? पहली बात तो आज सद्गुरु ही बहुत कठिनता से और बड़े भाग्य से दिखाई देते हैं। अतः गुरु प्रतिदिन दर्शन देते रहें, यह भी संभव नहीं है। आज मिले, कल नहीं। वे तो रमतेजोगी हैं, वन—वन विचरते हैं। क्या जाने किधर निकल

जाएँ और फिर जीवन में अन्धकार छा जाए। तात्पर्य यह है कि देवपूजा और गुरुउपासना यद्यपि जीवन में शान्ति का संचार करते हैं, किन्तु गृहस्थ का मन संसार में और गृहस्थी की उलझनों में अटका होने से वह अपना उपयोग अधिक समय तक देवपूजा आदि में नहीं लगा सकता। अतः गृहस्थों के अन्धकारमय जीवन में प्रकाश की किरण देने वाली केवल जिनवाणी ही है। गृहस्थों को शास्त्रस्वाध्याय प्रतिदिन करना उनका कर्तव्य ही नहीं वरन् आवश्यक भी है।

स्वाध्याय करने से आत्मा के गुणों का परिचय प्राप्त हो जाता है। आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज ने एक उदाहरण देते हुये लिखा है— हनुमान जी सीता का पता लगाकर रामचन्द्र जी के पास आये और उन्होंने बताया कि मैंने सीता माता का पता लगा लिया है, वे एक पेड़ के नीचे सुरक्षित बैठी हैं। तब राम ने हनुमान को गले लगा लिया। हनुमान ने कहा— प्रभु! मैं सीता माता को तो लेकर भी नहीं आ पाया, फिर भी आप इतने हर्षित होकर मुझे गले क्यों लगा रहे हो? तब राम ने कहा, अरे हनुमान! तुम सीता का समाचार तो लेकर आये, मानों वह मुझे मिल गई। ऐसे ही स्वाध्याय के माध्यम से आप लोगों को आत्मा का साक्षात्कार हो गया, अभी कम—से—कम आपको आत्मा के गुणों का परिचय तो प्राप्त हो गया।

जिनवाणी का स्वाध्याय करते हुए जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं, उनके आनन्द को कौन बता सकता है? यह आनन्द बड़े वैभव से, सम्पदाओं से, राज्यों से नहीं खरीदा जा सकता है। जो शांति की कुंजी है, वह अपनी आपकी निर्मलता पर आधारित है।

हम सबका कर्तव्य यह है कि उन प्रवचनों का अर्थात् शास्त्रों का श्रवण कर, पठन—पाठन कर कुछ लाभ उठायें। यही उन शास्त्रों का समग्र उपदेश है कि अपने आपके सारे भ्रम—जाल को समाप्त कर दें। हाँ

उन्हें ये मायामय लोग इस मायामयी दुनियाँ में चतुर न मानेंगे, पर इस मायामय दुनियाँ में अपनी कुछ चतुराई प्रकट करने का फल बड़ा भयानक है। किसी इष्ट का वियोग होने पर यदि कोई ज्ञानीपुरुष उसका दुःख प्रदर्शित न करे, तत्त्वज्ञान का उपयोग करके अपने अंतरंग में प्रसन्न रहे और दुःख भरी बात न करे, तो रिश्तेदारों की निगाह में वह चतुर नहीं माना जाता। चतुर तो तब माना जायेगा, जब थोड़ा रोने लगे और थोड़ी दुःख भरी बातें भी कहने लगे। ये मायामयी पुरुष विरुद्धाचरण करने में अपनी चतुराई समझते हैं, किन्तु क्या है चतुराई? क्या है अपने से बाहर से कुछ? कुछ भी तो अपना अपने से बाहर नहीं है, ऐसा अंतः प्रकाश ज्ञानीपुरुष के ही हुआ करता है।

यह ज्ञानीपुरुष इन प्रवचनों का अर्थात् शास्त्रों का, आगमों का अध्ययन करके, चिंतन करके अंतरंग में प्रसन्नता प्राप्त करता है। इन प्रवचनों की भक्ति करने वाले पुरुष के संसार के पुरुषों पर परम करुणा का भाव रहता है। ओह! ये सब जिसका वर्णन जिनप्रवचनों में किया गया है ऐसे इस निज अंतस्तत्त्व का रंच भी मुड़कर दर्शन नहीं करते, इस कारण इतने घोर संकट सह रहे हैं। जिनके इतनी सद्बुद्धि जगे, जो ऐसे करुणा का भाव करते हैं, उन पुरुषों के तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है।

प्रवचनभक्ति कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हम सबका कर्तव्य है कि स्वाध्याय की रुचि बनायें। स्वाध्याय के बिना पाप नहीं छूट सकता, कषायों की मंदता नहीं हो सकती। शास्त्रों के भाव को अपने हृदय में धारण किए बिना संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्रों के मर्म को जानकर परमार्थतत्त्व का विचार भली प्रकार कर सकते हैं। ऐसे आगम की उपासना करना और इस आगमज्ञान के देने वाले जिसके समान अपना उपकारी और कोई नहीं है, ऐसे ज्ञानीदाता गुरु के उपकार का लोप न करना और ज्ञानदाता अथवा प्रवचन अर्थात्

शास्त्रआगम इनकी उपासना करना, सो प्रवचनभक्ति है।

अनुयोगों के ग्रंथों का स्वाध्याय करने से आत्मकल्याण करने की प्रेरणा मिलती है। यदि हमें शान्ति प्राप्त करने की सच्ची लगन है, तो इन चारों अनुयोगों के शास्त्रों का धैर्यपूर्वक वर्षों तक नियमित रूप से स्वाध्याय करना चाहिए। धैर्यपूर्वक वर्षों तक स्वाध्याय न करना बहुत बड़ा दोष है। हम चाहते हैं कि तुरन्त ही सबकुछ समझ में आ जाये।

एक राजा को एक बार कुछ हठ उपजी। कुछ जौहरियों को दरबार में बुलाकर उनसे बोला कि मुझे रत्न की परीक्षा करना सिखा दीजिये, नहीं तो मृत्युदण्ड भोगिये। जौहरियों के पाँव-तले की धरती खिसक गई। सभी असमंजस में थे, कि एक वृद्ध जौहरी आगे बढ़ा और बोला— “मैं सिखाऊँगा, पर एक शर्त पर। वचन दो, तो कहूँ।” राजा बोला— “स्वीकार है। जो भी शर्त होगी, पूरी करूँगा।” वृद्ध बोला— “गुरुदक्षिणा पहले लूँगा।” राजा बोला— हाँ-हाँ, तैयार हूँ, माँगो क्या माँगते हो? जाओ, कोषाध्यक्ष! दे दो सेठ साहब को लाख करोड़, जो भी चाहिए। वृद्ध बोला— “महाराज! मुझे लाख करोड़ नहीं चाहिए, बल्कि जिज्ञासा है राजनीति सीखने की और वह भी अभी, इसी समय। शर्त पूरी कर दीजिये और रत्न-परीक्षा करने की विद्या ले लीजिए।” राजा बोला— “परन्तु यह कैसे सम्भव है? राजनीति इतनी-सी देर में थोड़े ही सिखाई जा सकती है? वर्षों हमारे मंत्री के पास रहना पड़ेगा।” वृद्ध बोला— “बस, तो रत्न-परीक्षा भी इतनी जल्दी थोड़े ही सिखाई जा सकती है। वर्षों रहना पड़ेगा दुकान पर।” इतना सुनते ही राजा को अक्ल आ गई।

इसी प्रकार धर्मसम्बन्धी बात भी कोई थोड़ी देर में सुनना या सीखना चाहे तो यह बात असम्भव है। यदि धर्म का प्रयोजन व उसकी महिमा का ज्ञान करना है, तो चारों अनुयोगों के शास्त्रों को अत्यंत उपयोगी जानकर धैर्यपूर्वक वर्षों तक उनका स्वाध्याय करना होगा।

प्रथमानुयोग के अध्ययन की उपयोगिता का दिग्दर्शन—

प्रथमानुयोग के ग्रन्थ पढ़ने से, चरित्र पढ़ने से एक उत्साह जागता है। हम आप लोग धर्मपालन के प्रसंग में उत्साह क्यों नहीं कर रहे कि हम चारों प्रकार के अनुयोगों का उपयोग नहीं करते। जब कोई चरित्र पढ़ते, मान लो श्रीराम का चरित्र पढ़ते हैं और उनको निरखते हैं, अन्त में सब कोई कैसे-कैसे अलग हुए, कैसे निर्वाण पाया, तो वहाँ अपनी बुद्धि ठिकाने आती है कि, अरे! हम उद्दण्डता न करें, अन्याय न करें, अपनी आत्मा को सावधान रूप रखें। ऐसी एक शिक्षा मिलती है। अरे! इस जीवन में न मिला लाखों का धन, तो इससे इस जीव का बिगाड़ क्या? थोड़े ही में गुजारा कर लेना। जो गृहस्थ धर्म का पालन करता है, वह बड़ी शान्ति समृद्धि में बना हुआ रहता है।

करणानुयोग के अध्ययन की उपयोगिता का दिग्दर्शन—

करणानुयोग का जब अध्ययन करते हैं, तो करणानुयोगी की बहुत बड़ी विशेषता है। प्रभाव डालने के लिए यानी दुनियाँ का कितना बड़ा क्षेत्र है, लोक कितना बड़ा है, यहाँ हम सर्वत्र पैदा हुए यह कितना—सा प्रेम क्षेत्र है, यह किसने सिखाया? करणानुयोग ने। काल अनादि—अनन्त है और कैसे-कैसे काल की रचनायें बनती हैं, इतना काल मोह व राग में गँवाया, यह किसने सिखाया? करणानुयोग ने। जीव की दशायें कैसी-कैसी विचित्र होती हैं, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक नरकादिक गतियों में कैसे-कैसे जीव होते हैं, यह बात किसने सिखायी? करणानुयोग ने। अब जरा उनका प्रभाव देखिये। जब ज्ञान आता है कि यह सारा लोक क्षेत्र बहुत बड़ा है। जैसे अभी आज के विज्ञान से भी समझिये तो कहाँ अमेरिका, कहाँ रूस, कहाँ क्या, और कितना बड़ा हिन्दुस्तान और आगम से समझें तो 343 घनराजू प्रमाण लोक में आज की यह परिचित दुनियाँ

लोक के आगे समुद्र के सामने बिन्दु के बराबर है। इतने सारे लोक में हम कहाँ—कहाँ नहीं पैदा हुए और कहाँ—कहाँ नहीं पैदा हो सकते हैं? एक इस थोड़े से क्षेत्र का ही मोह करने से इस जीव को क्या मिलता है? जिस जगह पैदा हुए (कुछ थोड़े—सी जगह जिसके अंदर पैदा हुए) कुछ धन—सम्पदा मिली तो उससे क्या पूरा पड़ता है? यह तो एक पूर्व—पुण्य की परिस्थिति है जो प्राप्त हुई है। इसका कोई भरोसा है क्या, कि यह सदा साथ रहेगी?

लोक का ज्ञान करने से वैराग्य में, ज्ञान में बहुत वृद्धि होती है। अनादि—अनन्त, यानी बड़ा भी न कहो। बड़े की भी कुछ सीमा होती है कि इतना बड़ा। मगर यह तो अनन्त है। अनन्त को हम बड़ा नहीं कह सकते। जिसकी सीमा नहीं, जिसका अन्त नहीं, वह तो अनंत है, तो अनादिकाल से कितना समय हमने गुजार डाला और आगे हमारा कितना समय गुजरेगा? इन सारे समयों के बीच अगर 70—80 वर्ष की यह आयु पायी है, तो यह तो समुद्र के सामने एक बूँद के बराबर भी नहीं बैठती। इतने से समय के लिए नाना विकल्प, कषायें मचाकर अपने आज के भव को बरबाद कर देना, निष्फल गँवा देना, यह तो उचित नहीं है। काल का जब परिचय होता है, तो इस जीव को बहुत शिक्षा प्राप्त होती है। जीवों की दशाओं का परिचय देखो। जीवस्थान, मार्गणा आदिक विधियों के अनुसार एक में दूसरे को घटाकर इस जीव की दशाओं का परिचय पाते हैं। कैसी—कैसी जीव की दशाएँ हैं? आज हम मनुष्य हैं, कभी पेड़—पौधे होते, कीड़े—मकोड़े होते, तो आज ये कष्ट काहे को भोगने पड़ते? वहाँ तो उन तुच्छ—भवों—जैसे कष्ट भोगे जा रहे होते। तो जीव की दशाओं का परिचय होने से ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि होती है।

चरणानुयोग की उपयोगिता का दिग्दर्शन— अच्छा, चरणानुयोग की बात देखो, वह सबक सिखा रहा है कि, हे भव्य प्राणी! जो तेरे में

विकार व्यक्त होते हैं, जिन विकारों में तू झुँझला जाता है, संतप्त हो जाता है, जानता है न कि ये व्यक्त विकार बनते किस तरह हैं? जगत के इन दृश्यमान पदार्थों में उपयोग जोड़ते हैं, तो ये विकार प्रकट होते हैं। तो तू इनमें उपयोग मत लगा। यही तो चरणानुयोग की शिक्षा है कि तू उपचरित निमित्त में अपना उपयोग मत जोड़। उपयोग न जुड़े इन बहिरंग कारणों में, इसके लिए त्याग की विधि बतायी गई है। यद्यपि किसी बाह्य वस्तु का त्याग करने पर भी किसी के उसका विकल्प रह सकता है। मगर गधा को मिश्री मीठी नहीं लगती, तो इसके मायने यह तो नहीं कि मिश्री मीठी ही नहीं होती। यदि किसी अज्ञानी को त्याग की बात नहीं जंचती है, तो उसका अर्थ यह न होगा कि त्याग निष्फल होता है। संयम की साधना—आराधना की तीर्थकरों ने, इन बाह्य वस्तुओं का त्याग किया, तो विधि तो यही है कि बाहरी आश्रयभूत पदार्थों का त्याग करें, तो उसमें कुछ—न—कुछ लाभ है ही। सम्यग्ज्ञान सहित त्याग है, तो मोक्षमार्ग का लाभ है। सम्यक्त्वरहित त्याग है, तो भी सद्गति का तो लाभ है। तो चरणानुयोग यहाँ सिखाता है कि तुम्हारा व्यक्त विकार इन बाहरी पदार्थों के आश्रय से होता है, इसमें उपयोग जोड़ने से होता है, तो तुम इनमें उपयोग मत जोड़ो और ये पर—पदार्थ सामने रहे आयें और उपयोग न जोड़ें, यह कठिनाई लगती है न, तो हम उनका त्याग करें।

द्रव्यानुयोग की उपयोगिता का दिग्दर्शन— द्रव्यानुयोग के दो विषय हैं— अध्यात्म और न्याय। न्याय भी द्रव्यानुयोग की बात कहता है। न्याय से श्रद्धा पुष्ट होती है। जहाँ युक्तियों से वस्तु का स्वरूप समझा, वहाँ उसकी समझ बड़ी दृढ़ हो जाती है। केवल आगम के आधार से वस्तु स्वरूप को माना जाय तो वहाँ पुष्टता नहीं जचती। यद्यपि आगम में शंका न करनी चाहिए, पर यों ही ऊपरी वचनमात्र श्रद्धा भी न करनी चाहिए। यह बात उसके बनती कि जिसने प्रयोजनभूत तत्त्वों को अनुभव से परख

लिया कि यह वास्तविक तत्त्व है, सही स्वरूप ये हैं, उस ही को सर्व आगम के प्रति आस्था होती है। फिर भी अगर युक्तिबल से वस्तुस्वरूप समझ लिया जाये, तो उसकी श्रद्धा और दृढ़ हो जाती है। तो द्रव्यानुयोग का भेद जो दार्शनिक शास्त्र है, उसका परिचय इस जीव की श्रद्धा की दृढ़ता के लिए है और अध्यात्मशास्त्र से अपने आपके उपयोग द्वारा अपने आप में परीक्षा करें, परख बनावें। वह तो बहुत ही पक्का निर्णय देता है कि वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। देखो, सुनी बात सही होती है कि झूठ? सही कम होती है, झूठ ज्यादा होती है, और सुनी बात से देखी हुई बात सच होती है। मगर कभी—कभी देखी हुई बात भी झूठ होती है, किन्तु अनुभव में आयी हुई बात सही है उसे कोई नहीं डिगा सकता।

सुनी हुई बात तो झूठ हो सकती है। बात कुछ हो, सुनाई कुछ गई। उसने दूसरे को सुनाया, तो कुछ और बढ़ाकर सुनाया। उसने सुनाया, तो और बढ़ाकर सुनाया। ऐसे ही अलग—अलग कानों में बात गई, तो वह झूठ बढ़ती चली जाती है। सुनी हुई बात का कोई विश्वास भी नहीं मानता। कहते हैं न, अरे! तुम्हारी सुनी हुई बात है कि देखी हुई बात है? तब वह कहता है कि, भाई! देखी हुई तो नहीं है, सुनी जरूर है। तो उसे सुनकर ही वह अप्रमाण बता देता है। अच्छा यह बताओ—देखी हुई बात क्या हमेशा सच होती है, या झूठ भी निकलती है?

जरा एक दो कथानकों से देखो कि देखी हुई बात कैसे झूठ होती है। कोई पुरुष अपना तीन वर्ष का एक बालक छोड़कर बाहर धन कमाने के लिए चला गया। वह 13—14 साल बाद आया और आकर घर में घुसा और देखा तो वह माँ तो अपने बेटे के साथ सो रही थी और वह पुरुष यह समझ रहा था कि यह तो किसी पर—पुरुष के साथ सो रही है। देखने में आया ऐसा, मगर वहाँ देखो विकार का कोई लेश नहीं उस माँ के। और सुनो, गुजरात प्रान्त का एक किस्सा है। एक राजा ने किसी गरीब का

उपकार किया, तो गरीब तो बड़ा उपकार मानते हैं, वे घर के सारे सदस्य उसका बड़ा उपकार मानते हैं। अब राजा के पाप का उदय आया, सो उसका राज्य छिन गया, तो गरीब बनकर वह इसी धुन में घूम रहा था कि मैं कैसे अपना राज्य वापिस लूँ? तो उसने एक सेना जोड़ी, कुछ बल लगाया, कुछ लड़ाई ठानी, लेकिन वह विजय न पा सका। और जाड़े के दिन होने से उसको ठंड लग गई। ठंड से त्रस्त हुआ राजा जैसे मानो निमोनिया हो गया, बहुत परेशान हुआ, तो उस गरीब के घर के पास से गुजरा। उस समय पुरुष तो न था, पर उसकी स्त्री घर में थी। तो उस गरीब स्त्री के पास कोई विशेष साधन तो था नहीं ठंड से बचाने का, सो उस गरीब स्त्री ने कहा कि यहाँ ठंड से बचाने का और कोई उपाय तो है नहीं, पर हाँ, हमारे शरीर की गर्मी तुम में पहुँच जाय तो इस तरह भी तुम्हारी सर्दी का रोग दूर किया जा सकता है। तो उस समय बीच में तलवार लगाकर वह स्त्री और राजा दोनों एकसाथ सो गए। अब उस स्त्री का पुरुष आता और देखता है तो उसको देखकर उसे बड़ी शंका हो जाती है। उसे देखी हुई बात सच तो लग रही है, लेकिन थोड़ी ही देर में उसने देखा कि यहाँ तो विकार का रंच भी काम नहीं। यह बेचारा तो मर ही रहा है और आड़ में तलवार लगा ली। तो ऐसी कितनी ही बातें देखने को मिलेंगी जो दिखतीं कुछ हैं, और वहाँ बात कुछ है। अच्छा तो सुनी बात भी झूठ हो सकती, देखी बात भी झूठ हो सकती, पर अनुभव में आयी हुई बात को देखो।

कोई एक पुरुष के दो स्त्रियाँ थीं। छोटी स्त्री के तो बालक था और बड़ी के बालक न था, तो उसे ईर्ष्या हुई और अदालत में अपील कर दी कि यह बच्चा तो मेरा है। अदालत में युक्ति से भी उस बड़ी स्त्री ने बताया कि देखो पति का जो धन है, उसमें स्त्री का भी हक होता है न? और सभी लोग कहते हैं कि यह बालक इस पति का है, तो जो पति का

धन है उसमें स्त्री का भी हक है। यह मेरा बालक है। तो राजा ने उसके न्याय की तारीख दे दी। इतने में ही उसने उसका न्याय सोच लिया और पहले से ही सिपाहियों को समझा दिया। अब वे दोनों स्त्रियाँ आयीं, लड़का भी साथ था, तो बड़ी स्त्री कहती है कि यह लड़का मेरा है और छोटी स्त्री कहती है कि यह लड़का मेरा है। तो वहाँ राजा ने यह निर्णय दिया कि देखो, लड़का पति का है, पति के धन पर स्त्री का बराबर हक होता है, इस लड़के के दो टुकड़े बराबर—बराबर कर दो और एक—एक टुकड़ा दोनों स्त्रियों को दे दो। तो सिपाही लोग नंगी तलवार लेकर उस लड़के के दो टुकड़े करने के लिये तैयार हुए। तभी छोटी स्त्री बोल उठी—महाराज! यह मेरा लड़का नहीं है, यह इसी का है, इसी को दे दो। और उधर बड़ी स्त्री खुश हो रही थी कि अच्छा न्याय हो रहा है। तो अनुभव ने बता दिया कि जो स्त्री मना कर रही है, उसका है यह बालक, बड़ी स्त्री का नहीं है। तो अनुयोगों की चर्चाओं में हम सर्वत्र लाभ पाते हैं। हमें आर्ष पर, आगम पर आस्था होनी चाहिए और सब तरह से हम अभ्यास बनायें तो हम अपने ज्ञान और वैराग्य का संतुलन ठीक रख सकते हैं।

हमें स्व—पर का भेदज्ञान नहीं है, इसलिये हम ज्ञान की कदर नहीं कर रहे हैं। जो इन इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। आचार्य श्री विद्यासागर जी मुनिराज ने लिखा है—हमारा स्वरूप क्या है? “अवर्णोऽहं” मेरा कोई वर्ण नहीं, “अस्पर्शोऽहं” मुझे छुआ नहीं जा सकता। यह मेरा स्वरूप है। पर मोह के कारण यह अज्ञानी प्राणी इस पुद्गल शरीर को ही “मैं” मान लेता है।

मोह—वहिन्मपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रिम्।

छेत्तु रागदुकोदधन समत्वभवम्ब्यताम्॥

मोह तो अग्नि के समान है। अग्नि का संताप तो देह पर अल्पकालीन असर डालता है, किन्तु मोहजनित संताप आत्मा को तपाता हुआ चिरकाल

पर्यन्त भवभ्रमण कराता है। मोहकर्म जब आता है, तो कई सद्गुणों को भस्म कर देता है। इसके ताप से समस्त संसार पीड़ित है, किन्तु फिर भी इसकी मोहनी शक्ति से जीव अपना पिण्ड नहीं छोड़ा पाते।

जिनवाणी का स्वाध्याय एक चाबी की तरह है, जिससे मोहरूपी ताले को खोला जा सकता है। हमें भेदविज्ञान की कला में पारंगत होना चाहिए। भावश्रुत की उपलब्धि के लिये हमारा अथक प्रयास चलना चाहिए। शरीर के साथ भौतिक जीवन जीना भी कोई जीवन है? शरीर तो जड़ है और आत्मा उजला हुआ चेतन है। जिस क्षण यह भेदविज्ञान हो जायेगा, उस समय न भोगों की लालसा रहेगी, न ही अन्य इच्छायें रहेंगी। मोह विलीन हुआ, समझो दुःख विलीन हुआ। सूर्य के उदित होने पर क्या कभी अन्धकार शेष रह सकता है। अतः बुद्धिपूर्वक सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करो।

एक दिन श्रीमद् राजचन्द्रजी अपनी दुकान पर बैठे थे। इतने में एक सज्जन आए, उनके हाथ में एक ग्रन्थ था। उन्होंने उसे राजचन्द्रजी को दे दिया। राजचन्द्रजी उसे खोलकर पढ़ने लगे। आधा घण्टे बाद अत्यन्त उल्लास में भरकर, खुशी से उछलते हुए बोले— धन्य है इस महाग्रन्थ को, इसमें तो धर्म के प्राण, आत्मा की सच्ची सुख—शान्ति की बात, आत्मा को पराधीनता से छुड़ाने की चर्चा एवं आत्म—स्वतंत्रता की घोषणा की गई है। अहो! यह ग्रन्थ तो अमृत रस का सागर, रत्नों का खजाना, कामधेनु और आत्मा का कल्पवृक्ष है। आज तो तुमने मुझे अमृत रत्न दिया है। वह ग्रन्थ 'समयसार' था।

इतना कहकर राजचन्द्रजी पेटि में से मुट्ठी भर—भर कर हीरे—जवाहरात ग्रन्थ लानेवाले को देने लगे। ग्रन्थ लानेवाला तथा अन्य आसपास के व्यक्ति भी भौंचक्के होकर देखते रह गए। श्रीमद् राजचन्द्रजी शतावधानी बहुश्रुत विद्वान् थे। इनको महात्मा गाँधीजी ने अपना गुरु स्वीकार किया था।

जिनवाणी ही वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा की अनुभूति, समुन्नति होती है, उसका विकास किया जा सकता है। जिनवाणी का स्वाध्याय करने पर इस शरीर के भीतर छुपा हुआ जो परमात्म तत्त्व है, उसका बोध प्राप्त हो जाता है। स्वभाव का बोध न होने के फलस्वरूप ही संसारी प्राणी पर-पदार्थों की शरण पाने के लिये लालायित हो रहा है। बाहर पर-पदार्थों में उपयोग भटकाते-भटकाते अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है। जब इस जीव को अपने स्वभाव का बोध होगा, तब वह बहिर्मुखी न होकर, अन्तर्मुखी होना प्रारम्भ कर देगा।

मेरा शास्त्र के अभ्यास में जो दिन जाता है, वह धन्य है। परमागम के अभ्यास बिना हमारा जो समय जाता है, वह वृथा है। स्वाध्याय बिना शुभ ध्यान नहीं होता है। शास्त्र के अभ्यास बिना पाप से नहीं छूटता है, कषायों की मंदता नहीं होती है। शास्त्र के सेवन बिना संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है। समस्त व्यवहार की उज्ज्वलता व परमार्थ का विचार आगम के सेवन से ही होता है। श्रुत के सेवन से जगत में मान्यता, उच्चता, उज्ज्वल यश, आदर-सत्कार प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान ही परम बांधव है, उत्कृष्ट धन है, परममित्र है। स्वदेश में, परदेश में, सुख अवस्था में, दुःख अवस्था में, आपदा में, सम्पदा में परम शरणभूत सम्यग्ज्ञान ही है। स्वाधीन अविनाशी धन ज्ञान ही है।

इसलिये शास्त्रों के अर्थ का ही सेवन करो। अपनी संतान को तथा शिष्यों को ज्ञानदान ही करो। ज्ञानदान देने के समान करोड़ धन का दान भी नहीं है। धन तो मद उत्पन्न करता है, विषयों में उलझाता है, दुर्ध्यान कराता है, संसाररूप अंधकूप में डुबोता है, अतः ज्ञानदान समान अन्य दान नहीं है। सभी को आगमग्रंथों का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

प्रवचन भगति करै जो ज्ञाता, लहै ज्ञान परमानन्द-दाता।

आवश्यकपरिहाणि भावना

सब जीवों पर समता रखें, स्तुति पढ़ें नित भक्ति से।
देव गुरु को नमन करें, और ध्यान करें निज शक्ति से॥
प्रतिक्रमण कर क्षमा माँग, और प्रत्याख्यान को अपनावें।
आवश्यक क्रिया सब पालें, समवसरण वैभव पावें॥

सभी जीवों पर समताभाव रखना, भक्ति के साथ तीर्थकरों की स्तुति पढ़ना, देव-शास्त्र-गुरु को नमन करना, अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान करना, प्रतिक्रमण कर सभी जीवों से क्षमा माँगना और प्रत्याख्यान को अपनाना अर्थात् षट् आवश्यक क्रियाओं का पालन करना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

जो अवश्य करने योग्य है, उसे आवश्यक कहते हैं। आवश्यकों की हानि नहीं करने का चिंतन वह आवश्यक परिहाणि नाम की भावना है। यहा आवश्यक के साथ अपरिहाणि जोड़ा गया है कि यथायोग्य आवश्यकों का पालन प्रतिदिन करना है, निर्धारित समय पर करना है और विपरीत परिस्थितियों के निर्मित होने पर भी अपने आवश्यक को नहीं छोड़ना है। आवश्यक का अर्थ है जो 'अवश' या 'अवशी' के द्वारा किया गया है। उसे आवश्यक कहते हैं। जो अपनी इन्द्रिय और मन के वश में नहीं है यानी इन्द्रिय व मन को जिसने 'वश' में कर लिया है, उसे 'अवश' कहते हैं। ऐसे मुनिराजों की क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। आवश्यकों के छः भेद हैं :— सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग।

सामायिक : देह से भिन्न, ज्ञानमय ही जिसकी देह है, ऐसे परमात्म स्वरूप, कर्मरहित, चैतन्यमात्र शुद्ध जीव का एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने वाले मुनि सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होते हैं। निर्विकल्प शुद्ध-आत्मा के गुणों में जिनका मन स्थिर नहीं होता है, ऐसे तपस्वी मुनि छः आवश्यक क्रियाओं को अच्छी तरह अंगीकार करें तथा आते हुए अशुभ कर्मों के आस्रव को रोकें, टालें।

प्रथम तो सुन्दर-असुन्दर वस्तु में, तथा शुभ-अशुभ कर्म के उदय में राग-द्वेष नहीं करो। आहार-वसतिकादि के लाभ-अलाभ में समभाव करो। स्तुति-निंदा में, आदर-अनादर में, पाषाण-रत्न में, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र में, सुख-दुःख में, श्मशान-महल में, राग-द्वेष रहित परिणाम समभाव है। जो साम्यभाव के धारक हैं, वे बाह्य पुद्गलों को अचेतन व अपने से भिन्न जानकर उनमें रागद्वेष करना छोड़ देते हैं तथा अपने को शुद्ध, ज्ञाता-दृष्टारूप अनुभव करते हुए राग-द्वेषादि विकार रहित रहते हैं, उनके साम्यभाव होता है, वही सामायिक है।¹

स्तवन : भगवान् जिनेन्द्र का अनेक नामों के द्वारा स्तवन करना, वह स्तवन नाम का आवश्यक है। आपने कर्मरूप शत्रुओं को जीता है अतः आपका नाम 'जिन' है। आपको किसी ने बनाया नहीं है तथा आप स्वयं ही अपने स्वरूप में रहते हैं, अतः 'स्वयंभू' हैं। आप केवलज्ञानरूप नेत्र द्वारा त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानते हो, अतः आप 'त्रिलोचन' हो। आपने मोहरूप अन्धासुर को मार दिया है, अतः आप 'अन्धाकान्तक' हो। आपने आठ कर्मों में से चार घातिया कर्मोंरूप आधे बैरियों का नाश करके ही अद्वितीय ईश्वरपना पाया है, अतः आप 'अर्द्धनारीश्वर' हैं। आप शिव पद अर्थात् निर्वाण पद में विराजमान हैं, अतः आप 'शिव' हैं। पापरूप बैरी का आप संहार करते हैं, अतः आप 'शंकर' हो। शं अर्थात् परम आनन्दरूप सुख, उसमें आप रहते हैं, अतः आप 'शंभू' है। वृष अर्थात् धर्म, उससे आप

शोभित हैं, अतः आप 'वृषभ' हैं। जगत के सम्पूर्ण प्राणियों में गुणों के द्वारा आप बड़े हैं, अतः आप 'जगज्ज्येष्ठ' हैं। क अर्थात् सुख, उसके द्वारा आप सभी जीवों का पालन करते हो, अतः आप 'कपाली' हो। केवलज्ञान द्वारा आप समस्त लोक-अलोक में व्याप्त हो रहे हो, अतः आप 'विष्णु' हो। जन्म-जरा मरणरूप त्रिपुर का आपने अंत कर दिया है, अतः आप 'त्रिपुरांतक' हो। इस प्रकार से इंद्र ने आपका एक हजार आठ नामों द्वारा स्तवन किया है। गुणों की अपेक्षा आपके अनन्त नाम हैं। इस प्रकार भावों में चौबीस तीर्थकरों के गुणों का चिन्तन करके स्तवन करना, वह स्तवन नाम का आवश्यक है।²

वंदना : चौबीस तीर्थकरों में से किसी एक तीर्थकर की, तथा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु में से किसी एक को मुख्य कर उनकी स्तुति करना, वह वंदना आवश्यक है।³

प्रतिक्रमण : सम्पूर्ण दिन में प्रमाद के वश होकर, कषायों के वश होकर, विषयों में रागी-द्वेषी होकर किसी जीव का घात किया हो, निरर्थक प्रवर्तन किया हो, सदोष भोजन किया हो, किसी जीव के प्राणों को कष्ट पहुँचाया हो, कर्कश-कठोर-मिथ्या वचन कहा हो, किसी की निंदा-बदनामी की हो, अपनी प्रशंसा की हो, स्त्री कथा, चौर कथा, भोजन कथा, राज्य कथा की हो, अदत्त धन ग्रहण किया हो, पर के धन में लालसा की हो—वे सब मिथ्या होवें, पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से हमारे पापरूप परिणाम नहीं होवें। ऐसे भावों की शुद्धता के लिये कायोत्सर्ग करके पंचनमस्कार के नौ जाप करना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण दिन की प्रवृत्ति को संध्याकाल चिंतन करके पाप परिणामों की निंदा करना, वह दैवसिक प्रतिक्रमण है। रात्रिसंबंधी पापों को दूर करने के लिये प्रभात में प्रतिक्रमण करना, वह रात्रिक प्रतिक्रमण है। मार्ग में चलने में दोष लग गया हो, उसकी शुद्धि के लिये जो प्रतिक्रमण

है वह ईर्यापथिक प्रतिक्रमण है। एक पखवाड़े के दोषों के निराकरण के लिये पाक्षिक प्रतिक्रमण है, चार माहों के दोषों के निराकरण के लिये चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। एक वर्ष के दोषों के निराकरण के लिये सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है। समस्त पर्याय—(जीवनभर) के समय के दोषों के निराकरण के लिये अंत्य सन्यासमरण के पहले जो प्रतिक्रमण है, वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। ऐसा सात प्रकार का प्रतिक्रमण है। 4।

प्रत्याख्यान : आगमी काल में पाप का आस्रव रोकने के लिये पापों का त्याग करना कि मैं भविष्य में ऐसा पाप मन—वचन—काय से नहीं करूँगा, वह प्रत्याख्यान नाम का आवश्यक है, जो सुगति का कारण है। 5।

कायोत्सर्ग : चार अंगुल के अंतर से दोनों पैर बराबर कर खड़े होकर, दोनों हाथों को नीचे की ओर लम्बे लटकाकर, देह से ममता छोड़कर, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, देह से भिन्न शुद्ध आत्मा की भावना करना 'कायोत्सर्ग' है। निश्चल पद्मासन से भी तथा खड़े होकर भी कायोत्सर्ग किया जा सकता है, दोनों ही अवस्थाओं में शुद्ध ध्यान के अवलंबन से ही सफल कायोत्सर्ग होता है। 6।

जो समय पर अपने आवश्यकों का पालन नहीं करते, उनका सारा जीवन अव्यवस्थित हो जाता है।

एक गाँव में किसी के घर नयी बहू आयी थी। वह कम पढ़ी—लिखी थी। एक दिन सासूजी ने कहा— 'बहू! तुम जाकर पड़ोसी के वहाँ सांत्वना दे आओ, उनके यहाँ कोई मर गया है।' बहू पड़ोसी के घर जाकर न रोई, न दुःख व्यक्त किया, मात्र सांत्वना देकर आ गई। सासू ने समझाया— बहू! वहाँ तो रोना चाहिए था, आगे से ध्यान रखना।' दो—चार दिन में फिर किसी के घर जाने का अवसर आया तो सासू ने बहू से कहा कि जाओ, उनके यहाँ बधाई देकर आओ। बहू गई और जोर—जोर से रोने लगी और कहा कि आपको बधाई। सारे लोग बहू की अज्ञानता पर हँसने

लगे। पर वह क्या करे, वह तो अनपढ़ थी बेचारी। सासू ने फिर समझाया कि बहू! ऐसे में तो गीत गाकर खुशी जाहिर करनी चाहिए। तुमने गड़बड़ कर दी। तीसरी बार जब पड़ौसी के यहाँ आग लगी तो बहू जाकर गाना गाने लगी, खुशी जाहिर करने लगी।

बात इतनी ही है कि जो काम जिस समय करना है, उसे नहीं किया जाए, तो सब अव्यवस्थित हो जाता है। हमारा जीवन क्यों अव्यवस्थित है? क्यों अस्त-व्यस्त हो जाता है? हम क्यों अपना जीवन अच्छा नहीं बना पाते, अपना कल्याण नहीं कर पाते? सबका एक ही उत्तर है कि हम करने योग्य आवश्यक कार्य समय पर नहीं करते। हर बार चूक जाते हैं। जो अपने इन्द्रिय व मन पर नियंत्रण नहीं रख पाता, वही विवश है। विवश होकर संसार में भटकता रहता है। जीवन की आपाधापी में उलझा रहता है। सारा जीवन यूँ ही बीत जाता है। वह बहू तो बेचारी अनपढ़ थी, इसलिए जैसा कह दिया वही करने के लिए विवश थी, पर हम तो पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं, फिर भी हम अपना कर्तव्य समय से नहीं कर पा रहे हैं।

हमें समय रहते सचेत होकर अपने इन्द्रिय व मन की गिरफ्त से (नियंत्रण से) बाहर निकल आना चाहिए। इन्द्रिय और मन की पकड़ से बाहर आने का सीधा-सा उपाय है कि हम इन्द्रिय व मन का सदुपयोग करें। जो व्यक्ति इन्द्रिय और मन का सदुपयोग करना सीख लेता है, वह व्यक्ति स्वयं ही इन्द्रिय और मन की पकड़ से बाहर निकल जाता है। वह अपने इन्द्रिय और मन को नियंत्रित कर लेता है। इन्द्रिय और मन का सदुपयोग करने का मतलब है उन्हें धर्म्यध्यान में लगाए रखना। जिसने अपने इन्द्रिय और मन को विषय-भोग में लगा रखा है, मानिए वह उनका दुरुपयोग कर रहा है और स्वयं इन्द्रिय व मन के आधीन है। वह इन्द्रिय व मन की पकड़ में है।

हम विचार करें कि हमारा जीवन सुबह से शाम तक किस महत्वपूर्ण काम में व्यस्त रहता है? क्या अपने सुख-सुविधा की सामग्री जुटाना महत्वपूर्ण है?

वर्णीजी के जीवन की घटना है। वे नैनागिरि तीर्थ पर वंदना करने जा रहे थे। उन दिनों पक्की सड़क नहीं थी। धूल भरे रास्ते में ताँगे से जाना पड़ता था। एक ताँगे में बैठकर वर्णीजी जा रहे थे। रास्ता लम्बा था। ताँगा धीरे-धीरे जा रहा था। वर्णीजी ने सोचा कि गन्तव्य तक पहुँचने में तो देर हो जाएगी, चार पेड़े (मावा की मिठाई) पास में है, रास्ते में ही खाकर निवृत्त हो जाना चाहिए, फिर शाम हो जाएगी तो भूखे रहना पड़ेगा। तो वर्णीजी ने चार में से दो पेड़े निकालकर ताँगे वाले को खाने के लिए दे दिये। ताँगे वाला कृतज्ञता से भर गया। अभी थोड़े ही दूर चले थे कि पैदल जाती हुई चार सवारियाँ मिल गईं। वर्णीजी ने बड़े दया-भाव से कहा कि भइया, इन्हें भी बिठा लो। चार सवारियाँ और बैठ गईं। ताँगा अपनी चाल से धीरे-धीरे चल रहा था। उन चारों सवारियों ने हड़बड़ी मचाई। ताँगे वाले से बार-बार कहना शुरू किया कि जरा जल्दी चलाओ। आप देख रहे हैं इस संसार की दशा ? जो थोड़ी देर पहले पैदल जा रहे थे, जिन्हें कृपा करके ताँगे में बैठा लिया, अब वही लोग बड़े अधिकारपूर्वक ताँगे वाले को जल्दी चलने के लिए कह रहे हैं। सिर्फ अपना जीवन, अपनी सुख-सुविधा का ही जिन्हें ख्याल है और जिनके जीवन में दूसरे का जरा भी ख्याल नहीं है, दूसरे की सुविधा-असुविधा का जरा भी विचार नहीं है, बताइए, उसका जीवन क्या सार्थक माना जाएगा? कदापि नहीं। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन में और चाहे जो भी प्राप्त कर ले, लेकिन सच्चा सुख, शान्ति और मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाएगा।

अचानक तेजी से हवा आई और धूल उड़ने लगी। वर्णीजी को थोड़ी परेशानी महसूस हुई। ताँगे वाले ने ताँगा थोड़ा तेज-रफ्तार से चलाना

शुरू कर दिया ताकि धूल कम लगे वर्णीजी को। उन चार सवारियों में से एक व्यक्ति ताँगे वाले से थोड़ा गुस्से में बोल पड़ा कि देखो, इस आदमी (वर्णीजी) के लिए तुमने तांगा तेज चलाना शुरू कर दिया और इतनी देर से हम जल्दी चलाने को कह रहे थे तो हमारी बात नहीं सुनी। पैसे तो हम भी देंगे। ताँगे वाले की आँखों में आँसू आ गए, उसने हाथ जोड़ लिए और कहा— “आप लोग नाराज न हों। पैसा ही सबकुछ नहीं है। पैसे तो हमें सबसे मिलते हैं। पर इन्होंने (वर्णीजी) जो दो पेड़े प्यार से दिए हैं, वह कोई नहीं देता।”

बात जरा—सी है, पर बहुत महत्वपूर्ण है। यही बात जीवन को ऊँचा उठाती है, जीवन को सार्थकता देती है। हम मात्र इन्द्रिय—सुख और मन की इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीवन भर दौड़ते रहते हैं। पर कभी पूर्ति नहीं हो पाती। झोपड़ी में रहो या आलीशान बंगले में, आप बहुमूल्य वस्त्र पहनो या साधारण—सी खादी पहनो, इन सबसे ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। जीवन की सार्थकता तो स्व—पर कल्याण की भावना भाने में ही है। अपना और प्राणीमात्र का कल्याण चाहने वाला ही तीर्थकर—पद को पाता है। अपने जीवन को सार्थक करता है।

मानवजीवन एक महान् जीवन है। क्योंकि सभी पर्यायों में यह मानव पर्याय उत्तम है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुये आज हमें यह मनुष्यपर्याय प्राप्त हुई है। अतः इसकी सार्थकता धर्म करने में ही है, जैसा कहा भी है—

आहारनिद्राभयमैथुनंच सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणामः।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्मणहीनाः पशुभिः समानाः॥

भोजन, निद्रा, भय और मैथुन क्रियाएँ मनुष्य और पशु में समान रूप से हैं। मनुष्यों में केवल धर्म ही विशेष है, जो इन्हें तिर्यचों से अलग करता है। धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान है। आज हमें सभी सुलभ एवं

अनुकूल साधन मिले हुये हैं। अच्छा कुल, पूर्ण स्वस्थ शरीर, साक्षात् दिगम्बर मुनिराजों के दर्शन एवं धर्मोपदेश, फिर भी यदि जीवन में शान्ति नहीं मिली, सुख का अनुभव नहीं हुआ, फिर इस मनुष्यपर्याय को पाने का क्या लाभ?

सुन्दर शरीर मिलने, भोग—उपभोग पाने, अनुचित कार्य करने, बहुत धनवान् बनने, महान् उद्योगपति बनने, महान् अधिकारी या राजा—सम्राट बनने से मनुष्यजन्म सफल नहीं होता। ऐसी बातों में तो देव मनुष्य से बहुत आगे हैं। अतः मनुष्यभव की सफलता उस धर्म की आराधना करने से है, जो देवपर्याय में नहीं हो सकती। जिससे आत्मा का उत्थान हो, वह साधना केवल मनुष्यपर्याय में ही संभव है। इस महान और दुर्लभ मनुष्य पर्याय में संयम को धारण कर राग—द्वेषरूपी वृक्ष को भेदना चाहिए।

इसकी प्राप्ति के लिये आचार्यों ने श्रावकों को प्रतिदिन कुछ करने योग्य कार्य बताये हैं, जिन्हें षट् आवश्यक कहते हैं। ये षट् आवश्यक देवों में नहीं हैं, तिर्यचों में नहीं हैं और नारकियों में भी नहीं हैं। ये केवल मनुष्य पर्याय में ही संभव हैं। गृहस्थों के षट् आवश्यक कार्यों का वर्णन करते हुए आचार्य पद्मनन्दि महाराज ने लिखा है—

देवपूजा गुरुपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने—दिने॥

1. देवपूजा, 2. गुरुपासन, 3. शास्त्र—स्वाध्याय, 4. संयम का पालन, 5. तप, 6. दान— ये श्रावकों के धार्मिक षट् आवश्यक कार्य होते हैं, जिन्हें प्रत्येक श्रावक को करना चाहिये। जो मनुष्य उत्तम कुल, सम्पत्ति आदि को प्राप्त करके भी धार्मिक क्रियाओं को नहीं करता, वह व्यक्ति अज्ञानी/मूर्ख है। धर्म का आचरण करने से संसार का नाश व अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

एक व्यापारी बहुत धनवान् था। वह अपने व्यापार को बढ़ाने के लिये

एक बहुत बड़ी और सुन्दर दुकान सोने—चाँदी, जवाहरात, हीरे—मोतियों की सराफे बाजार में खोलता है। उसमें सुन्दर फर्नीचर लगवाता है, सजाता है। बेचने के लिये माल भी ले आता है। किन्तु सब माल तिजोरियों में बंद कर देता है। तत्पश्चात् वह नया माल लाता है कोयले का और कोयला बेचना प्रारम्भ कर देता है।

इस प्रकार वह करने योग्य कार्य को न करके उल्टा कार्य करता है, मनुष्य उसे मूर्ख/पागल नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे? ठीक इसी प्रकार की स्थिति उस मनुष्य की है जो अपनी इस दुर्लभ मानवपर्याय को अपने इस शरीररूपी सोने—चाँदी की दुकान में षट् आवश्यक रूपी सोने—चाँदी का व्यापार नहीं करता, अपितु विषय—कषाय के कार्यों में मनुष्यपर्याय को खो देता है। मनुष्यपर्याय को पाने के लिए देव, इन्द्र, अहमिन्द्र भी तरसते हैं।

तृतीयकाल के अन्त समय में राजा ऋषभदेव राज्य करते थे। एक बार वे अपने महल में नीलांजना का नृत्य देख रहे थे। तभी नीलांजना की मृत्यु हो जाती है, किन्तु इन्द्र अपनी शक्ति से शीघ्र दूसरी नीलांजना का रूप बना देता है। सभा में किसी को पता नहीं लग पाता कि नर्तकी नीलांजना की मृत्यु कब हो गयी। परन्तु राजा ऋषभदेव इस परिवर्तन को जान जाते हैं और जीवन की क्षणभंगुरता को देख स्वयं के जीवन से विरक्त हो जाते हैं।

जब भगवान् तप के लिए जंगल जाने लगते हैं तो मनुष्य और देव भगवान् की पालकी को वन में ले जाने हेतु खूब सजाते हैं। इसी बीच एक घटना घटित हो जाती है। इन्द्र और मनुष्यों में विवाद हो जाता है कि भगवान् की पालकी पहले कौन उठायेगा। इन्द्र कहता है कि पहले हम उठायेंगे और मनुष्य कहते हैं कि पहले हम उठायेंगे। जब विवाद बढ़ जाता है, तो निर्णय करवाने के लिये वे राजा नाभिराय जी के पास जाते

हैं। नाभिराय से इन्द्र कहता है कि मैंने भगवान् का गर्भ एवं जन्म कल्याणक मनाया, नगर में रत्न बरसाये, इसलिये भगवान् की पालकी सर्वप्रथम हम उठायेंगे। नाभिराय जी कहते हैं कि भगवान् तपस्या हेतु वन में जा रहे हैं और तप केवल मनुष्य ही कर सकता है, इसलिये पालकी को पहले मनुष्य उठायेंगे, बाद में देवता। तब इन्द्र कहता है कि मैं एकसाथ 170 समवसरण लगा सकता हूँ और एक समवसरण में 100 चक्रवर्तियों की सम्पदा लगती है। अरे मनुष्यो! तुम मेरी यह सारी सम्पदा ले लो, किन्तु कुछ समय को अपना मनुष्यभव मुझे दे दो, जिससे मैं भगवान् की पालकी उठा सकूँ।

मनुष्यभव का कितना मूल्य है, यह अधिकांश मानव नहीं जानते। इसे भोग—विलास में खोना, पंचेन्द्रिय के विषयों में फँस करके इस जीवन को नष्ट करना महामूर्खता है। आज के इस भौतिक युग में, फैशन की अन्धी दौड़ में अधिकतर मनुष्य अपने षट् आवश्यक कार्यों को भूल गये हैं, इसलिये उनको सुख—शांति का अनुभव नहीं होता। मानवजीवन आत्मकल्याण करने के लिये होता है। मनुष्यजन्म की सार्थकता अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन करने में है। धार्मिक कर्तव्यों का पालन करने से आत्मा सुमार्गगामी होता है। सुमार्ग वही होता है, जिसमें आत्मपरिणति निर्मल हो जाती है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को षट् आवश्यक कर्तव्यों का पालन प्रतिदिन उत्साह से करना चाहिये।

षट् आवश्यक काल जो साधै, सो ही रत्नत्रय आराधै॥

मार्गप्रभावना भावना

तीर्थयात्रा करवाकर, या रचवाकर पूजन विधान।

चमत्कार या जप करके, करे प्रभावना जिन भगवान्।।

जुलूस निकले गाँव शहर, और जगह—जगह दे जिनोपदेश।

जिनमारग प्रभावना करके, पले सच्चा स्व परिवेश।।

तीर्थ यात्रा करवाकर, पूजन—विधान आदि रचवाकर, चमत्कार जापानुष्ठान तप की वृद्धि करके, जुलूस आदि निकालकर नगर—नगर चौराहे आदि में उपदेश देकर जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए। प्रभावना करने से सच्चा परिवेश मुक्ति की प्राप्ति होती है।

सन्मार्ग अर्थात् मोक्ष का मार्ग, शांति का रास्ता, उसकी प्रभावना करना, विस्तार करना, प्रसार करना, सो सन्मार्ग प्रभावना है। देखो किस मार्ग से चलें तो वास्तव में मुझे शांति प्राप्त हो। वही तो सन्मार्ग है। आत्मा स्वयं शांति का घर है, ज्ञानानंद का पुंज है, रागाद्वेषादिक परभावों से और परपदार्थों के सम्पर्क से रहित है। ऐसे विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र आत्मतत्त्व की श्रद्धा होना, उसका परिज्ञान होना और उस ही में रमण होना, इसे कहते हैं सन्मार्ग। इस सन्मार्ग की प्रभावना हो, उसे कहते हैं सन्मार्ग प्रभावना।

यह सन्मार्ग प्रभावना खुद के शुद्ध आचरण किए बिना हो नहीं सकती। धन से, धन के खर्च करने से और बड़े—बड़े विधान, पूजा, कल्याणक, पंचकल्याणक आदि सबकुछ समारोह मनाने से, बड़ा धन वैभव खर्च करने से लोगों को क्या सन्मार्ग की छाप पड़ सकती है? अरे! लोगों के हृदय में सन्मार्ग की छाप पड़ेगी तब, जब खुद सन्मार्ग पर चलकर

सामने उन्हें दीखेंगे। जो खुद भटा खाये, वह दूसरों को भटा के त्याग का क्या उपदेश देगा?

एक कोई वक्ता सभा में भटा के अवगुण बता रहा था। भटा में सबसे बड़ा अवगुण यह है कि उसमें इस तरह की पर्त होती है कि दो-दो अंगुल के भटे के टुकड़े भी बना लें तो भी कीड़ा छुपा हुआ रह सकता है। उसमें कीड़ा है कि नहीं, यह आप जान नहीं सकते। ऐसे भटे के त्याग का उपदेश कर रहे थे। बाद में घर पहुँचे। स्त्री ने भी सुन रखा था कि भटा में बड़े अवगुण बताये हैं हमारे पतिजी ने व इसके त्याग का उपदेश भी दिया है। सो जो भटा बनाये रखे थे पहिले के, उठाकर नाली के पास फेंक दिये, क्योंकि बेकार हैं। अब भोजन करने आये भाईजी, तो कहा—अरे! भटा नहीं बनाये क्या? स्त्री बोली कि आपने ही उपदेश किया था, सो हमने जल्दी आकर उन भटों को फेंक दिया। “अरी! बटोर ला ऊपर—ऊपर से।” यह क्या ? अरे! वह तो दूसरों के लिए कह रहे थे।

हम अन्याय से चलें, अशुद्ध व्यवहार करें, दूसरों पर दया न रखें, अनेक प्रकार के दगाबाजी, छल के काम करें, इस तरह के हम काम करने वाले तो लोक की निगाह में हैं, पर हम धर्म के नाम पर पैसा खर्च कर दें, तो इससे उनके चित्त पर सन्मार्ग की छाप नहीं पड़ सकती। न भी खर्च कर सकें धर्मसमारोह में अधिक, तो न सही, परन्तु स्वयं हम खुद भले आचरण से रहते हों तो सन्मार्ग की प्रभावना बराबर चलेगी।

जो मनुष्य अपना आचरण शुद्ध बनाकर अपना उपकार करता है, उससे दूसरों का उपकार स्वयमेव होता रहता है। वास्तविक प्रभाविक प्रभावना तो यह है कि अपने रत्नत्रय तेज के द्वारा भी सन्मार्ग पर चलें और फिर विधान—पूजन समारोह जलसों में सबकुछ करें तो वह भी प्रभावना का अंग बनेगा।

यह मनुष्यजन्म, इंद्रियों की पूर्णता, ज्ञानशक्ति, परमागम की शरण,

साधर्मियों का समागम, रोगरहित अवस्था, क्लेशरहित जीविका, इत्यादि पुण्यरूप सामग्री प्राप्त करके भी यदि आत्मा को मिथ्यात्व, कषाय, विषयों से नहीं छुड़ाया, तो अनन्तानन्त दुःखों से भरे संसारसमुद्र से मेरा निकलना अनन्तकाल में भी नहीं होगा। जो सामग्री आज मिली है, वह अनन्तकाल में भी मिलना अतिदुर्लभ है। अंतरंग-बहिरंग सकल सामग्री पाकर भी यदि आत्मा का प्रभाव प्रकट नहीं करूँगा, तो काल अचानक आकर समस्त संयोग नष्ट कर देगा। इसलिये अब मुझे राग-द्वेष दूर करके, जैसे मेरा शुद्ध वीतराग स्वरूप अनुभवगोचर हो, उस प्रकार ध्यान-स्वाध्याय में तत्पर होना चाहिये।

मार्गप्रभावना के बारे में लिखा है—

विज्जरहमारुढो मणोरहपहेसु भमदि जो चेदा।

सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।

जिनेन्द्र भगवान् के बताए मार्ग की प्रभावना करने में वह मुनि श्रेष्ठ है, जो विद्या के रथ पर यानी आत्मज्ञान के रथ पर आरुढ़ होकर अपने इन्द्रिय व मन को वश में करके अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने में लगा हुआ है। वास्तव में सम्यग्दर्शन से सम्पन्न मुनिराज ही जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग की सच्ची प्रभावना करते हैं। मोक्षमार्ग की महिमा को प्रकटाते हैं। उन्हें देख करके लोग भी मोक्षमार्ग पर चलने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। सच्चा मार्ग वही है और सच्चे मार्ग की महिमा भी वही है, जिस पर चलने वाला स्वयं जीवन को निरन्तर उज्ज्वल और निर्मल बनाता है। साथ ही जिसे देखकर दूसरा भी अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिए उत्साहित और लालायित हो जाता है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में लिखा है कि —

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव।

दान-तपो-जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।

रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा को प्रभावनायुक्त करना चाहिए और यथाशक्ति दान देकर, तप धारण करके, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करके या ज्ञान आदि की महिमा के द्वारा जिनधर्म की, सच्चे मार्ग की प्रभावना करनी चाहिए। देखिए, बाह्य और अंतरंग का कितना बढ़िया समायोजन इसमें किया गया है। स्वयं रत्नत्रय धारण करके अपने अंतरंग को निर्मल बनाना और बाह्य में जो निर्मलता के साधन हैं, उनके माध्यम से जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए। बाह्य में दिखाई देनेवाले जप—तप, दान—पूजा, व्रत—नियम और ज्ञान—ध्यान आदि सभी अंतरंग को निर्मल बनाने के सशक्त साधन हैं।

दान देने से प्रभावना होती है, लेकिन संक्लेशपूर्वक या अहंकारवश, यश—ख्याति की आकांक्षा से दिए गए दान से प्रभावना मानना ठीक नहीं है। दान तो ऐसा दिया जाए जिससे स्व—पर कल्याण हो। जिसे देने से मन प्रसन्न हो, निर्मल हो। “दान देय मन हरष विसेखै”—दान देकर मन हर्षित हो जाए। दान देने वाले और लेने वाले का मोक्षमार्ग प्रशस्त हो जाए। श्रेयांस राजा ने सबसे पहले दान दिया था। भगवान् ऋषभदेव के हाथों में आहार देकर अपने हाथ पवित्र कर लिए। हाथ ही क्या, पर्याय ही पवित्र हो गयी, मनुष्यजीवन सार्थक हो गया। दानतीर्थ की स्थापना हो गई।

इतिहास में भामाशाह का दान प्रसिद्ध है। भामाशाह जैनधर्म के अनुयायी थे। गाँधीजी ने देश की आजादी के लिए अपनी चादर दे दी थी। वर्णीजी ने विद्यालय की स्थापना के लिए अपनी चादर दे दी थी। ऐसा दान आज के हजारों—लाखों रुपये के दान से श्रेष्ठ माना गया है। एक बुढ़िया ने अपनी एक दिन की पूरी कमाई, जो कुल एक रुपया थी, दान में दे दी थी। वह दान बहुत प्रशंसनीय माना गया था, क्योंकि वह मात्र एक रुपया नहीं था, वह तो बुढ़िया ने अपना सर्वस्व दान में दे दिया

था। दान से प्रभावना कैसे होती है? जब दान से अपने भाव निर्मल हो जाएँ, निर्लोभ—वृत्ति आए और दूसरे का भी उपकार हो।

तपस्या से प्रभावना होती है। चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महान तपस्वी थे। अपने जीवन में उन्होंने लगभग दस हजार उपवास किए। नीरस भोजन करने की साधना की। अनेक उपसर्ग और परीषहों को जीता। सिंह आकर उनके समीप बैठा रहा, सर्प उनके शरीर से लिपटा रहा, पर वे अपने आत्मध्यान में लीन रहे। आचार्य शान्तिसागरजी महाराज ने अपनी निर्दोश मुनिचर्या और तपस्या के द्वारा जैनमुनि की वीतराग दिगम्बर छवि की महिमा सारे देश में फैलाई। आज अपन सभी लोग उनके इस उपकार के कारण वर्तमान में शान्तिपूर्वक अपना धर्म्यध्यान कर पा रहे हैं, वरना उस समय मुनिराज का विहार आदि भी कहीं—कहीं बहुत मुश्किल से हो पाता था। आज हमारा यह भी सौभाग्य है कि हम लोग आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के दर्शनलाभ ले रहे हैं। वे ज्ञान, ध्यान और तप की मूर्ति हैं। आज उनके द्वारा जो त्याग—तपस्या की जा रही है वह मोक्षमार्ग की सच्ची प्रभावना है। उन्होंने अपने जीवन में लगातार नौ दिन तक निर्जल उपावास किए हैं। घंटों निर्जन जंगल में जीव—जन्तुओं के बीच तपस्या की है। अपने विशाल संघ का कुशलता से प्रवर्तन करते हुए भी निस्पृहतापूर्वक अपने आत्मकल्याण में तत्पर रहना, यह बहुत बड़ी तपस्या है। आज उनके द्वारा जो मोक्षमार्ग की प्रभावना की जा रही है, वह अपूर्व है।

जिनेन्द्र भगवान् की पूजा से भी धर्म की प्रभावना करने वाले लोग हुए हैं। सिद्धचक्रमण्डल विधान करके मैनासुंदरी ने अपने असाता कर्मों की निर्जरा की। श्रीपाल के भी परिणाम निर्मल होने से व जिनपूजा के प्रभाव से असाता कर्म नष्ट हो गए। पुण्य का संचय हुआ। व्याधि शान्त हो गई। सब ओर जिनधर्म की जय—जयकार हुई। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने,

आचार्य मानतुङ्ग स्वामी ने, आचार्य वादिराज महाराज ने जिनेन्द्र भगवान् की ऐसी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक स्तुति की जिससे कि स्वयं उनका ही नहीं, अनेक जीवों का कल्याण हुआ है और वर्तमान में हो रहा है। अपन से तो भगवान् का गुणगान, उनकी स्तुति जो पहले से लिखी हुई है वही ठीक से करते नहीं बनती, इन महान आचार्यों ने स्वभूस्तोत्र, भक्तामर स्तोत्र, एकीभाव स्तोत्र आदि की स्वयं रचना करके भगवान् जिनेन्द्र का गुणगान किया है। यह है सही प्रभावना।

सम्यग्ज्ञान के माध्यम से भी मार्ग की प्रभावना होती है। सारा संसार दुःखी है और दुःख का प्रमुख कारण है अज्ञान। हमारा कर्तव्य है कि हम इस अज्ञान के अधंकार को हटाएँ। और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश फैलाकर वीतरागमार्ग की प्रभावना करने में सदा तत्पर रहें। समीचीनज्ञान के माध्यम से आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव और आचार्य विद्यानंदी महाराज ने धर्म की ध्वजा फहराई। संसार में फैले हुए विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच सत्य को स्थापित किया। आचार्य अकलंक स्वामी इतने कुशाग्र बुद्धि के धनी थे कि एक बार पढ़ने से उन्हें ग्रंथ-के-ग्रंथ कंटाग्र हो जाते थे। वीतरागभाव की रक्षा के लिए, जब अपने छोटे भाई को राजा के सैनिकों ने पकड़ कर सदा के लिए सुला दिया, तब बहुत दुःखी मन से लेकिन अत्यन्त धैर्य और साहस का परिचय देते हुए आपने अपने प्राण बचाए और शेष जीवन जिनवाणी की आराधना करके वीतराग-मार्ग की महती प्रभावना की।

दान, पूजा, उपवास आदि से मार्ग की प्रभावना होती है। इन्हें सबको करना चाहिए, और सावधानीपूर्वक करना चाहिए। मैं दान दूँगा तो मेरा नाम होगा, मैं पूजा-विधान रचाऊँगा तो लोग मेरा नाम याद रखेंगे, मैं उपवास आदि के द्वारा तपस्या करूँगा। इससे मेरी प्रशंसा होगी, मैं खूब ज्ञान प्राप्त करूँगा तो मेरी ख्याति फैलेगी। पर ये सब दान, पूजा आदि

अपनी महिमा फैलाने या अपनी प्रसिद्धि बढ़ाने के लिए नहीं हैं। हमारे भीतर दान, पूजा आदि के समय भाव तो यह आना चाहिए कि इससे मेरी कर्मनिर्जरा होगी, सब जीवों का कल्याण होगा और वीतराग-मार्ग की महिमा फैलेगी।

हम सभी लोग आज ऐसी भावना भाएँ कि हमारे आचरण से, हमारी श्रद्धा और ज्ञान के माध्यम से मोक्षमार्ग की प्रभावना हो। हम अपना जीवन जितना उज्ज्वल बनाएँगे उसे देखकर दूसरों को भी अपना जीवन उज्ज्वल बनाने का भाव उत्पन्न होगा और इस तरह वीतरागमार्ग की आपोआप प्रशंसा होगी। हमें हमारे जीवन में जितना आडम्बररहित होकर जिएँगे, जितना सादगीपूर्वक जिएँगे, उतना ही अपना और दूसरे का उपकार होगा। असल में, धर्म हमारी श्वासों में समा जाए तो हर श्वास धर्म का संदेश देने वाली होगी। हमारे मन, वाणी और शरीर के द्वारा सहज ही धर्म प्रकट होगा। यही सच्ची वीतरागमार्ग की प्रभावना है।

चीनी यात्री ह्येन सांग ने लिखा है— “मैंने भारतयात्रा के दौरान एक ऐसा वर्ग देखा जिसकी चर्या सूर्योदय से शुरू होकर सूर्यास्त पर समाप्त होती है। समाज में इस वर्ग को विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है।” हमारे आचरण से धर्म की बड़ी प्रभावना होती है, अतः हमें कभी भी अपने आचरण में दोष नहीं लगाना चाहिये।

एक बार क्या हुआ, ग्रीष्म की बहुत तपन पड़ी। उस तपन से विह्वल एक चातक का बच्चा अपनी माँ से बोला— माँ! प्यास लगी है। चातकी कहती है—बेटे! हमारे वंश की परम्परा है कि प्यास से प्राण छोड़ देंगे, लेकिन नदी-नालों का पानी नहीं पियेंगे। तब, माँ! कौन-सा पानी पियेंगे? स्वाति नक्षत्र की बूँद को ही पियेंगे। बेटा नहीं माना, मचल गया, बोला—माँ! मैं तो पानी पिऊँगा। बेटा! तुम कहाँ जाओगे? क्या तुम गंगा नदी का पानी पिओगे? उसमें तो शव डाले जाते हैं। बोला— माँ! नहीं

पिऊँगा। उस बेटे ने मान लिया कि मैं मानरोवर का ही पानी पिऊँगा। माँ ने आशीष दिया—जाओ, बेटा! पानी पी आओ, लेकिन कुल की आन—बान—शान का ध्यान रखना। माँ ने आशीष दिया और धीरे से बोल दिया कि मेरे सुत! यदि तुम चातक—वंश के हो, तो तुम किसी भी जलाशय का पानी नहीं पिओगे।

जैसे ही पुत्र ने गमन किया, संध्या बेला हो जाती है, वह एक वृक्ष पर जाकर रुक जाता है। वहाँ एक दृश्य देखा। उस वृक्ष के नीचे एक वृद्ध बाबाजी पड़े हुए हैं। गरीब परिवार था। बेटा प्रातः काल कमाने गया होगा। लेकिन संध्या को जब वापस आता है तो खाली हाथ पहुँचा। पिता पूछ रहा था— बेटे! आज तुम कमाकर क्या लाये हो? पुत्र कहता है— पिताश्री! क्षमा करना। आज मेरा दिन ऐसा ही खाली निकल गया, क्योंकि रास्ते में मुझे रुपयों से भरी हुई बहुत बड़ी थैली मिली। तब पिता को थोड़ा धक्का—सा लगा। थैली मिली? यहाँ कौड़ी भी नहीं है। मेरा एक पैसा गिर जाता है, तब तीव्र वेदना होती है, तो जिसकी थैली—की—थैली गिर गई हो, उसको कितनी पीड़ा होगी? मैंने खोज करना प्रारंभ किया, और पिताजी! एक घुड़सवार की थी, वह थैली उसे प्राप्त कर उसने मुझे पैसे देना चाहे और कहा कि, भाई! आपने मेरी थैली वापस की, इसलिए आधे पैसे आप ले लीजिये। 'बेटा! क्या तूने पैसे ले लिये? नहीं, पिताजी! मैंने उससे कहा— यदि मुझे पैसे चाहिये होते, तब मेरे पास तो यह पूरी थैली थी। अतः मुझे पैसे नहीं चाहिये। मेरे पिता ने मुझे ईमान दिया है, बस, मैं ईमान का पानी पीकर सो जाऊँगा, और पानी नहीं मिलेगा तो णमोकार मंत्र का स्मरण कर मृत्यु को प्राप्त कर लूँगा, लेकिन किसी के खून—पसीने की वस्तु को नहीं लूँगा। और जैसे ही बेटे ने कहा, वह अस्सी साल का पिता चारपाई से उछलकर नीचे आ गया और बेटे को सीने से लगाकर बोला— बेटे! आज तूने चातक—पक्षी के समान मेरे कुल की

आन—बान—शान को बचा लिया है।

चातक पक्षी के पुत्र ने जब यह सुना, तो उसकी आँखों से आँसू टपकने लगे—ओ हो हो! मेरे कुल की ये महिमा है कि मनुष्य भी बखान कर रहे हैं। मैं अब पानी पीने नहीं जाऊँगा। मैं अपने कुल की आन—बान—शान की रक्षा करूँगा। बेटा वापस आ जाता है। प्रातः माँ चातकी देखती है और कहती है— बेटे! पानी पीकर आ गये क्या? वह बोला— नहीं, माँ! मेरे कुल की चर्चायें मनुष्य किया करते हैं। मैंने अपने कुल की आन—बान—शान का ध्यान रखा है। माँ! मैं पानी पीने आगे नहीं गया। चातकी ने अपने बेटे को सीने से लगा लिया। हमें अपने व्रतों का निर्दोष रूप से पालन करना चाहिए। जो ग्रहण किये हुये व्रतों का निर्दोष रूप से पालन करता है। उसका दूसरों पर भी प्रभाव पड़ता है और अनेक प्रकार के अतिशय भी देखे जाते हैं।

एक देश के मंत्री सोमशर्मा ने एक मुनिराज का प्रवचन सुना। मुनिराज ने अपने प्रवचन में अहिंसा का उपदेश दिया। उन्होंने प्रवचन में कहा— हिंसा दो प्रकार की होती है, द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। भावहिंसा प्रधान होती है, क्योंकि भावहिंसा से ही द्रव्यहिंसा होती है। यदि मन में हिंसा के भाव ही नहीं आयेंगे, तो किसी के प्राणों का हनन भी नहीं होगा। इस प्रकार हिंसा का व्याख्यान सुनकर सोमशर्मा के भाव दया के बन गये और उसने उन मुनिराज से भावहिंसा न करने का नियम ले लिया। फलस्वरूप उन्होंने काष्ठ की तलवार मात्र दिखाने के लिये रखनी शुरू कर दी।

एक दिन किसी चुगलखोर ने राजा से मंत्री के खिलाफ चुगली कर दी कि आपका मंत्री सोमशर्मा काष्ठ की तलवार रखता है। वह वक्त पड़ने पर आपकी क्या मदद करेगा? दुर्जन और विश्वासघाती बड़े पापी होते हैं। राजा के मन में बात बैठ गई। एक दिन दरबार में राजपुत्रों ने आकर

राजा को नमस्कार किया। राजा ने आदेश दिया कि सभी अपनी-अपनी तलवार निकालकर दिखायें। सबने अपनी-अपनी तलवार दिखाई, तब राजा ने सोमशर्मा मंत्री से कहा कि तुम भी अपनी तलवार म्यान में से निकालकर दिखाओ। मंत्री सोमशर्मा ने म्यान सहित तलवार राजा के सामने रख दी और कहा—हे राजन्। आप स्वयं निकालकर देख लें। तलवार सूर्य की किरणों के समान चमकती हुई लोहे की निकली। तब राजा ने तीखी नजरों से चुगलखोर की तरफ देखा। मंत्री समझ गया और बोला—महाराज! इसमें इसका दोष नहीं है, यह तलवार काष्ठ की ही है। राजा बोला—कैसे? मंत्री ने कहा कि आप तलवार म्यान में डालकर मुझे दें। राजा से तलवार लेकर मंत्री ने म्यान से तलवार निकाली, तब वह काष्ठ की निकली। यह देख राजा ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—यह कैसे हुआ? मंत्री ने कहा—यह नियम का प्रभाव है।

हम संयम के अर्थात् मोक्ष के मार्ग पर स्वयं चलें और इस मार्ग की महिमा का अहसास दूसरों को भी कराएँ, यही मार्गप्रभावना है।

जो अपने संयम का दृढ़ता से पालन करते हैं, उनको देखकर सभी को धर्म की बड़ी महिमा आती है कि देखो, जैनियों का धर्म! ये जैनी प्राण जाने पर भी अभक्ष्यभक्षण नहीं करते हैं, तीव्र रोग/वेदना होने पर भी रात्रि में दवाई—जलादि भी नहीं पीते हैं, धन—अभिमानादि नष्ट होने पर भी असत्य वचनादि नहीं बोलते हैं, महान आपदा आने पर भी पराये धन में चित् नहीं चलाते हैं, अपने प्राण जाने पर भी अन्य जीव का घात नहीं करते हैं। शील की दृढ़ता, परिग्रहपरिमाणता परम संतोष धारण करने से आत्मा की प्रभावना होती है तथा मार्ग की भी प्रभावना होती है।

अतः समस्त धन चले जाने पर भी व प्राण चले जाने पर भी जो अपने निमित्त से धर्म की निन्दा—हास्य कभी नहीं कराता, उसके सन्मार्ग प्रभावना अंग होता है। इस प्रभावना की महिमा का करोड़ जिह्वाओं द्वारा

भी वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है। जो प्रभावना अंग को दृढ़ता से धारण करता है, वह इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य तीर्थकर होता है।

धरम—प्रभाव करै जे ज्ञानी, तिन शिव—मारम रीति पिछानी।

प्रवचनवत्सलत्व भावना

रखती जैसे धेनु अपने, पुत्र के प्रति प्रीति भाव।
त्यागी—व्रती साधर्मी के प्रति, रखना प्यारे निश्छल भाव।।
रखते हम वात्सल्य भाव, गर बँधती तीर्थकर—प्रकृति।
स्वयं तिरे पर को तारे और, मिट जाती सारी विकृति।

जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के प्रति निःस्वार्थ प्रीतिभाव रखती है, उसी प्रकार त्यागी, व्रती, साधर्मी के प्रति निःस्वार्थ निश्छल भाव रखना चाहिये। वात्सल्यभाव रखनेवाला जीव स्वयं तो पार होता ही है, अन्य जीवों को भी पार लगाता है, संसार की विकृति समाप्त करता है और तीर्थकरप्रकृति का बन्ध करता है।

प्रवचन अर्थात् देव—गुरु—धर्म इनमें वात्सल्य अर्थात् प्रीतिभाव, वह प्रवचन वत्सलत्व कहलाता है। जो चारित्रगुण सहित हैं, शील के धारी हैं, परम साम्यभाव सहित हैं, बाईस परीषहों के सहनेवाले हैं, देह में निर्ममत्व, समस्त विषय वांछा रहित, आत्महित में उद्यमी, पर का उपकार करने में सावधान — ऐसे साधुजनों के गुणों में प्रीतिरूप परिणाम 'वात्सल्य' है।

व्रतों के धारी, पाप से भयभीत, न्यायमार्गी, धर्म में अनुराग के धारक, मंद कषायी, संतोषी श्रावक तथा श्राविका के गुणों में, उनकी संगति में अनुराग धारण करना 'वात्सल्य' है।

जो स्त्रीपर्याय में व्रतों की हृद को प्राप्त करके, समस्त गृहादि परिग्रह को छोड़कर, कुटुम्ब का ममत्व छोड़कर, देह में निर्ममता धारण करके, पाँच इंद्रियों के विषयों को छोड़कर, एक वस्त्रमात्र परिग्रह का आलम्बन लेकर,

भूमि शयन, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णादि परीषह सहन कर, संयम सहित ध्यान—स्वाध्याय—सामायिक आदि आवश्यकों सहित होकर, आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर, संयमसहित काल व्यतीत करती हैं, उनके गुणों में अनुराग होना वात्सल्य भाव है।

मुनिराज के समान वन में रहते हुए, बाईस परीषह सहते हुए, उत्तमक्षमादि धर्म के धारक, देह में निमर्मत्व, आपके निमित्त बनाया औषधि—अन्न—पानादि ग्रहण नहीं करनेवाले, एक वस्त्र कोपीन बिना समस्त परिग्रह के त्यागी उत्तम श्रावकों के गुणों में अनुराग वह वात्सल्य है। देव—गुरु—धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर दृढ़ श्रद्धानी, धर्म में रुचि के धारक, अविरत—सम्यग्दृष्टि में भी वात्सल्य करना चाहिये।

पंचमकाल के धनिक संसारी तो धन की लालसा से अति आकुलित होकर धर्म में वात्सल्य छोड़ बैठे हैं। संसारी के जब धन बढ़ता है तो तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है, सभी धर्म का मार्ग भूल जाता है, धर्मात्माओं में वात्सल्य दूर से ही त्याग देता है। रात्रि—दिवस धन—सम्पदा के बढ़ाने में ऐसा अनुराग बढ़ता है कि लाखों का धन हो जाये तो करोड़ों की इच्छा करता है, आरम्भ—परिग्रह को बढ़ाता जाता है, पापों में प्रवीणता बढ़ाता जाता है तथा धर्म में वात्सल्य नियम से छोड़ देता है।

आचार्य समझाते हैं— हे आत्महित के वांछक! धन—सम्पदा को महामद को उत्पन्न करने वाली जानकर, देह को अस्थिर व दुःखदायी जानकर, कुटुम्ब को महाबंधन मानकर इनसे प्रीति छोड़कर अपनी आत्मा से वात्सल्य करो। धर्मात्मा में, व्रती में, स्वाध्याय में, जिनपूजन में वात्सल्य करो। जो सम्यक्चारित्ररूप आभरण से भूषित साधुजन हैं, उनका जो पुरुष स्तवन करते हैं, गौरव करते हैं, उनके वात्सल्य गुण है। वे सुगति को प्राप्त होते हैं, कुगति का नाश करते हैं। वात्सल्य गुण के प्रभाव से ही समस्त द्वादशांग विद्या सिद्ध होती है। सिद्धान्तग्रन्थों में तथा सिद्धांत का

उपदेश करनेवाले उपाध्यायों में सच्ची भक्ति के प्रभाव से श्रुतज्ञानावरण कर्म का रस सूख जाता है, तब सकल विद्या सिद्ध हो जाती है, वात्सल्यगुण के धारक को देव भी नमस्कार करते हैं।

धर्म में वात्सल्य जगना, सो प्रवचन वत्सलत्व है। पुराणों में सुना होगा, अकलंक और निकलंक का उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। ये दोनों भाई बड़े ही बुद्धिमान थे। अकलंकदेव को एक ही बार सुन लेने से पाठ याद हो जाता था और निकलंक देव को दो बार सुनकर पाठ याद होता था। उन दोनों की रुचि थी कि हम सभी प्रकार के धर्मों का, सिद्धान्तों का ज्ञान करें। सो उन्होंने कई जगह अध्ययन किया। वे दोनों लड़के एक पाठशाला में पढ़ते थे। पढ़ते-पढ़ते काफी समय गुजर गया। एक दिन गुरु स्याद्वाद का पाठ पढ़ा रहे थे। खण्डनात्मक ढंग से तो किसी भी तत्त्व का खण्डन करने के लिए पहिले पूर्वपक्ष रखा जाता है। स्याद्वाद के पूर्वपक्ष में जो बात वहाँ आई तो गुरुजी कुछ अटक गये। समझ में न आया और कहा कि हम इसे कल कहेंगे। पढ़ाई बंद हो गयी। अब समय देखकर, जब कोई न था तो अकलंकदेव ने, इस ग्रन्थ में एक ही शब्द की कमीबेसी थी जिसके कारण अर्थ नहीं लग रहा था तो, उसे सुधार दिया।

दूसरे दिन गुरु ने देखा, ओह! स्याद्वाद में इस पूर्वपक्ष को ऐसा सुधार सकने वाला इन विद्यार्थियों में से कौन है? निश्चय ही वह स्याद्वादी होगा, गुणी, चतुर होगा। उस समय धर्म के नाम पर इतना कड़ा शासन चल रहा था कि अपने को दूसरे धर्म वाले कहकर मुश्किल से रह पाते थे। ओह! परीक्षा करें, देखें कौन-सा ऐसा विद्यार्थी है जो मेरी कल्पना से प्रतिकूल है। एक उपाय ध्यान में आ गया। एक मूर्ति रखी और सब लड़कों से कहा कि इस मूर्ति को लाँघते जावो। जो इस मूर्ति को न लाँघेगा, समझेंगे कि वही जैन है। ओह! उस समय बड़ी कठिन समस्या थी अकलंक और निकलंक देव को। सोचने के बाद दोनों ने यह तय

किया कि नहीं लांघते हैं इस मूर्ति को, तो स्पष्ट उनके ही विरोधी साबित होते हैं, और ऐसे समय में जिस उद्देश्य को लेकर अपना जीवन बनाया है, उसमें सफल नहीं हो सकते। उद्देश्य क्या था कि जो यथार्थ ज्ञान है, वस्तु का स्वरूप है, वह जगत् के सामने आये, यह उनकी थी धर्म वात्सल्यता। वे दोनों एक निर्णय कर पाये कि एक-एक धागा लें और मूर्ति पर डालकर और यह मानकर कि अब यह मूर्ति ग्रन्थसहित हो गयी, परिग्रहसहित हो गयी, भावों की ही तो बात है। दोनों ने यह तय किया और धागा डालकर मूर्ति भी लांघ गये। अब ऐसा करने में उनके दिल से पूछो जो ऐसा करने को भी तैयार हो सकते हैं धर्मप्रेम की खातिर।

अब बाद में दूसरी परीक्षा की। क्या? कि रात्रि के समय चार बजे घंटी बजा करती थी और तब सब विद्यार्थी प्रार्थना किया करते थे। गुरु ने एक दिन सोचा कि आज 4 बजे नहीं, किन्तु दो ही बजे खूब थालियाँ नीचे पटकें व ठोकें जिससे कि अचानक ही सब विद्यार्थी जग जायें, और अचानक जगने पर भय की बात सामने आने पर जिस विद्यार्थी के मन में जो देव बसा होगा वह उसका उच्चारण करने लगेगा। तो दस-पाँच कार्यकर्ता इस बात को निरखते रहे कि कौन विद्यार्थी किस देव का नामोच्चारण करता है? जब थालियाँ खूब पटकने लगे तो सब विद्यार्थी घबड़ाकर उठ पड़े और अपने-अपने इष्टदेव का नाम लेने लगे। उस समय अकलंक, निकलंक को देखा तो वे दोनों णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं पढ़ रहे थे। वे दोनों पकड़ लिए गये और जेल में बंद कर दिए गये। उसका निर्णय किया गया था कि इन दोनों का प्राणघात करो, इन्हें फाँसी पर लटकावो। अब दोनों ही चिंतातुर हुए। रात्रि के समय पड़े हुए हैं, सोच रहे हैं कि हमें फाँसी का डर नहीं। क्या होगा? यह मैं जो कुछ हूँ, वह तो शाश्वत हूँ। यहाँ न रहा, और—कहीं चला गया, पर अभी कुछ अपने लिए धर्मसाधना शेष थी और ज्ञानोपयोग करके विश्व का भी उपकार करना शेष था। ऐसी चिंता में वे पड़े हुए थे। तब जिनभक्ता देवी

ने सहायता की, जिससे अचानक ही सब पहरेदार सो गए, जेल के किवाड़ खुल गये और एक संकेत दिया कि अब निकल जावो। वे जेल से निकल कर चले जा रहे थे।

सुबह 9-10 बजे बड़ी चर्चा हुई कि वे दोनों तो जेल से निकल ही भागे। राजा ने चारों ओर नंगी तलवार लेकर अनेक घुड़सवार भेजे। निकलंक ने अकलंक से कहा कि देखो, भाई! अब प्राण नहीं रह सकते हैं, हम तो दो बार में पाठ याद करते हैं, लेकिन आपकी इतनी विशिष्ट बुद्धि है कि एक बार में ही पाठ याद कर लेते हो। तो आप कहीं छिप जाइये। अकलंक बोला, भाई ! यह कैसे होगा, हम क्यों छिप जावें? जब घुड़सवार बहुत ही नजदीक आये, तो निकलंक अकलंक के पैरों में पड़कर गिड़गिड़ाकर कहता है कि क्यों नहीं छिप जाते हो ? उस समय एक दूसरे को मना रहा हो कि मुझे मर जाने दो ? आप मुझपर दया करें। आप बच जाइये। उसमें कितनी बड़ी धर्म की वात्सल्यता कही जाय? जिसने धर्म की प्रभावना के लिए जीवन भी लगा दिया हो उससे बढ़कर और उदारता क्या हो सकती है और जो जीवन में अपने प्यारे बन्धु को धर्म के खातिर मरता हुआ देखता सहन करले, उसकी उदारता को भी कौन कह सकता है? भैया! जान लो कि धर्मवत्सलता में अपने आपको कितना न्यौछावर किया जा सकता है?

यह प्रवचनवात्सल्य निजज्ञानी अन्तरात्माओं के प्रकट होती है, तब विश्व के जीवों पर यह दृष्टि जगती है। और फिर सुख का मार्ग आनन्द का मार्ग, शांति का मार्ग बिल्कुल निकट ही तो है। स्वयं ही तो यह आनन्द का भण्डार है। किन्तु यह एक अपने आपको न देख सकने के कारण कितना महान् अन्तर आ गया है, कितनी विडम्बना बन गयी है कि जीव को क्योनियों में इस प्रकार परिभ्रमण करना पड़ता है। थोड़ा ही तो उपाय है। न करें यह पर का मोह, अपना जो यथार्थ सहजस्वरूप है उसे

ही पहिचान जायें, इसमें कितना श्रम है ? कोई कमाई नहीं करना है, यह काम कितना सुगम है और पर को प्रसन्न करने का, पैसा कमाने का, वैभव जोड़ने का, ये सारे काम कितने कठिन हैं, पर यह व्यामोही जीव मानता है कि मैं अमुक पदार्थ को भोगूँ, अमुक को प्रसन्न रखूँ। इस कुबुद्धि के कारण मुग्ध जीव इस संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। यह जीव न बाहर में उपयोग लगाये, अपने आपको पहिचान ले, तो इसके सारे क्लेश मिट सकते हैं।

वात्सल्य के द्वारा मंदबुद्धियों का भी मतिज्ञान—श्रुतज्ञान विस्तीर्ण हो जाता है। वात्सल्य के प्रभाव से पाप का प्रवेश नहीं होता है। वात्सल्य से ही तप की शोभा होती है। तप में उत्साह बिना तप निरर्थक है। वात्सल्य से ही शुभध्यान की वृद्धि होती है। वात्सल्य से ही सम्यग्ज्ञान निर्दोष होता है। वात्सल्य से ही दान देना सफल होता है।

“वत्से धेनुवत् सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सल्यत्वम्।” जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति स्नेह रखती है, ऐसा ही साधर्मियों के प्रति स्नेह रखना ‘प्रवचन—वत्सलत्व’ कहलाता है। बिना स्वार्थ के, बिना किसी सांसारिक अपेक्षा के जो परस्पर प्रेम का भाव है, उसे ‘वात्सल्य’ कहा गया है। गाय और बछड़े का जो प्रेम है, वह निःस्वार्थ है, इसलिए उदाहरण गाय और बछड़े के प्रेम का दिया। गाय कभी अपने बछड़े से ऐसी अपेक्षा नहीं रखती कि मेरा बछड़ा मेरे खाने के लिए घास लाकर दे या पानी भरकर लाए। बीमार हो जाऊँ तो डॉक्टर को बुला लाए और न ही किसी बछड़े ने आज तक अपनी माँ को घास खिलाया है, न पानी भरकर पीने को रखा है और न ही अस्वस्थ होने पर गाय की सेवा की है। अपने बेटे से अपेक्षा रहती है माता—पिता को, पर गाय को बछड़े से किसी प्रत्युपकार की आकांक्षा नहीं रहती है। यह निःस्वार्थ प्रीति ही वात्सल्य कहलाती है। ऐसा वात्सल्य भाव हमारा साधर्मी के प्रति होना चाहिए।

विनोबा ने अपनी माँ की स्मृति में बहुत-सी महत्वपूर्ण बातें लिखीं। उन्होंने लिखा कि पिता घर में एक अनाथ बच्चे को ले आए और माँ से कहा कि यह भोजन यहीं करेगा। तुम इसे रोज भोजन करा देना। माँ ने उस बच्चे को गरम-गरम भोजन कराया और यह क्रम रोज का हो गया। विनोबा जब खाने बैठते तो माँ ठंडी रोटी भी परोस देती। विनोबा ने एक दिन माँ से पूछ लिया—“माँ! तुम ऐसा भेदभाव क्यों करती हो? उस बच्चे को तो रोज गरम भोजन खिलाती हो और मुझे ठंडा ही परोस देती हो। तुमने तो हमें सदा यही समझाया कि सब मनुष्य समान हैं, सबमें ईश्वर है, इसलिए सबसे समान और अच्छा व्यवहार करना चाहिए?” विनोबा की माँ ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थी, पर विचार कितने अच्छे थे।

विनोबा की माँ ने अपने बच्चों को साम्यभाव की शिक्षा दी थी, सो विनोबा ने अपनी माँ को उलाहना दे दिया। माँ सारी बात सुनकर हँसने लगी। बोली— “विन्या! (विनोबा का घर का नाम) बात तो सही है कि सबके भीतर भगवान् का दर्शन होना चाहिए और सबसे समानता का व्यवहार करना चाहिए, पर क्या करूँ ? मेरे मोह के कारण मैं तुझे अपना बेटा मानती हूँ, सो तेरे भीतर अभी ईश्वर का दर्शन नहीं हो पाता। उस अनाथ बच्चे के भीतर मुझे ईश्वर का दर्शन होता है। जिस दिन तेरे प्रति मेरा मोह घट जाएगा और तेरे भीतर भी मुझे ईश्वर का दर्शन होने लगेगा तो तेरी सेवा भी ईश्वर मानकर करूँगी। अभी तो तू मेरा बेटा है।”

कितनी बड़ी बात सहजभाव से कह दी। सबके भीतर आत्मतत्त्व विद्यमान है। सबमें परमात्मा बनने की सामर्थ्य छिपी है। पर अपने ही मोह के कारण वह आत्मतत्त्व हमें दिखाई नहीं देता। जिसकी दृष्टि से मोह का परदा हट जाता है उसे आत्मस्वरूप का दर्शन होने लगता है और सबके प्रति उसके मन में प्रेम, स्नेह और वात्सल्य का भाव सहज ही आ जाता है।

साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव वही रख पाता है, जो सदा गुणग्राही है, गुणों की प्रशंसा में रुचि लेता है। दूसरे के दोषों में रुचि लेना अंतरंग में उत्पन्न हुए द्वेष व ईर्ष्या का परिणाम है। गुणों को सहन नहीं कर पाना ही ईर्ष्या कहलाती है। साधर्मी के गुणों को देखकर मन प्रफुल्लित होना चाहिए। साधर्मी के गुणों का सम्मान हो रहा हो तो ऐसा महसूस होना चाहिए कि मानों मेरा ही सम्मान हो रहा है। अभी तो किसी गुणवान् का या साधर्मी का सम्मान होने पर लगता है मानों हमारा अपमान हो गया हो। हम साधर्मी के गुणों की प्रशंसा नहीं कर पाते। असल में, समान व्यक्तियों के बीच परस्पर तुलना का भाव आ ही जाता है। बड़े या छोटे व्यक्ति से तुलना करने का भाव नहीं होता, तुलना तो बराबरी वाले में ही होती है।

राजा साहब की सवारी निकलनेवाली थी। सारा रास्ता साफ किया जा रहा था। जमादार रास्ते में झाड़ू लगा रहा था। अचानक उसकी नजर झाड़ू लगाने वाले दूसरे जमादार पर पड़ी। मन ईर्ष्या से भर गया। बात कुछ नहीं थी, जो दूसरा जमादार था वह जरा अच्छे कपड़े पहने था। यह मेरे—जैसा ही जमादार है, पर इसके कपड़े इतने अच्छे क्यों हैं? ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। पास जाकर व्यंग कर दिया कि बड़े बने—ठने दिख रहे हो। राजा हीरे—जवाहरात लगी सुंदर—सी पोशाक पहने निकले तो उनसे कोई ईर्ष्या नहीं हुई, उनके प्रति सम्मान का भाव आया, पर अपने साधर्मी भाई को देखकर उसके प्रति सम्मान का भाव, उचित—व्यवहार करने का भाव नहीं आया, बल्कि उस पर व्यंग कर दिया। वात्सल्य का भाव तो वह है जिसके आने पर हम अपने साधर्मी के गुणों की प्रशंसा करते हैं, उसे आगे बढ़ते देखकर प्रसन्न होते हैं, उसके साथ उचित यानी सम्मानजनक व्यवहार करते हैं।

वात्सल्यभाव रखनेवाले की दृष्टि निर्मल और विशाल होती है। दृष्टि

में व्यापकता आ जाती है। सोचने और देखने का ढंग सकारात्मक होता है। पाण्डवों को वनवास हो गया। माँ कुन्ती विदुर के पास हस्तिनापुर में रह गई। एक दिन उन्होंने दुर्योधन से मिलने राजमहल में जाने की बात विदुर से कही। विदुर चकित हो गए और कहा कि आपके पुत्रों के साथ जिन्होंने बुरा व्यवहार किया, उन्हीं से मिलने आप स्वयं जा रही हैं? एक बार विचार कर लें। माता कुन्ती बोली— हाँ, मैं उनके मन का द्वेषभाव मिटाने जा रही हूँ। मैं इतनी गई—बीती नहीं हूँ कि अपने प्रति द्वेष रखने वाले को क्षमा न करूँ। मैं उनके मन का द्वेष नहीं मिटा सकती तो अपने मन को गंदा क्यों करूँ? इतना बढ़िया सोच, ऐसी विशाल दृष्टि ही व्यक्ति को महान बनाती है। प्रवचन—वत्सलत्व ऐसी ही महान आत्माओं के भीतर उत्पन्न हो पाता है। हमें प्रयास करना चाहिए कि साधर्मि के प्रति हमारा सोच, हमारी दृष्टि ऐसी ही निर्मल और व्यापक हो।

वात्सल्य के लिए जरूरी है परस्परता का बोध। मिल—जुलकर करने की भावना या एकता का भाव। ऐसा भी जरूरी नहीं है कि दोनों के विचारों में साम्य हो। वैचारिक विविधता या मतभेद रह सकता है, पर मनभेद नहीं होना चाहिए, मनमुटाव नहीं होना चाहिए। सुख—दुःख में साथ देने का भाव बना रहना चाहिए। एकता और परस्परता का बोध यही है।

जब गन्धर्वों ने दुर्योधन सहित हस्तिनापुर के सारे गोधन को बंदी बना लिया था और धृतराष्ट्र के कहने से युधिष्ठिर सबको मुक्त करने गन्धर्वों से युद्ध करने को तैयार हो गए थे तो भीम ने विरोध किया था। युधिष्ठिर की आँखों में आँसू आ गए थे तो भीम की बात सुनकर। अर्जुन ने तब आगे बढ़कर कहा था—हे भइया! आप निश्चित रहें। मैं जाता हूँ सभी को मुक्त कराने। हम सब भले ही महल के भीतर सौ और पाँच अलग—अलग हैं, पर दुनियाँ के सामने तो हम एक सौ पाँच भाई हैं। भाई—भाई के बीच या कहो साधर्मिजनों के बीच ऐसा ही एकता का भाव

होना चाहिए। विपत्ति में भी परस्पर सहाई हो, यही सच्चा वात्सल्य है।

मन में वात्सल्यभाव हो तो सारे पारिवारिक, सामाजिक या व्यक्तिगत मतभेद मिट सकते हैं। एक बार आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने कहा था कि समाज में जो विभिन्न जाति-प्रजातियाँ हैं, उनको लेकर आपस में विवाद नहीं करना चाहिए। इससे हमारा संगठन कमजोर होता है। संगठित रहना चाहिए सभी को। संगठित रहने से, परस्पर प्रेम-भाव बने रहने से बड़ा लाभ होता है। उन्होंने हँसते हुए कहा कि ये जो खंडेलवाल, पल्लीवाल, पोरवाल, बघेरवाला आदि में जो 'वॉल' है ना, उसे हटा देना चाहिए। ताकि एक बड़ा-सा हॉल बन जाए और सभी एकसाथ मिलजुल कर बैठ सकें, धर्म्यध्यान कर सकें। ('वॉल' शब्द का अर्थ अंग्रेजी में दीवार होता है) मन में भी आपस में ऐसी दीवार नहीं बनाना चाहिए। द्वेष या ईर्ष्याभाव नहीं रखना चाहिए। अगर यह आपसी द्वेषभाव मिट जाए, तो सभी साधर्मी भाई आपस में प्रेम से रहते हुए अपना और दूसरे का कल्याण करने में सक्षम हैं।

देखो, अगर नदी की बहती धारा में कोई पत्थर या पत्थर—जैसा ही कोई अवरोध आ जाए, तो नदी की धारा दो भागों में विभाजित हो जाती है, तब और लाभप्रद नहीं होती; ऐसे ही परस्पर प्रेम का अभाव हो जाए जीवन में, तो प्रेमशून्य व्यक्ति का जीवन पत्थर या अवरोध की तरह है जो हमें परस्पर विभाजित करने में कारण बन जाता है। विभाजित जीवन या टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा जीवन व्यर्थ है। उसमें अखण्डता और समरसता नहीं आ पाती। साधर्मी से यदि वैमनस्य हो जाए, तो सारी धार्मिक क्रियाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। धार्मिक क्रियाएँ तो निर्मल-मन से करना ही लाभकारी है। मन की कलुषता न मिटे, तो धार्मिक-क्रियाओं को दुहराने से लाभ नहीं होगा। आचार्य तिरुवल्लुवर ने 'कुरल-काव्य' में लिखा है कि हृदय में प्रेम, वाणी में मिठास और आँखों में स्निग्धता न हो तो ऐसा जीवन सूखी हुई

घुन लगी लकड़ी के समान नीरस और व्यर्थ है। उससे अपना और दूसरे का किसी का भी भला नहीं हो सकता।

आचार्य महाराज वात्सल्य की महिमा बताते हुए कहते हैं कि देखो, दूध पानी को अपने में मिलाता है विजातीय होने पर भी और अपन लोग साधर्मी या सजातीय को भी मिला नहीं पाते। आचार्य विद्यासागर महाराज एक दृष्टान्त सुनाते हैं कि दूध गरम करने अग्नि पर किसी बर्तन में रख दिया जाता है तो धीरे-धीरे दूध में मिला पानी अपने मित्र की सुरक्षा के लिए स्वयं अग्नि में जलता जाता है। जब दूध तेज गरम हो जाता है और पानी ज्यादा जलने लगता है तो दूध अपने मित्र की रक्षा के लिए अग्नि को बुझाने के लिए ऊपर की ओर आने लगता है यानी उफनने लगता है। जैसे ही बर्तन से बाहर आने को होता है, उसमें जल के छींटे डालते ही शान्त हो जाता है। मित्र से मिलते ही मन शान्त हो जाता है। पानी और दूध एक मित्र की तरह मानों एक दूसरे की सुरक्षा करते हैं। ऐसा ही व्यवहार हमारा भी परस्पर साधर्मीजनों के बीच में होना चाहिए।

बच्चों की एक कहानी है। एक जंगल था। उसमें खूब सारे जानवर रहते थे। हाथी भी रहता था। सभी जानवर हाथी को बहुत चाहते थे। हाथी भी सभी से बहुत प्रेम रखता था। किसी अवसर पर सभी ने हाथी को अपने घर आने का निमंत्रण दिया। हाथी ने भी सोचा कि चलो, सबसे मिल आते हैं। हाथी सबसे मिलने निकला। वह खरगोश के यहाँ पहुँचा तो खरगोश ने खूब आवभगत की। लेकिन एक समस्या आ गयी कि हाथी को बिठाएँ कहाँ? खरगोश के पास जगह भी कम थी और आसन भी छोटा—सा था। हाथी को अपने घर में बिठाने से वंचित रह गया खरगोश। उसे बड़ा दुःख हुआ। हाथी गिलहरी के घर पहुँचा। उसने खूब स्वागत किया, पर इतने बड़े हाथी को बिठाने की समस्या उसे भी आयी। वह भी बड़ी दुःखी हुई। एक—एक करके हाथी सभी के घर गया, सबने खूब

सत्कार किया, पर अपने घर हाथी को कोई भी बिठा नहीं पाया। वृक्ष पर बैठा तोता सारा दृश्य देख रहा था। उसने बड़ी अच्छी बात कही कि अपने-अपने घर से बैठने की आसन लाकर बिछा दें तो हाथी थोड़ी देर आराम से बैठ सकता है। अपना-अपना अलग-अलग अहंकार पुष्ट करने का भाव छोड़कर यदि सभी लोग परस्पर मिल-जुल कर अच्छा कार्य करें, तो सफलता आसानी से मिलती है।

साधर्मी के प्रति वात्सल्य और उसके सम्मान की रक्षा का भाव मन को कैसा आनन्द देता है। राजा हरजसराय के पुत्र थे सेठ सुगनचन्दजी। अपार सम्पदा थी उनके पास। उनके यहाँ जब पुत्र का जन्म हुआ तो खुशियाँ मनाई गईं। सारा नगर सजाया गया। घर-घर में मिठाई बाँटी गई। एक गरीब के घर जब सेठ का नौकर पहुँचा मिठाई देने, तो उस गरीब को बड़ा संकोच हुआ। उसने मिठाई नहीं ली और कहा कि भाई! मैंने कभी सेठजी का कोई उपकार नहीं किया, उन्हें कुछ दिया नहीं तो उनसे कैसे मिठाई ले लूँ ? क्षमा करना। मेरी ओर से सेठजी से क्षमा माँग लेना। ऐसी बात सेठजी को मालूम पड़ी तो विचार में पड़ गए। बात तो ठीक है। व्यवहार तो देने-लेने से ही चलता है। अकेले देने से व्यवहार नहीं चलता। लेना भी चाहिए। भले ही कोई गरीब हो, पर सम्मान उसका भी रखना चाहिए। साधर्मी के प्रति वात्सल्य तो यही है।

सेठ जी उसकी दुकान पर गये, टोकरी में से एक मुट्ठी चने उठाकर खा लिये और बोले-लाओ, पानी भी पिला। उस दुकानदार को शर्म आई क्योंकि उसके पास पानी पिलाने को कोई बरतन नहीं था। यह देख सेठ जी ने चुल्लू बनाई और कहा कि पानी पिलाओ। तब दुकानदार ने सकुचाते हुए सेठ जी को पानी पिलाया। तब सेठ जी ने नौकरों को इशारा किया, नौकर मिठाई लेकर आये और उसकी दुकान पर रख दी। वह गरीब आदमी कुछ कहे इससे पहले ही सेठजी ने हँसकर कहा कि

मैंने आपका दाना भी खाना लिया और पानी भी पी लिया, अतः अब मिठाई लेने से इंकार मत करना। गरीब आदमी की आँखों से आँसू बहने लगे। वह सेठजी के चरणों में गिर पड़ा। मन गद्गद हो गया।

साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव ऐसा ही निर्मल हो तो कल्याण होने में देर नहीं लगेगी। **“वात्सल्य अंग सदा जो ध्यावे, सो तीर्थकर पदवी पावे।”** जो वात्सल्य अंग को धारण करता है, वह तीर्थकर पद को प्राप्त करता है। प्रवचनवात्सल्य का भी उतना ही महत्व है, जितना दर्शन विशुद्धि भावना का। आचार्य कहते हैं— कि जिसके अन्दर प्राणीमात्र के प्रति वात्सल्यभाव अर्थात् प्रेमभाव, करुणाभाव होता है, वही भावों की वृद्धि करके तीर्थकरप्रकृति का बन्ध करता है।

भगवान् महावीर स्वामी को सर्प ने डसा तो दूध निकला, क्योंकि उनके अन्दर प्राणीमात्र के लिए वात्सल्य था। एक नारी जब तक बच्चे को जन्म नहीं देती, तब तक उसकी छाती से दूध नहीं निकलता और बच्चे को जन्म देते ही उस बच्चे के प्रति इतना वात्सल्य भाव उसके अंदर आता है कि उस वात्सल्य भाव के कारण उसकी छाती दूध से भर जाती है। यह उसके वात्सल्य भाव की पराकाष्ठा है। जब एक नारी में एक बच्चे के प्रति वात्सल्य भाव से दूध की उत्पत्ति हो सकती है तो भगवान् महावीर के अन्दर तो तीनलोक में जितने भी जीव हैं सबके प्रति वात्सल्य भाव था तो उनका रक्त ही दूध बन गया तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

यह जिनेन्द्र भगवान् का मार्ग वात्सल्य द्वारा ही शोभा पाता है। इस मनुष्यजन्म का मंडन वात्सल्य ही है। परलोक—स्वर्गलोक में महर्षि देवपना भी वात्सल्य से ही होता है। वात्सल्य बिना इस लोक का समस्त कार्य नष्ट हो जाता है तथा परलोक में भी देवादि गति प्राप्त नहीं होती है।

जिसे अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, स्याद्वादरूप परमागम, दयारूप धर्म में वात्सल्य है, वही संसार के परिभ्रमण का नाश करके निर्वाण को प्राप्त

करता है। वात्सल्य ही से जिनसिद्धांतों का सेवन, साधर्मियों की वैयावृत्य, धर्म में अनुराग, दान देने में प्रीति होती है। जिन्होंने छह काय के जीवों पर वात्सल्य दिखाया है, वे ही तीनलोक में अतिशयरूप तीर्थकरप्रकृति का बंध करते हैं। इसलिये जो कल्याण के इच्छुक भगवान् जिनेन्द्र द्वारा उपदेशित वात्सल्यगुण की महिमा जानकर सोलहवीं वात्सल्यभावना भाते हैं, वे ही दर्शन की विशुद्धता पाकर, तपरूप आचरण करके, अहमिन्द्रादि देवलोक को प्राप्त होकर, पश्चात् जगत् के उद्धारक तीर्थकर होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। इन सोलहकारण भावनाओं की महिमा अचिन्त्य है, जिससे तीनलोक में आश्चर्यकारी अनुपम वैभव के धारक तीर्थकर होते हैं।

वत्सल अंग सदा जो ध्यावै,सो तीर्थकर पदवी पावै।
